अनुक्रम

नयी तालीम
सर्व सेवा संघ, राजघाट,
वाराणसी-१

वार्षिक चन्दा ६ ००
एक प्रति ० ६०

उत्तर प्रदेशीय प्राइमरी पाठशालाओं के लिए अनिवार्य

नयी तालीम की नयी खोज, या....?

वर्ष : तेरह
•
अंक : एक

शिक्षा मंत्री श्री छागला के नेतृत्व में भारत सरकार ने एक ऊँचे स्तर का शिक्षा-कमीशन बिठाया है, जिसके जिम्मे यह काम सौंपा गया है कि देश में प्रचलित शिक्षा के हर पहलू की जाँच करे और बदलते हुए जमाने में देश के लिए उपयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा का सुझाव दे। सोलह सदस्यों के इस कमीशन के अध्यक्ष हैं डा० एस० कोठारी, जो इस समय विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष हैं। कमीशन के सदस्यों में कुछ भारतीय शिक्षा शास्त्रियों के अलावा अमेरिका फ्रांस, रूस, जापान और ब्रिटेन के चुने हुए विशेषज्ञ हैं, और उनके अतिरिक्त चार विशेष सलाहकार हैं, जिनमें से तीन अँग्रेज हैं।

खुशी की बात है कि सरकार ने यह महसूस किया कि "शिक्षा राष्ट्र की समृद्धि और कल्याण की कुंजी है," और कमीशन में ऐसे देशों के विशेषज्ञों को रखा, जो इस प्रतीति को व्यावहारिक स्वरूप देने में काफी आगे बढ़े हुए हैं। हमें उन उन्नतिशील देशों से बहुत कुछ सीखना है, साथ ही उनमें सीखी हुई बहुत-सी गलत बातें छोड़नी भी हैं। यह अच्छी बात है कि देशी और विदेशी विशेषज्ञों के ज्ञान और अनुभव का लाभ देश को मिले, लेकिन जितना ज्ञान और अनुभव विशेषज्ञों के पास है उससे आगे जाकर जो परिस्थिति आँख के सामने है उसके सन्दर्भ में नया ज्ञान और अनुभव लेने की कितनी तैयारी विशेषज्ञ दिखा सकेंगे, यह प्रश्न है। आज दुनिया में ज्ञान की कमी नहीं है, कमी है सही दृष्टि और भूमिका (पर्सपेक्टिव) की। दुनिया में जितना दमन और शोषण आज चल रहा है उस सबमें 'विशेषज्ञों' के ज्ञान और अनुभव का हाथ है। सुकरात से लेकर गांधी तक मनुष्य-जाति के जितने 'शिक्षक' हुए हैं वे प्रचलित अर्थ में शिक्षा के विशेषज्ञ नहीं थे। समाज की व्यवस्था में विशेषज्ञों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, लेकिन उनके द्वारा जीवन के मूल्य नहीं बदलते, नया समाज नहीं बनता। वह काम ऋषि, साधक, क्रान्तिकारी के

द्वारा होता है। विशेषज्ञ प्रायः प्रचलित मूल्यों के ही पोषक होते हैं। कमीशनके सदस्यों में कितने सामाजिक साधना के विशेषज्ञ हैं हम नहीं जानते। गांधीजी शिक्षा के 'विशेषज्ञ' नहीं थे, लेकिन इस देश के विकास के सन्दर्भ में सोचनेवाला कोई विशेषज्ञ उनको छोड़कर आगे बढ़ सकेगा, यह सम्भव नहीं दिखाई देता, क्योंकि वह समाज-साधक थे, क्रान्तिकारी थे। 'विशेषज्ञ' के ज्ञान और अनुभव की कठोर सीमा होती है। उसकी यह सीमा होती है कि वह समाज को अपनी 'सीमा' में बाँध रखना चाहता है; अपनी सीमा के बाहर का चित्र (इमेज) उसे प्रेरित नहीं करता।

भारत को नयी शिक्षा किसलिए चाहिए? इसीलिए कि नया समाज बनाना है। कैसा समाज? जिसमें सामन्तवाद का स्थान लोकतंत्र ले; पूँजीवाद का स्थान समाजवाद ले, और अज्ञान का स्थान विज्ञान ले। इसका अर्थ यह है कि शिक्षा ऐसी चाहिए जो समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया बन सके। अगर शिक्षा समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया नहीं बनेगी तो, जैसा दूसरे देशों में हुआ है और हो रहा है, वर्ग-संघर्ष परिवर्तन की प्रक्रिया बनेगा। शिक्षा की प्रतीक्षा में परिवर्तन रुका नहीं रहेगा। दूसरे शब्दों में हमें आज इस देश में ऐसी शिक्षा चाहिए, जो परिवर्तन के माध्यम के रूप में वर्ग-संघर्ष का विकल्प बन सके, क्योंकि अगर लोकतंत्र और विज्ञान के इस युग में समाज को अपने विकास के लिए संघर्ष का रास्ता पकड़ना पड़ा तो विज्ञान विनाश का कारण बनेगा और लोकतंत्र के गर्भ से तानाशाही का जन्म होगा। राष्ट्रीय शिक्षा का यह सामाजिक लक्ष्य है। इस लक्ष्य को अलग रखकर भी शिक्षा में परिवर्तन किये जा सकते हैं, लेकिन क्या वह शिक्षा नये अर्थ में राष्ट्रीय शिक्षा होगी?

हमारी आज की शिक्षा शासक पैदा करने के लिए चलायी गयी थी। वह ब्यूरोक्रैट-केन्द्रित है। ब्यूरोक्रैट-केन्द्रित शिक्षा को हम टेक्नोक्रैट-केन्द्रित शिक्षा में बदल सकते हैं। आज तक कुर्सी पर बैठनेवालों का शासन था, कल से विज्ञान का नाम लेकर विकास करनेवालों का शासन होगा। अगर ऐसा हो जाय तो हम कह सकते हैं कि शिक्षा बदल गयी, लेकिन समाज में दमन और शोषण का दुष्चक्र चलता ही रहेगा। लोक-जीवन में न लोकतन्त्र आयेगा, न समाजवाद और न विज्ञान। क्या हमें इस परिवर्तन से सन्तोष होगा? एक विशिष्ट वर्ग की शिक्षा के स्थान पर दूसरे विशिष्ट वर्ग की शिक्षा आ जाय, इस परिवर्तन से हमारी क्या समस्या हल होगी? हमें तो सर्वजन की शिक्षा चाहिए; क्योंकि हमें सर्वजन का समाज चाहिए। जो शिक्षा सर्वजन की नहीं है वह राष्ट्रीय शिक्षा कैसे होगी? प्रस्तावित कमीशन इस भूमिका को कहाँ तक स्वीकार करेगा, इसमें हमें सन्देह मालूम होता है। सन्देह का कारण यह है कि सरकारी प्रस्ताव में प्रौढ़ शिक्षण (एडल्ट एजुकेशन) को डाक्टरी और कानून की शिक्षा की कोटि में रखकर कमीशन की परिधि के बाहर कर दिया गया है। शिक्षा का समाजशास्त्र हमें बार-बार बता रहा है कि नया समाज केवल बच्चों, किशोरों और युवकों की शिक्षा से नहीं बनता, उसके लिए प्रौढ़ का शिक्षण उतना ही जरूरी है। समाजशास्त्र के अनुसार शिक्षा का क्रम गर्भ से मृत्यु तक अखण्ड चलना चाहिए। शिक्षा की बात सोचते हुए हम भूल जाते हैं कि हमारा देश अविकसित

है, केवल अशिक्षित ही नहीं है, इसलिए हमें विकास और शिक्षा को साथ-साथ ले चलना है; इतना ही नहीं, शिक्षा को विकास का और विकास को शिक्षा का माध्यम बनाना है। हमें ऐसी पद्धति निकालनी है, जिसमें पूरा-पूरा गाँव विद्यालय माना जाय, ताकि उसकी खेती, उसके धन्धे, पशु-पालन, गृह, सफाई, आपसी सम्बन्ध, पर्व, उत्सव आदि सब विद्यालय के 'विषय' बन जायँ, जिनका वैज्ञानिक अभ्यास हो। इस प्रकार गाँव के बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, सब विकास के अनुबन्ध में शिक्षित-प्रशिक्षित होंगे और जीवन में सामूहिक आरोहण (सब्लिमेशन) की प्रक्रिया शुरू होगी। यह प्रक्रिया ही गाँव की बुद्धि, श्रम-शक्ति और पूँजी को गाँव में रोक सकेगी, नहीं तो हम कुछ भी करें गाँव उजाड़ होते चले जायेंगे और हमारे किसान, मजदूर, छोटे कारीगर, हरिजन और आदिवासी, जिनके श्रम से देश चल रहा है, शिक्षा और विकास, दोनों से वंचित रह जायेंगे। उनके हाथ में हम रासायनिक खाद और सुधरे यन्त्र, आदि जैसे 'विज्ञान के खिलौने' देकर ही क्या करेंगे, जब उनकी मानसिक परिधि इतनी सीमित होगी कि वे उनका सही और लगातार इस्तेमाल करना ही नहीं चाहेंगे ? और अगर नयी शिक्षा भी ऐसी ही हुई, जो गाँव से गाँव की धन शक्ति, बुद्धि-शक्ति और श्रमशक्ति को खींचती रही—कल तक शासन के नाम में, अब से वैज्ञानिक उद्योग और व्यवसाय के नाम में—तो भारत के गाँव इसी तरह 'शहरों के उपनिवेश' बने रहेंगे और समाज गन्दे गड्ढे की तरह सड़ता रहेगा।

जो शिक्षा बाल शिक्षण और प्रौढ़ शिक्षण को अलग अलग मानकर सामाजिक विकास करना चाहेगी वह इस स्थिति को नहीं रोक सकेगी। पूरा गाँव या कारखाना एक समग्र विद्यालय है और उसमें होनेवाली हर क्रिया, हर प्रक्रिया, उसके जीवन का हर पहलू, शिक्षण का माध्यम है, इस बुनियादी तथ्य को माने बिना शिक्षा सामाजिक विकास का माध्यम नहीं बन सकेगी। प्रौढ़ को अलग करने का अर्थ है शिक्षा को समाज के वास्तविक समग्र जीवन और उसकी वास्तविक समग्र समस्याओं से अलग करना। गाँव के लिए ऐसी शिक्षा चाहिए, जो गाँव की शक्ति, गाँव के साधनों, और गाँव की बुद्धि को विकसित करते हुए, उसका सर्वतोमुखी विकास कर सके। जाहिर है कि ऐसी शिक्षा-योजना में, जो समग्र विकास का माध्यम बनेगा, सरकार का स्थान पूरक शक्ति का होगा, मुख्य शक्ति का कदापि नहीं। क्या यह कमीशन शिक्षा के क्षेत्र में लोक-कल्याणकारी सरकार को मुख्य स्थान से हटाकर पूरक स्थान देने की भूमिका स्वीकार कर सकेगा ? पंचायती राज चाहे जितना लूला लँगड़ा हो, लेकिन कम-से-कम इतना तो हुआ है कि विकेन्द्रीकरण का विचार मान्य हुआ है, और आशा होती है कि इसी क्रम में शीघ्र आर्थिक विकेन्द्रीकरण भी मान्य होगा। अगर प्रस्तावित कमीशन राजनीतिक और आर्थिक विकेन्द्रीकरण की भूमिका में एक ठोस योजना प्रस्तुत कर सके तो इस देश के विकास में उसकी बहुत बड़ी देन होगी।

लोग कहते हैं कि पश्चिम के लोग यथार्थवादी (रियलिस्ट) होते हैं, हमलोगों की तरह केवल बात की बात और बात की दाल पकानेवाले नहीं होते। कमीशन में विदेशी विशेषज्ञों को बड़ा स्थान दिया

गया है, इसलिए यह आशा प्रकट की गयी है कि कमीशन की सिफारिशों का भारत के भविष्य पर गहरा असर होगा। बेशक असर होगा अगर कमीशन के प्रयत्न से—

१–देश के शासक और संचालक समझ जायँ कि देश का विकास नहीं, समग्र शिक्षण का विषय है, न कि प्रशासन का। जिस देश में सदियों के ह्रास के कारण साधनों के साथ साथ बुद्धि और चरित्र का भी घोर अभाव हो उसमें विकास नये नये सरकारी कार्यालय और नयी नयी संस्थाएँ बनाने से नहीं होगा, बल्कि लोक शिक्षण द्वारा शिक्षा और विकास का अनुबन्ध जोड़कर जन जीवन के बुनियादी तत्त्वों को मजबूत करने से होगा। इस तरह क्रमशः सहकार शक्ति का विकास होगा।

२–राजनीतिक दल समझ जायँ कि भारत-जैसे पिछड़े देश की समस्याएँ केवल विरोध (एजिटेशनल अप्रोच) से नहीं हल होंगी, बल्कि उनके लिए शैक्षणिक ढंग (एजुकेशनल अप्रोच) अपनाना पड़ेगा, ताकि बुनियादी तौर पर जनता की रचनात्मक शक्ति जगे, जिससे पूरे जन-जीवन का नवनिर्माण हो तथा मान्य अनीति और अन्याय के प्रति प्रासंगिक प्रतिकार भी नवनिर्माण की ही प्रक्रिया का अंग बन जाय।

३–शिक्षा में लगे हुए लोग समझ जायँ कि नये जमाने की शिक्षा स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटी तक ही सीमित नहीं है, बल्कि समाज का पूरा जीवन उसकी परिधि के अन्दर है, और उसी के अनुबन्ध में सच्ची शिक्षा दी जा सकती है।

४–जनता समझ जाय कि शिक्षा पद्धति देश की वर्तमान परिस्थिति और विकास के भावी चित्र के आधार पर ही विकसित होनी चाहिए। वह विशिष्ट हितों या संस्कारों के पोषण के लिए नहीं है, उसका ध्रुवतारा 'सर्वजन' है।

आज से २७ वर्ष पहले १९३७ में गांधीजी ने कहा था कि भारत को 'नयी तालीम' चाहिए। 'नयी तालीम' नये समाज के लिए होगी, इसलिए नित्य नयी होगी। उस नयी तालीम का प्रारम्भिक स्वरूप क्या होगा, इसकी स्पष्ट रूपरेखा गांधीजी की वसीयत के रूप में देश के पास मौजूद है। आशा है यह कमीशन उस वसीयत को ढूँढ़ेगा, देखेगा, समझेगा। उस योजना में नयी तालीम के तीनों स्वरूप प्रकट हुए हैं–वे ये हैं–

क–सामाजिक क्रान्ति की प्रक्रिया के रूप में संघर्ष का विकल्प नयी तालीम।

ख–निर्माण का माध्यम नयी तालीम।

ग–शाला में क्रमिक शिक्षण (ग्रेडेड एजुकेशन) की पद्धति नयी तालीम।

हम आशा करते हैं कि कमीशन नये भारत के लिए जिस नयी तालीम की तलाश करेगा उसमें इन तीनों तत्त्वों का ध्यान रखेगा। नये जमाने की नयी तालीम किन्हीं एक या दो तत्त्वों तक सीमित नहीं रह सकती।

२७ साल पहले गांधीजी ने नयी तालीम की खोज शुरू की थी, अब २७ साल बाद नयी तालीम की नयी खोज पूरी होनी चाहिए।

—राममूर्ति

देश तो स्वाधीन हुआ,
क्या
शिक्षा भी स्वाधीन होगी !

•

काशिनाथ त्रिवेदी

[केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री श्री छगला की प्रेरणा से भारत सरकार ने एक ऊँचे स्तर का शिक्षा आयोग गठित किया है। आयोग पर यह भार सौंपा गया है कि वह देश की प्रचलित शिक्षा के हर पहलू की गहरी छानबीन करके यह जाँच करे कि बदलते हुए जमाने की जरूरतों और आकांक्षाओं को पूरी करने के लिए कौन सी शिक्षा-पद्धति मौजूँ होगी।
प्रस्तुत कई लेखों में इसी सन्दर्भ में विचार किया गया है। —सम्पादक]

हम अपने देश की स्वतन्त्रता का अठारहवाँ जन्म-दिन १५ अगस्त, '६४ को मना रहे हैं। इस दिन सत्रह साल पहले हमने अपने देश के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। आज राजनीतिक क्षेत्र में हम किसी विदेशी सत्ता के अधीन नहीं हैं। अपने ढंग से अपना राज्य चलाने की सारी सत्ता हम अपने हाथ में सँभालकर बैठे हैं। देश का यह बड़ा सौभाग्य है कि उसे सदियों के बाद राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई।

लेकिन, मनुष्य का जीवन राजनीति तक ही सीमित नहीं है। राजनीति उसके समग्र जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है, पर वही सब कुछ नहीं है। प्रकृति ने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में उत्पन्न किया है। हरेक मनुष्य अपने समाज का एक अंग होता है। मनुष्य के जीवन का आरम्भ उसके परिवार से होता है। कई परिवार मिलकर एक समाज बनता है और फिर समूचा समाज अपने लोक-जीवन की सुरक्षा और व्यवस्था की दृष्टि से अपनी एक सरकार बनाता है और उसे अपनी ओर से कुछ अधिकार देकर सत्ता-सम्पन्न बना देता है। पहले यह अधिकार राजा के रूप में एक व्यक्ति को दिया जाता था। इधर जमाने ने अपना रूप बदला है, इसलिए देश में और दुनिया में सब कहीं आज राजा अपना राजत्व खो चुका है और जनता ने अपने प्रतिनिधियों को शासन की सत्ता सौंपी है। राजतंत्र बड़ी तेजी से समाप्त हो रहा है और लोकतन्त्र उसका स्थान लेता जा रहा है।

एक विचारणीय प्रश्न

जनता की धारणा यह बनी थी अथवा कहिए कि बनायी गयी थी कि लोकतंत्र में आम लोगों को अपने ढंग से जीने, रहने, काम-काज करने, सोचने-समझने, पढ़ने-लिखने और धन्धा रोजगार करने की स्वतन्त्रता रहेगी और उन्हें ऐसे अवसर मिलेंगे कि जिनसे वे स्वयं ही अपने भाग्य के विधाता बन सकें और एक सुखी, सन्तुष्ट तथा समुन्नत जीवन स्वतन्त्रता-पूर्वक बिता सकें।

किन्तु, दुनिया में आज जहाँ जहाँ भी लोकतन्त्र चल रहे हैं, वहाँ-वहाँ उन्होंने अपने साधारण नागरिकों को वह सब नहीं दिया है जो लोकतन्त्र की स्थापना के बाद उन्हें सहज ही मिल जाना चाहिए था। इस कारण जो औसत नागरिक पिछले वर्षों में राजाओं और बादशाहों की गुलामी के नीचे बुरी तरह कराह रहा था और सब तरह क्षीण हो रहा था, वह आज की अपनी लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में भी लगभग उसी तरह दबा हुआ है और उतनी ही बेदर्दी से पीसा जा रहा है, यद्यपि राजनीति की दृष्टि से उसे नागरिकता के सारे अधिकार सौंप दिये गये हैं। जितनी आसानी से वे उसे

दिये गये, उतनी ही आसानी से वे उससे छीन भी लिये जाते हैं, और वह निरुपाय होकर ठगा का ठगा रह जाता है। लोकतंत्र का पुनीत प्रवाह भी उसकी काया को न तो निर्मल बना पाता है और न उसके जीवन में किसी प्रकार का तेज ही उत्पन्न कर पाता है, जो निराशा, निष्प्राणता और निराधारिता उसे गुलामी के दिनों में जकड़े हुए थी, वही आज भी सवाई मजबूती से उसे जकड़े हुए हैं और दुर्भाग्य से इस जकड़ की पकड़ ढीली होने का नाम नहीं ले रही है, उलटे दिन पर दिन अधिक कठोर होती जा रही है।

आज के औसत नागरिक को सूझ नहीं रहा है कि वह वर्तमान लोकतंत्र के चलते अपने उद्धार के लिए अपनी सूझ बूझ, अपनी मेहनत और अपने पुरुषार्थ से क्या करे और कैसे करे ? आज लोकतंत्र ने हमारे देश में और दूसरे भी अनेक देशों में लोक-कल्याणकारी राज्य का रूप धारण कर लिया है, और वह लोक-कल्याण के नाम पर साधारण नागरिक को उसके नित्य के जीवन के अनेकानेक पहलुओं में पराधीन अर्थात शासनाधीन बनाता जा रहा है। आज के हमारे लोकतंत्र की यह एक ऐसी विकृति है, जिसके कारण समाज में से लोगों का लोकत्व लुप्त हो रहा है और तंत्र ही सब कुछ बनता जा रहा है। तंत्र मुख्य, लोक गौण, तंत्र के लिए लोक, लोक के लिए तंत्र नहीं ऐसी स्थिति बराबर बनती जा रही है, और इसने देश के और दुनिया के विचारकों के सामने एक बड़ा प्रश्न-चिह्न खड़ा कर दिया है।

व्यक्तित्वहीन शिक्षा क्यों ?

ऐसी परिस्थिति में आज हम यह देख रहे हैं कि अपने स्वतंत्र और स्वाधीन देश में हम स्वयं अपनी शिक्षा की जो व्यवस्था चला रहे हैं, उसमें मानव की मूलभूत स्वतंत्रता के रक्षण, पोषण और विकास के लिए बहुत ही कम अवकाश रह गया है। जिस यांत्रिक रीति से शिक्षा का काम पराधीनता के दिनों में चलता था, उससे भी बदतर यांत्रिकता के साथ आज वह हमारे देश में निरपवाद रूप से चल रहा है। जो लोग इस यंत्र के पुरजे बनकर काम कर रहे हैं, उनका अपना कोई व्यक्तित्व बाकी नहीं रहा है, वे बराबर दबते जा रहे हैं। और उनकी स्वतंत्र चेतना का, उनके स्वाभिमान का और स्वतंत्र व्यक्तित्व का ह्रास बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। यह ह्रास केवल प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा है, बल्कि विश्वविद्यालय तक पहुँचा है और व्यापक तथा विराट-सा हो उठा है। यह सब देखकर सहज ही मन विषाद से भर जाता है और गहरी चिन्ताओं में डूबने उतराने लगता है।

हमारे देश का मूल विचार विद्या के बारे में आज के विचार से बहुत ही भिन्न रहा है। हमारे पूर्वज हमसे कह गये हैं कि सच्ची विद्या वही है, जो मनुष्य को मुक्त बनाये—सा विद्या या विमुक्तये। इस वाक्य के अनुसार विद्या का पहला फल मुक्ति है। ऐसे ही एक दूसरे वाक्य द्वारा हमसे कहा गया है कि जो अपने जीवन में सच्ची विद्या प्राप्त करता है, वह अमरता का अधिकारी बनता है—विद्ययाऽमृतमश्नुते। इन दो प्राचीन और प्रसिद्ध वचनों द्वारा मनुष्य-जीवन में विद्या की जिस परिणति की ओर संकेत किया गया है, क्या आज की शासकीय तंत्र में जकड़ी शिक्षा हमारे नये नागरिकों को इन परिणतियों की ओर ले जाने में सफल हो रही है ? एक शब्द में इसका उत्तर देना हो तो कहना होगा कि नहीं, नहीं, नहीं।

विज्ञान शिक्षण का लक्ष्य क्या ?

स्वतंत्र भारत में आज प्राथमिक से लेकर उच्चतम शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञान-विज्ञान की जो उपासना-आराधना हो रही है, उसका लक्ष्य न तो शिक्षित मनुष्य की मुक्ति है और न उसकी अमरता। लक्ष्य केवल एक रह गया है—जैसे भी बने, छोटी-बड़ी परीक्षाएँ पास करके प्रमाण-पत्र प्राप्त करना और प्रमाण पत्रों की मदद से छोटी-बड़ी जो भी नौकरी मिल जाये, इसे पाने की भरपूर कोशिश करना। स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र और शिक्षित नागरिक के जीवन का यह लक्ष्य उसके लिए किसी भी रूप में शोभास्पद और श्रेयस्कर नहीं है, पर हकीकत यह है कि आज हमारे देश का औसत शिक्षित नागरिक इसी एक चीज के पीछे बावला होकर भटक रहा है। देश की वर्तमान स्थिति में शिक्षित नागरिक की यह पथभ्रष्टता सबके लिए चिन्ता का विषय बनी हुई है। पता नहीं, कब

वह दिन उगेगा जब देश का औसत शिक्षित व्यक्ति नौकरी से मुँह मोड़कर स्वावलम्बी और आत्म निर्भर जीवन की दिशा में पूरे विश्वास के साथ अपने कदम बढ़ायेगा?

आज हमारे देश का सारा शिक्षातन्त्र शासन की मुट्ठी में है। शासनारूढ़ व्यक्ति उसे जो रूप देना चाहते हैं वही उसका रूप बन जाता है। इस कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के १७ वर्षों के बाद भी हम अपने देश में अपने राष्ट्र की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं कर पाये हैं। सारा काम प्रवाह-पतित की भाँति चल रहा है। शासकीय विभागों में शिक्षा का विभाग अंग्रेजी राज के जमाने से ही एक अनुत्पादक और 'मत कमाऊ' विभाग रहा है। इस कारण शासकों की दृष्टि में इसका कभी कोई विशेष महत्व नहीं रहा। वह सबकी उपेक्षा का पात्र बना रहा और उस पर यथेष्ट खर्च करने की स्वस्थ परम्परा कभी बनी ही नहीं।

शराब के पैसे से शिक्षा को न चलायें

अंग्रेज सरकार तो देश के लोगों को शराब पिला-पिला कर उसकी आमदनी में से शिक्षा और स्वास्थ्य-जैसे विभागों के खर्च की व्यवस्था करती थी। इसके कारण शिक्षा का सारा काम एक ऐसे स्रोत से चलता था, जो मूलतः दूषित और अपवित्र था। शिक्षा विभाग पर और उसके कर्ता धर्ताओं पर इस दूषितता का गहरा प्रभाव पड़ा और फलतः सारा शिक्षा-जगत् ही विकृत रीति से काम करने लगा और पथभ्रष्ट हो गया।

स्वतन्त्रता के इन १७ सालों में शिक्षा का विस्तार तो बहुत हुआ, पर उसके रूप स्वरूप में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं पड़ा। उलटे वह तो उत्तरोत्तर अनेकानेक लज्जाजनक विकृतियों का अखाड़ा बन गया और शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले हमारे धुरन्धर लोग भी इस अखाड़ेबाजी के प्रभाव से बच नहीं सके। आज तो स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक और भयजनक होती जा रही है।

आजादी के बाद भी वही चक्कर

मानव जीवन को समुन्नत बनानेवाले किसी महान् ध्येय की सिद्धि को अपने कार्यक्रम का लक्ष्य बनाने के बदले आज की हमारी शिक्षा संस्थाएँ पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तक, परीक्षा, प्रमाण पत्र, प्रतियोगिता और पुरस्कार की षड्विध व्याधियों और उपाधियों से इस बुरी तरह ग्रस्त हो चुकी हैं कि किसी को उद्धार और निस्तार का कोई मार्ग सूझ ही नहीं रहा है। पीढ़ियों पहले उस समय की परिस्थितियों के कारण शिक्षा के जिन गलत उपकरणों और साधनों के चक्कर में हम फँस गये थे, स्वतन्त्रता के बाद भी हमने अपने को उन्हीं के बन्धन में बाँधे रखा और शिक्षा-जगत् में आमूल-चूल क्रान्ति कर दिखाने का कोई विचार हमको नये पुरुषार्थ के लिए प्रेरित नहीं कर सका।

परिणाम यह हुआ कि जिस तरह आज का हमारा औसत नागरिक सामाजिक और आर्थिक विषमता तथा दासता में गले गले तक डूबा हुआ है, उसी तरह वह शिक्षा के मामले में भी पुराने मूल्यों से चिपटा हुआ है और शिक्षित होकर भी दासता का ही उपासक बनता जा रहा है। निश्चय ही देश के भविष्य के लिए यह एक भयंकर स्थिति है। हमें साहस और सूझ-बूझ के साथ अपने प्यारे देश को इस महान सांस्कृतिक संकट से बचाना होगा।

शिक्षा को लोकजीवन में ले जायें

इसके लिए यह नितान्त आवश्यक मालूम होता है कि जिस तरह देश स्वाधीन बना, उसी तरह हम अपने यहाँ अपनी शिक्षा को भी शासकीय तन्त्र के चंगुल से छुड़ाकर लोकजीवन में उसको स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित करें और उसकी दिशा को इस तरह मोड़ें कि जिससे वह समग्र रूप से आत्मनिर्भर, स्वतन्त्र, स्वाधीन और आत्म कल्याणकारी बन सके। जब तक इस देश में शिक्षा का सम्बन्ध शासन से और शासकीय सेवा से जुड़ा रहेगा तबतक शिक्षा अपने वास्तविक लक्ष्य से कोसों दूर रहेगी और शिक्षित व्यक्ति के जीवन में स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की कोई उत्कट भावना प्रकट नहीं हो सकेगी।

कहा जाता है कि अंग्रेजों के आने से पहले इस देश में शिक्षा की व्यवस्था शासकीय तन्त्र के अधीन नहीं थी।

उसका मूल आधार लोक जीवन था। लोगों की अपनी जैसी आवश्यकताएँ होती थी उनके अनुसार वे शिक्षा दीक्षा लेकर प्रत्यक्ष जीवन के क्षेत्र में प्रवेश करते थे और जीवन को नाना प्रकारों से उज्ज्वलता तथा सफलता प्रदान करते थे।

वेदों, उपनिषदों और उनके बाद के भी कई युगों में हमारे देश में ज्ञान विज्ञान की उपासना का काम शासन से स्वतंत्र रहकर ही होता रहा और शिक्षा गुरु की अथवा आचार्य उपाध्याय की प्रतिष्ठा शासनारूढ़ राजा महाराजाओं से सदा ही ऊँची रहती थी। उस समय के राजा आचार्यों और गुरुओं से जीवन की दीक्षा लेते थे और उसी में कृतार्थता का अनुभव करते थे।

शिक्षा को बन्धन मुक्त करें

आज विधि की विडम्बना से पुराना सब कुछ बदल गया है। अब न वे गुरु हैं और न वैसे आचार्य उपाध्याय हैं। आज के हमारे शासकों में भी पुराने शासकों की सी वह भावना नहीं रही है जिससे वे आचारवान और सदाचारयुक्त गुरुओं की मर्यादा की रक्षा करते थे और उनके चरणों में बैठकर उनसे न केवल राजकाज की बल्कि प्रत्यक्ष जीवन की भी दीक्षा लेते थे।

आज स्वतंत्र भारत की आत्मा एक बार फिर पुकार रही है। वह हमसे कह रही है कि जिस तरह देश में राजनीतिक स्वतंत्रता स्थापित हुई है उसी तरह देश का शिक्षा-जगत भी स्वतंत्र और स्वाधीन बने और बन्धन मुक्त वातावरण में ज्ञान विज्ञान की गहरी आराधना उपासना के मार्ग देश में सब कहीं जन-जन के लिए खुल जाय। जिस दिन अपने देश में हम अपनी उत्कटता और दक्षता से यह स्थिति ले आयेंगे वह दिन हममें से हरेक के लिए भाग्योदय का दिन होगा। आइए हम उस दिन को निकट लाने के लिए आज ही से कमर कसें और जी-जान से जुटें।

●

भारतीय शिक्षाशास्त्र

●

विनोबा

मेरा सारा जीवन विद्यार्थी और शिक्षक के नाते ही बीता है। जिसको बुनियादी तालीम कहते हैं उसका पहला प्रयोग हमने ही किया। आरम्भ में इसका प्रयोग गांधीजी ने किया था। इसकी एक शाखा वर्धा में चलायी, तब उनके साथ मैं भी था। वहाँ जो प्रयोग किया गया उसको बुनियादी तालीम का आधार था। गांधीजी ने सोचा कि भारत में स्वराज्य आनेवाला है। उस समय शिक्षा की समस्या खड़ी होगी तब आजकल की अंग्रेजों द्वारा चलायी गयी शिक्षा-पद्धति काम नहीं आयगी। इसलिए शिक्षा की नयी पद्धति की आवश्यकता है। ऐसा सोच कर उन्होंने यह पद्धति चलायी। तब से हमारा इसके साथ सम्बन्ध है। स्वराज्य की पूर्व तैयारी में नयी तालीम की पद्धति के जानकार लोगों की एक कमिटी बनायी गयी थी। उस कमिटी में हम भी थे। हमारा इसके साथ पहले से सम्बन्ध है।

नयी तालीम एक जीवन-पद्धति

दो-तीन साल पहले डाक्टर जाकिर हुसेन ने कहा कि भारतवर्ष में यह पद्धति फेल हुई है। आज जो चल रहा है वह उस पद्धति का नाटक चल रहा है। सारे भारत में उसकी चर्चा चली। डा० जाकिर हुसेन तो इस

पद्धति के मूल चालकों में से एक हैं। यह बड़ी बात है कि उन्होंने इस पद्धति की निन्दा की ? वास्तव में उन्होंने इस पद्धति का खंडन नहीं किया था, जिस ढंग से इस पद्धति को चला रहे हैं, उस ढंग का निषेध किया था। नयी तालीम के विषय में मेरी एक किताब है। वह हिन्दुस्तान की सब भाषाओं में प्रकाशित हो चुकी है। उसका तर्जुमा हुआ है। उसमें एक जगह मैंने कहा है कि यह एक जीवन-पद्धति है, शिक्षा पद्धति नहीं। जिस शिक्षा पद्धति का आकर्षण नहीं रहा, उसका जो प्रयोग होगा वह किस प्रकार का होगा ! संस्कृत में एक बहुत पुराना वाक्य है।

विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामास वानरम्।

एक कारीगर मिट्टी से विनायक की मूर्ति बना रहा था। मूर्ति बनाते-बनाते उसने एक बन्दर बनाया। मिट्टी ही थी। उसमें से विनायक भी बन सकता है और बन्दर भी बन सकता है। मिट्टी का गणेश और बन्दर, दोनों बन सकते हैं।

आज जिस ढंग से यह पद्धति चल रही है, उस पर उन्होंने टीका की थी। उसके मूल में जीवन-विचार है। उस जीवन-विचार को हमें ग्रहण करना चाहिए। आज के भारतीय समाज में उसका ग्रहण नहीं हो रहा है। भगवद्गीता में कहा है—ब्रह्म और कर्म एक हो जाय। गीता में यह बहुत अच्छी तरह से समझाया है। जीवन के दो टुकड़े नहीं होना चाहिए। एक है ज्ञान-अंश और दूसरा है कर्म-अंश। ज्ञान अंश और कर्म-अंश ऐसे जीवन के टुकड़े बन गये तो समाज के टुकड़े बनेंगे, समाज विकलांग होगा, समाज में सामर्थ्य नहीं होगा और उसमें झगड़े बढ़ेंगे।

कर्तृत्वशून्य ज्ञानाहंकार और ज्ञानशून्य कर्माहंकार

कुछ लोग ज्ञान-प्रधान जीवन जीते हैं और कुछ लोग केवल कर्ममय जीवन जीते हैं। जो काम करते हैं उनको ज्ञान नहीं होता और जिनके पास ज्ञान होता है उनको काम की आदत नहीं होती, ऐसे दो टुकड़े हो जाते हैं। एक बनता है राहु और एक बनता है केतु। राहु-केतु की पुरानी प्रसिद्ध है। एक राक्षस का छेद किया गया। उसमें से सिर अलग किया गया। सिर अलग हुआ और बाकी भाग अलग रहा, और दोनों जीवित रहे। सिरवाला हिस्सा राहु है और बिना सिर का केतु है। ऐसे दो टुकड़े बनने से न राहु का सामर्थ्य रहा, न केतु का सामर्थ्य रहा, फल ज्योतिष में उसका सामर्थ्य रहा। दोनों सताते हैं, दोनों सतानेवाले ग्रह माने गये हैं। एक के पास है कर्तृत्व-शून्य ज्ञानाहंकार और दूसरे के पास है ज्ञान शून्य कर्माहंकार। ज्ञान और कर्म, ऐसे दो टुकड़े समाज में बन जाते हैं।

अन्ध-पंगु न्याय

फिर कहते हैं कि दोनों का सहयोग करके समाज चलाओ। अन्ध-पंगु न्यायेन समाज चलाओ। यह एक शास्त्र-शास्त्र का न्याय है। एक अन्धा था और एक पंगु। दोनों मुसाफरी करना चाहते थे। पर दोनों का परस्पर सहयोग कैसे होता ? तो अन्धे के कन्धे पर बैठा पंगु और दोनों चले। पंगु मार्ग दिखाता जाता और अन्धा उसके अनुसार चलता जाता। भारत की आज यही दशा है। देहात में रहते हैं अन्धे लोग और शहर में रहते हैं पंगु लोग। इन दोनों के सहयोग की बात हो रही है, तो यह सहयोग कैसा होगा ? शहरवाला जो पंगु है, वह देहात के कन्धे पर चढ़ेगा। वह अपना अधिकार मानेगा और देहातवाला समझेगा कि ठीक है। हम बे-अक्ल हैं तो यह हमें मार्ग दिखायेगा। इस तरह से आज का समाज चलता है। उसके परिणामस्वरूप ज्ञान निर्वीर्य बनता है।

हिन्दुस्तान में ज्ञान है बिलकुल सैद्धान्तिक और जहाँ इतना सारा ज्ञान है, वहाँ बहुत ज्यादा तत्वज्ञान भी है। उसकी बहुत चर्चा भी चलती है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत बारीक-बारीक शेड्स और डिफरेन्सेस हैं। शंकर और रामानुज के शिष्यों के झगड़े होते हैं। भारत में सब बारीक-बारीक चर्चा हुई। इन दार्शनिकों की बराबरी के लोग दुनिया में और कहीं नहीं दीखेंगे। लेकिन उनका सारा तत्वज्ञान हवा में गया। मनुष्यों के लिए जीवनोपयोगी तत्वज्ञान तैयार नहीं हुआ। ऐसा विज्ञान इसलिए नहीं हुआ कि ज्ञानी लोग काम के साथ सम्बन्ध नहीं रखते थे। स्थूल प्रयोग करते थे और उसके आधार से निष्कर्ष पर आ जाते थे। उसमें उनकी प्रक्रिया नहीं थी। वे ध्यान-चिन्तन से तत्वज्ञान निकालते थे, तो अन्त में जीवन में उसका व्यवहार नहीं कर सकते थे। समाज पर उनका

ध्यान नहीं था। उससे उल्टे यहाँ के किसान कारीगर हैं जो दस हजार साल पहले के औजार लेकर अपना काम चलाते हैं, उसमें कोई सुधार नहीं हुआ। क्योंकि उनके पास ज्ञान नहीं था। उसका यह उपकार है कि उनके पास जो साधन हैं, उससे वे अन्न उत्पादन करते हैं।

ज्ञान और कर्म के दो टुकड़े

यहाँ एक एकड़ में जितनी पैदावार होती है उससे छः गुनी पैदावार जापान में होती है। क्योंकि वहाँ के लोगों के काम के साथ ज्ञान है और यहाँ वह ज्ञान नहीं। इसलिए यह सारा काम जड़ होता है। ज्ञानियों का ज्ञान निर्वीर्य, क्रियाशून्य बनता है। दोनों को खाना तो है ही। अन्न में दोनों का भाग है। लेकिन उत्पादन करने में ज्ञानी अन्न-उत्पादन पर प्रकाश नहीं डालेगा। क्योंकि उसका ज्ञान सैद्धांतिक है।

आजकल कृषि कालेज खोले जाते हैं। उनमें किसको दाखिल करते हैं? जब लड़का १७–१८ साल का होता है तब सरकार देखती है कि अब यह ठंड सहन नहीं करेगा, बारिश सहन नहीं करेगा, ज्यादा धूप सहन नहीं करेगा तो वह कृषि-कालेज के लायक बन गया। क्योंकि तब तक उसको अंग्रेजी का ज्ञान हो गया। कृषि-कालेज के लिए अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है। कृषि के लिए बच्चों को अंग्रेजी सिखाते हैं, उतने से फसल नहीं बढ़ती तो बैलों को भी अंग्रेजी सिखानी चाहिए। यह एक हास्यास्पद वस्तु है। लेकिन यह चल रहा है। हमारी भाषाओं में खेती के लिए भी किताबें नहीं बनायी गयी हैं। यह हो सकता है कि कहीं इंजीनियरिंग के लिए या एटमिक एनरजी की खोज करनी हो तो इंगलिश, जर्मन, रशियन भाषाओं से किताबें लेनी पड़ेंगी। उसे मैं मान सकता हूँ। लेकिन मामूली खेती के लिए हमारी भाषाओं में किताबें नहीं हैं। इसलिए कृषि-कालेज में साधारण किसान को नहीं लेना चाहिए, उसे मैं नहीं मान सकता। अनुभव यह आता है कि जो लोग कृषि कालेज से पास होते हैं वे नौकरी माँगते हैं। यह नहीं कि वे खेतों में आते हैं और उत्पादन बढ़ाते हैं। यह इसलिए होता है कि ज्ञान और कर्म ऐसे दो टुकड़े हो गये हैं।

जाति भेद के कारण अन्याय को बढ़ावा

फिर एक बात और है, वह यह कि अन्याय की हद है। शारीरिक काम के लिए कम मजदूरी देते हैं और मानसिक काम के लिए ज्यादा मजदूरी देते हैं। विश्व-विद्यालय का प्रोफेसर होने भर में १४ घंटे काम करेगा और उसे कम से कम छः महीने की छुट्टी होगी। साल भर में पाँच छः महीने का काम और हफ्ते में १४ घंटे का काम और तनख्वाह कितनी होगी! उस हिसाब से किसान बढ़ई, बुनकर जो उससे अधिक समय काम करते हैं, उनकी क्या तनख्वाह होगी? ऐसा फरक क्या होना चाहिए? उसमें बहुत बड़ा बोझ समाज के नीचे के स्तर पर आता है। इसके अलावा हमारे देश में और एक बुराई पहले से ही है। हमारे देश में जातिभेद का जोर है। शारीरिक परिश्रम के काम के लिए पहले से घृणा थी और उसको अशुद्ध मानते थे। ऊँचे वर्ण के लोग जो काम नहीं करते थे उनकी प्रतिष्ठा थी। यह पहले से ही था। यहाँ जो अंग्रेजी तालीम आयी, उसका फायदा ऊँचे वर्ण के लोगों ने पहले उठाया। वे पहले से ही ऊँचे थे। फिर अंग्रेजी आने पर दुगुने ऊँचे हो गये और अपने को जनता से अलग मानने लगे और जनता के लिए उनके मन में घृणा भी हुई।

भारत का शिक्षा विचार

अपने पूर्वजों ने ऐसा ही किया था। बहुत प्रसिद्ध कहानी है। वसुदेव ने अपने बेटे कृष्ण को काफी बड़ी उम्र में सांदीपनी के आश्रम में भेजा। तब भगवान १६ साल के थे। तब तक वे देहात में रहते थे। वहाँ मक्खन खाते थे, गायें चराते थे, गायों की सेवा करते थे और ग्वालों के साथ रहते थे जिसे आप निम्नवर्ग का काम कहते हैं वह सब उन्होंने बचपन में किया। उसके बाद उनका गुरुगृह में प्रवेश हुआ। वे बड़े सम्राट के लड़के थे, तो गुरु ने उनको एक गरीब ब्राह्मण के साथ रखा। दोनों को जंगल की लकड़ी तोड़कर लाने का काम दिया। उपनिषद में एक प्रसिद्ध विधान है कि ज्ञान प्राप्ति कैसे होती है? गुरोः कर्मानि-शपण–गुरु द्वारा दिये हुए काम को पूरा करके बचे हुए

समय में ज्ञान-प्राप्त करना। यह है भारत का शिक्षा-विचार। तदनुसार लकडी लाने का काम करने में चार-पाँच साल बीत गये। बचे हुए समय में उन्होंने वेदाभ्यास किया। स्वय सुदामा ने इसका वर्णन किया है।

बाद में भगवान हो गये सम्राट और वे द्वारिका गये। यद्यपि राजा के नाते उन्होंने काम किया, फिर भी वे अपने को सेवक ही मानते थे। वह गरीब ब्राह्मण भी अपने घर चला गया। उसके घर में खाना मिलना भी मुश्किल था। तब पत्नी ने सुझाया कि आपके मित्र इतने धनी हैं, इसलिए एकबार उनसे मिल आइये। वह उनसे मिलने गया। और एक मुट्ठी चावल उनको भेंट देने के लिए साथ में लिया। कृष्ण के महल पर द्वारपाल खडा था। उसने उनको रोक दिया। द्वारपाल ने कहा कि तुम कौन हो? वह बोला कि तुम्हारे सम्राट का दोस्त हूँ। उसने देखा कि नगे बदन और चिथडे पहने एक आदमी खडा है और वह दावा करता है कि मैं सम्राट का मित्र हूँ। वह उसे अन्दर कैसे जाने देता? तब सुदामा ने कहा कि तुम अपने बादशाह से पूछकर आओ। वह कृष्ण के पास गया और कहा कि द्वार पर ऐसा एक भिखारी आया है और कहता है कि मैं आपका मित्र हूँ। यह सुनकर भगवान दौडे हुए आये और उसका हाथ पकड कर अन्दर ले गये। उसे उन्होंने अपने ही सिंहासन पर बैठाया। फिर वे अपने पुराने दिन याद करने लगे। जगल में से लकडी काट कर कैसे लाते थे। एक दिन बहुत ज्यादा बारिश हुई तो वापस आने में देरी हुई। तब गुरु खुद खोजने के लिए आये थे।

यह सब वर्णन शुकदेव ने कुचिर आख्यान में किया है। कुचिर याने रद्दी वस्त्र पहना हुआ। इससे उन दिनों भारत में क्या शिक्षा-पद्धति थी, उसका चित्र सामने खडा होता है। इस प्रकार की तालीम भगवान ने पायी थी। इसलिए उनके जीवन में ज्ञान और कर्म हमेशा एकरूप रहा और उस अनुभूति से ही गीता का निर्माण हुआ।

ज्ञान और कर्म को अलग नहीं होने देना चाहिए। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

नयी तालीम व वैदिक शिक्षा

यह तालीम का सिद्धान्त गाधीजी ने रखा है। वह वही सिद्धान्त है, लेकिन उसको नयी तालीम नाम दे दिया। इसलिए कि अँग्रेजी जरा पुरानी तालीम थी, उसकी तुलना में यह नयी तालीम होगी। वास्तव में यह नयी तालीम नही थी, यह तो वैदिक शिक्षा थी। वही उन्होंने हमारे सामने रखी। जिसमें काम और ज्ञान एक रूप हो जाते हैं और हर शिक्षक काम में और ज्ञान में प्रवीण हो ऐसा उसका सिद्धान्त था। जब अर्जुन लडाई के लिए तैयार हुआ, तब उसने कृष्ण को कहा कि ठीक है, आपके कहने से मैं तैयार हुआ, लेकिन मेरे *सारथी आप बनेंगे तो ठीक होगा।* तब भगवान उसके सारथी बने। पर क्या आज कोई नेता ऐसा है कि उसके अनुयायी उसको कह सकें कि मैं चुनाव के लिए जानेवाला हूँ तो आप मेरे शोफर बनियेगा। आज कोई अनुयायी अपने नेता को इस प्रकार कहने का साहस नही कर सकता। लेकिन अर्जुन ने भगवान को कहा कि तू मेरे रथ का सारथी बन। उस समय कर्म में हीनता का ख्याल ही नहीं था। यदि आज हम ऐसी हालत ला सकें, तो भारत में फिर से तेजस्विता आवेगी।

द्वितीय विश्वयुद्ध का वर्णन है। जर्मनी का सेनापति रोमेल *ईजिप्ट में आकर सोचता था कि हिन्दुस्तान* पर हमला करें। लेकिन उसको टैंकों की जरूरत थी। उसने उनके लिए हिटलर के पास माँग की। हिटलर ने अपने जनरल लोगों को बुलाकर चर्चा की। उसमें रोमेल को भी बुलाया था। आखिर निर्णय हुआ कि इतने टैंक उस मोरचे पर नहीं दे सकते। विश्व का इतिहास लिखनेवाला लिखेगा कि हिटलर ने बडी गलती की। रोमेल उसका पहले दरजे का सेनापति था। वह ईजिप्ट तक आ गया था और हिन्दुस्तान तक भी वह आ सकता था। यदि ऐसा होता तो लडाई का नक्शा बदल जाता। अब इधर रोज लडाई होती थी और प्रतिदिन कुछ न कुछ टैंकों में गडबडी होती थी। उनकी दुरुस्ती उसी समय करनी पडती थी। शाम को यह काम करते थे। दिन को व लडते थे। लेकिन उनकी

क आधार पर ही विकसित हुई है। इस प्रकार के परिवर्तन से कुछ हद तक देश की बेकारी और गरीबी की समस्या जरूर हल होगी, परन्तु हमें डर है कि परिवर्तन लाने की झाक में कहीं हम अपनी शिक्षा-पद्धति को विदेशी साँचे में ही न ढाल दें।

वास्तव में यही हो रहा है। कुछ परिवर्तन आवश्यक भी हैं, परन्तु इन परिवर्तनों का स्वस्थ परिणाम तभी निकल सकता है जबकि कुछ अनिवार्य दशाएँ उत्पन्न हो जायें। वस्तुत उन अनिवार्य दशाओं की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है और प्राय हम जहाँ भी अवसर पाते हैं उसमें विदेशी तत्व मिलाने के लिए व्याकुल हो जाते हैं, चाहे इस मिलन की प्रक्रिया में पुरानी-नयी पद्धति का मेल बैठा पायें अथवा नहीं।

हम यह भूल जाते हैं कि विदेशों का पर्यावरण, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दशाएँ, आवश्यकताएँ इतिहास तथा प्रजाति आदि सभी भिन्न हैं। सारा समाजीकरण भिन्न वातावरण में हुआ है। आज प्रशिक्षण-संस्थाओं में शिक्षक को यथार्थ अध्यापक नहीं बनाया जा रहा है, वरन् विदेशी चोले को पहन कर उसी आधार पर क्षेत्रीय तथा व्यावहारिक शिक्षा दी जा रही है। इस सम्बन्ध में सफाई दी जा सकती है कि ऐसी संस्थाओं की स्थापना हो, जिनमें शिक्षकों का भारतीय आधारों पर शैक्षणिक समाजीकरण हो। इस शैक्षणिक समाजीकरण पर बहुत गम्भीर विचार करने की आवश्यकता है।

आज हमारे यहाँ कमी इस बात की है कि शिक्षाविद् अपने आप भारतीय दशाओं के आधार पर कुछ नयी एवं मौलिक पद्धतियों पर विचार नहीं कर रहे हैं वरन् विदेशों का अनुसरण करते चले आ रहे हैं। जिस पद्धति की वहाँ प्रशंसा हुई उसे आँख मूँद कर अपना लिया और थोड़े दिनों बाद जब उस पद्धति की विदेशों में आलोचना हुई तो भारत में भी उसी प्रकार उसे बुरा मान लिया जाता है और उसे छोड़ कर किसी दूसरी नयी पद्धति को अपनाया जाता है। इस प्रकार पुरानी पद्धति के आधार पर शिक्षा देने में जो समय, रुपया और अन्य शक्ति लगी होती है वह सारी बेकार हो जाती है।

हमारे देश में एक प्रवृत्ति और देखी जाती है। वह यह कि जब किसी कोने से एक आवाज उठती है तो चारों ओर विचारक भी उसी का गीत गाने लगते हैं। उसकी महिमा की चकाचौंध से उनकी आँख चुंधिया जाती है, जिससे वे अन्य समस्याओं की अवहेलना करने लगते हैं। जैसे, आजकल तीन 'न' की आलोचना हो रही है और सामुदायिक विकास के अधीनस्थ शिक्षकों के जिम्मे और भी अनेक कार्य सौंपे जा रहे हैं।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमारे यहाँ शिक्षा की स्थिति सन्तोषप्रद है और इसमें परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। शिक्षा में परिवर्तन तो हमेशा होता ही रहता है। प्रश्न यह है कि परिवर्तन की गति क्या हो और उसकी दिशा क्या हो? हमें शिक्षा में परिवर्तन की दिशा और गति पर भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है।

शिक्षाविद् का प्रथम कर्तव्य है कि वह इस परिवर्तन की दशा एवं गति को भारतीय पृष्ठभूमि में प्रभावित करें। वे आज जिस परिवर्तन की अपेक्षा कर रहे हैं, वह पूर्णतया अस्वाभाविक एवं अवांछनीय है, क्योंकि उनके अनुसार परिवर्तन आकस्मिक और आमूलचूल रूप में होना चाहिए। आज इसी प्रकार के परिवर्तन के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं और यही कारण है कि उन्हें अबतक असफलता मिली और स्वयं अपने द्वारा किये गये परिवर्तनों से सन्तुष्टि नहीं है।

शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त व्याधियों और समस्याओं को दूर करना होगा। ये आधारभूत बातें हैं—शिक्षा का रूप, शिक्षा देने की विधि पाठ्यक्रम, अनुकूल दशाओं की उत्पत्ति, शिक्षक का सामाजिक एवं आर्थिक स्तर तथा उसकी मानसिक दशा। इन सब बातों पर भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने के उपरान्त ही रोग का निदान सम्भव है। इसके लिए शिक्षा के इतिहास का गहन अध्ययन करना होगा। पुरानी और नयी पद्धतियों के संगम से एक स्वस्थ नयी पद्धति की स्थापना करनी होगी।

बालवाड़ी कितनी बड़ी हो ?

•

जुगतराम दवे

बहुत बडी-बडी बाल शिक्षा सस्थाएँ शहरो में व्यक्तियो या सस्थाओ द्वारा चलायी जाती हैं। इनमें दूर दूर के बालको को तागो या मोटर बसो में बैठाकर लाया जाता है। दस-पन्द्रह शिक्षको और नौकरो का एक काफिला इनके लिए रखा जाता है और ढेरा शैक्षणिक साधन और खिलौन भी इकटठा किये जात हैं।

किन्तु नयी तालीम हमें एक अलग ही दिशा दिखाती है और वह यह कि बालवाडी तो छोटी ही भली।

बालवाडी में आनेवाले बालक ढाई से छ वर्ष के होते हैं। यह एक स्वयसिद्ध वस्तु मानी जानी चाहिए कि ऐसे बच्चो की बालवाड़ियाँ उनकी माताओ और उनके घरो के निकट ही चलायी जायँ। बालक अपने ...रण के अभ्यस्त होते है। उससे अलग उनका ...नहीं होगा। मछलियो को सभी तरल पदार्थ में ...जा सकता, उनके लिए अनिवार्य शर्त यह है कि ...र हो। यह प्राणवायु पानी में है इसलिए मछलियों को पानी में रखा जा सकता है, अन्य किसी ऐसे पदार्थ में नहीं, जिसमें प्राणवायु नहीं है।

माता की और घर की उष्मा (वातावरण) बालका के लिए प्राणवायु के समान ही है। बालवाडी या स्थान बालको के घर से इतना पास होना चाहिए कि माताएँ जाते-आते और घर का काम-काज करते समय सहज ही अपने बालको पर ध्यान रख सकें और बालक भी बालवाड़ी में भी काम म क्यो न बझा हो, मौके-मौके से अपनी माँ को आते-जाते देख सके।

इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर बालवाडी में भरती किये जानेवाले बालकों की सख्या अपने-आप सीमित हो जाती है। गाँव की एक बस्ती या महल्ले-टोले में ३०–४० या अधिक से अधिक ५०–६० बालक होते है इसलिए एक बालवाडी में इससे अधिक बालक नहीं होने चाहिएँ।

यदि महल्ले की किसी एक ही सेविका को बालवाडी चलाने की प्रेरणा हो तो उसे अपनी शक्ति की सीमा समझकर १५ से २० बालक ही इकटठा करना चाहिए। यदि महल्ले के अधिक बालक आना चाहते हो, तो उसे अपनी ही तरह बाल-सेवा में रुचि रखनेवाली एक दूसरी बहन को खडा कर लेना चाहिए। इस तरह दो या तीन सहेलियाँ मिलकर ६० बालकों तक की बालवाडी चला सकती हैं।

एक बाल शिक्षिका अकेले दम ही बालवाडी चलाये, इसकी अपेक्षा अधिक अच्छा यह हो कि दो तीन सहेलियाँ मिलकर बालवाडी चलायें। इससे वे आपस में विचारो और अनुभवो का आदान प्रदान कर सकेंगी और वे अधिक अध्ययनशील और प्रगतिशील बन सकेंगी।

महल्लो-टोलो में बालको के घरों के आसपास बालवाडियाँ चलाने के विचार के मूल में जिस प्रकार बाल शिक्षा की एक दृष्टि है, उसी प्रकार उसमें प्रौढ शिक्षा की भी दृष्टि रही है अर्थात बालको की माताओ को शिक्षित करने की दृष्टि। घर घर में रहनेवाली माताओ के लिए यदि किसी प्रकार की शिक्षा अधिक से-अधिक आवश्यक है तो वह बालको के लालन पालन, सगोपन और शिक्षण की ही शिक्षा है। यदि बस्ती के पास-पडोस

में ही बालवाडियाँ चलेंगी तो माताएँ अनायास ही बाल-संगोपन आदि की कलाएँ सीख सकेंगी। उन्हें समय-समय पर बालवाडी में जाने और वहाँ चल रहे कामों को देखने-समझने के अवसर सहज ही मिलते रहेंगे।

बालवाडी में बालकों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है, उनके विकास के लिए किस प्रकार के साधनों का उपयोग होता है, वहाँ वे कैसे कैसे काम कर सकते हैं, रोक-टोक के बदले अनुकूलता का वातावरण देने से वे कितने खुश और तल्लीन रह सकते हैं, आदि बातों के संस्कार माताओं के हृदयों पर अंकित हुए बिना रह नहीं सकते। कुछ अधिक उत्साही माताएँ होंगी तो वे बाल-शिक्षिका को उसके काम में मदद भी करने लगेंगी। इससे भी बडी बात यह होगी कि माताओं को इस बात का आत्म-विश्वास हो जायेगा कि बाल शिक्षा का काम तो उनकी अपनी रुचि का काम है।

इस तरह जैसे-जैसे महल्लों-टोलों में बालवाडियों की संख्या बढती जायेगी, माताओं में बाल-शिक्षा की कला का और तत्सम्बन्धी समझदारी का विकास और विस्तार भी होता चलेगा।

आँगनवाडी

मान लीजिए कि महल्ले की किसी बहन के—किसी ग्राम-सेविका के मन में बालवाडी चलाने की उमंग उठ आयी है। जरा कल्पना कीजिए कि वह क्या करेगी? क्या मकान के बनने और साधनों के खरीदे जाने तक वह बैठी रहेगी? हरगिज नहीं। वह तो फौरन उठेगी और किसी एक महल्ले में पहुँच जायेगी। वहाँ लोगों के आँगनों में खेल रहे बालकों को इकट्ठा करके आँगन-वाडी चलाने लगेगी।

वह पास-पडोस से छोटी-छोटी झाडू इकट्ठा कर लेगी। कुछ ऐसी छोटी झाडू बना लेगी, जिन्हें बच्चे भी आसानी से उठा सकें। फिर खुद आँगन बुहारने लगेगी। बालक भी उसके साथ बुहारना शुरू कर देंगे। हो सकता है कि पास-पडोस के घरों की कुछ भली घर-वालियाँ भी अपनी-अपनी झाडू लेकर उनके साथ बुहारने लग जायँ।

थोडा बडा महल्ला हो, उसमें एक-दो घने पेड की छाया हो, आस पास किसी तरह की बदबू न आती हो, पास-पडोस में बहुत हो-हल्ला न हो रहा हो, बैलगाडियों की या ढोरों की आमद-रफ्त बहुत ज्यादा न हो, .. इस तरह का विशाल-स्वच्छ शान्त और पेड की छायावाला स्थान ही पहले दिन की हमारी आँगनवाडी का स्थान होगा।

उत्साही बाल-शिक्षिका पास-पडोस की माताओं से कुछ चटाइयाँ, दरियाँ और बेंच वगैरा माँग लायेगी। कहीं से कुछ रस्सियाँ लाकर पेड पर एक झूला भी बाँध देगी।

महल्ले में खेलनेवाले किशोर-वय के बालक भला बुलावे की बाट क्यों देखने लगे? बाल-शिक्षिका की बातचीत से और उसके काम-काज से वे तो पहले ही सब-कुछ समझ चुके होते हैं और वे भी सहायता में जुट जाते हैं।

ये बडे बालक छोटी उम्र के बालकों को इकट्ठा करने, उनके संकोच, शरम और डर को दूर करके उन्हें जाजम-दरी पर एक कतार में बैठाने और इस प्रकार की दूसरी सहायता करने में खुशी-खुशी लगे रहेंगे। जब बाल शिक्षिका कोई गीत गवायेगी, तो वे उसे दोह-राने लगेंगे, फिर उनके सहारे धीरे-धीरे छोटे बालक भी सकुचाते-शरमाते बीच-बीच में दोहराना शुरू करेंगे।

इस तरह जब बालकों की शरम कुछ दूर होगी तो बाल शिक्षिका आँगनवाडी का मुख्य कार्यक्रम—हाथ मुँह धुलाना और बालों में कंघी करना—शुरू कर देगी। इसके लिए उसने डोल-रस्सी, तौलिये, कंघी, तेल आदि चीजें पहले से ही तैयार रखी होंगी। इस कार्यक्रम में भी किशोर स्वयंसेवक उसकी बहुत मदद करेंगे।

कुछ दिनों में बालकों का संकोच दूर हो जाने पर शरीर-सफाई की पूरी क्रिया, नहाने और कपडे धोने की भी, शुरू की जायेगी।

पास-पडोस की माताएँ अपने अपने घर का पानी भरते समय इन सारे खेल को रुचिपूर्वक और ध्यानपूर्वक देखती रहेंगी। उन्हें यह देखकर अचम्भा-सा होगा कि

घर में तो बालक को नहलाने और उसके बालों में कंघी करने का काम एक भारी घटना का रूप ले लेता है। बालक कितने रूठते-रिसाते, दौड दौडकर दूर भागते और लुकते छिपते रहते हैं। लेकिन, यहाँ तो बालक बाल-शिक्षिका के पास हँसते खेलते आते हैं, खुशी-खुशी नहाते हैं और मस्त होकर बालों में कंघी करवाते हैं।

इसमें बाल-शिक्षिका की अपनी कोई खूबी है, तो वह यही है कि बालक जिन कामों को स्वयं करने की इच्छा प्रकट करते हैं, उन्हें वह उनको खुद करने देती है। नहाते समय उन्हें अपने ही हाथों लोटा उठाकर बदन पर पानी डालने देती है, उन्हें अपने हाथों अपना बदन मलने देती है, बीच-बीच में वह उन्हें सिखाती भी जाती है और जो काम बालकों से हो नहीं सकते, उन्हें वह खुद करती भी जाती है।

बाल-शिक्षिका की दूसरी खूबी यह है कि वह इस बात की सावधानी रखती है कि बालकों को दुःख न हो, तकलीफ न हो। नहलाते समय उनके शरीर को धक्के न लगें, उनकी आँखों में साबुन का पानी न जाय, बालों में कंघी करते समय बाल खिंच न जायँ और जहाँ खींचना अनिवार्य हो वहाँ मीठे शब्दों से बालक के मन को उतना कष्ट सहन कर लेने के लिए तैयार किया जाय, बाल-शिक्षका इन सब बातों में बडी सावधानी बरतती है।

महल्ले के बडे बालक सफाई के अलावे खेल-कूद में पूरी मदद करते हैं। शिक्षिका को उन्हें सूचनाएँ देने की जरूरत नहीं पडती। मानो किसी लम्बे प्रशिक्षण द्वारा वे बाल-शिक्षा-सम्बन्धी सारे नियम सीख चुके हों, ऐसे ढंग से वे नन्हें बालकों को बडे प्रेम और धीरज के साथ खेलाते हैं, उनके हाथों में झूले की रस्सी थमाकर उन्हें झुलाते हैं, सीढियों पर चढाकर फिसलनी पर से फिसलाते हैं, उनकी आँखों पर पट्टी बाँधकर उन्हें आवाज पहचानना सिखाते हैं, गाय और ग्वाले के, और इसी तरह के दूसरे नाटकों के खेल खेलाते हैं।

सफाई-काम और खेल-कूद के बाद थके हुए बालकों के लिए आँगनवाडी का तीसरा कार्यक्रम यही हो सकता है कि उन्हें किसी-न किसी चीज का नाश्ता कराया जाय। बालक वैसे शान्त होकर बैठ जाते हैं। मुँह में पानी आने लगता है और परोसे हुए नाश्ते को खाने की इच्छा हो जाती है, फिर भी बालक समझदार की तरह बैठे रहते हैं और देखा करते हैं। बालवाडी की उम्र से छोटी उमर के कुछ बालक भी अपने बडे भाई-बहनों की कमर पर बैठकर यहाँ आये होते हैं, वे तो थाली में परोसी गई चीज को देखते ही उसे मुँह में रखने लगते हैं। सब जानते-समझते हैं कि वे तो यही कर सकते हैं। बालवाडी की उम्रवाले बालक उन्हें खाने देते हैं, अपने हाथ से उनके मुँह में कौर भी देते रहते है, पर खुद संयम का पालन करते है। वे जानते हैं कि ये बालक छोटे हैं और हम बडे हैं।

चूँकि काम बालकों का है, इसलिए उसमें बाल-गीत और बाल-कथाएँ तो होंगी ही। जैसे-जैसे बालकों का सहवास बढता जायेगा, उनका संकोच मिटता जायेगा, वैसे-वैसे कार्यक्रमों में उनकी रुचि भी बढती जायेगी।

जो भी बहन या भाई अपना काम धन्धा करते हुए सुबह या शाम को घंटे-दो घंटों की फुरसत निकाल सकें, जिनके दिलों में अपना थोडा-सा समय बाल-सेवा को समर्पित करके अपना मन बहलाने की और साथ ही राष्ट्र की शिक्षा के काम में अपना अल्प सा योगदान देने की भावना हो, अपने अनुभव के आधार पर हम उन्हें यह विश्वास दिलाते हैं कि बालक और उनके माता-पिता सेवा के इस क्षेत्र में उनका पूरा-पूरा स्वागत करेंगे।

कहा जाता है कि कुछ दिनों के तप के परिणाम-स्वरूप श्री कृष्ण ने नरसिंह मेहता को रासलीला के दर्शन कराये थे। यह तो एक दन्तकथा है, लेकिन जहाँ-तहाँ बाल-सेवक या बाल-सेविकाएँ प्रेम-पूर्वक आँगनवाडियाँ चलाने के लिए निकली हैं, वहाँ-वहाँ बाल-देवों ने और उनके माता-पिताओं ने रासलीला से भी अधिक सुन्दर स्वरूप में उनको दर्शन दिये हैं। अलग अलग परिस्थितियों में अनेक सेविकाओं ने इसका प्रत्यक्ष अनुभव समान रूप से किया है।

●

बालक का व्यक्तित्व

•

क्रान्ति

गर्मी की छुट्टियाँ। लम्बे दिन। क्या छोटे, क्या बड़े, सब परेशान, क्या गरीब, क्या अमीर, सब हैरान। इस परेशानी और हैरानी के साथ एक और सकट आता है स्कूल कालेज के विद्यार्थियो पर। जेठ-बैसाख की सायें-सायें करती दोपहरी घर की चहारदीवारी में बिताना। जो लड़के उम्र में बड़े हैं जिनकी एक मित्रमडली है, जो सुबह और शाम के कुछ घटे सैर-सपाटे, खेल-कूद में बिता लेती है, लेकिन जो बच्चे अभी छोटे हैं जिन पर सरक्षका का नियत्रण है उनकी तो आफत है। न जोमर शोर मचा सकते हैं न पूरी ताकत से उछल-कूद सकते हैं। ऐसे बैठो, वैसे बैठो। क्या सीखा इतने दिन स्कूल में? क्या मास्टर ने यह चिल्लाना और शोर मचाना ही बताया? खुलने दे स्कूल, हेडमास्टर से शिकायत की जायेगी, आदि आदि बातें बदलते स्वरो में किसी भी परिवार में जाकर सुन सकते हैं।

ऐसे ही मौसम में कुछ दिनो के लिए एक परिवार में रहने का अवसर मिला। एक दिन देखा ६-७ साल की आयु का लड़का हाथ में स्लेट लेकर बैठा और ९-१० वर्ष की लडकी कलम कापी लेकर कुछ लिखने की तैयारी मे बैठी। उसी समय अधेड उम्र की एक महिला, जो बच्चा की नही, पर बच्चो के माँ-बाप की माता या चाची अवश्य होगी, अपना चश्मा आँखो पर चढाते हुए आयीं। लडकी सम्भलकर बैठ गयी। लडका जो खेलने की तैयारी में था, लेकिन डर के कारण स्लेट लेकर आया था, बोला—"हम तो अपने सवाल कर चुके, पहाड़े भी लिख चुके, अब क्या कराओगी, बताओ अब क्या कराओगी?" महिला ने लडके को चुप रहने को कहा। साथ ही कहा—"लिखो १५, ३०, ४५, ६०।" लिखते लिखते भी लडके ने उतावली से पूछा—"क्या १५ का पहाडा लिखा रही हो?" फिर वही स्वर—"चुप चाप लिखो। लिखने के बाद देखना, क्या?" बेचारा बच्चा क्या करता? लिखता गया। पहाडा पूरा होते ही महिला ने विजय की अनुभूति प्राप्त की। प्रसन्न मुख-मुद्रा से पहाडा याद करने को ज्यो ही कहा कि वह लडका जो अब तक अपने भावो को किसी तरह दबाये हुए आज्ञा का पालन करता जा रहा था और यत्रवत् हाथों को चला रहा था, अपना धीरज खो बैठा। बच्चो के पास अधीरता, असहिष्णुता, क्रोध और प्रेम के प्रकाशन का एक मात्र साधन है रो पडना, रोते जाना। यह लडका भी जोर-जोर से रोने लगा। न मार, न पीट। न लडाई, न झगडा। फिर यह लिखते लिखते क्यों रोन लगा! रोने का कारण जानने की किसे है फुरसत और किसे है जरूरत। ऐसे प्रसगो को बडे अगर उपेक्षा का विषय बना लें तो भी गनीमत। उलटे डाँट-फटकार, गधा-मक्कार की उपाधियो से विभूषित। इतने पर भी मामला समाप्त हो जाय तो काफी। बच्चे की वेदना सहानुभूति में जैसे बढती है उसी तरह गैर-सहानुभूति में भी बढती है और उसी के साथ रोने का स्वर भी बढता जाता है। उधर भी तब तक बर्दाश्त की सीमा समाप्त हो जाती है और दो-चार चपत पड जाती है। बच्चो को चुप होकर समर्पण करना ही पडता है।

पर यहाँ ऐसा कुछ न होकर महिला ने अपना रोष अहिसक तरीके से व्यक्त किया..."जाओ अब कभी पढने को नहीं कहूँगी, छुट्टी भर चाहे जैसे रहो, चाहे जैसे घूमो। मुझसे कोई मतलब नहीं।"

बच्चे के लिए इससे ज्यादा दुख की कोई बात नहीं होती कि उनसे उनका प्रियजन बात न करे। इस स्थिति का सामना बच्चे दो-तीन तरह से करते हैं। वे अपना रुदन बढा-चढाकर बडो को बोलने को लाचार कर देते हैं या फिर कुछ-कुछ ऐसी क्रियाएँ करते हैं कि बडों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो, अगर यह उपाय

भी बारगर न हुआ तो ये सवतव कुछ खाते नही जरूर असन्तुष्ट व्यक्ति ही कहे नही।

रोते रोते यह लडका सो गया। कोई कुछ बोला नहीं। दोपहरी सोते-सोते बीत गयी। ४ बजे सब लोग जमा हुए नाश्ता के लिए। देखा, वह लडका शामिल नहीं हुआ। बुलाने पर भी दूर खडा, देखता रहा। बार-बार बुलाने पर भी वह नजदीक तो नहीं आया, पर आँखो में आ-आकर कोई झांकने लगा—दुख, अपमान, दोष, सब शामिल। वह अपनी बडी बहन को सताना शुरू किया, कभी उसके कपडे फेंके, कभी खिलौने। बहन क्यो बर्दाश्त करे, वह भी बच्चा ही। १० साल के भीतर-भीतर की उम्र। उसने उसकी शिकायत शुरू की। मैंने देखा अब मामला बिगड जायेगा, दोनो बच्चे लड पडेंगे और पिट जायेंगे। छोटा तो खिसिया हो रहा था। प्यार और आश्वासन की बातें असफल हो चुकी थी। मैंने उससे कहा—"तुम बहन को पीट रहे हो तो तुम्हें भी पीटा जायेगा या अलग कमरे में बन्द कर दिया जायेगा। दोनो में से क्या करना वह तुम बताओ।" आश्चर्य की बात थी, उसे ही तय करना पडे कि क्या सजा दी जाय। मैं बार-बार पूछती रही। बहन को छेडना छोड मेरी ओर अपलक, सहमी निगाहो से देखता रहा, मैं बार बार पूछती-कहती "बताओ जल्दी, क्या करूँ, कमरे में बन्द या मरम्मत?" कुछ ही क्षणो मे वह मेरे निकट आया और अन्दर की वेदना बाहर आने लगी। मैंने देखा उसकी आँखो मे आंसू थे। अपना सवाल छोड उसके हाथ पकडकर और नजदीक खींचा, नाश्ता लेने को कहा। हाथ मे आम दिया। तकरार, रोष पता नहीं कहाँ गया। उसने हाथ बढाया। आम लिया। खाने बैठा। शर्माया। निगाहो से इधर-उधर देखते हुए खाना शुरू किया। फिर मैंने कहा—"खाने के बाद पहाड़ा लिखकर दिखा देना।

उसने 'हाँ' सिर हिलाया। मुझे विश्वास नही था, पर सचमुच वह आया। पहाडा लिखा। और पास बैठकर इस समय भी याद कर रहा है।"

हम बच्चे के व्यक्तित्व की कद्र करना कब सीखेंगे!

●

विकासशील अर्थ-व्यवस्था में शिक्षा

●

अशोक मेहता

आशा है कि आगामी वर्षो मे प्राथमिक स्कूलों में दाखले की सख्या तिगुनी, सेकड्री स्कूलो में चौगुनी और उच्च शिक्षण सस्थाओ मे साढे तीनगुनी बढ जायेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि सन् १९६० में प्राथमिक स्कूलो के बालको की जो सख्या ४ करोड २० लाख थी, वह १९७६ में बढकर १२ करोड ७० लाख हो जायेगी।

विकास की प्रक्रिया में सबसे पहले उपलब्ध प्राकृतिक साधनो का इस्तेमाल किया जाना चाहिए, इससे एक प्रकार के अतिरिक्त साधन की उपलब्धि होगी। ये साधन न केवल प्राकृतिक साधनो को विकसित करेंगे, बल्कि समय और प्रशिक्षण प्रगति के साथ एक ऐसे स्वतःस्फूर्त आन्दोलन का विकास करेंगे जिसमें आर्थिक विकास की गति स्वय आगे बढ़ेगी, और मानवी साधनो के सगठन में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होगा।

आज जो बालक स्कूलो में जाते हैं, वे २१ वीं सदी के नागरिक भी होगे। आगामी २ शताब्दियाँ नाटकीय परिवर्तनो से युक्त होगी तथा बच्चो को भविष्य के लिए, जो गतिशील होगा, तैयार करना आज के स्थिर-प्राय जीवन के लिए प्रशिक्षित करने के मुकाबले बिल्कुल भिन्न होगा।

आर्थिक विकास केवल साधनो के विकास या साधनो के सगठन की बात नहीं है, बल्कि उससे देश की सामाजिक-सास्कृतिक प्रवृत्तियों में बुनियादी परिवर्तन का भी सम्बन्ध है।

इस दृष्टि से समाज मे अध्यापको का बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है तथा उसके सास्कृतिक ढाँचे के निर्माण में विशेष जिम्मेदारी है।

पाठशालाओं में आरोग्य-सप्ताह कैसे मनायें

•

सुशील कुमार

[नयी तालीम-विद्यालय, शिवदास पुरा जयपुर से करीब १८ मील दूर टोंक जानेवाली सड़क पर स्थित है। २ अक्तूबर '५४ को इसकी नींव पड़ी और तबसे यह विद्यालय उत्तरोत्तर विकास करता जा रहा है। गत वर्ष वहाँ शिक्षकों और छात्रों ने आरोग्य-सप्ताह मनाया था, जिसका परिणाम दूसरी पाठशालाओं के लिए भी प्रेरणा-प्रद है। स०]

वर्षा-ऋतु में गन्दगी बढ जाती है। मच्छर और मक्खियाँ सिर चढ भिनभिनाती रहती है, और बीमारियाँ घर घर मेहमान बन जाती हैं। इनके शिकार प्राय बच्चे आसानी से हो जाते है। उन्हें फोड़े-फुंसियाँ निकलती हैं, आँख आती हैं, और इसी तरह की अनेक दूसरी बीमारियाँ भी उन्हें तंग करती रहती हैं। ऐसे समय आस-पास के गाँवो में आरोग्य-सप्ताह मनाने का उपयुक्त अवसर समझा गया। आरोग्य-सप्ताह के काम के साथ-साथ जो शिक्षण प्राप्त किया गया, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

योजना

आरोग्य-सप्ताह की योजना मुख्य रूप से बालसभा में चर्चा का विषय रही। चर्चा में निम्न प्रश्न प्रमुख रहे–

१—आरोग्य-सप्ताह कब से आरम्भ करना ?
२—कब से कब तक काम करेंगे ?
३—किन-किन गाँवो में जायेंगे ?
४—बालकों की टोलियाँ कैसे बनेंगी ?
५—दवाई का प्रबन्ध किस प्रकार होगा ?
६—दातून और मंजन कब और कौन तैयार रखेगा ?
७—नाखून काटने के लिए साधन क्या-क्या होंगे ?
८—सर्वेक्षण तथा कार्य-विवरण कैसे तैयार होगा ?
९—क्या 'प्रश्न-पत्र' भी देंगे ?
१०—गाँव में सम्पर्क कैसे होगा ?
११—खाना और नाश्ते का प्रबन्ध क्या और कैसे ?
१२—डाक्टर का मार्ग-दर्शन कैसे मिलेगा ?
१३—गाँव में निवास का प्रबन्ध कैसे किया जाय ?
१४—सरपंच, ग्रामसेवक और शिक्षकों से पूर्व सम्पर्क कौन करेगा ?
१५—गाँव में सफाई की व्यवस्था कैसे की जायेगी ?

सभी विषयो पर 'बालसभा' में सामूहिक रूप से निर्णय लिया गया। योजना तैयार हो गयी। वह संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है—

१—आरोग्य सप्ताह का काम १४ सितम्बर से इस १९ सितम्बर तक चलेगा।

२—सुबह ८ बजे स्नान-नाश्ता करके गाँव के लिए प्रस्थान करेंगे। गाँव में निम्न प्रकार के कार्यक्रम रहेंगे :–

सुबह—८-३० से ११-०० तक रोगी-सेवा, सम्पर्क आदि।
११-०० से १-०० तक भोजन, विश्राम, स्वाध्याय।
१-०० से ३-०० तक वर्ग, कताई।
३-०० से ५-०० तक रोगी-सेवा, सम्पर्क।

जहाँ सम्भव हो वहाँ सायं प्रार्थना-सभा का आयोजन करना।

३—शिवदासपुरा, तलकोपुरा, सरों की ढाणी, चंदलाई, पारलीपुरा और वरखेडा—इन्हीं ६ गांवों में जायेंगे। वरखेडा में समाप्ति-समारोह मनायेंगे।

४—७ वीं और ३ री, ३ री और ५ ठी, चौथी और पांचवीं कक्षाओं की कुल तीन टोलियां बनेंगी। पहली कक्षा किसी में भी शामिल हो सकती है। वर्ग के समय अलग-अलग वर्ग होंगे। कभी कभी सामूहिक वर्ग डाक्टर साहब लेंगे। प्रत्यक्ष रोगी के घर पर रोगी को देखना, रोगी के घर बिस्तर, कपडे भी सफाई तथा उपचार का काम भाई त्रिलोचन जी तथा डाक्टर साहब की सहायता से करेंगे। कभी-कभी यह काम सामूहिक भी होगा।

५—हर टोली के पास दवा का बक्स रहेगा, जिसमें बरसाती रोगों की सामान्य दवाएँ रहेंगी।

६—शाला का बनाया हुआ मंजन साथ में रहेगा और बबूल तथा नीम की दातून भी साथ रहेगी।

७—नाखून काटने के लिए कैंची तथा 'नेलकटर' हर टोली ५-६ नग के हिसाब से साथ रखे। यह व्यवस्था टोली स्वयं करे।

८—हर टोली को सर्वेक्षण-फार्म दिया जायेगा, उसमें हर घर का सर्वेक्षण-परिणाम भरा जाय।

९—सबको प्रश्न-पत्र गांव जाने से पहले दिया जायेगा। उसके अनुसार शिक्षण का काम चलेगा।

१०—तीन टोलियां गांव के तीन तरफ से एक एक महल्ले में पूर्व निर्णय के अनुसार प्रवेश करेंगी और हर घर जाकर पूर्ण सहानुभूति के साथ सेवा का काम करेंगी।

क—बच्चों के नाखून काटना, दातून या मंजन करवाना, समझाना।

ख—कोई बीमार हो तो उसका निरीक्षण करके दवा देना, सुझाव देना और गांव के डाक्टर या सरकारी वैद्य से सम्पर्क करा देना।

ग—बच्चों के फोड़े, फुन्सी या खुजली हो तो गरम नीम के पानी से धुलवाना और दवा लगाना।

घ—घर में सफाई कैसे रखी जाय कैसे निरोग रहा जाय, उसके बारे में घरवालों से चर्चा करना।

११—विद्यालय से भोजन, जिस गांव में कार्यक्रम रहेगा, वहां पहुँचाया जायेगा। नाश्ते की व्यवस्था उसी गांव में की जा सकेगी।

१२—डाक्टर साहब ३ से ५ बजे साय गांव में हमें मिल जायेंगे। दिन भर की रिपोर्ट सुनाकर उनका उपयोग जहां करना हो, किया जायेगा।

१३—गांव में निवास का, ग्राम-सफाई का प्रबन्ध पहले से गांव के शिक्षक, सरपंच, ग्रामसेवक तथा इस काम में दिलचस्पी लेनेवाले लोगों से मिलकर करना होगा। इस कार्यक्रम की सूचना पहले ही पत्र से दे दी जायेगी तथा शिक्षक साथी पहले उस गांव में जाकर सम्पर्क करेंगे। यहां के बी डी. ओ साहब को भी *सूचना दी जायेगी। इस प्रकार हमारी पूरी योजना तैयार* हो गयी।

१४ सितम्बर को सुबह ८ बजे हम अपनी-अपनी टोली में तैयार खडे थे। योजना के अनुसार देख लिया गया कि हमलोग पूरी-तौर पर तैयार है या नहीं? सबको प्रश्नपत्र तथ सर्वेक्षण पत्र दिये गये और हमलोग गीत गाते हुए चल पडे।

पहला दिन शिवदासपुरा में था। प्रथम घटे में हर टोली के बच्चे ने कुछ सकोच के साथ घर में प्रवेश किया *तथा आरोग्य के हर काम को ढंग से कर नहीं पाये।* साथ-साथ गांव के लोग भी, खासकर बच्चे सकोच के साथ सामने आते और खुलकर बातें नहीं कर पाते। क्योंकि ऐसा कार्यक्रम घर-घर जाकर कौन करता है? नाखून काटना, मंजन करना, सफाई करना, बिना मूल्य दवा देना, यह सब काम तो अबतक किसी ने किया नहीं था। छोटे-छोटे बच्चे वैद्य और डाक्टर बन कर घर-घर गये, यह नयी बात थी। कई लाग तो विश्वास नहीं कर सके, पता नहीं ये कैसी दवाई देंगे, क्या जानते हैं ये बच्चे!

इस तरह लोगो ने कुछ हमसे छिपाया भी, पर हमारा स्वभाव तथा उनसे चर्चा और समझाने के बाद लोग खूब आशीर्वाद देते और घर घर बुलाकर हमसे सुझाव लेते। बच्चे भी पहले घटे के बाद सकोच छोडकर काम में लग गये। बच्चे डाक्टर जैसा व्यवहार तथा सेवा के काम बडे उत्साह के साथ करने लगे। वे घर के सारे बच्चों को इकट्ठा करके नाखून काट देते। कोई नीम के

पत्ते तोड़कर गरम पानी करके फोड़ा, खुजली धुलवाता, कोई सफाई और आरोग्य के बारे में समझाता, कोई सर्वेक्षण का काम करता, इस प्रकार सब लोग एक साथ काम में भिड़ जाते।

कुछ दिनों में ही हमारे पहुँचते ही आस-पास के घरों से बच्चे और महिलाएँ इकट्ठी हो जाती, और अपने-अपने घर ले जाने के लिए अनुरोध करतीं। कोई खाना खाने के लिए कहती, कोई पूछती—इतने छोटे बच्चों को वर्षा में, धूप में क्यों ले आये? कोई कहती—क्या हर माह आयेंगे? कोई कहता—क्या इसके लिए कहीं से पैसा मिला है या मिलेगा? कोई कहती—क्या आप हर बच्चे को डाक्टर बनायेंगे? इस प्रकार हर जगह हमें नये नये प्रश्न मिलते और हम उनको समाधान कराते।

एक गाँव में हमें आधे इंच तक के नाखून काटने को मिले। एक गाँव में हमें एक बुड्ढे के बाल और डाढ़ी भी बनानी पड़ी। कई जगह मोतीझरा तथा अन्य बड़े रोगों के शिकार रोगी भी मिले। हमने अपने डाक्टर की मदद से उसकी व्यवस्था कर दी। सामूहिक रूप से सब लड़के उस घर गये और आस-पास तथा घर में उपयुक्त सफाई का प्रबन्ध किया गया। फिनायल तथा ब्लीचिंग पाउडर इस्तेमाल किया गया। रोगी के कपड़े धुलवाये गये, और बिस्तर बदलवाये गये। रोगी के लिए उपयुक्त पथ्य तथा पीने के पानी की व्यवस्था करनी पड़ी। रोगी का निरीक्षण कर रोग पहचानना, रोग की उत्पत्ति, रोग का लक्षण, रोग के निवारण का उपाय। दवाई आदि के बारे में वहाँ भी डाक्टर का वर्ग हुआ। उस घर के और आस-पास के लोगों ने भी वर्ग में शामिल होकर शिक्षण का लाभ उठाया।

एक गाँव के ग्रामवासियों ने हमारा बड़ा स्वागत किया। भोजन, नाश्ता की व्यवस्था की। ग्राम-सभा का आयोजन हुआ। सभी ग्रामवासी, बहनें, बच्चे सभा में आये तथा हमारे बच्चों के काम की खूब प्रशंसा की। प्रार्थना हुई। बच्चों ने गीत, कविता तथा अपने अनुभव सुनाये। गाँववालों की इच्छा के अनुसार उस गाँव की साल भर के आरोग्य की जिम्मेदारी नयी तालीम विद्यालय ने उठायी है। उसके अनुसार ग्राम-सफाई की व्यवस्था भी है। कोई बीमार ही न पड़े, स्वस्थ रहे, इसकी व्यवस्था ही हमारी योजना की रीढ़ है।

हम लोग जिस गाँव में गये वहाँ के विद्यालय में भी जरूर गये। उन लोगों का स्वास्थ्य-निरीक्षण किया गया। उन्हें दवा दी गयी। इस कार्यक्रम में विद्यार्थी कैसे भाग ले सकते हैं? शिक्षण का क्या सम्बन्ध है? इस बारे में शिक्षकों के साथ चर्चाएँ हुई।

गाँव में भंगी या चमारों के मुहल्ले में जाना पड़ा तो देखा गया कि, बच्चे नाक बन्द कर लेते थे। कई बच्चे दरवाजे पर ही रुक जाते थे, एक बार दो बच्चे गाँव से बाहर चले गये। कभी-कभी हम शिक्षक साथियों को भी मुश्किल हो जाती थी। उनके घर पर ही चमड़ा सड़ता था। उसकी बदबू, जहाँ-तहाँ बिखरी हुई गन्दगी। ऐसी जगह जाने का अभ्यास नहीं रहने से हमें तकलीफ जरूर हुई, पर हमने उस काम को छोड़ा नहीं, हम हर घर गये और हमारा स्वागत हुआ। १९ ता० को बच्चे गोठ (वनभोज) के लिए विशेष तैयार होकर आये थे। समाप्ति-समारोह बरखेड़ा गाँव में रखा गया था। सुबह ग्राम-सम्पर्क, सफाई और आरोग्य का काम हुआ। तीसरे पहर सभा का कार्यक्रम था। सभा में बच्चों ने सप्ताह भर का अनुभव सुनाया। गीत, कविता, प्रश्नोत्तर हुए। प्रधान अतिथि ने इस प्रयास की सराहना की।

सप्ताह भर में शिक्षण का काम ही हुआ। प्रत्यक्ष सारे अनुभव के साथ शिक्षक साथी आरोग्य-विज्ञान, सफाई-विज्ञान का पाठ उनके सामने प्रस्तुत करते। उसके वैज्ञानिक ढंग से निवारण का सुझाव देते। इस सप्ताह भर में योजनाबद्ध सामूहिक शिक्षण मलेरिया, मोतीझरा तथा फोड़ा फुंसी का दिया जा सका है।

जब आदमी बीमार पड़ता है तब वह अपने को असहाय महसूस करने लगता है। उस समय उसकी वेदना की वाणी सुनना, उसके दुःख को सुनना और सेवा करना मानव का सबसे पहला धर्म है। जरूरत के समय काम आने पर उसके दिल में हमारे लिए स्थान बन जाता है। हम यह महसूस करते हैं कि हर साल इस समय एक बार ऐसे सप्ताह का आयोजन किया जाय और उसमें उस गाँव की शाला अवश्य भाग ले। ●

किशोरों में अनुशासन की भावना

•

मार्जरी साइक्स

आजकल विश्वविद्यालयों और कालेजो में एन० सी० सी० अनिवार्य है, लेकिन एन० सी० सी० और ए० सी० सी० को लागू करने का पूरा विचार हाई स्कूलो और हायर सेकडरी स्कूलों में है।

इस योजना को लागू करनेवालो और इसके हिमायतियो का कहना है कि वे निम्न दो लक्ष्यो के लिए इसकी सिफारिश करते हैं--

१ एन० सी० सी० से देश के युवको को अनुशासित करना,

२ युवको को देश की सेवा के लिए तैयार करना।

लेकिन, इन दोनो दावो को हम अपने दस वर्षो के अनुभव के आधार पर चुनौती दे सकते हैं। दस वर्षो के एन० सी० सी० के प्रत्यक्ष कार्य का व्यावहारिक अनुभव आज हमारे पास है। पहले अनुशासन की बात लें--अगर सरकार और हमारे उच्चाधिकारी वास्तव में विद्यार्थियो में अनुशासन लाना चाहते है तो फिर उन्हें करना यह चाहिए कि विद्यालयो-महाविद्यालयों में जो सबसे शैतान और अनअनुशासित विद्यार्थी हैं उन्हें वे सर्वप्रथम एन० सी० सी० के प्रशिक्षण के लिए चुनें, जिससे उनमें अनुशासन आ सके। लेकिन आपसब जानते हैं कि वस्तुस्थिति बिलकुल विपरीत है। विद्यालयो के अच्छे बालको को ही एन० सी० सी० म लिया जाता है। आखिर ऐसा क्यो? इसलिए कि हमारे विद्यालय के विद्यार्थी दूसरे विद्यालयो के साथ की प्रतिस्पर्धा में अव्वल आ सकें। बात आईने की तरह साफ है कि एन० सी० सी० के प्रशिक्षण से स्कूलो के अनुशासन में कोई खास सुधार नहीं हुआ है।

दूसरा दावा है कि इससे युवको में देश-सेवा की भावना बढती है, लेकिन मुझे डर है कि बहुत कम लोग इस बात से भी सहमत होगे।

क्योंकि जो लोग इसमें शरीक होते है वे देश सेवा के स्थान पर मुख्यत दो स्वार्थ रखते हैं---

१ परीक्षा में उन्हें अधिक नम्बर मिल सके।

२ नौकरी के लिए उन्हें अधिक अनुकूलता प्राप्त हो सके।

इसलिए ऊपर बताये गये दोनो उद्देश्य इससे सिद्ध नहीं होते।

अब हम इन दोनों उद्देश्यो---अनुशासन और सेवा वृत्ति पर दूसरे दृष्टिकोण से विचार करें। आज सरकार तो यही विचारती है कि पूर्व सैनिक प्रशिक्षण देकर ही वह अनुशासन और सेवा भावना विद्यार्थियो मे और युवको मे ला सकती है, लेकिन यह सच नही है। पूर्व सैनिक प्रशिक्षण के अतिरिक्त जैसे दर्जनो कार्यक्रमो का विकास हुआ है, जो अनुशासन और सेवा का शिक्षण सफलतापूर्वक प्रदान करते है। किसी भी स्कूल में अगर अच्छी तरह से आयोजित वैज्ञानिक शारीरिक शिक्षण की व्यवस्था है तो उसके माध्यम से उत्तम शिक्षण मिल सकता है, ऐसे अनेक भारतीय और पश्चिमी प्रणालियां हैं, जो आत्मसंयम

और अनुशासन के विकास के उत्तम अवसर प्रदान करती हैं।

सच्ची सेवा की शर्त ही यह है कि वह स्वेच्छा से हो, हृदय से की जाय, अन्यथा उसके कोई अर्थ नहीं। यही अनुशासन की भी बात है। अगर हम चाहते हैं कि देश के नवयुवकों में, विद्यार्थियों में उत्कृष्ट अनुशासन और उत्कृष्ट सेवा-भावना जागृत हो तो हमें उनके स्वयं स्फुरित स्वेच्छा से निर्मित दलों और मंडलों को समाजोपयोगी सेवाकार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। ये दल स्वेच्छा से समाज-सेवा के कामों में आगे बढ़ें। इसके विपरीत हमारे देश में हुआ यह है कि स्वराज्य के बाद के १० वर्षों में जो स्काउट आन्दोलन बहुत अच्छी तरह से काम कर रहा था वह भी स्कूलों में सरकारी मदद से चलनेवाली एन० सी० सी० के प्रारम्भ होने से बन्द हो गया।

हमें ऐसे कार्यक्रम निश्चित करने हैं, जिसे किशोर दल या युवक-मंडल स्वेच्छा से अपना ले। इस सम्बन्ध में मैं चार प्रत्यक्ष कार्यकारी सुझाव रखना चाहता हूँ—

१. शारीरिक विकास और संयम के लिए अभ्यास—

शरीर स्वस्थ, सशक्त रहे और सुचारु रूप से सेवा कार्य करने में समर्थ हो, इसके लिए विशेष अभ्यास और प्रयत्न आवश्यक हैं। इसके विविध प्रकार के उपयोगी व्यायामों का अभ्यास किया जा सकता है। तैरना, एक लाभप्रद व्यायाम है। कुछ कठिन परिश्रम की तैयारी के अभ्यास करवाने चाहिए—जैसे आपको यहाँ से ५ मील की यात्रा जल्दी से जल्दी करनी है, वह भी इस तरह कि जब आप मुकाम पर पहुँचें तो थके हुए और पस्त न हों। काम करने की शक्ति वहाँ पहुँचने पर भी आपमें हो, इस दृष्टि से स्काउटिंग में एक अभ्यास है, जिसमें १२ मिनिट में एक मील चलने की आदत डाली जाती है, इस तरह की अनेक बातें इसमें जोड़ी जायें, लोकनृत्य और खेल भी इसके लिए बहुत अच्छे साधन हैं। इन सब बातों का ध्येय यह हो कि हमारे युवकों और किशोरों का शरीर मजबूत और सक्रिय बने, उन्हें कठिन श्रम का उत्तम अभ्यास हो।

२. सेवा के लिए आवश्यक ज्ञान और प्रत्यक्ष अभ्यास

शारीरिक शक्ति होने पर भी अगर सेवा कार्य का ज्ञान ही नहीं है तो सब कुछ निरर्थक ही साबित होगा। इसलिए बालकों को सामान्य सेवा का ज्ञान और अभ्यास कराना चाहिए। सामान्य सेवाएँ जैसे—दुर्घटनाओं के समय प्राथमिक उपचार की शिक्षा,

सामान्य बीमारियों का सादा और वैज्ञानिक उपचार,

आग बुझाना, डूबते को बचाना, जंगल की आग की रोकथाम,

सन्देश को ठीक ठीक पहुँचाने की कला और

रोगों की रोक-थाम के सामान्य उपाय जानना, खाना बनाना, बीमार के लिए पथ्य तैयार करना, और सफाई की बारीकियों को जानना।

३. खुली हवा का जीवन—कैम्पजीवन और साहस-भरे कार्य—

कैम्प-जीवन से हमें अनेक जीवनोपयोगी शिक्षाएँ मिलती हैं। उनसे बराबर लाभ उठाना चाहिए। जंगलों और पहाड़ों में अपनी सार-संभाल करना, आग इस *सावधानी से जलाना कि जंगल में ही आग न लग जाय*, गीली लकड़ी होने पर भी आग जला सकना, बिना बरतनों के खाना पकाना, एक दियासलाई से आग जलाना, अनजान क्षेत्र में अपना मार्ग खोज सकना, नक्शे के अनुसार निश्चित जगह पर जाना, कम्पास, और तारों की सहायता से दिशा का ज्ञान कर लेना आदि ये सारी चीजें ऐसी हैं, जिन्हें बच्चे जी-जान से चाहते हैं। उन्हें इनमें खूब मजा आता है और इसके साथ-साथ ये बच्चों को अद्भुत प्रशिक्षण भी देती हैं। साहस, हिम्मत, आत्म-निर्भरता, और रुचि का अनोखा शिक्षण इनसे मिलता है, और ये सारे काम लड़कियाँ भी कर सकती हैं, इस तरह खुली हवा में उत्तम अभ्यास कराया जाना चाहिए।

४. जीवमात्र के प्रति आदर और सौन्दर्य-बोध

चौथी बात यह कि ऐसे कार्यक्रम आयोजित किये जायें, जिनसे मन में जीव-जगत के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव जागृत हो। जैसे—

● इस बात का अध्ययन करना कि अपने गाँव और आसपास कितने ऐसे पौधे और पेड़ हैं जिनका औषध की भाँति उपयोग किया जा सकता है। आप देखेंगे, शायद ही कोई पौधा हो जिसका कोई उपयोग न हो।

● अपने क्षेत्र के फूलों का अध्ययन और अवलोकन भी कितना आनन्द और उल्लास भरा है। हमारे चारों तरफ अनेक तरह के सुषमा बिखरनेवाले फूल छाये रहते हैं लेकिन हम प्रायः उनके प्रति कोई लगाव कोई मुहब्बत नहीं होती।

५ हमारे आसपास के पक्षियों का अवलोकन

पक्षी-जगत से परिचय भी अत्यन्त मधुर व रोमांचक कार्यक्रम है। हमारे आस पास अद्भुत पक्षी विचरते हैं पर बेचारे विद्यार्थी उनसे नितान्त अनभिज्ञ रहते हैं। इसे मैं राष्ट्रीय दुर्भाग्य ही कहूँगी। बच्चों में आप पक्षियों के प्रति प्रेमभाव तथा रस जाग्रत कीजिए और देखिए कि उनका जीवन कितना समृद्ध होता है। कितने प्रकार के पक्षी हैं, वे क्या करते हैं, हमारे लिए उनका क्या उपयोग है आदि इसके अनेक अध्ययन के पहलू हैं।

● वृक्षों के प्रति भी हमारे कुछ कर्तव्य हैं। वे हमें जीवन प्रदान करते हैं, इसलिए हमें भी उनकी सार सँभाल करनी चाहिए। उनका महत्व समझकर उनके प्रति आदर और भक्ति भाव हमारे मन में होना चाहिए। आज तो बड़े धूमधाम से वृक्षारोपण समारोह का नाटक होता है लेकिन दूसरे ही दिन बोये हुए पेड़ों की कोई फिक्र नहीं करता और वे सूख जाते हैं। मुझे याद है कि इंगलण्ड में जब हम वृक्षारोपण कार्यक्रम आयोजित करते थे तो कितने भावपूर्वक उस समारोह को हम मनाते थे। सुन्दर गीत गाते और उन पेड़ों से हमारा तादात्म्य हो जाता था।

बच्चों को अच्छे अच्छे गीत सिखाये जायँ

बच्चों को जो गीत और भजन सिखाये जायँ उनमें जीवन के प्रति, प्राणिमात्र के प्रति, पेड़ और पौधों के प्रति भी आदर श्रद्धा और आकर्षण के भाव हों, ईश्वर के प्रति कृतज्ञता के भाव हों।

७ जानवरों के साथ सद्‌व्यवहार

हर जानवर के प्रति हमारे मन में करुणा होनी चाहिए। उपयोगिता और आवश्यकता को देखते हुए हम उसके प्रति आदर भाव भी रखें।

इसी तरह सभी श्रेणी के मनुष्यों के प्रति भी हमारे मन में आदर व श्रद्धा के भाव हों और उन्हें हम बढ़ावा दें। अवश्य ही यह एक कठिन साधना है पर हमें उसके लिए कटिबद्ध होना ही है सभी चीजों के लिए—जीवित वस्तुओं के प्रति चेतन तत्व के प्रति हमारे मन में श्रद्धा हो और हमारे सारे व्यवहार प्रेम और करुणा से चालित हों।

प्रारम्भ कैसे करें ?

इस प्रकार के दल का आयोजन सप्ताह में दो बार होना पर्याप्त होगा हर बार एक घंटा। इस प्रकार सप्ताह में दो घंटे इसके लिए दें तो काफी काम हो सकेगा ६ या ७ लोगों की टोली बने। एक नायक हो। एक दल में ३०–३५ से अधिक की संख्या न हो। शुरू में नायकों को प्रशिक्षित करना होगा लेकिन ऐसा न हो कि नायकों के प्रशिक्षण के कारण हम देर करें। प्रारम्भिक शिक्षण देकर काम शुरू करें और काम के साथ-साथ नायकों का प्रशिक्षण चलता रहे। कार्यक्रम की योजना अच्छी तरह से की जाय और जो लोग आयें उन्हें उसमें आनन्द मिलना चाहिए लेकिन उसके साथ साथ अनुशासन की तालीम भी उन्हें मिले दल के सदस्यों को निश्चित तिथि और समय पर उपस्थिति होना ही चाहिए। उसका उन्हें आग्रह रखना चाहिए साथ ही जो भी कार्यक्रम लिए जायें वे प्राणवान और ठोस हों। दल की यूनीफार्म के बारे में भी आप विचार कर सकते हैं लेकिन उसे सबके लिए अनिवार्य न करें। ऐसा न हो कि यूनीफार्म के कारण आपका काम ही रुक जाय या बालक उसमें भाग न ले सकें। यूनीफार्म के बिना भी काम शुरू किया जा सकता है चलाया जा सकता है।

●

बुनियादी शिक्षा में दस्तकारियाँ

•

लालभाई र. देसाई

प्रारम्भ में जो योजना वर्धा-योजना के नाम से प्रसिद्ध थी १९३९ में उसका नाम बुनियादी शिक्षा पड़ा, और अब वह हिन्दुस्तानी तालिमी संघ के अनुसार नयी तालीम के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना को अधिकारिक तौर पर प्राथमिक शिक्षा प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया है। तिस पर भी, देश के किसी भी राज्य में उसका पूर्ण कार्यान्वय नहीं हो सका है। यह एक तथ्य है कि जहाँ कहीं यह योजना शुरू की गयी है उसकी कोई विशेष प्रगति नहीं हो पायी है। क्या इसमें कोई अन्दरूनी कमी है? क्या यह योजना असफल हुई है? क्या इसका कार्यान्वय, जैसा कि डाक्टर जाकिर हुसैन ने कहा है—जोकि गांधीजी के बुनियादी शिक्षा सम्बन्धी विचार को स्वरूप प्रदान करनेवाले एक अग्रगण्य शिक्षाशास्त्री थे—'एक धोखा है?' मैं इनमें से कुछ प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश करूँगा।

मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि योजना में कोई अन्तर्निहित कमी नहीं है। जैसा कि मैंने अन्यत्र एक अन्य सन्दर्भ में—शिक्षा मंत्रणालय द्वारा इन्स्पेक्शन ऑव् बेसिक स्कूल्स (बुनियादी विद्यालयों का निरीक्षण) विषय पर प्रकाशित 'मोनोग्राम' में—बताया है, यह चार ठोस स्तम्भों पर आधारित है (१) बुनियादी शिक्षा बाल-केन्द्रित है और विकासशील भी, (२) बुनियादी शिक्षा समाज केन्द्रित है, (३) बुनियादी शिक्षा वातावरण-केन्द्रित है, और (४) बुनियादी शिक्षा दस्तकारी केन्द्रित है।

बालक प्रथम स्तम्भ

बालक में प्रति क्षण विकास होता है। उसका स्वभाव बदलता है और योग्यताएँ बढ़ती हैं। एक कक्षा में सभी बालक समान प्रगति नहीं करते, उनके विकास की गति और तरीका समान नहीं होता। अतएव शिक्षक को ऐसे तरीके अख्तियार करने पड़ते हैं जो अलग-अलग बच्चों के अनुकूल हों। उसे अलग-अलग बच्चे की आवश्यकता के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की सामग्री का इस्तेमाल करना होता है। अतएव तौर-तरीकों और सामग्री में परिवर्तन होता रहता है। आज जिस बच्चे के लिए जो चीज अच्छी और पर्याप्त है, कल दूसरे प्रकार के बच्चे के साथ हो सकता है वह वैसी ही न हो। यदि शिक्षक पहले इस्तेमाल किये गये तरीके ही अपनाये तो इससे निश्चय ही शैक्षणिक रूढ़िवादिता और लकीर के फकीरवाले सिद्धान्त को प्रश्रय मिलेगा। बाल केन्द्रित शिक्षा के लिए लचीलेपन, परिवर्तन, अनुकूलन और समंजन की आवश्यकता है।

समाज द्वितीय स्तम्भ

बुनियादी शिक्षा समाज-केन्द्रित है। इसमें न केवल बच्चे को समाज में रहने योग्य, बल्कि समाज के साथ रहने लायक भी बनाने की बात आती है। प्रति पल समाज में परिवर्तन होता रहता है। इसमें उन्नति और अवनति दोनों होती हैं। शिक्षक को यह देखना पड़ता है कि उसके तौर-तरीकों अथवा संगठन और शिक्षण से अवनति रोकने तथा उन्नति करने में योगदान मिले।

समाज कभी गतिहीन नहीं हो सकता। शिक्षा के उद्देश्य समाज द्वारा निर्धारित होते है और समाज में होनेवाले परिवर्तनो के साथ-साथ वे भी बदलते रहते है। इसलिए परिवर्तनों का तकाजा है कि समजन और अनुकूलन हो तथा साथ ही साथ शिक्षा के वैसे साधन भी हों।

वातावरण तृतीय स्तम्भ

बुनियादी शिक्षा वातावरण-केन्द्रित है। इसे सामाजिक तथा भौतिक दोनों प्रकार के वातावरण के अनुरूप होना पड़ता है। सामाजिक तथा भौतिक दोनो प्रकार का वातावरण ही बदलता रहता है। एक ही प्रकार का भौतिक वातावरण यद्यपि स्थिर दिखाई पड़ता है पर भिन्न बालकों के लिए भिन्न पृष्ठभूमि बन सकता है और इसलिए शिक्षक को अपने तौर-तरीकों में समजन अथवा परिवर्तन करना पड़ता है तथा हर मर्तबा उसे नये साधन व सामग्री तैयार करनी पड़ती है।

दस्तकारी चतुर्थ स्तम्भ

बुनियादी शिक्षा दस्तकारी-केन्द्रित है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह गतिविधि-केन्द्रित है और, गतिविधि-केन्द्रित शिक्षा सदैव बदलती रहती है कार्यशीलता सदैव ही एक समान नहीं रहती। एक गतिविधि किसी एक सन्दर्भ में एक बालक के लिए कुछ अर्थ रखती है तो दूसरे के लिए उससे बिलकुल भिन्न। एक प्रकार की गतिविधियाँ एक तरह के बालकों के लिए थका देनेवाली हो सकती हैं तो दूसरी किस्म के बच्चों के लिए वे ही गतिविधियाँ आसान बन जाती है।

इसलिए हम यह देखते कि बुनियादी शिक्षा स्थिर और अचल नहीं है—उसमें स्पन्दन है वह चल है। वह हर कदम पर बदलती बढ़ती और विकसित होती है। इसके लिए शिक्षक में पर्याप्त अभिक्रम, मौलिकता, साधन-सम्पन्नता अनुकूलन और चातुर्य का होना आवश्यक है।

योजना की सफलता

इस प्रश्न का उत्तर कि क्या यह योजना असफल हुई है? अंशतः सकारात्मक है। यह सही है कि यह विशेष प्रगति नहीं कर पायी है लेकिन असफल भी नहीं हुई है। गैर-बुनियादी विद्यालयों और उनकी शिक्षा पद्धति पर इसके कुछ पक्षों का प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के तौर पर गैर बुनियादी विद्यालयों में भी इसके सामाजिक पक्ष तथा वातावरण के पक्ष का किसी हद तक समावेश हुआ है। उत्सवों के आयोजन सफाई-कार्यक्रमों के जरिये स्कूल का समाज के साथ सम्पर्क बढ़ा है तथा वह सामुदायिक जीवन का केन्द्र बनता जा रहा है। इन पक्षों को गैर-बुनियादी विद्यालयों में भी अपनाया जा रहा है। और फिर अन्य देशों में भी सामान्य शिक्षा का झुकाव उसका समाजीकरण करने की ओर है तथा आज हम देखते है कि शिक्षा के सभी स्तरों पर—यहाँ तक कि उच्च शिक्षा-स्तर पर भी—अच्छे-खासे परिमाण में बाह्य गतिविधियां चलती हैं। बालक को शिक्षा का केन्द्र समझने का सिद्धान्त भी अपना लिया गया है और शिक्षा पद्धति के सम्बन्ध में सुझाये गये अनेक तरीके इसी पर आधारित हैं। हमारी प्रशिक्षण-संस्थाएँ अब शिक्षण के इस पक्ष पर जोर दे रही हैं और अनेक प्रगतिशील स्कूल अपनी शिक्षण पद्धति को इस सिद्धान्त के अनुसार बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इस प्रकार बाह्य दृष्टि से गैर बुनियादी विद्यालय बुनियादी बन रहे हैं। स्वभावतः आज लोग बुनियादी तथा साधारण विद्यालयों में विशेष अन्तर नहीं देखते।

बुनियादी शिक्षा का दस्तकारी और शिक्षा देने के तरीकेवाला पक्ष सन्तोषप्रद रूप से कार्यान्वित नहीं किया जा सका है। इस सम्बन्ध में यह स्वीकार करना चाहिए कि योजना असफल रही है। बुनियादी विद्यालयों तक में जहाँ बुनियादी शिक्षा में प्रशिक्षित शिक्षक है, अन्य प्रकार की शिक्षा के साथ-साथ दस्तकारी की शिक्षा देना सफल नहीं रहा है और इसके कारण ढूँढने के लिए कहीं दूर नहीं जाना पड़ेगा। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जिन शिक्षकों ने कभी दस्तकारी की शिक्षा नहीं ली केवल दो वर्ष के प्रशिक्षण से वे उसमें निपुणता हासिल नहीं कर सकते और इसलिए दस्तकारी में छात्रों की प्रगति सन्तोषप्रद नहीं है। यही मुख्य बाधा रही है और मेरे विचार से तो सर्वाधिक गम्भीर।

सहकारी आधार पर दस्तकारी

तथापि, दस्तकारी के सामाजिक दृष्टि से उपयोगी पहलू ने मुझे सर्वाधिक आकर्षित किया है। हमारे बालकों को शिक्षा में यह एक मौलिक तत्व हैं। मैं इस सम्बन्ध में कुछ विस्तृत प्रकाश डालना चाहूँगा।

अ—सर्व प्रथम हम बच्चा के प्रारम्भिक जीवन-काल में उनके प्रति हमारा जो दृष्टिकोण होना है, उसका परीक्षण करें। उनके साथ हमारा जो व्यवहार होता हैं यह बहुत ही कमीना है और इस प्रकार उनमें एक बहुत ही हीन भावना निर्मित कर देगा। सामाजिक दृष्टि से उपयोगी दस्तकारियोंवाला पक्ष, बच्चा में दैनिक जीवन में काम आनेवाली वस्तुओं का उत्पादन करने की योग्यता के सम्बन्ध में आत्म-विश्वास भरेगा और जीवन के प्रति अपना रुख निर्मित करने में सहायक होगा। मैं बच्चों की शिक्षा में इसे एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व समझता हूँ और यदि शिक्षा से बच्चों का चरित्र तथा सामान्य दृष्टिकोण निर्मित न हो तो उससे फायदा ही क्या ?

आ—इस योजना के जिस एक दूसरे पक्ष ने मुझे आकर्षित किया है वह है बच्चों में सहकारी ढंग से काम करने की दृष्टि के निर्माण की सम्भाव्यता। उपयुक्त रूप से दस्तकारी शिक्षा देने के लिए सहकारी आधार पर आयोजन करने की आवश्यकता होती है। दस्तकारी के सम्बन्ध में मात्र लक्ष्यांक निर्धारित कर देना पर्याप्त नहीं है। इस काम को योजना बनाना भी महत्वपूर्ण है और यह काम उपयुक्त रूप में नहीं होता है। आयोजन की आदत के जरिये ही बच्चों में चन्द सामाजिक आदतों व दृष्टिकोण का निर्माण तथा विकास होता है। इस पक्ष पर सन्तोषप्रद ध्यान नहीं दिया जा रहा है। आज जैसा दस्तकारी-कार्य होता है, वह व्यक्तिगत आधार पर होता है, अतएव व्यक्तिगत लाभ और संकीर्ण विचारवाला तत्व अब भी जारी है। सहकारी सेवा, त्याग और दूसरों के लिए काम करने की भावना पर आधारित गांधीजी की आदर्श समाज रचना की प्राप्ति नहीं हो रही है। *हमें आयोजन के इस पक्ष पर जोर देना पड़ेगा।* इसके लिए विशेष प्रयास करने की आवश्यकता है।

इ—दस्तकारी की शैक्षणिक सम्भाव्यता दूसरा तत्व है। वास्तव में शिक्षा को दस्तकारी, समाज और वातावरण पर आधारित करना बहुत ही मुश्किल है। परस्पर सम्बद्ध शिक्षण के लिए यदि शिक्षकों को उन्हीं के साधन-स्रोतों के भरोसे छोड़ना हो तो बहुत ही योग्य शिक्षकों की आवश्यकता है। इस प्रकार के शिक्षक उपलब्ध नहीं होंगे। इस सम्बन्ध में हमें बड़ी गम्भीरतापूर्वक सोचना पड़ेगा कि इस समस्या को कैसे हल किया जाय। विस्तृत सुझाव प्राप्त करके परस्पर सम्बद्ध शिक्षा को हम आसान बना सकते हैं। हममें से कुछ को एक साथ बैठकर, जितनी दस्तकारियों का समावेश हम करना चाहते हैं उन पर सोचना पड़ेगा और उन्हें लेकर परस्पर सम्बद्ध विषयों की शिक्षा की योजना बनानी पड़ेगी। शिक्षा प्राप्त करने में अभिप्रेरण एक शक्तिशाली तत्व होता है और सम्भवतः विस्तृत तथा व्यापक सुझावों एवं अन्य बातों से विद्यालयों में काम करनेवाले शिक्षकों को इससे सहायता मिल सकती है।

योजना का कार्यान्वय

तीसरा प्रश्न है क्या बुनियादी शिक्षा योजना एक धोखा है ? शायद कुछ क्षेत्रों में ऐसा है। इस सम्बन्ध में प्रशासकों की ओर से निष्ठा का अभाव होना एक मुख्य कारण है। पुराने वातावरण में पले हुए तो वे हैं ही, और आज भी वे किताबी तालीम की चकाचौंध में गहरे डूबे हुए हैं, इसलिए दस्तकारी के माध्यम से शिक्षा देने में उनकी निष्ठा नहीं है। यद्यपि सभी लोग अभिप्रेरण को शिक्षा का आधार स्वीकार करते हैं, तथापि, वे यह महसूस नहीं करते कि प्रक्रिया धीमी है तथा इस बारे में बहुत धैर्य रखने की आवश्यकता है। चिंतन से ज्ञानोपार्जन की गति धीमी होती है, पर साथ ही निश्चित भी। लेकिन हम जल्दी फल-प्राप्ति के आदी हैं, इसलिए हम स्मृति—अर्थात् दूसरे शब्दों में रटन्त—पर आधारित तरीके से छुटकारा नहीं पा सकते। और फिर, इन दिनों जीवन को प्रायः प्रत्येक दिशा में सामान्य उदासीनता का पाया जाना भी इस क्षेत्र में इस अवस्था के लिए बहुत-कुछ जिम्मेदार है। स्कूलों, सामग्री आदि का संगठन आधे मन से किया जाता है और इसलिए डाक्टर जाकिर हुसैन जैसे व्यक्ति यत्र-तत्र जो कुछ देखने में आता है उस

पर बिगड़ उठें तथा जिस प्रकार उन्होंने अपनी खीज एवं असन्तोष प्रकट किया उस रूप में अपने को व्यक्त करें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जब तक शिक्षा के क्षेत्र में जो लोग आते हैं अर्थात् जिनका शिक्षा के क्षेत्र से ताल्लुक है, वे सभी इस योजना को नीति अथवा सिद्धान्त के रूप में स्वीकार न कर लें तब तक इस प्रकार का असन्तोष पाया ही जानेवाला है। सम्भवत. उच्चाधिकारी अधिक निगरानी रखें और आग्रह करें, तो मामला ठीक रास्ते पर आ सकता है।

दस्तकारी का चयन

अब मैं कुछ समस्याएँ सामने रखना चाहूँगा। पिछले २५ वर्ष के दौरान कताई और बुनाई अथवा कृषि या बढ़ईगीरी के अलावा अन्य किसी दस्तकारी के बारे में नहीं सोचा गया है। इन में से भी अधिकांश विद्यालयों मे केवल कताई और बुनाई का ही समावेश हुआ है। इस प्रकार एक ऐसी धारणा पैदा हो गयी है कि बुनियादी शिक्षा कताई-बुनाई तक ही सीमित है। मेरी समझ में अब समय है कि हम दूसरी दस्तकारियों के बारे में भी सोचें ताकि यह जो धारणा पैदा हो गयी है और जिसका कुछ विचारक प्रतिरोध कर रहे हैं, वह दूर की जा सके कि बुनियादी शिक्षा का सम्बन्ध किसी एक खास राजनैतिक दल से है। यहाँ तक कि विभिन्न कारणों से कृषि और बढ़ईगीरी के काम का भी पर्याप्त समावेश नहीं हुआ है। यही समय है कि अब हम अन्य दस्तकारियों के सम्बन्ध में भी कोशिश करें ताकि दस्तकारी-केन्द्रित शिक्षा को अधिक स्वीकार्य बनाया जा सके। इस सम्बन्ध मे यह खास ध्यान रखना चाहिए कि दस्तकारी सामाजिक दृष्टिकोण से लाभदायक हो और शैक्षणिक दृष्टि से जिसकी सम्भाव्यताएँ हो।

उपयुक्त साधन आवश्यक

एक धारणा यह भी है कि बुनियादी शिक्षा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए है, जब कि गैर-बुनियादी शिक्षा-जिसने अपनी पद्धति बदली नहीं है-शहरी क्षेत्रों के लिए है और उससे अच्छा काम (नौकरी) मिल सकेगा। शिक्षा का जो स्वरूप है और जिस प्रकार की अन्य गतिविधियों के कार्यक्रम चलाये जाते हैं, मुख्यत वे ही उक्त धारणा के लिए जिम्मेदार हैं। हमें एक ऐसे कार्यक्रम की बात सोचनी चाहिए, जिससे उक्त धारणा मिटायी जा सके। जब तक यह धारणा है तब तक बुनियादी शिक्षा कोई विशेष प्रगति नहीं कर सकती और वांछित लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सकती।

इन तीन दस्तकारियों पर भी हमने पूरा ध्यान नहीं दिया है। हम बच्चों के लिए उपयुक्त उपकरण तथा सामग्री नहीं बना पायें हैं, जिसका परिणाम यह निकला है कि दस्तकारी-उत्पादन को बिक्री योग्य तथा वास्तव में उपयोगी बनाने के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त नहीं की जा सकी है। जिन अन्य दस्तकारियों की बात हम सोच सकते हैं उनके साथ-साथ इन दस्तकारियों पर भी प्रयोग करने का काम किसी अभिकरण को अपने हाथ मे लेना चाहिए।

उपकरणों की पूर्ति, भूमि-प्राप्ति आदि के संगठन हेतु कार्यक्षम अभिकरण स्थापित नहीं हुआ है। परिणाम यह निकलता है कि अधिकांश शक्ति और पैसा बर्बाद जाता है। कोई ऐसा सगठन खड़ा करना आवश्यक है, जो इन सब बातों को ठीक कर सके।

बुनियादी शिक्षा योजना के जरिये जिस प्रकार के समाज का विकास करना है उसके तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समाज की जिस प्रकार की अर्थ रचना का विकास किया जा रहा है तथा हुआ है उसके बीच काफी अन्तर है। जब तक इन दोनों के बीच कोई समझौता नहीं हो जाता तब तक बुनियादी शिक्षा लोकप्रिय बननेवाली नहीं है। उदाहरणार्थ देश का औद्योगीकरण किया जा रहा है और उस हद तक गाँवों मे भी लघु उद्योगों की स्थापना की जा रही है तब क्या फिर हमें बुनियादी विद्यालयों में छोटे छोटे कुटीरोद्योगों की शिक्षा देने के बारे में सोचना चाहिए, जिससे औद्योगीकरण में सहायता मिले तथा सुविधा हो? यदि हाँ, तो उस अवस्था में हमें अपने बुनियादी विद्यालयों में समावेशनार्थ ऐसे लघु उद्योगों अथवा दस्तकारियों के बारे में सोचना चाहिए। ●

'खादी ग्रामोद्योग' से साभार

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन के अध्यक्ष द्वारा

एक गलत समाचार का खंडन

एक समाचार प्रसारित करनेवाली संस्था (यू० एन० आई) ने ३ अगस्त को नयी दिल्ली से निम्न आशय का समाचार प्रसारित किया जो हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े समाचार पत्रों में छपा।

नयी दिल्ली ३ अगस्त। सर्व सेवा संघ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'सर्वोदय सामयिकी' के एक नक्शे में कश्मीर को एक अलग क्षेत्र के रूप में दिखाया गया है।

'सर्वोदय सामयिकी' नं० १—कश्मीर समस्या—में भारत का एक नक्शा दिया गया है। उसमें जिस तरह पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान वाली रेखाओं से अलग दिखाये गये हैं उसी तरह जम्मू और कश्मीर भी।"

इस समाचार का खंडन करते हुए सर्व-सेवा संघ प्रकाशन के अध्यक्ष श्री सिद्धराज ढड्ढा ने दूसरे दिन निम्नलिखित वक्तव्य दिया—

यह कहना गलत है कि नक्शे में कश्मीर एक अलग क्षेत्र के रूप में दिखाया गया है। चूँकि, जिस प्रकाशन के बारे में यह सवाल उठाया गया है उसमें कश्मीर-समस्या पर चर्चा की गयी है इसलिए उसमें प्रकाशित नक्शे में कश्मीर को दिखाया गया है। कोई तटस्थ पाठक उस नक्शे को देखकर वैसा मतलब नहीं निकालेगा जैसा उस संवाद समिति के संवाददाता ने निकाला है। दरअसल 'सर्वोदय सामयिकी' के पीछे ऐसी कोई मंशा नहीं थी।

कश्मीर-समस्या जैसे विवादास्पद विषय पर लोगों की राय में मतभेद हो सकता है और सनसनी-खेज खबरों को जाहिर करना नये जमाने की अखबारनवीसी का एक हिस्सा माना जा सकता है। फिर भी एक जिम्मेदार संवाद समिति द्वारा प्रसारित खबरें सही तथ्यों पर ही आधारित होनी चाहिएँ।

●

आगामी महीने के

हमारे नये प्रकाशनों की सूची

(१) तन्दुरुस्ती की कहानियाँ	एस० जे० सिंह
(२) गांधीजी के संस्मरण	शान्तिकुमार मुरारजी
(३) प्रभो इन्हें क्षमा करना	नारायण देसाई
(४) महावीर वाणी	बेचरदास दोशी

अंग्रेजी पुस्तकें—

(१) विनोबा इन पाकिस्तान	चारु चौधरी
(२) रस्किन एंड गांधी	डा० बी० लक्ष्मी मेनन

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी।

प्राइमरी पाठशालाएँ
और
कताई-बुनाई

•

शं० मो० सानेटे

शुरू में वस्त्र विद्या की क्रियात्मक शिक्षा को दो विभागों में बाँटा गया था—

१—चरखा कताई,

२—बुनाई ।

पहली चार कक्षाओं में केवल कताई और आखिरी तीन में केवल बुनाई । इस प्रकार सातसाल की बुनियादी शिक्षा का पाठ्यक्रम बनाया गया । आजतक प्राय शालाओं के अभ्यासक्रम इसी तरह चल रहे हैं । शुरू में कताई-बुनाई के शिक्षकों की नियुक्तियाँ करते समय उनके *प्रशिक्षण पर उचित ध्यान नहीं रखा गया । अलग-अलग* प्रशिक्षण होने पर भी शाला-व्यवस्था को सुचारु रूप देते समय अपरिहार्य परिस्थिति के बहाने अप्रशिक्षित शिक्षकों के हाथों में कताईवालों को बुनाई तथा बुनाई वालों को कताई-वर्ग दिये गये, जिससे व्यावहारिक उद्योग सचालन में तकनीकी और हिसाबी सावधानी नहीं रखी जा सकी । इसीलिए स्वावलम्बन और उत्पादन के बदले परिणाम घाटे का और पूर्ण निराशाजनक रहा । कते हुए सूत की बुनाई कठिन हो गयी इसीलिए सूत के पहाड़ एकत्र हुए । इस दोष को दूर करने के बजाय समय समय पर कताई के अभ्यासक्रम में कटौती की गयी । परिणाम-स्वरूप बुनाई में कटौती हुई ।

औद्योगिक शिक्षा में टेकनीक को प्रधानता देनी होती है । इस तरफ सरकारी अधिकारियों का पर्याप्त ध्यान नहीं गया । पैसे के नुकसान का बहाना बताकर *अभ्यासक्रम में* कटौती करते करते इस विषय को विकृत और नगण्य किया गया जिससे चालू पीढ़ी को फायदे के बदले नुकसान भुगतना पड़ा है । इस योजना का ध्येय शारीरिक, बौद्धिक, और हार्दिक उन्नति था । *उसके बदले शिक्षा शास्त्रियों की लापरवाही से मनोमालिन्य,* उदासीनता और नैराश्य ही पैदा हुआ है ।

सुधार के सुझाव

उपयुक्त परिस्थिति के कारण शिक्षा शास्त्रियों को गहराई से सोचना पड़ा है । इस विषय पर मेरे निष्कर्ष निम्न प्रकार हैं—

१ चरखा-कताई और बुनाई अलग-अलग विषय नहीं मानने चाहिए क्योंकि कताई-बुनाई की पूर्व क्रिया है ।

२ बुनाई का ज्ञान होने पर ही चरखा-कताई का सम्यक ज्ञान होता है ।

३ कताई की शुरुआत होते ही अल्प प्रमाण में उसी सूत को प्रत्यक्ष बुनाई में उपयोग करके आजमाया जाय । सूत बुनने योग्य है या नहीं यह देखकर विद्यार्थियों को सामान्य सकेत देकर खराब कताई की गल्ती को समय पर सुधारकर कपड़ा उत्पादन के लक्ष्य में उनके उत्साह को बढ़ाते हुए इसी विषय के हेतु को साध्य करना हो तो चरखा कताई एव बुनाई को एक मानने से ही यह शक्य होगा ।

कतिपय सशोधन

कताई की प्रक्रिया को वैज्ञानिक रूप देने के लिए तथा बालकों को कताई बोझ के बजाय आनंदप्रद हो, अटूट सूत कताई के सभी पहलुओं पर गहराई से सोचा गया । यदि 'सूत अच्छा हो तो बुनाई की आधी लड़ाई जीत ली जाती है ।

योग्य करघा

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए योग्य करघा होना

जरूरी है, और ऐसा करघा मैंने निर्माण किया है। इसकी निम्न विशेषताएँ हैं—

- इस करघे पर चौथे श्रेणी का विद्यार्थी अपने सूत को स्वय बुन लेता है। इससे उसका कताई का आनन्द दूना हो जाता है।
- यह करघा आकार मे छोटा और वजन म हल्का है। इसे इधर उधर करने में किसी प्रकार की कठिनाई महसूस नही होती।
- बुनाई म ताने के तार नहीं टूटत।
- यह समेटा भी जा सकता है।
- इस करघे पर प्रारम्भिक कता हुआ केवल दो गुडी सूत होते ही बुनाई की शुरुआत करना सम्भव होता है।

अभ्यासक्रम में आवश्यक सावधानी

१ इस करघे पर क्रमश कपडे के लक्ष्य का परिमाण बढाते हुए बुनने का आग्रह है और निर्धारित समय में विद्यार्थी का मर्यादित कपडा भी प्राप्त होना आवश्यक है।

२ आगे चलकर विद्यार्थी को अभ्यास से अपन श्रेणी के अनुसार अज में १८" और लम्बान में ८–१० गज तक लम्बी तानी बनाकर बुनना शक्य होता है, लेकिन कताई बुनाई की निष्ठा और विद्यार्थियों की ताकत आजमाते हुए इस योजना में क्रमश विकास करना है।

३ हर वक्त कपड में नवीनता लाने के लिए शिक्षक का कर्तव्य है कि कपडे में रगीन पट्टियाँ, धारियाँ ताने-बाने म देकर विद्यार्थी की रुचि को बढान का में प्रयास करते रहें।

सशोधन के लक्ष्य को ध्यान में रखकर कताई-बुनाई के अभ्यास-क्रम में पूरी तरह का फेर-बदल करना क्रमश सम्भव है। आज की परिस्थिति में पहले सामान्य अभ्यासक्रम रखकर विद्यार्थियों में रुचि बढाना है और निराशा दूर करनी है। इस प्रकार चौथे वर्ग से सातवें वर्ग तक कम-से-कम २० से ४० वर्ग गज कपड का उत्पादन प्रति विद्यार्थी को करना सम्भव होगा, जो आज की शून्यता की हालत में एक खासी प्रगति कही जा सकती है।

●

[क्या गोल्डवाटर की विजय केनेडी की हत्या का समर्थन और जानसन के हस्ताक्षर का उत्तर है? लेकिन 'नागरिक अधिकार-कानून' का पास होना इस बात का प्रमाण है कि समता की लडाई में अडचनें भले ही हों, लेकिन उसका अन्तिम परिणाम निश्चित है।]

काले-गोरे

●

राममूर्ति

२ जुलाई को राष्ट्रपति जानसन ने 'नागरिक-अधिकार-कानून' (सिविल राइट्स बिल) पर दस्तखत किया। एक पखवारे के बाद अमेरिका की रिपब्लिकन पार्टी ने १९६४ के चुनाव में राष्ट्रपति के पद के लिए बेरी गोल्डवाटर को अपना उम्मीदवार चुना। जब विधान मडल में इस बिल पर वोट हुआ था तो गोल्ड-वाटर ने अपना वोट इसके विरुद्ध दिया था। विरोध किस बात का था काले चमडेवाले नीग्रोलोगों को

सफेद घमंडेवाले अमेरिकनों के समान अधिकार क्यों दिये जायें ? अधिकार 'कहाँ' देने की बात थी ? स्कूल में, होटल में सिनेमा और कारखाने में, बस इतनी बात थी। नीग्रो भी उतना ही अमरिकन है जितना दूसरा कोई। अमरिका दुनियाँ की कुबेरनुशीरी है। कुबेर के देश म रंगभेद इतना भयकर है। इसी प्रश्न पर केनेडी को शहीद होना पड़ा था। क्या गोल्डवाटर की विजय केनेडी की हत्या का समर्थन और जानसन के हस्ताक्षर का उत्तर है ? लेकिन 'नागरिक अधिकार-कानून' का पास होना इस बात का प्रमाण है कि समता की लड़ाई में अड़चनें भले ही हों, लेकिन उसका अन्तिम परिणाम निश्चित है। इस कानून ने रास्ता दिखा दिया है। लेकिन अमरिका में प्रतिक्रियावाद का जबरदस्त संगठन भी हो रहा है।

काले और गोरे का प्रश्न व्यापक है। दक्षिण अफ्रीका में यह प्रश्न वहाँ के मूल निवासियों के संहार का कारण बना हुआ है। विशेष रूप से दक्षिण अफ्रीका और दक्षिणी रोडेशिया के राज्यों म इस वक्त भी गोरे लोग काले लोगों पर जो जुल्म कर रहे हैं वह मनुष्यता के लिए कलंक है। पूरे अफ्रीका महाद्वीप के निवासियों को स्वतंत्रता और समता के लिए जो कीमत चुकानी पड़ी है, और पड़ रही है, उसकी कल्पना से ही रोगटे खड़े हो जाते हैं। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और वंशवाद दुनियाँ के पर्दे से मिट रहे हैं लेकिन जाते जाते जितना कर सकते हैं, कर रहे हैं।

अमरिका के नीग्रो से अधिक जटिल प्रश्न हमारे देश के 'अछूत' का है। यह सही है कि वर्षों पहिले से हमने कानून म अस्पृश्यता मिटा रक्खी है, लेकिन हमारे जीवन में छुआछूत कब मिटेगी, इसका कोई ठिकाना नहीं है। कुएँ, तालाब या नल पर पानी लेना, होटल म बैठकर बरतनों म खाना, सवारी पर बैठना, या नाई और धोबी की सेवा लेना, आदि कई ऐसे मामले हैं जिनमें अनेक जगहों म अछूत आज भी अछूत ही है। इतना ही नहीं, कई जगह गाँव के सवर्ण बाबू का लड़का हरिजन की लड़की या बहू पर अपना खुला अधिकार मानता है, और उसके इस 'अधिकार' को सामाजिक समर्थन भी मिलता है। जरूर कई दृष्टियों से पुरानी कठोरता कम हुई है, बेगार मिटी है लाठी का खुला प्रयोग बहुत कम हुआ है, लेकिन अन्दर अन्दर 'छूत' 'अछूत' के सम्बन्धों में विस्फोटक तत्व तेजी के साथ घुस रहे हैं। आर्थिक दृष्टि से भारत का 'छूत' मालिक, और 'अछूत' मजदूर है। इस पुराने सम्बन्ध में जबरदस्त तनाव पैदा हो रहा है। दूसरी ओर संख्या पर चलनेवाली चुनाव की राजनीति एक नयी चेतना पैदा कर रही है। हमारी संख्या अधिक है, यह चेतना आज व्यापक पैमाने पर पिछड़ी और अनुसूचित जातियों और आदिवासियों म काम कर रही है, और वे महसूस कर रहे हैं कि अगर संख्या संगठित कर ली जाय तो सत्ता हाथ में की जा सकती है। सत्ता की दृष्टि से परे भारत में संगठन का काम चल रहा है।

एक ओर आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में इस तरह संघर्ष की भूमिका तैयार हो और दूसरी ओर सवर्ण हिन्दू अपने 'पावित्र्यवाद' पर कायम रहे, किसी को अछूत' और किसी को 'म्लेच्छ' समझे, राजनीति में जातिवाद का नारा बुलन्द करे किसी तरह अपने स्वामित्व और विशेषाधिकार को छोड़ने को तैयार न हो तो देश वर्ग जाति और सम्प्रदाय के विविध संघर्ष से कैसे बचेगा ? देश और समाज को छिन्न भिन्न करने वाली शक्तियाँ तेजी से उभड़ रही हैं लेकिन बाँधनेवाली शक्तियाँ दिखाई नहीं देतीं। आज सवर्ण हिन्दू के पक्ष म सामाजिक संस्कार है उसके हाथ म सत्ता है, सम्पत्ति है, लेकिन जमाना उसके पैर के नीचे से जमीन तेजी से खिसका रहा है। प्रायश्चित की भावना से उसे मनुष्य को मनुष्य मानने का अभ्यास करना चाहिए, और एकता की स्थापना में आगे आना चाहिए।

आज कोई सवर्ण माँ खुशी से अपनी लड़की को साँवले रंग के वर के साथ नहीं करना चाहती, दूसरी जाति के वर की बात कौन कहे ? इतना गहरा है यह जहर ! इसे निकालने के काम म देर नहीं होनी चाहिए। कबतक बाप-दादा की आड़ लेकर इतिहास के प्रवाह को रोका जा सकेगा ?

●

इंग्लेंड में शिक्षा
का
सामान्य रूप

•

जानकी देवी प्रसाद

उन्नीसवीं सदी के चौथे दशाब्द तक इंग्लैंड में शिक्षा का काम धार्मिक संस्थाओं तथा कुछ सेवा परायण व्यक्तियों द्वारा ही होता था। इस कार्य में राज्य की भी जिम्मेदारी है, इस को मान्यता मिलने में काफी समय लगा। सन् १८३३ में यहाँ की प्रथम पार्लियामेन्ट ने शिक्षा के लिए बीस हजार पौण्ड के अनुदान का बिल पास किया, और उसी साल राजकीय अस्तबल के सुधार के लिए पचास पौण्ड की रकम खर्च करने की अनुमति दी थी। इससे पता चलता है कि राज्य सचालकों-द्वारा शिक्षा के काम को कितना महत्व दिया जाता था।

बढ़ती हुई माँग के कारण इस रकम में जल्दी ही वृद्धि करनी पड़ी और सन् १८३९ में सरकार ने इसके वितरण की देखभाल के लिए एक समिति नियुक्त की। इस समिति का मंत्री देश की शिक्षा व्यवस्था के बारे में कुछ सोचने और काम करने लगा। इंग्लैंड के इतिहास में यह पहला मौका था, जब एक सरकारी अफसर ने शिक्षा के क्षेत्र में कुछ जिम्मेदारी ली। इसी मंत्री ने यहाँ पहले शिक्षकों के प्रशिक्षण का कार्य आरम्भ किया। इसके बाद धीरे धीरे सरकारी शिक्षा-विभाग बढ़ता गया और यह काम अधिकाधिक राज्य के नियंत्रण में आ गया। आज शिक्षा की जिम्मेदारी स्थानीय परिषदों (लोकल कौन्सिल्स) की मानी जाती है। सामान्य नीति का निर्देश राज्य के द्वारा होता है।

५ साल की उम्र से १५ साल तक के हरेक बच्चे के लिए यहाँ शिक्षा अनिवार्य है और उसके लिए राज्य की तरफ से नि:शुल्क व्यवस्था है।

ऐसी कई गैरसरकारी पाठशालाएँ भी हैं, जो एक विशेष विचार या आदर्श के अनुसार शिक्षा का काम करती हैं। माता पिता अपनी इच्छा से इनमें बच्चों को भेज देते हैं, उसके लिए उनको खुद खर्च करना पड़ता हैं। ५ से ७ तक शिशुवर्ग, ७ से ११ तक प्राथमिक और ११ से १५ तक माध्यमिक शिक्षा, ऐसे इस दस साल के शिक्षाकाल को तीन भागों में बाँटा है। १५ साल के बाद भी जो शिक्षा चालू रखने की इच्छा रखते हैं वे भी बिना शुल्क के वैसा कर सकते हैं। करीब १६ साल की उम्र या माध्यमिक शिक्षा के पाँच साल के अन्त में सार्वजनिक परीक्षा होती है, जो मैट्रिकुलेशन के समकक्ष है। यह साधारण स्तर पर (आर्डिनरी लेवेल) जी० सी० ई० कहलाती है।

जी० सी० ई० उत्तीर्ण विद्यार्थी दो साल और चुने हुए किन्हीं दो या तीन विषयों में विशेष शिक्षा प्राप्त करने के बाद उच्च स्तर पर (ऐडवान्स्ड लेवेल) जी० सी० ई० के लिए बैठते हैं। इसमें उत्तीर्ण होने के बाद ही उन्हें विश्वविद्यालयों में प्रवेश मिल सकता है। इस

स्तर तक या १८ साल की उम्र तक हरेक विद्यार्थी बिना शुल्क के शिक्षा प्राप्त कर सकता है। उसके बाद जिन्हें राज्य की तरफ से छात्रवृत्ति मिलती है, वे माता पिता के ऊपर बोझ बने बिना अपनी शिक्षा चालू रख सकते हैं, लेकिन विश्व विद्यालयों में प्रवेशार्थियों की संख्या अधिक है और जगह कम है, इसलिए काबिलियत रखते हुए भी कइयों को उच्च शिक्षा से वंचित रहना पड़ता है।

१५ साल की उम्र में जो लड़के लड़कियाँ शिक्षा छोड़कर किसी धन्धे में प्रवेश करती हैं, उनके लिए आगे तीन साल या १८ साल की उम्र तक हफ्ते में कुछ घंटे कुछ न-कुछ शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था सन् १९४४ के एजुकेशन एक्ट के अनुसार होनी चाहिए। कहीं कहीं थोड़ी बहुत ऐसी व्यवस्था होती भी है, लेकिन अभी तक यह इतनी नगण्य मात्रा में है कि उसकी चर्चा छोड़ी जा सकती है।

यहाँ की शिक्षा-व्यवस्था की एक बड़ी विशेषता यह है कि कोई भी बच्चा परीक्षा में असफल होने के कारण उसी वर्ग में और एक साल रोका नहीं जाता। साल के आखिर में परीक्षा होती है, उसमें अंक दिये जाते हैं, कुछ बच्चे अपेक्षा से कम अंक प्राप्त करते हैं, लेकिन फिर भी वे आगे की श्रेणी में चले जाते हैं। मतलब यह कि बच्चा अपनी योग्यता के अनुसार नहीं, उम्र के अनुसार एक श्रेणी में बैठता है। नये बच्चे को स्कूल में भरती करते समय भी उसको कौन-सी श्रेणी में बिठाया जाय, इसका निर्णय उसकी उम्र के आधार पर होता है, न कि योग्यता के।

लेकिन, हरेक वर्ग में तीन या चार विभाग होते हैं—ए, बी०, सी० और डी०। बच्चों की योग्यता के अनुसार वे इन विभागों में रखे जाते हैं—ज्यादा बुद्धिमान बच्चे ए विभाग में, उससे कम बी में, इत्यादि। सामान्यतः डी विभाग में वे बच्चे रहते हैं, जो बुद्धि में औसत से कम हैं; लेकिन अगर कोई बच्चा उसमें किसी भी समय ज्यादा बुद्धि विकास या अच्छी प्रगति का परिचय देता हो तो उसे सी० विभाग में और वहाँ से बी० या ए० में भेज देते हैं।

इसके पीछे तत्व यह है कि हरेक बच्चा अपनी शक्ति और विकास के अनुसार प्रगति करे। जो ज्यादा बुद्धिमान हैं उनकी शक्ति का पूरा पूरा उपयोग हो, लेकिन जो बुद्धि या कुशलता में कम हैं, उनके ऊपर बेकार का बोझ भी न पड़े, लेकिन व्यवहार में यह पद्धति सर्वथा दोष मुक्त नहीं है और आजकल कई शिक्षा शास्त्रियों के द्वारा आलोचना का विषय बनी हुई है।

११ साल की उम्र यहाँ के हरेक बच्चे की जिन्दगी में एक बहुत ही विशेष सन्धि है। इस समय यानी प्राथमिक शिक्षा के अन्त में उसको एक परीक्षा में से गुजरना पड़ता है, जो 'इलेवन प्लस' (११ +) कहलाती है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि उसकी भावी जिन्दगी के स्वरूप का निर्णय इसी के आधार पर होता है क्योंकि इस परीक्षा में वह जितने अंक प्राप्त करता है, उसके अनुसार वह माध्यमिक शालाओं में भेजा जाता है। माध्यमिक शालाएँ तीन प्रकार की हैं—'ग्रेमर', 'टेक्निकल' और 'माडर्न'। परीक्षा के आधार पर, जो बच्चे अधिकारियों द्वारा सबसे बुद्धिमान ठहराये जाते हैं, उन्हें 'ग्रेमर'-स्कूलों में भेज दिया जाता है। जो उससे कुछ कम स्तर के हैं उन्हें टेक्निकल स्कूलों में और बाकी सब यानी अस्सी प्रतिशत बच्चे 'सेकंडरी माडर्न स्कूलों में जाते हैं। यानी ये सेकंडरी माडर्न स्कूल्स उन बच्चों के लिए हैं, जिनके लिए ग्रेमर' और 'टेकनिकल' स्कूलों में जगह नहीं है। ये माडर्न (आधुनिक) कैसे हुआ, समझना मुश्किल है। कम से कम नाम तो सुनने में अच्छा हो, इस विचार से रखा होगा।

इस विभागीकरण के बारे में बहुत ऊँची ऊँची तात्त्विक बातें बतायी जाती हैं कि इस व्यवस्था में हर एक बच्चा अपनी अपनी रुचि और काबिलियत के अनुरूप शिक्षा प्राप्त करता है, उसमें ऊँच-नीच की भावना नहीं है इत्यादि। लेकिन, असलियत यह है कि 'ग्रेमर' और 'टेकनिकल' स्कूलों के बच्चों को ही जी० सी० ई० परीक्षा के लिए तैयार किया जाता है, आम तौर पर वे ही इस परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं और इसलिए विश्वविद्यालयों

में प्रवेश पाते हैं। सेकंडरी माडर्न स्कूल्स के अधिकतर बच्चे १५ साल की उम्र में शाला छोड़ देते हैं, बहुत ही कम ऐसे हैं, जो इस उम्र के बाद भी शिक्षा चालू रखते हैं और जी० सी० ई० परीक्षा की तैयारी करते हैं, क्योंकि उन्हें ग्रेमर स्कूलों के स्तर की शिक्षा नहीं मिलती है, इसलिए उनके लिए उस परीक्षा में उत्तीर्ण होने की सम्भावना भी कम रहती है।

'इलेवन प्लस' परीक्षा में जो असफल हुए हैं, वे विशेष इच्छा हो तो १३ साल की उम्र में और एक परीक्षा में बैठ सकते हैं और उसमें अगर अच्छे अंक प्राप्त कर लिया तो ग्रेमर, या टेकनिकल स्कूल में प्रवेश पा सकते हैं, लेकिन यह अपवाद रूप ही होता है, सामान्यतः नहीं।

अब सवाल यह है कि ग्यारह साल की छोटी उम्र में ही बच्चों की भावी अभिरुचियों और शक्यताओं के बारे में निर्णय कर लेना कहाँ तक न्याय्य है। बहुत दफे यह निर्णय गलत साबित होता है। कितने ही बच्चे १४, १५ साल की उम्र तक भी शिक्षा में कोई विशेष अभिरुचि नहीं दिखाते हैं, लेकिन कभी कभी उसके बाद अच्छी बुद्धिशक्ति और मानसिक विकास का परिचय देते हैं। इस पद्धति के अनुसार उनके लिए आगे का दरवाजा एक तरह से बन्द ही है और ग्रेमर स्कूल में प्रवेश पाये कितने ही बच्चे आगे की शिक्षा में मन्द साबित होते हैं।

इतनी छोटी उम्र में ही बच्चे का भाग्य निर्णय करने की इस व्यवस्था की अन्यायपूर्णता के बारे में यहाँ का शिक्षाजगत अब काफी सचेत हुआ है, अधिकृतों के मन में भी इसके बारे में शंका होने लगी है। फिर भी वह चल रही है। यहाँ की राजनीतिक पार्टियों में सिर्फ 'लिबरल' दल ने अपने चुनाव सम्बन्धी नीति मूल्यापन में 'इलेवन प्लस' परीक्षा को हटा देने की घोषणा की है।

माध्यमिक शिक्षा में—ग्रेमर स्कूल, टेकनिकल, माडर्न—इस पृथक्करण के दुष्फलों को रोकने के लिए और एक प्रयास किया जा रहा है—काम्प्रिहेन्सिव, या समग्र स्कूलों के द्वारा। इसमें सब स्तरों के बच्चों को प्रवेश दिया जाता है और वर्गीकरण के बिना सबके लिए उचित शिक्षा का प्रबन्ध हो, यह प्रयत्न किया जाता है। अभी तक इन स्कूलों की संख्या कम है, लेकिन इनके पीछे का विचार अधिकाधिक लोकप्रिय बन रहा है। इसका अधिक विवरण एक अलग लेख का ही विषय है।

प्रारम्भ से ही बच्चे के स्वास्थ्य की देखभाल यहाँ की शिक्षा का अनिवार्य अंग है। शिशुवर्ग से लेकर १५ साल की उम्र तक के शालेय-जीवन में हरेक बच्चे के लिए नियमित डाक्टरी जाँच (स्वास्थ्य-परीक्षा) की व्यवस्था है। जो भी कोई छोटी सी त्रुटि दिखाई देती है, उसके उपचार की व्यवस्था जल्दी ही की जाती है। यह सारा प्रबन्ध सराहनीय है। पूरे शिक्षण-काल में याने दस साल-हरेक बच्चे को प्रतिदिन सुबह १० औंस दूध मिलता है। दोपहर के भोजन की व्यवस्था भी बच्चों और शिक्षकों के लिए है। बच्चों के भोजन के लिए प्रतिदिन एक शिलिंग लिया जाता है, जो यहाँ के हिसाब से बहुत ही सस्ता है। जिन माता पिताओं की आमदनी एक निदिष्ट स्तर से कम है, उन्हें इस खर्च से भी छूट है।

पूरे शिक्षाकाल में बच्चा को किताबें, बहियाँ, पंसिल, पेन इत्यादि सारा साधन शाला से मिलते हैं। छोटे वर्गों में माडल वगैरह बनाने की तथा माध्यमिक शाला में धातुकला, काष्ठकला, लड़कियों के लिए सिलाई, कढ़ाई इत्यादि की शिक्षा के लिए आवश्यक साधन सामग्रियों की व्यवस्था भी शाला में होती है। माँ बाप को अपने बच्चे की शिक्षा के लिए कोई भी खर्च करने की जरूरत नहीं होती।

●

सम्पादक के नाम चिट्ठी

महोदय,

यह व्यंग न समझा जाय, क्योंकि आप-बीती है। आत्मा गवाही नहीं देती, कि ऐसी व्यवस्था में इस राष्ट्र निर्माण का भार सिर पर लादा जाय। किन्तु हां भी क्या सकता हूँ ! क्योंकि प्रशिक्षित भी हो चुका हूँ। जो करना है, कहीं जाकर कुलीगिरी, मजदूरी करके ही पेट पाला जाय, क्योंकि वहाँ मेरे कार्यों का प्रभाव मेरे ही ऊपर रहेगा, न कि सुकुमार भावी राष्ट्रनिर्माताओं पर भी। किन्तु फिर सोचता हूँ कि एक मेरे ही अलग होने से इन बालकों का भविष्य उज्ज्वल हो सकेगा क्या, जब कि सारे समाज की ही यही दशा है। यह निर्णय मेरे लिए ही नहीं, अध्यापक समाज के लिए भी महत्व का है। सवाल उन बच्चों पर आता है, जिनको ऐसी अवस्था में शिक्षित किया जाता है, और एक ही जिले के बच्चों की व्यवस्था में भिन्नता पायी जाती है। कहीं पर उसी योग्यता के अध्यापक को डेढ़ सौ रुपये से अधिक, साथ में चपरासी, बच्चों की सुविधा और वहीं पर दूसरे विद्यालय (परिषदीय) के शिक्षक को ७० रु० वेतन साथ ही पारितोषिक स्वरूप, अन्य अनेकानेक समस्याएँ।

अस्तु, उचित न्याय-हेतु माँग की जाय, अवश्य ही मेरे लिए नहीं, क्योंकि मुझे तो इस लेख के छपते ही कार्य मुक्त किया जायेगा। किन्तु समाज व बच्चों की भलाई हेतु ध्यान देने योग्य बात इसलिए है कि बच्चे भविष्य में लोकतंत्र के सिद्धांतों को कैसे सत्य मान सकते हैं, जबकि छोटी-सी इकाई में भी उन्हीं के समक्ष भेदभरी नीति का उदाहरण दिया जा रहा है।

यदि आप भी सच्चे राष्ट्रसेवी हों, तो अवश्य ही इन समस्याओं पर गहन विचार होना चाहिए।

-एक अध्यापक, चमोली

श्रीमानजी,

आपकी 'नयी तालीम' पत्रिका में शिक्षकों के सम्बन्ध में जो जो आरोप पढ़े उनसे अतिशय दुःख हुआ। आपको ज्ञात होना चाहिए कि आज अध्यापकों के साथ क्या व्यवहार हो रहा है। यदि अध्यापक किसी उच्च अधिकारी को सही बात लिखे तो वे उसको अलग करने पर उतारू हो जाते हैं।

मेरा अपना अनुभव है कि शिक्षा का स्तर क्यों गिरता जा रहा है ? अध्यापक का सम्मान क्यों घट रहा है ? सरकार तथा पदाधिकारियों ने अध्यापकों को उल्लू बना रखा है और अखबारों में अट शंट लिखकर भेजते रहते हैं।

अगर सुनना ही चाहते हैं तो सुनिए—सर्वप्रथम वेतन थोड़ा मँहगाई अधिक। ३० रुपये मन के अनाज में ५० रु० वेतनवाला क्या कर सकता है ! फिर इस पर अधिकारगण जबरन सी० टी० डी० में ५ रुपया जमा करा लेते हैं। यदि यह भी कर दिया तो लड़कों से अनिवार्य बचत का आदेश दिया जाता है। गाँव की जनता की सही दशा का किसी को पता नहीं, छोटे से बड़े तक धूस की फिक्र में हैं। अध्यापक 'चौथ' वसूलता था तो एक व्यक्ति ने उसका स्थान परिवर्तन कराया और दूसरे महीने में फिर स्थान-परिवर्तन। ५६ वर्ष की अवस्था में जबकि उसकी स्त्री मर चुकी, ४ बच्चे हैं, बड़ा बूढ़ा घर में कोई नहीं। घर से २६

मोल्ं दूर उसका तबादला किया गया। अध्यापक प्रधान की खुशामद कर घर से खिलाये तो ठीक, नहीं तो चौथ बन्द, सीधा बन्द। जब तक शिक्षक की जरूरतों की चिन्ता नहीं होगी और वह पढाने में स्वतन्त्र नहीं होगा, शिक्षा अच्छी कैसे हो सकती है ? सरकार अपने कार्य के लिए शिक्षक को बेगार में पकड़ती है। यदि कुछ दिया भी तो चार साल बाद, वह भी भत्ता नहीं ही देते। लिपिक को घूस दो तो वेतन पूरा मिलेगा, नहीं तो उसने भी रोक लगा दी, कभी-कभी दो साल तक बन्द कर दी। प्रार्थना पत्र पर कोई ध्यान नहीं। यदि अपराध हो तो, तुरत दंड। क्षमा का खाना बन्द। यदि कोई खिलाता पिलाता है तो कुछ नहीं होता।

आज का अध्यापक अत्यन्त विवश है। प्राइमरी पाठशाला के अध्यापक के साथ और भी अन्याय है। सहायक को वेतन अधिक और प्रधान को कम-से कम, १५० लड़के, एक अध्यापक, फिर भी कार्य अच्छा चाहते हैं। पैसा बचाते हैं, और आप खाते हैं। इस तरह की चौमुखी चोट देने के बाद भी अध्यापक को 'आदर्श' का घूंट पिलाते हैं और अपेक्षाओं का पहाड़ खड़ा कर देते हैं। यह कैसे सम्भव है ?

—एक शिक्षक

जाके पैर न फटी बिवाई

सम्पादक जी,

अध्यापक-वर्ग अकर्मण्य, दोषी और भावनाहीन जीव नहीं, वरन उसको निराधार ही दोषी बनाया जाता है। वह बालकों का अहित नहीं चाहता, बालको का विकास ही उसका विकास है। अगर कोई शिक्षक बालको से बदले की भावना रखता है तो उसे वास्तव में कलंकी कहना होगा। उसको यह कार्य (पद) ही छोड देना श्रेयस्कर होगा।

प्रारम्भिक शिक्षकों की दैनिक समस्याएँ उन्हीं के हृदय में कपाट बन्द किये बैठी हैं, क्योंकि सम्भवतः उन्हें वर्तमान ससार का कोई प्राणी सुनना भी पाप समझेगा और यदि सुने भी तो परिणाम-स्वरूप जीविका समाप्ति का वरदहस्त लेकर ही। इसीलिए कविवर रहीम की उक्ति याद आती है, दाँत-दर्द सदृश्य बिना आपत्ति चुपचाप चलना पडता है। कहा नहीं जा सकता कि उसे बालकों को सच्चे नागरिक बनने की क्या क्या शिक्षा देनी पडती है। न चाहते हुए भी लिखना पड रहा है कि उस पर यह सब कुछ सही चरितार्थ होता है और सोचता है—

> रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
> सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय॥

'जरा सोचिये तो''—

जबकि एक या दो ही अध्यापकों को ६ प्रारम्भिक कक्षाओं का पाठन-कार्य ही नहीं, सर्वांगीण विकास भी करना है, उन्हें उन्नत नागरिक भी बनाना है और पढ़ाने के लिए एक चाक का टुकडा नहीं, लिखने के लिए श्यामपट नहीं, बैठने के लिए एक कुर्सी नहीं, पाठशाला भवन भी नहीं, अन्य की तो बात ही छेडना पाप होगा। यदि वह अपनी गाढी कमाई से भी व्यय करना चाहता है, तो उसके पास एक समय के नमक के पैसे नहीं। यदि बिल्ली (अध्यापक) के भाग्य से ६ माह बाद एक माह का छींका टूट जाय तो साहूकार, दुकानदार, परिवार, सब उसे सिर-दर्द का विषय बना देते है। उस दिन वह मानवता को छोडकर दानवीय व्यवहार की चरम सीमा पर पहुँच जाता है। मस्तिष्क अनियन्त्रित होकर निष्क्रिय भी हो जाता है,तो अन्य सभी प्रश्न स्वयमेव भाग खडे होने को विवश हो जाते हैं। उसके स्वास्थ्य की पहचान ही यह है कि जिसका मुख नीरस, दुःखित, उलझनों से युक्त हो, वही प्राथमिक अध्यापक होगा। यह निर्विवाद मनोवैज्ञानिक, एवं दार्शनिक सत्य है।

यही नहीं समाजसेवी, पथ प्रदर्शक के निरीक्षक-महोदय की सहानुभूति का भी एक परम पुनीत कर्तव्य सुनिए—

यदि उनकी खातिरदारी में त्रुटि कहीं भी रही तो अध्यापक का भाग्योदय ही हो जायेगा क्योंकि वह अविलम्ब सुदूर किसी सुन्दर-सी गहरी खाई में पाट दिया जायेगा। इसलिए कि वह निराधार निरीह राष्ट्राधार प्राणी है न ! उसकी सुनवाई कहीं नहीं, सिवाय उन्हीं के।

यदि कहीं चूं-चर किया तो जीवन से प्यारी जीविका को चुनौती। अब प्रश्न यह उठता है कि वह इस कमरतोड़ महंगाई में बिना पास के कहाँ पर रहे। यदि ६०-८० मील पैदल जाता भी है तो वहाँ पर अपनी आँखों के सिवाय खा भी क्या सकता है क्योंकि अध्यापक नौकरी करता है उसे उसके काम का वेतन मिलता है।

साथ ही स्मरण रहे कि उसे पाठ्यक्रमानुसार ६ कक्षाओं को भी कक्षोन्नति के योग्य बनाना है। भाग्यवश यदि किंचित कमी रही नहीं कि रिपोर्ट द्वारा पुनः तीसरी खाई में भी पाटा जाना अत्यावश्यक ही है। यदि सफलता ही प्रकट हुई तो उसके चरित्र-पट को सुन्दर गुलाबी रोशनाई से रँग दिया गया और हमारा समाज यह सब देखता है और मुसकरा कर रह जाता है।

जाके पैर न फटी बिवाई
सो क्या जाने पीर पराई।

यदि ऐसे व्यक्ति की शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास न हो तो किसका हो? ऐसे अध्यापकों से सुन्दर राष्ट्र निर्माण की कल्पना न की जाय तो किससे की जाय? नवीन से नवीनतम पाठन विविधा के सुचारु रूप से आत्मानुभव के पल्लवित होने की कामना अन्य किन प्राणियों से की जा सकती है? इन्हीं व्यवस्थाओं के साथ-ही-साथ अवश्य ही राष्ट्र का दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो सकेगी।

अब उन कृपाकांक्षियों से मेरा निवेदन होगा कि जो इन समस्याओं का विरोध करना चाहें स्वयं इसी स्थिति में आकर अध्यापन कार्य करके अध्यापक समाज को एक आदर्श प्रदर्शित करें जिससे इस समाज पर लगाया जानेवाला धब्बा (कलंक) मिटकर देशोन्नति का प्रतीक बन सके। मैं समझता हूँ कि अध्यापक समाज ही नहीं विश्व भी उन परोपकारी साधुओं का चिर आभारी रहेगा।

अस्तु जबतक ये सब व्यवस्थाएँ रहेंगी तबतक तेल घटे न दिया बढ़े वाली कहावत ही चरितार्थ हो सकेगी।

—एक अध्यापक

'शिक्षक-दिवस' और शिक्षक

•

कृष्ण कुमार

राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की जन्मतिथि ५ सितम्बर को है। पिछले दो वर्षों से हम उनकी जन्म तिथि शिक्षक दिवस के नाम से मना रहे हैं। अभी ५ सितम्बर को उनकी जयन्ती मनायी जायगी। शिक्षक समुदाय को गौरव होता है कि एक शिक्षक राष्ट्र का नायक है। और इस कारण शिक्षक दिवस शिक्षकों को प्रेरणा देनेवाला दिन है।

शिक्षक दिवस का सम्बन्ध राष्ट्रपति के साथ है इसलिए यह भारतव्यापी शिक्षक-समस्याओं की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट करने का एक अच्छा प्रयास है। मैं समझता हूँ कि इस अवसर पर शिक्षकों की ओर सबका ध्यान आकृष्ट होगा और शिक्षकों के माध्यम से शिक्षा की ओर भी।

शिक्षक समाज में आज अत्यन्त नीचे दबा हुआ है मानो वह समाज का अंतिम व्यक्ति हो। और अंतिम व्यक्ति नहीं होता तो उसकी यह दयनीय हालत नहीं होती जो आज है। इस बात को लिखते समय मेरा ध्यान उन शिक्षकों की ओर है जो प्राइमरी और माध्यमिक

पाठशालाओं के साथ जुडे हुए है। आज शिक्षा के क्षेत्र में वही व्यक्ति जाता है जिसे और कही स्थान नही मिलता। समाज का चुना हुआ व्यक्ति दूसरे-दूसरे धन्धो में चला जाता है और जिन्हें ऊँची जगहों मे काम नही मिलता वे शिक्षा-विभाग में जाने के लिए बच जाते हैं। यही कारण है कि शिक्षा और शिक्षक दोनों का स्तर नीचे गिरता जा रहा है।

'शिक्षक दिवस' पर शिक्षकों को और खुद शिक्षक राष्ट्रपति और शिक्षक उपराष्ट्रपति को सोचना चाहिए कि शिक्षको को आज के समाज में अन्तिम स्थान क्यों है? जब यह तय होगा तब यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि समाज में उनको उचित स्थान कैसे और कब प्राप्त होगा। जिस तेज रफ्तार से दुनिया में परिवर्तन हो रहा है और विज्ञान का विकास हो रहा है उससे स्पष्ट होता जा रहा है कि समाज का नेतृत्व चेतन वर्ग के हाथ मे आना चाहिए।

१८ वी, १९ वीं और २० वीं शताब्दी के प्रयत्नो से एक बात सिद्ध हो गयी है कि अब पूँजी और सैनिक की सत्ता नहीं चलेगी, उसके स्थान पर बुद्धि की सत्ता आयेगी। शिक्षा के द्वारा बुद्धि की सत्ता न हो तो मानना चाहिए कि शिक्षा में कोई बुनियादी कमी है। यह कौन-सी कमी है, इसका शोध होना चाहिए।

दुनिया ने देख लिया कि प्रतिद्वन्द्विता और वर्ग-सघर्ष से शान्तिपूर्ण समाज का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसमें बराबर बरबादी का खतरा बना रहता है और बहुत बडी कीमत चुकानी पडती है 'जिसकी पूर्ति कभी नही होती है। इस हालत में समझ मे आना चाहिए कि शान्तिमय अस्तित्व के लिए कोई-न-कोई शैक्षणिक प्रक्रिया होनी चाहिए जिसमें गर्भ से लेकर मृत्युपर्यन्त शिक्षा होगी और कभी उपद्रव का मौका नही आयेगा और कभी उपद्रव हो भी गया तो समझा-बुझाकर शान्तिमय उपाय से शान्त किया जायेगा। शिक्षा स्वयं एक क्रान्तिकारी प्रक्रिया के रूप मे सतत प्रवाहित होती रहेगी और अलग से क्रान्ति की जरूरत नही रह जायगी।

शिक्षा क्रान्ति की प्रक्रिया बने और शिक्षक उसके माध्यम हो इसके लिए अनिवार्य है कि शिक्षा शासन-तन्त्र से मुक्त हो। शिक्षा तंत्र के अधीन हो और वह समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया भी बने यह सम्भव नही बल्कि असम्भव है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा तन्त्र से मुक्त हो और वह सीधे समाज के हाथ में आ जाय। शिक्षा की जब यह स्थिति होगी तब शिक्षक की स्थिति भी बदलेगी और दोनो में बल आयेगा। और, यह तभी सम्भव होगा जब शिक्षक सामने आयेगा। शिक्षक अपनी दीन अवस्था देख रोता रहे और निरुपाय हो हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे तो शिक्षक की आज की अवस्था मे परिवर्तन नहीं आयेगा। शिक्षक 'शिक्षक-दिवस' के अवसर पर अपने हाथ मे समाज की बागडोर लेने के लिए आगे आयें। वे स्वयं अपने को दासता से मुक्त करने के लिए पहले शिक्षा को मुक्त करें और तब स्वयं मुक्त हो। यह काम आसान नहीं है फिर भी करने लायक है। अगर शिक्षक ने आज इस बात की अनिवार्यता नही महसूस की तो समझ लेना चाहिए कि वह समाज की दौड में पीछे छूट जायेगा और गलत हाथ मे समाज का नेतृत्व चला जायेगा।

समाज भी शिक्षक को कद्र देना सीखे। क्योंकि उसे यह समझना चाहिए कि अब उसकी सुरक्षा न शासक के द्वारा सम्भव है और न सेना के द्वारा ही। शासक हमेशा समाज के पीछे रहता है और सेना शस्त्र की गुलाम होती है। शस्त्रास्त्र के प्रयोग से नाश हो सकता है लेकिन सुरक्षा और सर्जन तो नहीं ही होगा, और न हुआ ही है। यानी यह युग न नेता का है, न पूँजीपति का, न सैनिक का है और न शासक का, यह शिक्षक का युग है जो समाज को शिक्षित बना सकता है, सिखा सकता है।

बडी खुशी की बात है कि हमारे राष्ट्रपति शिक्षा-शास्त्री हैं। उपराष्ट्रपति भी शिक्षा शास्त्र के पंडित हैं। देश के दो बडे शिक्षाशास्त्री को राष्ट्र के दो बडे स्थान मिलें, यह इस बात का प्रमाण है कि अब नेतृत्व शिक्षक-समाज के हाथ में दे देने के लिए समाज तैयार है।

'शिक्षक-दिवस' के अवसर पर मैं अपनी श्रद्धा और आदर राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् और शिक्षक समाज को समर्पित करता हूँ।

●

'ग्रामदान-मार्गदर्शिका'

भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना करनी है तो उसका एकमात्र उपाय ग्रामदान है। भारत के सभी गाँव जिस दिन ग्रामदान की घोषणा करेंगे उस दिन भारत में ग्रामस्वराज्य की स्थापना होगी। ग्रामदान से समाज में नये मूल्यों की स्थापना होती है और वह (ग्रामदान) एक नयी समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था प्रस्तुत करता है जिसमें न कोई मालिक होगा और न कोई मजदूर, न कोई शासक होगा और न कोई शासित। सब समान भूमिका में समाज के नागरिक होंगे।

लोग पूछते हैं कि ग्रामदान में क्या होता है? ग्रामदान की पूरी जानकारी न होने के कारण लोगों के मन में तरह-तरह की अनेक शंकाएँ उठा करती हैं। प्रस्तुत पुस्तिका में उन्हीं शंकाओं और प्रश्नों पर चर्चा की गयी है।

'ग्रामदान मार्गदर्शिका' का यह पहला भाग है। इसमें ग्रामदान का अर्थ, ग्रामसभा का महत्व, गाँव की खेती, पूँजी, सहकारी समिति, संगठन, चुनाव, कानूनी आधार आदि के सम्बन्ध में सूत्रात्मक ढंग से जानकारी दी गयी है। पुस्तिका के लेखक हैं श्री मनमोहन चौधरी जो सर्व-सेवा-संघ के अध्यक्ष हैं। पुस्तिका ५२ पृष्ठों की है और मूल्य है ०.५० पैसे। इसे सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी ने प्रकाशित किया है।

'स्वस्थ कैसे रहें ?'

हम अपने स्वास्थ्य की ओर से बहुत ही उदासीन रहते हैं और उसकी प्रायः उपेक्षा करते हैं। पेट में दर्द हुआ तो कोई पेटेन्ट दवा और सिर दुखा तो एनासिन ले लिया। यानी स्वास्थ्य की चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं, उसकी दवा मौजूद है। जब से दवाएँ बढ़ी हैं तबसे स्वास्थ्य की ओर से लापरवाही हुई है और रोग बढ़े हैं।

यह ठीक है कि रोग बढ़ें तो किसी उपाय से उससे छुटकारा पाया जाय परन्तु यह भी कोशिश करनी चाहिए कि वैसी नौबत ही न आये। कुछ क्या, अनेक रोग ऐसे हैं जो स्वास्थ्य-सम्बन्धी ठीक जानकारी के अभाव में होते हैं। अगर आदमी को उस बात की जानकारी मिल जाय तो उनके पालन से अनेक बीमारियों से छुटकारा मिल जाय। उनमें न पैसे का खर्च है, न उनके पालन में कोई कठिनाई।

हवा और धूप का स्वास्थ्य पर क्या असर होता है इसकी चर्चा करते हुए उपरोक्त पुस्तिका के लेखक ने बताया है कि "ताजा हवा और धूप शरीर के दूषित विकारों को मिटाने के अतिरिक्त स्नायु-केन्द्रों का समुचित संचालन कर जीवनदायिनी शक्ति प्रदान करती है।"

इसी प्रकार व्यायाम, श्वासोच्छ्वास, विश्राम और निद्रा, सही ढंग के कपड़े पहनना आदि पहलुओं पर उपयोगी चर्चा हुई है।

शरीर के भीतर अंगों को अपना कार्य संचालन करने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता चाहिए। शरीर में कोई भी स्थान फालतू नहीं है, इसलिए शरीर कपड़े से कसा रहेगा, तो शरीर के अंगों पर दबाव पड़ेगा।

'स्वस्थ कैसे रहें ?' नामक ४० पेजी पुस्तिका में अनुभवी चिकित्सक डा. जे. एम. जस्सावाला ने उपरोक्त विषयों पर अत्यन्त लाभकारी सूचनाएँ और जानकारी सरल ढंग से बतायी है। सर्व साधारण के लिए उपयोगी इस पुस्तिका का मूल्य ३५ पैसे है और सर्व सेवा-संघ-प्रकाशन के अन्तर्गत प्रकाशित हुई है। —कृ० कु०

सर्व-सेवा-सघ की मासिकी•

राष्टीय जीवन कैमा होना चाहिए, इसका आदश अपने जीवन म उतारना राष्टीय शिक्षक
कर्तव्य है। यह कर्तव्य करते रहने से अपन आप उसके जीवन म और आम-पास शिक्षा की कि
फैलेंगी और उन किरणो के प्रकाश से आम-पास के वातावरण का नाम अपने-आप हो जाय

प्यादक

जूमदार

क • २

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
अगस्त १९६४ नयी तालीम रजि० सं० एल, १७२३

देखा है किसी ने ?

किस इंजीनियर ने इस घर का नक्शा बनाया ? किस कारीगर ने इसे बनाकर तैयार किया ? कहाँ से ईंट आयी, कहाँ से पत्थर ?

फूटे मिट्टी के बर्तन के टुकड़े, आधी-तिहाई ईंटें, पेड़ की टहनियाँ, मिट्टी और ताड़ के पत्तों की दीवालें, पुराने टीन, पत्तों और टूटी-फूटी सिर की छत, तीन फीट ऊँची; पुलपर सरकारी सड़क की पक्की फर्श—देखा है किसी ने ऐसा महल ?

हर साइज और डिजाइन के रंग-बिरंगे चिथड़े, तरह-तरह के पुराने, फूटे बर्तन, जूते, खिलौने, तथा असंख्य अन्य चीजें—देखा है किसी ने ऐसा विपुल, विविध संग्रह ?

न किसी से कुछ माँगती है, न कुछ कहती है, न बोलती है, न सुनती है। अन्दर लेटी रहती है, कभी बाहर निकल कर बैठ जाती है। अपनी चीजें इधर से निकालकर उधर रखती है। दुनिया में है भी, और नहीं भी। क्या खाती है ? कौन खिलाता है ?

देखा है किसी ने ऐसा सन्यासी ? कभी किसी माँ के गर्भ से पैदा हुई होगी; शायद बाजा भी बजा होगा, शायद ब्याही भी गयी होगी। कौन जाने जीवन की किन मंजिलों से गुजरती हुई यहाँ पहुँची है ?

यह कौन है, कोई नहीं जानता। जानना चाहता भी नहीं; लेकिन जनगणना के अनुसार भारतीय नागरिक है, इतना निश्चित है।

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित,
कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ ३२,००० इस मास छपी प्रतियाँ ३२,०००

●

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम
सर्व-सेवा संघ, राजघाट
वाराणसी-१

●

अनुक्रम

●

वार्षिक चन्दा ६.००

एक प्रति ०.६०

उत्तर प्रदेशीय प्राइमरी पाठशालाओं के लिए अनिवार्य

संकट की घड़ी में

वर्ष तेरह
•
अंक : दो

जयप्रकाशजी बार बार कहते हैं कि हमारा देश एकसाथ तीन मोर्चों पर नहीं लड सकता। तीन मोर्चों में वह पाकिस्तान, चीन और देश की व्यापक और भयकर गरीबी को गिनाते हैं। हममें से ज्यादातर लोग इनमें से जब जो खतरा सामने दिखाई देता है उसी को देखते हैं, बाकी दो को भूल जाते हैं। इस वक्त हर एक की जबान पर महँगाई है; अगर अखबार याद न दिलायें तो चीन और पाकिस्तान की ओर से ध्यान हट सा गया है। लेकिन जो पूरे देश को देखता है, जो अपने देश को दुनिया की एक कडी के रूप में देखता है, और सामने ही नहीं, दूर तक देखता है, वह हर चीज को अलग अलग नहीं, साथ देखता है; इसलिए कभी-कभी उसके और दूसरे लोगों के देखने में अन्तर हो जाता है।

इन तीन मोर्चों में से हर एक अपनी जगह एक बडा सकट है। झगड़े से बुरा है रगडा। पाकिस्तान और चीन से हमारा रगडा चल रहा है, और देश के अन्दर हम गरीबी की चक्की में जितना पिस रहे हैं उससे अधिक विषमता की आग में जल रहे हैं। इनमें से कोई सक्ट ऐसा नहीं है, जो सरकार की सैनिक-शक्ति से हल होनेवाला हो। सेना न पडोसियों के बीच का रगडा मिटा सकती है, और न हमें विषमता से मुक्त कर सकती है। जानकारों का कहना है कि चीन और पाकिस्तान के साथ चलनेवाले रगडे का कोई राजनीतिक हल निकालना पडेगा; बार-बार लडाई की बात कहने से हल नहीं निकलता, बल्कि रगडा बढ़ता है। राजनीतिक हल

कौन निकालेगा ? कूटनीतिज्ञ ? नहीं। राजनीतिक हल भी वे लोग निकालेंगे, जिनके अन्दर शत्रुता से अधिक सद्भावना हो; जो अपनी बात कह सकते हों, और दूसरे की बात समझ सकते हों; जो देना और लेना दोनों जानते हों; और जो सरकारों से अधिक जनता को सामने रखकर दूर तक देख सकते हों। ऐसे ही लोग बैठकर रास्ता निकाल सकते हैं। यह दूसरी बात है कि परिस्थिति के अनुसार पाकिस्तान के आमने सामने बैठकर चर्चा करनी पड़ेगी, और चीन के साथ मध्यस्थों के द्वारा, लेकिन इतना तय है कि बन्दूक अलग रखकर ही चर्चा करनी पड़ेगी।

अगर बन्दूक बाहरी मोर्चे पर काम नहीं कर पा रही है तो गरीबी और विषमता के भीतरी मोर्चे पर तो उसका निकम्मापन स्पष्ट है। जहाँ समाज के ढाँचे में तथा लोगों के सोचने और काम करने के तरीकों में बुनियादी परिवर्तन करने की बात है वहाँ बेचारी बन्दूक क्या करेगी ? कहीं दंगा हो, शान्ति-समिति चाहिए; बाजार में भ्रष्टाचार हो, जनता का संगठन चाहिए; गाँवों का विकास करना हो, जनता का सहयोग चाहिए। आज देश में जो भी बड़ा सवाल सामने आ रहा है उसको हल करने की क्षमता के सम्बन्ध में 'सरकार' की सीमा और विवशता प्रकट होती जा रही है। जनता अचेत पड़ी रहे और सरकार की विवशताएँ दिनोंदिन बढ़ती जायँ तो कोई भी सवाल कैसे हल होगा ? देश कहाँ जायेगा ?

आखिर, उपाय क्या है ? उपाय दो हैं—एक, देश में ऐसी सरकार हो, जिसमें समान रूप से समस्त जनता का विश्वास हो; दो, ऐसे लोकनायक सामने आयें, जो सत्ता का भय, सम्पत्ति का लोभ, और जनता के क्षोभ का ख्याल न कर तथा जाति, धर्म, वर्ग या दल से ऊपर उठकर सत्य की वाणी बोल सकें। दल के मंच पर बैठकर बोलनेवाली सरकार की आवाज जन-जन के हृदय को नहीं छू सकती। और, न सब दलों को मिलाकर बननेवाली सरकार में ही यह शक्ति आ सकती है। बात यह है कि दलों ने अपनी दलबन्दी के कारण देश में जिस तरह का दलदल बना दिया है उसे देखते हुए जनता को यह भरोसा नहीं रह गया है कि दलों से कोई बुनियादी समस्या हल हो सकती है। जाहिर है कि ऐसी हालत में सरकार को दल की सीमा से ऊपर उठना चाहिए। सरकार क्यों एक पार्टी की या सब पार्टियों को मिलाकर हो ? क्यों न उसमें देश के सार्वजनिक जीवन से ऐसे लोग लिये जायें, जिनकी शक्ति और सद्भावना में सामान्य तौर पर सबको भरोसा हो ? दल के लोगों का बहिष्कार न हो, लेकिन निष्ठा दल से अधिक समाज के प्रति हो, और कार्यक्रम के बारे में परस्पर समझौता हो। यह सरकार सबकी कही जायेगी, पार्टी की नहीं; इसके पास सही

बुद्धि और नेक नीयत होगी, सही अर्थ में यह राष्ट्रीय होगी, और पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करेगी।

'लोक' का प्रतिनिधित्व करनेवाला चाहे जैसा हो उसे बँधकर ही बोलना और काम करना पड़ता है; कई बातों में वह जनता की मर्जी यानी लोकमत का गुलाम हो जाता है। जो लोकमत से अधिक लोकहित की बात कहे और काम करे वह लोकनायक है। आज देश को लोक-प्रतिनिधि से अधिक लोक-नायक की आवश्यकता है। लोकचेतना एक ओर सत्ता और सम्पत्ति तथा दूसरी ओर जाति, सम्प्रदाय, वर्ग और दल की सीमाओं में बुरी तरह बँध गयी है। उस लोकचेतना को नयी दिशा देनी है। यह काम लोकमत के पीछे चलनेवाले लोकप्रतिनिधि से नहीं होगा, होगा लोकनायक से, जो लोकहित को सामने रखकर साहस के साथ जनता को बतायेगा कि मत और हित में कितना अन्तर है। यही काम गांधीजी ने अपने अन्तिम दिनों में किया, यही काम आज जयप्रकाशजी करने की कोशिश कर रहे हैं। वह यह नहीं चाहते कि लोग उनकी ही बात मान लें। वह चाहते हैं कि लोग सोचें और देखें कि लोकमत और लोकहित में अन्तर है या नहीं; और अगर है तो तय करें कि किसे मानकर चलना है। जो लोग आज की परिस्थिति में लोकमत और लोकहित का अन्तर महसूस करते हों, ऐसे तमाम चेतन व्यक्तियों को सामने आना चाहिए, और मिलकर अन्तर दूर करने का उपाय सोचना चाहिए। देश भयंकर संकट में है; उसके लिए आत्यन्तिक प्रयत्न की आवश्यकता है। उसका तकाजा है कि शिक्षक, पत्रकार, अधिकारी, व्यवसायी, किसान, मजदूर, विद्यार्थी और नागरिक, जो भी इस अन्तर की प्रतीति रखता हो वह जरा सिर उठाये और चेतना की परिधि बढ़ाने की कोशिश करे। जो जहाँ है वहाँ ही सक्रिय हो।

जनता के हृदय में अन्दर-अन्दर क्षोभ इकट्ठा हो रहा है; परस्पर अविश्वास बढ़ रहा है; जनता और सरकार के बीच की खाई दिनोंदिन चौड़ी होती जा रही है; राजनीति और व्यापार के प्रचलित तरीकों में कहीं मुक्ति नहीं दिखाई देती; लोकतंत्र और समाजवाद का नारा या तो क्रूर व्यंग्य मालूम होता है, या कोरा स्वप्न। ये लक्षण देश की जीवनी-शक्ति के ह्रास के हैं। जीवनी शक्ति के अभाव में किसी संकट का मुकाबला करने की शक्ति कहाँ से आयेगी? इसीलिए नयी शक्ति के नये लोगों की, और नयी दिशा के नये तरीकों की जरूरत है। इतिहास साक्षी है कि इस तरह का संकट देखते-देखते सर्वनाश का कारण बन जाता है।

—राममूर्ति

नये समाज
का
आधार नयी तालीम

●

धीरेन्द्र मजूमदार

आज की भारतीय परिस्थिति के सन्दर्भ में ग्राम निर्माण का मतलब कुआँ, तालाब, खेत या खेती के सुधार आदि कार्यक्रम नहीं हैं, बल्कि नयी बुनियाद डालकर गाँव को ग्राम-समाज में परिणत करने के प्रयास हैं। बाँध, खेती आदि कार्यक्रम जरूरी होंगे, लेकिन वे कार्यक्रम ग्राम-समाज की नयी बुनियाद डालने के माध्यम होंगे। स्वभावतः ये काम नयी बुनियाद की नयी तालीम के होंगे।

नयी तालीम का सही अर्थ

जब हम नयी तालीम की बात सोचते हैं तो सदियों के संस्कार के अनुसार बच्चों की पढ़ाई पर विचार करते हैं। कोई ज्यादा गहराई से विचार करनेवाला है, तो वह अधिक से अधिक उनकी शिक्षा की बात सोचता है। इतने से नयी तालीम नहीं होती। अतः सेवकों को अपने में नयी तालीम की स्पष्ट धारणा बना लेने की आवश्यकता है। जो लोग १९३७ से ही गांधीजी की बतायी तालीम से कुछ सम्बन्ध रखते हैं, वे जानते हैं कि शुरू में इसकी परिकल्पना बुनियादी शिक्षा के रूप में आयी, यानी सात साल से चौदह साल तक के बच्चों की शिक्षा की बात आयी लेकिन गांधीजी ने १९४४ में जेल से लौटने के बाद दुनिया के सामने राष्ट्रीय शिक्षा को नयी तालीम की संज्ञा देकर उसकी परिधि गर्भ से मृत्यु तक बताकर तालीम की परिकल्पना ही बदल दी। फिर तालीम समाज निर्माण का आधार बन गयी। इस कल्पना का सहज मतलब ही नित्य नयी तालीम होगा, जैसा कि विनोबाजी कहते हैं।

इस प्रकार नयी तालीम का वास्तविक अर्थ नयी बुनियाद की तालीम हुई अर्थात् तालीम हमेशा समाज की नयी बुनियाद डालने का जरिया ही बनी रहेगी। अतः हमें देखना है कि आज ग्राम निर्माण के लिए हमें करना क्या है? निर्माण का काम पुरानी और नयी दोनों बुनियादों पर हो सकता है। जो लोग पुरानी मान्यता के अनुसार बुनियाद बदलना भी नहीं चाहते, उनके सामने भी प्रश्न यह है कि हमारे देश के देहातों में कोई ऐसी पुरानी बुनियाद है क्या, जिसके आधार पर नवनिर्माण किया जा सकता है? आज का गाँव मनुष्य-समाज न होकर एक भौगोलिक इकाई-मात्र है। इससे स्पष्ट है कि आज के समाज में पुरानी बुनियाद नाम की कोई चीज रह ही नहीं गयी है।

नयी तालीम का नया पाठ्यक्रम

इसीलिए मैंने ग्राम स्वराज्य के कार्यक्रम के साधारणतः आठ कदम तय किये जिसे नयी तालीम का पाठ्यक्रम कह सकते हैं—

१-ग्राम भावना, २-ग्राम-सहकार, ३-ग्राम-संगठन, ४-ग्राम-शक्ति, ५-ग्राम-संकल्प, ६-ग्रामदान, ७-ग्रामभारती, ८-ग्राम स्वराज्य।

समग्र नयी तालीम के उपर्युक्त कदमों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रौढ़ शिक्षा ही समग्र नयी तालीम का प्रारम्भिक कार्यक्रम हो सकती है।

नयी तालीम का प्राथमिक उद्योग खेती

देहात में नयी तालीम के माध्यम के रूप में प्राथमिक उद्योग खेती ही हो सकता है। हम जो नया समाज बनाना चाहते हैं, उसका रूप भी कृषिमूलक-ग्रामोद्योग प्रधान होगा, ऐसी कल्पना है। अतः हम लोगों ने कृषि-सुधार के प्रसंग को ही तालीम का माध्यम बनाने का निश्चय किया। यह केवल वांछनीय ही नहीं, बल्कि स्वाभाविक भी है, क्योंकि नयी तालीम वस्तुतः जिज्ञासा-जनित ही हो सकती है। ज्ञान का आरोपण नयी तालीम नहीं है, यह सभी जानते हैं। आज गाँव की मूल समस्या अन्न-समस्या है और कृषि उनकी जीविका का एक मात्र साधन है। अतएव कृषि के प्रसंग में ही उनमें स्वतः जिज्ञासा जागृत हो सकती है।

इसलिए, हम लोगों ने यह निर्णय किया कि घूम घूमकर खेती की तालीम देने के बजाय अगर सामूहिक खेती में एक-दो प्लाट लेकर हम अपने हाथ से नमूने की खेती करें तो उसके उदाहरण से जो जिज्ञासा पैदा होगी, उससे हमें एक छोर मिल जायगा। फलतः हमने एक एकड़ में मकई और गेहूँ की खेती की। पैदावार उनसे बहुत अच्छी हुई। उन्हें हमारी जानकारी के प्रति इस प्रकार विश्वास हो गया और वे लोग स्वयं आकर हमसे खेती की चर्चा करने लगे।

शिक्षण कार्य के आरम्भ के लिए इतना समय खर्च करना नयी तालीम के सेवकों के लिए आवश्यक है। हम प्रायः यह भूल करते हैं कि जब नयी तालीम का कार्यक्रम लेकर गाँव में जाते हैं तो अपने को शिक्षक के रूप में ही पेश करते हैं, लेकिन शिक्षण की प्रक्रिया तभी शुरू हो सकती है, जब लोगों में सेवक को गुरु मानकर उससे तालीम लेने की आकांक्षा पैदा हो। नयी तालीम मुख्यतः कृषि और उद्योग मूलक होने के कारण सेवक को पहले अपने कार्यक्रम से यह साबित करना होगा कि वह इन विषयों में दक्ष है। उसे इसके लिए आवश्यक समय देना होगा। पुरानी तालीम के लिए इसकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसने जहाँ तक परीक्षा पास की है उसके नीचेवाले लोगों को वह पढ़ा सकता है, यह मान्यता पहले ही से मौजूद है। वहाँ वह पहले दिन से ही अपना 'गुरुत्व' जाहिर कर सकता है।

खेती और सामवायिक शिक्षण

हमारे साथी गाँववालों के साथ उनके खेत देखने जाते हैं और वे भौतिक विज्ञान तथा समाज विज्ञान के अनेक पहलुओं को कहने का अवसर निकाल लेते हैं। इसके साथ ही जापान, चीन, इजराइल आदि मुल्कों में कितनी पैदावार होती है यह भी बतलाते हैं। हमारे पास कुछ सुधरे हुए औजार हैं। उन्हें इस्तेमाल करके बताते हैं कि खेती को उन्नत करने के लिए औजार-सुधार की कितनी आवश्यकता है। खाद बनाने के प्रसंग में सफाई और स्वास्थ्य की भी बातें आ जाती हैं। इस गाँव (बरनपुर, इलाहाबाद) में पहले के काम के कारण सम्मेलन के अवसर पर ट्रेंच पाखाने बनाये जाते हैं।

सहकारी खेती की बात करने पर वे लोग कहने लगे कि यह कैसी सहकारी खेती है कि हमसे ही बीज माँगा जाता है और हमें ही जाकर काम करना पड़ता है। हम उन्हें समझाते हैं कि सहकारी खेती एक प्रसंग मात्र है। हम तो सहकारी समाज बनाना चाहते हैं। वे हमसे ऐसा प्रश्न इसलिए करते हैं कि आज जो सहकारी खेती के नाम से व्यापक प्रचार तथा कहीं-कहीं आचार हो रहा है, उसका स्वरूप खेतों को मिलाकर एक जगह किसी व्यवस्थापक-द्वारा खेती कराकर भूमिपतियों में मुनाफा बाँटने का है। जिन लोगों का खेत है उनमें आपस में सहकार की कोई प्रक्रिया नहीं रहती है। मैं जब इस बात की कोशिश करता हूँ तो उन्हें यह चीज अटपटी मालूम होती है और स्वाभाविक जिज्ञासा भी पैदा होती है। इसी प्रसंग में पूरे समाज विज्ञान की धारणा देने का अवसर मिल जाता है।

प्रौढ़ शिक्षण का चकहरा

प्रौढ़ शिक्षा का काम करीब-करीब उसी प्रकार का है जिस प्रकार बच्चों के पढ़ाने का। बच्चों को क ख ग लिखना बताया जाता है। फिर उन्हें तख्ती और कलम हाथ में देकर कहा जाता है कि अब तुम लिखो। जब उन्हें लिखने के लिए छोड़ दिया जाता है तो वे लिखने के बजाय तख्ती पर घिचिर पिचिर लकीर खींचते हैं कीरा काँटी करते हैं। थोड़ी देर उन्हें वैसे ही खींचने दिया जाता है। फिर गुरुजी उनके साथ उनकी कलम का ऊपरी हिस्सा पकड़कर लिखवाते हैं और समझाते रहते हैं। यहाँ उसी प्रकार हमको प्रौढ़ों के साथ करना पड़ता है। जब हमने उन्हें सहकारी खेती के काम का तरीका समझाकर उसको चलाने के लिए उनको ही सौंपा तो जितना करने का उनका अभ्यास था उतना तो उन्होंने ठीक से किया लेकिन जितनी नयी बात थी उसमें 'घिचिर पिचिर' करने लगे।

गुरु का गुरुत्व इसी में है कि वह समझे कि कितनी देर बच्चों को अनाप-शनाप लकीर खींचने दे और कब कलम को अपने हाथ में पकड़कर बच्चे के हाथ को दोयम स्थिति में रखकर पीछे से खुद लिखे। उसी तरह कार्यकर्ता को भी इस बात में माहिर होना पड़ेगा कि वे कब किस काम को कितनी देर जनाधार पर छोड़कर बरबाद होने दे और कब उसे अपने अभिक्रम में लेकर सँभाल ले। इसका कोई फार्मूला नहीं हो सकता कार्यकर्ता का विवेक ही इसका आखिरी गणित है।

गाँव के जीवनहीन किशोर

हम लोग पहले से ही देख रहे थे कि इस गाँव के प्रौढ़ों तथा बूढ़ों की दिलचस्पी तो गाँव की तरक्की के लिए है; लेकिन युवक तथा किशोरों में किसी तरह का आवेग नहीं है। वे अपने घरों में अत्यन्त काहिली की जिन्दगी बसर करते रहते हैं। शायद यह स्थिति करीब-करीब सारे देश की है। श्रम विमुखता के कारण खेती-गृहस्थी में दिलचस्पी नहीं होने से वे घर का काम नहीं देखते हैं। नौजवानों के मन में नौकरी एकमात्र भविष्य है। ऐसी मान्यता होने से जब नौकरी नहीं मिलती तो जीवन बिलकुल व्यर्थ है ऐसा ही लगने लगता है। ऐसी निराशा की स्थिति में आज के नौजवान या तो उद्दण्ड होकर समाज में उत्पात मचाते रहते हैं या घर पर बैठकर अत्यन्त काहिली भरा निष्क्रिय जीवन बिताते रहते हैं। रचनात्मक पुरुषार्थ के प्रति उनकी रुचि नहीं हो पाती।

जिस देश का युवक पुरुषार्थहीन हो जाता है, वह देश उसी तरह से विफल हो जाता है जिस तरह किसी फौज के हथियारों में जंग लग जाने से वह असफल होती है। क्योंकि किसी भी समाज की प्रगति के उपादान समाज के तरुण ही होते हैं। शुरू से ही मेरे मन में युवकों की पुरुषार्थहीनता खलती थी। मैं इस तत्त्व को युवकों तथा प्रौढ़ों के सामने रखता भी था।

पिछली गरमी की छुट्टियों में इस गाँव के जो लड़के हाईस्कूल में पढ़ते हैं उन्होंने एक बार हमारे साथ खेती में जाना भी शुरू किया था लेकिन उनमें प्राण संचार का कोई लक्षण दिखाई नहीं दे रहा था। जब मैं गाँव के बीच में रहने लगा तो वे मेरी आँख बचाने की कोशिश करते थे लेकिन मैं उनको बुला-बुलाकर बातें करता था और कुछ करने को कहता था। स्वामी विवेकानन्द बंगाल के नौजवानों को कहा करते थे कि वे अपने घरों के चबूतरे पर बैठे न रहें, कुछ करें और कुछ न मिले, तो लाठी लेकर एक दूसरे का सिर फोड़ें, लेकिन बैठे न रहें। यह बात मैं उनसे कहा करता था और सोचता था कि कौन-सा कार्यक्रम उठाया जाय जिसमें इनको दिलचस्पी पैदा हो।

किशोर-सम्पर्क का आधार : नाटक

युवकों को बटोरने के लिए मैं हमेशा नाटक खेलने का आयोजन करता हूँ। पन्द्रह दिन के बाद दीवाली का अवसर था। उस अवसर पर युवकों को बटोर कर नाटक का अनुष्ठान किया गया। नाटक की प्रस्तुति के सिलसिले में नौजवानों से अच्छा सम्पर्क हुआ। आज गाँव के नौजवानों में कुछ करने की हलचल दिखाई देती है और वे थोड़ा थोड़ा करने भी लगे हैं। अभी प्रश्न यह है कि इनकी दिलचस्पी और पुरुषार्थ बढ़ाया कैसे जाय ? कोई प्रशस्त मार्ग तो नहीं निकलेगा।

लेकिन, तात्कालिक प्रसगों पर उन्हें लगाते रहने से धीरे धीरे सामाजिक काय की ओर प्रेरित किया जा सकेगा। यह काय अत्यन्त कठिन है क्योकि नतृत्व की योग्यता के नौजवान गाँव में रह ही नहीं जाते। वर्तमान शिक्षा में यह इलाका बहुत पिछडा हुआ है। इसलिए *कोई जरा-सा कुछ पास कर जाता है तो तुरन्त नौकरी* मिल जाती है। दूसरी नौकरी से जो छूट जाते हैं उन्हें सर्वोदय में नौकरी मिल जाती हैं। उससे भी जो छूटे रहते है वे ही गाँव में रहते हैं। नौजवानों को बटोरकर केवल समाज सेवा के योग्य बनाना ही नहीं, बल्कि उन्हें अपने परिवार की सेवा के योग्य बनाना भी नयी तालीम के लिए अत्यन्त कठिन चुनौती है।

सहकारी भावना का बीजारोपण

इन तमाम कार्यक्रमों के साथ-साथ ग्राम भारती का विचार भी लोगो को बताना शुरू किया। सब प्रथम मैंने भैंस चराने के काम पर हमला किया। मैंने उनसे कहा कि क्या बात है कि हरेक भैंस पर एक लडका बैठा रहता है। क्यों नही सामूहिक रूप में भैंस चरायी जाय! और, साथ-साथ लडके पढें। इसी तरह सामूहिक खेती के लिए भी मैं उनसे कहा करता था कि लडके हमारे पास आ जायें तो इतनी खेती हम लडको से कराकर बडों को दूसर काम के लिए खाली कर सकते हैं। साथ-ही-साथ उसके समवाय म किस तरह पूरी तालीम हो सकती है, यह भी कहता था। हम लोग बच्चों को पढायेंगे और आमदनी भी करा देंगे, यह सुनकर एक दिन मजदूरों के एक टोले के लोग हमारे पास आये और उन्होंने हमसे आग्रह-पूवक कहा कि हम उनके टोले के बच्चों को अपने हाथ में लें।

इस प्रसग में समग्र नयी तालीम के सेवक को शिक्षा के सम्बन्ध में देश की आम मान्यता को सामन रखना होगा। यद्यपि स्कूलों की माँग दिन-ब दिन तेजी से बढ रही है, लेकिन माँग शिक्षा की नहीं है, बल्कि नौकरी के लिए लेबिल प्राप्त करने की है। अत शिक्षा का मतलब नागरिक को सर्वांगीण तालीम से है, यह तो व मानने ही नहीं, बल्कि बच्चा का जीवन शिक्षण आवश्यक है, यह भी नहीं मानन। व मानत है कि बिना पढे कह सुनकर या दे दिलाकर सर्टिफिकेट मिल जाय तो ज्यादा अच्छा है।

नयी तालीम की असफलता का रहस्य

यही कारण है कि बावजूद इसके कि राष्ट्रपति से लेकर सभी नेता और जनता को मौजूदा शिक्षा-प्रणाली से असन्तोष रहने पर भी यह प्रणाली चल रही है, और कांग्रेस तथा सरकार की मान्यता तथा देश के अनेक निष्ठावान सेवकों द्वारा सातत्य के साथ नयी तालीम की सेवा के बावजूद वह देश में यशस्वी नहीं हो रही है, क्योंकि नयी तालीम के सन्दर्भ में सोचनेवाले नेता और कार्यकर्ता के मानस में भी तालीम का अर्थ केवल बच्चों की ही शिक्षा है और बुनियादी शिक्षा से निकलकर अपने बच्चे को जब नौकरी नहीं मिलती तो उनके मन में भी असन्तोष होता है। क्योंकि आखिर हम लोग भी इसी समाज के सदस्य हैं और बुद्धि से चाहे जो विचार करें, संस्कार तो वही हैं, जो आम जनता के हैं।

अगर हमें इस परिस्थिति से नयी तालीम की ओर जाना है तो वही से चलना शुरू करना होगा, जहाँ देश *की जनता बैठी हुई है। यात्रा का प्रारम्भ कूदकर आगे* के कदम से नहीं हो सकता। दिल्ली के निवासी को अगर कलकत्ता जाना होगा तो उसे अपने घर से ही चलना होगा और काफी दूर तक दिल्ली की सडको से ही गुजरना होगा।

अत जब कभी तालीम के बारे में हम समझाते थे कि गाँव भर के सारे काम तालीम के माध्यम से होने चाहिएँ तो इसी बात को बार बार रखते हैं और समग्र-नयी तालीम के विचार का प्रचार हमेशा करते रहते हैं। ग्रामभारती की परिकल्पना को समझाते समय यह एक ग्राम विश्वविद्यालय का रूप है, ऐसा समझाता हूँ। *ग्राम विश्वविद्यालय से यह मतलब नहीं है कि* हम गाँव के अन्दर किसी विश्वविद्यालय की स्थापना करना चाहते हैं, बल्कि गाँव को ही विश्वविद्यालय में परिणत करना चाहते हैं।● (अपूर्ण)

पेट भर अन्न,

पीठ भर वस्त्र का सवाल

•

रामभूर्ति

१–प्रश्न–खाने-पीने पहनने और रहने की समस्या इतनी कठिन हो जायगी यह बात कभी कल्पना म भी नहीं आती थी। पिछली लडाई के समय कई बार अनाज कपड तथा दूसरी चीजो के लिए बहुत तकलीफ उठानी पडी थी और बहुत ऊचे दाम देकर चोर बाजार से चीज खरीदनी पडी थीं लेकिन हम यह नही सोचते थ कि अपनी सरकार बनन के इतन दिनो बाद भी बाजार तो सामान से भरा रहगा लेकिन जब हम खरीदन जायग तो रुपय का नोट देन पर दुकानवाला बडा एहसान करेगा कि एक किलो गहूँ लापरवाही के साथ तौल देगा। कुछ समझ म नहीं आता कि गहूँ वही हमारा पेट वही बाजार वही और सरकारी नोट भी वही तो इन चारो का मेल क्यो नहीं मिल पाता? क्यो आज ऐसा सकट पैदा हो गया ह ?

उत्तर–सकट बेशक बहुत बड़ा है। दूध घी सब्जी और फल की कौन कहे करोड़ों करोड़ लोगों के लिए दोनों वक्त किसी तरह पेट भर लेना या बच्चों को किसी खुशी के मौके पर एक नया कुर्ता बनवाना मुश्किल हो रहा है। आमदनी बढ़ती नहीं महँगाई बढ़ती जाती है और लोग दिनोंदिन बेसहारा होते चले जा रहे हैं। कई जरूरी चीजों के दाम तो इतने बढ़ गये हैं कि रुपये की कीमत पन्द्रह बीस पैसे की ही रह गयी है। ऐसी हालत में, सोचिए, जिन लोगों की मासिक आमदनी पच्चीस रुपये भी नहीं है—और ऐसे लोग सौ में ६० हैं—वे कैसे खाते होंगे, कैसे पहनते होंगे? एस करोड़ों लोग हैं, जिनकी कमाई महीने में पन्द्रह रुपये भी नहीं है, उनका क्या हाल होगा? सकट जितना बड़ा है, उतना ही पेचीदा भी है। क्यों है या नहीं?

२–प्रश्न–ह क्यो नहीं? कमाई कम ह यह अलग सवाल ह लेकिन इस वक्त बाजार का यह हाल क्यो ह? और यह भी समझ लीजिए कि सामान महगा मिल रहा है यह उन चोटो म से जो गाहक पर पड रही हैं केवल एक चोट ह दूसरी चोट ह खान-पीने की प्राय हर चीज म मिलावट और तीसरी चोट यह ह कि दुकानदार इस तरह तौलता है कि शायद ही कभी खरीदी हुई कोई चीज तौल म खरी उतरती हो। तराजू के पलड़े के नीचे चुम्बक रखकर या डडी म पारा डालकर तराजू को एक तरफ झुका लेना मलाई में सोख्ता डाल के मसाले म घोड की लीद या चावल म ककड मिला देना आदि अनक एक-से-एक भ्रष्ट काम बाजार म हो रह ह और सब मिलाकर ग्राहक को कितना नुकसान उठाना पड रहा ह इसका हिसाब लगाना मुश्किल है।

एक तरफ बाजार का यह हाल है दूसरी ओर सरकारी दफ्तर रेल और नगरपालिका म कोई काम बिना घूस के नही होता। जब बाजार और सरकार के लोग आदमी की हर मुसीबत को अपना मौका बनान पर

उतारू हो जायें तो सोचने की बात है कि सामान्य आदमी इन जबरदस्त चोटों के मुकाबले कैसे टिक सकेगा ?

उत्तर—बात बिलकुल सही है। आप जिन मुसीबतों का बयान कर रहे हैं उनसे कौन इनकार कर सकता है ? इस समय देश का जो हाल है वही कुछ दिनों तक और बना रहा तो क्या होगा, कहना मुश्किल है।

३-प्रश्न—मैं देख रहा हूँ कि गाँव में कितने ही गरीब अपनी जमीन, गहने, गाय,बैल, बरतन आदि जो भी उनके पास है उसे बेचने या गिरवी रखने को विवश हो रहे हैं। क्या करें, किसी तरह अपने और अपने बाल बच्चों का पेट तो पालना ही है। इस महँगाई में महाजन और बड़े किसान की बन आयी है। दूसरी ओर यह भी हो रहा है कि जो लोग पहुँच और पैसेवाले हैं वे अपने घर का अनाज बेच रहे हैं या इस लालच में छिपाकर रख रहे हैं कि बाजार-भाव इससे भी ऊँचा जायेगा तब बेचेंगे, और तब तक सस्ते गल्ले की दुकान से अनाज खरीदकर खा रहे हैं या मजदूरी में दे रहे हैं। बहुत कम सरकारी अनाज सचमुच गरीबों के पल्ले पड़ता है। बाकी अनाज किसी-न-किसी तरह ब्लैक में पहुँच जाता है, और बाजार में महँगे दाम पर बिकता है। मजदूरों ने अपनी मजदूरी बढ़ा दी है; न बढ़ायें तो बेचारों का गुजर कैसे हो ? लेकिन मामूली किसान की स्थिति यह है कि उपज उसकी बढ़ती नहीं, तो वह अधिक मजदूरी या बढ़े हुए बाजार-भाव का बोझ कैसे बरदाश्त करे ? उसके पास बेचने को है क्या ? गाँव में ऐसे कितने लोग हैं, जिनके पास बेचने के लिए फाजिल अनाज है ? ऐसे तमाम लोग कर्ज में पड़ते जा रहे हैं। एक ओर मुसीबत और मुफलिसी, दूसरी ओर मुनाफाखोरी, चोरबाजारी और घूसखोरी— ऐसा लगता है, जैसे हर आदमी हर वक्त इसी ताक में है कि कब किसका क्या हड़प लें। क्या शहर और क्या गाँव, हर जगह छोटी कमाई के लोगों की मौत है। उनके घर में एक समय भी चूल्हा जलना मुश्किल हो गया है, लेकिन यह तो बताइए कि आखिर बाजार में यह हालत क्यों पैदा हो गयी है ?

उत्तर—यह प्रश्न कठिन है। यों तो जब देश में ऐसी सरकार बनी है, जिसने जनता के कल्याण का जिम्मा अपने ऊपर लिया है, और समाज के जीवन के हर पहलू को अपने हाथ में रखने के लिए उसने एक-से-एक कानून बनाये हैं; और बनाती ही चली जा रही है, और बराबर जनता की भलाई के नाम में नये-नये विभाग खोलती जा रही है तो जाहिर है कि अन्तिम जिम्मेदारी उसी की है; लेकिन आज बाजार में जो कुछ हो रहा है उसके लिए सरकार सारा दोष दो के मत्थे मढ़ती है—व्यापारी और किसान। सरकार कहती है कि व्यापारी मुनाफा-खोरी, चोरबाजारी करता है; उसके पास स्टाक है; लेकिन लालच के कारण सही मूल्य पर बेचता नहीं। किसान के लिए कहती है कि उसने अनाज घर में छिपाकर रख लिया है, बाजार में नहीं लाता; सोचता है कि बाजार-भाव और चढ़ेगा तो बेचेंगे। इस तरह किसान और व्यापारी दोनों ने मौका देखकर अनाज छिपा लिया है और मुनाफाखोरी में जुटे हुए हैं। यही सोचकर सरकार ने कानून बनाया है कि हर व्यापारी अपना स्टाक घोषित करे, और कोई किसान निर्धारित मात्रा से अधिक अनाज घर में न रखे। सरकार सोचती है कि कानून के डर से छिपा हुआ अनाज बाहर आ जायेगा।

४-प्रश्न और व्यापारी का क्या कहना है ?

उत्तर—व्यापारी सारा दोष सरकार के मत्थे मढ़ता है। वह कहता है—"हम क्या करें ? हमारे पास अनाज कहाँ है ? बाजार में माल नहीं आता तो हम क्या बेचें ? किसान अपना अनाज दबाकर रख ले, और सरकार अनाज को आजादी से एक जगह से दूसरी जगह आने-जाने न दे, बाजार को तरह-तरह के कायदे-कानूनों और कंट्रोलों से बाँध दे तो वश क्या है ? हम जिस भाव पर माल पायेंगे उस हिसाब से बेचेंगे। दूसरा हम कर ही क्या सकते हैं ?"

५-प्रश्न—और किसान ?

उत्तर—किसान संगठित नहीं है; उसकी कोई आवाज नहीं है, लेकिन उसकी जो स्थिति है वह समझी जा सकती है। यह ठीक है कि जो किसान मौके से फायदा उठा सकता है वह उठा रहा है।

बड़ा किसान बेशक पैसा बना रहा है। वह सोचता है कि जब सरकार के अधिकारी और बाजार के व्यापारी जेब भर रहे हैं, तो वह ही क्यों चूके? उसे कपड़े, मिट्टी के तेल, नमक, मसाले, गुड़, चीनी, ईंट, सीमेंट, जूता, छाता, बच्चों की कापी किताब आदि के लिए अधिक पैसा देना पड़ता है; बेटी के ब्याह में तिलक-दहेज का रेट बढ़ गया है, डाक्टर की दवा का दाम अधिक हो गया है और तहसील कचहरी का आदमी अब पहले से ज्यादा घूस *माँगता है तो वह इन सबके लिए ज्यादा पैसा* कहाँ से लाये? जाहिर है कि उसके पास गुड़, अनाज आदि जो कुछ है उसे वह अधिक-से अधिक दाम पर बेचने की कोशिश करता है।

ये हैं तीनों की तीन बातें। हर एक में कुछ *सचाई तो है ही।*

६–प्रश्न–सचाई तो है, लेकिन कमर तो ग्राहक की टूट रही है। एक बात मैं और कहूँगा। यह सोचना गलत है कि गाँव में आमतौर पर लोग मुनाफा कमा रहे हैं। मुनाफा कमानेवालों की सख्या बहुत कम है। जो लोग कोआपरेटिव बैंक से कर्ज ले सकते हैं या जिनका काम घर की पूँजी और घर के अनाज से चल जाता है वे अपना काम चला लेते हैं और अनाज रोक लेते हैं लेकिन ज्यादा लोग ऐसे ही हैं, जिनको खाने भर को भी नहीं अँटता। अधिकांश लोग फसल के समय रुपये के लिए विवश होकर अनाज सस्ते दाम पर व्यापारी के हाथ बेच देते हैं और बाद को बाजार से महँगे दाम पर खरीदकर खाते हैं। इस महँगाई में कहीं-कहीं यह हो रहा है कि अगर धान का चालू बाजार भाव २२ रुपये मन है तो व्यापारी इसी समय अगली फसल के लिए किसान को १० रुपये मन के हिसाब से पेशगी दे रहा है। क्या करे, छोटा किसान? मजबूर होकर रुपया इस वादे के साथ ले रहा है कि फसल पर धान १०रुपये मन पर देगा बाजार भाव चाहे जो हो। इसलिए सब मिलाकर गाँव के अधिकांश लोगों की ऐसी ही हालत है कि उन्हें बाजार के शोषण से बचाने की जरूरत है। खैर, यह तो हुई सरकार, व्यापारी और किसान की अपनी अपनी बात। इसका फैसला कैसे होगा कि किसकी बात कितनी सही है?

उत्तर इन दिनों अखबार बाजार की खबरों और मूल्य बढ़ने की समस्या पर लेखों से भरे रहते हैं। जानकार लोग सरकार को तरह-तरह की सलाहें भी दे रहे हैं। सरकार की ओर से स्वराज्य के पिछले इतने वर्षों से जो रीति नीति चलायी जा रही है, वह सही है या नहीं, ऐसे बुनियादी सवाल उठाये जा रहे हैं, और इस बात की छानबीन हो रही है कि कहाँ, क्या बात बिगड़ी है कि आज को हालत पैदा हो गयी है। उन बातों को हमलोग भी समझने की कोशिश करें। जनता क्या चाहती है? वह चाहती है कि—

१–उसकी जरूरत की चीजें भरपूर मिलें,
२–जो चीज मिले, साफ, शुद्ध, सही तौल से मिले,
३ ऐसे दाम पर मिले, जिसे लोग आसानी से दे सकें,
४–लोगों के पास अपनी जरूरत की चीज लेने भर को काफी कमाई हो,
५–अन्त में कमाई के लिए उचित काम हो।

ये पाँच बातें हो जायँ तो सबको सुख मिले, आज ये बातें नहीं हैं तो लोग परेशान हैं। ये पाँचों बातें ऐसी हैं, जिनका सम्बन्ध सरकार की नीति, बाजार के सगठन, और जनता के सोचने और काम करने के तरीके से है। सकट कई कारणों से पैदा हो सकता है। सामान पूरी मात्रा में पैदा न हो, या अगर पैदा हो तो बेचनेवाला छिपाकर रख ले और ज्यादा दाम पर बेचे और खरीदनेवाला खरीद न सके, या खरीदनेवाले के पास पैसे की इतनी कमी हो कि वह सामान्य दाम देकर भी चीज खरीद न सके– इनमें से कोई कारण सकट पैदा कर सकता है। आज का सकट किस कारण से पैदा हुआ है, यह समझने की बात है। कारण समझने के बाद ही उसे दूर करने का उपाय समझ में आ सकता है।

बालमन्दिर

का

पुजारी कैसा हो ?

•

जुगतराम दवे

[कन्या-आश्रम, मढ़ी (गुजरात) की बाल वाड़ी पिछले पन्द्रह वर्षों से चल रही है। विश्वास है, उसकी प्रगति का इतिहास नयी बाल-सेविकाओं के लिए, अत्यन्त बोधप्रद सिद्ध होगा। —काशिनाथ *]*

जब सन् १९६४ के एक शुभ दिन अन्नपूर्णा बहन 'वेडीफलिया' के लिए रवाना हुई, तो उनके मन में सेवा का कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था। उन्होंने किसी प्रकार का कोई साधन भी इकट्ठा नहीं किया था। स्वाभाविक ही है कि उस दिन किसी निश्चित कार्यक्रम के अभाव में उनके पैर डगमगा रहे थे और उनका दिल धड़क रहा था।

लेकिन, जैसे ही वे फलिया पहुँचीं, उन्होंने अपने आस-पास एक करुणापूर्ण दृश्य पाया और उसी क्षण उनका कार्यक्रम बन गया। बस्ती में कुआँ था, पाँच-सात झोपड़ियाँ थीं, छोटे-छोटे बालक इधर-उधर खेल रहे थे, उनके शरीर और कपड़े गन्दे थे।

"आओ चलें, हम कुएँ पर चलकर नहा लें।"—वेडीफलिया के बालकों को ऐसे किसी कार्यक्रम के लिए कभी किसी ने बुलाया नहीं था। बुलानेवाली बहन नयी थीं, लेकिन वे उनकी 'चौधरी' बोली (स्थानीय बोली) में बोली थीं। बालक बिना समझाये ही समझ गये, बिना प्रस्तावना के ही वे भेद पा गये। १०-१२ बालकों ने आकर सेविका को घेर लिया।

पास की झोपड़ी की मालकिन नानी बहन कुएँ पर अपने घड़े से पानी भर रही थीं। अन्नपूर्णा बहन ने सहज ही दो घड़ी के लिए उनसे उनका घड़ा माँग लिया और उन्होंने भी उतनी ही सहजता से घड़ा दे दिया। घड़ा ही नहीं दिया, बल्कि कुएँ से खींचकर पानी भरा घड़ा दिया।

पहले बालकों के कपड़े उन्होंने धोये। नंगधड़ंग बच्चे खुद भी देख-देखकर धोने लग गये। बिना किसी तैयारी के ही कार्यक्रम शुरू हो गया था, इसलिए साबुन, मुँगरी का सवाल ही नहीं था? कपड़ों को पानी में छपछपाकर धोने से भी बहुत-सा काला मैल निकल गया। मैल भरा काला पानी निकलते देखकर बच्चों को भी मजा आने लगा। वे उत्साहित हो-होकर अपने कपड़ों को 'पछीट' रहे थे। धुले हुए कपड़ों को सबने 'बाड़' पर फैला दिया।

इसी तरह फिर नहाने का काम शुरू हुआ। सेविका ने सबको मल-मलकर नहलाया। घड़ेवाली बहन भी बिना बुलाये ही बाल-सेवा के इस काम में जुट गयीं और वह भी बच्चों को मल-मलकर नहलाने लगीं।

नहा चुकने के बाद सब बालक उन भली पड़ोसिन के चबूतरे पर ही इकट्ठा हुए। नानी बहन ने झटपट झाड़ू लेकर चबूतरा झाड़ दिया। दो-चार चटाइयाँ भी बिछा दीं।

इस तरह नानी बहन का चबूतरा अन्नपूर्णा बहन को बालवाड़ी में बदल गया। न कुछ कहना पड़ा, न अर्जी देनी पड़ी। किराये की बात पूछना तो उन भली

बहन का दिल दुखाने-जैसी बात थी। सब कुछ सहज भाव से हो गया।

'परवालों को बच्चों की इस धमाचौकड़ी से दिक्कत तो होती ही होगी।'—इस प्रकार का संकोच अन्नपूर्णा बहन के मन में भी सहज ही रहा करता था, लेकिन गृहिणी का व्यवहार कुछ और ही तरह का चल रहा था। उन्होंने धीरे धीरे छोलाई लिपाई करके चबूतरे को एक नया रूप दे दिया था। गृहस्वामी नानू भाई ने भी अपनी धर्मपत्नी के मन की बात बिना कहे समझ ली। वे बैलगाड़ी जोतकर गाँव की हद पर चले गये और वहाँ से छोलाई लिपाई के लायक लाल मिट्टी भर लाये थे। नदी से रेत लाकर उन्होंने आँगन में फैला दी थी।

इस तरह बालवाड़ी रोज चलने लगी। स्वाभाविक ही था कि जैसे-जैसे दिन बीतते गये उसका विस्तार होता गया। साधन-सामग्री बढ़ती गयी। बालवाड़ी की अपनी एक बाल्टी रस्सी हो गयी। साबुन, कंघी, तेल की कटोरियाँ, मुँह देखने के लिए आईने आदि चीजें इकट्ठी हो गयीं। झाड़ने बुहारने के लिए छोटी-छोटी झाड़ुओं और पानी भरने के लिए छोटी-छोटी मटकियों के ढेर लगने लगे। इन सबको सँभालकर रखने के लिए नानू भाई ने अपनी कोठरी में अरहर के डंठलों की एक दीवार खड़ी करके स्वतंत्र व्यवस्था कर दी। धीरे-धीरे इस भले दम्पति ने अपने घर के दो हिस्से करके एक में अपनी गृहस्थी का सारा सामान सजा लिया और दूसरा हिस्सा बालवाड़ी के लिए सौंप दिया। उन्हें इस तरह तंगी में रहते देखकर अन्नपूर्णा बहन को संकोच होने लगा था, किन्तु नानू भाई और नानी बहन उनकी कोई बात सुनने को तैयार न थे।

रोज रोज नियमित रूप से चलनेवाली बालवाड़ी का असर पूरी बस्ती पर पड़ रहा था। बस्ती में प्रसंगानुसार ग्राम-सेवा के दूसरे कार्यक्रम भी होते रहते थे। शाम को समय समय पर प्रार्थना और प्रवचन होने लगे। धीरे धीरे चरखे भी चलने लगे। कुछ नौजवान आश्रम में भरती होकर बुनने का काम भी सीखने लगे। यह सारी हवा बालवाड़ी के विकास के लिए बहुत ही अनुकूल थी।

रामसिंह और नसरखान नाम के दो किसानों ने अपनी दो गुंठा जमीन देने की तैयारी दिखायी। बस्ती के लोगों ने कुछ पैसे इकट्ठा किया, बल्लियाँ लाये और बालवाड़ी का मकान बनाने का निश्चय किया। आश्रम से पास खादी-भाव के मुनाफे के करीब चार-पाँच सौ रुपये इकट्ठा हुए थे। आश्रम ने उस रुपये को बालवाड़ी के लिए दे दिया। गाँववालों ने भी मेहनत की और उनकी बैलगाड़ियों ने भी इस सेवा-यज्ञ में योग दिया।

इस तरह १९४६ के अप्रैल महीने में नानी बहन के चबूतरे पर शुरू हुई बालवाड़ी सन् १९५० के मई महीने में निज के छोटे-से स्वतंत्र घर में लगने लगी।

हमारे एक कलाकार मित्र ने बडोफलिया की हमारी लाडली बालवाड़ी की क्रमिक प्रगति का तीन सुन्दर चित्रों-द्वारा चित्रित किया है, जिस प्रकार उमंगवाले माता-पिता अपने बालकों के क्रमिक विकास के फोटो सँभालकर रखते हैं, उसी तरह हम भी अन्नपूर्णा बहन की बालवाड़ी के इन तीन क्रमिक चित्रों को बार-बार देखते हैं और देखकर खुश होते हैं।

ये चित्र हमारे लिए प्रेरणा के स्रोत-स्वरूप हैं। यही नहीं, बल्कि समूचे देश में नयी तालीम के विस्तार के लिए आशा के चिह्न-स्वरूप हैं। जो साथ, सहयोग और प्रेम अन्नपूर्णा बहन को मिला, वह देश के किसी भी कोने में, किसी भी बस्ती में और किसी भी मुहल्ले-टोले में उतनी ही सहजता के साथ बिना माँगे मिलेगा ही। बेडोफलिया के समान अत्यन्त दरिद्र बस्ती जिन साधनों का दान कर सकी और जितना श्रम-दान कर सकी, उतना तो देश का कोई भी टोला-मुहल्ला दे सकेगा।

अतएव, प्रभु कृपा से जिनके अन्तर में बाल-सेवा की अभिलाषा जागे उनसे हमारा निवेदन है कि कृपाकर कागज पर कार्यक्रम और आय-व्यय के अनुमान पत्रक बनाने न बैठिए, चन्दा उगाहने और सरकार-दरबार में अर्जियाँ देने में अपनी उमंगों को शिथिल न होने दीजिए बल्कि अन्नपूर्णा बहन की बालवाड़ी के तीन चित्र आपको भली भाँति सुझा रहे हैं कि आप अपनी उमंगों को किस दिशा में मोड़िए। ●

अनु०—काशिनाथ त्रिवेदी

एक अभिनव प्रयोग

लिसेस्टरशायर की शिक्षा-योजना

•

रुद्रभान

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होनेवाले नये-नये प्रयोगों से हमें नये अनुभव और प्रगति के लिए नयी दिशा प्राप्त होती है। जब हमारे पास प्रयोग और शोध की कोई अपनी परम्परा नहीं होती तो हमें औरों की सिर्फ नकल ही करना बाकी रह जाता है। स्वतंत्र प्रयोग और शोध के अभाव में, अपने देश के अनेक क्षेत्रों में मात्र औरों की नकल करते रहने की प्रवृत्ति जोरों पर है। चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र हो, आर्थिक क्षेत्र हो, शैक्षणिक क्षेत्र हो या सांस्कृतिक, हमने प्रायः अपने से आगे बढे हुए लोगों का अन्धानुकरण किया। जो हमसे आगे दीख पडते हैं उनकी तात्कालिक समस्याएँ क्या हैं और उनसे मुक्ति पाने के लिए वे क्या-क्या प्रयास कर रहे हैं, यह जानकारी हमारे लिए अनुकरण से कहीं अधिक मूल्यवान है। इस प्रकार की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें उन्नतिशील देशों में प्रचलित पद्धतियों का ही नहीं, बल्कि उनके विभिन्न प्रयोगों का विश्वसनीय परिचय प्राप्त करना चाहिए।

दुनिया के सभी प्रमुख देशों में शिक्षा सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये जा रहे हैं।

नीचे हम इंग्लैण्ड के शैक्षणिक क्षेत्र के एक ऐसे प्रयोग का विवरण दे रहे हैं, जो शिक्षा के पुनर्गठन की एक नयी ही दिशा की ओर इंगित करता है।

लिसेस्टरशायर-स्थित रोल्स्टन नाम का बच्चों का एक स्कूल। १० साल के बच्चों की एक कक्षा। कुछ बच्चे पानी और मोमबत्ती के साथ प्रयोग करने में तल्लीन हैं, बच्चों की दूसरी टोली बगल के ओसारे में हवा का वजन लेने में मशगूल है, दो बच्चे अलग सीढी पर गेंद से खेल रहे हैं। पुस्तकालय में ६ बच्चे बैठे हुए पुस्तकें पढ रहे हैं—वे वहाँ अपनी मर्जी से ही गये हैं। वहाँ किसी प्रकार की गडबडी नहीं है। बच्चे पुस्तक पढने में मगन हैं। बच्चों-द्वारा लिखा गया रजिस्टर साफ सुथरी हालत में है।

ओसारे से कुछ और दूरी पर एक टोली किसी रेफ्रीजरेटर के काम पर जुटी हुई है। एक और टोली रुपये-पैसे से वास्तविक लेन-देन करके दुकान चला रही है। पूरे स्कूल में मधुमक्खी के छत्ते-जैसा माहौल है। सब अपने-अपने कारोबार में तहेदिल से जुटे हैं। स्कूल के अध्यापक बच्चों की दिलचस्पी के कामों में शरीक हैं।

रोल्स्टन का स्कूल लिसेस्टरशायर की शिक्षा-योजना के अन्तर्गत चलाया जा रहा है, जिसकी कक्षाओं में न कहीं डेस्क की कतारें दिखाई देती हैं और न अलग-अलग विषयों की पढाई का समय-विभाजन चक्र।

यह शिक्षा-योजना सन् १९५७ में शुरू हुई। इस योजना के कारण बच्चों के प्राइमरी स्कूल से ऊपर के (इलेवन प्लस) स्कूल का बोझ उतर गया। इस शिक्षा-योजना को जारी करने का श्रेय वहाँ के शिक्षा-विभाग के जागरूक उच्चाधिकारी श्री स्टीवार्ट मेसन तथा उनके अन्य सहयोगियों को है। उन्होंने १९५७ में शिक्षा-सम्बन्धी इस नये प्रयोग को शुरू करने का साहस-भरा

कदम उठाया। इस शिक्षा योजना को जिन-जिन जिलों में आजमाने का निर्णय किया गया वहाँ के स्कूलों से परीक्षाओं की परिपाटी समाप्त कर दी गयी।

योजना के अनुसार वहाँ की प्राथमिक शाला के सभी बच्चों को बगैर परीक्षा के १० या ११ वर्ष की अवस्था में हाईस्कूल में दाखिल कर लेने की व्यवस्था हुई। हाईस्कूल से निकलने के बाद उसके आगे के उच्च विद्यालय में भी बच्चों को १४ वर्ष की उम्र तक पढ़ने की व्यवस्था की गयी। अब स्टीवार्ट मेसन १४ साल की सीमा को १६ तक की अवस्था तक आगे बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में कहना हो तो लिसेस्टरशायर की इस नवीन शिक्षा-योजना के अनुसार उस क्षेत्र के प्रत्येक बच्चे को 'तिमंजिली' तालीम हासिल करने का मौका मिलेगा। इस योजना के अन्तर्गत हाईस्कूलों को अत्यन्त महत्व का स्थान प्राप्त हो गया है; क्योंकि उनमें पहुँचकर बच्चों का ज्ञानार्जन काफी तीव्र गति से होने लगता है।

हाईस्कूल के आगे उच्चतर स्कूल हैं, जिनमें 'ग्रेमर स्कूल' से अधिक व्यापक विषयों का समावेश किया गया है। उच्चतर स्कूलों में संगीत-कला, हस्तोद्योग और इंजीनियरिंग के ऊँचे दर्जे के शिक्षण की व्यवस्था है। अपनी रुचि और पसन्द के अनुसार सीखने की सहूलियत होने के कारण हरेक विद्यार्थी अधिकाधिक उन्नति करता जाता है। क्रियाशीलन की विविधता के कारण अनायास ही उनकी उन्नति का रास्ता सुगम हो जाता है।

लिसेस्टरशायर के उच्चतर स्कूलों में 'लौंगस्लेड' का स्कूल हाल ही में शुरू हुआ है। इस स्कूल में वाद्य-संगीत (आरकेस्ट्रा) के शिक्षण की उत्तमोत्तम व्यवस्था है। इस स्कूल की वाद्य-संगीत की टोलियाँ आस-पास के क्षेत्रों का फर्माइशी दौरा तो करती ही हैं, उन्हें कभी-कभी नजदीक के दूसरे देशों में भी जाने का बुलावा आता है। लिसेस्टरशायर के स्कूल ने वाद्य-संगीत की सैकड़ों टोलियाँ तैयार की हैं।

उच्चतर स्कूलों की एकमात्र विशेषता वाद्य-संगीत तक सीमित है, ऐसी बात नहीं है। स्कूल की प्रत्येक प्रवृत्ति में बच्चे शानदार कामयाबी हासिल करते हैं।

लिसेस्टरशायर की शिक्षा-योजना की कामयाबी के पीछे, वहाँ के शिक्षा-निदेशक की अटूट लगन और प्रेरणा का हाथ तो है ही, इसके साथ-साथ वहाँ के शिक्षा-विभाग के अन्य अधिकारियों, सलाहकारों और शिक्षकों को भी इसकी सफलता का भरपूर श्रेय प्राप्त है।

लिसेस्टरशायर के शिक्षक अपने शिक्षा-अधिकारियों के हार्दिक सहयोग और पूरी स्वतन्त्रता के साथ काम करने की आजादी का बड़े फख्र के साथ जिक्र करते हैं। वहाँ के स्कूलों के लिए अच्छे अध्यापकों की कमी नहीं रहती, क्योंकि इस प्रकार की विकासोन्मुख शिक्षा-योजना के अन्तर्गत कार्य करने के लिए वे अच्छी तादाद में हमेशा तैयार मिलते हैं।

—अँग्रेजी साप्ताहिक 'ऑबज़र्वर' से
कैरोलिन निकोल्सन के लेख के आधार पर ●

रिक्शेवाला

•

जवाहिरलाल जैन

एक दिन एक बूढ़ा रिक्शेवाला मिल गया। मैं रिक्शे पर बैठ गया। उसके सिर और दाढ़ी के बाल बेतरतीब बढ़े हुए और बिलकुल सफेद थे। बदन पर दो मैले कपड़े और पैरों में टूटे जूते। चलते रिक्शे का संगीत भी कम अनाकर्षक नहीं था।

बात शुरू करने की गरज से मैंने पूछा—"बड़े मियाँ, जयपुर के रहनेवाले तो नहीं मालूम देते हो?"

उसने जरा नाराजी से कहा—"वाह! यह आपने क्या कहा? हमारी तो पीढ़ियाँ गुजर गयी यहाँ रहते-रहते। पहले तो फतहटीबे के तोपखाने में तोपची था। मैंने महाराजा माधोसिहजी का जमाना देखा है।"

वह कहता गया—"उस वक्त नौ रुपया महीना मिलता था। सिपाहियों की तनख्वाह तो तीन या चार रुपया महीना थी। उस जमाने में हम लोग इतने आराम में थे कि आज पाँच रुपए रोज में भी वह बात मुमकिन नहीं।"

"तो बड़े मियाँ, फिर नौकरी छोड़ क्यों दी?"

"बाबूजी, बस यही तो बात है। हमसे अपनी इज्जत नहीं बेची जाती। कप्तान ने हमारी मदद में एक नौसिखिए सिफारिशी को लगा दिया। हमने कहा कि हमारे पास तोप का जोखिम और जिम्मेदारी का काम है, हमें जिम्मेदार मददगार दीजिए। हवलदार ने कहा—"इसी को रखना होगा।" हमने कहा—"इसे नहीं रखेंगे।" इस्तीफा दे दिया। चार दफा कप्तान ने इस्तीफा फाड़कर फेंक दिया, पर मददगार को नहीं बदला। हम भी नौकरी छोड़कर अलग हो गये। फिर मुंसफी में चपरासी की नौकरी कर ली। वहाँ एक नये मुंसिफ साहब आये। उन्होंने हमसे घरेलू खिदमत लेनी चाही। हमने साफ कह दिया—"दफ्तर का काम जो चाहे लीजिए, घर का काम नहीं कर सकते। इस्तीफा देना पड़ा, दे दिया और हट गये।"

मैंने कहा—"बड़ी परेशानी में पड़े होगे।"

वह जोश से बोला—"अजी, परेशानी किस बात की थी। मेहनत करके खाने में कभी शर्म नहीं आयी। शर्म तो चोरी, बेईमानी, बदफेली में है। खुदा सबको रिज्क भेजता है, हमें भी भेजता है और भेजेगा। वे कप्तान और मुंसिफ तो कभी के खत्म हो गये। मैं अभी भी खुदा के फजल से मौजूद हूँ। ग्यारह साल से तो रिक्शा ही चलाता हूँ।"

मैंने कहा—"शाबाश मियाँ, आज के नौजवानों में यह हिम्मत और मजबूती नहीं है।"

उसने जवाब दिया—"आज की पीढ़ी तो बुझे दिलों और झूठों की है। पैसे और मतलब के पीछे ऐसे दीवाने हैं कि उन्हें अपनी आजादी और इज्जत को बेचने में देर नहीं लगती। मेहनत और पसीने की कमाई से घबराते हैं। छप्पर फाड़कर कहीं से पैसा आ जाय, इसी ताक में रहते हैं—इनसानियत और उसूल से कोसों दूर।"

मैंने कहा—"जो उसूल से दूर, वो रसूल से दूर।"

वह पुराने इजराइली पैगम्बरों की तरह जोश से बोलता गया—"लेकिन, खुदा इन पैसा-परस्तों और मतलब-परस्तों को कभी माफ नहीं करेगा। तूफान आ रहा है, वह आयेगा और ये लोग गारत हो जायेंगे। अफसोस इतना ही होगा कि बुरों के साथ-साथ भले भी बरबाद हो जायेंगे, बुरों का साथ देने का, उनसे अलग न होने का, उनकी मुखालिफत न करने का नतीजा तो अच्छों को भी भोगना ही पड़ता है।" ●

—साभार 'ग्रामराज' से

बच्चा
झूठ बोलना
कैसे सीखता है ?

•

शिरीष

बच्चे का हर काम बड़ों की नकल पर होता है। वह बड़ों को जैसे करते देखता है, वैसा ही करता है। जैसा कहते सुनता है, वैसा ही कहने की कोशिश करता है। अगर उसे मालूम हो जाय कि अमुक क्रिया से उसका कोई स्वजन खुश होता है तो वह बार-बार उसी क्रिया को दुहराता है। इस प्रकार दूसरों को प्रसन्न करके वह स्वयं प्रसन्न होना चाहता है।

बच्चा स्नेह का कितना भूखा होता है, कहा नहीं जा सकता। वह स्वयं हमेशा प्रसन्न रहना चाहता है और किसी को अप्रसन्न देखना बरदाश्त नहीं कर पाता। इसीलिए माता पिता या बड़ों द्वारा आनन्द प्राप्ति के लिए की जानेवाली अपनी प्रक्रियाओं में वह किसी प्रकार की रुकावट सह नहीं पाता।

होता यह है कि माता पिता या बड़े बूढ़ों के काम में जब बच्चे-द्वारा किसी प्रकार की रुकावट आती है या गड़बड़ी पैदा होती है तो वे उसे सह नहीं पाते और झुंझला उठते हैं। कभी-कभी डाँट बैठते हैं और अगर आवेश आ गया तो उसके कान भी पकड़ लेते हैं या दो चार चपत भी लगा बैठते हैं। निरीह बच्चा अपनी गलती समझ नहीं पाता और अन्दर-ही अन्दर मन मसोसकर रह जाता है।

बच्चे के मन में अपनी स्वाभाविक प्रक्रियाओं के प्रति असीम ममता होती है, इसलिए वह उन्हें करता है। लेकिन, वह परिवार के उन सदस्यों से, जिन्हें बच्चे के वे काम पसन्द नहीं होते, [डर]ने लगता है। किसी किस्म की गड़बड़ी होने पर जब बड़े उससे पूछते हैं तो वह इनकार कर बैठता है। इसे ही लोग बच्चे का झूठ बोलना कहते हैं।

लेकिन, यह झूठ कैसे हुआ? शुरू-शुरू में बच्चा अबोध होता है। वह झूठ और सच का अन्तर नहीं जानता। वह तो अपनी समझ से वही कहता है, जो उसे कहना चाहिए यानी सच ही बोलता है। झूठ और सच का आरोप तो हम-आप करते हैं। झूठ और सच की परख के लिए यह जरूरी नहीं कि बच्चा क्या कहता है, बल्कि यह जानना जरूरी है कि वह जो कुछ कह रहा है, उसके कहने का कारण क्या है। बिना कारण की तह में गये बच्चे की किसी बात को झूठ या सच की संज्ञा देना उसके साथ सरासर अन्याय है।

बच्चा अत्यन्त कल्पनाशील होता है। वह कल्पना और वास्तविकता में फर्क नहीं जानता। वह जैसा सोचता है, बयान करने लग जाता है। यही वजह है कि वह काल्पनिक कहानियों के पात्रों को भी सही मानकर उन पर अक्षरशः विश्वास करता है। उन कहानियों में रस लेता है। परियों की कहानियाँ सुनने के चक्कर में तो वह खाना पीना तक भूल जाता है।

बच्चा बड़ों के काम की नकल को नकल नहीं, असल समझता है और खूब रस लेता है। एक बार मेरी पाँच वर्ष की बेटी नीरजा गुड़िया से खेल रही थी। उसने गुड़िया के एक हाथ में आलू थमा दिया और दूसरे हाथ में चाकू। मैं उसका यह खेल सोने का बहाना करके बड़े गौर से देख रहा था। थोड़ी ही देर में वह चीं चीं कर उठी। 'अब क्या होगा? गुड़िया की उँगली कट गयी, खून बह रहा है।''—यह कहती हुई वह उठी और अपने भाई का रूमाल उठा लायी। उसे पानी में भिगोया और गुड़िया की उँगली में लपेट कर बोल उठी—'ठीक हो गया। रोना नहीं, अब नहीं दुखेगा। अच्छा, सो जा।''

थोड़ी देर बाद रमाकान्त वहीं से आया। अपना रूमाल न पाकर वह झुँझला उठा। आगे बढ़कर उसने देखा कि उसका रूमाल पानी में भिगोकर गुड़िया की उंगली में लपेटा हुआ है। उसने आव देखा न ताव, चटाख से एक चपत अपनी बहन के गाल पर जड़ दिया। खेल की खुशी में डूबी हुई नीरजा कांप उठी। उसकी समझ में कुछ नहीं आया।

आगे चलकर हमने देखा कि प्रतिक्रिया स्वरूप रमाकान्त से नीरजा घृणा करने लगी और उसके प्रश्नों का उलटा-पुलटा उत्तर देने लगी। उसकी चीजें जान बूझकर इधर-उधर करने लगी। रमाकान्त के प्रति उसके मन में ईर्ष्या जाग गयी और उसके प्रति हम लोगों का कोई भी मृदुल व्यवहार उसे खटकने लगा। आगे चलकर उस पर झूठ मूठ के दोषारोप करना उसके लिए मामूली बात हो गयी। बड़ी कठिनाई से मैं भाई के प्रति उसके मन की जमी हुई मैल को निकाल पाया। इस प्रकार बच्चों के किसी काम में बिना सोचे विचारे बाधा डालने से वे रुष्ट हो जाते हैं और वही काम लुक छिपकर करते हैं और पूछने पर इनकार कर जाते हैं।

सहानुभूति का भूखा बालक अपने को किसी से छोटा नहीं समझता। वह सबसे—चाहे माँ हो या पिता—समानता का व्यवहार चाहता है। बच्चे की इस स्वाभाविक माँग की उपेक्षा कभी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि बच्चे को सहानुभूति और स्नेह देकर तथा समानता का व्यवहार करके ही उसके चरित्र की नींवें मजबूत की जा सकती है, उसके मन म सत्य के प्रति निष्ठा और असत्य के प्रति घृणा पैदा की जा सकती है। बच्चा उसी की सुनता है, उसी का कहना करता है जो उसके प्रति आदर का भाव रखता है, जो उससे सच्चे हृदय से प्रेम करता है। कभी कभी कहानियों के कल्पित पात्र भी बच्चे के चरित्र-निर्माण की आधार-शिला बन जाते हैं। गुड़िया और परी दीदी-जैसे कल्पित पात्रों के माध्यम से बच्चे की अनेक बुरी आदतें माँ-बाप सुधार सकते हैं।

मेरी छोटी बहन सुरेखा सबेरे बहुत देर स उठती थी। माँ जब उठाने जातीं तो वह रोने लगती। पूछने पर झूठमूठ का बहाना बनाती—सिर में दर्द है पेट दुख रहा है आदि-आदि। माँ को एक तरकीब सूझ गयी। सुरेखा को सन्तरा अत्यन्त प्रिय था। माँ ने एक दिन शाम को सुरेखा से कहा—"बेटा, आज परी दीदी कह गयी हैं कि अगर सुरेखा सबेरे उठकर नहीं रोयेगी तो मैं उसे एक सन्तरा दूँगी।"

"सच माँ? परी दीदी ने ऐसा कहा है?"—सुरेखा ने पूछा।

दूसरे दिन माँ ने मसहरी पर रात को ही एक सन्तरा रख दिया। सुरेखा रोज से तड़के उठी और बोल उठी—"माँ परी दीदी ने सन्तरा रखा है?"

माँ ने उसे सन्तरा दे दिया। वह मगन हो उठी। यही क्रम कुछ दिनों तक चलता रहा और सुरेखा की सबेरे उठकर रोने की और झूठ मूठ के बहाने बनाने की बुरी आदत हमशा-हमेशा के लिए छूट गयी।

जिस तरह असफलता बड़ों के लिए विष के घूंट के समान होती है उसी तरह बच्चा भी असफलता की पीड़ा को नहीं सह पाता। अगर उसकी असफलता को लक्ष्य करके कोई हँस दे या उसका उपहास करे तो वह अपनी असफलता छिपाने का प्रयास करता है और यहीं से झूठ का श्रीगणेश होता है।

अपने प्रियजनों को असन्तुष्ट करना कोई पसन्द नहीं करता। बच्चा भी ऐसा ही करता है। जो लोग उसके प्रति विशेष ममता नहीं रखते, वह उनकी रचमात्र भी चिन्ता नहीं करता और हरेक बात निस्संकोच भाव से उनसे ज्यों-की-त्यों कह जाता है, क्योंकि उनके अप्रसन्न होने का उस पर कोई असर नहीं होता।

लेकिन, जो लोग उसे स्नेह और प्यार देते हैं, उन्हें वह किसी कीमत पर नाखुश करना नहीं चाहता, और यही कारण है कि असावधानी वश जब उससे कोई भूल हो जाती है, घर की कोई चीज टूट फूट जाती है तो वह अपने प्रियजन के पूछने पर छिपा जाता है या हमारे-आपके शब्दों में झूठ बोल जाता है।

लेकिन, अगर उसे इस बात का यकीन हो जाय कि उसका प्रियजन चाहे माँ हो, बाप हो या और कोई, उसके नुकसान से रंज नहीं होगा तो बच्चा कभी भी उससे झूठ नहीं बोलेगा।

इसलिए बच्चे में झूठ बोलने की आदत माँ बाप और परिवारवाले ही अपनी अज्ञानता वश डालते हैं। जब बच्चा कुछ बडा होता है तो पास-पडोस और संगी-साथियों का भी उस पर प्रभाव पडता है और वह तदनुरूप आचरण करने लगता हैं। इस प्रकार आप अगर चाहते हैं कि बच्चा झूठ न बोले तो आपको उसके साथ सदा समझदारी का व्यवहार करना होगा और उसके वातावरण के प्रति भी पूर्ण जागरूक रहना पडेगा।

कभी कभी माँ बाप का कडा व्यवहार भी बच्चे को झूठ बोलने के लिए विवश कर देता है। डाँट-फटकार से बचने के लिए और कोई रास्ता न देखकर वह झूठ बोल देता है। कभी कभी उसका झूठ जाहिर हो जाता है और माँ-बाप की ओर से उसे विशेष सजा मिलती है तो भविष्य में पूरी सजगता से काम लेता है और धीरे-धीरे झूठ गढने का आदी होने लगता है। इस तरह बच्चे को झूठ बोलने के लिए हम आप ही मजबूर करते हैं, नहीं तो बच्चा हरगिज-हरगिज झूठ को अपने पास नहीं फटकने देता।

इस सन्दर्भ में सेवाग्राम की एक घटना का जिक्र करना जरूरी समझता हूँ। बापूजी ने सेवाग्राम में बालशिक्षण का काम शुरू कराया था। बच्चों के बहुमुखी विकास का वहाँ पूरा पूरा ध्यान रखा जाता था। तालीमी संघ में उस समय प्रशिक्षण-केन्द्र भी चल रहा था। एक भाई अभी नये-नये आये थे। उनके हाथ में नीबू देखकर एक छोटे बच्चे ने, जो उनसे हिल मिल गया था माँग बैठा। उन्होंने हाथ ऊपर हवा में फिराकर और फुर्ती से नीबू को जेब में रखकर कहा— नीबू तो कौवा ले गया।' बच्चे ने एक बार पूछा–"कौवा कहाँ गया?'

"उधर गया"–उन्होंने बता दिया और उसे विश्वास हो गया। थोडी देर बाद वे भोजन करने गये। वह बच्चा उनके पास ही बैठा था। उन्होंने जेब से नीबू निकाला। बच्चे ने देख लिया। वह भोजन छोडकर उठ खडा हुआ और सीधे आर्यनायकमजी के पास जा पहुँचा– 'बाबा, प्रेम भाई तो झूठ बोलते हैं?"—और उसने सारी बात ज्यों-की त्यों बता दी।

भोजन के समय ही आर्यनायकमजी ने बाल-स्वभाव के बारे में थोडा समझाया और इसी विषय पर प्रशिक्षणार्थियों से कई दिनों तक लगातार चर्चा चलती रही। प्रेम भाई ने एक वक्त उपवास करके अपनी भूल का परिमार्जन किया था।

अगर इसी तरह की सावधानी हमारे अभिभावक भी बरतें तो बच्चों में झूठ बोलने की आदत कभी न पडे। संक्षेप में बच्चे को झूठ के महारोग से बचाने के लिए—

१ उसके साथ हमेशा हमेशा आदर और प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।

२ उसे अपनी योग्यता के अनुकूल किये गये कामों के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।

३ टूट-फूट या उससे होनेवाली सहज त्रुटियों के लिए डाँटना फटकारना नहीं चाहिए, उस पर रोष नहीं करना चाहिए, बल्कि प्यार से उसे सावधानी बरतने के लिए समझा देना काफी होता है क्योंकि अपनी भूल के लिए बच्चा स्वयं शर्मिन्दा होता है। उसे और शर्मिन्दा करना उसके साथ न्याय नहीं होगा।

४ आज्ञापालन में रुचि न दिखाने पर उसे डाँटना-फटकारना या मारना-पीटना नहीं चाहिए, बल्कि मूल कारण की खोज करनी चाहिए।

५ बच्चे का वातावरण, जिसमें वह साँस लेता है, जिसकी हर छोटी-बडी प्रक्रिया की नकल करता है, पूर्णतया शुद्ध होना चाहिए।

६ उसके प्रिय पात्रों के माध्यम से सच्चाई के प्रति उसके मन में आस्था और श्रद्धा पुष्ट करनी चाहिए।

७ बच्चे को उसकी शक्ति और क्षमता की सीमा के अन्दर ही काम करने के लिए कहना चाहिए।

८ अभिभावक बच्चे से जिस व्यवहार की कामना रखते हैं, उन्हें उसके सामने हमेशा वैसा ही व्यवहार करना चाहिए।

इस तरह बच्चे को ईमानदार या झूठा बनाना माँ बाप के हाथ में है जन्मजात बच्चा शत प्रतिशत ईमानदार होता है। उसे झूठा तो हम-आप बनाते हैं, कभी जान बूझकर, कभी अनजान में इसलिए बच्चे के लालन पालन में अभिभावकों को पूरी सतर्कता की जरूरत होती है और बाल मनोविज्ञान की जानकारी भी अपेक्षित होती है। इस दिशा में की गयी सामान्य उपेक्षा बच्चे के भविष्य को अन्धकारमय बना देती है।
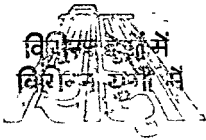
जापान की शिक्षा-प्रणाली

•

डा० तारकेश्वर प्रसाद सिंह

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व जापान में निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा छात्रों को छ वर्ष तक सरकार की ओर से दी जाती थी। युद्ध के उपरान्त इसकी अवधि बढ़ाकर नौ वर्षों की कर दी गयी है। इन वर्षों में ६ वर्ष प्राथमिक तथा तीन वर्ष माध्यमिक स्कूली शिक्षा के होते हैं।

अनिवार्य शिक्षा की अवधि बढ़ाने में कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इसमें अधिक विद्यालयों तथा अध्यापकों की आवश्यकता हुई। इन विद्यालयों की स्थापना तथा अध्यापकों की नियुक्ति के लिए आर्थिक समस्या भी सामने आयी। युद्ध के फलस्वरूप ५० प्रतिशत विद्यालय पूर्ण या अपूर्ण रूप से नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे। इतनी कठिनाइयों के बाद भी जापानियों ने उपर्युक्त अनिवार्य शिक्षा में वृद्धि-सम्बन्धी योजना को पर्याप्त सफलता से चलाया।

जापान में ९९ प्रतिशत बालकों के लिए प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध है। इससे बालकों के बहुमुखी विकास में पर्याप्त योग मिलता है। जापान के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना रही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जापानी लोगों में यह विश्वास था कि युद्ध से नष्ट-भ्रष्ट शिक्षा को सुदृढ़ बनाना चाहिए, क्योंकि शिक्षा किसी भी राष्ट्रोन्नति की नींव हो सकती है। जर्मन की ही भाँति जापानी भी कठिनाइयों से पीछे भागने में विश्वास नहीं रखते। किसी भी मुसीबत का बहादुरी से सामना करने में विश्वास रखते हैं। वे कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में सफल भी हुए हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में आज और भी नयी समस्याएँ जापान में खड़ी हो गयी हैं। यहाँ प्रत्येक कक्षा में बहुत से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते हैं। यहाँ कक्षाओं की संख्या में वृद्धि की जा रही है तथा यह भी प्रयास किया जा रहा है कि कुछ ही दिनों में इतनी कक्षाएँ और अधिक बढ़ा दी जायें कि किसी भी कक्षा में ५० से कम ही विद्यार्थी रहें। यह कार्यक्रम बहुत दूर तक सफलता प्राप्त कर चुका है। इसके बाद लोगों का यह प्रयत्न रहेगा कि एक कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या ५० से अधिक न हो। इस कारण अध्ययन करने में सुविधा होगी।

उच्चतर माध्यमिक स्कूल

आज उच्चतर माध्यमिक-शिक्षा अनिवार्य नहीं है। जो विद्यार्थी निम्नतर माध्यमिक स्कूल की शिक्षा सफलता-पूर्वक समाप्त करते हैं उनमें ६० प्रतिशत उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में प्रवेश करते हैं। इनमें ९० प्रतिशत विद्यालय पूर्ण समय के होते हैं तथा १० प्रतिशत आंशिक समय के।

अनिवार्य शिक्षा के शिक्षालयों के बाद बहुत से नवयुवक भिन्न भिन्न प्रकार के विद्यालयों में भी शिक्षा प्राप्त करते हैं। यह ऐसे विद्यालय हैं, जिन्हें 'मिश्रित स्कूल-युवक-कक्षाएँ' तथा 'व्यावसायिक केन्द्र' कहा जाता है। टेलिविजन तथा रेडियो की वृद्धि के कारण ९५ प्रतिशत परिवारों के पास रेडियो तथा ५० प्रतिशत परिवारों के पास टेलिवीजन है।

व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र भी अनिवार्य आंशिक समय की शिक्षा के उपरान्त दो से तीन वर्षों तक शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं। इन सभी स्कूलों को सम्मिलित कर, जो विद्यार्थी निम्न माध्यमिक स्कूलों की शिक्षा प्राप्त करते हैं, उनमें ७० प्रतिशत ही उच्चतर माध्यमिक शिक्षा पाते हैं।

युद्ध के अनन्तर नवजात शिशुओं की संख्या जिस प्रकार बढ़ रही है, उसके आधार पर माध्यमिक शिक्षा-विद्यालयों में १,२०,००० नये संस्थानों की अपेक्षा होगी। यह तब, जबकि भविष्य में भी उच्च माध्यमिक स्कूलों में जानेवालों के प्रतिशत में कोई वृद्धि न हो। वर्तमान विद्यालयों की संख्या में ३३ प्रतिशत वृद्धि की आवश्यकता है। इसका निश्चित रूप से प्रबन्ध हो जायेगा। शीघ्र ही सभी प्रकार के स्कूलों को मिलाकर उच्च माध्यमिक-शिक्षण प्राप्त करनेवालों की संख्या ८५ प्रतिशत हो जायेगी। शिक्षण-मंत्रालय इस प्रयत्न में है कि उच्चतर माध्यमिक शिक्षा को भी अनिवार्य कर दिया जाय। इस प्रणाली के कार्यान्वित हो जाने पर शिक्षा-व्यवस्था और भी सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित हो जायेगी।

पाठ्यक्रम

प्रत्येक देश की शिक्षा का अपना अपना अलग पाठ्यक्रम होता है। जापान में शिक्षा का पाठ्यक्रम शिक्षा-मन्त्रालय-द्वारा निश्चित किया जाता है। इस पाठ्यक्रम के निर्धारित करने में सरकार लक्ष्यों की रूपरेखा, शिक्षा के वर्ग के उद्देश्य तथा विकास, अवधि आदि सभी बातों का ध्यान रखती है। युद्धोत्तर जापान के प्रारम्भिक वर्षों में पाठ्यक्रम विदेशियों (अमेरिका) ने निर्धारित किया था। कई वर्षों के अनुभव के बाद यह पाया गया कि जापानी बालकों को सभ्यता का शिक्षण देनेवाले विषयों का अभाव है। इस कारण गत कुछ वर्षों में इस बात को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम का निर्माण किया गया है। इससे जापानी बालक एक सभ्य नागरिक बनने की प्रेरणा पा सकेंगे तथा उन्हें जापान को भली प्रकार समझने तथा असीम अनुराग रखने की भी प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी। इस भावना को और भी तीव्र बनाने के निमित्त जापानी शिक्षा में इतिहास, भूगोल, संस्कृति तथा उच्च साहित्य के विशेष अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है।

युद्ध के पूर्व विद्यालयों में छात्रों को नैतिक शिक्षा भी दी जाती थी। युद्ध के बाद अमेरिकनों ने यह अनुभव किया कि जापान की इस नैतिक शिक्षा के फलस्वरूप उग्र राष्ट्रीयता तथा सैनिकवाद का जन्म हुआ था। इस कारण इस प्रकार के पाठ्यक्रम को स्कूली शिक्षा से हटा दिया गया; पर कुछ वर्षों पश्चात् पुनः इस शिक्षा के अभाव का भान लोगों को हुआ। इस कारण गत कुछ वर्षों से नैतिक शिक्षा पुनः प्राथमिक तथा निम्न माध्यमिक शिक्षा के अन्तर्गत दी जाने लगी है।

पाठ्यपुस्तकें

निश्चित समय पर पाठ्यपुस्तकों की व्यवस्था की जाती है। ये पाठ्यपुस्तकें साधारणतया निजी कम्पनियाँ प्रकाशित करती हैं। प्रकाशन की अनुमति इन निजी कम्पनियों को शिक्षामंत्रालय से प्राप्त करनी होती है। स्थानीय शिक्षा-बोर्ड पुस्तकों का चयन करता है।

पाठ्यपुस्तकों की स्वीकृति

शिक्षा-मन्त्रालय में ४० ऐसे शोधकर्ता हैं, जो पाठ्यपुस्तकों का परीक्षण करते हैं। इसके बाद कुछ व्यक्तियों की एक समिति होती है। यह समिति प्रत्येक पाठ्यपुस्तक को देखती है कि अमुक पुस्तक पाठ्यक्रम के उपयुक्त है अथवा नहीं। शिक्षा-मन्त्रालय इसी आधार पर इस समिति की मंत्रणा के अनुसार अपना निर्णय देता है। स्थानीय शिक्षा बोर्ड को अपने क्षेत्र में पाठ्यपुस्तकों के पढ़ाने की स्वीकृति देने का अधिकार प्राप्त है।

अनिवार्य शिक्षावाले विद्यालयों में प्रत्येक विद्यार्थी को पाठ्यपुस्तक बिना किसी शुल्क के दी जाती है। इससे बालक के अध्ययन में अर्थ की कमी नहीं आती। वह आसानी से शिक्षा प्राप्त कर लेता है। जापान में विज्ञान के शिक्षण के लिए भी खर्च का आधा भाग सरकार की ओर से दिया जाता है। इसी प्रकार संगीत, ड्राइंग, समाजशास्त्र, गणित, राष्ट्रभाषा आदि के शिक्षण-सामान के व्यय में भी सरकार भाग लेने का प्रयत्न कर रही है। इसके उपरान्त भी सरकार कई प्रकार से अनिवार्य शिक्षा प्राप्त करनेवाले ८ प्रतिशत विद्यार्थियों की सहायता करती है। यह सहायता सरकार

भोजन, भ्रमण, कागज-पेन्सिल और स्कूल से आने-जाने के व्यय के रूप में करता है।

सिद्धि-परीक्षण

पाठ्यक्रम की पुनरावृत्ति के लिए तथा शिक्षा के स्तर को ऊँचा करने के लिए शिक्षा-मंत्रालय की ओर से प्राथमिक, निम्न माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों की वार्षिक परीक्षा भी होती है, जिससे परीक्षा के भय से छात्र मन लगाकर पढ़ते हैं तथा सरकार को भी प्रति वर्ष यह ज्ञात होता रहता है कि छात्र शिक्षा में कैसी प्रगति कर रहे हैं।

प्रवेशिका परीक्षा की व्यवस्था

प्रवेशिका परीक्षा में प्रायः ९५ से ९६ प्रतिशत विद्यार्थियों को, जिन्होंने अनिवार्य शिक्षा समाप्त कर ली है तथा जो उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में प्रवेश पाना चाहते हैं, प्रवेश मिल जाता है, पर तथाकथित प्रसिद्ध स्कूलों में प्रवेश पाने के लिए विद्यार्थियों में बड़ी होड़ होती है। जहाँ तक विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने का प्रश्न है, ५० प्रतिशत विद्यार्थियों को प्रवेश मिल जाता है, पर प्रख्यात विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिए भी बड़ी होड़ होती है। जो छात्र विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने के लिए जाते हैं उनकी प्रत्येक विश्वविद्यालय प्रवेशिका-परीक्षा लेता है। परीक्षा में पास होने पर ही विश्वविद्यालय में प्रवेश हो पाता है। इस कारण विद्यार्थी अपना अध्ययन इन प्रवेशिका परीक्षाओं को ध्यान में रखकर करते हैं जिससे अध्ययन बहुमुखी नहीं हो पाता। इस कमी को दूर करने के लिए जापान में चर्चा चल रही है। इतना होने हुए भी जापान की शिक्षण व्यवस्था काफी व्यवस्थित है।●

भूल-सुधार

[संयुक्तांक के पृष्ठ ४६० कालम २ की दूसरी पंक्ति में 'रायगढ़' की जगह 'सैगगढ़' सुधार लें।

—सम्पादक]

पेट की मार

●

शिरीष

"सलाम भैयाबाबू, कब अइलऽ हऽ?" —मेरे करीब ७०–७२ वर्ष बूढ़े हलवाहे मुकालू ने पूछा।

"आज ही आया हूँ। तुम अपना हाल चाल बताओ?" उसका चेहरा धुमैला हो गया और विषाद की रेखाएँ उभर आयीं।

उसने बताया कि मैं अभी पंचायत से आ रहा हूँ। हम लोगों ने 'रोपनी' की मजूरी में पैसे के बदले अनाज माँगा था। अनाज का एक एक दाना सोना बन गया है। हम लोग भला पैसा लेकर क्या करेंगे?

लेकिन, देना दिलाना तो दूर, उलटे हमलोगों को बाबूलोग मारने पीटने के लिए धमकी देने लगे। आप ही बतायें भैयाबाबू, हमारे बेटे भूखे पेट हल कैसे जोतें? हमारी बहू-बेटियाँ मुट्ठी भर चना और मटर के लिए तरस रही हैं, रोपनी कैसे करें? भूखे पेट तो भजन भी नहीं होता, फिर जाँगर कैसे चले?

हमें तो खाने के लिए अन्न चाहिए, हम चार आने पैसे लेकर क्या करेंगे? और अगर चार आने में हम खाना भी चाहें तो क्या, है कोई इतनी सस्ती चीज, जिसे हम चार आने में खरीदकर पेट भर सकें? समझ में नहीं आता हम लोग कहाँ जायें, क्या करें। पेट की मार तो अब सहा नहीं जाती भैयाबाबू!

मेरी आँखें भर आयीं और शब्द गूँगे हो गये।●

शिक्षा शास्त्री परिचय

किशोरलालभाई

•

महेन्द्रकुमार शास्त्री

किशोरलालभाई-जैसे विविध प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति को किसी एक सीमित दायरे में नहीं बाँधा जा सकता। उसमें भी उनके जीवन के एक अंग शिक्षक या शिक्षण-शास्त्री की दृष्टि से विचार करना कठिन है। फिर भी उन्होंने राष्ट्रीय शालाओं तथा विद्यापीठों में एक आदर्श शिक्षक के रूप में, जो काय किये, वर्तमान युग में युगनिर्माण करने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक शिक्षक के लिए अनुकरणीय हैं।

शिक्षक कैसा हो ?

मैंने एक बार अपनी बाल्यावस्था में एक अध्यापक द्वारा पीटे जाने पर, पूज्य गांधीजी को दंड के विषय में अपनी प्रतिक्रिया बताते हुए शिक्षक के बारे में उनकी राय जानने की इच्छा प्रकट की थी। गांधीजी ने सम्भवत मेरे बाल-मानस का ख्याल कर बड़े उदार भाव से यह लिखा कि 'शिक्षक ऐसा हो जो सतत आत्म-दर्शन करता रहे, पीटनेवाला अध्यापक तो अध्यापक हो ही नहीं सकता। जिसको कुछ नहीं आता वही दंड का आश्रय लेता है।''

महात्माजी का शिक्षक के लिए प्रकट किया हुआ यह सूत्र किशोरलालभाई पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। उन्होंने अपने जीवन में अनेक काम किये, लेकिन उनकी सत्य-शोधक, ऋजु और प्रज्ञाशील बुद्धि को देखकर गांधीजी ने उनको पहले-पहल साबरमती पहुँचने पर उन्हें शिक्षक के उच्च पद पर अधिष्ठित किया।

व्यवस्थित शिक्षक

साबरमती के विद्यालय में किशोरलालभाई की विद्यार्थी जगत में अतिशय व्यवस्थित और नियमपूर्वक काम करनेवाले शिक्षक के रूप में सबसे अधिक प्रतिष्ठा थी। विद्यालय में पढ़ाते समय वे सब वर्गों के समय-पत्रक स्वयं तैयार करते थे। प्रारम्भिक से प्रारम्भिक वर्ग में जाने से पहले उसमें पढ़ाये जानेवाले विषय की पहले से तैयारी कर लेते और विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास की दृष्टि से, अपनी ओर से पहले से अनेक प्रश्न तैयार कर रखते थे। कई बार ऐसा होता है कि विद्यार्थी शिक्षक से अनेक ऊल-जलूल प्रश्न पूछकर पठनीय विषय से उसका ध्यान हटा देते हैं। किशोरलालभाई ऐसे प्रश्नों के संक्षेप में उत्तर देकर पुन अपने विषय पर आ जाते, और विद्यार्थियों का ध्यान भी उसी ओर केन्द्रित करते। इससे अन्य अध्यापकों की तरह उनका पाठ्यक्रम, कभी अधूरा नहीं रहा। वे छात्रों को घर पर लिखने के लिए जो कुछ देते, वे कापियाँ उसी दिन देखकर पुन विद्यार्थियों को लौटा देते। इससे उनके वर्ग में अधिकतर विद्यार्थी पहले से पठित विषय की अच्छी तरह तैयारी करके आते थे। इतना होने पर भी वे एक स्वजन की तरह छात्रों के सर्वांगीण विकास की ओर बराबर ध्यान देते थे।

शिक्षा में अहिंसक दृष्टि

शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने सम्भवत गांधीजी के चम्पारन सत्याग्रह के समय प्रवेश किया। उस समय भी उनकी शिक्षा के सम्बन्ध में अहिंसक दृष्टि थी। वे अपने साथ काम करनेवाले अध्यापकों के साथ शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के बारे में विचार करते और अपने अनुभव के आधार से शिक्षा के बारे में नवीन शास्त्र तैयार करते जाते थे। उनके आचार्यत्व में संचालित आश्रम का यह विद्यालय

नवीन ढग का था। वहाँ शिक्षक डण्ड का उपयोग नहीं कर सकता था। यही नही वह उलाहना तक नहीं दे सकता था। किसीने गल्ती की हो तो उसे चार लड़कों के सामने नीचा भी नहीं दिखा सकता था। इसलिए किशोर लालभाई स्वय पढाने के नित्य नय तरीके काम में लाते।

इन प्रयोगो के बीच उन्होंने अपने लिए रूखे और कठिन विषय पसन्द किये। उनमें भूमिति बहीखाता निबन्ध-लेखन और कठिन कविताओ के अर्थ मुख्य है। भूमिति पढाते समय वे स्वय अपनी ओर से नवीन परिभाषाएं और उदाहरण तैयार कर लेते। निबन्ध लिखने के एक दिन पहले विद्यार्थियो के सामने लिखे जानेवाले विषय की रूपरेखा पहले से विस्तारपूर्वक प्रस्तुत कर देते और उन्हें निरीक्षण करते समय स्वल्प विराम अर्धविराम पूर्णविराम अनुच्छेद और विषय आदि की दृष्टि से सूक्ष्मतापूर्वक ध्यान देते। कविताओ का वर्ग लेते समय वे स्वय अपनी ओर से नयी कविताए तैयार कर विद्यार्थियों के सामने इस प्रकार रख देते जैसे वे उनकी न होकर किसी दूसरे की कविताए है पर बाद में श्रीमती गोमती बहन द्वारा वे किशोरलालभाई की ज्ञात होने पर छात्र उन्हे अपनी कापियो में लिख लेते थे और याद कर लेते थे।

इतनी कड़ाई से स्वय काम करने पर भी उन्होंने अपने अध्यापन काल में छात्रो के द्वारा अनेक बार अनुशासनभंग करने पर भी उन्हें कभी एक शब्द नहीं कहा अनेक बार वर्ग में छात्रो के देरी से आने पर उन्हें कुछ कहे बिना उस अल्प समय में भी विषय को पूरा करने का प्रयत्न करते। अपने चेहरे पर क्रोध की एक भी सिकुडन नही आने देते छात्रो के सारे अपराधो का स्वय पीकर अपनी उदारता और क्षमावृत्ति का असाधारण परिचय देते थे।

ब्रह्मचारी गृहस्थ

हमारे देश में प्राचीन काल से गार्हस्थ्य और संन्यासप्रधान परम्पराए अलग अलग जीवित रही। दोनो का मार्ग भिन्न भिन्न माना जाता रहा। गार्हस्थ्य जीवन में

संयमप्रधान जीवन या ब्रह्मचर्य साधना के प्राचीन उदाहरण जैन-परम्परा को छोड़ और किसी परम्परा में शायद ही मिलते हैं, पर उन्नीसवीं शताब्दी में अपनी जीवन साधना-द्वारा सब धर्मों का समन्वय करनेवाले रामकृष्ण परमहंस ने गार्हस्थ्य जीवन में ब्रह्मचर्य का एक अप्रतिम उदाहरण विश्व के सामने रखा। उसके बाद गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में सेवा क्षेत्र में काम करने की दृष्टि से गार्हस्थ्य-जीवन में ब्रह्मचर्य का नियम लिया, पर ऐसे उदाहरण हजारों वर्षों के बीच कुछ ही मिलते हैं। गांधीजी के इस विचार का देश में प्रसार होने के पहले ही किशोरलाल भाई ने विवाहोत्तर संयमप्रधान जीवन का अपने लिए विशेष आग्रह रखा और अंत तक एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में सात्विक जीवन व्यतीत किया।

शिक्षा की बुनियादें

किशोरलालभाई ने दर्शन, राजनीति, अध्यात्म, अर्थनीति आदि जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक विषयों पर बहुत कुछ लिखा है, पर शिक्षा की दृष्टि से भी उन्होंने कुछ ग्रन्थों-द्वारा देश की अमूल्य सेवा की है। उनमें से मुख्य हैं–शिक्षण-विवेक, शिक्षण-विचार, शिक्षा की बुनियादें। 'शिक्षा की बुनियादें' नामक ग्रन्थ की गणना शास्त्रीय कोटि के ग्रन्थों में होती है। उसमें उन्होंने एक शास्त्रकार की दृष्टि से शिक्षण और विनय, शिक्षण और बुद्धि, शिक्षण और विज्ञान, शिक्षण और उद्योग और शिक्षा से सम्बन्धित अनेक विषयों पर सूक्ष्मता-पूर्वक विवेचन किया है। शेष दोनों पुस्तकों में उन्होंने प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा, बुनियादी शिक्षा मातृभाषा, क्षेत्रीय भाषा, राष्ट्र भाषा आदि शिक्षा के मूलभूत प्रश्नों पर देश काल की दृष्टि से विचार किया है। 'शिक्षा की बुनियादें' का गुजरात तथा अन्य राज्यों में बहुत स्वागत हुआ। उसको पढ़कर अनेक अध्यापकों और माता पिताओं ने अपने प्राचीन रवैये को बदल डाला और सच्चा अध्यापक बनने की दिशा में बढ़ने का प्रयत्न किया।

श्रेयार्थी शिक्षक

शिक्षक का मुख्य लक्षण है कि जो सतत आत्मदर्शन कर उत्तरोत्तर *अन्तर्मुखता* की ओर जाता है, वह स्वयं *अपना श्रेय सिद्ध कर दूसरों का श्रेय साधता है।* उसका जीवन अध्येताओं और उसके समागम में आनेवाले व्यक्तियों के लिए दृष्टान्त-रूप होता है। किशोरलाल-भाई का तपपूत जीवन हमेशा से रोगग्रस्त होने पर भी आयु के अन्तिम क्षण तक अनुकरणीय, प्रेरणाप्रद और दृष्टान्त रूप रहा। देश के अनेक भागों के लोग अपने जीवन की विषम समस्याओं को सुलझाने के लिए उनके पास आते थे। किशोरलालभाई उनके एक परिवार के *व्यक्ति की हैसियत से रस-पूर्वक उनका उचित समाधान* करते थे। देश में सामाजिक राष्ट्रीय या धार्मिक जो कुछ भी हलचलें होतीं, उनके बारे में वे सुगमतापूर्वक एक अध्यापक की दृष्टि से विचार कर देश के सामने रखते थ।

उनके श्रेयार्थी रूप को देख गांधीजी ने सच ही कहा था—

> "किशोरलालभाई मशरूवाला हमारे विरले कार्यकर्ताओं में एक हैं। वे अविश्रांत परिश्रम करने-वाले तथा अत्यन्त जागरूक रहनेवाले हैं। उनकी जाग्रत दृष्टि से ब्योरे की कोई भी बात नहीं छूट पाती। वे एक तत्त्वदर्शी, दार्शनिक लोकप्रिय लेखक और आत्मद्रष्टा अध्यापक हैं। गुजराती के वे जितने विद्वान हैं उतने ही वे मराठी, हिन्दी और अँग्रेजी के भी विद्वान हैं। वे *जातीय, साम्प्रदायिक और* प्रान्तीय अहंकार, तथा दुराग्रह से सर्वथा मुक्त हैं। वे राजनीतिज्ञ नहीं, जन्मसिद्ध सुधारक हैं। वे जिम्मेदारी ओढ़ने और प्रसिद्धि से सदैव दूर भागते हैं। इतने पर भी कोई ऐसा आदमी न मिलेगा, जो जिम्मेदारी ले लेने पर उसे उसकी अपेक्षा अधिक पूर्णता के साथ पूरा कर सके।"

किशोरलालभाई का जीवन तपोवनकालीन प्राचीन ऋषियों या आचार्यों की तरह काल-पट में सदैव प्रेरणा प्रद रहेगा। व एक प्रखर तत्त्वचिंतक, कुशल अध्यापक, आदर्श त्यागी, उत्तम संचालक क्रान्तिकारी लेखक, मर्मस्पर्शी कवि, सदा सर्वदा विनोदी इत्यादि अनेक बातों में महापुरुष थे पर इन सब गुणों के बावजूद उनमें तपोवन कालीन आचार्यों की तरह सबके स्वजन बनकर रहने की कला असाधारण थी। ●

शहरी स्कूलों की कुछ बातें

•

नरेन्द्र दुबे

पिछले दिनों इन्दौर नगर की कुछ प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों से चर्चा करने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने प्राथमिक शालाओं में शिक्षण की समस्याओं पर सामान्य तौर पर तथा कताई के शिक्षण की समस्या पर मुख्य रूप से चर्चा की। उनकी मुख्य कठिनाइयाँ इस प्रकार हैं—

- प्राथमिक शालाओं में तकली-कताई की कोई आवश्यकता नहीं है और पाठ्यक्रम में इसे अनावश्यक रूप से भावुकता के कारण रखा गया है। इसमें समय के साथ ही और अन्य प्रसाधनों का भी अपव्यय ही होता है।
- यदि तकली-कताई या चरखा कताई को शासन इतना महत्वपूर्ण मानता है और पाठ्यक्रम में उसे स्थान देता है तो इसमें शिक्षण की सुविधाएँ देने में इतना पीछे क्यों रहता है? न तो शिक्षकों को ही कताई विद्या का पूरा शिक्षण मिलता है, न ठीक-ठीक साधन ही मिलते है।

आज की स्थिति में पालक प्राथमिक शाला के बच्चे के लिए तकली और पूनी-हेतु प्रति माह व्यय करने में न केवल हिचकते है, वरन इसका बहुत विरोध करते है।

- नेतागण, जिन्हें अक्सर शिक्षण की समस्याओं का तनिक भी ज्ञान नहीं होता, पाठ्यक्रम समितियों के सदस्य बना दिये जाते है। ये लोग अक्सर अनावश्यक रूप से ज्यादा पाठ्यक्रम निश्चित कर देते हैं, जिसे समझना बच्चे की बुद्धि के बाहर होता है और जिसे समझाना सामान्य शिक्षकों की शक्ति के बाहर।

शिक्षकों की उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त पालकों को भी अपनी कुछ कठिनाइयाँ है। इसी सन्दर्भ में एक दिन पालकों के साथ भी चर्चा हुई थी और उन्होंने अपनी कठिनाइयाँ इस प्रकार प्रस्तुत कीं—

- शिक्षकगण पाठशालाओं में एक-दो घंटे बच्चों को पढ़ाकर छोड़ देते है।
- शिक्षकगण स्वयं ऊपर की परीक्षाओं में बैठते है और जब बच्चों की परीक्षा का समय आता है तब इनकी भी परीक्षाएँ होती हैं, और वे बच्चों की तैयारी कराने के स्थान पर अपनी तैयारी में मशगूल रहते हैं, जिससे बच्चे बड़ी संख्या में असफल होते हैं।
- शिक्षकगण ट्यूशन के लिए कभी-कभी अच्छे बच्चों को भी कम नम्बर देते हैं और पालकों को ट्यूशन कराने के लिए मजबूर करते है।
- शालाओं का पाठ्यक्रम लगभग प्रति वर्ष बदलता रहता है। इसलिए हमेशा नयी पुस्तकों का बोझा उठाना पड़ता है।

इस प्रकार प्राथमिक शालाओं में शिक्षण की समस्याएँ इतनी ज्यादा कठिन और उलझी हुई हैं कि जिन पर बहुत गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। इस समस्या का समाधान निकालना होगा। हमारे विचार से यह समस्या जितनी गम्भीर दिखाई देती है, उससे कई गुनी गम्भीर है। इस सम्बन्ध में विचारों को चालना देने के लिए हम कुछ सुझाव यहाँ दे रहे हैं—

* पाठशाला की कठिनाई को दूर करने के लिए शिक्षकों की समस्याओं को समझने के लिए तथा प्राथमिक शिक्षण पर सोच विचार करने के लिए प्राथमिक शिक्षा-समिति का गठन किया जाना चाहिएँ।
* बालकों को विकास के अवसर प्रदान करने के लिए प्रवास-जैसे कार्यक्रम आयोजित करने चाहिएँ।
* शिक्षण शास्त्र में निरन्तर नयी-नयी खोजें हो रही हैं। इनकी जानकारी शिक्षकों को होती रहे, इसके लिए प्रत्येक तीन माह में ७ दिन के लिए शिक्षकों के प्रशिक्षण शिविर शिक्षक प्रशिक्षक केन्द्रों-द्वारा आयोजित किये जाने चाहिए।
* उद्योग प्रशिक्षण यदि आवश्यक समझा जाय–हमारी दृष्टि से बालक के सर्वांगीण विकास के लिए वह आवश्यक है–तो उसकी पूरी व्यवस्था पाठशाला में होनी अनिवार्य है। इसके साथ ही उस उद्योग में निष्णात शिक्षक भी वहाँ होना ही चाहिए। जहाँ यह सम्भव न हो वहाँ उद्योग भले ही देर से शुरू क्यों न करना पड़े, यह सब होने पर ही शुरू किया जाना चाहिए। हाँ, यह हो सकता है कि उद्योग के लिए आवश्यक व्यक्ति और साधन जुटाने की जिम्मेदारी स्थानीय समिति अपने ऊपर उठा ले।
* कुछ वार्डों में जहाँ अनुभवी और प्रशिक्षित शिक्षक उपलब्ध है, स्थानीय शिक्षकों को ही प्राथमिक शाला के पाठ्यक्रम को विकसित करने, पाठ्य-पुस्तकें निश्चित करने की तथा दैनिक कार्यवृत्त निश्चित करने की छूट एक प्रयोग के रूप में देनी चाहिए। यदि एक दो वर्ष में इसका अनुभव उत्साह-वर्द्धक आये तो इस व्यवस्था को और भी फैला देना चाहिए। इस प्रकार धीरे धीरे प्राथमिक शिक्षण की जिम्मेदारी स्थानीय जनता की तथा शिक्षकों की हो जायेगी। इस प्रकार शासन का बोझ भी कम हो जायेगा तथा कम-से-कम प्राथमिक शिक्षण शासन-मुक्त हो सकेगा।

●

लंका कितनी दूर है ?

●

उपाध्याय अमर मुनि

एक आचार्य ने राम के जीवन का वर्णन करते हुए कहा है—"रावण सीता को चुराकर ले गया। राम सुग्रीव से मिले। पूछा—"लंका यहाँ से कितनी दूर है ?"

सेना में जामवन्त नाम का एक वृद्ध सेनापति था। शरीर से वह जर्जर था, किन्तु उसके प्राणों में जीवट था। आश्चर्य की मुद्रा में प्रश्न को दोहराते हुए उसने कहा—"क्या पूछा आपने ? लंका कितनी दूर है ?"—और फिर हँसते हुए उत्तर दिया—"लंका इतनी दूर है कि एक-दो वर्ष, सौ-पचास वर्ष तो क्या, हजार-हजार वर्ष भी पूरे हो जायें तब भी वहाँ पहुँच नहीं सकते। और, लंका इतना निकट भी है कि एक कदम उठाया और दूसरा कदम धरा कि लंका के सिंहद्वार पर।"

राम कुछ नहीं समझ पाये। उन्होंने फिर पूछा—"तुम्हारी इस पहेली का गूढ़ार्थ क्या है ?"

जामवन्त ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा—"जिस मनुष्य के जीवन में उत्साह नहीं है, शक्ति और स्फूर्ति नहीं है, वह व्यक्ति हजारों-हजार वर्ष बिता देने पर भी लंका नहीं पहुँच सकता, परन्तु जिसकी भुजाओं में बल है, पैरों में शक्ति है, मन में उत्साह है और जीवन में तेज है वह कुछ ही क्षणों में लंका की दूरी तो क्या, सम्पूर्ण पृथ्वी को भी एक से दूसरे छोर तक नाप सकता है। आप यह मत पूछिए कि लंका कितनी दूर है, बल्कि यह पूछिए कि हमारे अन्दर कितना उत्साह है, कितना साहस और कितना तेज है..!"

जामवन्त ने राम के समक्ष जीवन के जिस सनातन सत्य को उघाड़ कर रखा, वह आज भी हमारे सामने स्पष्ट है—किसी भी कठिनतम कार्य को साधते हुए कार्य की दुष्करता या उसकी विशालता को नहीं देखना चाहिए, किन्तु अपना उत्साह व साहस देखना चाहिए।

●

पेट भरे या पेटी ?

•

बनवारीलाल चौधरी

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ की आबादी की बहुत बडी सख्या, लगभग साढे छ करोड परिवार तैंतीस करोड एकड भूमि पर काश्त करते हैं। यहाँ की शस्य श्यामला भूमि अति उर्वरा है। भारतीय किसान ससार के उच्च कोटि के किसानो मे माना जाता है। फसल-उत्पादन प्रतियोगिता में किसानो ने औसत उपज से दस गुना अधिक प्रति एकड उपज करके दिखा दी है, परन्तु राष्ट्र की औसत उपज प्रति एकड बहुत कम है। देश अनाज में आत्मनिर्भर नही है। खाद्यान्न की कमी की पूर्ति आयात से की जा रही है, और दुर्भाग्य से यह कमी प्रतिवर्ष बढती ही जा रही है—

सन्	अनाज	कीमत
१९६१	३५ लाख मीटरिक टन	१२९ ६ करोड
१९६२	३६ लाख ४० ह मी टन	१४१ ५ करोड
१९६३	४५ लाख ६० ह मी टन	१८३ ६ करोड

सन् १९६५–६६ में ४४ करोड २० लाख जनसंख्या को भोजन देने के लिए दस से ग्यारह करोड मीटरिक टन अनाज की आवश्यकता होगी। कृषि के क्षेत्र में जिस तरह विकास हो रहा है, उसमें इतना उत्पन्न होना दिवा-स्वप्न-मात्र है। दरअसल १९६२–६३ में कृषि की उपज में ३ ३ प्रतिशत की गिरावट हुई। इस वर्ष भी इस स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं है। इसलिए गेहूँ का भाव उत्तरोत्तर बढता जा रहा है, जिसका प्रभाव अन्य उपभोग्य वस्तुओं पर पड रहा है।

कृषि में देश के आत्मनिर्भर न होने का एक मुख्य कारण हमारी कृषि की नीति है। खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता को प्रमुखता एव प्राथमिकता नही दी गयी है। पचवर्षीय योजना के आरम्भ काल मे हमारे प्रथम प्रधान मन्त्री स्व० पडित जवाहरलाल नेहरू ने सन् '५२ के बाद विदेश से अनाज न मँगाने की घोषणा की था। विनोबाजी ने इसे 'राष्ट्र नायक की प्रतिज्ञा' की सज्ञा देते हुए 'प्राण जाहि पर बचन न जाई' का ध्येय रखकर राष्ट्र को 'करो या मरो' का आवाहन किया था, परन्तु पी० एल० ४८० के अन्तर्गत अमेरिका से अनाज प्राप्त करने के इकरार ने बाजी उलट दी। प्रत्यक्ष रूप में सरलता से मिलनेवाले इस दोयम दर्जे के अनाज ने राष्ट्र-द्वारा खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के प्रयत्नो को ठडा कर दिया और अमेरिका को लगभग नौ सौ करोड रुपये के अनाज का व्यापार दिया। अमेरिकी जहाज कम्पनिया को लगभग एक सौ बारह करोड रुपये किराया मिला और अमेरिकी सरकार ने एक वर्ष में ही लगभग दो सौ पैंतालीस करोड रुपये अनाज रखने के मालगोदाम का किराया लिया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि डालर-जैसी विदेशी मुद्रा-उपार्जन की आवश्यकता भारत में बढ गयी।

यह दुष्चक्र यहीं समाप्त नहीं हुआ। विदेशी मुद्रा कमाने की माँग ने कृषि के क्षेत्रो पर विपरीत प्रहार किया। अधिक उपज प्राप्त करने के साधन और सुविधाएँ व्यापारी फसलो पर लगायी जाने लगीं। गन्ना, मिर्च, तम्बाकू, मूँगफली, कपास और जूट को प्राथमिकता मिली। लगभग पाँच करोड एकड में इन फसलो की खेती

की जाती है। कृषि-उत्पादन में लगे साधन, श्रम इत्यादि की इकाई पर विचार करें तो अनाज की फसल की अपेक्षा इन व्यापारी फसलों पर तिगुनी इकाई खर्च होती है, अर्थात् जो साधन सुविधा पन्द्रह करोड़ एकड़ में कम-से कम दस प्रतिशत अन्न उत्पादन बढ़ाने में सक्षम है वह पाँच करोड़ एकड़ की व्यापारी फसल पर नष्ट हो रहा है। इस नीति से 'व्यापारी फसल' लगानेवाले किसान पेटी भर सकते हैं, पेट नहीं भर सकते। उदाहरणार्थ सापना बाँध (बैतुल) की सिंचाई उपलब्ध होते ही, उस क्षेत्र के किसानों ने अनाज का रकबा कम कर गन्ना बढ़ाया। उस क्षेत्र के एक गाँव में लोगों के पास हजारों रुपयों के नोट हैं, लेकिन गाँव भूखा है, अनाज के लिए मुहताज है। कैसी विषम परिस्थिति है यह!

देश की स्वतन्त्रता बनाये रखने और आत्मरक्षा के लिए कृषि में आत्मनिर्भर होना अनिवार्य है। भोजन में परावलम्बी होकर कोई भी देश टिक नहीं सकता। भारत की कृषि में आमूल परिवर्तन करने की दृष्टि से यहाँ कुछ सुझाव पेश किये जा रहे हैं—

१—भूमि-स्वामित्व का ऐसा रूप हो कि खेत गाँव के रहें और खेती किसान की हो। इसके बिना किसानों को अधिक फसल-उत्पादन की प्रेरणा नहीं होगी।

२—विदेशों से अनाज का आयात एक निश्चित अवधि के बाद बन्द कर दिया जाय। यह अवधि सन् '६६ से अधिक न हो।

३—व्यापारी फसल का अनुपात रकबे में निश्चित किया जाय।

४—सिंचाई-जैसी अधिक फसल उत्पन्न करने की सुविधा को अन्न की फसल में प्राथमिकता दी जाय। इसके लिए उपयुक्त नियम बनाना होगा।

५—ग्राम-स्तर पर सन्तुलित खेती की योजना बनायी जाय। अन्न, तिलहन, दलहन, सब्जी, फल, गुड़ और कपड़े की आवश्यकता को ध्यान में रखकर गाँव में फसलों का अनुपात तय किया जाय।

६-गाँव में अन्न यज्ञ या 'रामकोठी' इत्यादि के आधार पर दो वर्ष के लिए पर्याप्त अन्न का भंडार बनाया जाय।

७—गाँव-गाँव में वरुण-यज्ञ किया जाय, जिसके द्वारा ग्रामीण जनता अपने श्रम और स्थानीय उपलब्ध साधनों का उपयोग कर ग्राम के लिए लघु सिंचाई योजना बनाये। प्रत्येक गाँव का कम-से-कम बीस प्रतिशत रकबा इस प्रकार की सिंचाई के अन्तर्गत कर लिया जाय।

८—खाद की पूर्ति के लिए राष्ट्रव्यापी रूप से कम्पोस्ट बनाने की कार्यकारी योजना बनायी जाय। विदेशों से उर्वरकों का आयात बन्द किया जाय। इससे बचायी गयी राशि मल-मूत्र इत्यादि को खाद के रूप में परिवर्तित करने की व्यवस्था पर खर्च की जाय। जापान-जैसे उद्योग प्रधान देश में यह व्यवस्था अति लाभकारी सिद्ध हुई है।

९—किसानों को बहुत कम ब्याज पर खेती-कार्य के लिए समय-समय पर सुलभता से कर्ज प्राप्त हो।

१०—कृषि और किसानोपयोगी वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उपयुक्त मूल्य पर सहकारी संस्थाओं द्वारा उपलब्ध हों, इसकी व्यवस्था हो।

११—किसान की फसल का न्यूनतम मूल्य फसल के उत्पादन में हुए खर्च, किसान की मजदूरी इत्यादि के आधार पर कुछ वर्षों के लिए निर्धारित किया जाय। उपज का क्रय विक्रय केवल सहकारी समितियों-द्वारा ही किया जाय।

ये सुझाव भारतीय कृषि और किसान को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किये गये हैं। अभी तक हमारी खेती की नीति और पद्धति कभी जापानी, कभी चीनी और कभी अमेरिकी रही है। हमारी यह उड़ान पेटी भरने के लिए थी। चीन का आक्रमण और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के कारण अब ऐसे संकट का समय उपस्थित हुआ है कि हमें भारतीय कृषि के बारे में भारतीय ढंग से सोचना होगा, जिससे हम राष्ट्र का पेट भर सकें।

—'मैत्री' से साभार
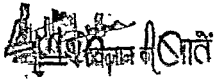
विज्ञान के कतिपय चमत्कार

एक ओर विश्व की बढ़ती हुई आबादी नयी-नयी समस्याओं को जन्म दे रही है तो दूसरी ओर विज्ञान के नित-नये अनुसन्धान नयी-नयी उपलब्धियों में प्रकट हो रहे हैं। हमारी सुख-सुविधाएँ बढ़ती जा रही हैं, लेकिन विज्ञान के अविवेकी प्रयोग ने संहार की विभीषिका भी सामने खड़ी कर दी है। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपना विवेक जागृत करे और विज्ञान का उपयोग संहार के लिए न करके निर्माण के कामों में करे।

नीचे विज्ञान के कतिपय ऐसे चमत्कारी आविष्कार दिये जा रहे हैं, जो हमारा विकास पथ प्रशस्त करते हैं।

हारमोन के गुणकारी प्रयोग

हारमोन, शरीर के भीतर का एक आन्तरिक स्राव है, जो खून में मिलने पर इन्द्रियों को उत्प्रेरित करता है।

- रासायनिक विधि से कृत्रिम हारमोन तैयार किया जा चुका है, जो उतना ही गुणकारी है, जितना असली हारमोन।
- हारमोन की चिकित्सा से पक्षाघात, रक्तचाप और कैंसर-जैसे भयानक रोगों में आशातीत सफलता मिली है।
- हारमोन का सेवन करा कर पशुओं का चारा बचाया जा सकता है। चारा कम खाकर भी पशु पहले की अपेक्षा हट्टा-कट्टा रहेगा।
- हारमोन के इंजेक्शन से मुर्गे में स्त्रैण गुण धीरे-धीरे प्रकट होने लगते हैं। कलगी सिकुड़ने लगती है, रंग फीका पड़ने लगता है और वह लड़ना तथा बाँग देना छोड़ देता है। उसकी चाल भी बदल जाती है और वजन बढ़ जाता है।
- हारमोन की चिकित्सा से भेड़ें अधिक दूध देने लगती हैं। उनकी बच्चे पैदा करने की क्षमता भी बढ़ जाती है।

पैदावार-सम्बन्धी प्रयोग

- रूस ने गेहूँ की एक ऐसी किस्म निकली है, जो बारहो मास सरदी-गरमी में होती है। यह किस्म घास के साथ कलम लगाकर निकाली गयी है।
- चीन ने चावल की पैदावार बढ़ाने में आशातीत सफलता पायी है।

प्लास्टिक की कहानी

जहाँ हमारे देश के ६९ प्रतिशत व्यक्ति सिर्फ १९ रुपये महीने कमा पाते हों, उनके लिए व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं का सस्ता होना कितना जरूरी है। इस दिशा में प्लास्टिक का चमत्कारी गुण हमारी सहायता कर रहा है।

यह प्लास्टिक दो तरह का होता है—थर्मोसेटिंग और थर्मोप्लास्टिक। थर्मोसेटिंग टूट-फूट के बाद दुबारा पिघलाया नहीं जा सकता, लेकिन थर्मोप्लास्टिक पिघला-कर दुबारा काम में लाया जा सकता है। आज प्लास्टिक की ३० से भी अधिक किस्में निकल चुकी हैं।

प्लास्टिक की खोज

- अमेरिका के जान हयाट ने सन् १८६८ में 'सेल्युलायड' नाम से इसका आविष्कार किया।
- सन् १९०९ में डाक्टर बैकलेंड ने एक नये सम्मिश्रण की खोज की, जो 'बेकलाइट' नाम से प्रचलित

हुआ। विश्वास है, आनेवाले कुछ ही वर्षों के हमारे दैनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर प्लास्टिक का एकाधिकार हो जायगा।

चिकित्सा विज्ञान

- कई कुत्तों को कृत्रिम फेफड़े पर एक दिन तक जीवित रखा गया।
- मरे हुए पैदा होनेवाले कई बच्चे स्वीडन में पुन जिला लिये गये।
- सिस्टीन नामक दवा बन्दरों को विकिरण के बुरे प्रभाव स बचाने में उपयोगी सिद्ध हुई।
- अमेरिका में सी० आई-१०१ नामक तेजाबी लवण का इंजक्शन देकर कुछ कैदियों को एक वर्ष तक मलेरिया से बचाया जा सका।

अन्तरिक्ष अनुशीलन

- पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के बन्धन दो सौ से अधिक साहसी व्यक्ति तोड चुके हैं और बाहरी मडलों की सैर कर चुके हैं।
- अन्तरिक्ष-सूरमा निकोलायेव और पोपोविच साथ साथ अन्तरिक्ष उडान करने में सफल हो चुके हैं।
- अमेरिकी उद्योग विभाग के सहयोग से टेलस्टार का आविष्कार किया गया है। इसकी सहायता से रेडियो और टेलिवीजन का धरती पर दूर-दूर तक प्रसार किया जा सकता है।
- अन्तरिक्ष अध्ययन के लिए चलती फिरती वेधशाला (ओ-एस-ओ-१) का प्रयोग आरम्भ हो गया है।

पुरातत्व और नृतत्व

- केन्या (अफ्रीका) में एक करोड चालीस लाख वर्ष पुराने जीवाश्म प्राप्त होने से मनुष्य के विकास की एक खोई कड़ी मिल गयी है।
- सिद्ध हो गया है कि नियेंडरथल का मानव आधुनिक मानव का पुरखा था।
- चीन में छ प्रकार के मानव-जीवाश्म मिले हैं, जिनसे एक लाख दस हजार वर्ष पूर्व तक की जानकारी मिली है।
- कुछ प्राणियों के दो अरब वर्ष पुराने जीवाश्म प्राप्त हुए हैं।

खगोल और भूभौतिकी

- ब्रह्माड के करोड़ों प्रकाशहीन तारों में आरम्भिक जीव 'प्रोटोजोआ' का अस्तित्व सम्भव है।
- आकाशगंगाओं के अध्ययन से पता चला है कि ब्रह्माड के विस्तार की प्रक्रिया शनै शनै शिथिल हो रही है।
- शनिग्रह पर हाइड्रोजन के अस्तित्व का प्रमाण मिला है।
- ब्रह्माड किरणें अनेक लाख प्रकाश-वर्ष तक यात्रा करने के बाद पृथ्वी तक पहुँच पाती हैं।
- कैलिफोर्निया के खड्डों में दस करोड वर्ष पूर्व की उल्काओं की राख मिली है।
- दक्षिण ध्रुव पर आज से ३० करोड वर्ष पहले बर्फ की परत छायी।
- अमेरिका के न्यू इगलैंड के तट से बरम्यूडा टापू तक अतलातिक महासागर के गर्भ में ज्वालामुखी पर्वत-शृंखला का पता चला है।

इंजनियरी

- किसी भी प्रकार की लिखावट पढ़नेवाले एक यंत्र का निर्माण हो गया है।
- रेडियो-सकेतों से चालित पैराशूट तैयार हो गये हैं। इनसे आग बुझाने में सहायता मिलेगी।

उपर्युक्त अनुसंधानों को देखकर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कृषि-सम्बन्धी खोजें अभी बहुत कम हो पायी हैं। हमारी मूलभूत आवश्यकताओं में भोजन का पहला स्थान है इसलिए इस दिशा में वैज्ञानिकों को अनिवार्य कदम उठाने की आवश्यकता है।

—'साइंस न्यूज लेटर' पर आधारित

प्रकृतिमाता की गोद में

•

काका कालेलकर

एक मोटर बनाने के लिए विज्ञान का कितना परिचय आवश्यक है ! फिर ऐसी मोटर चलाने के लिए महीनों तक सबक भी लेने पड़ते हैं और इम्तहान पास करने के बाद ही मोटर चलाने का लाइसेंस मिलता है। मामूली साइकिल चलाने के लिए भी काफी पूर्व तैयारी करनी पड़ती है और उसका पूरा परिचय पाना जरूरी होता है। अगर कुछ बिगड़ गया तो उसका पता चले और उसे सुधारने का तरीका मालूम हो तो ठीक नहीं तो साइकिल सिर पर उठाकर ही चलना पड़ेगा।

अगर सिर्फ घोड़े पर बैठकर ही जाना हो तो भी घोड़े का स्वभाव समझना चाहिए। जीन कसने की कला भी मालूम होनी चाहिए, और टांगा के बीच घोड़े को कसकर अपना आसन स्थिर रखने की तरकीब भी जाननी चाहिए। लड़के को यह सब सिखाने के बाद ही उसे घोड़ा दिया जाता है।

कुदरत का कानून

लेकिन, कुदरत का कानून कुछ उलटा ही है। मनुष्य को—और सब प्राणियों को भी—उसके जन्म के पहले ही शरीर दिया जाता है। मनुष्य का शरीर हजारों मोटरों और इंजनों से भी सूक्ष्म और जटिल होता है। मनुष्य सौ बरस जिये तो भी अपने शरीर को वह अच्छी तरह नहीं समझता है। फिर भी कुदरत मनुष्य को उसका शरीर दे देती है और शरीर चलाने की कई बातें उसको सीखे बिना ही आती हैं। पशु-पक्षियों की बात तो उससे भी हैरत-अंगेज होती है।

मनुष्य को सांस लेना कौन सिखाता है ? खाना-पीना कौन सिखाता है ? जब नर और मादा विषय-सेवन करते हैं तब क्या उनको पता होता है कि इससे बच्चे पैदा होंगे और बच्चे पैदा होने पर उनकी परवरिश भी करनी पड़गी ?

प्रकृतिमाता ही माता-पिता को बच्चों के बारे में सब कुछ सिखाती है। प्रकृति की ऐसी सीख को कुदरती तौर पर हम 'इंस्टिंक्ट' कहते हैं। यह आती कहां से है ? कुदरत का यह सारा ज्ञान मनुष्य को क्रमशः मिलता है, और बाद में मनुष्य अपनी तरफ से उसे बढ़ाता है। पशु-पक्षियों के बारे में देखा गया है कि प्राणी कुदरती सीख को अपने अनुभव से कुछ बढ़ाते हैं। उनके मां-बाप भी उनको कुछ सिखाते हैं। हजारों बरस के बाद भी पशु पक्षियों ने अपने ज्ञान में कुछ वृद्धि नहीं की है। परिस्थिति प्रतिकूल हुई तो वे हार जाते हैं, मर जाते हैं। कभी-कभी उनकी सारी जाति ही नष्ट हो जाती है।

इसलिए, मनुष्य को चाहिए कि कम-से-कम जीने के लिए कुदरत ने मनुष्य को जो सिखाया उन विद्याओं का परिशीलन करके उनको बढ़ाये और बच्चों की शिक्षा में उनको प्राथमिकता और प्रधानता दे।

श्वसन क्रिया

ऐसी विद्या-कलाएँ कौन-सी हैं ?

सबसे पहले आती है सांस लेने और छोड़ने की कला। बच्चों का श्वासोच्छ्वास बिल्कुल हल्का होता है। बाद में हम पूरी सांस लेकर गम्भीरता से उसे छोड़ते हैं, जिसे पूर्ण श्वसन कहते हैं। बाद में श्वास के

नियम से शरीर को शुद्ध करना और मन को काबू में लाना, इस हेतु से जिस कला का विकास किया उसे कहते हैं प्राणायाम। किसी समय यह कला सब सस्कारी लोगो को बचपन से सिखायी जाती थी। आज उसका मात्र-नाम ही रहा है। कभी-कभी इसका दुरुपयोग भी होता है। मन में कोई अपवित्र विचार आया तो तीन दफे प्राणायाम करके उस विचार को हटाने का रिवाज अच्छा था। दीर्घ श्वसन के लाभ अनुभव सिद्ध हैं और भस्त्रिका तो एक तरह का आन्तरिक स्नान ही था।

श्वसन के बाद की कला है मलमूत्र के विसर्जन की। इसमें मुख्य वस्तु है समय पर जाने की आदत, और दोनो क्रियाओ की इद्रियो को पूर्णतया साफ रखने की। इस बात में पशु पक्षी और कृमि-कीटक मनुष्य से अच्छे है। मलमूत्र त्याग की प्रेरणा हाते उसे वे रोकते नही। मनुष्य का रहन सहन और सुधरा हुआ जीवन कृत्रिम हो गया है। इसलिए खास तौर पर कहना पडा है कि 'वेगान् न धारयेत्।" मलमूत्र के त्याग की कुदरती प्रेरणा को कहते है वेग। उसको रोककर रखना नही— न धारयेत। वेग को रोकने से कई तरह के रोग होने की सम्भावना होती है। शरीर में अनिष्ट वायु तो पैदा होती ही है।

खान पान की कला

जो चीज देखी तुरत खा ली, ऐसी आदत अच्छी नहीं। वह है असस्कारिता का लक्षण। भूख नहीं होने पर पशु-पक्षी भी खाने के लिए प्रवृत्त नही होते। बीमार होने पर खाना छोड देते हैं। सस्कारी मनुष्य को चाहिए कि वह अपने खान-पान का समय बाँध दे और बीच में कुछ न खाये।

खान की चीज सामने आते ही अपने शरीर से पूछना चाहिए—भूख है?' और 'हैं तो कितनी?' खाना शुरू करन के पहले ही मनुष्य तय कर ले कि इस वक्त कितना खाना है। मानव पिता मनु भगवान ने कहा है कि भूख से ज्यादा खाना सब तरह से हानिकारक है। उनका श्लोक कठ करने लायक है—

अनारोग्यम् अनायुष्यम् अस्वर्ग्यम् च अतिभोजनम्।
अपुण्यम् लोक विद्विष्टम् तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥

पेटू बनकर अति भोजन करना आरोग्य का नाश करना है, आयुष्य को क्षीण करना है, स्वर्ग का रास्ता रोकना है। अति आहार से पुण्य भी क्षीण होता है। समाज में पेटू आदमी की प्रतिष्ठा कम होती है, लोग उसकी निन्दा करते हैं, इसलिए अति भोजन की आदत छोड देनी चाहिए।

मनु भगवान ने यह भी कहा है कि खाने के बाद कुल्ला किये बिना, दांत और मुँह अच्छी तरह धोये बिना इधर-उधर जाना नहीं चाहिए। न च उच्छिष्ट क्वचित् व्रजेत्। जूठा मुँह लेकर कही भी नही जाना चाहिए।

जो भी हम खाते है, अच्छी तरह चबाकर मुँह में उसका रस बनाकर खाना चाहिए लेकिन जब समाज में बैठकर खाते है, तब खान की आवाज भी नही होनी चाहिए।

खाते समय जीभ बाहर निकालने की चन्द लोगों की आदत होती है। चन्द लोग सख्त चीज आधी हाथ में और आधी दांत में पकडकर जोर से तोडते है और हिंस जानवर-जैसे सिर हिला हिलाकर खाते हैं, यह आदत भी अच्छी नहीं है। जब समाज में बैठकर खाते है अथवा किसी के घर पर मेहमान होकर जाते है तब खाने की कुल चीजें कितनी हैं, इसका अन्दाज लगाकर प्रमाण से खाना चाहिए।

ऐसे ही अनेक नियम हैं, जिन्हें बच्चे को अवस्थानुसार खूबी से सिखाने चाहिएँ और उनमें अच्छी आदतें डालनी चाहिएँ।

अब मुख्य बात है खान-पान के आहार-विज्ञान की और आरोग्यशास्त्र की। यह शास्त्र और यह विज्ञान हम सारी जिन्दगी सीखते ही रहते हैं। बच्चों की पढाई में हर साल थोडा थोडा करके इस विषय का अच्छा ज्ञान उनको और सारे समाज को देना चाहिए। आहार विज्ञान और आरोग्य विज्ञान सारे समाज को अगर अच्छी तरह से सिखाया और मन पर काबू रखने की सस्कारिता समाज में फैलायी तो राष्ट्र का आरोग्य बढ़ेगा, रोग कम होंगे और पुरुषार्थ के लिए सब क्षेत्र खुले होंगे।

●

महान लोकशिक्षक विनोबा

•

नारायण देसाई

स्वराज्य के बाद भारत में शायद सबसे बडे लोक-शिक्षक का काम विनोबा ने किया। लोकशिक्षक के नाते विनोबा ने नीचे लिखे काम किये—

१ शासनाभिमुख जनता को स्वोन्मुख बनाना,
२. कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण,
३. सत्याग्रह-मीमांसा,
४. अतिमानस को लोक-भोग्य करना, और
५. सम्यक् दर्शन।

लोक-शिक्षण के माध्यम

विनोबा के लोक शिक्षण के माध्यम नीचे लिखे हैं—

१. परोक्ष पद्धति, २. वैज्ञानिक-कलाकार-समन्वय, ३. प्राचीन का आदर, ४. नूतन पर श्रद्धा और ५. परिव्रज्या (भिक्षु की भाँति जीवन बिताना)।

आइए, इन दोनो के विषय में थोडा और विचार करें।

स्वराज्य के पहले शासन पर आधारित होना लज्जास्पद था। स्वराज्य के बाद वह मूल्य बदल गया। शासनारूढ होना अब गौरवास्पद हो गया। 'कल्याण-राज' की कल्पना निर्माण हुई। शासन ने भी माना कि जीवन के अनगिन क्षेत्रो में काम करना उसकी जिम्मेवारी है, लोक-मानस ने भी स्वीकार किया कि यह शासन का काम है। फलत लोगों की शासनाभिमुखता बढी। हर चीज के बारे में लोग राज्य का मुँह ताकने लगे। परवशता बढी। स्वत्व घटा। स्वत्वहानि से बढकर और कोई गुलामी नही। यह स्वराज्योत्तर पारतन्त्र्य था।

जनता का एक जीवित मसला

विनोबा ने एक मसला लिया—भूमि-समस्या का। जनता का एक मूल प्रश्न, व्यापक प्रश्न, जटिल प्रश्न। इस समस्या को हल करने में शासन भी समर्थ सिद्ध नही हुआ था। विनोबा ने जनता-द्वारा इसे हल करने का बीडा उठाया। साकेतिक प्रवृत्ति थी यह, गाधी की नमक बनाने की प्रवृत्ति की तरह। समस्या कुछ हल हुई, कुछ नहीं हुई, किन्तु हल करने का रास्ता तो खुल गया। शासन को भी इस समस्या को सुलझाने में इस प्रक्रिया से प्रेरणा, उत्साह एव कुछ हद तक सहायता मिली। शासनाभिमुख प्रजा ने स्वराज्य के बाद पहली बार अपनी समस्या को आप हल करने की जिम्मेवारी महसूस की। आजाद प्रजा को जिम्मेवारी का भान कराना, एक बहुत बडी शिक्षा है।

स्वराज्य ने सरकारी नौकरियों के लिए दरवाजे खोल दिये। वह काम प्रतिष्ठित भी हो गया और सरकारी कर्मचारियों की सख्या भी बढ गयी। इसके अलावा निर्माण के भी अनेक नये-नये क्षेत्र खुले। परिणामत भारतीय शिक्षित तरुणों का प्रवाह उस ओर बहने लगा। राष्ट्र-सेवा, पराक्रम, साहस आदि सभी तरुणाकर्षक तत्व वही थे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि निष्काम सेवा के क्षेत्र में आनेवाले नये कार्यकर्ताओं का प्रवाह क्षीण हो गया। इसके अलावा इस क्षेत्र में काम करनेवालों में से बहुत सारे लोग शासन के कामों में चले गये।

राष्ट्रीय शिक्षा का अनिवार्य अंग

विनोबा के आन्दोलन ने नये तरुणो को सरकारी नौकरियों या निर्माण के और क्षेत्र को छोडकर निष्काम सेवा के क्षेत्र में आने के लिए आकृष्ट किया। इस

आन्दोलन के कारण जितने तरुण निष्काम सेवा में आये उतने शायद स्वराज के बाद किसी राजनीतिक पक्ष में भी नहीं आये होंगे। उदीयमान राष्ट्रों के लिए निष्काम सेवकों की एक मजबूत जमात होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी जमात पैदा करना राष्ट्रीय शिक्षा का अग माना जाना चाहिए। विनोबा ने अपने आन्दोलन के द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा के इस अनिवार्य अग की पूर्ति की है।

सत्याग्रह का नया रूप

गाधीजी न जगत को जो सबसे बडी देन दी वह थी उनका सत्याग्रह। विचार और आचार दोनो ही क्षत्रो में वह एक अभूतपूर्व चीज थी किंतु सत्याग्रह कोई स्थितिमान (स्टेटिक) चीज नहीं थी, वह गतिमान (डायनमिक) चीज थी। गाधीजी के जीवन में भी सत्याग्रह के विचार और आचार का विकास हुआ। एक तत्वदर्शी और प्रयोग-वीर के नाते विनोबा ने सत्याग्रह के दर्शन में कुछ वृद्धि की है। स्वराज्य के बाद इस विषय में भी सन्दर्भ नया था। आजादी थी गणतत्र था और अत्यन्त आगे बढ़ा हुआ विज्ञान-युग था। इस त्रिविध सन्दर्भ में सत्याग्रह का एक नया रूप विनोबा न रखा। सत्याग्रह के इस नये रूप में मुख्य तत्व ये हैं—

अ विधायकता, आ सौम्यता, इ हृदय-परिवर्तन के लिए विचार परिवर्तन और परिस्थिति-परिवर्तन पर भार, ई प्रदर्शनात्मकता का लगभग अभाव, और उ चिन्तन प्रक्रिया में अहिंसक सहयोग (नान वायलेंट एसिस्टेंस इन राइट थिंकिंग)

सत्याग्रह आचार जगत के लिए नया-नया हिंसा को बना दिया है, तब विभिन्न क्षत्रो में समस्या-समाधान के लिए सत्याग्रह के नानाविध प्रयोग की आवश्यकता रहेगी। इस सन्दर्भ में सत्याग्रह के बारे में नया दिग्सूचन विनोबा का एक बडा शैक्षणिक कदम माना जायगा।

मानव का आध्यात्मिक चिन्तन जगत के कल्याण के लिए परमात्म शक्ति के अवतरण तक आ गया था। उसके स्वागतार्थ या उसका पात्र बनने के लिए मानवीय मन को अतिमानस तक जाने का आह्वान श्री अरविन्द आदि न दिया था। मन से ऊपर उठने की बात रामक्षा

कर विनोबा ने इसे लोक-भोग्य बनाया। उपासना और साधना के वैयक्तिक मार्ग को सामूहिक बनाने की ओर भी विनोबा ने इंगित किया। अध्यात्म के क्षेत्र में विनोबा को यह शैक्षणिक देन है।

साम्ययोग के मुख्य तत्व

भारतीय और जागतिक चिन्तन ने देश-काल के अनुसार तथा विविध द्रष्टाओं की प्रतिभा के अनुसार नानाविध दर्शन दिये हैं। दर्शन के क्षेत्र में विनोबा की जो देन है, वह मूलतः स्वराज्य से पूर्व-काल की है। उनके वर्तमान आन्दोलन ने उस दर्शन का भाष्य किया है, लेकिन दर्शन के मूल तत्व तो उन्होंने इस आन्दोलन से कई वर्ष पूर्व ही दे रखे थे। बल्कि, यह कहा जा सकता है कि वर्तमान आन्दोलन उस दर्शन के परिपाक-स्वरूप ही प्रकट हुआ है। यह दर्शन है सम्यक् दर्शन, जिसे विनोबा ने गीता के छठे अध्याय से दो शब्द चुनकर 'साम्ययोग' का नाम दिया है। ज्ञान, कर्म और भक्ति गीता के भाष्यकारों को तीन बड़ी परम्पराएँ रही हैं। यह सच है कि सभी ने तीनों का कुछ-न-कुछ महत्व स्वीकार किया है, लेकिन सभी ने किसी-न-किसी एक पर अधिक भार दिया है। साम्ययोग ने तीनों पर समान भार दिया। इतना ही नहीं, तीनों को अभिन्न माना। इस दर्शन में इन तीनों का त्रिवेणी-संगम है। वर्तमान युग में इस प्रकार का समदर्शन अधिक उपयोगी होता है। इस दर्शन में निम्न तत्वों का समन्वय है—

अ. ज्ञान-कर्म-भक्ति,

आ. पूर्व-पश्चिम, या अध्यात्म, विज्ञान—

इ. प्राचीन-अर्वाचीन,

ई. व्यष्टि-समष्टि, और

उ. साधन-साध्य।

दर्शन की यह देन अपने में एक अनमोल शिक्षा है।

कुशल शिक्षक की पहचान

अब हम विनोबा की शिक्षा पद्धतियों की ओर मुड़ें।

जो असली शिक्षक है वह इस प्रकार सिखाता है कि शिष्य को यह पता ही न चले कि उसने क्या सीखा। शिक्षा का बोझ शिष्य पर नहीं पड़ता। उसकी शिक्षा-पद्धति सूर्य-किरणों-सी प्रखर है, लेकिन सूर्य किरण-सी *अनाक्रमणशील भी है। कोई यदि अपना दरवाजा बन्द* रखे, तो वह बरबस उसमें प्रवेश नहीं करती। विनोबा अनवरत शिक्षा देते जाते हैं, लेकिन अनाग्रह से। यदि कोई शिक्षा लेना न चाहे तो वे उसे जबरदस्ती सिखाने नहीं जाते। कुशल साहित्यिक की भी यही पद्धति होती है।

शिक्षा एक शास्त्र भी है और कला भी। दोनों में से किसी एक का आग्रह रखने से शिक्षा अधूरी रहती है। शिक्षा का शास्त्र तो खूब जाना, लेकिन हर बच्चे के लिए उस शिक्षण-कला का उपयोग न हो तो शिक्षा शुष्क रह जाती है। और, यदि कला के नाम पर कोई शास्त्र को छोड़ दे तो उस शिक्षा में कोई ढंग नहीं रहेगा। अपने कार्यक्रम को विनोबा ने एक वैज्ञानिक की भाँति उठाया है। विनोबा की पद्धति में वैज्ञानिक के निम्न चार गुण हैं—

> अ. तटस्थता, आ. परिस्थिति का अचूक (एक्यूरेट) अनुमान; इ. पृथक्करण की शक्ति, और ई. आवश्यकतानुसार संशोधन की तैयारी।

दूसरी ओर देखें तो एक कलाकार की तरह वे भावानुरूप शैली रखते हैं, और एक कलाकार के नाते शास्त्र से वे ऊपर उठ सकते हैं। शास्त्र उनके लिए बन्धनकर्ता नहीं बनता। विनोबा के दर्शन ने उन्हें प्राचीन का आदर करना सिखाया है। गीताई (तथा अन्य गीता-उपनिषद-विषयक ग्रन्थ) गुरुबोध, कुरान-सार, नामघोषा-सार, जपुजी, धम्मपद, अभंगव्रतें आदि वाङ्मय इस बात का द्योतक है। वेदोपनिषद उनके कंठ में हैं, ईशु, लाओत्से, मुहम्मद आदि सन्त उनके हृदय में हैं। गांधी का कार्य उनके कर कमलों में है। इस प्रकार प्राचीन में जो सार है उसे उन्होंने शिरोधार्य किया है।

विनोबा की भविष्य के प्रति श्रद्धा

लेकिन, जो नवीन है और जो आधुनिक है, उसके विषय में उन्हें आस्था है। अक्सर ऐसा नहीं होता। जो प्राचीन का आदर करते हैं वे अर्वाचीन की निन्दा करते हैं, लेकिन विनोबा की समन्वय दृष्टि उनसे यह कहलाती है कि भगवान बुद्ध के कन्धों पर बैठकर हम अहिंसा के दूर के क्षितिज देख सकते हैं। [शेष पृष्ठ ८० पर]

सम्पादक के नाम चिट्ठी

बरसात और पाठशाला-भवन

महोदय,

मैं प्रधानाध्यापक हूँ एक ऐसी प्राइमरी पाठशाला का, जिसमें कुल ८ शिक्षक और लगभग ४०० विद्यार्थी हैं। हरेक शिक्षक के जिम्मे करीब ४० से ६० विद्यार्थी हैं।

जरा सोचिए तो, एक शिक्षक ६० विद्यार्थियों की मात्र-रखवाली करेगा या उन्हें शिक्षा विधि के अनुसार, जो ट्रेनिंग स्कूलों में बडी कडाई से सिखायी जाती है, शिक्षा देगा।

इसके अतिरिक्त ८ शिक्षकों के लिए कम से-कम ८ कमरे तो होने ही चाहिएँ, लेकिन हमारे स्कूल में कुल दो कमरे और एक बरामदा है। आजकल बरसात के कारण नाकोदम है। एक-एक कमरे में कई-कई कक्षाओं के छात्र और अध्यापक 'सार' में मवेशियों की तरह बन्द हो जाते हैं। कमरे में तिल रखने की जगह नहीं रहती। जोरदार बारिश होने पर कमरे भी चूने लगते हैं। फिर तो मछली-बाजार-सा कोलाहल रोकने पर भी नहीं रुकता। ऐसी हालत मे क्या किया जाय, कुछ समझ में नहीं आता। लडके शोर मचाते हैं और सारे स्कूल की पढाई ठप पड जाती है। हम 'शिक्षक' विवश बन जाते हैं और जब तक बाहर की जमीन गीली रहती है, यही क्रम चलता रहता है। आस-पास किसी का ऐसा मकान भी नही, जिसमें हमलोग कुछ देर के लिए कक्षाएँ लगा सकें। हमारे यहाँ की यह स्थिति बरसात भर तो रहने ही वाली है।

क्या हमारे अधिकारी हमारे तथा हमारे ही जैसे दूसरे स्कूलो की इस विषम परिस्थिति की ओर ध्यान देंगे ?

—एक शिक्षक

(आजमगढ़)

सिनेमाघर और राष्ट्रगीत

सम्पादकजी,

सिनेमाघरों में शो' के समाप्त होने पर राष्ट्रगीत होता है, यह बडी अच्छी बात है, लेकिन हम अपनी कुसंस्कारिता के कारण राष्ट्रगीत का कितना अपमान करते हैं, किसी से छिपा नहीं। कुछ लोग कुर्सियों से उठते ही नही, कुछ उठते हैं तो जँभाइयाँ लेते रहते हैं और कुछ लोग सिनेमाघर से बाहर निकल भागने के उतावलेपन में दरवाजो के पास पहुँच जाते हैं। बात यहीं तक नहीं, कभी-कभी राष्ट्रगीत चलता रहता है और दरवाजे खोल दिये जाते हैं, और बत्तियाँ जला दी जाती हैं, लोग भाग खडे होते हैं। बातचीत और बीडी-सिगरेट पीना तो आमबात है। आखिर, यह सब क्यो ? आजादी की सत्रह वर्षगाँठें मनाने के बाद भी हमारे कुसंस्कारो का परिमाजन क्यो नही हुआ ?

पाठशालाओं में राष्ट्रगीत नियमित रूप से कराया जाय। उन्हें राष्ट्रगीत की सारी विधियाँ अच्छी तरह समझायी जायँ। पाठशालाओं में भी मैंने कई बार देखा है कि एक ओर राष्ट्रगीत चल रहा है, दूसरी ओर इक्के-दुक्के अध्यापक बातें कर रहे हैं, छात्र आँख मूँदे दौड रहे हैं। होना यह चाहिए कि राष्ट्रगीत आरम्भ हो जाने पर, जो लोग पंक्ति में नहीं पहुँच सके हो, वे जहाँ भी हो खडे हो जायँ और वही से राष्ट्रगीत का

सम्मानपूर्वक गायन करें। राष्ट्रगीत हर बच्चे को याद तो होना ही चाहिए। निर्भीकतापूर्वक शुद्ध पाठ करने का अभ्यास भी होना चाहिए। इस प्रकार हमारी भावी पीढ़ी में राष्ट्रगीत के प्रति सम्मान और आदर की भावना पैदा की जा सकती है।

—धर्मदेव सिंह,
(वाराणसी)

•

चुनाव और जातिवाद

महोदय,

मैं एक प्राइमरी पाठशाला का अध्यापक हूँ। मेरी कहानी, अकेली अपनी नहीं, मेरे ही जैसे अनेक निरीह अध्यापकों की कहानी है। आजकल आये दिन होनेवाले चुनावों से गांवों में जातिवाद को खूब बढ़ावा मिल रहा है। अभी कुछ दिनों पहले जिलाबोर्ड के सेक्रेटरी-पद के लिए हुए चुनाव ने हमारे जिले में जातिवाद का बड़ा ही घिनौना रूप प्रस्तुत किया है। गाँवों की दलबन्दी के कारण इस जातिवाद की रस्साकशी से अध्यापक अपने को चाह कर भी अलग नहीं रख पाता।

उक्त चुनाव में जिले का भूमिहार-दल विजयी हुआ है और राजपूत दल पराजित। परिणामतः विजेता-दल प्रतिहिंसावश जिले के उन अध्यापकों को, जिनके सम्बन्ध में नाम-मात्र को भी शंका होती है कि उन्होंने चुनाव में किसी किस्म की रुचि दिखायी है, जिले के दूसरे छोर पर किसी-न-किसी बहाने स्थानान्तरित कर रहा है।

जहाँ गांव जातिवाद और गन्दी राजनीति के कारण कई दलों में विभक्त हो चुके हैं, वहां अध्यापकों के लिए निष्पक्ष रहकर भी अपने को अधिकारियों की दृष्टि में निर्दोष बनाये रखना, कठिन हो रहा है। पता नहीं, शिक्षकों को और कबतक इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते रहना पड़ेगा। क्या अधिकारियों की आँखें कभी खुलेंगी भी ?

—एक शिक्षक
प्राइमरी पाठशाला
(गाजीपुर)

जूठे बरतन

•

नीरजा

बापू की दांडी-यात्रा १९४० में हुई। उसके बाद उन्होंने साबरमती का सत्याग्रह-आश्रम छोड़ दिया। उनका कार्य-क्षेत्र वर्धा की मगनवाड़ी बनी। सामूहिक रसोईघर की व्यवस्था बापू के हाथ में थी।

एक दिन बापू ने नियम बनाया—"आज से सभी सदस्यों के जूठे बरतन तीन चार आदमी बारी बारी से साफ किया करेंगे।"

बापू के नियम को सुनकर सभी चकित रह गये। कानाफूँसी होने लगी। यह नियम किसी को फूटी आँखों नहीं भाया। टीका-टिप्पणी होने लगी। लेकिन, इस घुटन के बावजूद बापू से शिकायत कौन करे ?

निश्चित समय पर बापू, बा के साथ बरतन माँजने के लिए बैठ गये। सभी आश्रमवासी धर्म-संकट में पड़ गये। बापू अपनी बात पर हिमालय की तरह अडिग रहे। उन्होंने सबके आग्रह पर बलवन्त सिंह को सहायता के लिए रखना स्वीकार कर लिया।

बरतनों के ढेर बा और बापू के आगे लग गये। मँजाई शुरू हो गयी। थोड़ी देर बाद बापू के चेहरे पर पसीना उभर आया। बा ने कहा—"आप इन कामों में अपनी शक्ति क्यों बरबाद करते हैं ? ये काम हम स्त्रियों पर छोड़ दीजिए और जाकर अपने जरूरी काम कीजिए।"

बापू ने उन्हें समझाया—"दुनिया में न कोई काम छोटा है, न कोई बड़ा। जूठे बरतनों की सफाई मेरी नजर में उतना ही बड़ा और जरूरी काम है, जितना वाइसराय के साथ राजनीतिक चर्चा करना या हरिजन के लिए महत्वपूर्ण लेख लिखना।" •

इनसान और लड़ाई

●

सलील जिब्रान

सागर के किनारे एक आदमी का शव पडा हुआ था। उसके चारों ओर घास के ढेर बिखरे हुए थे। उन्हीं ढेरों पर चार सागर-कन्याएँ बैठी अपनी नीली आँखो से उस शव को देख रही थीं। एक ने कहा—"यह आदमी भूल से सागर की लहरो की लपेट में आ गया।"

दूसरी ने कहा—"नहीं री, यह आदमी जो देवताओ का उत्तराधिकारी है, किसी भारी युद्ध में शामिल हुआ था। उसमें खून की धारा बही, यहां तक कि सागर भी लाल हो गया। यह आदमी उसी में मारा गया था।"

तीसरी ने कहा—"मैं लड़ाई का मतलब तो नहीं समझती, पर आदमी ने रेगिस्तानो पर विजय पाने के बाद सागर पर हमला किया। इससे सागर के स्वामी वरुण को बडा क्रोध आया और उन्होने सारी मानव-जाति का संहार करने की धमकी दी। तब उनको खुश करने के लिए आदमी को आदमियो की बलि देने के लिए मजबूर होना पडा। यह भी उन्हीं बलि दिये हुओ में से एक है।"

चौथी ने कहा—"सचमुच वरुण बडे कठोर हैं। अगर मैं सागर की मालिक होती तो यह खून से भरा बलिदान कभी न होने देती। खैर, चलो, इस आदमी का अतापता लिया जाय।"

चारों ने उस आदमी के कपडे और जेबो को खोजा। उसके दिल के पास एक कपडे में उनको एक चिपका हुआ कागज मिला। एक ने उसको पढा। लिखा था—"प्रिय, रात आधी बीत चुकी है। आँसू बहने के कारण आँखों में नींद नहीं है। मुझे याद आता है तुमने जाते समय मुझसे कहा था कि आँसुओ का विश्वास होना चाहिए। हर आदमी एक दिन जरूर लौट आयेगा।

"समझ नहीं पाती और क्या लिखूँ। सारी ताकत खो चुकी हूँ। सिर्फ आँसुओ पर विश्वास बाकी था, पर वे भी सूख चले। मुझे याद आता है, वह मधुर क्षण, जबकि हमारे शरीर और आत्माएँ एक होनवाली थी। इसी समय राष्ट्र-रक्षा के नाम पर युद्ध की पुकार आयी और तुम अपने फर्ज को अदा करन के लिए चल पड। मै नहीं समझती क्या है वह फर्ज, जो अनगिनत औरतो को विधवा, माताओ को बिना सन्तान के और बच्चो को अनाथ बनाता है। क्या है वह देश भक्ति, जो दूसरे देश के नाश से ही पूरी होती है। मैं नफरत करती हूँ उस फर्ज को, जो गांवो के शान्त, बफिक्र आदमी को जलाकर खाक बना देता है। 'ताकत' राज करनेवालो की रक्षा करती है। खैर जाने दो इन बातो को, प्रेम ने मुझे अंधी बना दिया है। तुम्हारे वियोग ने मेरा सब कुछ छीन लिया है, इसलिए यही प्रार्थना है कि मेरी बातें तुम्हारे रास्ते म रोडा न बनें। अगर प्रेम तुम्हें इस जीवन में मरे पास न ला सका तो अगले जन्म में यही प्रेम तुम्हें मुझसे जरूर मिलायेगा।'

सागर-कन्याओ ने एक दूसरे की ओर खाली आँखों से देखा। पत्र को वहीं रख दिया और मन में वदना लिए चुपचाप वे वहाँ से चल दीं। थोडी दूर जाने पर कहा—'आदमी का दिल वरुण से भी कठोर है।" ●

—साभार 'ग्रामोद्योग' से

हम धरती के लाल हैं

●

श्री 'भ्रमर' जी हिन्दी के जाने-माने गीतकार है, किन्तु बाल गीतकार के रूप में इनकी पुस्तिका 'हम धरती के लाल हैं' पहली रचना है। आद्यन्त पढ़न के बाद विश्वास पूवक कहा जा सकता है कि इनकी यह रचना सन् १९६४ की उत्कृष्ट उपलब्धियों में अपना स्थान रखती है।

अनेक पंक्तियाँ तो इतनी अच्छी बन पडी है कि बार-बार गुनगुनाते रहने को जी चाहता है, किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी है कि कहना पड़ता है कि रचयिता नाम गिनाने का लोभ संवरण नहीं कर पाया है। 'भारत प्यारा देश हमारा' शीर्षकित कविता इसका उदाहरण है। और, कहीं-कहीं भाव भी कुछ कठिन-से लगते है। जैसे—

> गीतों के पनघट पर लगता है सरगम का मेला,
> संस्कृतियों के संगमवाला अपना देश अकेला,

छपाई और साजसवाँर को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। चित्रकार की तूलिका ने जाने-अनजाने भारतीयता के साथ भरपूर खिलवाड किया है। शायद इसीलिए कवरवाले चित्र में बालक स्वदेशी नहीं रह गया है।

पुस्तिका के प्रकाशक है—शशिधर मालवीय, मालवीय प्रकाशन, वेस्ट नयागाँव, लखनऊ। बत्तीस पृष्ठों की इस पुस्तिका का मूल्य एक रुपया है।

अनेक कमियों के बावजूद पुस्तिका अपने ढंग की अनूठी बन पायी है। बच्चों के हाथ लगते ही वे बिना कहे गीत कंठस्थ कर लेंगे, ऐसा विश्वास है। ●

कैलाश को क्यों सब प्यार करते हैं?

लेखक—लक्ष्मण प्रसाद भार्गव
प्रकाशक—बाल शिक्षा मन्दिर, लखनऊ
मुद्रक—मुद्रण-कला-भवन, लखनऊ
मूल्य—एक रुपया सैंतीस पैसे

पुस्तिका का विषय है—'भावी नागरिकों में मानवता की ज्योति जगाना।' विषय के प्रतिपादन में लेखक ने पूरी सजगता बरती है। भाषा सरल एवं सुबोध है। वाक्य छोटे छोटे हैं। उच्चारण-क्लिष्ट शब्दों से बचा गया है।

छपाई साफ और सुन्दर है लेकिन मेकअप और सुधारा जा सकता है। विषयों की विविधता के लोभ में किन्हीं किन्हीं स्थलों पर लेखक उपदेष्टा प्रतीत होने लगा है। विरामचिह्नों के प्रयोग में पूरी सावधानी बरतने के बावजूद कहीं-कहीं अनावश्यक विराम चिह्न भी मिल जाते हैं।

कुल मिलाकर पुस्तिका बच्चों के लिए तो उपयोगी है ही, शिक्षकों और अभिभावकों के लिए भी मार्गदर्शिका सिद्ध हो सकने की क्षमता रखती है। ●

राजकुमारी और दो हंस

लेखिका—श्रीमती कुसुम कटारा
प्रकाशक—भाषा प्रकाशन, सोंधी टोला, चौक, लखनऊ
मुद्रक—प० बिहारीलाल शुक्ल, शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ
मूल्य—एक रुपया पचास पैसे

पुस्तिका का मुख्य विषय—दुखी और गरीब मनुष्यों की सेवा का फल मीठा होता है, सिद्ध करना है, लेकिन इस दृष्टि से पढ़ने पर निराशा ही हाथ आती है। मुख्य विषय राजकुमारी और दो हंसों के आख्यान के बीच दबकर अस्तित्वहीन बन गया है। एक ही चित्र की, एक ही रंग में बार बार आवृत्ति ऊब पैदा करती है। भाषा सरल है, वाक्य छोटे छोटे हैं यह अच्छी बात है। ●

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
के
दो अभिनव पुरस्कार

चिगलिंग : कुमारी निर्मला देशपांडे

यह उपन्यास तो है ही, लेकिन और भी बहुत कुछ है। प्रवासिनी चिंगलिंग भारत में विनोबाजी के आन्दोलन में प्रविष्ट होकर गाँव-गाँव पैदल घूमती है। घर-घर और प्रान्त-प्रान्त का आतिथ्य पाती है। बुद्ध की लीला-भूमि भारत तथा इसके रीति-रिवाजों का, हार्दिकता से अध्ययन, अवलोकन करती है। हजारों वर्षों की ज्ञान-परम्परा को आत्मसात करने का प्रयत्न करती है। निर्मला बहन ने उपन्यास की भावभीनी शैली में भारतीय संस्कृति का ऐसा इन्द्रधनुषी चित्रण किया है, जो अनायास ही पाठक का मन मोह लेता है।

गांधीजी के संस्मरण : शान्तिकुमार मुरारजी

श्री शान्तिकुमार नरोत्तम मुरारजी गांधीजी के अन्तेवासी रहे हैं। इस पुस्तक में उनके बापू, बा, महादेव भाई आदि से सम्बन्धित लगभग २५० संस्मरण हैं। ये संस्मरण अत्यन्त आत्मीय, बोधप्रद और रोचक हैं। श्री नेहरूजी ने मूल गुजराती संस्करण के कुछ पृष्ठ सुनकर कहा था कि ऐसी किताब हिन्दी में जरूर आनी चाहिए।

●

[शेषांश पृष्ठ ७५ का]

प्राचीन का गौरव करने पर भी विनोबा यह मानते हैं कि अर्वाचीन उससे आगे बढ़ा है और उससे भविष्य भी आगे बढ़ेगा। इसमें से विनोबा का आशावाद पैदा होता है; लेकिन नूतन के प्रति उनकी श्रद्धा अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है–नये कार्यकर्ताओं के बारे में उनके विश्वास के रूप में। अच्छे शिक्षक का यह गुण होता है कि उसे अपने छात्रों में विश्वास होता है; बल्कि 'शिष्यात् इच्छेत् पराभवम्' को वे मानते हैं। इसीलिए उन्हें उम्मीद है कि आनेवाला युग गजसेवकत्व का होगा। और, विनोबा की शिक्षा पद्धति का सर्वोत्तम साधन पदयात्रा तो मशहूर ही है। 'चर' धातु उनकी हर क्रिया में लगा है। उनके आचार में, उनके विचार में और उनके संचार में। इसी कारण वे सही माने में आचार्य बने हैं।

●

सर्वोदय-पर्व का पुरस्कार

विनोबाजी के जन्म-दिन (११ सितम्बर) से गाधीजी के जन्म-दिन (२ अक्तूबर) के बीच के समय को 'सर्वोदय-पर्व' का नाम दिया गया है।

सर्वोदय एक प्रचलित शब्द है, जिसका सीधा-सादा अर्थ है—सबका उदय (विकास)। व्यापक अर्थ मे सर्वोदय, जीवन को ओर देखने का एक समन्वय-प्रधान दृष्टिकोण और जीविकोपार्जन की सर्व-हितकारी पद्धति है।

सर्वोदय, समाज के प्रत्येक व्यक्ति का उदय चाहता है—उसके व्यक्तित्व के दोष और विकारो का उदय नही—उसके शुभ सस्कार और आत्मचेतना का उदय।

मनुष्य के शुभ सस्कारो के उदय और विकारो के क्षय के लिए सर्वोदय के पास एक ही मुख्य साधन है—सम्यक् लोकशिक्षण। समाज के प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक स्तर के लोगो तक पहुँचकर उन्हे सर्वोदय-विचार से परिचित कराना और उनके स्वय के तथा समाज के अन्य लोगो के उदय म उनका सहकार प्राप्त करना या इसका सकल्प जगाना लोकशिक्षण की पहली सीढी है।

प्राप्त ज्ञान के आलोक मे अपने निजी जीवन की विसगतियो और विकारो को समझना तथा उनके बन्धन से मुक्त होना लोकशिक्षण की दूसरी सीढी है।

समाज के जो लोग अपने कुसस्कार और दुर्व्यसन के दुष्प्रभाव के कारण पतन के गर्त मे पडे है, उनके विवेक को जागरित करना लोकशिक्षण की तीसरी सीढी है।

सम्यक् शिक्षण—समाज के प्रत्येक अग का—सर्वोदय-साहित्य की मुख्य विशेषता है। आप सर्वोदय-पर्व के अवसर पर सर्वोदय साहित्य का अध्ययन स्वय करें और दूसरो को भी अध्ययन के लिए प्रोत्साहित करें। सर्वोदय की प्रत्येक पुस्तक एक साथी का तरह जिन्दगी की हर ऊँची-नीची पगडण्डी पर सहारे का काम देती है। पुस्तको के लिए सर्व-सेवा-सघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी को लिखने की कृपा करें।

लाइसेन्स न० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
सितम्बर, १९६४ नयी तालीम रजि० स० एल, १७२३

सियार का बच्चा और बूढ़ी शेरनी

किसी जगल मे सियार का एक बच्चा रहता था। उसी जगल मे एक बूढ़ी शेरनी भी रहती थी। एक दिन वह सियार का बच्चा उस बूढी शेरनी के सामने जाकर अकड के साथ खडा रहा और शान से बोलने लगा—"मैंने अनेक कलाएँ सीखी हैं, कालेज की पढाई चल रही है। अँग्रेजी का अध्ययन भी कर रहा हू।'

बूढी शेरनी मन-ही-मन हसने लगी। बूढी होने के कारण उठकर खडे रहने की शक्ति भी उसमे नही थी। बैठे-बैठे ही उसने सियार के बच्चे से कहा—"बच्चे, तू कलावान है, विद्वान है, इसमे शका नही, लेकिन तुझमे एक कमी है। जिस कुल मे तेरा जन्म हुआ है, उसमे हाथी का शिकार नही होता, लेकिन यह कोई तेरा दोष नही है। जो बात तेरे कुल मे ही नही है, उसके लिए तू कर भी क्या सकता है।

पता नही, शेरनी की बात का मर्म सियार के उस बच्चे की समझ मे आया अथवा नही आया। वह नाचते कूदते अपने घर की ओर निकल गया!

अनेक विद्याएँ, अनेक कलाएँ तथा भाषा आदि सीख लेने से हाथी के शिकार की शक्ति नही आ जाती। उसके लिए ब्रह्मविद्या ही चाहिए। ब्रह्मविद्या के होने पर अन्य वस्तुओ की आवश्यकता अपने आप पूरी हो जाती है। उसके न होने पर कितनी ही विद्या कलाओ का संग्रह हो तो भी अन्तत वे सहायक नही होती।

—विनोबा

श्रीकृष्णदत्तभट्ट, सर्व-सेवा सघ की ओर से शिव प्रेस प्रह्लादघाट, वाराणसी मे मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमदिर, वाराणसी
गत मास छपी प्रतियाँ ३२०० इस मास छपी प्रतियाँ ३२००

सर्व-सेवा-संघ की मासिकी

जबतक देश में चरित्रवान शिक्षकों-द्वारा शिक्षा नहीं दी जायेगी, जबतक गरीब-से-गरीब भारती
अच्छी-से-अच्छी शिक्षा मिलने की स्थिति पैदा नहीं होगी, जबतक विद्या और धर्म का सम्पूर्ण
नहीं होगा, जबतक विदेशी भाषा में शिक्षा देने से बच्चों और नौजवानों के मन पर पड़नेवाला
बोझ दूर नहीं कर दिया जायेगा, तबतक इसमें शक नहीं कि जनता का जीवन कभी ऊँचा नहीं उठे

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

वर्ष १३ अंक : ३

अक्तूबर, १९६४

सूचनाएँ

- नयी तालीम का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम
सर्व सेवा संघ, राजघाट
वाराणसी-१

अनुक्रम

वार्षिक चन्दा ६.००
एक प्रति ०.६०

उत्तर प्रदेशीय प्राइमरी पाठशालाओं के लिए अनिवार्य

वर्ष : तेरह
•
अंक : तीन

यह विचार की गरीबी !

मैंने कितना कहा, पर वह युवक नहीं माना। अगर मैं ज्यादा कुछ कहता तो शायद बिगड़ उठता। सोच-समझकर मैं चुप हो गया।

'भारत के गौरवपूर्ण अतीत को वापस लाना है।'—वह बार बार इसी बात पर जोर देता रहा।

'भारत का गौरव किस बात में था?'-मैंने जानना चाहा।

'उसकी सैन्य-शक्ति में, उसके साम्राज्य में।'

'क्या भारत विस्तारवादी, साम्राज्यवादी देश रहा है?'

'निश्चित ही। प्राचीन काल में उसने हमेशा तलवार का इस्तेमाल किया, तलवार से जीतें की, तलवार से शासन किया। विजय की वही भावना भारतीय युवकों में फिर भरनी है। शान्ति की बात करना कायरता है। गद्दारों, विद्रोहियों, समाज-विरोधियों और आक्रमणकारियों का दूसरा क्या जवाब है?'

'जो बातें आप कह रहे हैं क्या उनका मेल इतिहास और परिस्थिति से है?'

'जिसके हाथ में तलवार है उसके पक्ष में इतिहास है, परिस्थिति उसकी गुलाम है।'

'यह वैज्ञानिक चिन्तन नहीं है, केवल क्षोभ और हठ है। मैं तो कहूँगा कि आज जो परिस्थिति है उसमें देश को मजबूत बनाने के लिए सबसे पहले गरीबी और विषमता मिटाने में शक्ति लगनी चाहिए। उस प्रश्न के हल होने से दूसरे प्रश्नों के हल होने का लिए रास्ता खुल जायेगा। सोचिए, तलवार से पेट कैसे भरेगा, भेद कैसे मिटेगा? देश के करोड़ों करोड़ लोग गरीबी और विषमता की आग में इस बुरी तरह जल रहे हैं कि उन्हें देश की स्वतंत्रता तक का ध्यान भूलता जा रहा है।'

'गरीबी और विषमता लोकतन्त्र और समाजवाद, ये सब आधुनिक पश्चिमी वहम हैं। हमारे सब रोगों का एक ही दवा है—तलवार।'

शिक्षित और काफी अच्छी नौकरी में लगे हुए उस भावनाशील युवक की ये बातें सुनने के बाद मेरे लिए कहने को कुछ रह नहीं गया। उन्माद के उत्तर में क्या तर्क दिया जाता? और, अगर सवाल केवल उस एक युवक का होता तो कुछ कहा सुना भी जाता। बस में, रेल में, होटल में, दुकान में, स्कूल और कालेज में इस दिल और दिमाग के युवकों से अकसर मुलाकात हो जाती है। कोई चर्चा छिड़ने पर सहानुभूति और तर्क से उन्हें कोई बात समझाना असम्भव होता है। दिमाग की खिड़कियाँ इस बुरी तरह बन्द मिलती हैं कि कितनी भी कोशिश की जाय, खुल नहीं पातीं।

जिन लोगों ने उस दिन दिल्ली में जयप्रकाशजी की सभा में हल्ला मचाया और उनके बोलने में रुकावट डाली वे इसी तरह के दिमाग के लोग रहे होंगे। उन्हें यह बरदाश्त नहीं था कि कोई बात ऐसी कही जाय, जो नयी हो जो धक्का देकर सोते दिमाग को जगा दे और उसे नयी दिशा में कुछ सोचने के लिए मजबूर कर दे। ऐसे लोगों को शायद यह भय होता है कि नया विचार उनके पैरों के नीचे से धरती खिसका देगा, उनके संस्कारों और स्वार्थों को अविवेकपूर्ण और अहितकर सिद्ध कर देगा उन्हें भी जमाने के अनुसार ऊपर उठाकर सबके साथ एक लाइन में खड़ा कर देगा इसलिए नयी बात को सामने आने ही मत दो। विचार का भय बड़ा जबरदस्त होता है। तलवार गला काटकर इकट्ठा खत्म कर देती है, लेकिन विचार इनसान को बदलकर जिन्दा रहने का न्योता देता है। मनुष्य कभी कभी परिवर्तन से इतना घबड़ाता है कि तलवार की ऐंठ प्रतिक्रियावादी और कायर की आड़ बन जाती है।

हम अपनी समस्याओं को समझते क्यों नहीं, और समझकर उनका मुकाबला करने को तैयार क्यों नहीं होते? क्या कारण है कि जब देश के सामने ऐतिहासिक परिस्थिति की चुनौती प्रस्तुत होती है तो हम आगे न देखकर पीछे देखते हैं और अपने दिमाग को अतीत के किसी काल्पनिक स्वर्णयुग के भुलावे में डालकर या संकुचित स्वार्थ की आड़ लेकर परिवर्तन की जिम्मेदारी से बचना चाहते हैं? स्वतन्त्र भारत नया भारत होगा, यह इतिहास की चुनौती है। कैसा नया भारत?

जिसम हर एक की स्वतन्त्रता, हर एक की इज्जत, और हर एक की रोटी सुनिश्चित हो, सुरक्षित हो। करोड़ों की माँग है कि ऐसी समाज-व्यवस्था तुरत बननी चाहिए। ऐसा होगा, तभी करोड़ों में नयी आशा और नयी शक्ति का सचार होगा, विना इसके हरगिज नहीं। क्या यह ऐसी बात है, जिसे हम समझ नहीं सकते? अगर हम नहीं समझते तो उसके दो ही कारण हो सकते हैं- या तो हमारा दिमाग बिलकुल खोखला है, या हम अपनी सत्ता और सम्पत्ति की रक्षा के लिए जानबूझकर देश का ध्यान दूसरी चीजों में उलझाकर रखना चाहते हैं। सगठन और प्रचार के साधनों द्वारा देश में आज ऐसा किया भी जा रहा है।

क्या देश प्रेम का यह अर्थ है कि राष्ट्रीयता को हिंसा के साथ जोड़ा जाय, और मनुष्यता को खत्म कर हर समस्या का सामाधान तलवार में देखा जाय? एक बार तलवार हाथ में आ गयी तो क्या गारंटी है कि वह उसी का गला काटेगी, जिसे आज हम 'दुश्मन' समझते हैं? क्या आज का दोस्त कल का दुश्मन नहीं हो सकता? इसी तरह आज का दुश्मन कल का दोस्त भी हो सकता है। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जब देश अपना है तो देश में रहने वाले सब अपने हैं, और किसी को किसी का गला काटने का अधिकार नहीं है। देश के आन्तरिक मामलों में हिंसा की बात करना स्वय देशद्रोह है। देश की वास्तविक समस्याओं को न समझना (डिनायल), तथा उदासीनता (एपथी) और निष्क्रियता (इनर्शिया) का आचरण करना भारत-जैसे गरीब और पिछड़े देश के लिए देशद्रोह से कम नहीं है। नये जमाने में देशद्रोह की परिभाषा और राष्ट्रीय गौरव की कल्पना दोनों को बदलना पड़ेगा। नये विचार में द्रोह देखने और गला काटने में गौरव मानने का सामन्तवादी-साम्राज्यवादी जमाना लद गया। नया भारत फासिस्टवादी नहीं होगा। वह तलवार से नहीं चलेगा, बल्कि उस 'सत्य' से चलेगा, जो सर्व-मान्य होगा, सर्व हितकारी होगा, और सत्य का विकास वैज्ञानिक विचार-मन्थन से होगा।

खाने-कपड़े की गरीबी से भी अधिक भयकर है विचार की गरीबी। विचार की गरीबी तब दूर होगी जब हम दिमाग की खिड़कियाँ खोलकर रखेंगे, और समाज के उन असख्य जीवित प्राणियों की, जो आज असह्य दमन और शोषण के शिकार हो रहे हैं, समस्याओं को सामने रखकर सोचेंगे। यह प्रतीति और यह सहानुभूति लोकतान्त्रिक समाजवाद की मुख्य प्रेरणा है। देश के दलित देख रहे हैं कि हम शिक्षित कहाँ तक अपने दिमाग को पुराने और नये स्वार्थों और दुराग्रहों से मुक्त कर इस नयी प्रेरणा को अपने जीवन में स्थान देते हैं।

शिक्षा के माध्यम

का

प्रश्न

●

महात्मा गांधी

बचपन में १२ बरस की उम्र तक मैंने अपनी मातृभाषा गुजराती में शिक्षा पायी। उस वक्त गणित, इतिहास और भूगोल आदि विषयों का मुझे थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था। इसके बाद मैं एक हाईस्कूल मे दाखिल हुआ। इसमें भी पहले तीन साल तक तो मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम रही, लेकिन स्कूल-मास्टर का काम तो विद्यार्थियों के दिमाग में जबरदस्ती अंग्रेजी ठूँसना था। इसलिए हमारा आधे से अधिक समय अंग्रेजी और उसके मनमानी हिज्जों तथा उच्चारण पर काबू पाने में लगाया जाता था। ऐसी भाषा का पढ़ना हमारे लिए एक कष्टपूर्ण अनुभव था, जिसका उच्चारण ठीक उसी तरह नहीं होता जैसी कि वह लिखी जाती है। हिज्जों को कण्ठस्थ करना एक अजीब-सा अनुभव था।

जिल्लत तो चौथे साल से शुरू हुई। बीजगणित, रसायनशास्त्र, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल आदि हरेक विषय मातृभाषा के बजाय अंग्रेजी में ही पढ़ना पड़ा। अंग्रेजी का अत्याचार इतना बड़ा था कि संस्कृत या फारसी भी मातृभाषा के बजाय अंग्रेजी के जरिये सीखनी पड़ती थी। कक्षा में अगर कोई विद्यार्थी गुजराती बोलता, तो उसे सजा दी जाती थी।

हम विद्यार्थियों को अनेक बातें कण्ठस्थ करनी पड़ती थीं, हालाँकि हम उन्हें पूरी तरह नहीं समझ सकते थे और कभी-कभी तो बिलकुल ही नहीं समझते थे। शिक्षक के हमें रेखागणित समझाने की भरपूर कोशिश करने पर मेरा सिर घूमने लगता। सच तो यह है कि यूक्लिड की रेखागणित की पहली पुस्तक के १३ वें साध्य तक जब तक हम न पहुँच गये, मेरी समझ में ज्यामिति बिलकुल नहीं आयी, और पाठकों के सामने मुझे यह मंजूर करना ही चाहिए कि मातृभाषा के अपने सारे प्रेम के बावजूद आज भी मैं यह नहीं जानता कि ज्यामिति, अलजबरा आदि की पारिभाषिक बातों को गुजराती में क्या कहते हैं। हाँ, अब मैं यह जरूर देखता हूँ कि जितना गणित, रेखागणित, बीजगणित, रसायनशास्त्र, ज्योतिष सीखने में मुझे चार साल लगे, अगर अंग्रेजी के बजाय गुजराती में मैंने उन्हें पढ़ा होता तो उतना मैंने एक ही साल में आसानी से सीख लिया होता। उस हालत में मैं आसानी और स्पष्टता के साथ इन विषयों को समझ लेता। गुजराती का मेरा शब्द ज्ञान कहीं समृद्ध हो गया होता, और उस ज्ञान का मैंने अपने घर में उपयोग किया होता।

लेकिन, इस अंग्रेजी के माध्यम ने तो मेरे और मेरे कुटुम्बियों के बीच, जो कि अंग्रेजी स्कूलों में नहीं पढ़े थे, एक अगम्य खाईं खड़ी कर दी। मेरे पिता को कुछ पता न था कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैं चाहता तो भी अपने पिता की इस बात में दिलचस्पी पैदा नहीं कर सकता था कि मैं क्या पढ़ रहा हूँ। क्योंकि यद्यपि बुद्धि की उनमें कोई कमी न थी, मगर वह अंग्रेजी नहीं जानते थे। इस प्रकार अपने ही घर में मैं बड़ी तेजी के साथ अजनबी बनता जा रहा था। निश्चय ही मैं औरों से ऊँचा आदमी बन गया था। यहाँ तक कि मेरी पोशाक भी अपने आप बदलने लगी, लेकिन मेरा जो हाल हुआ वह कोई असाधारण अनुभव नहीं था, बल्कि अधिकांश का यही हाल होता है।

एक दो शब्द साहित्य के बारे में भी। अंग्रेजी गद्य और पद्य की हमें कई किताबें पढ़नी पड़ी थीं। इसमें शक

नहीं कि यह सब बढ़िया साहित्य था, लेकिन सर्वसाधारण की सेवा या उसके सम्पर्क में आने में उस ज्ञान का मेरे लिए कोई उपयोग नहीं हुआ है। मैं यह कहने में असमर्थ हूँ कि मैंने अंग्रेजी गद्य और पद्य न पढ़ा होता तो मैं एक बेशकीमत खजाने से वंचित रह जाता। इसके बजाय, सच तो यह है कि अगर ये सात साल मैंने गुजराती पर प्रभुत्व प्राप्त करने में लगाये होते और गणित, विज्ञान तथा संस्कृत आदि विषयों को गुजराती में पढ़ा होता, तो इस तरह प्राप्त किये हुए ज्ञान में मैंने अपने पड़ोसियों को आसानी से हिस्सेदार बनाया होता। उस हालत में मैंने गुजराती साहित्य को समृद्ध किया होता और सर्वसाधारण की सेवा में मैं और भी अधिक अपनी देन क्यों न दे सका होता?

भारत को अपने ही जलवायु, दृश्य और साहित्य में तरक्की करनी होगी, चाहे ये अंग्रेजी जलवायु, दृश्यों और साहित्य से घटिया दर्जे के ही क्यों न हों। हमें और हमारे बच्चों को तो अपनी खुद की ही विरासत बनानी चाहिए। अगर हम दूसरों की विरासत लेंगे, तो अपनी नष्ट हो जायगी। सच तो यह है कि हम विदेशी सामग्री पर कभी उन्नति नहीं कर सकते। मैं तो चाहता हूँ कि राष्ट्र अपनी ही भाषा का कोष भरे और इसके लिए संसार की अन्य भाषाओं का कोष भी अपनी ही देशी भाषाओं में संचित करे। अंग्रेजों को इस बात का फख्र है कि संसार की सर्वोत्तम साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित होने के एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर सरल अंग्रेजी में उनके हाथों में आ पहुँचती हैं।

यह एक तरह की अच्छी मितव्ययिता होगी कि ऐसे विद्यार्थियों का अलग ही एक वर्ग कर दिया जाय, जिनका काम यह हो कि संसार की विभिन्न भाषाओं में पढ़ने लायक जो सर्वोत्तम सामग्री हो, उसको पढ़ें और देशी भाषाओं में उसका अनुवाद करें।

हमारी झूठी अभारतीय शिक्षा से लाखों आदमियों का प्रतिदिन लगातार नुकसान हो रहा है। जो ग्रेज्युएट हैं, उन्हें जब अपने आन्तरिक विचारों को व्यक्त करना पड़ता है तो वे खुद परेशान हो जाते हैं। वे तो अपने ही घरों में अजनबी हैं। अपनी मातृभाषा के शब्दों का उनका ज्ञान इतना सीमित है कि अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों तक का सहारा लिये बगैर वे अपने भाषण को समाप्त नहीं कर सकते, न अंग्रेजी किताबों के बगैर वे रह सकते हैं। आपस में भी वे अक्सर अंग्रेजी में ही लिखा-पढ़ी करते हैं।

हमारे कालेजों में जो इस प्रकार समय की बरबादी होती है उसके पक्ष में दलील यह दी जाती है कि कालेजों में पढ़ने के कारण इतने विद्यार्थियों में से अगर एक जगदीश चन्द्र बोस भी पैदा हो सके, तो हमें इस बरबादी की चिन्ता करने की जरूरत नहीं।

जगदीश बोस कोई वर्तमान शिक्षा की उपज नहीं थे। वह तो भयंकर कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद अपने परिश्रम की बदौलत ऊँचे उठे, और उनका ज्ञान लगभग ऐसा बन गया, जो सर्वसाधारण तक नहीं पहुँच सकता, बल्कि मालूम ऐसा पड़ता है कि हम यह सोचने लगे हैं कि जब तक कोई अंग्रेजी न जाने, तब तक वह बोस के सदृश महान वैज्ञानिक होने की आशा नहीं कर सकता। यह ऐसी मिथ्या धारणा है कि जिससे अधिक की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। जिस तरह हम अपने को लाचार समझते मालूम पड़ते हैं, उस तरह एक भी जापानी अपने को नहीं समझता।

शिक्षा का माध्यम तो एकदम, और हर हालत में बदला जाना चाहिए, और प्रादेशिक भाषाओं को उनका वाजिब स्थान मिलना चाहिए। यह जो काबिलेसजा बरबादी रोज-रोज हो रही है इसके बजाय तो अस्थायी रूप से अव्यवस्था हो जाना भी मैं पसन्द करूँगा।

प्रादेशिक भाषाओं का दरजा और व्यावहारिक मूल्य बढ़ाने के लिए मैं चाहूँगा कि अदालतों की कार्रवाई अपने-अपने प्रदेश की ही भाषा में हो। विधानसभाओं की कार्रवाई भी प्रादेशिक भाषा या जहाँ एक से अधिक भाषाएँ प्रचलित हों वहाँ उनमें होनी चाहिए।

जब तक हम शिक्षित वर्ग इस प्रश्न के साथ खिलवाड़ करते रहेंगे, मुझे इस बात का बहुत भय है कि हम जिस स्वतंत्र और स्वस्थ भारत का स्वप्न देखते हैं उसका निर्माण नहीं कर पायेंगे।●

—'हरिजनसेवक' से

बनाया रुपया, चुराया रुपया

•

रामपूर्ति

प्रश्न—आज बाजार का जो यह संकट पैदा हो गया है, उसका जानकार लोग क्या कारण बताते हैं?

उत्तर—इस सम्बन्ध में कुछ बातें ध्यान में रखने की हैं। अनाज, साग-सब्जी, फल-दूध, कपडा, तथा दूसरी हर छोटी-बडी चीज का दाम बढ़ गया है—देश के किसी एक क्षेत्र में नहीं, हर जगह बढ़ गया है। साथ ही हम यह भी देख रहे हैं कि कोशिश करने पर भी सरकार बाजार पर पूरे तौर पर काबू नहीं कर पा रही है।

यह समझ लीजिए कि ऐसी स्थिति दो चार महीने में नहीं पैदा हुई है। १९३९ से १९४४ तक होनेवाली बडी लडाई की याद आपको होगी। सोचिए, उस वक्त गेहूँ, चीनी और कपडे की कौन कहे, नमक और दियासलाई तक के लिए कितना परेशान होना पडता था। कंट्रोल, राशनिंग, और चोरबाजारी, तीनों परेशानियाँ एक साथ थीं। कंट्रोल से मुक्ति स्वराज्य होने के बाद गांधीजी के बहुत जोर देने पर मिली, लेकिन सस्ती का जो जमाना १९३० से १९४० तक था वह फिर कभी वापस नहीं आया। उलटे हुआ यह कि बाजार का रुख धीरे-धीरे ऊपर की ओर और बढ़ता गया, यहाँ तक कि पिछले कुछ वर्षों में कीमतें बढ़ते बढ़ते यहाँ तक पहुँच गयी हैं। पिछले एक साल में तो कीमतें छलाँग मारकर आगे गयी हैं।

शुरू में मूल्यों का बढ़ना देखकर सरकार की ओर से यह कहा जाता था—सरकार के साथ साथ अर्थशास्त्र के कुछ जानकार लोग भी यही कहते थे—कि देश में जब बडे पैमाने पर कल-कारखाने खुलते हैं, तथा विकास और लोककल्याण के तरह-तरह के काम होते हैं, मानी जब देश तेजी के साथ तरक्की के रास्ते पर बढ़ता है तो इन कामों पर खर्च होनेवाला करोडों करोड रुपया बाजार में आता है, और उस रुपये के कारण मूल्यों का बढ़ना जरूरी-सा हो जाता है।

प्रश्न—तो क्या सचमुच यह महँगी सरकार द्वारा किये हुए खर्च के कारण हुई है?

उत्तर—सरकार ने जानबूझकर जनता के लिए यह मुसीबत पैदा कर दी है, ऐसी बात नहीं है लेकिन हाँ, देश के बहुत से जानकार लोगों का यह कहना है कि सरकार के कई तरह के खर्चों के कारण बाजार में बहुत अधिक रुपया आ गया। ऐसी हालत में अगर रुपये के बढ़ने के साथ-साथ सामान का उत्पादन भी बढ़ता रहे तो भाव अपनी जगह स्थिर रहेंगे लेकिन अगर सामान का उत्पादन तेजी के साथ न बढा और जनता की ओर से आवश्यक चीजों की माँग बढती रही तो मूल्यों का बढना अनिवार्य हो जाता है।

प्रश्न—वे कौन-कौन सी मदें हैं, जिनपर सरकार ने इतना अधिक रुपया खर्च किया है कि बाजार नोटों को नहीं पचा सका है?

उत्तर—तीन मदें खास हैं—सेना, विकास, और प्रशासन (डिफेंस, डेवलपमेंट और ऐडमिनिस्ट्रेशन)।

प्रश्न—इनको जरा तफसील के साथ समझाइए।

उत्तर—पहले सेना को लीजिए। जो सेना हमारे यहाँ अँग्रेजो के जमाने से चली आती थी, उसमें बराबर बढती होती गयी, और जब चीन का हमला हुआ तब तो सेना की ओर सबसे अधिक ध्यान गया। सिपाहियो की सख्या बढायी जाय, हिमालय-जैसे पहाड में लडने के लिए खास टुकडियाँ सजायी जायें, खुश्की पानी और आसमान में लडनेवाली सेना को नये से-नये अस्त्र-शस्त्र मिलें, यह सब कोशिशें की जान लगीं। मतलब यह कि सेना पर अधिक से-अधिक खर्च होने लगा, यहाँतक कि इस समय यह आठ अरब सालाना हो गया है।

सुनने में यह रकम चाहे जितनी बडी मालूम हो, लेकिन अप टू डेट सेना के लिए कुछ नही है। कुल मिलाकर गरीब देश के लिए अच्छी और बडी सेना का खर्च बरदाश्त करना असम्भव मानिए। इतने पर भी हमारी सेना रूस या अमेरिका की कौन कहे, ब्रिटेन या फ्रास के मुकाबले की भी नही है। अभी चीन भी सैनिक शक्ति में हमसे आगे ही है। सेना पर किये गये खर्च से उत्पादन तो बढता नहीं, जो पैसा खर्च होता है वह अनाज, कपडे या काम की किसी दूसरी चीज की शक्ल में जनता के पास वापस नही आता। सेना का खर्च आवश्यक चाहे जितना माना जाय, लेकिन है वह पूर्णत अनुत्पादक।

प्रश्न—लेकिन विकास की योजनाओं पर होनेवाले खर्च का तो यह हालत नहीं होता।

उत्तर—हाँ, आपका कहना सही है लेकिन हमारे देश म १ अप्रैल १९५१ से जो पचवर्षीय योजनाएँ चली हैं और उनके अनुसार जो बडे-बडे कारखाने हैं या सिचाई आदि के जो बडे बड काम हुए हैं उनका पूरा लाभ अभी देश को नही मिल पाया है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—कारण जाहिर है। मान लीजिए, लोहे का एक बडा कारखाना है। करोडो रुपये के खर्च से बरसों में वह तैयार होता है, और तैयार होने के बाद पूरा उत्पादन होने में बरसों लग जाते हैं। इस बीच खर्च तो होता ही रहता है।

प्रश्न—लेकिन छोटे उद्योगों और खेती में तो तुरन्त लाभ मिलने लगता है, क्या नहीं ?

उत्तर—हमारे देश में पिछले तेरह वर्षों से जो योजनाएँ चल रही हैं उनके सम्बन्ध में मेरी यही तो शिकायत है। बडे उद्योगों का नारा तो लगाया गया, लेकिन देश के पाँच लाख गावों और सैकडो शहरो में रहनेवाले करोडो-करोड लोगो को कोई उद्योग देने की बात नही सोची गयी। खाना तो अच्छा-बुरा, थोडा अधिक ये खाते ही रहे, कपडा पहनते ही रहे, लेकिन उनके हाथो को कोई काम नहीं मिला और वे कोई चीज पैदा नहीं कर सके। यही कारण है कि खेती में जितने लोगो की जरूरत है उससे कहीं अधिक लोग लगे हुए हैं। लाखा हट्टे-कट्टे काम कर सकनेवाले मजदूर गाँवो से जाकर शहरो में कुलीगीरी कर रह हैं, रिक्शा चला रहे हैं, लेकिन बोझा ढोन या रिक्शा चलाने से उत्पादन तो नही होता, भले ही खर्च करने के लिए कुछ पैसे मिल जाते हो।

इसी तरह 'अधिक अन्न उपजाओ' के नारे लगाये जाते रहे, और खेती के नाम में अरबो रुपये भी बराबर खर्च होते रहे है लेकिन बढती हुई जनसख्या के लिए जिस तरह अन्न, सब्जी, फल, दूध, तेल घी, चीनी-गुड आदि का उत्पादन बढना चाहिए उस तरह उत्पादन नहीं बढा। सच बात तो यह है कि उत्पादन बढाने के लिए जो काम होने चाहिएँ वे नहीं हुए। सोचिए, कितने दुख और शर्म की बात है कि भारत-जैसे खतिहर देश को अपना पेट भरने के लिए अनाज अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड से—कई छोटे देशो से भी—मँगाना पड रहा है।

इधर अरबो के खर्च के बाद भी हमारा प्रति एकड उत्पादन जहाँ था वहीं ही है। इतना समझ लीजिए कि विकास की योजनाओ से मशीनें बनी, कई तरह के दूसरे सामान बन रहे हैं, अनेक इमारतों, सडको, पुलो, नहरो आदि का निर्माण हुआ, लेकिन खेती में कुछ खास नहीं हुआ बल्कि रुपया लगा, और सब रुपया बाजार में आया, और मूल्यों को बढाने में कारण बना।

प्रश्न—खेती और गाँव के उद्योग धन्धों के बारे में मैं आपसे और अधिक जानना चाहूँगा, लेकिन अब तक आप आज के मर्ज के कारणों को अच्छी तरह समझा दीजिए।

उत्तर—ठीक है। मैंने सेना और विकास पर होनेवाले खर्च की बात कही। तीसरी बहुत बड़ी मद स्वयं सरकार पर होनेवाले खर्च की है। स्वराज्य के बाद से सरकारी नौकरों की संख्या बेतहाशा बढ़ती रही है। नये-नये विभाग खुलते रहे हैं और जहाँ पहले दो-चार लोगों से काम चलता था वहाँ अब एक दर्जन या उससे भी अधिक लोग रखे गये हैं। कुल मिलाकर सरकारी नौकरों की संख्या ५५ ६० लाख है। इसका यह अर्थ है कि इस देश में लगभग तीन करोड़ लोग सरकारी नौकरी की आमदनी पर जिन्दा हैं। सरकारी कर्मचारी का काम कोई चीज बनाने या पैदा करने का तो है नहीं, वह केवल हुकूमत करता है, और उस हुकूमत के लिए जनता को टैक्स देना पड़ता है, जिससे सरकारी आदमी को वेतन, भत्ता और पेंशन मिलती है।

सोचने की बात है कि इस देश में अधिकांश लोग—लगभग सत्तर प्रतिशत से कम नहीं—शासन, उद्योग व्यापार या शिक्षा में रहने या ऊँची जाति का होने के कारण अपने हाथ से कोई चीज पैदा नहीं करते, लेकिन देश की ज्यादा दौलत काम में उन्हीं के आती है। निश्चय ही, खर्चीला शासन, खर्चीली शिक्षा, और बेकार समाज का बोझ भारत-जैसा गरीब देश कैसे बरदाश्त कर सकता है?

प्रश्न—जब देश इतना गरीब है तो सेना, विकास और शासन के लिए इतना रुपया आता कहाँ से है?

उत्तर—रुपया कहाँ से आता है! आप टैक्स नहीं देते? सरकार आमदनी पर टैक्स लेती है, आप जो कुछ खरीदते हैं उसपर टैक्स लगा हुआ है, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तौर पर केन्द्रीय और राज्य सरकारें अनेक तरह के टैक्स लगाती हैं। गाँव का आदमी अपनी जमीन पर लगान देता है। टैक्स के अलावा सरकार देश और विदेश से कर्ज भी लेती है। और, जब इस तरह खर्च पूरा नहीं पड़ता तो सरकार अपने 'टकसाल घरों' में नोटें छाप लेती है। इस तरह घाटे का बजट बनाकर सरकार खर्च पूरा कर लेती है। जो कुछ हो, सब मिलाकर बाजार नोटों से भर जाता है। नोटें अधिक हो गयीं और सामान पूरा बना नहीं तो स्वभावतः कीमतें बढ़ जायेंगी। इसी को 'रुपये का बढ़ना' कहते हैं। अर्थशास्त्री लोग अपनी भाषा में इसे 'मुद्रा-स्फीति' कहते हैं।

लेकिन, यह मत समझिएगा कि सरकार ने ही बाजार को नोटों से भर रखा है। बाजार में ब्लैक का रुपया भी बहुत है। लोगों का अनुमान है कि चोरबाजार में १० से लेकर ५० अरब तक रुपया घूम रहा है, जिसपर सरकार को टैक्स आदि के रूप में कुछ नहीं मिलता क्योंकि व्यापारी लोग उसका हिसाब अलग रखते हैं, जो सरकार के टैक्स विभाग के सामने कभी जाने ही नहीं पाता। सारा कालाबाजार इसी रुपये से चलता है—इसी से व्यापारी माल छिपाकर रखता है, किसान से पेशगी खरीद करता है आदि। यह उसके हाथ में बड़ा जबरदस्त 'ट्रम्प' है। ब्लैक रुपया हमारे यहाँ पिछली लड़ाई के समय से शुरू हुआ और आज तक बना हुआ है, बढ़ता जा रहा है। इस तरह आज बाजार में कमाई के सामान्य रुपये के अलावा सरकार के बनाये रुपये और व्यापार के चुराये रुपये की भरमार है।

प्रश्न—खूब! बाजार की माया भगवान की माया से कम नहीं है! क्या मुद्रास्फीति के अलावा बाजार भाव बढ़ने का और भी कोई कारण बताया जाता है?

उत्तर—हाँ, यह बात भी जोरदार ढंग से कही जाती है कि देश में अन्न तथा दूसरा सामान उतनी मात्रा में नहीं है जितनी मात्रा में माँग है और जितना है भी वह बाजार में नहीं आ रहा है, व्यापारियों और बड़े किसानों ने दबाकर रख लिया है। इस तरह रुपया बढ़ने के साथ-साथ सप्लाई की स्थिति भी ठीक नहीं है।

प्रश्न—यह बात जरा समझने की है। ●

सामाजिक विषय की शिक्षा क्यों और कैसे ?

•

शुभदा तेलंग

व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। आदि काल से मनुष्य समाज में रह रहा है, और भविष्य में भी रहेगा। पैदा होते ही बच्चे को कुटुम्ब अर्थात् समाज की सबसे छोटी इकाई यथा माता पिता के पालन-पोषण, संरक्षण और स्नेह की आवश्यकता होती है। अतः मानव सामाजिक प्राणी है—समाज में वह रहता है—समाज की गोद में वह पलता है। उसके अन्दर सामाजिकता है और वह समाज से घिरा हुआ है। वस्तुतः समाज के बिना मानव-जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मनुष्य दैहिक सुरक्षा, आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा समाज के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है। मनुष्य का नैतिक और आध्यात्मिक विकास भी समाज में ही सम्भव है। अस्तु मानव जीवन के सतत् और स्वाभाविक विकास के लिए समाज की आवश्यकता है।

मनुष्य के सामाजिक संगठन

मनुष्य के आज तक के विकास और उन्नति का श्रेय उसके सामाजिक संगठनों एवं सामुदायिक प्रयत्नों को ही है। सामुदायिक साहचर्य की प्रवृत्ति मनुष्यमात्र के जीवन का उसी प्रकार अभिन्न अंग है, जैसे—निद्रा, क्षुधा और काम।

मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का ही यह परिणाम है कि उसने अपने सुचारु जीवन-संचालन के लिए छोटे और बड़े सैकड़ों संस्थाओं का निर्माण किया है। इन संस्थाओं के निर्माण का प्रमुख कारण यह है कि मनुष्य स्वाश्रयी नहीं है अर्थात् वह अपनी समस्त आवश्यकताओं को स्वयं पूरा नहीं कर सकता। अस्तु सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं का अलग-अलग विज्ञान है और प्रत्येक विज्ञान का एक विशिष्ट प्रतिपाद्य विषय।

समाजशास्त्र का दूसरे शास्त्रों से सम्बन्ध

समाज शब्द का प्रयोग व्यापक है। मनुष्य-जीवन के विविध सम्बन्धों के ज्ञान की विविध शाखाएँ हैं और प्रत्येक ज्ञान की शाखा अध्ययन का विषय है। कुटुम्ब, परिवार और उनकी उत्पत्ति तथा उनके विकास-सम्बन्धी ज्ञान को 'समाज शास्त्र' कहते हैं।

अर्थ का उत्पादन, वितरण आदि तत्व मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण हैं। अस्तु अर्थ सम्बन्धी शास्त्र ने एक स्वतंत्र विज्ञान का रूप धारण किया है।

प्राकृतिक वातावरण से उद्भूत विविध भौतिक साधनों का उपयोग मनुष्य करता है। इस विषय से सम्बन्धित ज्ञान को 'भूगोलशास्त्र' कहते हैं।

इतिहास मानव-जीवन के उत्थान और पतन की कहानी है। मानव-सभ्यता का सर्वांग चित्र इतिहास में पाया जाता है।

मनुष्य को शासन-संगठन तथा नियम-कानून की आवश्यकता होती है। इस ज्ञान के भंडार को 'राजनीति शास्त्र' कहते हैं।

व्यक्ति मिलजुलकर राज्य को चलाते हैं। सरकार तथा व्यक्ति के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है। ये दोनों अधिकारों और कर्तव्यों की श्रृंखला से आवद्ध होते हैं। अतएव इस सम्बन्ध को चिरस्थायी करनेवाले शास्त्र को 'नागरिकशास्त्र' कहते हैं।

राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले प्रत्येक नागरिक को आदर्श नागरिक बनाने के लिए नागरिक-शास्त्र का प्रारम्भ हुआ है। नागरिकशास्त्र की व्यापकता केवल व्यक्ति और परिवार, व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति और राज्य ही नहीं है, वरन् नागरिकशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों से भी सम्बन्ध स्थापित करता है।

सामाजिक विषयों की उपयोगिता

अतः समाज क्या है, उसका विकास किस प्रकार हुआ, उसकी गतिविधि क्या है—आदि बातों का सम्यक् ज्ञान सभी को होना चाहिए। भूगोल के अन्तर्गत हम देश की प्राकृतिक बनावट, जलवायु, मुख्य स्थानों, उपज आदि का अध्ययन करते हैं। मनुष्य के सामाजिक जीवन पर इन बातों का प्रभाव पड़ता है। प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव पर और स्वभाव का परिणाम उसके भौतिक जीवन पर पड़ता है। भौतिक साधनों का उपयोग कर मनुष्य अपने भोजन, वस्त्र और आवास की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मनुष्य उपार्जित का उपभोग, विनिमय और वितरण करता है। उद्योग-धन्धे, यातायात, बैंक, कृषि, व्यापार आदि भौतिक जीवन को सुखमय बनाने के साधन हैं।

अतः शैशवकाल से बालक और बालिकाओं को भूगोल, इतिहास, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र आदि का ज्ञान कहानी के रूप में दिया जाना चाहिए। इन सभी का सम्बन्ध मानव-मात्र से है। व्यक्ति के अलग-अलग रूप हैं—व्यक्ति अर्थ का उत्पादक है, व्यक्ति सरकार का अंग है, सरकार को संचालन करनेवाला है, व्यक्ति ही नागरिक है, व्यक्ति ही इतिहास का रचयिता है। अस्तु मानव का विकास समाज के विकास से सम्बद्ध है और मानव-जीवन की पूर्ति समाज-द्वारा ही सम्भव है। अतः प्रत्येक विद्यार्थी को उसके क्रिया-कलापों को जान लेना आवश्यक है। क्योंकि आज का विद्यार्थी कल का नागरिक, मंत्री, व्यापारी, सरकारी-अफसर, कृषक, मजदूर है। इसलिए मानव-जीवन के विभिन्न पहलू-समाज, अर्थ, शासन, धर्म, नागरिकता, नीति, इतिहास आदि हैं।

इतिहास, भूगोल और नागरिकशास्त्र का समन्वय क्यों?

मनुष्य की भाँति-भाँति की इच्छाएँ होती हैं और सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की इच्छाओं में अभिवृद्धि हुई है। साथ ही समय की प्रगति के साथ-साथ उनकी सन्तुष्टि के साधन भी प्रस्तुत होते जा रहे हैं। इन विविध इच्छाओं के अलग-अलग शास्त्र बन गये हैं, जो भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, नागरिकशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र के नाम से जाने जाते हैं। इन सभी शास्त्रों का पात्र मनुष्य है, अस्तु इन शास्त्रों का अध्यापन स्वतंत्र इकाइयों के रूप में करना अवांछनीय है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की संस्थापना मनुष्य के लिए है। अतः इन विविध विषयों में समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। इस समन्वित ज्ञान को ही सामाजिक विषय कहते हैं।

इसलिए, विद्यालयों में इतिहास, भूगोल एवं नागरिकशास्त्र इन तीन विषयों को समन्वित रूप से ही पढ़ाना चाहिए, अर्थात् कक्षा एक से कक्षा आठ तक इन तीनों विषयों को समन्वित रूप से पढ़ाना चाहिए। इन कक्षाओं में सामाजिक विषय के माध्यम से विद्यार्थियों में उचित संस्कार, समन्वित दृष्टिकोण पैदा किया जा सकता है तथा मानव-जीवन की महान् कृतियों से अवगत कराया जा सकता है।

शिक्षण रुचिकर कैसे बने ?

— किसी भी विषय को पढ़ाने के लिए विषय को रुचिकर तथा आकर्षक बनाने की आवश्यकता है। अनुभव से देखा गया है कि यदि अध्यापक को अपने विषय का अच्छा ज्ञान है, और विषय में रुचि है, तो ऐसा अध्यापक विद्यार्थियों में विषय के लिए रुचि पैदा कर सकता है।

जिस विषय में रुचि होती है वह विषय सरलता से समझा जा सकता है और उसके कठिन से-कठिन तत्वों को सरलता से ग्रहण किया जा सकता है।

जब अध्यापक में कमी होती है तो विषय क्लिष्ट मालूम पड़ता है। विषय के रूप में वह पढ़ दिया जाता है और विद्यार्थी भी एक विषय समझकर पढ़ लेते हैं, किन्तु विषय ज्ञान के रूप में रुचिकर तथा आकर्षक नहीं बन पाता। सामाजिक विषय, विशेष रूप से इतिहास एक ऐसा विषय है, जिसे रुचिकर बनाया जा सकता है, क्योंकि उसमें रुचिकर बनने की सामग्री मौजूद है। साधारणतया पाठशालाओं में इतिहास बहुत ही शुष्क ढंग से पढ़ाया जाता है। युद्ध तथा तिथियों को ही महत्व दिया जाता है। ऐसा करने से विद्यार्थियों में इतिहास के प्रति अरुचि पैदा हो जाती है और विषय उनके लिए कठिन बन जाता है।

समाज शिक्षण में कहानियों का महत्व

प्राइमरी कक्षाओं में इतिहास को अलग-अलग घटनाओं को कहानी के रूप में बतलाना चाहिए। इतिहास के अध्ययन से विद्यार्थियों को भूत, वर्तमान तथा भविष्य की अटूट शृंखला है-ऐसा ज्ञान होना चाहिए, अर्थात् भूत, वर्तमान तथा भविष्य एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और उनमें निरन्तरता है।

बालक और बालिकाओं को वीर और वीरांगनाओं की गाथाओं के लिए विशेष आकर्षण होता है और बचपन वीरता की कथाओं को पसन्द करता है। जीवनी-द्वारा ही इतिहास की सूखी हड्डियों में वास्तविकता तथा स्पष्टता आती है। इन कहानियों द्वारा सामाजिक विकास का भी बोध विद्यार्थियों को कराया जाना चाहिए।

प्राइमरी कक्षाओं में रामायण और महाभारत की कथाएँ बतानी चाहिएँ। पुराणों और उपनिषदों की कथाओं से बालक और बालिकाओं को अवगत कराना भी आवश्यक है; क्योंकि भारतीय संस्कृति के ये आधार हैं। ध्रुव, अभिमन्यु, सीता का पातिव्रत्य, भरत का भ्रातृप्रेम, अर्जुन, द्रोपदी आदि की कथाएँ बहुत ही आकर्षक ढंग से बतलायी जानी चाहिएँ।

मानचित्र का उपयोग

प्राइमरी कक्षाओं में शहर या गाँव के मानचित्र का वर्णन चाहिए तथा प्रदेश के ऐतिहासिक एवं व्यापारिक महत्व के स्थानों के विषय में विद्यार्थियों को अवगत कराया जाना चाहिए। प्रदेश के समीपवर्ती राज्यों तथा उसके उपरान्त भारत के १५ राज्यों के भौगोलिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की कथाओं को क्रमशः बतलाना चाहिए। वस्तुतः इन राज्यों की आबहवा, रहन-सहन, खान-पान, वेश भूषा की जानकारी सम्बद्ध चित्रों एवं कहानियों-द्वारा दी जानी चाहिए। इतिहास एवं भूगोल का समन्वित ज्ञान देना अपेक्षित है।

इतिहास पढ़ाने का अभिप्राय

वर्ग पाँच और छ में महापुरुषों के जीवन-दर्शन की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। इन कक्षाओं में विद्यार्थियों की कल्पना-शक्ति बढ़ायी जानी चाहिए। जीवनियों-द्वारा कल्पना-शक्ति बढ़ायी जा सकती है। इतिहास-द्वारा बालक और बालिकाओं में संवेदनशीलता पैदा की जा सकती है। इतिहास के पढ़ाने का लक्ष्य युद्धों की जानकारी देना नहीं है, अपितु संवेदनशीलता, सहिष्णुता, देश-प्रेम, सहकारिता, सहयोग, सहानुभूति आदि भावनाओं को जागृत करना है।

सामाजिक दरजा

मैं ऐसी स्थिति लाना चाहता हूँ, जिसमें सबका सामाजिक दरजा समान माना जाय। मजदूरी करनेवाले वर्गों को सैकड़ों वर्षों से सभ्य समाज से अलग रखा गया है और उन्हें नीचा दरजा दिया गया है। उन्हें शूद्र कहा गया है और इस शब्द का यह अर्थ किया गया है कि वे दूसरे वर्गों से नीचे हैं। मैं बुनकर, किसान और शिक्षक के लड़कों में कोई भेद नहीं होने दूँगा।

—महात्मा गांधी

पाठशालाओं की प्रार्थना कैसे हो ?

मार्जरी साइक्स

प्रार्थना हम इसलिए करते है कि बच्चों में समूह भावना जागृत हो, एकाग्रता आये, उनका विकास हो, आत्मा और मन बलवान बनें, लेकिन इस प्रकार कुछ लाभ की इच्छा से, भले ही वह लाभ उच्च पारमार्थिक हो, *प्रार्थना करना उचित नहीं—यह प्रार्थना का लक्ष्य* नहीं हो सकता।

प्रार्थना का लक्ष्य

प्रार्थना का एकमेव लक्ष्य है परमात्मा का, परम पिता परमेश्वर का स्मरण करना। उसकी सार्वभौम सत्ता, सर्व-शक्तिमत्ता का स्मरण होना और यह भान होना *कि वही सब-कुछ करनेवाला है हम तो* उसके हाथों की कठपुतली-मात्र हैं हमारा अस्तित्व नगण्य, और क्षणभंगुर है। इस तरह की नम्रता और आस्तिकता का भान प्रार्थना के जरिये होना चाहिए, यही प्रार्थना का लक्ष्य है।

प्रार्थना में आत्मसमर्पण की वृत्ति है। उससे हममें जो सामूहिक भावना, एकात्मता और एकाग्रता आदि गुणों *का आविर्भाव होता है यह तो प्रार्थना की गौण निष्पत्ति* है। ये सारी बातें हमें प्रार्थना से अनायास ही उपलब्ध हो जाती है।

नयी तालीम का यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि हममें अध्यात्म और विज्ञान दोनों का विकास हो। आज इस दुनिया में हमारे सामने अनेकानेक मुसीबतें हैं, कठिनाइयाँ हैं। उनमें से कई का सबसे बड़ा कारण तो यह है कि आज विज्ञान और आत्मज्ञान में समन्वय नहीं है। कुछ लोग जिन्हें विज्ञान की साधारण उपलब्धि होती है, यह समझने लगते है कि वे सारी दुनिया को अपनी मुट्ठी में कर सकते है। किसी छोटी चीज का वे आविष्कार कर लेते हैं और उसका प्रचार प्रारम्भ कर देते है। इस प्रकार दुनिया का बहुत नुकसान करते हैं। ऐसे ही अविचार का एक उदाहरण में आपके सामने प्रस्तुत करती हूँ।

दो साल पहले एक अमेरिकन दम्पति दक्षिण अमेरिका के एक देश में रहने गये। माता, पिता और बालक इस प्रकार तीन व्यक्ति थे। उनके मकान में मच्छर-मक्खी आदि अनेक कीड़े मकोड़े थे। इनको नष्ट करने के लिए उन्होंने एक कीटनाशक दवा का प्रयोग किया।

उस दवा पर जितने भी नियम लिखे थे उनका उन्होंने पूरी सावधानी से पालन किया। कमरे का सारा सामान निकाल कर वे बाहर ले गये। छिड़कने के चार घंटे बाद तक सब चीजें बाहर ही रहीं। उसके बाद सारा सामान अन्दर लाये, लेकिन इस पर भी चार घटे बाद उनका प्यारा कुत्ता बीमार हुआ और थोडी देर में मर गया। उसके दो घंटे बाद उनका बच्चा भी बुरी तरह बीमार हो गया और उसका दुर्भाग्य कि वह मरा नहीं, क्योंकि आज उसकी हालत मास के एक लोथड़े-जैसी ही है। न वह देख सकता है, न सुन सकता है, चलने फिरने की भी शक्ति उसमें नहीं है—वह खुद भी दारुण दुख भोग रहा है और उसके पालक भी भयकर यन्त्रणाग्रस्त है। पता नहीं, विज्ञान की ऐसी जल्दबाजी ने न जाने कितने प्राणियों की ऐसी हालत की होगी, और कर रही होगी।

हम विज्ञान को चाहे जितनी उपासना करें, लेकिन हम विनम्र भी बनें और अपनी मर्यादा को पहचानें। हम यह भी जानें कि ऐसी अनेक बातें हैं, जिनके बारे में हम नितान्त अनभिज्ञ हैं। हमारे इर्दगिर्द अनन्त रूपों में

जीवन व्याप्त है, उसका हमें ख्याल रहे। जीवमात्र के प्रति हमारे हृदय में करुणा और आदर-भाव हो और हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ इन्हीं भावों से अनुप्राणित हों।

प्रार्थना स्थल कैसा हो?

यह एक व्यावहारिक सवाल है कि क्या प्रार्थना के लिए विशेष स्थान आवश्यक है? अवश्य ही प्रार्थना के लिए अगर कोई विशेष स्थान हो तो वह परम उपयोगी होगा। हमारे धर्मों में तो इसीलिए अलग-अलग पूजा-स्थलों का निर्माण किया गया है--मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा आदि। इनमें आस-पास का वातावरण सहज ही मन को अनुकूल बना सकता है, लेकिन आज की परिस्थिति में सभी स्कूलों में अलग से प्रार्थना भवन हों, यह सम्भव नहीं है। इसके लिए निराशा की आवश्यकता नहीं है, हम साधारण उपलब्ध स्थानों का भी अच्छा उपयोग कर सकते हैं।

चार साल पहले मैं जहाज से इंगलैंड जा रही थी। जहाज में काफी भीड़ थी। इंच इंच जगह के लिए विचार करना पड़ता था। उस जहाज में हर रविवार को प्रार्थना का आयोजन होता था। प्रार्थना के लिए अलग से कोई कमरा नहीं था, लेकिन सामूहिक कक्ष को, जिसमें लोग लिखते, बैठते और पढ़ते थे, शनिवार की रात को बदल दिया जाता। कमरे के एक सिरे पर विशेष पर्दों की व्यवस्था कर दी जाती, जिनपर क्रास और ईसाई सन्तों के प्रेरक चित्र बने होते। इस तरह सवेरे लोगों को यह कमरा चर्च के रूप में मिलता और उसमें बहुत अच्छी तरह उपासना एवं आराधना का आयोजन होता।

इस तरह हम अपने-अपने स्कूल के लिए भी कुछ सोच सकते हैं। एकाग्रता साधने के लिए कुछ स्थूल साधन सहायक होते हैं। हम दीप और चित्र रखते हैं। ये हमारे ध्यान में सहायक होते हैं। हम देखते हैं कि बसों में, घरों में भी महापुरुषों के चित्र रखे जाते हैं। वे भी ध्यान में सहायता प्रदान करते ही हैं। इंगलैंड के स्कूलों में बच्चे और शिक्षक प्रार्थना से पूर्व आँखें मूँदकर, हाथ जोड़कर खड़े होते हैं, इससे भी वे प्रार्थना

भिमुख होते हैं। बाहर से अन्दर की ओर सहज प्रेरणा होती है। सार यह कि प्रार्थना के लिए विशेष जगह होने से अवश्य ही मदद मिलती है लेकिन अगर आपके स्कूल में ऐसी व्यवस्था नहीं है तो निराश होने की जरूरत नहीं है मामूली जगह में भी आँखें बन्दकर अथवा दीप रखकर मन को एकाग्र कर सकते हैं।

प्रार्थना के समय कैसे बैठें या खड़े हों?

हर धर्म ने प्रार्थना के समय बैठने-उठने का एक निश्चित तरीका बनाया है और वह निश्चित है। इसलाम में तो नमाज पढ़ते समय पूरी कवायद-सी हो ही जाती है पर उसका अपना एक महत्व है और मन को एकाग्र रखने के लिए श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए वह बहुत ही अच्छा है। हर धर्म में प्रार्थना के समय खड़े होने, बैठने आदि की अलग अलग रीतियाँ बतायी गयी हैं, पर सभी धर्म इस बात पर जोर देते हैं कि प्रार्थना और उपासना के समय मेरुदंड सीधा रहना चाहिए। मन को एकाग्र करने के लिए और नींद को भगाने के लिए रीढ़ की हड्डी का सीधा रहना परम आवश्यक है, इसलिए बच्चों को प्रार्थना के समय ठीक से बैठने के लिए अवश्य कहना चाहिए। उचित निर्देश के अभाव में बालक गलत ढंग से बैठते हैं और उसका दुष्परिणाम उनके तन और मन पर होता है।

प्रार्थना का स्वरूप

अब हम प्रार्थना में क्या-क्या हो, इस पर विचार करें। मैं मानती हूँ कि बच्चों और वयस्क प्रौढ़ों, दोनों के लिए जो प्रार्थना हो उसमें नवीनता और परिचितता दोनों का उपयुक्त समावेश होना चाहिए। कुछ ऐसी चीजें-भजन, पद, मंत्र या श्लोक हों, जिनसे बच्चे परिचित हों कुछ ऐसी चीजें भी हों, जो नित्य नयी हों। इससे रोचकता बनी रहती है और सहज ही आनन्द प्राप्त होता है। किसी भी हालत में प्रार्थना हर रोज वही-की-वही एक जैसी कभी भी नहीं दुहरानी चाहिए। जब एक-जैसी ही प्रार्थना बराबर दुहरायी जाती है तो प्रायः मुँह एक चीज बोलता रहता है और मन अथवा दिमाग दूसरी ही तरफ विचार-मग्न रहता है। यह बार-बार एक ही बात दुहराने का परिणाम है।

इसका एक बहुत ही मजेदार उदाहरण मैं आपको बताती हूँ। लन्दन शहर में एक नाटक बहुत ही लोकप्रिय हुआ। एक सप्ताह दो सप्ताह तीन सप्ताह, एक माह दो माह इस तरह वह लगातार खेला जाने लगा। एक दिन नाटक चल रहा था और इतने में एक अभिनेता एक दम स्टेज पर अपना पाट भूल गया। मच पर तहलका मच गया। किसी तरह गाड़ी आगे चली लेकिन बाद में जब उस अभिनेता से पूछा गया कि वह अपना पाट कैसे भूल गया तो उसने कहा—"इतने महीनों से वही का वही पाट दुहराने से उसे सोचने की जरूरत ही नहीं रह गयी थी। वास्तव में वह उस समय अभिनय करते समय अपने मकान के बारे में सोच रहा था—उस मकान के कमरे कैसे होंगे, खिडकियाँ कैसी बनेंगी कैसा रंग लगायेंगे आदि पर विचार करते करते वह अपने बाथरूम के बारे में सोच रहा था कि इतने में उसका अभिनय रुक गया। एक ही चीज बार-बार दुहराते रहने से ऐसी स्थिति भी हो सकती है। इसलिए प्रार्थना यन्त्रवत न हो उसमें जडता नहीं आये इसका ध्यान रखना चाहिए।

मैं बचपन में जिस स्कूल में पढ़ती थी उसमें प्रार्थना का बहुत अच्छा प्रबन्ध होता था। वह क्रम इस प्रकार रहता था—

१ भजन—रोज नया भजन।
२ कोई प्रेरक कहानी अथवा प्रसंग—धर्मग्रन्थों से चुनकर रोज नयी कहानी अथवा प्रसंग सुनाया जाता था।
३ दो या तीन अंश प्रार्थना के हर रोज नये होते थे।
४ समारोपण-गीत यह गीत सब लोग साथ मिलकर गाते थे और रोज वही गीत गाया जाता था।

इस तरह हमारी उस प्रार्थना में नवीनता और परिचितता का सुन्दर सामंजस्य था। रोज कुछ चीजें दुहरायी जाती थीं और रोज कुछ नया भी होता था। रोज अलग अलग भजन होते थे वाचन भी रोज नया नया होता था प्रार्थना भी रोज नयी होती थी पर उन सबका क्रम वही था। हम सब जानते थे कि इसके बाद क्या होगा। इससे एक सहज जागृति एवं अभिनव चेतना बनी रहती थी।

मद्रास के क्रिश्चियन कालेज में मैं दो-तीन साल थी। वहाँ भी प्रार्थना का सुन्दर और जीवित आयोजन होता था। सबसे पहले अगुआ टोली किसी प्रेरक वाक्य का एक अंश बोलती और सारे विद्यार्थी उसके शेष अंश को पूरा करते। जैसे-अगुआ टोली कहती—

"धन्य हैं वे जो हृदय से नम्र हैं"

तो सारे विद्यार्थी कहते—

"क्योंकि प्रभु का राज्य उनको ही मिलेगा"

इस प्रकार पूरे सप्ताह के लिए एक वाक्य निश्चित था और हर सप्ताह के निश्चित दिन उसका पाठ होता था।

इस तरह प्रार्थना में विभिन्नता का समावेश करना अपरिहार्य है। प्रार्थना का सामान्य रूप एक रहे पर उसमें नवीनता आती रहनी चाहिए। बच्चों के लिए की जानेवाली प्रार्थना में तो और भी अधिक परिवर्तन की पर्याप्त गुंजाइश होनी चाहिए।

प्रार्थना टोली की उपयोगिता

प्रार्थना के आयोजन में एक बहुत ही सहायक बात है भजन टोली अथवा प्रार्थना टोली का निर्माण। शाला के ऐसे शिक्षकों और विद्यार्थियों की एक टोली बनानी चाहिए जिनके गले सुरीले हों और जो प्रार्थना में रुचि रखते हों। यह टोली प्रार्थना का नेतृत्व करे। उनके स्वर से स्वर मिलाकर सब चलें।

भजन टोली को पहले से पूर्व-तैयारी करके भजन तथा प्रार्थना का अभ्यास कर लेना चाहिए। बच्चों में ऐसा भाव न पैदा हो कि कुछ विशेष बच्चों को ही मौका दिया जा रहा है। जो भी बच्चे गा सकें उन्हें टोली में लिया जा सकता है। इसके साथ-साथ हम ऐसा भी आयोजन करें कि जो बच्चे भजन सीखना चाहें उन्हें भजन अवश्य सिखायें। सप्ताह में एक दिन शाला में ऐसा अवश्य रखना चाहिए, जिसमें सारे विद्यार्थियों को एक-साथ सरल और अच्छे भजन या गीत सिखाये जायें। लेकिन, एक सावधानी रखनी चाहिए कि सिखाने का काम पाठशाला में अलग-अलग समय में किया जाना चाहिए। ऐसा न हो कि प्रार्थना के समय ही भजन सिखाना शुरू किया जाय। ● (अपूर्ण)

गतांक से आगे

नये समाज का आधार, नयी तालीम

धीरेन्द्र मजूमदार

आज शिक्षा की वर्तमान परिस्थिति क्या है? पहली परिस्थिति यह है कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति से नेता, शिक्षक, विद्यार्थी तथा जनता सभी को असन्तोष है। फिर भी सभी असहाय बनकर उसी को चला रहे हैं। नाना प्रकार के सुधार की कोशिश करते हैं लेकिन यह नहीं समझते हैं कि सुधार से काम नहीं चलेगा, सन्दर्भ ही बदलना होगा अर्थात सुधार की खोज न कर विकल्प की खोज करनी होगी।

दूसरी यह कि आज समस्त जनता की आकांक्षा और जमाने की आवश्यकता दोनों की माग यह है कि बच्चे, युवक, बूढ़, सबको ऊँची शिक्षा मिले।

लोकतंत्र और शिक्षा की आकांक्षा

पुराने जमाने में जब राजतंत्र था तो राजा का लड़का ही सत्तारूढ़ हो सकता था, दूसरा नहीं लेकिन आज जब बालिग मताधिकार की बुनियाद पर लोकतंत्र प्रतिष्ठित है तो हर एक बालिग स्त्री-पुरुष के लिए यह सम्भावना निर्माण हो गयी है कि वह भी सत्तारूढ़ हो सके। इस सम्भावना ने स्वभावतः हर एक स्त्री-पुरुष के अन्दर उच्च योग्यता हासिल करने की आकांक्षा पैदा कर दी है।

कल्याणकारी राज्यवाद ने अपने को जनजीवन के अंग प्रत्यंग में फैलाकर इतना अधिक व्यापक और प्रतिष्ठित कर लिया है कि हर एक मनुष्य उसी में नौकरी करने के लिए व्याकुल है। इससे भी हर एक के दिल में शिक्षा की आकांक्षा पैदा हो गयी है। लोकतंत्र की आवश्यकता यह है कि प्रत्येक मतदाता उम्मीदवारों के घोषणा पत्रों का सम्यक् विश्लेषण कर राय कायम कर सके। उच्च शिक्षा-द्वारा ही यह सम्भव हो सकता है। अगर ऐसा नहीं हुआ तो कोई धन से मत खरीद कर, कोई लाठी से डराकर या कोई धोखा देकर मत-संग्रह कर लोकतंत्र को पूर्णरूप से विफल कर सकता है।

नयी तालीम के क्रान्तिकारी कदम

लेकिन, आज की परिस्थिति में हर एक आदमी को उच्च शिक्षा मिले यह सम्भव नहीं है। न तो स्कूलों की इमारत इतनी बड़ी हो सकती है और न हर एक व्यक्ति सभी कामों से मुक्त होकर स्कूल के कमरों में जाकर बैठ सकता है। फिर किस तरह कृषि गोपालन, ग्रामोद्योग तथा समाज के सभी अन्य कार्यक्रमों के समवाय से शिक्षण का काम चल सकता है, यह विचारणीय है।

जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि सर्वोदय विचार के अनुसार जितनी प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं उनमें शिक्षा ही ऐसा प्रसंग है, जिस पर चालू पद्धति के बदल की मांग है, और हमारे लिए भी नयी तालीम ही ऐसा कार्यक्रम है, जो क्रान्ति के लिए सक्रिय रचनात्मक कदम है। इसलिए मैं बार-बार कहता हूँ कि भूदान आदि विचार प्रचार, अशोभनीय पोस्टर हटाना, सर्वोदय-नगर बनाने का आन्दोलन, शराबबन्दी का कार्यक्रम हमारे आन्दोलनात्मक कार्यक्रम हैं और नयी तालीम क्रान्ति के आरोहण में एकमात्र रचनात्मक कार्यक्रम है।

झोंपड़ियों तक शिक्षा कैसे पहुँचे?

आज बच्चे घर का जो काम करते हैं उसमें कोई सिलसिला नहीं है। अत्यन्त गरीबी और साधनहीन

परिस्थिति में जिन्दगी को कायम रखने के संघर्ष की आवश्यकता में जब जो काम आ जाये, उन्हें करना पड़ता है। जिन झोपड़ियों में ये लोग रहते हैं उनमें दरवाजे नहीं होते। जब माता पिता बड़े भाई बहन खेत में कमाने चले जाते हैं तो बच्चा घर पर ही रहता है, ताकि घर की रखवाली हो। वह कभी बच्चा सँभालता है तो कभी घर का खाना बनाता है, ताकि जो लोग खेत में कमाने गये हैं वे लौटकर बना बनाया खाना खा सकें।

जिस तरह सत्याग्रह बुनियादी शाला में शिक्षकों का प्रथम काम उद्योग के औजार, खेती, बागवानी आदि कामों को व्यवस्थित और संयोजित करना होता है, उसी तरह ग्रामभारती में शिक्षक का पहला काम इन तमाम फुटकर कामों का अध्ययन तथा उनका संयोजन करना होगा, ताकि काम बेतरतीब ढंग से न होकर आयोजित ढंग से हो और इस आयोजन में बच्चे के समग्र परिवार की तालीम भी निहित हो।

नयी तालीम का मूल उद्योग क्या हो?

गृहकार्य समग्र नयी तालीम का मूल उद्योग है ऐसा समझना चाहिए लेकिन यह वास्तविक ग्रामभारती की परिकल्पना नहीं है। हम कहते हैं कि ग्रामभारती ग्राम स्वराज्य की क्रांति के आरोहण का सातवाँ कदम है तो उसका स्वरूप सामुदायिक कार्यक्रम के माध्यम से ही शिक्षा देने का होगा। उस समय गृहकार्य मुख्य कार्यक्रम न होकर एक महत्व का कार्य होगा। लेकिन, आज जब समाज में समुदाय की कल्पना करना भी स्वप्नवत है और ग्रामभावना के ही विकास करने की बात है तो बच्चा जिस परिस्थिति में है उस परिस्थिति से ही काम आरम्भ करना होगा। इसलिए अभी काफी अरसे तक गृहकार्य को ही मूलोद्योग रखना पड़ेगा, ताकि धीरे धीरे बच्चा का मानस विकास की ओर मुड़ने पर उसमें ग्राम भावना का अंकुर निकल सके। आज तो ग्रामभावना दूर की बात है अपने विकास के बारे में भी कोई नहीं सोचता है। अतः ग्रामभारती के नाम से आज हम जो कुछ कर रहे हैं वह पूर्व-तैयारी मात्र है।

फिर भी, अभी से सामुदायिक कार्यक्रम को भी शिक्षा के माध्यम के रूप में संगठित करने की आवश्यकता है इसलिए हमलोगों ने उनके लिए खेती का एक प्लाट ले लिया, जिससे घर की आवश्यकता के साथ सामंजस्य रखकर कुछ सामुदायिक उत्पादन कार्य की शुरुआत हो सके, और धीरे धीरे सामुदायिक कार्यक्रम का समय बढ़ सके तथा गृहकार्य को सुव्यवस्थित करके उधर से सामूहिक काम के लिए अधिक फुरसत मिल सके। हमने देखा है कि ऐसा हो सकेगा। इसके लिए दो दिशाओं से आगे बढ़ना होगा—

१ परिवारों के अव्यवस्थित कार्यक्रम को शृंखलाबद्ध करना, क्योंकि आज परिवारों का कार्यक्रम ऐसा न होने के कारण थोड़े काम में उनका ज्यादा समय लग जाता है।

२ सामुदायिक काम में उत्पादन-वृद्धि कर कमाई करने का अवसर बढ़ाना।

ग्रामभारती के प्रयोग

इन दोनों दिशाओं में प्रयास करने के लिए हमने निम्नलिखित कार्यक्रम शुरू किया है।

ग्रामभारती में जो बालक शिक्षा पाता है उसके लिए यह छूट है कि जिस दिन वह चाहे उस दिन ग्रामभारती के प्लाट पर काम न करके अपने घर काम करे। इसके लिए नियम यह रखा है कि घर में जिस दिन उसकी आवश्यकता हो उस दिन उसका अभिभावक घर के काम की सूचना दे। सूचना मिलने पर शिक्षक अभिभावक से पूछते हैं कि क्या जरूरत है और उसके लिए कितना समय चाहिए। अगर शिक्षक को ऐसा लगे कि जो काम है उसके अनुपात में अधिक समय की माँग है तो शिक्षक उनसे चर्चा करके कम समय में काम कैसे हो सकता है यह बताते हैं। हमारे साथी उनके घर जाते हैं और जाकर वह काम कम समय में कराकर भी बताते हैं। मैंने ऊपर लिखा है कि बच्चों को काफी दिन तक घर में केवल रखवाली के लिए ही रहना पड़ता है। यह रखवाली का काम भी एक प्रकार से समय की बरबादी ही है। बहुत घरों में तो रखवाली भी नहीं हो पाती क्योंकि बच्चा कभी स्थिर नहीं बैठता। वह इधर-

उधर भाग जाता है, जिससे समय की बरबादी होती है। ऐसे काम के लिए पालक जब बच्चे के लिए इजाजत माँगने आते हैं तो हम लोग उन्हें कहने लगे हैं कि इजाजत तब मिलेगी जब दिन भर घर पर करने के लिए कोई काम बताया जाय। ऐसे काम बताने में समाज की कई समस्याएँ मालूम हो जाती हैं।

शिक्षा का स्तर कैसा हो

इन ग्रामीण समस्याओं की भूमिका में केवल राष्ट्रीय शिक्षा की योजना ही नहीं, संकल्प की आवश्यकता है, और परिस्थिति का विश्लेषण कर समाधान की सूझ भी चाहिए। फिर नित्य प्रगति के साथ नित्य समस्या के समाधान के समवाय में शिक्षाक्रम के संयोजन की आवश्यकता है। अत इस राष्ट्र में शिक्षक रखकर शिक्षा का कार्यक्रम नहीं चल सकता। शिक्षण को साधना के रूप म ही विकसित किया जा सकता है।

तब शिक्षा सर्वसुलभ कैसे हो ?

सहज सवाल उठ सकता है कि फिर शिक्षा सर्वसुलभ कैसे होगी ? अगर गहराई से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि भारत के जनसमाज की मानसिक और चारित्रिक जो परिस्थिति है उसके सन्दर्भ में तालीम को तुरत सर्वसुलभ करने की चेष्टा का मतलब यह है कि चेष्टा करनेवाले अपने समय का अपव्यय कर निराश होने की परिकल्पना कर रहे हैं। आज के समाज में शिक्षा क्रान्ति का प्रकरण है। क्रान्ति के आरोहरण के साथ-साथ ही शिक्षा की व्यापकता भी बढ़ेगी और आगे चलकर वह सर्वसुलभ भी हो सकेगी। क्योंकि क्रान्ति की प्रगति के साथ-साथ जब समाज के चरित्र की भी प्रगति होगी तो शिक्षा का क्षेत्र सरल होगा और वह उतनी कठिन साधना का विषय नहीं रह जायगी। तब तक आज जो शिक्षा के नाम से बालकों और तरुणों को कुछ विषयों की जानकारी दी जाती है उसी में कुछ हेरफेर करके आगे बढ़ाने का व्यापक कार्यक्रम ही चल सकेगा, अर्थात् तब तक शिक्षा के कार्यक्रम के बदले पढ़ाई का काम चलेगा।

(समाप्त)

उपनिषद् की शिक्षा-पद्धति

उपनिषद् में एक कथा है। गुरु अपने शिष्य से कहने लगा—'तत्त्वमसि' तू ब्रह्म है।
शिष्य ने कहा—"मैंने समझा नहीं।"
गुरु ने फिर समझाया। अनेक मिसालें दीं।
शिष्य ने पूछा—"आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं, यह कैसे समझें ?"
गुरु ने कहा—"पानी में नमक डालो।"—फिर कहा—"अब ऊपर का थोड़ा पानी चखो। कैसा है ?"
शिष्य बोला—"नमकीन।"
"जरा बीच का हिस्सा चखो। कैसा लगता है ?"
"नमकीन।"
"अब नीचे का हिस्सा चखो। कैसा लगता है ?"
"नमकीन।"
"तो गुरु ने बताया कि जैसे पानी में नमक नहीं दीखता, लेकिन नमक उसमें है उसी तरह भगवान सर्वत्र विराजमान है।" लेकिन, शिष्य ने फिर से कहा—"मैंने समझा नहीं।" तो गुरु ने दूसरी मिसाल दी—"रात को दुर्जन भी सोता है, सज्जन भी सोता है। गाढ़ी नींद आती है तब क्या होता है ? तुमको ज्ञात होता है ?"
"नहीं।"
"तुम्हारी सज्जनता उस समय होती है ?"
"नहीं"
'दुर्जन की दुर्जनता गाढ़ी नींद में होती है ?"
"नहीं।"
गुरु ने कहा—"वहाँ हम सब एक हैं। वहाँ ब्रह्म है, उसमें हम डूब जाते हैं। चोर को भी गाढ़ी निद्रा आती है, वह भी ब्रह्ममय होता है।"
फिर भी शिष्य ने कहा—"मैंने समझा नहीं।
तो इस तरह जब गुरु ने नौ दफा नौ दृष्टान्त दिये तो शिष्य ने कहा कि अब मैं समझ गया।

—विनोबा-कथित

प्रौढ़-शिक्षा में सफलता कैसे प्राप्त करें ?

•

जे० डी० वैश्य

बहुत समय से हमारे देश में शिक्षा एक समस्या रही है। एक समय था, जब सार्वजनिक शिक्षा को प्रोत्साहन देना भारतीयों के अधिकार से बाहर की चीज थी। थोड़े-से बाबू विदेशी शासन का काम चलाने के लिए पर्याप्त समझे जाते थे। शिक्षा का दृष्टिकोण बहुत सीमित था।

जिस समय शिक्षा का उत्तरदायित्व म्युनिसिपल-बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के ऊपर आया, देश में स्वतंत्रता-संग्राम के सिलसिले में जागृति पैदा हुई, तब प्रान्तीय सरकारों ने भी शिक्षा के ऊपर अधिक ध्यान दिया तो प्रौढ़-शिक्षा की रूपरेखा बनती आरम्भ हुई।

प्रौढ़-शिक्षा का प्रारंभिक रूप

आरम्भ में प्रौढ़-शिक्षा से केवल अक्षर-ज्ञान कराने का आशय लिया जाता था। इसलिए इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रकार की योजनाएँ देश के सामने आयीं; लेकिन उन सब का उद्देश्य अक्षर-ज्ञान देना ही था। कहीं पर अध्यापक को एक बार ही भत्ता दिया गया, कहीं पर साक्षर बनाये जानेवाले प्रौढ़ों की संख्या के अनुपात में भुगतान किया गया और शिक्षक के काम को नापा गया। यह प्रौढ़-शिक्षा प्रायः सारे भारत में चलती रही; लेकिन इसके परिणाम आशाजनक नहीं रहे। शिक्षा का प्रसार व प्रचार हर गाँव में करने की कठिनाई को सबने महसूस किया। प्रौढ़-शिक्षा के इस प्रथम प्रयास से यह अवश्य हुआ कि चारों ओर एक उपयुक्त वातावरण बन गया।

प्रौढ़-शिक्षा का क्षेत्र

केवल अक्षर-ज्ञान-योजना से कई कठिनाइयाँ सामने आयीं। प्रौढ़शालाएँ अच्छी तरह संचालित न की जा सकीं। प्रौढ़ और बच्चे दोनों ही ऐसी प्रौढ़शालाओं में अक्षर-ज्ञान प्राप्त करते रहे। प्रौढ़ों में, पढ़ने के उत्साह को हम अधिक दिन तक बनाये नहीं रख सके, जो उनमें आरम्भ में स्थान-स्थान पर पाया जाता था। हमने बाल-शिक्षा की प्रणाली को ही प्रौढ़ों में लागू किया। सिर्फ अक्षर-ज्ञान से कोई विशेष लाभ नजर नहीं आया और वे इस बात को अच्छी तरह समझने लगे। इस प्रकार कहीं-कहीं पर ऐसे प्रौढ़, जिन्होंने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया था, आगे चलकर हमारी योजना में बाधक सिद्ध हुए।

इन सब कठिनाइयों को देखते हुए यह निश्चय किया गया कि प्रौढ़-शिक्षा का क्षेत्र केवल अक्षर-ज्ञान तक ही सीमित न रहे, बल्कि व्यक्ति की सम्पूर्ण शिक्षा होनी चाहिए। ठीक है, अक्षर-ज्ञान भी आवश्यक है; लेकिन प्रौढ़-शिक्षा को अक्षर-ज्ञान की सीमा-रेखा से घेरा नहीं जा सकता। इस प्रकार वर्तमान समाज-शिक्षा की योजनाओं का जन्म हुआ।

सफलता कैसे प्राप्त करें ?

हमारे प्रौढ़ शिक्षा अथवा समाज-शिक्षा-केन्द्र एक दिन सफल होंगे, इसमें सन्देह नहीं। इस सफलता को हम जितनी जल्दी प्राप्त करते हैं उतना ही हमारे देश का स्तर ऊँचा उठेगा—स्थान-स्थान पर, गाँव-गाँव में, यात्रा में, धर्मशाला में, मन्दिर में, मसजिद में, तीर्थस्थान में, घर-बाहर तथा खेत-खलिहान में, सर्वत्र इस सफलता के चिह्न दिखाई देंगे; और, सभी स्थानों पर एक अपूर्व सुख, शान्ति और उत्साह का वातावरण दीख पड़ेगा।

हमें जल्द-से-जल्द सफलता कैसे मिले, समाज पर इसका प्रभाव कैसे पडे, पिछडे हुए गाँवों में इसकी ज्योति कैसे प्रकट हो ?—ये प्रश्न निरन्तर इस क्षेत्र में काम करनेवालो के सामने आते हैं। नीचे कुछ छोटे मोटे सुझाव कार्यकर्ताओं की सुविधा के लिए यहाँ दिये जा रहे हैं—

- कोई भी प्रौढ शिक्षा-केन्द्र अक्षर ज्ञान से आरम्भ न किया जाय। अक्षर-ज्ञान बाद की वस्तु होनी चाहिए। अक्षर ज्ञान का काम उसी समय आरम्भ किया जाना चाहिए, जिस समय वहाँ के लोग इस बात की माँग करें अथवा पढने के लिए इच्छुक हो। उनकी इच्छा प्रकट करने पर भी अक्षर ज्ञान की प्रक्रिया काम के साथ-साथ अनुबन्धित रूप में चलनी चाहिए।
- केन्द्र को आस पास के लोगो के रहन-सहन, उनकी आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखना चाहिए और कार्यक्रम उसी के अनुसार चालू किये जाने चाहिएँ।
- प्रत्येक प्रौढ-शिक्षा-केन्द्र की नींवें समाज-सेवा के ऊपर स्थापित की जाय। भारत में ईसाई, पादरी तथा दूसरे समाजसेवियों ने जनता का हृदय क्यो जीत लिया? इसीलिए न कि उन्होंने जनता की सेवा बिना भेदभाव के, बिना किसी अपेक्षा के की और उस सेवा के कारण उनके प्रति जनता के हृदय में एक विशिष्ट स्थान बन गया। हमारे प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रो को भी आरम्भ में भिन्न भिन्न प्रकार की सेवा के कार्यक्रम जनता के सामने रखने चाहिएँ। दूर के गाँवों में सेवा का सबसे सरल ढंग दवा का वितरण हो सकता है क्योंकि शारीरिक कष्ट के निवारणार्थ, जो दवा दी जाती है, उससे लाभ प्राप्त करनेवाले व्यक्ति के हृदय पर एक विशेष प्रभाव पडता है, वह अपने सहायक का सदैव आभारी रहता है। इस सेवा-कार्य के साथ-साथ दूसरे शिक्षण-कार्य चालू किये जायें, लेकिन यह ध्यान में रहे कि और ज्ञान पिछड न जाय।
- अक्षर ज्ञान प्राप्त करते-करते ऐसा वातावरण सामने दीखना चाहिए कि अक्षर ज्ञान के द्वारा, जो व्यक्ति जिस धन्धे में लगा हुआ है, वह उस धन्धे को और अधिक सफलता के साथ चला सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि उस स्थान पर चालू धन्धो के सम्बन्ध में छोटी-छोटी पुस्तकें कार्यकर्ताओं और शिक्षार्थियो के सामने रहें। इससे उनमें पढने और अपने गाँव तथा कुटुम्बियों को लाभ पहुँचाने की इच्छा जागृत होगी। ये पुस्तकें ऐसे ढग से लिखी होनी चाहिएँ कि जो अपढ अपने धन्धे में परम्परा अनुसार लगे हुए हैं, इनको समझ सकें और इनसे लाभ उठा सकें।
- जिस प्रकार कुछ वर्ष पहले भारत में धर्म की दुहाई व्यक्ति और समाज को ऊपर उठने में सहायता देती थी उसी प्रकार यह आवश्यक है कि अब व्यक्ति और समाज के सामने नागरिकता पर अवलम्बित कुछ सामाजिक तथ्य रख जायें। सारी सामाजिक शिक्षा की सफलता का द्योतक हमारा नागरिक आचरण है। यदि देश को ऊँचा उठाना है तो नागरिक आचरण की परिपाटी व मर्यादा ऊँची किये बिना हम अपना मस्तक ऊँचा नहीं कर सकते।

●

बालक घर की जमीन में पनपनेवाले पौधे हैं। उनपर जिस तरह हवा, रोशनी और धूप का भला-बुरा असर पडता है, उसी तरह माता पिता की और परिवार के दूसरे लोगों की रीति-नीति का भी अच्छा-बुरा प्रभाव पडता है। यह प्रभाव अमृत की तरह जिलानेवाला भी होता है, और विष की भाँति मारनेवाला भी। —विनुभाई

संयुक्त राज्य अमेरिका में शिक्षण

•

सतीशकुमार

भारत से पैदल यात्रा करके अमरिका पहुंचनेवाले मुझ जैसे मुसाफिर के लिए शिक्षण-संस्थाओं की सैर करना एक खास दिलचस्पी का विषय है। विशेष रूप से रूस, जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन की शिक्षण संस्थाओं में समय गुजार लेने के बाद अमरिकी शिक्षण-पद्धति को जानने समझने की उत्सुकता स्वाभाविक है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन की साधना से पवित्र प्रिंस्टन विश्वविद्यालय से लेकर हारवर्ड और कोलम्बिया विश्वविद्यालय तक जाकर मैंने यह समझने की चेष्टा की कि आखिर अत्यन्त आधुनिक और वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न इन मशीन-दमित विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों का जीवन एवं विचार-परिपक्वता कितनी ऊंची है। २० से ३० और ४० हजार तक की संख्या में विद्यार्थियों को समा सकनेवाले ये विद्या के केन्द्र मानवीय सम्बन्धों के स्पर्श से अछूते और आदमी के नियंत्रण से बाहर कुछ अमुक प्रकार के ढांचे ढलाये मनुष्यों का निर्माण करनेवाले कारखाने बन गये हैं।

लेकिन अमरिका की शिक्षण-संस्थाएं एक-जैसी नहीं हैं। प्रत्येक कालेज और विश्वविद्यालय का अपना ढंग और अपना स्वतंत्र स्वरूप है। वेरमोण्ट राज्य के दो कालेजों में हमारे भाषणों का कार्यक्रम था। हम विद्यार्थियों से मिले, उनके साथ काफी गपशप की। इन दोनों शिक्षण संस्थाओं में कुछ आकर्षक ढांचा हमें देखने को मिला। करीब १५० छात्र और छात्राएं प्रत्येक कालेज में पढ़ती हैं और वहीं पर रहती भी हैं। इन के लिए करीब ३० और ४० के बीच प्राध्यापक हैं। आश्रम की तरह का जीवन और मानवीय स्पर्श का दर्शन हमें यहां हुआ। इन कालेजों में शिक्षा का स्तर अपेक्षाकृत ऊंचा है।

अमरिका के सामाजिक जीवन और पारिवारिक जीवन की परम्परा में कालेज में पढ़नेवाले विद्यार्थी साधारण तौर पर घर में रहना पसन्द नहीं करते। वे छात्रावास में रहते हैं। वहां लड़के लड़कियां स्वतंत्र जीवन व्यतीत करती हैं। पश्चिमी राज्यों के छात्र पूर्वी राज्यों में आकर पढ़ते हैं और पूर्वी राज्यों के छात्र पश्चिमी राज्यों में।

इस देश में कुल ५० राज्य हैं और उन सबको मिलाकर संयुक्त राज्य अमरिका बनता है। अलग-अलग राज्यों में शिक्षा के तौर-तरीके भी अलग-अलग हैं। कुछ सरकारी स्कूल और कालेज भी हैं पर अधिकांश शिक्षण-संस्थाएं निजी तौर पर लोग चलाते हैं और आम जनता से चन्दा प्राप्त करते हैं। गैरसरकारी शिक्षण संस्थाएं बहुत महंगी हैं। तीन और चार हजार डालर (करीब १६ हजार रुपये) के बीच प्रति वर्ष का खर्च आता है। इतनी महंगी शिक्षा किल दहलानेवाली है। नौजवान छात्र इतनी बड़ी धन राशि प्रति वर्ष अपने मां-बाप से प्राप्त करके खुश नहीं रहते। वे आत्म निर्भर रहना चाहते हैं। इतने भारी खर्च के कारण अनेक छात्र स्वच्छित विश्वविद्यालय में नहीं जा पाते।

सरकारी विश्वविद्यालयों में शिक्षा कुछ सस्ती है पर सरकारी विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण छात्र की गैर सरकारी विश्वविद्यालय के छात्रों की तुलना में कदर कम होती है। नौकरी प्राप्त करने के समय भी व्यापारी

संस्थानों या उद्योगों में गैरसरकारी विश्वविद्यालय के छात्र को प्राथमिकता मिलती है।

प्रिस्टन विश्वविद्यालय के एक छात्र ने हमें बताया कि वह दिन में केवल एक बार भोजन करता है। बाकी समय कॉफी पीकर काम चलाता है। शिक्षा का खर्च पूरा करने के लिए काम भी करता है। केरोलीन हाई-स्कूल (वेस्टपोर्ट) की एक छात्रा ने कहा कि यदि कभी स्कूल की बस छूट जाती है तो वह बिना टिकट के रेल में सफर करती है और यदि टिकट की जाँच करनेवाला आता है, तो वह स्नानघर में चली जाती है छुपने के लिए। वह अपने पिताजी से पैसा माँगने में शरमाती है। इस आधुनिक शिक्षा का ऐसा नतीजा अमेरिका जैसे देश में देखने को मिलेगा, मैंने नहीं सोचा था।

साधारणत अमेरिका के बारे में हमलोग बहुत ऊँची कल्पना करते हैं। ऐसा सभी देशों के बारे में होता है। भारत के बारे मे भी बाहरी देशों में यह कल्पना है कि सभी भारतवासी और भारत-सरकार अहिंसावादी है और गांधीजी के बताये मार्ग पर चलती हैं, पर वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं। इसी तरह अमेरिका का नाम आते ही हम सोचते हैं कि वहाँ के सभी लोग बडे अमीर और सम्पन्न है, पर वास्तविकता ऐसी है नही।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अमेरिका बहुत धनी देश है, पर इस धनी देश में विषमता भी आसमान छूती है। १८ करोड की आबादीवाले इस देश में ५ करोड लोग गरीबी का जीवन व्यतीत करते हैं। राष्ट्रपति जानसन ने 'गरीबी पर हमला' करने का नया अभियान चालू किया है। ५ प्रतिशत आबादी बेकारी से पीडित है और १० प्रतिशत आबादी युद्ध सामग्री का निर्माण करनेवाले कारखानों में लगी है। यदि नि शस्त्रीकरण का उद्देश्य सामने रखकर अमेरिका की योजना सेन्ट्रो १५ प्रतिशत लोगों को काम देने की समस्या सामने होगी।

इस अति आधुनिक और दुरुह शिक्षा के बावजूद सामाजिक चरित्र का स्तर कहाँ पहुँचा है? केन्द्रीय जाँच सगठन (फेडरल ब्यूरो आव इनवेस्टिगेशन) ने १९६२ के अपराधों की समीक्षा करते हुए बताया है कि गम्भीर अपराधों की २० लाख घटनाएँ इस वर्ष हुई। राष्ट्रपति केनेडी की हत्या ने सारे संसार को चौंका दिया, पर हत्याएँ इस देश के लिए कोई नयी बात नहीं है। इस वर्ष २४ हत्याएँ प्रतिदिन इस देश में की गयी, अर्थात् हर घंटे में एक आदमी को मौत के घाट उतार दिया गया। इस घृणा और हिंसा पर काबू नहीं किया जा सका है, इसलिए जरूर इस शिक्षण-पद्धति में कहीं दोष है। प्रतिदिन ५० बलात्कार की घटनाएँ १९६२ के दौरान पकडी गयी। यह तो निश्चित ही है कि सभी बलात्कार की घटनाएँ पुलिस की नजर में नहीं आ पातीं। हर चार मिनट के बाद एक झगडा पुलिस की पकड में आया। पुलिस की पकड के बाहर कितने झगडे और बलात्कार हुए, उनका कोई हिसाब नहीं।

हर रविवार को गिरजाघरों में धर्म की शिक्षा दी जाती है। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि धर्म की शिक्षा के अभाव में अपराध बढ़े है। हर गली और हर सडक पर दो चार चर्च जरूर मिलेंगे। साम्यवादी देशों में जिस तरह धर्म को जान-बूझकर बहिष्कृत किया गया है, उसके बदले यहाँ चर्च और धर्म को ज्यादा प्रतिष्ठित किया गया है, लेकिन क्या इस धर्म का रोजमर्रा के जीवन पर कहीं प्रभाव है?

पिछले दिनों दैनिक 'वाशिंगटन पोस्ट' ने आश्चर्यजनक आँकडे प्रकाशित किये थे। इस देश में निजी तौर पर ५ करोड से अधिक बन्दूकें लोगों के पास हैं। उम्मीद की जानी चाहिए कि पवित्र बाइबिल अथवा अन्य धर्म-पुस्तकों की संख्या तो ५ करोड से कहीं अधिक होगी। एक हाथ में बाइबिल और दूसरे हाथ में बन्दूक? कैसा जोडा है यह! हर रविवार की धर्म-शिक्षा का क्या परिणाम? ६० मिलियन डालर प्रतिवर्ष ऐटम बम, मिसाइल्स तथा अन्य सहारक शस्त्रों पर सरकार की तरफ से खर्च किये जाते हैं। इसे देखकर तो हृदय स्तम्भित रह जाता है।

सयुक्त राष्ट्र-सघ की तरफ से प्रकाशित आंकडों के अनुसार ससार में हर ९ सेकेण्ड के बाद एक मनुष्य की मृत्यु भूख और गरीबी के कारण होती है। स्वाभाविक मौतें इसमें शामिल नहीं। केवल भूख द्वारा मौत! लेकिन, बडे-बडे धर्म और राज्य के ठेकेदार दुनिया भर में अपने

स्वार्था पर पानी की तरह पैसा बहा रहे हैं। अगर हमारी शिक्षा-पद्धति मनुष्यता के मूल्यों पर आधारित हो तो उपयुक्त परिणाम कभी सामने नहीं आयेंगे।

यहाँ की शिक्षण संस्थाओं पर राज्य का नियंत्रण कम है लेकिन धन देनेवालों का प्रभाव उन पर ज्यादा है। विद्यार्थियों की सम्पूर्ण जिम्मेदारी सीधे शिक्षक या प्राध्यापक के कंधों पर होती है। शिक्षकों और विषयों की लम्बी सूची विश्वविद्यालय की तरफ से विद्यार्थियों के सामने प्रस्तुत की जाती है। विद्यार्थी स्वतंत्र है अपना शिक्षक और विषय चुनने के लिए। जब विद्यार्थी लम्बी सूची में से शिक्षक और विषय चुन लेते हैं तब शिक्षक विद्यार्थियों के लिए पुस्तकें सुझाते हैं।

भारत के विश्वविद्यालयों में तो सरकारी बोर्ड अथवा विश्वविद्यालय की तरफ से किताबों की सूची और पाठ्यक्रम शिक्षक और विद्यार्थियों पर लाद दिया जाता है। बहुत कुछ यही तरीका ब्रिटेन में भी है। पर यहाँ के विश्वविद्यालयों में इस केंद्रित निर्णय की पद्धति को हटाकर प्राध्यापक और विद्यार्थियों पर सब कुछ छोड़ दिया गया है। यह ठीक भी है। भला सरकारी बोर्ड को यह निर्णय करने की क्या जरूरत कि शिक्षक विद्यार्थियों को कौन सी किताबें पढ़ाये? फिर भारत में शिक्षक पढ़ाता कुछ और है परीक्षक प्रश्नपत्र कुछ दूसरे ही बना डालता है और उत्तरपत्र कहीं तीसरी जगह जाँचे जाते हैं। यही कारण है जब विद्यार्थी से प्रश्नों के उत्तर नहीं दिये जाते तब वह या तो नकल करता है या चोरी करता है और पकड़े जाने पर परीक्षा भवन की जाँच पर तैनात प्राध्यापक पर हमला भी कर बैठता है पर यहाँ ऐसी कोई घटना नहीं घटती। क्योंकि जिस प्राध्यापक ने किताबों का चुनाव किया वही किताबें पढ़ायेगा और वही अपनी कक्षा के छात्रों के लिए प्रश्नपत्र बनायेगा परीक्षा लेगा उत्तरपत्रों की जाँच करेगा नम्बर देगा छात्रों को उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण करेगा और उस प्राध्यापक का हर निर्णय अन्तिम होगा।

विश्वविद्यालय के किसी भी अधिकारी का छात्र और प्राध्यापक के बीच आने का हक नहीं। इस पद्धति में छात्र और शिक्षक के बीच हृदय का सम्बन्ध बनता है। दोनों एक दूसरे के प्रति जिम्मेदार होते हैं। इस देश में आकर मैंने कम-से-कम ३०–३५ शिक्षण-संस्थाएँ देखीं पर कहीं भी विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता का समाचार सुनने को नहीं मिला।

मैंने कई बार कुछ लोगों से सवाल पूछा कि – क्या यहाँ कभी छात्र हड़ताल करते हैं? तो सबसे पहले तो लोग मेरे सवाल ही नहीं समझ पाते थे और खोलकर समझाने पर वे इसे मजाक समझते थे। छात्र और हड़ताल? जबकि भारत में विद्यार्थियों पर गोलियाँ तक चलती हैं। बनारस विश्वविद्यालय मैसूर विश्वविद्यालय, पटना विश्वविद्यालय और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की हड़तालें मैंने अपनी आँखों देखी हैं। भारत के छात्र और प्राध्यापक के बीच सही अर्थों में कोई गहरा रिश्ता ही नहीं रह गया है। ●

विश्व शान्ति यात्री सर्वश्री सतीश कुमार (उपर्युक्त लेख के लेखक) जो चित्र में दायें हैं और प्रभाकर मेनन, जो गत १ जून १९६२ को बापू की समाधि राजघाट, नयी दिल्ली से रवाना होकर मास्को वाशिंगटन की शान्ति यात्रा पर निकले थे लगभग सवा दो वर्ष बाद अपनी शान्ति यात्रा समाप्त कर ११ सितम्बर को बम्बई पहुँचे हैं।

पुस्तकालय और शिक्षा

परमानन्द दोषी

मानव जीवन में शिक्षा का कैसा महत्वपूर्ण स्थान है, इसे हम सभी अच्छी तरह जानते हैं। शिक्षा के बिना हमारा जीवन निकृष्ट और अधूरा रह जाता है। शिक्षा को यदि हम अति सीमित अर्थ में न लें, तो देखेंगे कि विश्व के सभी प्राणियों को इसकी किसी-न किसी प्रकार आवश्यकता होती ही है। पशु पक्षी भले ही पुस्तकीय शिक्षा नहीं प्राप्त करते हों, परन्तु अपने माता पिताओं एवं अपने अन्य सजातीय समूहों से जीवन-यापन की बहुत सारी बातें अनुकरण के सहारे वे अवश्य ही सीखते हैं। प्रकृति के प्रकोपों से अपनी रक्षा करने में वे जिन कारणों से समर्थ हो पाते हैं, उनमें अपने समुदाय अथवा वर्ग के अन्य लोगों की नकल और उनमें तत्सम्बन्धी नैसर्गिक गुणों की विद्यमानता प्रधान है।

जब पशु पक्षियों में ऐसी बातें पायी जाती हैं तब मानवों में, जो सृष्टि का सर्वशक्ति सम्पन्न और सर्वोत्कृष्ट प्राणी माना जाता है, जिसमें बुद्धि, विवेक और सूझ-बूझ की मात्रा मानवेतर प्राणियों से अपेक्षाकृत ज्यादा होती है, शिक्षा का कैसा और कितना अंश होना चाहिए या हुआ करता है, इसका हम सहज में ही अनुमान कर सकते हैं।

ज्ञानार्जन की विभिन्न विधियाँ

मानव-जीवन के लिए शिक्षा की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेने के बाद हम अब यह देखने का प्रयत्न करें कि शिक्षा की कौन-कौन सी विधियाँ उनके लिए अबतक प्रचलित हैं और उनसे किन-किन अंशों में मनुष्य को लाभ पहुँच सकना सम्भव है। सृष्टि के आदि काल से ही मनुष्य शिक्षा का कोई-न-कोई माध्यम निकाल कर उसके जरिये शिक्षित होता रहा है। यह बात दूसरी है कि अति प्राचीन काल में जब मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान का क्षितिज संकुचित था, जब उसके मानसिक धरातल को अपेक्षित उच्चता प्राप्त नहीं थी, तब वह शिक्षा की ऐसी पद्धतियों से परिचालित एवं प्रशिक्षित होता रहा, जिसे हम बिना किसी हिचकिचाहट त्याज्य करार दे सकते हैं। परन्तु, उनका भी अपने जमाने में अपना विशिष्ट महत्व था।

ज्यों ज्यों ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य उन्नति करता गया, आविष्कार और अन्वेषण की ज्यों-ज्यों नयी-नयी मंजिलों को वह पार करता गया, त्यों-त्यों उसके जीवन के अन्यान्य उपादानों की भांति उसकी शिक्षा की दिशा में नये-नये स्वस्थ एवं मंगलमय परिवर्तन होते गये। एक दिन जो पत्थर की चट्टानों पर अटपटे चित्रों के द्वारा अपने मन के उद्‌गारों को व्यक्त करता था, वही लिपि और मुद्रणकला का आविष्कार करके आकर्षक पोथियों में अपने विचारों को सुस्पष्ट भाषा में लिपिबद्ध करके उसे ज्यादा-से ज्यादा सुलभ, उपयोगी और स्थायी बनाने लग गया। इस प्रकार की सुविधाओं में निरन्तर संशोधन और परिवर्द्धन होता जा रहा है। मनुष्य जिज्ञासु जो है। उसकी उत्सुकता और नित-नवीन उपलब्धियों को आविष्कृत एवं प्राप्त करने की उसकी आकांक्षा और धुन, हो सकता है, आगे चलकर उसे आज की अपेक्षा और अच्छी व्यवस्था करा देने में समर्थ हो सके।

पुस्तकालय की शिक्षा का विकास-क्रम

पहले आदमी ठीकरों, चट्टानों पर उत्कीर्ण चित्रों, लिखावटों के द्वारा, श्रुति-स्मृति की परम्परागत सुनने और स्मरण रखने की परिपाटी के द्वारा बड़े-बड़े महापुरुषों, चिन्तकों, मनीषियों, ऋषियों और दार्शनिकों के सेवामय साहचर्य के द्वारा फिर गुरु-पिण्डों, बाद में विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों की शरण में जाकर शिक्षा की प्राप्ति करने में समर्थ हुआ। इसी क्रम में पुस्तकालयों-द्वारा शिक्षा दिये जाने की परम्परा का उदय हुआ और मनुष्य के सम्मुख अन्य शिक्षालयों की भाँति पुस्तकालय-सेवा भी शिक्षा के साधन रूप में आ उपस्थित हुई।

विद्यालयीन शिक्षा की भाँति पुस्तकीय शिक्षा में भी निरन्तर सुधार और परिवर्तन होते रहे। बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्रियों एवं पुस्तकालय-विज्ञानवेत्ताओं के अनुभव और आविष्कार के प्रकाश में पुस्तकालय-सेवा-प्रणाली में स्वस्थ परिवर्तन किये जाते रहे; और हमने ऊपर की पंक्तियों में हो निवेदन किया है कि इस परिवर्तनशील विश्व में कोई भी वस्तु अगर समय की दौड़ में आगे नहीं बढ़े, उसमें परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हो, तो उसे जीवित हम नहीं कह सकते। जीवन और जगत दोनों गतिशील हैं। स्थिरता तो मृतावस्था में प्राप्त हो सकती है। ऐसी अवस्था में पुस्तकालय के क्षेत्र में भी यदि सदैव परिवर्तन होते रहे हैं, तो यह उसके जीवित होने का प्रमाण है, उसकी उपयोगिता और उसके अस्तित्व में रहने की आवश्यकता का सूचक है।

पुस्तकालय के इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि प्राचीन युग के पुस्तकालय में पाठ्य-सामग्रियों के संग्रह पर ही ज्यादा ध्यान दिया जाता था। वे केन्द्रित रूप में ही होते थे। उनका विकेन्द्रीकरण करना उनके संचालन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ता था। पुस्तकालयों की वैसी नीति बहुत मानी में क्षम्य समझी जानी चाहिए; क्योंकि जिन सामग्रियों के आधार पर पुस्तकालय का अस्तित्व खड़ा होता था, वे आज की भाँति सहजता और सरलता-पूर्वक प्राप्य नहीं हुआ करती थीं, वे दुर्लभ होती थीं। ऐसी हालत में उनकी सुरक्षा के प्रश्न को ही सर्वाधिक महत्व देना सर्वथा उचित और स्वाभाविक था; मगर आज ऐसी बात नहीं है। सामान्य विज्ञान ने अपने वरदान से पुस्तकालयों को भी लाभान्वित किया है।

पुस्तकालय-व्यवस्था एक विज्ञान है

पुस्तकालय की स्थापना से लेकर उनके संचालन की अन्तिम प्रक्रिया तक हम विज्ञान को पुस्तकालय के साथ हाथ बँटाते देखते हैं। इसी कारण पुस्तकालय-संचालन-कला को हमने पुस्तकालय-विज्ञान की संज्ञा दे रखी है। पुस्तकालय के लिए भवन-निर्माण से लेकर पाठकों से वापसी में प्राप्त की गयी पुस्तकों के परिष्कार तक के हमारे कार्यकलापों में वैज्ञानिकता रहती है। सामान्य-विज्ञान जिस प्रकार अन्यान्य क्षेत्रों में अपने उत्तरोत्तर विकास और उन्नयन के करतब दिखा रहा है, उसी भाँति पुस्तकालय-संचालन के क्षेत्र में भी यह अपना जौहर दिखाने से बाज नहीं आ रहा है; और श्रव्य दृश्य उपकरणों का सहारा लेकर पुस्तकालय अपनी उपयोगिता की बाँह को और लम्बी तथा अपनी सेवा की छाँह को और सघन तथा शीतल कर रहा है।

आये दिन छोटे-छोटे पुस्तकालयों में भी हम रेडियो बजते सुनते हैं। सप्ताह या मास में एक-दो बार चलचित्र भी वहाँ दिखाये जाते हैं। नाटक-प्रहसन का भी आयोजन पुस्तकालयों के तत्वावधान में छठे-छमासे किया ही जाता है। यह सब क्या है? क्या ये आयोजन पुस्तकालयों के कार्यक्षेत्र के बाहर के आयोजन हैं? शिक्षा और ज्ञान-प्राप्ति के श्रव्य-दृश्य-सम्बन्धी इतने बहुमुखी उपकरण अब उपलब्ध हैं कि जिनकी उपयोगिता के सम्मुख पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाओं के महत्व प्रायः गौण-से हो गये हैं।

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में किये जा रहे उपयोगी प्रयोगों से हमें अपने पुस्तकालयों को वंचित नहीं रखना है। यदि हम जीवन और जगत में हो रही प्रगतियों के साथ-साथ अपने पुस्तकालयों की सेवाओं के कदम को कायम रखना चाहते हैं, तो हमें उनमें श्रव्य-दृश्य उपकरणों के सहारे सम्बन्धित शिक्षा की अनिवार्य रूप से व्यवस्था करनी होगी। श्रव्य-दृश्य शिक्षा का वर्तमान समय में बड़ा मूल्य और महत्व है। हम और हमारे पुस्तकालय इस तथ्य को अवश्य समझें।

●

बच्चों का विकास और शिक्षक

कृष्णकुमार

सामान्यतः बचपन में जो आदत पड़ती है वही बड़े होने तक रह जाती है। इसलिए आवश्यक है कि शुरू में ही इसपर ध्यान दिया जाय। घर से, पड़ोस से, विद्यालय से, समाज से बच्चों में कुछ बुरी आदतें पड़ना शुरू होती हैं, और जब ये आदतें कुछ जड़ जमा लेती हैं तब वह बच्चा घर, समाज, स्कूल सबके लिए समस्या बन जाता है। बच्चे की समस्याएँ क्या है, वे कैसे विकसित होती हैं, उनके हल के क्या उपाय हो सकते हैं, इन प्रश्नों पर नीचे कुछ सुझाव दिये जा रहे हैं।

बच्चों की समस्याएँ मनोवैज्ञानिक हैं। उनका हल भी मनोवैज्ञानिक होगा। इसलिए शिक्षक के लिए बाल मनोविज्ञान की जानकारी आवश्यक है। छोटे बच्चे अपने मनोभावों को शब्दों-द्वारा व्यक्त करने में समर्थ नहीं होते। उन्हें संकोच और भय भी होता है। इसलिए वे अपने मनोभाव हँसने रोने, और क्रोध-नाराजगी की क्रियाओं से व्यक्त करते हैं। जब उनकी इन क्रियाओं पर ध्यान नहीं दिया जाता तो उनकी ये ही क्रियाएँ उग्र रूप धारण करने लगती हैं।

जब बच्चा कोई चीज चाहता है तो उसे भुलावे में डाल दिया जाता है रोने लगा तो दो चपत लगा दी जाती है या जिद करता है तो उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। ये कुछ ऐसे कारण हैं, जिनसे बच्चों की आदतें बिगड़ती है।

बच्चों की कुछ ऐसी आदतें हैं, जो सामान्य रूप से सबमें कमो बेश पायी जाती हैं, जैसे—चिड़चिड़ापन, जिद्दीपन, आदि। नीचे के इन उदाहरणों से कुछ स्पष्ट होगा।

पहला उदाहरण

लीला की अवस्था ५ वर्ष की है। वह क्लास में बैठी पढ़ रही है। आइसक्रीमवाला आता है। वह आवाज लगाता है। लीला मचल उठती है। वह शिक्षिका से आइसक्रीम की माँग करती है। शिक्षिका के सामने यह समस्या है कि वह क्या करे। निश्चित है कि ऐसी माँगों की पूर्ति वह नहीं कर सकती। लीला रूठ जाती है। जमीन पर लोट-पोटकर रोती है, पैर पटकती है, जोर-जोर से चिल्लाती है। पूरी कक्षा के काम में बाधा पड़ती है। इस प्रकार लीला की जिद शिक्षिका के लिए एक समस्या खड़ी कर देती है।

दूसरा उदाहरण

५ वर्ष का अनिल अपनी छोटी बहन को तंग करता है। जब उसकी माँ किसी काम में फँसी होती है तब वह अपनी बहन को चिकोटी काटता है, उसका खिलौना छीन लेता है, कान ऐंठ देता है और जब वह रोती है तो वह खुश होता है। वह अपनी माँ से जिद करता है कि मुझे उसी बोतल से दूध पिलाओ, जिससे छोटी बहन को पिलाती हो। वह स्कूल में भी साथियों के साथ इसी तरह के अनावश्यक झगड़े करता है। इससे शिक्षक परेशान रहते हैं।

इन समस्याओं के अनेक-अनेक कारण हैं। शारीरिक अस्वस्थता, हरारत का बना रहना, खुलकर भूख का न लगना, नींद कम आना आदि कारणों से बच्चे में चिड़-चिड़ापन बढ़ता है। टांसिल बढ़ा हो, आँख कमजोर हो, कम सुनाई पड़े या और भी इसी तरह के शारीरिक दोष उसमें हो तो क्रोध आना स्वाभाविक है और अगर ये सब कारण न हो तो घर और समाज के

दोषपूर्ण वातावरण से ये आदतें बच्चों में आती हैं और विकसित होती हैं।

वास्तव में बच्चा कभी समस्या मूलक नहीं होता बल्कि समस्यामलक तो परिवार होते हैं जहां उनकी भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक जरूरतों की पूर्ति नहीं हो पाती। जब घर में दूसरा बच्चा जन्म लेता है तो मा बाप का ध्यान उसकी ओर केंद्रित हो जाता है और तब पहले बच्चे के मन में ईर्ष्या पैदा होती है। उसे महसूस होता है कि नये बच्चे के कारण उसकी ओर से माँ बाप का ध्यान हट गया है उसे अब उतना प्यार नहीं मिलता, जितना पहले मिलता था। इस परिस्थिति में उसे क्रोध आता है और उसकी जिद बढ़ने लगती है।

हमारे यहाँ घरों में नये बच्चे के आने पर प्राय बड़े से समझौता नहीं हो पाता। बच्चा तिरस्कार बरदाश्त करने के लिए तैयार नहीं होता। उसकी समझ में यह बात नहीं आती कि छोटे बच्चे को उससे ज्यादा देखभाल की जरूरत है। अकसर माँ बाप भी समय-समय पर बड़े बच्चे से तुलना करते हुए कह देते हैं कि हमारा छोटा बच्चा तुमसे अच्छा है। यह उसे किसी कीमत पर बरदाश्त नहीं होता।

इन समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक है कि शिक्षक को माँ-बाप का सहयोग मिले। माँ बाप के सहयोग के लिए शिक्षक बच्चों के घर जाय। उनके माँ-बाप से बात करे। लेकिन अगर वह सिर्फ बच्चों के दोषों की ही चर्चा करेगा तो वे कुछ ही दिनों में शिक्षक से मिलना भी पसन्द नहीं करेंगे। इसलिए उनसे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दूसरी समस्याओं पर पहले चर्चा करनी होगी और अपने प्रति भरोसा पैदा करना होगा तब उसका कोई भी सुझाव उन्हें बुरा नहीं लगेगा और वे उनके सुझाव स्वीकार करने लगेंगे। समय-समय पर स्कूल में माँ-बाप का मिला जुला सम्मेलन बुलाना सम्पर्क की दृष्टि से बहुत उपयोगी होता है।

शिक्षक को बच्चों से बातचीत करने तथा उनके भावों को व्यक्त करने की कला का विकास करना चाहिए। इस तरह उसे बच्चों के दोष आदत तथा माता पिताओं के उसके प्रति किये गये व्यवहार उसकी पसन्द नापसन्द आदि का पता चलेगा। बातचीत की क्षमता के कारण बच्चे की उलझन भी कम होगी। बच्चा जब अपने भावों को व्यक्त करता हो तब हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

शिक्षक बच्चों की अलग-अलग तालिका बनाये और उसमें बच्चों के व्यवहारों का अवलोकन करके नोट करता रहे। निम्न प्रक्रियाओं-द्वारा बच्चों के घरों की जानकारी ली जा सकती है---

१—बच्चे घर के बारे में खुलकर बात कर सकें इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए।

२—उनसे कुछ इस तरह के प्रश्न पूछे जा सकते हैं–

- तुम अपने घर कौन-कौन से काम करते हो ?
- तुम्हें कौन-सा खेल अधिक पसन्द है ?
- तुम्हारी किससे किससे दोस्ती है ?
- तुम्हें घर के लिए कौन सी मनपसन्द चीज चाहिए ?

३—बच्चों को प्रोत्साहित किया जाय कि वे अपने पारिवारिक जीवन की तसवीर बनायें जैसा है या जैसा वे पसन्द करते हैं। इन चित्रों से शिक्षक बच्चे के घर की समस्याओं तथा वातावरण को समझ सकता है।

४—शिक्षक बच्चों को खेल-खेल में बारी-बारी अपने पास बुलाये और कहे कि वे अपनी तीन-तीन इच्छाएँ उसके कान में धीरे से कहें। यह बड़ा ही आनन्ददायक खेल होगा। बच्चों को समझने का यह बहुत अच्छा तरीका है।

चिड़चिड़ापन और जिद्दीपन के निराकरण के उपाय

स्वस्थ तन स्वस्थ मन। जब बच्चे का शरीर स्वस्थ होगा तो वह इन बुराइयों से बचा रहेगा।

शिक्षक उसे उन विषयों पर बात करने के लिए प्रोत्साहित करे जिनसे वह नाराज होता है। बच्चा अपने क्रोध को छिपाना चाहता है। उन्हें कोई खिलौना देकर तोड़ने फोड़ने की अनुमति देनी चाहिए। शिक्षक को समझाते हुए कहना चाहिए— मैं जानता हूँ तुम क्रोध में हो मैं स्वयं महसूस करता हूँ। तुम थोड़ी देर

ठहरो।" सामान्यत: ऐसा आश्वासन पाकर, जिससे उसे बोध हो कि उसकी भावनाओं को समझा गया है और उसकी कद्र की गयी है, उसे शान्ति मिलेगी।

कुछ ऐसे प्रसंगों पर शिक्षक को चाहिए कि वह बच्चे को अकेला छोड़ दे। अगर सम्भव हो तो उसके व्यवहारों की उपेक्षा कर दे और उसके साथ ऐसा व्यवहार करे मानो कुछ हुआ ही न हो। अगर उसका रवैया देर तक स्थायी रहता है तो उसे कमरे से बाहर कर देना चाहिए, जब तक कि वह शान्त न हो जाय। चिड़चिड़ापन से पता चलता है कि बच्चा बन्धन महसूस करता है और स्वतंत्रता चाहता है, या प्यार और स्नेह चाहता है। कभी-कभी बच्चा अपने अहं को ऊपर लाना चाहता है। शिक्षक को चाहिए कि धैर्यपूर्वक उसकी बातें सुने और उसका मार्गदर्शन करे। बच्चे को समझाया जाय कि उसका क्रोध कहाँ तक उचित है, कहाँ तक अनुचित। इस तरीके से बच्चों को अपने क्रोध पर काबू पाने में मदद मिलेगी।

ईर्ष्या और पैतृक प्रतिद्वन्द्विता

शिक्षक को मालूम हो जाय कि अमुक बच्चे के छोटे भाई या बहन हैं तो उस पर उसे विशेष ध्यान देना चाहिए। उसकी बातें ध्यानपूर्वक सुननी चाहिएँ और उसे विशेष प्यार देना चाहिए। शिक्षक बच्चे को समझा सकता है कि छोटे होने में क्या लाभ और क्या हानि है और बड़े होने में क्या हानि और लाभ हैं। बच्चे को यह बताया जाय कि उसके बड़े या छोटे होने में उसकी क्या फायदा है और उसकी परिवार में क्यों जरूरत है। इन सब बातों से बच्चों के मन का तनाव दूर हो सकता है। इस प्रकार बच्चे के मन से ईर्ष्या समाप्त हो सकती है।

इन सारी समस्याओं की जानकारी शिक्षक को होनी चाहिए। जब उसे यह मालूम होगा तब वह उस बच्चे की देखभाल उसी दृष्टि से करेगा और उस पर विशेष ध्यान देगा। यद्यपि आज की स्थिति में स्कूल घर का पूरक नहीं हो सकता, फिर भी वह बच्चे के अभाव की पूर्ति कुछ अंश में तो कर ही सकता है। शिक्षक के प्यार और सहानुभूति से बच्चे को कम सान्त्वना नहीं मिलती।

●

आधा लड्डू

○

विनोबा

हम एक बार एक जगह खाना खाने गये थे। वहाँ देखा कि बाप को एक पूरा लड्डू परोसा गया और उसके पास ही उसका छोटा बच्चा बैठा था, उसको आधा लड्डू परोसा गया।

बच्चा रोने लगा और जिद करने लगा कि मुझे पूरा लड्डू चाहिए।

बाप ने समझाया—"तुम छोटे हो, इसलिए तुमको आधा लड्डू।"

लेकिन, बच्चा माना नहीं। आखिर उसकी माँ ने उसकी थाली में एक छोटा-सा गोल पूरा लड्डू रख दिया और टुकड़ा उठा लिया।

अब बच्चा खुश हो गया। वह यह समझता था कि बाप बड़ा है, तो उससे बड़ा लड्डू और मैं छोटा हूँ तो मुझे छोटा लड्डू। लेकिन, मुझे आधा लड्डू और बाप को पूरा लड्डू, यह वह नहीं समझ पाया।

मैं अपूर्ण हूँ, यह मानने से बच्चा भी इनकार करता है। यह पूर्णता का अनुभव मानव के हृदय में है।●

समाज की पहचान

एक बार एक लड़का मेरे पास आया। उसके कान में दर्द था। वह रो रहा था। मैंने उससे विनोद में पूछा—"अरे, दर्द तो कान में है, फिर तुम्हारी आँखें क्यों रो रही हैं?"

लेकिन, कान का दुख आँख के पास तो पहुँचता ही है, और यही लक्षण है जीवित शरीर का।

इसी तरह जिस गाँव में एक पड़ोसी का दुख दूसरे पड़ोसी तक नहीं पहुँचता, उस गाँव का समाज मुर्दा है, ऐसा समझना चाहिए।

○

भारतीय कृषि में विज्ञान

●

डा० मोहिंदर सिंह रंधावा

भारत के कृषि-जीवन में सदियो पहले वैज्ञानिक तकनीक ने प्रवेश किया और खेती, पौध-रोपाई, सिंचाई पौध-सकरण, उर्वरक और खाद, कृमिनाशक दवाइयाँ, बिजली की मोटरें, इंजन, ट्रैक्टर इत्यादि वैज्ञानिक विधियाँ और यंत्र हाथों में आ गये। इन सभी को खेतो तक पहुँचने में लगभग ३०० वर्ष लग गये।

यों तो विज्ञान का जीवन बहुत लम्बा है; पर पिछले १५० वर्षों से विज्ञान हमारी आर्थिक प्रगति का स्रोत रहा है। १८ वीं शताब्दी के अन्तिम दो दशक में विज्ञान ने यूरोप और भारत में प्रवेश किया। इस शताब्दी के अन्त में एक-दो ऐसे अकाल पड़े, जिन्होंने भारत की जनता को हिला दिया और १८८० में 'अकाल आयोग' की नियुक्ति की गयी, ताकि वह उन उपायों पर विचार करे, जिससे भारत को कभी भी खाद्यान्न की कमी का सामना न करना पड़े।

कृषि-कार्यों की समीक्षा से पता चलता है कि भारत में कृषि-अनुसन्धान-कार्य विशेष रूप से केवल ५० वर्षों से ही होता आ रहा है। हाल ही में देश के अन्दर कृषि-शिक्षा के प्रति एक नयी क्रान्ति उभरी है, जो अनेक स्थानों पर कृषि-विश्वविद्यालयों के रूप में प्रकट हो रही है। इस कार्य से केवल कृषि अनुसन्धान-कार्य ही आगे नहीं बढ़ेगा, वरन् अनुसन्धान से मिलनेवाले खेती के लाभदायक और उन्नत तरीके खेतों तक भी पहुँचाये जा सकेंगे।

नयी फसलों का उद्भव और विकास

भारत और अफ्रीका में ज्वार और बाजरे का जन्म हुआ। १३ वीं शताब्दी में ईरान और अफगानिस्तान में अंगूरों की खेती शुरू की गयी। मुगल बादशाह अकबर और जहाँगीर, जो उद्यान प्रिय शासक थे, कश्मीर में मध्य-एशिया के देशों से चिनार के और काबुल से चेरी के पौधे लाये। धीरे-धीरे अंगूर, चिनार और चेरी कश्मीर के अपने हो गये।

१७ वी शताब्दी में पुर्तगालियों ने भारत की खेती में रुचि दिखायी। वे अपने साथ मूँगफली, तम्बाकू, आलू, शकरकन्द, मक्का, पपीता, अनन्नास-जैसी फसलें भी १७ वी शताब्दी में अमेरिका से भारत में ले आये। टमाटर, जिसका जन्म १५३५ में स्पेन में हुआ, भारत में १८ वीं शताब्दी में पहुँचा। इसे अँग्रेज यहाँ लाये। अँग्रेज भारत में चीन से चाय, लीची, लुकाट लाये और यूरोप से फूलगोभी, पातगोभी इत्यादि १८ वीं शताब्दी में लाये। हाल ही में आस्ट्रेलिया से भारत में गेहूँ की रिडले नामक एक नयी किस्म आयी है, जिसे हिमाचल प्रदेश में उगाया जा रहा है और इसकी उपज भी काफी अच्छी हो रही है।

सिंचाई का इतिहास

ईसा से दो शताब्दी उपरान्त दक्षिण भारत में कावेरी नदी से पानी लिया गया और सिंचाई के अनेक स्थायी तालाब बनाये गये। फिर यह पद्धति समस्त दक्षिण भारत और राजस्थान में भी अपनायी गयी और ८ वी शताब्दी तक देश के अनेक भागों में अनेक तालाब तैयार

किये गये और यह सिलसिला बराबर चलता रहा। नहरी सिचाई को भारत में सबसे पहिले मुसलमानो ने तरजीह दी। १२ वीं शताब्दी में तुगलक बादशाहों ने उत्तरी भारत में सबसे पहले यमुना नदी से पानी काटकर नहर बनायी। १८५० में सारे भारत में सिंचित क्षेत्र ३० लाख एकड था। इसके बाद अँग्रेजो ने नहरी सिंचाई को काफी बढावा दिया और उनके भारत छोडने से पहले भारत में कुल सिंचाई क्षेत्र ४ करोड ८० लाख एकड था।

आबादी के बाद सिंचाई की ओर भारत सरकार का खास तौर से ध्यान गया और देश में १९ बाँध बनाये गये। कालांतर में देश में चल रही सिंचाई की सभी बडी, मध्यम और छोटी योजनाओ का लक्ष्य १७ करोड एकड भूमि को सींचने का है। वास्तव में यह लक्ष्य काफी बडा है और इसे निश्चय ही पूरा भी करना है, क्योकि हमारे देश की कृषि की उन्नति सिंचाई के इस लक्ष्य को पूरा किये बिना नहीं हो सकेगी।

पौधों की सरचना

अठारहवीं शताब्दी में सूक्ष्मदर्शक यत्र बनकर तैयार हो गया और उसे काम में लाया जाने लगा। १९ वीं शताब्दी के शुरू में ही पौधो की सरचना का भी पता लगा लिया गया। जिस प्रकार प्रजनन के लिए पशुओ में नर और मादा कोष होते हैं ठीक उसी प्रकार पौधो में भी नर और मादा कोष होते है। करीब एक शताब्दी पहले की बात है कि सबसे पहले मण्डल नाम के वैज्ञानिक ने आनुवंशिकता के नियम की खोज की थी। भारत में पौध प्रजनन का काम इस शताब्दी के शुरू में ही आरम्भ कर दिया गया। प्रजनन का कार्य सबसे पहले अँग्रेज वैज्ञानिक बार ने गन्ने पर और हावर्ड नामक वैज्ञानिक ने गेहूँ पर शुरू किया था।

वैज्ञानिकों का पौध प्रजनन में योग

जगह-जगह पर गन्ना, कपास और गेहूँ पर देश में प्रजनन सम्बन्धी सफल प्रयोग किये गये। यह एक बहुत बडा प्रयास था। प्रजनन के कार्य में सबसे बडा महत्व पूर्ण काम यह हुआ कि राकफेलर सस्थान की सहायता से सकर मक्का की कुछ किस्में तैयार की गयीं और गन्ने उगाने के लिए किसानो में बाँटा गया। पिछले ६ वर्षों में इन किस्मो का खूब प्रचार और प्रदर्शन किया गया और किसानों ने उन्हें खूब अपनाया।

खेती में जैविक खादो का इस्तेमाल शायद तभी से किया जाने लगा जब से कि खेती की शुरुआत हुई। अजैविक खादों का इस्तेमाल केवल पिछले १०० वर्षों से ही शुरू हुआ। खेती के इतिहास में १९१० एक महत्व पूर्ण वर्ष है, जब कि जर्मन रसायन शास्त्रियों ने ऐसे उपाय ढूँढ निकाले, जिनके द्वारा नाइट्रोजन दिया जा सकता था और यह उपाय महँगे भी नहीं थे। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर ससार के भिन्न भिन्न भागो में इस उद्योग का बोलबाला हुआ और अब तो दुनिया भर में नाइट्रोजन उर्वरक, जैसे—अमोनियम सल्फेट, अमोनियम नाइट्रेट, यूरिया-आदि बहुत बडे पैमाने पर पैदा किये जा रहे हैं।

भारत में भी उर्वरक का इस्तेमाल पहले-पहल सन् १८९६ में हुआ और आयात किये गये चीलियन नाइट्रेट का बतौर उर्वरक इस्तेमाल किया गया। बाद के प्रयोगो से सिद्ध हो गया कि दूसरे नाइट्रोजनीय उर्वरको के मुकाबले अमोनियम सल्फेट अच्छा उर्वरक है। १९३८ में मैसूर में और बाद में १९४७ में केरल में अमोनियम सल्फेट का उत्पादन किया जाने लगा। १९५१ में सिन्द्री में, १९६१ में नागल में तथा १९६२ में राउरकेला में उर्वरको के कारखाने खोले गये।

बहुत लम्बे समय से निरन्तर खेती किये जाने के कारण भारत की मिट्टी में धीरे-धीरे उर्वरता की कमी होती जा रही है। नाइट्रोजन की आवश्यकता करीब करीब सभी जगह अनुभव की जा रही है। भारत की ७५ प्रतिशत मिट्टी में फासफोरस की और २५ प्रतिशत में पोटाश की कमी है। इस समय भारत में कुल सिंचित भूमि ६ करोड ८० लाख एकड है। लगभग ८ करोड २० लाख एकड खेती ऐसी है, जो वर्षा पर निर्भर रहती है। इस समय भारत में कुल जितना उर्वरक पैदा किया जाता है वह केवल १ करोड १० लाख एकड भूमि के लिए ही काफी है। इस बात से यह जाहिर होता है कि

चौथी पंचवर्षीय योजना में नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश का कुल उत्पादन ३६ लाख-५० हजार टन होना चाहिए। यदि हमारे देश में उर्वरकों में ५४ लाख टन नाइट्रोजन, २७ लाख टन फास्फोरस और १३ लाख टन पोटाश का इस्तेमाल किया जाय तो अनाज की वृद्धि लगभग ७ करोड़ टन हो सकेगी। अभी तक हमारे देश में फास्फोरस और पोटाशधारी उर्वरकों की महत्ता को भलीभाँति नहीं समझा गया है। इस प्रकार की सन्तुलन-हीनता को उत्पादन की दृष्टि से यथासम्भव दूर किया जाना चाहिए।

उर्वरकों के इस्तेमाल से न सिर्फ उपज में वृद्धि होती है, बल्कि इनके इस्तेमाल से देश की कृषि-व्यवस्था में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और परिवर्तन का आविर्भाव होता है।* अगर सुधरे हुए बीज, अच्छी मिट्टी, सिंचाई की ठीक व्यवस्था और अच्छी जुताई आदि का ठीक ध्यान रखा जाय और साथ ही उर्वरकों का इस्तेमाल किया जाय तो निःसन्देह उपज में बहुत ज्यादा वृद्धि की जा सकती है।

जैविक खाद

मिट्टी की उर्वरता के लिए जैविक खादें बहुत जरूरी हैं, लेकिन उर्वरकों के बदले उनका इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। अगर हमें अच्छी उपज लेनी है तो निःसन्देह रासायनिक उर्वरक और जैविक खाद दोनों ही देनी होंगी और इसलिए हमें दोनों का उत्पादन बढ़ाना है।

गाँव का कूड़ा-कचरा और अवशिष्ट

अगर उत्तरी भारत में किसान उन्हीं खेतों में रहने लगें, जहाँ वे खेती करते हैं तो इसमें शक नहीं कि वे मवेशियों के गोबर, मूत्र और आदमियों के मल-मूत्र का ज्यादा प्रभावकारी ढंग से इस्तेमाल कर सकेंगे। इससे उपज में जरूर ही बढ़ोतरी होगी। हमें खेतों की हदबन्दी के रूप में शीशम, बबूल और यूकलिप्टस के पेड़ लगाने चाहिएँ। मवेशियों के गोबर को बतौर ईंधन इस्तेमाल नहीं करना चाहिए, बल्कि उसके बजाय खेतों में उसकी खाद दी जानी चाहिए। गैस प्लान्ट के इस्तेमाल से गोबर दोहरे इस्तेमाल यानी उसे बतौर खाद और ईंधन के प्रयोगों में लाया जा सकता है।

शहरी कूड़ा-कचरा

जैविक खादें मिट्टी की संरचना को सुधारती हैं और जीवाणुओं को सक्रिय करने में सहायता देती हैं। यदि ऐसी जैविक खादों के साथ उर्वरकों का इस्तेमाल किया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि परिणाम सबसे अच्छा रहेगा। 'शहरी कूड़े-कचरे के प्राकृतिक साधनों की समिति' ने अध्ययन करके यह पता लगाया है कि शहरी कूड़े-कचरे से लगभग ७८ लाख टन खाद मिलती है, लेकिन उसमें टूटे हुए काँच और टीन के टुकड़े आदि बहुत-सी ऐसी चीजें हैं, जो बैलों के पैरों के लिए मुसीबत हो सकती हैं।

इस तरह की खाद को छानने के लिए यंत्र की व्यवस्था आवश्यक है। इसके अलावा एक बात की कमी यह भी है कि नगरों में मलमूत्र-फार्म के लिए आस पास कोई जमीन खाली नहीं रखी जाती। अगली पंचवर्षीय योजना में इस बात का ध्यान रखते हुए हमें इस प्रकार के शहरी कूड़े कचरे का भरपूर इस्तेमाल करने के लिए आवश्यक कदम उठाना चाहिए और भविष्य में हमारे नगरों की योजना इस प्रकार तैयार की जानी चाहिए कि शहर के मलमूत्र और कूड़े-कचरे के फार्म बनाने के लिए पर्याप्त क्षेत्र खाली छोड़ दिये जायें।

हरी खाद

सनई, ढैंचा और ग्वार इसी प्रकार की हरी खाद-वाली फसलें हैं। चूँकि इस प्रकार की हरी खादें किसी फसल के बदले बोयी जाती हैं, इसलिए केवल वे ही किसान, जिनके पास फालतू जमीन हो, हरी खाद उगा सकते हैं। हरी खाद की फसलों को प्रोत्साहन देने का एक तरीका यह है कि जहाँ कहीं भी सम्भव हो इनकी फसलों के लिए मुफ्त नहरी पानी की व्यवस्था की जाय। यह एक उपयोगी रियायत साबित होगी, क्योंकि हरी खाद से प्रति एकड़ ५ मन तक अतिरिक्त अनाज पैदा हो सकता है। ●

—साभार 'खेती' से

---

* हम इस कथन से पूर्णतया सहमत नहीं हैं। —सम्पादक

शिक्षा-शास्त्री-परिचय

एक पुरुषार्थी शिक्षक
जुगतराम भाई

•

मनुभाई पंडित

[पूज्य श्री जुगतराम भाई दवे गुजरात के एक प्रसिद्ध और प्रतापी लोक-सेवक और लोक-शिक्षक हैं। बाल-शिक्षा, बुनियादी शिक्षा और आश्रमी शिक्षा के वे एक स्वतंत्र द्रष्टा और मंत्रदाता हैं। इन विषयों में उनकी लिखी पुस्तकें मौलिक और मार्गदर्शक हैं। राष्ट्रपिता पूज्य गांधीजी के चरण-चिह्नों पर चलकर उन्होंने अपना सारा जीवन दीनों, दलितों, पीड़ितों, शोषितों और अज्ञान के गहन अन्धकार में डूबे आदिवासी भाई-बहनों की सेवा में अनन्य भाव से समर्पित कर दिया है। अपने पिछले ४०-४५ साल उन्होंने अपनी पूरी बुद्धि, शक्ति, भावना और भक्ति से अपने प्रदेश की और विशेषकर सूरत जिले के वन-वासियों की सेवा में बड़ी ही उत्कट निष्ठा के साथ विताये हैं। उनके जीवन की निर्मलता, सरलता, सहजता और सादगी उन्हीं की अपनी चीज है। स्वतंत्रता-संग्राम के सैनिकों में उनका एक विशिष्ट स्थान रहा है। शिक्षा तो उनका अपना प्रिय विषय है ही। गुजरात के अभिजात शिक्षकों में उनका एक अनन्य स्थान है। वे गुजरात की समूची नयी पीढ़ी के परमप्रिय 'काका' हैं। हजारों किशोरों, किशोरियों, नवयुवकों और नवयुवतियों ने उनके चरणों में बैठकर जीवन के नये तत्वों की उपासना की है और दीक्षा ली है। उन्हें देखते ही गुजरात के बालक, किशोर, युवा, सभी उसी तरह खिल उठते हैं, जैसे—सूरज को देखकर कमल खिलते हैं। श्री जुगतरामभाई गुजरात के प्रसिद्ध परिव्राजकों में एक हैं। सतत भ्रमण, पर्यटन, पर्यवेक्षण, पर्यालोचन और साथियों के साथ बैठकर सहचिन्तन, सहजीवन तथा सहकार्य उनकी अपनी एक सहज प्रवृत्ति बन गयी है। इसमें न बुढ़ापा बाधा डाल पाता है, न आँख, कान और हाथ पाँव की, तेजी से क्षीण हो रही शक्ति ही बाधक बनती है। नित नये उल्लास और नित-नयी कल्पनाओं के साथ वे अपने विशाल परिवार के बीच बराबर घूमते रहते हैं और सबको सदा जागरित तथा सेवारत बने रहने की प्रेरणा देते रहते हैं। भगवान ने उन्हें भक्ति के साथ काव्य-कला की अनुपम शक्ति भी दी है। उनके रचे गीतों और भजनों में उनका भक्त-हृदय सहज सरसता के साथ प्रकट हुआ है। —काशिनाथ त्रिवेदी]

जुगतरामभाई

सूरत जिले की पिछडी हुई आदिवासी जनता को लोग उन दिनों 'नराडा' और 'कालीपरज'–जैसे हलके नामों से याद करते थे। जुगतराम भाई ने उन्हें एक नया और सार्थक नाम दिया–'रानीपरज' और 'हलपति' अर्थात् वनवासी जनता। अज्ञान के सामने ज्ञान का दीया जलाया गया।

उन्हें रोटी के साथ 'राब' कैसे मिले, उनके घरेलू साज-सामान में दो-चार उपयोगी बरतन कब, कैसे जुटें, उनके शरीर पर लहरानेवाले मिल के फटे चीथडों की जगह उन्हीं के हाथों कती-बुनी शुद्ध खादी किस तरह आये, और उनके बालकों को सदाचारी बनानेवाली आश्रमी शिक्षा कैसे मिले, इसके लिए उनकी आँखें हरि दर्शन की तरह सदा प्यासी बनी रहती थीं।

जीवन का प्रभात

श्री जुगतरामभाई का जन्म सन् १८९१ में अपने ननिहाल सौराष्ट्र के 'बढवाण' गाँव में हुआ। उनका पैतृक घर 'लखतर' में था। पिताजी का नाम था चिमन लाल और माता का नानूबा। उनकी पढाई अलग अलग स्थानों में होती रही। जैसे-तैसे मैट्रिक तक पहुँचे, किन्तु परीक्षा-देवी ने उन्हें जयमाला नहीं पहनायी।

सफल पत्रकार

बारडोली में प्रसिद्ध किसान-सत्याग्रह में सरदार ने जुगतराम भाई को संदेश-संचालक बनाया था। 'सत्याग्रह पत्रिका' का सम्पादन भी उनके जिम्मे किया गया था। पत्रिका के समाचार केवल बारडोली तहसील या सूरत जिले में ही नहीं, बल्कि गुजरात के प्रत्येक गाँव में और ठेठ बम्बई तक पहुँचा करते थे। यह पत्रिका प्रतिदिन निकलती थी। अंग्रेजी समाचार-पत्र इस पत्रिका के कुछ अंश उद्धृत भी करते थे।

जुगतराम भाई किसी भी काम को क्यों न हाथ में लें, उन्हें उसमें पायी जानेवाली शिक्षा की किरणें प्रभावित किये बिना नहीं रहती। शिक्षा के क्षेत्र में उनकी मौलिक सूझ और छोटी-से छोटी बातों की तफसील में जाकर उसपर विचार करने की उनकी कार्य-पद्धति उनकी यशस्विता का कलश है।

अभिनय प्रियता

नाटक भी जुगतराम भाई का अपना एक प्रिय विषय रहा है। यही कारण है कि उन्होंने विद्यार्थियों के लिए गुजराती में 'प्रह्लाद', 'आंधलानु गाडु' और 'सेडुतना शिकारी' नामक नाटक लिखकर दिये हैं। उनके ये नाटक रंगमंच पर सफलता प्राप्त कर चुके हैं। विद्यार्थियों ने इन्हें कई बार खेला है। जुगतराम भाई केवल नाटक लिखकर अलग नहीं हो जाते, बल्कि उन्हें खेलकर भी दिखाते हैं।

वत्सल पिता

विद्यार्थियों के प्रति उनका प्रेम तो माता के प्रेम के समान ही है। रात दस बजे के बाद व प्रायः छात्रालय की एक परिक्रमा करने निकल पड़ते हैं। कोई देर तक लिखता पढ़ता नजर आता है, तो उसे मीठा उलाहना देकर तुरत सुला देते हैं। कोई लोटते-लोटते बिस्तर के बाहर चला गया हो, तो उसे उठाकर बिस्तर पर सुला देते हैं। जाडों में किसी की रजाई खिसक गयी हो और वह खुला सोया हो तो धीरे से उसपर रजाई डाल देते हैं। इतना सब करने के बाद ही वे खुद सोते हैं। एक

माता को छोड़कर और कौन है, जो इतनी सार-सँभाल रखे ?

स्वच्छता के उपासक

'आश्रम अर्थात् स्वच्छता का धाम'। जुगतराम भाई का यही आदर्श है। सफाई-सम्बन्धी उनकी सेवाएँ कांग्रेस के अधिवेशनों में और दूसरे अखिल भारतीय सम्मेलनों में गुजरात के बाहर भी प्रसिद्ध हो चुकी हैं। इन सबके मूल में उनकी शिक्षा-विषयक दृष्टि ही काम करती रहती है। उनका दिमाग बराबर यह सोचता ही रहता है कि गन्दगी कहाँ होती है, क्यों होती है और उसे कैसे रोका जा सकता है। सफाई का तो एक व्यवस्थित शास्त्र ही उन्होंने रच डाला है। उन्होंने उसे शिक्षा का एक महत्व-पूर्ण अंग बनाया है।

'सुन्दरपुर की पाठशाला का पहला घंटा'* पुस्तक की प्रेरणा उन्हें अपनी इसी साधना-उपासना से प्राप्त हुई। चाहे चौक की सफाई चल रही हो, चाहे महाकार्य (पाखानों की सफाई को उन्होंने 'महाकार्य' का नाम दिया है) चल रहा हो, चाहे रसोई घर में काम कर रहे हो, अथवा स्नानघर में नहा रहे हों, हर जगह, हर समय वे अपनी कृति और अपने आचरण से कुछ-न-कुछ सिखाते ही रहते हैं।

स्वावलम्बन के साधक

शायद ही कभी कोई दिन उनका ऐसा बीतता हो, जब उन्होंने स्वयं सूत न काता हो। उनके लिए तो कातने का अर्थ ही समग्र कातना है। इस प्रकार वे अपने कपड़ों के मामले में पूरी तरह स्वावलम्बी हैं।

जेल-यात्री

स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों की एक भी लड़ाई ऐसी न थी, जिसमें जुगतराम भाई जूझे न हों। अपने जेल जीवन का उपयोग उन्होंने लिखने-पढ़ने में किया। जेल में बँगला भी सीख ली। 'गीता-गीत-मंजरी' और 'आत्म रचना' ये दो ग्रन्थ उनके जेल-जीवन के प्रसाद हैं।

* सर्व सेवा संघ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित

व्यापकता की ओर

इधर दिनों दिन उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार होता जा रहा है। सूरत जिले में रचनात्मक कार्यों का जाल बिछाने में उनकी प्रेरणा विशेष रूप से रही है। आश्रम, सस्कार-केन्द्र, सहकारी समितियाँ, सहकारी संघ, जंगल, मजदूर सहकारी मण्डलियाँ, घर बनानेवाली मण्डलियाँ, आश्रम-शालाएँ, सर्वोदय-योजना, सघन-क्षेत्र-योजना, गांधी-मेला, गुजरात-नयी तालीम संघ, प्रौढ़-शिक्षा-संघ, रानीपरज-सेवा-सभा, ऐसी ही छोटी-बड़ी अनेक संस्थाओं की एक लम्बी सूची तैयार हो सकती है। इसके अतिरिक्त वे सरकारी अथवा गैरसरकारी कमेटियों के सदस्य के नाते भी यथाशक्ति सेवा करते रहते हैं। उनका अधिकतर समय तो उनके पत्र-व्यवहार में ही खर्च होता रहता है। दिन में वे शायद ही कभी आराम कर पाते हैं। प्रातः चार बजे से काम शुरू करते हैं तो कभी-कभी रात के ग्यारह-बारह बजे तक भी काम करते ही रहते हैं। और, फिर भी सुबह ४ की घंटी लगते ही उठ बैठते हैं।

शरीरश्रम के उपासक

आज तिहत्तर साल की उम्र में भी उनकी इस गति में कोई खास कमी नहीं आयी है। अपने सब काम स्वयं ही करने का उनका आग्रह और नौजवानों को भी शरमानेवाला उनका उत्साह देखकर देखनेवालों को वृद्ध शरीर में युवा आत्मा के ही दर्शन होते हैं। यद्यपि अब बुढ़ापे ने उन्हें घर-सा लिया है और वे हैं कि किसी तरह झुकने को तैयार नहीं हैं। बारहों महीने ठंडे पानी से ही नहाना, आश्रम का सादा भोजन करना, और दस बारह मील पैदल चलना उनके लिए सहज-सा है। आश्रम में विद्यार्थियों को जो भोजन मिलता है, उससे भिन्न कोई वस्तु उन्होंने आश्रम के भोजनालय में कभी चखी नहीं।

साहित्यकार

जुगतराम भाई को साहित्य में अत्यधिक रुचि रही है, किन्तु देश सेवा की वेदी पर उन्होंने अपनी उस रुचि का बलिदान किया है। फिर भी उन्होंने प्रत्यक्ष जीवन में अपनी उस रुचि के स्रोत को कभी सूखने नहीं दिया।

जिस प्रकार उन्होंने साहित्य की लता को स्वच्छन्दभाव से एकाकी विचरने नहीं दिया, उसी प्रकार उसे मुरझाने भी नहीं दिया। अपने जान-बूझे सत्य के पथ पर ही वह आगे बढ़ी है। अपनी प्रसिद्ध रचनाओं द्वारा उन्होंने साहित्य के विविध अंगों को पुष्ट किया है। उन्होंने 'गांधीजी' और 'गोखलेजी के जीवन चरित लिखे हैं। 'कौशिकाख्यान', 'गीतागीत मंजरी' और 'अचलायतने' के गीत गाकर काव्य का सौरभ फैलाया है। 'आधगनु गाडु', 'खेडुतनो शिकारी', 'प्रह्लाद' और 'बापूजी'- जैसे कुछ रंगमंच पर खेले जाने योग्य नाटकों की रचना की है। 'आत्मरचना' के लिए आश्रमी शिक्षा की विशद चर्चा करनेवाले अपने ग्रन्थ में तो उन्होंने अपना सारा जीवन उँडेल दिया है। उन्होंने 'ग्राम-सेवकों के लिए सेवा के दस मार्ग सूचित किये हैं। 'हलपतियों की मुक्ति' का ढिंढोरा पीटा है। इन सबके साथ उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र की जो जुताई की है और नयी तालीम के जो नये बीज बोये हैं, उनकी फसल तो अब गुजरात की धरती पर भली भाँति लहराने लगी है। नन्हे-मुन्नों के लिए 'चालण गाडी' और बडों के लिए *लोक पोथी* की रचना करके उन्होंने लोगों के लिए अक्षर ज्ञान का पथ प्रशस्त किया है उनके ज्ञान चक्षु खोलने का पुण्य लूटा है। 'बालवाडी' उनका हाल का लिखा एक अनुपम ग्रन्थ है। ५५० पृष्ठों के अपने इस रत्नरूप ग्रन्थ में उन्होंने बाल जीवन के रूप स्वरूप का बड़ी गहराई के साथ सुन्दर विशद और दिशादर्शक विवेचन किया है।

श्री जुगतराम भाई स्वयं अपने को भुलक्कड यानी भुलाने की आदतवाला मानते हैं। यदि इस बात का उल्लेख न हो, तो उनका यह शब्द चित्र अधूरा ही रह जाये। जब कभी यात्रा के लिए निकलते हैं तो कुछ-न कुछ भूलकर ही लौटते हैं। लम्बे अनुभव के बाद अपने इस दोष से बचने के लिए उन्होंने एक युक्ति सोच ली है। अपने साथ रहनेवाली चीजों का एक श्लोक रच लिया है और अब जब कभी कहीं जाते हैं या कहीं से वापस आते हैं, तो श्लोक में गिनायी गयी चीजों की गिनती कर लेते हैं। उनकी यह युक्ति आज उन्हें अचूक काम दे रही है। ●

अनु०—काशिनाथ त्रिवेदी

मुझे वहाँ अच्छा नहीं लगता

●

गिजुभाई

मैं वहाँ जाता हूँ, तो आँगन में सबसे पहले लड़कों को पाखाना फिरते देखता हूँ। मक्खियाँ उस मैले पर भिनभिनाती रहती हैं। जब भंगी आता है, तो साफ करता है। माँ साफ करे, तो उन्हें नहाना पड़े, और यह तो मुमकिन ही नहीं कि बापूजी कभी साफ कर दें।

आँगन में और बढ़कर देखता हूँ, तो गन्ने के छिलके, कागज की चिन्दियाँ, कपड़ों के चिथड़े, ईंट और पत्थर, कङ्कड़ और मिट्टी जहाँ-तहाँ पड़े पाता हूँ। लेकिन, जहाँ मैले की कोई सुध नहीं लेता, वहाँ इन्हें कौन पूछेगा?

अन्दर जाकर देखता हूँ तो दरवाजे के पास ही जूतों का ढेर पड़ा पाता हूँ, एक यहाँ है, तो एक वहाँ, कोई औंधा पड़ा है तो कोई सीधा। जूतों पर मनों धूल चढ़ी रहती है, गन्दगी की तो बात ही क्या; फुरसत किसे है कि उन्हें साफ करे।

ओसारे में देखता हूँ, तो जहाँ-तहाँ, जिसके तिसके कपड़े पड़े पाता हूँ। कहीं किताबें पड़ी हैं, कहीं रूमाल, कहीं किसी के खिलौने, तो कहीं कुछ और कहीं कुछ। सभी चीजें इतनी गन्दी और घिनौना-सी हैं कि छूने को दिल नहीं चाहता। किताब का कवर फटा है, पन्ने बिखरे हैं, कपड़ा गन्दा है, खिलौना पुराना और टूटा फूटा है, मोटर टूट-फूटकर बेहाल हो रही है, रबड़ की चिड़िया का पेट फटा हुआ है, और ऐसे तो दसों टूटे-फूटे खिलौने ठोकर खाते रहते हैं।

मुझे वहाँ बिलकुल अच्छा नहीं लगता। ●

भेद की दीवारें

विष्णुकान्त पाण्डेय

बात बहुत पुरानी है, पुराणों से भी पुरानी।

एक दिन किसी कुएँ ने सागर से प्रार्थना की–"दयानिधे, आप कितने उदार हैं। नदियाँ, नाले, झरने, जो भी आपके पास आते हैं, आप आगे बढ़कर खुशी-खुशी सबको गले लगा लेते हैं, सबको आश्रय देते हैं; किन्तु देव, मुझपर ही आपकी अकृपा क्यों? आपके विशाल हृदय में मेरे लिए ही कोई स्थान क्यों नहीं? कहिये, मैं बस्तियों में, खेतों में, बगीचों में, इधर-उधर सड़कों के किनारे पड़ा-पड़ा और कब तक अपने फूटे भाग्य पर रोऊँ?"

कुएँ की बातें सुनकर सागर गम्भीर हो गया। लहरें शान्त हो गयीं, ज्वार रुक गये। दो पल की गहन निस्तब्धता को भंग करके सागर यों मुखर हुआ–"भाई मेरे, मुझे क्यों दोष देते हो? खुशी खुशी जो भी आता है, वह मुझमें मिल जाता है, मेरा अपना हो जाता है, यह सही है। और, यह भी सही है कि मैंने सबको बढ़कर गले लगाया है; पर तुम? तुमने तो स्वयं दीवार बना रखी है। पहले अपनी दीवारें तोड़ो, फिर निर्मल भाव से आगे बढ़ो, तुम्हारा सदा-सर्वदा सहर्ष स्वागत है।"

कुएँ ने अपने चारों ओर घिरी दीवारों पर दृष्टि डाली और अपने संकुचित विचारों का भान होते ही मारे शर्म के गड़ गया।

उसके बहुत दिन बाद की घटना है।

तब भारत की ज्ञान-ज्योति अमरता प्राप्त करती दिग-दिगन्त में फैल चुकी थी। जिज्ञासु यात्री प्राणों की बाजी लगाकर भी सागर, नदी, पर्वत लांघ-लांघकर शान्ति का पथ ढूँढ़ते भारत आने लगे थे।

एक सुबह, भगवान बुद्ध की प्रतिमा के सामने कोई यात्री नतमस्तक हो बड़े ही कातर स्वर में याचना कर रहा था—"प्रभो, मुझे अपनी शरण में ले लो—बुद्ध शरणं गच्छामि।"

थोड़ी देर निस्तब्धता छायी रही और फिर देववाणी गूँज उठी–"उठो भद्र, तुम तो मुझमें मिल चुके।"

यात्री ने सिर उठाया तो देखा—प्रतिमा से एक अद्भुत आभा बिखर रही है। यात्री का साहस बढ़ा और चट उसने दूसरा निवेदन किया–"भगवन्, मेरे देश चीन के निवासी घोर अन्धकार से घिरे भटक रहे हैं, उन्हें भी अपनी शरण में ले लेने की कृपा करो देव!"

निश्छल यात्री की आँखें छलछला आयीं, और उधर वही देववाणी पुन गूँज उठी–"भद्र, जो भी मेरी शरण में आया, वह मुझमें मिल गया, मेरा अपना हो गया। तुम्हारे देशवासी भी इच्छा करते ही मेरी शरण में होंगे। तुम जाओ और उन्हें मेरा सन्देश सुना दो। और हाँ, उनसे कहना कि उन्होंने सीमाओं पर जो संकुचित दीवार खड़ी कर रखी है, उसे वे तोड़ दें। मेरे यहाँ सब बराबर हैं, मानव-मानव ही नहीं, प्राणिमात्र। फिर अपने-पराये का भेदभाव कैसा? संकीर्णताओं की दीवार कैसी?"

यात्री ने बार बार भगवान के चरणों में माथा झुकाया और खुशी-खुशी स्वदेश लौट गया।

दिन, वर्ष बीतते बीतते शताब्दियाँ निकल गयीं। इस बीच बौद्ध धर्म की पताका सीमाओं को पार करती दूर-दूर तक लहरा गयी थी। संसार में जाने कितने उथल-पुथल हुए, पर वह पताका झुक न पायी।

बात कुछ ही दिन पहले की है।

एक चीनी यात्री भारत आया। सत्ता के मद में चूर, लेकिन मुँह में अमृत लपेटे, दृष्टि में विष का घड़ा भरे, ऊपर ऊपर भला, भीतर से क्रूर। सत्ता के मद में बुद्ध का देश उमड़ पड़ा। उमड़ता हृदय ले बुद्ध का बेटा निश्छल भाव से यात्री से जा मिला। प्रेम विह्वल नारों से एक बार सारा ब्रह्माण्ड गूँज गया—हिन्दी-चीनी भाई भाई !!

पर यह क्या, भाई का भाई पर ही आक्रमण ?

छुरी की धार टूट गयी। अचकचा कर यात्री ने देखा—उसकी गोद में भगवान बुद्ध की विशाल प्रस्तर प्रतिमा थी। फिर भी धरती पर दो बूँदें टपक पड़ीं-एक रक्त की और दूसरी आँसू की। आश्चर्य कि दोनो बूँदें मुखर थी।

रक्त की बूँद तड़प कर बोली—"रूप मानव का और आचार दानवी ?"

तभी आँसू की बूँद सिसक पड़ी—' सत्य-अहिंसा का पाठ व्यर्थ गया !"

यात्री लौट गया, पर उसके मुखड़े की क्रूरता नहीं गयी।

रास्ते में उसे आकाश से मिलेजुले स्वर सुनाई पड़े—"हमारे नालायक बेटे, पहचानते हो हमें ?" और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना एक स्वर—' मैं हूँ फहयान।"

दूसरा स्वर—' मैं हूँ ह्वेनच्याग।'

तीसरा, चौथा और फिर स्पष्ट-अस्पष्ट हजारों स्वर एक के बाद दूसरे, तीसरे' लगातार, अनवरत। सबने मिलकर एक ही प्रश्न पूछा—"बोलो, हम भगवान बुद्ध को क्या उत्तर दें ? भगवान बुद्ध के बेटों पर, सत्य-अहिंसा के पुजारियों पर प्रहार और वह भी हमारे बेटों-द्वारा! अब भी सँभल जा, वरना ।' ●

अक्ल का लोहा

श्रीकृष्णदत्त भट्ट

●

कहते हैं कि एक बार अकबर बादशाह का शाही फरमान निकला—"आसमान में एक महल खड़ा होना चाहिए।"

सभी लोग हैरान।

फरमान की उदूली का मतलब है सजाए मौत। अजीब मुसीबत थी।

अकबर के मंत्री और दूसरे हुक्काम पहुँचे राजा बीरबल के पास।

बीरबल ने लोगों को ढाढ़स बँधाया, और अकबर से तैयारी के लिए ६ महीने की मुहलत ली।

६ महीने बाद!

राजा बीरबल अकबर बादशाह के दरबार में पहुँचे। बोले—"हुजूर, आसमानी महल के लिए हमने खास कारीगर बुलाये हैं। आप सिर्फ सामान भेजते जाइए। महल बहुत जल्द तैयार हो जायगा।"

' कहाँ हैं वे कारीगर ?"—अकबर ने चकित होकर पूछा।

"ऊपर देखिए, वे लोग तैनात हैं।"

बादशाह ने आसमान पर नजर दौड़ायी तो ऊपर से जोर जोर की आवाज आ रही थी—"ईंटा लाओ, पत्थर लाओ, चूना लाओ, गारा लाओ। ' "

बीरबल ने ६ महीने में कई तोतों को पालकर उन्हें रटा दिया था—"ईंटा लाओ, पत्थर लाओ, चूना लाओ, गारा लाओ आदि !"

आसमान में वे इन चीजों की रट लगा रहे थे।

अकबर मान गया बीरबल की अक्ल का लोहा। ●

हमारा शैक्षिक आयोजन

•

जे० पी० नायक

ये विचार लेखक के अपने हैं, शिक्षा-मंत्रालय या राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण-संस्थान के नहीं। लेखक केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय के प्राइमरी शिक्षा-सलाहकार हैं। —सम्पादक

शैक्षणिक विकास की पहली भारतीय योजना आज से बीस वर्ष पहले १९४४ में सार्जेन्ट प्लान के रूप में सामने आयी और १९४६ यानी केन्द्र में प्रथम राष्ट्रीय सरकार बनने के समय से लेकर तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक भी उतना ही समय बीत चुकेगा। अब हम चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ पर खड़े हैं। आगे आनेवाले १५-२० वर्षों के लिए एक दूरगामी आयोजन (पर्सपेक्टिव प्लान) के निर्माण के सम्बन्ध में भी विचार होगा। ऐसे महत्वपूर्ण अवसर पर यह उपयुक्त होगा कि आजादी के बाद के वर्षों में हुए शैक्षणिक विकास का मूल्यांकन किया जाय और विधियों और तकनीकों में सुधार के लिए प्राप्त अनुभवों का निर्देश किया जाय।

क्रान्तिकारी परिवर्तन न हो सका

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के वर्षों के शैक्षणिक आयोजन में स्पष्ट दृष्टि और निश्चित दिशा का अभाव रहा है और अभी तक हम न अपनी राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप निर्धारित कर सके हैं, न नये समाज की स्थापना में शिक्षा किस प्रकार सहायक हो, इसका निर्देश ही। हमारा राष्ट्रीय नेतृत्व वर्तमान शताब्दी के प्रथम चरण से ही शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तनों की बात करता रहा है और स्वतंत्रता के बाद तो ऐसे विचारों को कार्यरूप में परिणत करने का अवसर भी मिला।

शिक्षामंत्रालय-द्वारा आयोजित एक सम्मेलन में बोलते समय पंडित नेहरू ने १९४८ में कहा था—"बीते समय में शिक्षा-सम्बन्धी आयोजन के लिए जब कभी कोई गोष्ठी या सम्मेलन रखा गया तो थोड़े-बहुत सुधारों के साथ प्रचलित प्रणाली को ही बनाये रखने की प्रवृत्ति रही; लेकिन अब यह नहीं होगा। देश में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं, जिनके साथ ही शिक्षा-प्रणाली को भी चलना चाहिए। शिक्षा के पूरे स्वरूप में ही क्रान्ति होनी चाहिए।" अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने भी शिक्षा के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार प्रकट किये; लेकिन अंग्रेजों से विरासत में पायी गयी शिक्षा प्रणाली में सिवाय कुछ इधर उधर फर्क कर देने के कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ।

असफलता के कारण

हमारी इस असफलता के कुछ कारण सम्भवतः ये होंगे—

१—केन्द्रीय शिक्षामंत्रालय एवं राज्य के शिक्षा-विभागों के अफसरों का आमतौर से परावलम्बन,

२—स्वयं चिन्तन एवं विचार से बचने और विदेशी विशेषज्ञों पर अत्यधिक निर्भर करने की वृत्ति,

३—विश्वविद्यालयीन शिक्षा-विभागों की समय की माँग के अनुरूप काम कर सकने की अक्षमता,

४—शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में अनुसन्धान का अभाव, और

५—परम्परा से चिपटे रहने की स्वभावगत आदत, जिसके कारण 'अज्ञात अच्छाई' की खोज में निहित मेहनत की अपेक्षा 'ज्ञात बुराई' स्वीकार्य होती है। इन कारणों में यह अन्तिम कारण बड़ा कारण है, जिसकी ओर विकसित हो रहे देशों में शैक्षणिक आयोजकों को ध्यान रखना ही चाहिए।

स्वतंत्रता के बाद की शैक्षिक उपलब्धियाँ

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद शैक्षणिक विकास के सम्बन्ध में जिन उपलब्धियों पर बार-बार जोर दिया जाता रहा है वे हैं, हर क्षेत्र में चाहे वे कितनी ही छोटी क्यों न

हो कुछ न-कुछ करने की प्रवृत्ति और चतुर्दिक विकास। लेकिन, थोड़ा विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि ये चीजें शिक्षा-सम्बन्धी आयोजन का परिणाम न होकर सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और उन प्रभावशाली आर्थिक निमित्तताओं का परिणाम रही हैं जो इस देश में १९३७ ई० के बाद विद्यमान रही हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में जो विकास हुआ बताया जाता है उसकी अनियोजित चीजों को सरलता से प्रदर्शित किया जा सकता है। प्रारम्भिक स्तर पर विकास पर्याप्त रूप में द्रुतगामी नहीं रहा है और संविधान की ४५ वीं धारा के अनुरूप काम करने में हम असफल रहे हैं। सेकण्डरी स्तर पर तथा आर्ट्स या कामर्स कालेजों में विकास पर अंकुश होना चाहिए लेकिन विशेषकर इसी क्षेत्र में हम बहुत कम काम कर सके हैं। लेकिन जिस चीज से हमारे आयोजन की कमियों का सबसे अधिक प्रदर्शन होता है वह है योग्यता व योग्य व्यक्तियों का उत्तरोत्तर ह्रास। स्कूल में पढ़ने के लिए आनेवाले बच्चों की बढ़ती संख्या के अनुसार हम साधनों का प्रबन्ध न कर सके, जिसका प्रभाव योग्यता के स्तर पर पड़ना स्वाभाविक ही था। बच्चों का स्कूल में भरती होना कुछ ऐसा ही अनियोजित है जैसा समाज में उनका पैदा होना। दोनों परिणाम राष्ट्रीय विकास के अनुकूल न हुए।

शैक्षिक स्तर में गिरावट क्यों ?

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात के वर्षों में शैक्षणिक दृष्टि से योग्यता की जो उपेक्षा हुई उसके दो कारण हो सकते हैं—

१—साधनों की सीमित उपलब्धि और

२—विकास को नियन्त्रित करने की अयोग्यता या अनिच्छा। दूसरे प्रकार की हमारी असफलता का कारण यह रहा है कि हमने अक्सर योग्यता-वृद्धि-कार्यक्रम को संख्या-वृद्धि कार्यक्रम में बदल दिया है। उदाहरण के लिए बेसिक शिक्षा को प्रस्तुत किया जा सकता है।

बेसिक शिक्षा मूलतः योग्यता-वृद्धि का कार्यक्रम है। इस सम्बन्ध में हम बेसिक स्कूल के प्रमुख तत्वों व उपादानों की व्याख्या करनी चाहिए थी और यह देखना चाहिए था कि बेसिक स्कूल नाम देकर चलाये जा रहे स्कूलों में वे वस्तुएँ हैं या नहीं। लेकिन, यह न करके संख्या बढ़ाने के मोह में हमने अनुपयुक्त व अपर्याप्त साधनों व साथ व्यौरा करके अधिक स्कूलों की संख्या बढ़ा दी, जिससे हमें अच्छी संख्याएँ तो जरूर मिल गयीं लेकिन योग्यता निर्माण की दृष्टि से ऐसी कमियाँ रहीं कि डा० जाकिर हुसैन को बेसिक शिक्षा के प्रयोग को 'धोखाधड़ी', संज्ञा देनी पड़ी।

बहुधन्धी स्कूलों, उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों और प्रशिक्षण-संस्थानों की दृष्टि से भी यही हालत रही है। योग्यता निर्माण की दृष्टि से तीसरे प्रकार की असफलता यह रही कि चुनी हुई चीजों को न करके सब कुछ साथ करने की जल्दबाजी, जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी शिक्षण संस्थाओं का विकसित करने के साधनों का अभाव रहा और जो सीमित साधन थे भी, उन्हें हम चुने हुए स्कूलों के विकास में लगा न सके।

वास्तविक प्रश्न यह है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जो शैक्षणिक विस्तार हुआ उसका सबसे अधिक लाभ किसको मिला। प्राइमरी स्तरों पर समाज के पिछले वर्गों को बहुत ही कम लाभ मिलता है और विशेषरूप से माध्यमिक और ऊँचे स्तरों पर तो साधन-सम्पन्न लोगों को अभाव ग्रस्त लोगों की अपेक्षा अधिक लाभ मिलता ही है। इन चीजों का सामाजिक न्याय और आयोजन दोनों से ही मेल नहीं बैठता।

समीचीन पद्धति के उदाहरण

अनुभव यह बताता है कि अनेक चीजों के बीच प्रमुखता प्राप्त कर सकनेवाली चीजों की ओर ध्यान न देकर उनकी ओर से पराङ्मुख होने के परिणाम-स्वरूप प्राप्तियाँ अवश्य होती हैं लेकिन बहुत कम और सबको प्रसन्न करने की तत्परता में हम वस्तुतः किसी को भी प्रसन्न नहीं कर पाते। यह भी एक कारण है जिससे भारतीय शिक्षा के प्रति इतना असन्तोष व्यक्त किया जाता है। इन चीजों को ध्यान में रखते हुए विकसित होती अर्थ-व्यवस्थावाले देश में चुने विभागों वाली पद्धति ही सम्भवतः समीचीन होगी। उदाहरण स्वरूप निम्नांकित कार्यक्रमों पर विचार किया जा सकता है—

१—वयस्क शिक्षा, जो राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से सर्व प्रमुख कार्यक्रम है, और जिसकी सफलता पर कृषि-उत्पादन, परिनियोजन आदि अन्य कार्यक्रम निर्भर हैं,

२—स्नातकोत्तर शिक्षा, जिस पर संख्या और गुणदर्शन दोनों ही दृष्टियों से ध्यान देने की आवश्यकता है,

३—शिक्षक विकास, जिसके बिना गुण-वर्धन की दृष्टि से शिक्षा का विकास सम्भव ही नहीं और जिस पर व्यय किया गया प्रति पैसा अनेक रूपों में फलित होनेवाला है,

४—निगरानी व निरीक्षण, जो शैक्षणिक विकास का एक महत्वपूर्ण पहलू है और जिस पर अधिकाधिक ध्यान देने की आवश्यकता है,

५—विद्यार्थियों की सहायता, जिसके अन्तर्गत प्राइमरी स्तर पर बच्चों को भोजन, सभी स्तरों पर पुस्तकों तथा अन्य उपादानों की नि:शुल्क उपलब्धि तथा ऊँचे स्तरों पर दिवा-अध्ययन-केन्द्र आदि का समावेश होता है और जो गुणात्मक विकास की दृष्टि से अत्यावश्यक है,

६—अनुसन्धान का विकास, जिसके बिना ज्ञान क्षेत्र की नित-नूतन, दुर्लभ एवं उपादेय प्राप्तियाँ शिक्षकों एवं विद्यार्थियों को उपलब्ध नहीं हो सकेंगी, और

७—प्रतिभा का संरक्षण, जिसके अभाव में कितने अमूल्य रत्न नष्ट हो जाते हैं या समुचित विकास से वंचित रहते हैं।

चुने क्षेत्रों की जो सूची ऊपर प्रस्तुत की गयी है उसके पूर्ण होने का दावा तो नहीं किया जा सकेगा। दूसरे सिद्धान्तों को आधार बनाकर इससे एकदम भिन्न सूची बनायी जा सकती है। उदाहरण के लिए इन क्षेत्रों की आवश्यकता पर बल दिया जा सकता है—

१—विज्ञान की शिक्षा,

२—अंग्रेजी का स्तर ऊँचा उठाना,

३—क्षेत्रीय भाषाओं की वृद्धि, ताकि उन्हें शिक्षा के सभी स्तरों पर शिक्षा का माध्यम बनाया जा सके,

४—वैसिक शिक्षा का सार्वभौमीकरण, और

५—स्कूलों, कालेजों में उत्पादक श्रम का समावेश।

और भी चीजें गिनायी जा सकती हैं, लेकिन प्रमुख विचार यही है कि बहुत सी चीजों को एक साथ न लेकर कुछ चुने हुए क्षेत्रों में ही शक्ति लगायी जाय। सीमित साधनों और विकसित होती अर्थनीतिवाले देशों के लिए यही नीति उपयुक्त हो सकेगी।

गुणात्मक विकास की दो विधियाँ

गुणात्मक विकास के लिए दो विशिष्ट विधियाँ बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होंगी। प्रथम तो यह कि कार्यक्रमों के मूल्यांकन की उत्तरोत्तर विकसित विधि की खोज जारी रहे और दूसरे, कुछ ऐसे कार्य-रूपों एवं कार्यक्रमों का चुनाव, जिनकी पूर्ति के माध्यम से सामने आनेवाली कठिनाइयों के निराकरण की सही विधि खोजी जा सके।

भारतीय शैक्षणिक आयोजन के क्षेत्र में कठिनाइयों का दूसरा समूह प्रशासन के क्षेत्र से सम्बन्धित है। चूँकि केन्द्र व प्रान्तों में एक ही राजनीतिक दल सत्तारूढ़ है, इसलिए शिक्षा-सम्बन्धी मामलों में पर्याप्त सुगमता उपलब्ध है। फिर भी, केन्द्र व राज्यों के सम्बन्ध में पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है। साथ ही, शैक्षणिक विकास के लिए स्थानीय संस्थाओं एवं स्वैच्छिक संस्थानों के योगदान पर फिर से विचार होना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि सारी स्थिति का सतर्कतापूर्ण अध्ययन हो और राष्ट्रीय मंच से नया मार्गदर्शन मिले।

पाठक के समक्ष यह स्वतः स्पष्ट हो जायेगा कि ऊपर व्यक्त किये गये विचारों में पन्द्रह वर्षों के शैक्षणिक आयोजन की अनेक त्रुटियों की ओर ही ध्यान आकृष्ट किया गया है, उपलब्धियों की ओर नहीं। यह निर्विवाद है कि शिक्षा के क्षेत्र में पिछले पन्द्रह वर्षों की, जो उपलब्धियाँ हैं वे अंग्रेजी शासन की पूरी अवधि की प्राप्तियों से कहीं अधिक हैं। त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट करने के पीछे भविष्य के लिए आयोजन में सहायता कर सकने का ही दृष्टिकोण है और इस उद्देश्य की पूर्ति कमियों की ओर इंगित करने से ही सबसे अच्छे रूप में हो सकेगी। वैसे आगे आनेवाले आयोजन के लिए पिछली त्रुटियों का ज्ञान व आयोजन में सहायता—इन दोनों की आवश्यकता है। ●

अनु०—रामभूषण

पुस्तक-परिचय

धर्म क्या कहता है ? (पुस्तक माला)

लेखक—श्रीकृष्णदत्त भट्ट

प्रकाशक—सर्व सेवा-संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी।

मूल्य—प्रत्येक पुस्तिका का ५० पैसे।

यह पुस्तक माला बारह पुस्तिकाओं की है, जिसमें विश्व के प्रमुख नौ धर्मों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

इस माला की पहली पुस्तक 'धर्मों की फुलवारी' है, *जिसमें इन सब धर्मों की समन्वित रूप से चर्चा* की गयी है। संसार के सभी धर्मों की न्यारी-न्यारी शोभा है। हर एक की अपनी एक सुगन्ध है, गुण है, लेकिन सबका मर्म एक है। इसमें धर्म-तत्व की मनोहारी विवेचना की गयी है।

यह पुस्तिका सन् १९६४ में केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय-द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है।

'धर्म क्या कहता है ?' पुस्तक-माला की अन्य पुस्तिकाएँ निम्नलिखित हैं—

- वैदिक धर्म क्या कहता है ? (तीन भागों में)
- बौद्ध धर्म क्या कहता है ?
- पारसी धर्म क्या कहता है ?
- यहूदी धर्म क्या कहता है ?
- ताओ और कन्फ्यूश धर्म क्या कहता है ?
- ईसाई धर्म क्या कहता है ?
- जैन धर्म क्या कहता है ?
- इसलाम धर्म क्या कहता है ?
- सिख धर्म क्या कहता है ?

सरल, सरस और दिलचस्प शैली में लिखी होने के कारण यह पुस्तकमाला बालक, पालक, शिक्षक और नव साक्षर, सबके लिए समान रूप से उपयोगी है।

सर्वोदय साहित्य-सेट

• इस वर्ष सर्वोदय-पर्व के अवसर पर विषयवार कुछ सेट तैयार किये गये हैं। ये सेट ग्राहकों की रुचि और विषय का ध्यान रखते हुए बनाये गये हैं। पाठकों से निवेदन है कि वे अग्रिम रकम भेजकर इस सुविधा का लाभ उठायें और अपने अन्य मित्रों को भी इसके लिए प्रेरित करें। यह छूट ३० जनवरी, '६५ तक प्राप्य है।

• दस रुपये के सेट में करीब ग्यारह रुपये और पाँच रुपये के सेट में करीब साढ़े पाँच रुपये की पुस्तकें मिलेंगी, जो ग्राहकों को फ्री डाक-खर्च भेजी जायेंगी। सेट के विवरण के लिए सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन को लिखें।

• साहित्य में पत्र-पत्रिकाओं का अपना स्थान है। पत्रिकाएँ नियमित रूप से पढ़ी जायँ तो नयी से नयी गतिविधि की अद्यतन जानकारी मिलती रहती है और बराबर चिन्तन में स्फूर्ति का संचार होता रहता है।

हमारी पत्र-पत्रिकाएँ

भूदान-यज्ञ	हिन्दी	(साप्ताहिक)	—	वार्षिक ६ ००
भूदान	अंग्रेजी	(पाक्षिक)	—	वार्षिक ५ ००
सर्वोदय	अंग्रेजी	(मासिक)	—	वार्षिक ६ ००
भूदान तहरीक	उर्दू	(पाक्षिक)	—	वार्षिक ३ ००

सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
अक्तूबर, १९६४ | नयी तालीम | रजि० सं० एल, १७२३

कौन जीता ?

चील ने झपट्टा मारा और बाबू के हाथ से पूडियों का दोना जमीन पर गिर पडा। बाबू खिसियाकर रह गये। तीन पूडियाँ तीन जगह गिरी।

लडका दौडा और जल्दी जल्दी उसने आलू के टुकडा के साथ दो पूडियाँ उठा लो। लपककर तीसरी की ओर बढा ही था कि काना कुत्ता जोर से गुर्राया और पूडी को दाँता के नीचे दबाकर भागा। लडके ने दौडाया। चाय की दुकान तक दोना आगे-पीछे गय।

मैं खडगपुर स्टेशन पर अपने डिब्बे के सामने खडा यह दृश्य देख रहा था। गाडी के चलने पर अपनी सीट पर बैठा देरतक सोचता रहा कि अन्त में कौन जीता होगा। लगता है, कुत्ता निकल गया होगा।

इस देश के गाँव-गाँव और शहर शहर में बाबुओं के हाथ से गिरे हुए टुकडो के लिए आदमी और कुत्ते की लडाई कबतक चलेगी, कोई बतायेगा ? शासक, नेता, सन्त, सुधारक, कोई तो कुछ कहे !

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी मे मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी
गत मास छपी प्रतियाँ ३२०० इस मास छपी प्रतियाँ ३२००

वार्षिक चन्दा
६ ००

एक प्रति
० ६०

अनुक्रम

उत्तर प्रदेशीय प्राइमरी पाठशालाओं के लिए अनिवार्य

डण्डा छूटा कि बच्चा बिगड़ा

वर्ष : तेरह
•
अंक : चार

मद्रास के सुप्रसिद्ध अँग्रेजी दैनिक में ३ अक्तूबर को एक खबर छपी है, जो इस प्रकार है—

"मान्यता-प्राप्त स्कूलों में लड़कों को बेत की सजा दी जा सकेगी। झूठ बोलने, चोरी करने, दूसरे को परेशान करने, अभद्र भाषा का प्रयोग करने या पशुओं और पक्षियों के प्रति निर्दयता का व्यवहार करने-जैसे अपराधों के लिए चूतड़ या हथेली पर बारह बेत तक लगाये जा सकते हैं।

"बेत की सजा अन्तिम होगी। बेत लगाने का अधिकार केवल स्कूल के सुपरिंटेंडेंट, अथवा चरित्र निर्माण और प्रशासन के इंचार्ज असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट या सुपरिंटेंडेंट के आदेश से किसी सीनियर अध्यापक को होगा।

"बारह साल से नीचे के बच्चे पीटे नहीं जा सकेंगे। अन्य सजाओं के अलावा, जैसा अपराध होगा उसके अनुसार, उन्हें देवी-देवताओं के चित्रों के सामने चार से पचास बार तक कान पकड़कर उठने बैठने (थोप्पुकरनम्) को कहा जा सकेगा।"

मद्रास सरकार के शिक्षा विभाग ने यह आदेश जारी किया है। हमारे देश की सरकारों में मद्रास की सरकार कई दृष्टियों से बहुत अच्छी सरकार गिनी जाती है; इसलिए जाहिर है कि जब लड़कों की शरारतों को रोकने का कोई दूसरा उपाय नहीं रह गया होगा तभी विवश होकर उसने ऐसा कठोर शारीरिक दण्ड देने का आदेश किया होगा। यह आदेश छोटे बच्चों के लिए नहीं, बल्कि बारह साल से ऊपर के किशोरों के लिए है। क्या घर, क्या बाहर, किशोर हर जगह आफ़त होते हैं।

रविबाबू ने तो अपनी एक रचना में चौदह साल के लड़के के लिए इसी तरह की बात कही है। हर माता-पिता और अमरूद या आम का बागवाला अपने-अनुभव से इस बात की सच्चाई को जानता है। सचमुच, किशोर विद्रोही होता है। कही हुई बात न करने में, और मना की हुई बात जिद करके करने में उसे मजा आता है, और उसका यह मजा ही दूसरों के लिए मुसीबत बन जाता है। जब प्यार हारता है तो मार का सहारा लेना पड़ता है। माँ इसलिए मारती है कि वह बच्चे को प्यार करती है, और शिक्षक इसलिए मारता है कि वह बच्चे का सुधार चाहता है।

शिक्षक ने बेत लगाया तो उसको बेत लगाने में आनन्द आया या बच्चे के लिए उसकी नेकनीयती में कमी आ गयी, ऐसा कोई नहीं कहता; लेकिन सवाल यह उठता है कि क्या सचमुच शिक्षा के सारे शास्त्र और मनोविज्ञान के पास डण्डे के सिवाय बच्चे को काबू में रखने का अब कोई दूसरा उपाय नहीं रह गया है? बाप कहता है, बेटा कहने से नहीं मानता; पति कहता है, पत्नी नहीं मानती; मालिक कहता है, मजदूर नहीं मानता; पुलिस कहती है, जनता नहीं मानती; और पुरोहित ने तो पहले से ही कह रखा है कि मनुष्य को सिखाकर पाप से नहीं बचाया जा सकता; उसे नरक की यातनाओं का भय दिखाना ही पड़ेगा। ऋषि का भी अन्तिम अस्त्र शाप ही था।

किसी ने कहा है कि वासना में मनुष्य का जन्म होता है, पाप में उसका जीवन बीतता है और मृत्यु में अन्त हो जाता है। कुछ इसी तरह की धारणा से हमने हमेशा मनुष्य को अपराधी और दण्ड का अधिकारी माना है। हमेशा इनसान को दण्ड से दुरुस्त रखने की कोशिश की गयी है। शासन, धर्म, शिक्षा, सबने डण्डे को ही विकास का माध्यम माना है। डण्डा रुका कि बच्चा बिगड़ा, यह कहावत आज की नहीं, बहुत पुरानी है।

आदमी के दिमाग पर मान्यताओं का कितना असर होता है, इसका जबरदस्त सबूत उस दिन मिला, जब गाँव की एक स्त्री मेरे एक मित्र के पास, जो उस वक्त वहाँ सेवा भाव से बच्चों का स्कूल चलाते थे और बहुत कुशल शिक्षक हैं, गयी और झटककर बोली—'आप मारते तो हैं नहीं, ऐसी पढाई से क्या होगा? मेरा बच्चा कल से सरकारी स्कूल मे जायेगा।' यह कहते हुए स्त्री ने बच्चे की बाँह पकड़ी और उसे उठा ले गयी।

कहा जाता है कि पुराने समय में जब पत्नी पर कुछ दिन तक मार नहीं पडती थी तो वह चिन्तित हो जाती थी कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि पति की रुचि कम हो रही है। एक अच्छे किसान एक बार कह रहे थे कि मजदूर को मजदूरी भले ही थोड़ी ज्यादा दे दीजिए और गाँजा भी पिला दीजिए; लेकिन गाली में कमी मत कीजिए, नहीं तो उसकी आदत बिगड़ जायेगी, वह काम नहीं करेगा।

इस तरह के विचार सदियों से चले आये हैं; और हमलोगों के दिमाग उनसे इस बुरी तरह जकड गये हैं कि कोशिश करने पर भी वे जल्दी निकलते नहीं। और, यह भी सही है कि सत्संग और सद्विचार जहाँ आदमी को ऊपर उठाता है वहाँ लाज और भय के कारण भी वह कई गलत कामों से बच जाता है। जीवन में हर चीज का अपना स्थान है; लेकिन हमारे देश में सभ्य

जीवन की, जो परम्परा है और आज विकास की जिस दिशा में हम जाना चाहते हैं उसके साथ किन पुरानी या नयी चीजों का मेल बैठता है, किन चीजों का नहीं, इसका हर वक्त ध्यान रखना पड़ेगा। आखिर, हम जो समाज बनाना चाहते हैं, उसका चित्र क्या है, और उस समाज में रहनेवाले मनुष्य का हम क्या स्वरूप देखना चाहते हैं ?

हमने माना है कि हम ऐसा समाज चाहते हैं, जिसमें कोई किसी को दबाये न, जिसमें आपस का भाई-चारा हो, और जिसमें रहनेवाला मनुष्य ऐसा हो, जिसके विचार स्वस्थ हों, और जो दूसरों के साथ मिलकर रहना और काम करना जानता हो। अगर ऐसा समाज और ऐसा मनुष्य न बन सका तो सारे ज्ञान-विज्ञान से लाभ क्या होगा; लोकतंत्र और समाजवाद-जैसे शब्दों का अर्थ क्या रह जायेगा ? फिर धर्म की यह सीख कि हर जीव में ईश्वर का अंश है, कहाँ रह जायेगी ? तब तो यह मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य सर्कस का वह जानवर है, जिसे काबू में रखने के लिए मजबूत कोड़ेवाला एक रिंगमास्टर चाहिए ही।

शिक्षा मनुष्य को सर्कस का जानवर बनाने के लिए नहीं है। जेलर चाहे जो माने—और अब तो जेल को भी सुधारगृह बनाने के प्रयोग जोर पकड़ते जा रहे हैं—लेकिन शिक्षक यह मानकर चलता है कि जिस तरह चिकित्सा ओषधियों-द्वारा रोगों को दूर कर देती है उसी तरह शिक्षा—सही शिक्षा—से मनुष्य के गुणों का विकास हो सकता है और उन गुणों में इतनी शक्ति पैदा की जा सकती है कि मनुष्य में, जो पशु-तत्त्व है उसपर काबू रखा जा सके। यह प्रयोग अगर शिक्षक नहीं करेगा तो दूसरा कौन करेगा ? जब हम शासक से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह जनता की सम्मति से नियम-कानून बनाये; बल्कि अब यह भी कहने लगे हैं कि सरकार-शक्ति घटनी चाहिए और जनता की सहकार-शक्ति से ही अधिक से अधिक काम होने चाहिएँ और जेलर से यह अपेक्षा रखते हैं कि कैदी को भी आदमी समझे। तो सोचिए, शिक्षक से क्या अपेक्षा रखें ? उसे कम-से-कम पुलिसमैन और जेलर से भिन्न तो होना ही चाहिए। अगर वह सचमुच शिक्षक है तो उसे ऐसी पद्धतियाँ विकसित करनी ही पड़ेंगी, जिनसे मनुष्य का पशु-तत्त्व निरन्तर घटे और संस्कृति-तत्त्व निरन्तर बढ़े। उस प्रयोगशाला का ही नाम स्कूल है, और प्रयोगकर्ता का नाम शिक्षक।

विज्ञान ने मन और समाज के बारे में, जो ज्ञान विकसित किया है उससे इस प्रयोग में बहुत सहायता मिलेगी। विज्ञान ने हमें बताया है कि बच्चे का हर 'विद्रोह' शरारत नहीं है। अक्सर जिसे हम अवज्ञा या विद्रोह मानते हैं उसमें मूलतः बच्चे-द्वारा रचना की तलाश होती है; उसमें उसकी अपने ढंग की जिन्दगी–जीने की चाह–छिपी रहती है। वास्तव में यह 'विद्रोह' शिक्षा का अवसर है। 'हमारी बात नहीं मानी तो बदमाश, बागी, अपराधी'-यह दिमाग तानाशाही का है। इससे अलग हटकर यह सोचने की जरूरत है कि 'विद्रोह' विनाशकारी न होकर, रचनात्मक कैसे हो। शरारत दूसरी चीज है, और उसके लिए एक ढग से दण्ड का प्रयोग भी किया जा सकता है; लेकिन उसकी आड़ लेकर अनुशासन के नाम में अगर शिक्षक सेना की तरह मनुष्य की विद्रोह-शक्ति को बचपन में ही कुचलने की कोशिश करेगा तो वह विकास की दृष्टि से समाज का स्थाई

अहित करेगा। हम आज बच्चों को बेंत लगाकर ठीक रखना चाहते हैं, तो ये बच्चे जब बड़े होंगे तो दूसरों को बेंत लगाकर ठीक रखना चाहेंगे। हम कबतक इस परम्परा को कायम रखना चाहते हैं?

हम सोचते थे कि स्वराज्य के बाद गांधी के इस देश में हमारे जीवन के हर क्षेत्र में दमन मुक्ति के प्रयोग होंगे और लगेगा कि पूरे भारतीय समाज में एक नये सांस्कृतिक मानव का जन्म हो रहा है। लेकिन, हम देख क्या रहे हैं? वही दमन, वही शोषण; सत्ता की वही होड़, सम्पत्ति का वही लोभ; हिंसा की वही प्रतिष्ठा, असत्य का वही प्रचार। जब समाज के बड़े लोग भी पाप की माया में फँसे हुए हैं तो किसे देखकर बच्चा यह जाने कि मेहनत से इज्जत की रोटी और सच्चाई से इज्जत की जिन्दगी मिलती है? यह देख तो यह रहा है कि जो झूठ को सच बता सके, स्वार्थ को सिद्धान्त का रूप दे सके, जो हर तरह से दुनिया की आँखों में धूल झोंक सके वही विद्वान, वही नेता, वही गुरु, वही सुखी, वही सम्मानित। जब परिवार से लेकर समाज तक वातावरण इतना दूषित है तो किस प्रभाव में पलकर बच्चा सद्‌गुणी होगा? बच्चा देवी-देवताओं से प्रभावित नहीं होता, वह प्रेरणा लेता है जीवित मनुष्यों से।

शिक्षक भी क्या करे? सरकार और समाज ने उसे 'नौकर' बना रखा है, और वह किसी तरह 'नौकरी' निभा रहा है। देश में आज कहाँ है शिक्षा, और कहाँ है शिक्षक? कहाँ हैं जीवन के मूल्य, और किधर है जीवन की दिशा? सच्ची शिक्षा तब सम्भव है जब परिवार, स्कूल और समाज एक पंक्ति में आ जायँ, एक दूसरे के विरोधी न रह जायँ। इनमें से एक दूसरे को न सुधारे, अपने को सुधारे।

नया मानव नये समाज में बनता है; लेकिन नया समाज तब बनता है जब पुराने ही समाज के कुछ व्यक्ति—चेतन और संवेदनशील—यह तय कर लेते हैं कि प्रचलित प्रवाह कुछ भी हो, हमें तो नये मानव का ही तरह रहना है। ऐसे व्यक्तियों की 'प्रह्लाद-शक्ति' ही समाज को राम-भक्त बनाती है। अगर शिक्षकों में ऐसे चेतन और संवेदनशील व्यक्ति नहीं होंगे तो और कहाँ होंगे?

शिक्षक ही क्यों, जो कोई अपने में थोड़ी भी प्रह्लाद शक्ति का अनुभव करता हो वह शिक्षक बने—पेशे से नहीं, वृत्ति से; और अपनी परिधि में शैक्षणिक तरीकों की खोज करे। मनुष्य को बदलने के दूसरे सब तरीके फेल हो चुके हैं।

दुनिया के उन्नत देश अब शिक्षा को राष्ट्र की शक्ति और विकास के माध्यम के रूप में देखने लगे हैं। विचारक कहने लगे हैं कि सभ्यता के सामने एक ही विकल्प है—शस्त्र या शिक्षा। ऐसे समय हमारे देश की प्रगतिशील कही जानेवाली एक सरकार ने, जो काम किया है उसने परिस्थिति की बुनियाद में जाकर शिक्षा को पुलिस की लाइन में बिठा दिया है। कहना पड़ेगा कि जो समाज अपने बच्चों को दमन और शोषण से नहीं बचा सकता वह शायद भविष्य के सारे सपने भुला चुका है। मनुष्य को पशु और पापी मानकर दुनिया काफी कर चुकी, देख चुकी; अब समय आ गया है कि उसे मनुष्य मानकर जरा देखा जाय।

—राममूर्ति

भारतीय इतिहास में नेहरू का स्थान

•

विनोबा

आज हमारे देश के एक महान नेता पण्डित नेहरू का जन्मदिन है। वैसे तो उनका और हर एक का जन्मदिन हर साल आता है लेकिन प० नेहरू का यह जन्मदिन एक विशेष प्रकार का है।

भारत का बडा भाग्य है कि यहाँ गत सौ साल के अन्दर जीवन की मुख्तलिफ धाराओ में बहुत से महान पुरुष पैदा हुए। आध्यात्मिक क्षेत्र में, साहित्य के क्षेत्र में, लोकसेवा के क्षेत्र में, राजनीति के क्षेत्र में और सशोधन के क्षेत्र में भी, जो महापुरुष पैदा हुए उनसे इस बात का दर्शन हुआ कि यह देश बहुत पुराना होने पर भी इसकी बुद्धि में अभी तक थकान नहीं आयी है, बूढी नहीं बनी है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में रामकृष्ण परमहस का नाम लेते है तो हमें मानना पडता है कि भारत में या दूसरे किसी देश में किसी भी जमाने में, जो महापुरुष पैदा हुए उनके साथ बैठने लायक यह महापुरुष इस जमाने ने पैदा किया। साहित्य के क्षेत्र में हम इस देश के और दूसरे देशो के अच्छे साहित्यिको का नाम लेते है तो जैसे पुराने जमाने के कालिदास का नाम ले सकते हैं, वैसे ही इस जमाने में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम ले सकते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में भी भारत को एक के बाद एक बडे-बडे महापुरुषो का लाभ मिला है। दादा भाई-नौरोजी, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाधी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू—ये चार नाम ऐसे निकले कि दूसरे देशों के और दूसरे जमाने के ऊँचे-से-ऊँचे राजनीतिक पुरुषो के साथ हम इनका नाम ले सकते हैं। यह हमारे देश के लिए बडे गौरव की बात है।

भारतीय दिमाग की ताजगी

इस देश के लिए बडे गौरव की बात यह हुई कि जब यह देश राजनीतिक दृष्टि से गुलाम बना, अंग्रेजो के हाथ में चला गया, तो यहाँ के लोग न पस्तहिम्मत हुए, न हमलावर। अक्सर यह होता है कि जब कोई देश दूसरे देश पर कब्जा कर लेता है तो गुलाम देश में या तो छोटे-छोटे बल्वे, दगे, फसाद, बगावतें चलती हैं, या वहाँ के लोग पस्तहिम्मत हो जाते हैं, कुछ भी नहीं कर पाते है।

लेकिन, भारत में इन दोनो में एक भी नहीं हुआ। अगर यहाँ छोटी-छोटी बगावतें चलतीं तो वे बेकार साबित हो जातीं लेकिन यहाँ के लोग इसका चिंतन करने लगे कि इतना प्राचीन देश दूसरों के कब्जे में क्यों आया। हमारे जीवन के बुनियादी विचारों में कहीं न-कहीं कोई गलती होगी। हमारे आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक विचारो में कुछ-न-कुछ खामी होगी। इसलिए विदेश से मुट्ठीभर लोग यहाँ आये और उन्होने अपना आधिपत्य चलाया। या सोचकर भारत का दिमाग उन खामियों की खोज में लगा।

इस चिन्तन की फलश्रुति में यहाँ पर राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, महात्मा रानाडे निकले, जिन्होन अपने समाज की खामियो पर सोचकर समाज के सामने कुछ नये सामाजिक और धार्मिक सुधार पेश किये। हमें इसका बडा आश्चर्य मालूम होता है कि स्वामी दयानन्द-जैसा महापुरुष इस जमाने में पैदा होता है और स्त्री-पुरुषों का दर्जा समान होना चाहिए, स्त्रियो को तालीम मिलनी चाहिए, छुआछूत, जातिभेद मिटने चाहिएँ—यह सब कहता है—मूर्तिपूजा की बुराइयाँ

बताता है, धर्म में फैले हुए भ्रमों को दूर करता है और वेदों-जैसे ग्रंथों की तरफ समाज का ध्यान खींचता है, यानी समाज किन किन बातों में गिरा हुआ था, इसका संशोधन करके सुधार पैदा करता है। यह कोई छोटी चीज नहीं है। दूसरे देशों की तरफ देखने से पता चलता है कि देश परतंत्र होने पर भी हमारे देश के नेता हार नहीं खाते हैं बल्कि आत्मपरीक्षण करते हैं। यह बताता है कि भारत के दिमाग में ताजगी थी।

आध्यात्मिक संशोधन की प्रक्रिया

आज का हमारा जो चिंतन है जिसमें से सत्याग्रह, सर्वोदय, भूदान, ग्रामदान, मालिकी मिटाना आदि सब बातें निकली हैं वे सब बातें मूलतः आध्यात्मिक संशोधन के परिणामस्वरूप निकली हैं जो एक बहुत बड़ी चीज है। महर्षि टाल्स्टाय का दुनिया पर, गांधीजी पर और हम पर जो उपकार हुआ वह तो मान्य ही है लेकिन स्वामी दयानन्द राजा राममोहन राय रानाडे आदि ने समाज की बुराइयों का जो संशोधन किया था उसका भी हम पर बहुत बड़ा उपकार है। उससे देश में नयी *जागृति हुई है।*

हमारे देश को स्वराज्य चाहिए था। उसके लिए राष्ट्रीय शिक्षण का विचार निकला, देश को स्वावलम्बी होना चाहिए, तो परदेशी माल के बहिष्कार करने का विचार निकला। फिर यह सोचा गया कि हम अपनी छोटी छोटी शिकायतें कहाँ तक पेश करें तो यही कहना होगा कि हम अंग्रेजों का सीधा मुकाबला करें। उसमें से सत्याग्रह का विचार आया। फिर यह विचार आया कि समाज की निचली जमातों को ऊपर लाना चाहिए। सर्वोदय का बीज इसी में बोया गया था।

अब हम सर्वोदय का विचार आगे ले जा रहे हैं *और कहते हैं कि गाँव स्वावलम्बी बनने चाहिएं।* इस अर्थ में नहीं कि गाँववाले बाहर से कुछ भी नहीं लेंगे बल्कि इस अर्थ में कि गाँववाले कहेंगे कि हम अपना नसीब खुद बनायेंगे। हिन्दुस्तान का यह सारा अद्भुत इतिहास है। यह इतिहास बनाने में जिन महापुरुषों का हिस्सा है उनमें पण्डित नेहरू की गिनती है।●

दिल
का
दिया जलायें

एक था आदमी। हर रोज हनुमानजी की पूजा करने आता था। सरदी, गरमी, बरसात में भी बराबर आता था। एक दिन मैंने उससे पूछा—"क्यों जी, इस काम में इतनी नियमितता क्यों बरतते हो?"

उसने कहा—"मैंने हनुमानजी से मनौती मानी थी। मुझ पर मुकदमा चल रहा था। मैंने मन-ही-मन भगवान से मनाया कि प्रभो, यह मुकदमा जीत जाऊंगा तो आपके पास आकर नित्यप्रति दिया जलाया करूंगा। मैं वह मुकदमा जीत गया। तभी से इतने *वर्ष हो गये नित्य दिया जलाता हूँ।"*

मैंने पूछा— वह मुकदमा क्या था?'

उस बेचारे ने खुले दिल से मुझे सब कुछ बता दिया। उसने किसी की जमीन दबा ली थी। इसके विरोध में उस भूमिहीन ने मुकदमा दायर कर दिया। अदालत में कागज का माया चलती है। बेचारे भूमिहीन के पास वे कहाँ से आते? इधर इसे वकील अच्छा मिल गया और वह मुकदमा जीत गया।

फिर कहने लगा—"मुझ पर भगवान की कृपा हुई?"

मैंने कहा — 'भलेमानस, यह कृपा है या अकृपा!'

लेकिन, वह इसे कृपा ही समझ बैठा। बरसों से हनुमानजी के सामने दिया जलाता है, पर दिल का दिया नहीं जला पाया। बुरी वासना सफल होती है तो वह भगवान की कृपा नहीं, अकृपा है। शुद्ध वासना पूरी हो, तभी समझना चाहिए कि यह भगवान की कृपा है।●

—विनोबा

बुनियादी तालीम
की
तीन बातें

•

जवाहरलाल नेहरू

हमें सोचकर तय करना है कि बुनियादी तालीम को जब हमने उसूलन मंजूर किया है तो उसे अच्छी तरह किस ढंग पर चलाना है। उसके परिमाण को बढ़ाना है। यह नहीं कि थोडी दूर चलाकर, फिर उसे रोककर, और कुछ चालू करना, इससे सिलसिला बिगड जाता है।

जब तालीम के सिलसिले को बदलने की चर्चा होती है तो दूसरा सवाल उठता है कि इसमें खर्चा बहुत होता है। खर्चा कहाँ से आये। यह सही है कि हमारे मुल्क में पैसा नहीं है, और हमें सोचना पडता है कि जो थोडा-बहुत रुपया है, कहाँ तक खर्च किया जाय। बुनियादी तालीम के सिलसिले में वे एक नया ढंग दिखाते हैं— कम खर्चे का। यह भी गौरतलब बात हो जाती है।

मेरी यह पक्की राय होती जा रही है कि यह तालीम का सिलसिला तेजी से बढ नहीं सकता, अगर हम रुपयों के बन्धन में पडे रहे। रुपया तो कुछ खर्च होगा, किन्तु इन्तजाम के, मकान के, और सामान के लिए पडे रहे तो हम तेजी से बढ नहीं सकते।

मैं जवाहरलाल की हैसियत से कहता हूँ कि मेरे दिमाग में कोई शक नहीं है कि इस बुनियादी-तालीम के ही रास्ते पर हमें चलना है, और शुरू में तो हमें चलना ही है—बुनियादी वर्गों तक, उसके पहले पूर्व बुनियादी, और उसके बाद भी। फिर यह सोचना है कि इसमें दूसरी टेकनिकल तालीम कैसे खपेगी। यह एक अलग सवाल है और गौरतलब है। हरएक आदमी उसे नहीं सीखेगा। इस समय भी नहीं सीखता।

हमें यह याद रखना है कि एक आम तालीम हर एक के लिए—करोडो बच्चों के लिए—रखनी है। इसके अलावा एक खास तालीम—वह इसके खिलाफ नहीं, टेकनिकल-जैसी रखनी है। वह इसमें जुड सकती है, बढ सकती है—खास लोगों के लिए। इसमें मुझे कोई शक नहीं है कि इस ढंग से हमें चलना है। खासकर स्कूलों में तो इसे कर ही देना चाहिए। अगर स्कूलों में इसे नहीं करेंगे तो बाद में क्या करेंगे!

तीसरी बात यह कि अभी जो नये स्कूलों के नक्शे बनें, उनमें ऐसा न हो कि ऊपरी बातों में ही ज्यादा पैसा खर्च हो। अलावा पैसों की कमी के, मैं समझता हूँ कि उसूलन भी यह सही नहीं है, क्योंकि इससे हमारे दिमाग दूसरी तरफ झुक जाते हैं।

अच्छा हो कि हम अपनी तालीम को उस तरफ न झुकने दें जो हमारे मुल्क की हालत से ताल्लुक न रखती हो। आजकल विद्यार्थी विदेशों में जाते हैं। यह हर तरह से अच्छा है। नयी जगहों में जायें, नयी चीजें सीखें नयी हवा खायें, उनका दिमाग फैले, जिससे तंगख्याली उनमें न रहे।

लेकिन, वहाँ से जो विद्यार्थी सीखकर आते हैं, उनके दिमाग में उन्हीं मुल्कों के ढंग और हालात होते हैं। वे यहाँ भी उसी ढंग से काम करना चाहते हैं।

आज की दुनिया साइंस की है। आजकल की दुनिया के दिमाग साइंस से भरे हैं। उसी से ढले हैं। उसे हम अलग नहीं कर सकते। साइंस से अलग रहकर तो हम किसी बात को मजबूत नहीं कर सकते, इसलिए साइंस को हमें अपने दिमाग में रखना है और अहिंसा से उसे जोडना है। ●

गांधी और नेहरू

●

काका कालेलकर

गाधीजी का काय जो लोग आगे चलाते हैं और जिनको जनता गाधीवादी के नाम से पहचानती है उन लोगों में से किसी ने भी जवाहरलालजी की नीति का कहीं भी विरोध नहीं किया। हालांकि वे जानते थे कि गाधीजी की नीति और कायक्रम में और जवाहरलालजी की नीति और कायक्रम में मौलिक भेद और अन्तर है।

कारण स्पष्ट है। गाधीजी ने ही सब बातें सोचकर जवाहरलालजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था।

जवाहरलालजी निमल चारित्र्य के और ईमानदार व्यक्ति थे। उन्होंने जब गांधीजी का नेतृत्व मजूर किया, तब उसके पहले और उसके बाद भी उन्होंने अपने विचार कभी भी छिपाये नहीं। गांधीजी के साथ उनका कहाँ-कहाँ और कितना मतभेद है उन्होंने साफ किया ही था। खानगी में और जाहिरा तौर पर अपने भाषणों लेखों और किताबों में भी उन्होंने अपने विचार अनेक बार स्पष्ट किये थे।

कारण स्पष्ट है। भारत निष्ठा, स्वराज्य प्राप्ति की तमन्ना और भारत के उद्धार के लिए जिस क्रान्ति की आवश्यकता है उसे लाने के लिए अपना और देश का सवस्व अपण करने की तयारी, इन तीन बातों में गाधीजी और जवाहरलालजी एक दूसरे के निकटतम साथी थे।

चारित्र्य की ईमानदारी और निभयता दोनों में एक सी थी। यही कारण था कि अनेक तरह के स्वभाव भेद विचार भेद और आदर्श भेद होते हुए भी गाधीजी ने जवाहरलाल को अपनाया। और जवाहरलालजी ने गाधीजी को सिर-छत्र मान लिया। दोनों के बीच पिता पुत्र जैसा जो सम्बन्ध था उसे हम तो आध्यात्मिक सम्बन्ध ही कहेंगे।

गाधीजी ने भारत की हजारों बरस की आध्यात्मिक संस्कृति का निचोड दो शब्दों में दुनिया के सामने रख दिया था — सत्य और अहिंसा निष्कपट चारित्र्य और मानव हितकारी निष्ठा। गाधीजी की व्यक्तिगत अध्यात्म निष्ठा सत्य और अहिंसा इन दो शब्दों में व्यक्त होती है। जागतिक इतिहास के अध्ययन के फलस्वरूप जवाहरलालजी भी इन दो सिद्धान्तों पर आरूढ हुए थे— निष्कपट निर्मल चारित्र्य और उदात्त जागतिक निष्ठा तथा युद्ध विरोध। गाधी और जवाहरलालजी के बीच यह सबसे बड़ा साम्य था। केवल साम्य नहीं अद्भुत ऐक्य था। इसी कारण उन्होंने जवाहरलालजी को भारत की नैया का कणधार बनाया था। कूटनीति नहीं किन्तु पक्षपात रहित प्रकट नीति युद्ध विरोधी जागतिक शान्ति निष्ठा और आत्म निष्ठा से प्रेरित निभयता यही रही जवाहरलालजी की भारत नीति की मजबूत बुनियाद। ●

सीनियर बेसिक स्कूलों में दो शिल्प क्यों ?

•

वंशीधर श्रीवास्तव

इस समय उत्तरप्रदेश की प्रारम्भिक शिक्षा दो स्तरों से बँटी हुई है—जूनियर स्तर और सीनियर स्तर। चूँकि उत्तरप्रदेश के सभी प्रारम्भिक स्कूल बेसिक स्कूल हैं, अत हम इन स्तरो के स्कूलों को 'जूनियर बेसिक स्कूल' और 'सीनियर बेसिक स्कूल' कहते हैं। कक्षा १ से ५ तक के स्कूल जूनियर बेसिक स्कूल और कक्षा ६ से ८ तक के स्कूल सीनियर बेसिक स्कूल कहलाते हैं। बेसिक शिक्षा के आरम्भ होने के पहले भी दो स्तर थे—प्राइमरी स्तर (लोअर प्राइमरी और अपर प्राइमरी) और वर्नाक्युलर (हिन्दुस्तानी) मिडिल स्तर।

सगठन और पाठ्यक्रम दोनों ही दृष्टियों से ये विभाग दो इकाइयाँ थे। और, आज बेसिक शिक्षा अपनाने के बाद और बेसिक स्कूल कहे जाने के बाद भी दोनो अलग-अलग इकाइयाँ हैं—सगठन और पाठ्यक्रम की दृष्टि से भी। ऐसा नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रारम्भिक-बेसिक शिक्षा एक इकाई है और उसे सगठन की दृष्टि से भले ही दो भागो में बाँट लिया जाय, पाठ्यक्रम की दृष्टि से एक इकाई ही रहनी चाहिए। यह एकता प्रारम्भिक बेसिक शिक्षा की सकल्पना में ही अन्तर्निहित है।

सन् १९४७ के बाद देश ने प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा के लिए बेसिक शिक्षा को राष्ट्रीय पद्धति स्वीकार किया था। प्रारम्भिक बेसिक शिक्षा की अवधि क्या हो और पाठ्य-विषयो का स्टैंडर्ड क्या हो, पूछने पर गाधीजी ने कहा था कि प्रारम्भिक शिक्षा की अवधि सात साल से कम नहीं होनी चाहिए और उसकी मर्यादा (स्टैण्डर्ड) अंग्रेजी भाषा को छोड़कर मैट्रिक की (हाई-स्कूल) योजना के साथ किसी दस्तकारी की तालीम हो। इस सकल्पना में दो तथ्य निहित हैं—एक तो यह कि प्रारम्भिक शिक्षा की अवधि सात साल से कम नहीं होनी चाहिए और दूसरा यह कि इस अवधि की शिक्षा पाठ्यक्रम की दृष्टि से एक इकाई है। पाठ्यक्रम की दृष्टि से इकाई हम उस पाठ्यक्रम को कहते हैं, जिसमें स्तर-विशेष की पहली कक्षा में, जो विषय प्रारम्भ हो वे उस स्तर की अन्तिम कक्षा तक चलें।

अस्तु, प्रारम्भिक शिक्षा-योजना के रूप में बेसिक-शिक्षा जिन प्रदेशों में चली उनमें वह इसी रूप मे अपनायी गयी, और कक्षा १ से कक्षा ७ या ८ तक वह एक इकाई रही।

प्रारम्भिक बेसिक शिक्षा का सबसे पहला पाठ्यक्रम डा० जाकिर हुसैन-समिति ने प्रस्तुत किया था। इस पाठ्यक्रम में शिक्षा की अवधि सात साल की रखी गयी थी और इस अवधि की शिक्षा को इकाई मानकर पाठ्य-विषयों का सयोजन किया गया था। इस पाठ्यक्रम में, जो विषय कक्षा १ से प्रारम्भ हुए हैं वे कक्षा ७ तक चले हैं, चाहे वे विषय प्रायोगिक हों अथवा सैद्धान्तिक। १९५३ में जब 'हिन्दुस्तानी तालीमी सघ' ने 'आठ सालो का सम्पूर्ण शिक्षाक्रम' प्रस्तुत किया तब भी इसी नीति का अनुसरण किया गया। हिन्दुस्तानी तालीमी सघ-द्वारा प्रस्तुत यह पाठ्यक्रम एक प्रकार से आदर्श था और अन्य प्रदेशो ने इसी को आधार मानकर प्रारम्भिक बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम बनाया।

अतः इन प्रदेशों में प्रारम्भिक बेसिक शिक्षा की इकाई के खडित होने का प्रश्न नही उठा। प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा की यह एकता बहुत महत्वपूर्ण वस्तु है और जिन शिक्षाशास्त्रियों ने सगठन की सहूलियत अथवा दूसरे कारणों से बेसिक शिक्षा को दो स्तरो में बाँटने की बात कही है, उन्होंने भी इस एकता को बनाये रखने की सिफारिश की है।

अखिल भारतीय स्तर पर सार्जेन्ट कमेटी ने प्रारम्भिक बेसिक शिक्षा को दो इकाइयो में बाँटने की

बात की है। सार्जेन्ट कमेटी की राय है कि "बेसिक शिक्षा अपनी मौलिक एकता को कायम रखते हुए दो स्तरों में विभाजित होगी—जूनियर (प्राइमरी) स्तर, जिसकी अवधि पाँच वर्ष की होगी और सीनियर (मिडिल) स्तर, जिसकी अवधि ३ वर्ष की होगी। जिन्हें 'बेसिक' शब्द रखना पसन्द नहीं वे प्राइमरी और मिडिल शब्द रख सकते हैं; परन्तु हर हालत में उन दोनों स्तरों की आवश्यक एकता को कायम रखना होगा और प्राइमरी स्तर के कोर्स का इस प्रकार आयोजन करना होगा कि उसका स्वाभाविक विकास मिडिल स्तर पर हो।"*

सन् १९५२ ई० में केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने अपने एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव-द्वारा पुन एकता के इसी तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है। प्रस्ताव में कहा गया है कि "शिक्षा की कोई भी पद्धति सच्चे अर्थ में तबतक बेसिक शिक्षा पद्धति नही मानी जा सकती जबतक वह जूनियर और सीनियर दोनों ही स्तरों पर समन्वित पाठ्यक्रम नहीं लागू करती और शिल्प-कार्य के शिक्षात्मक और उत्पादक दोनों ही पहलुओ पर पर्याप्त बल नहीं देती।" शिल्प-क्रिया के खडित हो जाने से शिक्षात्मक और उत्पादक दोनो ही पहलुओ की पूर्ण अवहेलना हो जाती है।

अतः सीनियर स्तर पर दो शिल्प क्यो रखे जायें, इस प्रश्न का केवल इतना उत्तर है कि चूंकि बेसिक-शिक्षा एक इकाई है और जूनियर स्तर पर दो या दो से अधिक शिल्प पढाये जा रहे हैं; अत सीनियर स्तर पर भी वही चलें। बल्कि, यह कहना अधिक सगत होगा कि बेसिक स्कूलो के जूनियर और सीनियर स्तर के पाठ्यक्रम का इस प्रकार संयोजन किया जाय कि जूनियर स्तर पर, जो विषय प्रारम्भ किये जायें वे सीनियर स्तर तक चलें।

बेसिक शिक्षा शिल्प-केन्द्रित है और उसमें शिल्प के माध्यम से शिक्षा देने और बालक के व्यक्तित्व को विकसित करने की बात कही गयी है। इस पद्धति में शिल्प साधन भी है और साध्य भी। इस प्रकार उसका दोहरा महत्व है। यही कारण है कि जाकिर-हुसैन-समिति ने अपनी रिपोर्ट के साथ दस्तकारियों का विस्तृत पाठ्यक्रम बनाया, पाठ्यक्रम में काम का लक्ष्य निर्धारित किया और अनुबन्ध-सम्बन्धी चर्चा भी की है।

इन दस्तकारियो का विस्तृत पाठ्यक्रम बनाते समय बालकों की क्षमता के अनुसार उनके दो भाग कर दिये गये हैं। उदाहरणार्थ, कताई-बुनाई के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत कक्षा १ से ५ तक कताई और अन्तिम दो कक्षाओ में बुनाई रखी गयी। कृषि के अन्तर्गत कक्षा ५ तक बागबानी को और अन्तिम दो वर्ष कृषि को दिये गये हैं। लकडी और धातु के काम में प्रथम दो वर्ष दफ्ती और गत्ते के काम के लिए और अन्तिम ५ वर्ष लकडी और धातु के काम के लिए रखे गये हैं।

इस प्रकार के विभाजन का अर्थ शिल्प के विकसित रूप के साथ बालक की विकसित क्षमता के समन्वय के प्रयास के अतिरिक्त और कुछ नही है। बुनाई कताई का, खेती बागबानी का, और लकडी या धातु का काम दफ्ती के काम का विकास मात्र है। ये दोनो दो अलग अलग विषय नहीं हैं। इसमें किसी को किसी प्रकार का भ्रम नही होना चाहिए। अतः अगर कहीं ऐसा होता है कि कक्षा ५ तक कताई या बागबानी पढ़ाकर छोड दी जाती है और आगे के दो या तीन वर्गों में बुनाई और कृषि नहीं पढाई जाती तो इसका अर्थ हुआ शिल्पो की एकता का खडन, जिसका और किसी पद्धति में भले ही कुछ मूल्य हो, लेकिन बेसिक शिक्षा-पद्धति में कुछ भी मूल्य नहीं है। उत्तरप्रदेश में ऐसा ही हो रहा है।

बेसिक शिक्षा की सकल्पना की दृष्टि से तो यह गलत है ही, मनोविज्ञान की दृष्टि से भी यह गलत है। मनोविज्ञान बतलाता है कि पाँच-छ साल के बच्चो में, जिन गुणो, कौशलो या प्रवृत्तियों की नीव डाली जाय उन्हें १४, १५ वर्ष की अवस्था तक चलना चाहिए, क्योंकि उनके दृढ और टिकाऊ होने के लिए और बालक के व्यक्तित्व का अंश बनने के लिए यह आवश्यक है।

---

* पोस्टवार एजुकेशनल डेवलपमेण्ट इन इडिया—केन्द्रीय सलाहकार समिति की रिपोर्ट पृष्ठ ८—९,

सन् '५८ में बारहवीं अखिल भारतीय बुनियादी कान्फ्रेंस तुर्की (विहार) के अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए डाक्टर जाकिर हुसैन ने कहा था—"बुनियादी-तालीम के विषय में इधर एक और बात हो रही है, जो बहुत गलत है। भारत सरकार ने ६ से ११ वर्ष की प्रारम्भिक बेसिक शिक्षा देने की अनिवार्यता पर ही जोर दिया है। बेसिक शिक्षा को दो टुकड़ों में बाँट दिया गया है—६ से ११ और ११ से १४ वर्ष तक। और, फिलहाल ६ से ११ वर्ष तक की शिक्षा को ही अनिवार्य बनाने की योजना है। मेरा कहना है कि अगर किन्हीं कारणों से—और इनमें मुख्य कारण धन की कमी ही हो सकती है—पाँच वर्ष तक की शिक्षा को ही अनिवार्य बनाना है तो ९ से १४ वर्ष तक की बेसिक शिक्षा बनायी जाय, क्योंकि ६ से ११ वर्ष तक करके छोड़ देने के बाद काम या हुनर स्थायी प्रवृत्ति नहीं बन पाता। इससे कुछ भी लाभ नहीं, उल्टे देश के धन की बरबादी है।"

इसीलिए डा० जाकिर हुसैन समिति-द्वारा निर्मित पाठ्यक्रम में उन शिल्पों को, जो कक्षा १ में प्रारम्भ किये गये थे अन्तिम कक्षा तक अर्थात् १४ वर्ष की अवस्था तक चलाया गया है। अभी हाल में श्री जे० पी० नायक ने महाराष्ट्र में एक खोज के आधार पर अपने 'न्यू अप्रोच टू बेसिक एजुकेशन' नामक पैम्फलेट में इसी दृष्टिकोण की पुष्टि की है। इसीलिए मेरा कहना है कि उत्तरप्रदेश के जूनियर स्तर पर, जो शिल्प प्रारम्भ हुए हैं वे सीनियर स्तर तक चलें। जूनियर स्तर पर, जो दो शिल्प हैं, सीनियर स्तर पर भी वही दोनों शिल्प चलें।

प्रारम्भिक बेसिक स्तर पर दो शिल्प चलें, इस सम्बन्ध में भी शिक्षाविद लगभग एकमत हैं। उनका विचार है कि पाँच-छः वर्ष के बालक को एक ही शिल्प अथवा हाथ के काम में लगाये रखना अमनोवैज्ञानिक है। यह ऐसी अवस्था है, जब बालक स्वभावतः एक से अधिक प्रकार के हाथ के काम करना चाहता है। किसी एक प्रकार के काम में बहुत देर तक उसकी रुचि केन्द्रित नहीं होती। यह अवस्था एक में बँधने की नहीं, अनेक में रमने की है। इस समय बालक की सृजन-वृत्ति नाना प्रकार के माध्यमों द्वारा अपने को प्रकट करना चाहती है। उसे किसी एक माध्यम से बाँध देना अमनोवैज्ञानिक है।

यही कारण है कि प्रारम्भिक बेसिक शिक्षा का प्रथम पाठ्यक्रम प्रस्तुत करते समय डा० जाकिर हुसैन और उनके दूसरे शिक्षाविद सहकारियों ने प्रत्येक बालक को एक से अधिक प्रकार के शिल्प पढ़ाने की संस्तुति की थी। इस पाठ्यक्रम में प्रत्येक बालक के लिए कम-से-कम दो दस्तकारियाँ लेना अनिवार्य है। इनके अतिरिक्त एक चित्रकला भी है, जो अपने को प्रकट करने का सबल माध्यम है और एक प्रकार का हाथ का काम ही है।

प्रारम्भिक बुनियादी शिक्षा के सात साल के पाठ्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए समिति ने लिखा है—

बेसिक स्कूलों में नीचे लिखी दस्तकारियों में से कोई एक दस्तकारी सुविधा के अनुसार चुनी जा सकती है।

१ कताई और बुनाई,

२. बढ़ईगिरी,

३. खेती,

४. फल और साग-सब्जी पैदा करना,

५ चमड़े का काम, और

६. दूसरी कोई भी दस्तकारी, जो भौगोलिक और स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल हो।

जहाँ कताई और खेती को छोड़कर कोई दूसरी बुनियादी दस्तकारी चुनी जायगी कि वहाँ भी विद्यार्थियों से यह उम्मीद की जायगी कि वे रुई धुनने, तकली पर सूत कातने और अपने यहाँ की खेती के काम से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का मामूली ज्ञान रखें।⊛

(अपूर्ण)

⊛ बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा, जाकिर हुसैन-समिति का विस्तृत पाठ्यक्रम हिन्दी संस्करण १९३८ पृष्ठ २४

धरती माता

क्या देती है, कितना देती हैं ?

•

रामभूर्ति

प्रश्न—आपने कहा था कुछ लोग यह मानते हैं कि देश में जितने खानेवाले हैं उन सबके लिए आवश्यक उत्पादन हम नहीं कर पाते, इसलिए जब माँग अधिक होती है और सामान कम होता है तो बाजार महँगा हो जाता है। क्या सचमुच ऐसी बात है कि हमलोग अपने खानेभर को भी नहीं पैदा कर पाते ?

उत्तर—इस बात को हमलोग इस तरह समझें। अपने सामने अपना गाँव रखिए। सोचिए, पिछले पन्द्रह-बीस साल में गाँव में कितने लोग बढ़े हैं कितनी खेती बढ़ी है कितने बाग-बगीचे और पशु बढ़े हैं, और फी-बीघा कितनी उपज बढ़ी है। एक बात तो तय है कि गाँव की आबादी बढ़ी है। है ऐसी बात या नहीं ?

प्रश्न—क्या कहते हैं, कौन ऐसा घर है, जिसमें साल में एक-दो छठी-बरही न होती हो ? और क्या आप जानते हैं कि लगभग हर गाँव में कई ऐसे लोग हैं, जो बहुत चाहते हैं और कोशिश भी करते हैं; लेकिन उनकी शादी नहीं हो पाती ?

उत्तर—खूब जानता हूँ। कुछ लोगों की शादी नहीं होती, कई लोगों की एक बार होती है लेकिन अगर पत्नी मर गयी तो दुबारा नहीं होती, और कितनी ही स्त्रियाँ नयी उम्र में ही विधवा हो जाती हैं। दूसरी ओर यह होता है कि बहुत से लोग वयस्क होने से पहले ही माँ-बाप बन जाते हैं, और फिर एक के बाद दूसरे बच्चे होते ही जाते हैं। खैर, किसी वक्त इसपर अलग चर्चा की जायेगी।

कुल मिलाकर यह बात सही है कि आबादी बढ़ रही है, और बहुत तेजी से बढ़ रही है—आपके गाँव की बढ़ रही है, मेरे गाँव की बढ़ रही है हर जगह की बढ़ रही है। पूरे देश के लाखों गाँवों और शहरों का टोटल जोड़िए तो बहुत बड़ी संख्या हो जाती है। एक साल में देश की जनसंख्या ५० ६० ७० लाख कभी-कभी इससे भी ज्यादा बढ़ जाती है। लोगों का अनुमान है कि अगले १५–१६ वर्षों में भारत की आबादी ६० करोड़ हो जायेगी। आज ४६ ८७ करोड़ है। सोचिए जिस तेजी से खानेवाले मुँह बढ़ रहे हैं, क्या उसी तेजी से अनाज और खाने की दूसरी चीजें भी बढ़ रही हैं ? आपके गाँव की आबादी बढ़ी है तो क्या उपज भी बढ़ी है ?

प्रश्न—आप जिस तरह जोड़ रहे हैं उस तरह जोड़ा जाय तो मेरा गाँव घाटे का गाँव होगा। मेरे गाँव में हाल यह है कि पहले जो परती जमीन थी, चरागाह था वहाँ लोग खेती करने लगे हैं। इस तरह खेत तो बढ़ा है; लेकिन गायें और भैंसे घटी हैं, और जो हैं उनका दूध घटा है। जहाँतक खेती का सवाल है, खेती उनलोगों की कुछ अच्छी हुई है जिन्होंने कुँएँ में रहट लगाया है, एक आदमी ने अपने कुँएँ में इंजन लगाया है, उनका गेहूँ इस साल अच्छा

हुआ है, और मेरे गाँव से दो मील पर नहर गयी है, उसका पानी जहाँ पहुँचता है वहाँ खेती बढ़ी है और अच्छी हुई है। लेकिन, दूसरी जगह हाल यह है कि खेत पर मेहनत कम हो रही है, खाद नाम-मात्र की पड़ पाती है, इन्द्र भगवान का कोई भरोसा नहीं, छोटे-छोटे खेत हैं, घर में पूँजी नहीं, खेती क्या हो रही है, जो जिन्दा जा रहा है। फी-बीघा मजदूरी जो पहले थी वही अब भी है। गाँव में ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिनका पेट रूखे सूखे भोजन से तीसों दिन, बारहों महीने भरता हो। हमलोग तो कुछ खा भी चुके हैं, बच्चों का क्या हाल होगा, भगवान ही जाने! लेकिन, यह भी तो है कि देश में अनाज होता न, तो बिकता कैसे?

उत्तर—हाँ, ऐसे गाँव हैं, जिनमें खेती पिछले कुछ वर्षों में अच्छी हुई है, लेकिन सवाल यह है कि गाँव में जितना अनाज होता है और जितने लोग हैं। उनका हिसाब लगाया जाय तो बहुत कम ऐसे गाँव होंगे, जिनकी उपज खपत से अधिक हो। और, खेती ऐसी चीज नहीं है, जिसमें लगातार दो साल, तीन साल बराबर अच्छी फसल हो। पाँच साल में एक-दो साल भी अच्छी फसल हो जाय तो बहुत समझिए। हाँ, आपने कहा कि बाजार में बहुत अनाज है। आप जानते हैं, बाजार में अनाज कहाँ से आता है, कैसे आता है? बाजार में अनाज तीन तरह से आता है।

एक तो गाँव में अनाज कम हो या ज्यादा, सबको भरपेट खाने को मिले या न मिले, गाँव में अक्सर दो-चार लोग ऐसे होते हैं, जिनके पास अनाज ज्यादा होता है और जो बेचते हैं। वह अनाज बाजार में जाता है। इस महँगी में ऐसे बड़े किसानों ने बेचना जरा कम कर दिया है, इस लालच में कि आगे दाम और बढ़ेंगे, लेकिन जो लोग फाजिल अनाज बेच सकते हैं वे ही बेचते हैं, ऐसी बात नहीं है।

ऐसे लोगों को भी बेचना पड़ता है, और अक्सर फसल के समय बाजार भाव से सस्ता बेचना पड़ता है, जिनके पास फाजिल नहीं है, लेकिन उन्हें पैसे की जरूरत है और दूसरा कोई उपाय नहीं है। ऐसे लोगों को व्यापारी पहले से पेशगी देकर सौदा भी कर लेते हैं ये गरीब लोग सस्ते बाजार में अनाज बेचते हैं, और बाद को महँगे बाजार में खरीदकर खाते हैं।

तीसरी तरह का जो अनाज बाजार में आता है। वह विदेशी है। लाखों टन अनाज हर साल बाहर से आता है। आपको मालूम है कि सन् '५५ से आज तक लगभग १६ अरब रुपये का अनाज बाहर से आया है। हिसाब जोड़िए तो पता चलेगा कि हममें से हर आदमी साल में एक-दो महीना बाहर के अनाज पर जी रहा है। पेट बाजार के अनाज से नहीं भरता, पेट भरता है घर के अनाज से। बाजार के अनाज के लिए सबके पास पैसा कहाँ है?

प्रश्न—बाप-दादे अपनी ही कमाई खाते थे, क्यों?

उत्तर—अँग्रेजों के पहले ऐसी बात रही होगी, लेकिन धीरे-धीरे हालत बदल गयी। अँग्रेजों के जमाने में भी ब्रह्मा से चावल खूब आता था। 'उजरका रगुनिया चाउर' हर जगह बिकता था, और गेहूँ भी बाहर से आता था। बढ़ते-बढ़ते आज यह हालत हो गयी है कि अगर विदेश से चावल, गेहूँ, मक्का आदि न आये तो हमलोग भूखों मर जायँ। हमारे देश में अँग्रेजी राज में भी करोड़ों लोग भूखे रहते थे, लेकिन उनको देखता कौन था, उनकी सुनता कौन था? वही पुरानी हालत आज इतनी भयंकर हो गयी है। और, आज भी जब शहरवालों को महँगाई भोगनी पड़ी है तब जोरों से चिल्लाहट मची है। केवल गाँव का सवाल होता तो शायद जल्दी पता भी न चलता।

प्रश्न—कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि हमारी हालत क्या है? उपज इतनी कम है?

उत्तर—हाँ, विदेशी अनाज को निकाल दीजिए तो शायद अपनी कमाई का अनाज दो डेढ़ पाव भी एक आदमी को रोज मुश्किल से मिलेगा। दूध आज देश में जितना है उतना गणित के हिसाब से हर मर्द-औरत, बच्चे-बूढ़े में बराबर-बराबर बाँटिए तो ढाई तीन छटाँक

ठीक से ज्यादा नहीं पड़ेगा। इसी तरह कुछ कपड़े की कोशिश भी ज्यादा-भीतर नहीं पड़ेगी। कपड़ा, भोजन इतने में काम? पैदावार का कुछ भी हाल हो, लेकिन माँग बराबर बढ़ती जा रही है। हर एक चाहता है कि वह अच्छा खाये, ज्यादा और अच्छा पहने, और मामला खर्च करे। सोचिए, पहले गाँव में कितने लोग बीड़ी या चाय पीते थे, कितने पास घड़ी या साइकिल थी, और शादी में सिल्क-लिनेन लाता था या पॉलिश जरीदार जूता पहनता था, लेकिन आज?

प्रश्न—हाँ, लोगों की माँग बहुत बढ़ती जा रही है। तो क्या, ऐसी चाह रखना बुरा है?

उत्तर—मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि बुरा है। बुरा नहीं है, अच्छा है, ऐसा ही होना चाहिए, लेकिन जिसका जो हक, वह पैदा होना।

प्रश्न—कुछ लोगों को खाते-पीते, मौज करते देखकर दूसरों को भी वैसे करने की इच्छा होती है। क्यों नहीं होगी?

उत्तर—ठीक है, लेकिन बात को जरा गहराई से सोचना चाहिए। दोनों बातें जरूरी हैं—अधिक से अधिक समता हो, अधिक-से-अधिक उत्पादन हो, ताकि किसी को तंगी न हो। अभी तो पेट भरने का सवाल है, अच्छा खाने, अच्छा पहनने का सवाल दूर है।

प्रश्न—लेकिन, जो है भी, वह सबको कहाँ मिलता है?

उत्तर—कुछ थोड़े लोगों को भरपूर खाने-पहनने को मिल रहा है। वह इस कारण कि अधिक लोगों को नहीं मिल रहा है। जो ऊँचे टीले दिखाई दे रहे हैं वे इसलिए ऊँचे हैं कि आस-पास गहरे गड्ढे हैं। अगर हर आदमी के लिए अनाज, सब्जी, दाल, घी-तेल, गुड़, फल, दूध-दही, मट्ठा मक्खन आदि की, जो योरप, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया जैसे कई दूसरे देशों के लोग पा रहे हैं, और जैसा हलका काम कर रहे हैं, उस हिसाब की मात्रा ही जोड़ें, तब आज आदमियों के लिए ही कुछ करें। कपड़ा भी हर आदमी के लिए साल में ३०-३५ गज तो चाहिए ही, लेकिन अब तो ५ गज के लिए पेट भरना और तन ढकना भी मुश्किल है तो इन चीजों को पैदा करना जरूरी है। ज्यादा कोई सवाल, लेकिन आज तो .

प्रश्न—यह आगे की बात है। आज जितना अनाज है वह भी सबको नहीं मिलता।

उत्तर—सही है। जो है, घरों में है, गोदामों में है, और जो बाजार में है उसका दाम इतना अधिक है कि लोग खरीद नहीं पा रहे हैं। मैं इसे बड़ा बुरा मानता हूँ कि व्यापारी, जमाखोर, मुनाफाखोरी, बाजार में अधिक दाम आदि लगा रहे हैं, जिन्होंने बाजार को बेहद बिगाड़ दिया है, लेकिन जो बुनियादी सवाल है उसे भी तो सोचना पड़ेगा।

प्रश्न—आखिर क्यों हैं ये बातें? हम लोगों ने सुना था कि हमारे देश में अच्छी भूमि है, पानी है, मेहनती लोग हैं, छियालीस करोड़ लोगों के बानवे करोड़ हाथ हैं, और इधर स्वराज के बाद से सरकार खेती की तरक्की के लिए अरबों रुपये खर्च भी कर रही है; फिर भी हम अपना पेट नहीं भर पा रहे हैं, तन नहीं ढक पा रहे हैं! ऐसा क्यों है? क्या कोई उपाय भी है?

उत्तर—ये बातें सबको समझनी चाहिए। मिलकर सोचने और मिलकर काम करने से ही गुजर होगा।

प्रश्न—बताइए, देश का उत्पादन क्यों नहीं बढ़ रहा है?

पाठशालाओं की प्रार्थना–२

•

मार्जरी साइक्स

नयी तालीम का यह एक मूलभूत सिद्धान्त है कि विद्यार्थी और शिक्षक दोनों के मन में सभी धर्मों के आचार-विचार और रीति-रिवाज के प्रति आदर-भाव हो, श्रद्धा हो। सच्ची श्रद्धा अथवा आदर का अर्थ है कि हम दूसरों के विचार और दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें।

इसका एक छोटा-सा उदाहरण मैं आपके सामने प्रस्तुत करती हूँ। पिछले साल मेरे पास एक डायरी आयी। उसके प्रकाशक थे एक सर्वोदयी कार्यकर्ता। उसमें एक मजेदार बात थी कि ईसाइयों का त्योहार गुडफ्राइडे लिखा हुआ था मंगलवार के दिन। कैसी हास्यास्पद बात है! गुडफ्राइडे मंगलवार के दिन कैसे हो सकता है? शायद इसीलिए न भूल हुई कि प्रकाशक महोदय ने ईसाई धर्म की परम्परा को समझने में एक मिनट का समय भी खर्च करने का कष्ट नहीं किया। पिछले साल जिस तारीख को गुडफ्राइडे था, उसी तारीख को इस साल भी लिख दिया।

धर्मों के तत्त्व को समझें

चार मुख्य धर्म-विचार हैं, जिन्हें शिक्षकों को समझना चाहिए—हिन्दू, इसलाम, ईसाई और यहूदी।

आमतौर पर हिन्दू धर्मों की यह मान्यता है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, लेकिन अन्य तीन धर्म—इसलाम, ईसाई और यहूदी का जन्म मरुस्थल में हुआ और इनकी बहुत अधिक श्रद्धा इस बात पर है कि प्रभु इन सबसे परे हैं। यह एक बहुत बडा फर्क है और इसने इन धर्मों की विचारधारा और परम्पराओं में बहुत बडा फर्क किया है। हिन्दू धर्म की परम्पराओं से 'मरुस्थलीय धर्म' की परम्पराएँ भिन्न हैं। इस भिन्नता का कारण वातावरण का अपना असर है।

हिन्दू धर्म और भारतीय परम्परा में परमेश्वर को 'बहुरूपी' माना गया है। बडी सरलता से प्रभु का आरोपण विविध मूर्तियों में हिन्दू धर्म में हो जाता है। एक इस मूर्ति को मानता है तो दूसरा उस मूर्ति को। इस तरह भारतीय राम, कृष्ण, हनुमान, बुद्ध, शिव आदि अनेक-अनेक मूर्तियों में विश्वास कर लेता है।

मरुस्थलीय धर्म

इसके एकदम विपरीत मरुस्थल के धर्म हैं। वे इस कल्पना को मान ही नहीं सकते कि परमेश्वर इतने सीमित रूप में हो सकता है। वे मानते हैं कि प्रभु इन सबसे परे हैं और उसे मूर्ति में सीमित नहीं किया जा सकता। भारतीय परम्परा इस रूप को अत्यन्त सरलता से मान लेती है कि परमेश्वर सबमें है, लेकिन मुसलमान इस कल्पना को सहन ही नहीं कर सकेगा। मनुष्य में भगवान है, यह वह मान ही नहीं सकता। मुसलमान कहेगा कि प्रभु मेरे पास है, वह मेरा मार्गदर्शक है, वह मेरी गले की नसों से भी मेरे अधिक नजदीक है, पर वह मुझमें नहीं है, वह अवतार नहीं हो सकता। वह सब कुछ होते हुए भी हमसे परे है।

अगर हम इस भेद की गूढ़ता का विचार नहीं करेंगे, नहीं समझेंगे तो हम यहूदी, इसलाम और ईसाई धर्मियों का विश्वास प्राप्त नहीं कर सकेंगे, उनके साथ एकरूप नहीं हो सकेंगे।

भक्ति और ज्ञान की धाराएँ

धर्मों में एक और भेद है। इनमें दो धाराएँ हैं—ज्ञान अथवा विवेक और भक्ति। गीता में भी भक्तियोग और ज्ञानयोग का वर्णन किया गया है। इसलाम हिन्दू और ईसाई तीनों धर्मों में भक्ति-मार्ग की बहुलता है। भक्ति की महिमा तीनों में मिलती है। हिन्दू धर्म में *मीरा के भक्ति भरे पद मिलते हैं तो बाइबिल और* ईसाई धर्मग्रन्थों में भी ईसा के प्रति भक्ति भाव के अनेक-अनेक पद मिलते हैं। इसलाम में कुरान भी भक्तिपरक पदों से भरा हुआ है। इस तरह भक्ति के भजन तीनों धर्मों में हैं। मेवानी परम्परा और महरबली *परम्परा दोनों में भक्ति को अपनाया गया है।*

हिन्दू धर्म में ही जैन और बौद्ध धर्म रूपी दो *शाखाएँ हैं किन्तु इनमें भक्ति-तत्त्व कम है।* बौद्ध धर्म में भक्ति को विशेष स्थान नहीं है। बुद्ध के अष्टांग मार्ग में विवेक सम्यक ज्ञान ही प्रधान वस्तु है उसी पर जोर है। बौद्ध धर्म सुदूर पूर्व चीन-जापान में अनायास ही नहीं फैला। चीन में ताओ और कन्फ्युशियस का धर्म था। ताओ धर्म में भी भक्ति की जगह विवेक ज्ञान पर ही ज्यादा जोर है। इसीलिए बौद्ध धर्म को अनुकूल होने से उन्होंने उसे अपना लिया। हम अपनी प्रार्थना में भगवान को सम्बोधन करके कुछ याचना करते हैं परन्तु बुद्ध तथा कन्फ्युशियस धर्मों में ईश्वर से सीधी विनती नहीं की जाती।

दूसरे धर्मवालों से मित्रता कीजिए

अगर आप दरअसल दूसरे धर्मों के हृदय को समझना चाहते हैं दूसरे धर्मों का अध्ययन आपको अभीष्ट है तो आपको दूसरे धर्मावलम्बियों से व्यक्तिगत मित्रता स्थापित करनी चाहिए। उन मित्रों के माध्यम से आप उन धर्मों के विचारों और अनुभूतियों की झलक पा सकेंगे। जब विभिन्न धर्मवालों से आपकी सच्ची मित्रता होगी तो उनके दिल खुलेंगे और आप उनके धर्मों की गहराई में जा सकेंगे।

आजकल नयी-नयी धुन गाने का विचार चल पड़ा है। स्वयं गांधीजी भी ईश्वर अल्ला तेरे नाम गाते-गवाते थे लेकिन यह विचार मुझे उचित नहीं *लगता। आजकल होता यह है कि राम कृष्ण ईसा* मुहम्मद आदि सन्त महापुरुषों के नामों के साथ विभिन्न धर्मों में रूढ़ परमात्मा के नामों को जोड़ देते हैं। अब इसमें समझने की यह बात है कि किसी भी मुसलमान ईसाई को इस बात से आपत्ति नहीं होगी कि हम भगवान *को हे जगत्राता विश्वविधाता दीनदयाल कहें* लेकिन प्रत्येक मुसलमान के लिए चाहे वह हमारा दोस्त ही क्यों न हो एक धर्म-संकट ही उपस्थित होता है जबकि परम पिता परमेश्वर यानी अल्ला के नाम को किसी अवतार के नाम के साथ जोड़ा जाता है।

हमें यह बात अच्छी तरह मालूम होनी चाहिए कि इसलाम में मनुष्य को ईश्वरवत् नहीं माना जाता। वे अपने पैगम्बरों को भी ईश्वर की श्रेणी में नहीं रखते। इसलिए जब हम सब धर्म-समभाव या ऐसी ही किसी भावना को लेकर अल्ला और राम को एक साथ जोड़ते हैं तो हम परोक्ष रूप से उन्हें हिन्दू परम्परा को अपनाने की बात कहते हैं। मैं इस बात पर इतना समय और जोर इसलिए दे रही हूँ कि यह एक बुनियादी बात है और आप सबको इस पर अत्यन्त सावधानी-पूर्वक विचार करना है।

दूसरे धर्म के लोगों से मित्रता करने से दूसरा लाभ यह होगा कि आप उनके धर्मों में जो सरल प्रार्थनाएँ *भजन आदि बच्चों के लायक हैं जिन्हें वे अपने बच्चों* के बीच करते हैं उनको प्राप्त कर सकेंगे।

शाला की प्रार्थना पोथी

हर शाला में एक अच्छी मजबूत जिल्दवाली नोटबुक प्रार्थना-पोथी के रूप में बनायी जाय। इसमें विविध धर्मों के भजन कहानियाँ वचन प्रवचन आदि का सुन्दर संग्रह हो। पूरी पोथी के अलग-अलग खंड बना लिये जायँ और संग्रह को गुण और तादाद दोनों दृष्टि से अधिकाधिक समृद्ध किया जाय। हर धर्म में अनेक प्रेरक कहानियाँ—बोध-कथाएँ मिलती हैं। उनका संग्रह होना चाहिए। *कुछ नमूने आपके सामने रखती हूँ—*

मुसलमानों के पैगम्बर मुहम्मद साहब विरोधियों की ज्यादतियों से तंग आकर एक बार एक गुफा में रहने

के लिए चले गये। विरोध करनेवाले वहाँ भी उनके पीछे खोजते-खोजते आ गये। गुफा में उनके साथ एक मित्र था। जब मित्र ने घबराकर कहा कि काफी लोग हमें घेरने आ रहे हैं, उनका सामना हम दो कैसे करेंगे, तो मुहम्मद साहब ने कहा—"तुम भूल करते हो, हम दो नहीं, तीन हैं, वह परवरदिगार खुदा हर समय हमारे साथ है और उसे हमारी पूरी फिक्र है।"

बाइबिल में एक कहानी है कि एक किसान के दो बेटे थे। एक दिन किसान ने अपने छोटे बेटे से खेत पर काम करने के लिए जाने को कहा। उसने इनकार कर दिया। इस पर उसने अपने बड़े लड़के से कहा कि बेटा तुम खेत पर काम करने जाओ। बड़े लड़के ने कहा—पिताजी, मैं अभी जाता हूँ। लेकिन, बड़ा लड़का हाँ करके भी नहीं गया। थोड़ी देर बाद छोटे लड़के को अपने ऊपर पश्चाताप हुआ कि मैंने क्या मना किया, और वह खेत पर काम करने चला गया। अब आप सोचें कि दोनों में पिता का आज्ञाकारी कौन माना जायगा?

इस तरह की प्रेरक, ईश्वरोन्मुख कहानियों का संग्रह स्कूल में शिक्षक करें।

एक महत्त्वपूर्ण सूचना

प्रार्थना के इन्तजाम में भी शिक्षकों को चाहिए कि वे बच्चों को जिम्मेदारी दें। ऐसा न हो कि सारा प्रबन्ध शिक्षक ही करें। भजन, कहानी, प्रवचन आदि संग्रह के लिए बच्चे भी खोज करें, प्रयत्न करें। बच्चों को भी शाला की प्रार्थना में सक्रिय भाग लेने दें। बच्चे अपनी एक प्रार्थना-समिति बनायें और वे भी प्रार्थना की योजना बनाने में सहयोग दें।

एक बात और।

देर से आनेवाले बच्चे बीच-बीच में घुसपैठ करते हैं तो ध्यान भंग होता है। इसलिए शिक्षक को चाहिए कि प्रार्थना भवन के बाहर देर से आनेवाले छात्रों के बैठने का प्रबन्ध कर दे। जब प्रार्थना शुरू करें तो 'शान्ति' पाठ कर एक मिनट का मौन जरूर रखना चाहिए। इससे प्रार्थना का उचित माहौल बनता है।

●

सन्देश

●

विष्णुकान्त पाण्डेय

"देखो तो, वह कौन फट्-फट्, फट्-फट् करता चला जा रहा है?"—मंगल-मानव ने अपने सहयोगी से कहा।

"होगा कोई धरती का ठिगना।"—सहयोगी ने अन्यमनस्क भाव से उत्तर दिया।

"लेकिन, वह जा किधर रहा है?"—मंगल-मानव का दूसरा प्रश्न था।

"चाँद को छूने चला होगा।"—सहयोगी ने अपना यंत्र ठीक करते हुए उत्तर दिया।

"चाँद पर जाकर वह क्या करेगा?"

"अधिकार जमायेगा, करेगा और क्या?"

"चाँद पर अधिकार?"—मंगल-मानव ने आश्चर्य प्रकट किया।

"हाँ-हाँ अधिकार जमायेगा, वहाँ भी लूट-खसोट मचायेगा, लड़ेगा-लड़ायेगा और धरती की गन्दगी आसमान तक पहुँचा देगा।"—सहयोगी का मुखड़ा घृणा से भर आया। कुछ देर रुककर वह फिर बोला—"वह तो मंगल लोक तक आने की कल्पना कर रहा है, यहाँ उसके पैर पड़े कि शान्ति खतरे में पड़ी।"—सहयोगी के स्वर में दृढ़ता थी।

"धरती के मानव के सम्बन्ध में तुम्हारी धारणाएँ इतनी ओछी क्यों हैं?"

"इसलिए कि उसके हर क्रिया-कलाप में घृणित स्वार्थ भरा है। वह स्वयं दुःख भी झेल लेगा, पर दूसरे को खुशहाल न देख सकेगा। यहाँ भी यह आयेगा तो

मित्र भाव से नहीं, वरन दिग्विजय की इच्छा से।"–सहायक फिर अपने काम में उलझ गया।

कुछ देर जाने क्या सोचकर मगल-मानव बोला—"यदि धरती का आदमी मिले, उससे मैं एक प्रश्न पूछूँ।"

"आज्ञा हो तो एक मिनट में हाजिर कर दूँ। उसकी फटफटिया मोड़कर मगल-लोक में उतार दूँ।"—सहयोगी ने आज्ञा माँगी।

"ठीक है।"

आज्ञा मिल गयी।

सहयोगी ने अपने यन्त्रों के साथ जाने क्या किया कि राकट की दिशा बदल गयी और बात-की बात में वह मगल ग्रह पर आ टिका। राकट से दो आदमी उतरे, जिनके सारे शरीर यन्त्रों से लदे थे। उनमें से एक ने मगलग्रह की चमक-दमक देखकर कहा–"सुना था कि चाँद पर कुछ नहीं है–न हवा, न जीव लेकिन यहाँ तो विज्ञान का कमाल देख रहा हूँ।"

दूसरे ने आश्चर्यभरी दृष्टि से देखते हुए कहा–"धरती के लोग तो यहाँ की तुलना में बौने ठिगने हैं।"

"जी, यह चन्द्र-लोक नहीं, मगल-लोक है। –सहयोगी ने उनका स्वागत करते हुए कहा।

"वाह, हमने तो मगल पर विजय पा ली।"–यात्री खुशी से नाच उठे और दोनों एक दूसरे से ऐसे लिपटे कि सब देखनेवाले दग रह गये।

"कोई बात नहीं, चाँद का यात्री मगल पर आ गया तो अच्छा ही हुआ। जाने कब यह सपना पूरा होता, सो आज ही साकार हो गया।"—सहयोगी ने अपनी हँसी रोक ली।

इसी बीच मगल मानव आगे बढ़ा और यात्रियों की आवभगत करने के बाद बोला—"कहिए धरती का क्या सन्देश है मगल ग्रह के निवासियों के लिए?

दोनों यात्री चुप। कोई उत्तर था भी नहीं उनके पास। उन्हें क्या मालूम था कि ऐसे प्रश्न भी उनसे पूछे जा सकते हैं। वे एक दूसरे का मुँह देखते रह गये।

●

बच्चे क्या पढ़ते हैं ?

●

श्रीकृष्णदत्त भट्ट

बेचारा बच्चा!

उसे क्या पढ़ना पसन्द है?

भला यह भी उससे पूछने की कोई बात है?

इसका निर्णय करना है उसके माता पिता को उसके अभिभावक को उसके गुरुजी को।

उसमें अक्ल ही कितनी है जो वह खुद निर्णय कर सके कि उसे क्या पढ़ना चाहिए?

यह है हमारा पैमाना।

पर, यह पैमाना कितना गलत है, इसका पूरा पता तो तभी चलता जब हम खुद बच्चे होते।

और हम तो बच्चे हैं नहीं।

हम हैं बुजुर्ग हम हैं प्रौढ़ हम है बड़े, हम हैं अक्लमन्द। सारी समझदारी का ठेका मानो हमने ही ले रखा है।

इसका नतीजा ?

हम बच्चा पर रोक लगाते हैं। बडी कडी रोक। 'देखो जी, फलाँ किताब ही पढना, दूसरी नहीं।'

अभी उस दिन हमारे एक 'भाई साहब' हाल में ही फौज में भरती अपने बेटे को पत्र लिखने लगे तो उसे उन्होंने यह भी लिख दिया—' देखना बेटा, तुम फलाँ फलाँ किताबें ही पढना, दूसरी किताबें न पढना।"

मैंने कहा—"भाई साहब, मुना अब इतना छोटा है क्या, जो आपकी इन आज्ञाओं को सोलह आने मानकर चलेगा ? वह तो अपने साथी जवानों की टोली का मेम्बर है। उसके दूसरे साथियों के हाथ में भली-बुरी जो किताब आयेगी, वह आपके मुना के हाथ में भी आये बिना न रहगी।"

"सो तो है," वे बोले—"पर मैं यह चाहता हूँ कि वह अच्छी ही किताबें पढे।"

बात तो ठीक है। हर माता पिता की इच्छा होती है कि उनका बच्चा अच्छे रास्ते पर चले, अच्छी किताबें पढ़े, अच्छे लोगों की सगति म रहे पर कहाँ हो पाता है ऐसा ? होता तो यही है कि बच्चो को जिन किताबो के पढ़ने की मनाही की जाती हैं, वे ढूँढ-ढूँढकर छिप-छिपकर उन्ही किताबा को पढ़ा करते हैं। है न ऐसी बात ? विश्वास में लेकर पूछ देखिये किसी बच्चे को।

× × ×

'यह न करो,' 'वह न करो', 'यह न पढो', 'वह न पढ़ो', 'यह न दखो', वह न देखो'—इस तरह की बन्दिशें जहाँ लगायी जाती है, वहीं विद्रोह के लिए मसाला इकट्ठा किया जाता है।

आप हो, हम हो, हर माता पिता, हर अभिभावक यह चाहता है कि उसके बच्चे अच्छे रास्ते पर चलें, जिससे लडके का हो नहीं, माता पिता का, बड-बूढ़ा का भी नाम उजागर हो।

पर ये बन्दिशें कहाँ होने देती हैं ऐसा ?

× × ×

विनोबाजी ने बचपन में बडोदा की लाइब्रेरी में जार्ज वाशिंगटन की डायरी पढी। उसका एक वाक्य आज भी उन्हें याद है।

कौन-सा वाक्य है वह ?

वह है—"फॅस इज ए टेम्पटेशन टु जम्प।"

'जहाँ बाड है, वहीं लोगों को आकर्षण होता है कि जरा उधर छलांग मार करके तो देखें!'

मतलब ?

बच्चों को जिन किताबो के पढने की मनाही की जाती है, उन्हीं को पढने के लिए वे छलाँग मारने की कोशिश करते है।

× × ×

तब इसका उपाय ?

उपाय इसका भी निकल सकता है, पर उसके लिए बच्चो के मनोविज्ञान का अध्ययन करना पडगा। देखना होगा कि उनकी रुचि कैसी है ? व किस प्रकार की पुस्तकों म रस लेते है ? उनके मन म क्या-क्या बनने के, क्या-क्या करन के हौसले है ?

माता पिता और अभिभावक इन सब बातों का गम्भीरता से अध्ययन करें, फिर उनकी रुचि का साहित्य उन्हें भेंट करें, उन्हें पढने की भरपूर सुविधा दें, उनकी पुस्तकों पर उनसे चर्चा करें, उनके गुण-दोष समझायें, बतायें और उन्हें एक अच्छा मोड़ दें, तब कहीं जाकर व रास्ते पर आ सकेंगे। केवल बाड लगाने से माता पिता का उद्देश्य कभी पूरा होनेवाला नहीं। ●

भूल-सुधार

पिछले अक की पृष्ठ सख्या ११६ के पहले कालम की ८ वी पक्ति में 'सत्ता के मद' के स्थान पर 'स्वागत' बना लें। —सम्पादक

●

प्रगति में रुकाव क्यों ?

•

धीरेन्द्र मजूमदार

नयी तालीम की विशेषता समवाय पद्धति है। अब तक हम इस समवाय-पद्धति का उच्चारण ही करते रहे हैं, इस पर कुछ विशेष प्रगति नहीं कर सके हैं। कारण यह है कि हमने अपना कार्यक्रम समवाय पद्धति से आरम्भ किया है। वस्तुत कोई साधक अपनी साधना सिद्धि से शुरू करना चाहेगा तो वह कभी सिद्ध नहीं होगी। इसके लिए मनुष्य जहाँ है वहीं से चलना शुरू करना पड़ेगा।

आज जनता के मानस में शिक्षण का अर्थ 'पढ़ाई' है। शिक्षक का विषय ज्ञान भी, जिसके साथ विभिन्न जानकारियों का समवाय करना है, अत्यन्त सीमित है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम उत्पादन तथा सामाजिक कार्यक्रम में बच्चों को कुशल तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणवाला बनायें और साथ-साथ गणित और भाषा का अच्छा ज्ञान दें। साथ ही, शिक्षक कृषि और उद्योग का ज्ञान बढ़ाते हुए बच्चों की वैज्ञानिक दृष्टि को आगे बढ़ाये। इन्हीं प्रक्रियाओं को विकसित करने में सामवायिक शिक्षण-पद्धति भी विकसित होगी। अत आज हमें दिशा और प्रगति को स्पष्ट रूप से सामने रखकर आगे बढ़ना चाहिए, सिद्धि के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। इसी के लिए ग्रामभारती, बरनपुर, इलाहाबाद में हमने सामाजिक तथा उत्पादक कार्यक्रम के साथ गणित और भाषा की पढ़ाई भी रखी है।

गलतफहमी दूर करें

समवाय-पद्धति के प्रश्न पर हमारे मन में कुछ गलतफहमी भी है। उद्योग, समाज और प्रकृति के प्रसंग पर ही विभिन्न ज्ञान का समवाय करना है, नयी तालीम का ऐसा सिद्धान्त है। अत शिक्षक ऐसा मानते हैं कि छात्र शिक्षक के साथ जिस दिन काम करता है उसी प्रसंग से उसी दिन ज्ञान का समवाय करना है। इससे ज्ञान तो मिलता है लेकिन उसका कोई सिलसिला नहीं होता। सिलसिला न होने के कारण पिछले दिन के प्रसंग के समवाय में, जो जानकारी मिलती है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं हो पाती। दूसरा प्रसंग भी पहले प्रसंग के सिलसिले से निकला है, ऐसा भी जरूरी नहीं है। इसलिए जो ज्ञान प्राप्त होता है वह फुटकर जानकारी के रूप में ही मिलता है। उससे व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक शास्त्र का बोध नहीं होता।

शिक्षण स्थायी तथा शास्त्रीय हो, इसके लिए आवश्यक है कि ज्ञान प्राप्ति की एक कड़ी दूसरी से जुड़ी हुई हो। इस समस्या को हल करने के लिए दो बातें जरूरी हैं। कृषि और ग्रामोद्योग के कार्यक्रम सिलसिलेवार हों और जो ज्ञान दिया जाय वह केवल तात्कालिक कार्यक्रम के प्रसंग से नहीं बल्कि बच्चे न अपने जीवन के पिछले दिनों से लेकर आज तक के गृहकार्य, समाज तथा प्रकृति में से अपने आप जो कुछ देखा, किया और जाना तथा गुरु के साथ जो कुछ अनुभव लिया, उन तमाम प्रसंगों से सिलसिला बैठाकर समवाय-ज्ञान का नियोजन किया जाय। यह सिलसिला तब तक चलाना होगा जब तक ग्राम सहकार, और ग्राम संकल्प के रास्ते से ग्रामदान-द्वारा कौटुम्बिक समाज का संगठन न हो जाय, अर्थात ग्राम-स्वराज्य के सूर्योदय के साथ ही समवाय की सच्ची पद्धति निखर सकेगी। •

हम आजकल उपर्युक्त पद्धति का ही प्रयोग कर रहे हैं। इसका नतीजा भी अच्छा आ रहा है। हमने देखा कि ऐसा न करने से बच्चा पिछले दिन की जानकारी को भूल जाता है। कल जो सीखा उसी को दोहराते हुए आज की नयी सीख मिलने से भूलने की नौबत कम आती है। सिलसिला बैठाने के उद्देश्य में गृहकार्य का नियोजन भी हमें काफी मदद पहुँचा रहा है।
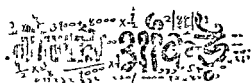
संयोजन की सही दिशा

अगर ऐसा नहीं है तो उस योग्यता को प्राप्त कराने-वाला गुरु कैसा होगा, यह प्रश्न सहज ही उठता है। क्या किसी संस्था या कोष से निश्चित मासिक वेतन पानेवाला गुरु अपने शिष्य को अपने पुरुषार्थ से उत्पादक-श्रम-द्वारा स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा दे सकता है? उत्तर होगा—नहीं दे सकता।

इसीलिए पिछले २० साल से हमने नयी तालीम के जितने काम किये, उन सबसे निकले हुए छात्रों को नौकरी न मिलने के कारण नयी तालीम के निष्ठावान सेवकों तक को आज असन्तोष है। अतएव मेरे सामने आज समस्या यह है कि ऐसे शिक्षक कहाँ से आयें और आयें भी तो उनके स्वावलम्बन के लिए हमारे पास साधन कहाँ हैं? संस्थाओं के सन्दर्भ में लाखों रुपये का साधन बटोरकर कृत्रिम समाज बनाकर अबतक हमने, जो प्रयोग किये उससे जितनी दूर जा सके हैं, अब उससे आगे नहीं जा सकेंगे। अब तो वास्तविक तथा स्वाभाविक समाज के सन्दर्भ में ही तालीम का संयोजन करना होगा।

● ● ●

सरकारी निर्माण विभाग की, स्कूलों के बारे में जो धारणा है, उसे हमें छोड़ देना पड़ेगा, तभी शिक्षा का व्यापक प्रचार हो सकेगा। हमें समझ लेना चाहिए कि ग्रामीण स्कूल का मतलब है—मास्टर और शिष्य, मकान की कोई जरूरत नहीं। स्कूल की शानदार इमारतें बना डालने और अध्यापकों को कम तनख्वाहें देने से तो बेहतर यह है कि स्कूल पेड़ के नीचे लगें और अच्छी तनख्वाहें देकर अच्छे मास्टर रखे जायँ। —जवाहरलाल नेहरू

●

हमारी

चौथी पंचवर्षीय योजना

- केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने २ खरब १५ अरब रुपये की चौथी पंचवर्षीय योजना के खाके पर अपनी सहमति दे दी।
- योजना का आकार १० अरब रुपये तक और बढ़ाने की व्यवस्था है।
- अनुमान है कि बढ़े हुए रुपये में से ५ अरब विद्युत-उद्योग तथा परिवहन पर व्यय होंगे और शेष दूसरे क्षेत्रों पर।
- निजी क्षेत्र के अन्तर्गत ७० अरब रुपये खर्च की व्यवस्था रखी गयी है।
- विदेशी सहायता २५ अरब रुपये की आँकी गयी है।
- निजी क्षेत्र के लिए एक सौ करोड़ रुपये और शिक्षा के लिए १ हजार ४ सौ करोड़ रुपये की व्यवस्था है।
- शिक्षा के उचित विकास के लिए तैयारी के रूप में लगभग १७ करोड़ रुपये का अग्रिम कार्यक्रम मंजूर किया गया है।
- अग्रिम कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षक प्रशिक्षण, लड़कियों की शिक्षा, वयस्कों को साक्षर बनाना, वैज्ञानिक उपकरणों का निर्माण और पुस्तकालय-कर्मचारी प्रशिक्षण आदि रखा गया है।
- लगभग ८ लाख प्राथमिक और २ लाख ८० हजार माध्यमिक स्कूल-शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जायगा।

●

सामाजिक विषय
की
शिक्षा—२

•

शुभदा तेलग

भारत की भौगोलिक एव प्राकृतिक स्थिति का ज्ञान विद्यार्थियो को पर्याप्त मात्रा म कराना तो आवश्यक है ही साथ ही ऐतिहासिक दृश्यो को कहानियो के रूप में रखा जाना चाहिए। किन्तु पाठयक्रम केवल भारत के इतिहास एव भूगोल तक ही सीमित नही होना चाहिए। सामाजिक विषयों के पाठयक्रम-द्वारा विद्यार्थियो को देश विदेश की सभ्यता का भी ज्ञान होना चाहिए। राष्ट्रीय एव अतर्राष्ट्रीय समस्याओं म विद्यार्थियो की अभिरुचि बढनी चाहिए जिससे उनम विश्व-एकता की कल्पना पैदा हो सके।

बौद्धिक विकास और समाज शिक्षा

कक्षा सात और आठ म विद्यार्थियो के मानसिक और बौद्धिक विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इन कक्षाओ म बच्चों की आलोचनात्मक दृष्टि बढाना आवश्यक ह। अत सामाजिक विषयों के अध्ययन में वाद विवाद पक्ष विपक्ष के तक उपस्थित करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामाजिक विषयो के माध्यम से विद्यार्थियों की तक-शक्ति और विचारशीलता बढ़ायी जा सकती ह। विगत काल के इतिहास के प्रति अन्वेषणात्मक दृष्टि पैदा की जा सकती है। भावी नागरिकों में सृजनशीलता और विचारशीलता लाना आवश्यक ह जिससे भविष्य में आनवाली समस्याओ को वे स्वतन्त्रतापूवक समझ सकें।

धार्मिक सहिष्णुता की अनिवायता

भारत बहु सम्प्रदायों का देश है। अस्तु इतिहास अध्ययन का उद्देश्य केवल सामाजिक एव राजनीतिक कथाएँ ही नही होनी चाहिएँ। सामाजिक जीवन पर धम का विशेष प्रभाव पडता है। अत हिन्दू बौद्ध, ईसाई यहूदी धर्मों की कथाएँ तथा इन धर्मों के मौलिक तत्त्वो का ज्ञान आवश्यक है। मुगल काल का इतिहास प्रारम्भ करन के पूव इसलाम धम तथा पैगम्बरो की जीवन सम्बन्धी कथाए वर्णित होनी चाहिएँ। पारसी धम के तत्त्वो का वणन ईसामसीह के जीवन की रोचक कथाएँ तथा ईसाई धम के मूल तत्त्वो का वणन भी किया जाना चाहिए। यह नितात आवश्यक प्रतीत होता ह कि भारतीय नागरिको म सहिष्णुभाव का उदभव हो तथा सभी धर्मों के प्रति उनम आदर की दृष्टि पैदा हो।

पड़ोसी सस्कृतियों का समन्वय

भारत के बच्चो के लिए पडोसी देशो का भी ज्ञान आवश्यक ह। बौद्धकाल और गुप्तकाल म भारत के विदेशों से सास्कृतिक एव धार्मिक सम्बन्धों की चर्चा होनी चाहिए। अलग अलग धर्मों की विवचना के लिए महापुरुषो और अवतारी स्त्री-पुरुषो की जीवनी को भी पाठयक्रम म स्थान होना चाहिए। सनातन काल से भारत की अय धर्मों के प्रति कैसी प्रतिक्रिया रही है—भारत न अहिंसात्मक रूप से स्याम कम्बोडिया आदि पर सास्कृतिक विजय पायी साम्राज्यवादी नीति का पालन नही किया आदि का उचित वणन किया जाना चाहिए। बौद्धकाल से गाधीयुग तक का अहिंसा का महत्व हिदूकाल तथा मुगलकाल का महत्व अकबर का दीन इलाही आदि बातो पर विशेष बल दिया जाना चाहिए।

इसी पृष्ठभूमि पर भारत की धम निरपेक्षता का वणन किया जाना चाहिए। भारत भूमि पर अनक धर्मावलम्बियो—जसे पारसी सीरियन क्रिश्चियन यहूदी

आदि ने पनाह ली और भारत ने सहर्ष उन्हें यहाँ 'जीने' दिया। प्राचीन काल में अनेक जातियाँ यहाँ आर्यों और हिन्दू जाति में घुलमिल गयीं। इसी भूमिका में हिन्दू, मुसलिम, पारसी, क्रिश्चियन आदि धर्मों की कथाएँ भी बतायी जानी चाहिएँ। अत धर्म निरपेक्षता तथा भावनात्मक एकता पर बल देना आवश्यक है। भारतीय संस्कृति के ताने-बाने अनेक जातियों, सम्प्रदायो और धर्मों से बुने गये हैं, इस बात की अनुभूति विद्यार्थियो को होनी चाहिए।

समाज विज्ञान पढ़ाने के उद्देश्य

अत समाज विज्ञान के अध्यापन के उद्देश्य ये हैं–

१ विद्यार्थिया में समाज के क्रियाकलापो का उचित ज्ञान कराना तथा समाज के प्रति उनमें जागरूकता पैदा करना,

२ विद्यार्थिया को परिवार, समाज, समुदाय तथा राष्ट्र के प्रति कर्तव्या और अधिकारो का ज्ञान कराना,

३. विद्यार्थिया मे सहअस्तित्व एव विश्वबन्धुत्व की भावना को जागरित करना,

४ विद्यार्थियो को राष्ट्र की भावनात्मक एकता, धर्मनिरपेक्षता तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण से परिचित कराना,

५ भारत का भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक एव सास्कृतिक मानचित्र विद्यार्थिया के सामने उपस्थित करना, और

६ विद्यार्थियों में विविध धर्मों, विचारो और सभ्यताओ के प्रति सहिष्णुता पैदा करना।

विषय रुचिकर कैसे बने ?

कक्षा १ से ८ तक इतिहास के व्यापक धरातल पर भूगोल और नागरिकशास्त्र का अध्ययन होना चाहिए। इतिहास मानव-जीवन का जीवन्त अग है, मनुष्यो के साहस और परिश्रम की गाथा है। उसके अध्ययन में समकालीन युग की शिक्षा, पारिवारिक जीवन और खेलकूद आदि का भी वर्णन किया जाना चाहिए। मनुष्य के जीवन और विचारो का भी अध्ययन अपेक्षित है, और उसके जीवन पर विविध प्रभावा का भी निरूपण किया जाना चाहिए। समय-सारणी, नक्शे तथा चित्रों आदि के उपयोग से विषय रुचिकर और सरल बनाये जा सकते हैं।

समाज शिक्षण और निष्पक्षता

सामाजिक विषयो-द्वारा मनुष्य की मनुष्यता जागृत की जानी चाहिए। इतिहास और भूगोल राष्ट्रो, महाद्वीपो, भूभागा एव सम्प्रदाया में रहनेवाले मानव के साहस और परिश्रम की गाथा है। अध्यापकों को विविध घटनाओं तथा तर्कों को यथासम्भव निष्पक्षता से विद्यार्थिया के समक्ष रखना चाहिए। अपने विचारो और भावनाओ को उनपर लादना नही चाहिए। बदलती हुई दुनिया के बदलते हुए विचार हैं। अध्यापक को पुराने विचार नयी पीढी पर लादना उचित नहीं है।

इतिहास, भूगोल और नागरिकशास्त्र के पाठ्यक्रम की एक समन्वित रूपरेखा दी जा रही है। यह पाठ्यक्रम कक्षा १ स ५ तक के लिए बनाया गया है।

पहला और दूसरा वर्ग

१ स्वास्थ्य तथा सफाई-सम्बन्धी बातें,

२ स्वास्थ्य-सम्बन्धी आदतें, व्यक्तिगत तथा सामूहिक सफाई सम्बन्धी-जागरूकता,

३ सडक पर चलने का ज्ञान, सामाजिक व्यवहार सिखलाना, सहकारिता, उत्तरदायित्व की भावना जागृत करना,

४ घर की सफाई, विद्यालय की सफाई, बडो और छोटो के प्रति व्यवहार आदि सिखलाना,

५ पशु-पक्षियो, वनस्पतिया आदि के सम्बन्ध में सजगता,

६. शहर या गाव की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान देना, और

७ आसपास के स्थान तथा खेतो आदि का परिवेक्षण और उसके सम्बन्ध में साधारण ज्ञान देना।

तीसरा वर्ग

१ छात्रों के अनुभव पर पाठ्यक्रम को अर्थपूर्ण बनाना,

२ शहर तथा गाँव-सम्बन्धी भौगोलिक ज्ञान देना,

३ नदियों, पहाड़, उद्योग, यातायात, पोस्टआफिस, बाजार, पानीकल, बिजलीघर आदि दिखलाकर या चित्रों-द्वारा विषय-सम्बन्धी साधारण ज्ञान देना,

४ सूर्य, चन्द्र, दिन रात, गरमी, जाड़ा और वर्षा सम्बन्धी बातें बतलाना,

५ निकटवर्ती स्थानों के ऐतिहासिक महत्व की कहानियाँ बतलाना,

६ नक्शे पर या कल्पित रेलयात्रा के माध्यम से प्रदेश के प्रमुख नगरों, शहरों और गाँवों का ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्व बतलाना तथा इनके उद्योग हस्तकला कृषि, पैदावार आदि बातें बतलाना

७ धार्मिक त्योहारों का महत्व—हिन्दू, मुसलिम, सिख, पारसी, क्रिश्चियन आदि, और

८ धार्मिक कथायें—राम, कृष्ण, महावीर, ईसा, मुहम्मद, मीरा, एकनाथ, आदि।

चौथा वर्ग

१ प्रदेश तथा उसके निकटवर्ती, फिर दूरवर्ती राज्यों सम्बन्धी निम्नलिखित बातें बतलाना—वर्षा, उपज, उद्योग, खनिज, नदी, पहाड़ इत्यादि,

२ भारतवर्ष के चार प्राकृतिक विभाग, प्राकृतिक सीमाएँ, वर्षा, जलवायु, मानसून, नदियाँ, पहाड़, नहरें, बाँध आदि का भौगोलिक महत्व और उसका प्रभाव,

३ रेल, सड़क, जलमार्ग, वायुमार्ग,

४ राज्यों की वेशभूषा, खानपान, ऐतिहासिक और भौगोलिक सामाजिक महत्व की बातें,

५ राज्यों-सम्बन्धी रोचक कथायें—जैसे, भारत का नन्दनवन कश्मीर, राजस्थान के शूरवीर राजपूत, असम की शोभा, मणिपुरी नृत्य, पंजाब के सिख, गंगा-यमुना का समतल प्रदेश, दक्षिण के मराठे, तामिल और केरल का भौगोलिक महत्व तथा रीतिरिवाज, बंगाल व बंगाली—उनका साहित्य, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बिहार के कवि-जयदेव, भारत के मन्दिर—जगन्नाथपुरी, बद्रीनारायण, वृन्दावन, मथुरा, रामेश्वर, अजन्ता, एलोरा, खजुराहो, वाराणसी, मदुरा तथा विश्वनाथजी के मन्दिर चित्र-सहित दिखलाने चाहिये,

६ भारत की सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता पर बल देना, और

७ नागरिकशास्त्र—पोस्टआफिस, स्वास्थ्य और शिक्षा, ग्रामपंचायत, नगरपालिका, अस्पताल, बिजली, यातायात इत्यादि का वर्णन किया जाना चाहिए।

पाँचवाँ वर्ग

१ भारत की भौगोलिक परिस्थिति—महासागर, विन्ध्याचल का महत्व, गंगा-यमुना का प्रभाव, खनिज, कृषि, उद्योग, बाँध, सिंचाई इत्यादि,

२ भारत और एशिया का सम्बन्ध—जलवायु, वर्षा, सीमाएँ, पहाड़, कृषि, उद्योग, खनिज इत्यादि,

३ एशिया के विभिन्न देश इंडोचाइना, जापान, ब्रह्मदेश, चीन, पाकिस्तान, तिब्बत, नेपाल आदि के सांस्कृतिक, भौगोलिक तथा राजनीतिक महत्व,

४ आर्य-संस्कृति—वेद, उपनिषद्, भगवान बुद्ध, महावीर, अशोक, मौर्यकाल से गुप्तकाल तथा हर्षवर्धन तक का इतिहास, राजपूतों की कहानियाँ,

५ एशिया के देशों में बौद्धधर्म का प्रचार, क—भारत का चीन, ब्रह्मा, लंका से सम्बन्ध, ख—कम्बोडिया, स्याम आदि पर भारत की सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक विजय—एकता तथा अहिंसा पर बल देते हुए इनका अध्ययन किया जाना चाहिए, और

६. चीन के धर्मगुरु लाओत्से, तथा कन्फ्यूशियस, उनकी कथाएँ, आजका चीन, ह्वेनसांग आदि का वर्णन अन्तर्राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में होना चाहिए।

विज्ञान-शिक्षण में नवीन प्रवृत्तियाँ

•

अजयकुमार राय

विज्ञान के पाठ्यक्रम तथा शिक्षण-विधि पर अमेरिका और दूसरे देशो में विविध प्रकार के अनुसन्धान हुए हैं और हो रहे हैं। हमारी केन्द्रीय सरकार भी कुछ उन्हीं दिशाओ में सोच रही है। यहाँ भी निकट भविष्य में ही विज्ञान-शिक्षण में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगे। इस विचार की पुष्टि दो कारणो से हो रही है—

१ कोठारी-कमीशन में अमेरिका तथा रूस आदि देशो के शिक्षाविदो का समावेश,

२ हमारे विश्वविद्यालयो में 'समर इस्टीट्यूट्स' का आयोजन। ये अमेरिकी वैज्ञानिको के पथप्रदर्शन में चलाये जाते है।

अत विज्ञान के क्षेत्र में ये नवीन प्रवृत्तियाँ क्या है और विद्यार्थियो को किधर ले जाना चाहती हैं, जानना जरूरी है। यही नहीं, बल्कि नयी परिस्थितियों में विज्ञान के अध्यापको से क्या अपेक्षा है और उनका क्या कर्तव्य है, इसकी जानकारी भी आवश्यक है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इस देश में विज्ञान शिक्षण के नवीन कार्यक्रम का श्रीगणेश सन् १९६३ की ग्रीष्मऋतु में हुआ। उस वर्ष विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग, नेशनल काउंसिल आफ एजुकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग तथा युनाइटेड स्टेट्स एजेन्सी फार इंटरनेशनल डेवलपमेंट के सम्मिलित प्रयास से चार समर इस्टीट्यूट्स देश के विभिन्न विश्वविद्यालयो में आयोजित किये गये। जिन आधारो पर इनका आयोजन हुआ उनको वर्षों के सतत प्रयत्न के पश्चात् अमेरिकी शिक्षाशास्त्रियो ने ज्ञात किया था। यहाँ इस विषय में थोडा विवेचन कर लेना समीचीन होगा।

विज्ञान के क्षेत्र में अमेरिका प्राचीन देश नहीं है, अतएव उसका इतिहास भी नया ही है। विज्ञान-शिक्षण का इतिहास सन् १८९० से आरम्भ होकर वर्तमान समय तक आता है। इस विकास-क्रम को तीन भागो में बाँटा जा सकता है—

पहला भाग—१८८० से १९२९ तक,
दूसरा भाग—१९३० से १९५७ तक, और
तीसरा भाग—१९५८ से वर्तमान समय तक।

पहला भाग

इस अवधि में स्कूलों में पढनेवाले विद्यार्थियो की सख्या अत्यन्त न्यून थी। बौद्धिक विकास में अधिकाश छात्र समान थे। वे सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से भी समान ही थे। उनमें व्यावसायिक विषमता अवश्य थी, क्योंकि सभी छात्र स्कूल के पश्चात् कालेज में नहीं जाते थे, बल्कि वे विभिन्न व्यवसायो में चले जाते थे। फिर भी जो एकरूपता उनमें थी उसके आधार पर पाठ्यक्रम-निर्माताओ ने विषमताओं पर ध्यान देना आवश्यक नही समझा। फलत. पाठ्यक्रम परम्परागत शास्त्रीय विषयों के आधार पर बना।

यह पाठ्यक्रम उन छात्रों के लिए तो कुछ ठीक भी था, जो कालेजों में शिक्षा प्राप्त करते थे, परन्तु औरों के लिए नितान्त अनुचित था। पाठ्यक्रम का उद्देश्य उन छात्रों के लिए पूर्ण नहीं होता था, जो कालेज में न आकर स्कूल के बाद ही शिक्षा समाप्त कर देते थे।

उपर्युक्त कमी के होते हुए भी, उस समय के विज्ञान के पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों में एक अच्छाई थी। उनका निर्माण उन वैज्ञानिकों द्वारा हुआ था, जो विज्ञान के ज्ञान तथा प्रगति से पूर्णतया अवगत थे। वे जानते थे कि विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों की उपलब्धियाँ क्या हैं। इसलिए उनके द्वारा रचित पुस्तकों में ताजगी तथा शक्ति होती थी।

कुछ इसी प्रकार की बात हिंदुस्तान के विज्ञान-शिक्षण की भी है। आज से ५० वर्ष पूर्व की पुस्तकें उस समय के विज्ञान के अधिक समीप थीं, क्योंकि वे ऐसे वैज्ञानिकों-द्वारा लिखी गयी थीं, जो विज्ञान के सान्निध्य में थे। आज भी वे पुस्तकें प्रचलित हैं परन्तु साधारण विद्यार्थी उनका उपयोग नहीं करते। वे अब संदर्भ ग्रन्थों की भाँति प्रयोग में आती हैं।

दूसरा भाग

साधारण जनता अब शिक्षण के महत्व को समझने लगी, फलतः विद्यार्थियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। हर प्रकार के सामाजिक तथा आर्थिक स्तरों से छात्र आने लगे। उनकी बौद्धिक उपलब्धियों तथा व्यावसायिक आकांक्षाओं में बहुत बड़ा अन्तर दिखाई देने लगा। अब शिक्षा का कोई एक सारगर्भित उद्देश्य निश्चित करना असम्भव हो गया।

शिक्षाविद अनुभव करने लगे कि पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों की उपयोगिता कम हो रही है। उनके सामने कुछ करने का प्रश्न था, जिससे वे छात्रों के उद्देश्यों तथा आकांक्षाओं को पूर्ण करने में सफल हो सकें और उनके भावी जीवन का मार्ग प्रशस्त कर सकें।

शिक्षाशास्त्रियों ने इन उलझनों तथा परेशानियों का अनुभव तो किया, परन्तु वे रोग की जड़ तक न पहुँच सके। उन्होंने सोचा कि यदि वे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा सम्बन्धित विषयों की सहायता लेते हैं तो समस्याओं का निराकरण हो जायगा। फल यह हुआ कि सीखने के सिद्धान्तों, विभिन्न स्तरों के बालकों की विभिन्न रुचियों और उनके व्यावसायिक अवसरों तथा आकांक्षाओं का विस्तृत अध्ययन किया गया।

शिक्षा के क्षेत्र में इस अध्ययन का फल यह हुआ कि पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों में परिवर्तन हुए। विज्ञान की उपलब्धियों को दृष्टिगत रखकर पाठ्यवस्तु का चयन समाप्त हो गया। बहुत-सी ऐसी बातें सम्मिलित कर ली गयीं, जो बालकों की रुचि, जीवन में उपयोगिता, सीखने के सिद्धान्त आदि से सम्बन्धित थीं। बहुत-सी बातें छोड़ भी दी गयीं, क्योंकि उनको कठिन समझा गया। इन सब परिवर्तनों के फलस्वरूप विज्ञान-पाठ्यक्रम एक चिड़ियाघर के समान हो गया। ढाँचा तो पुराना ही रहा परन्तु विस्तार में पर्याप्त अन्तर आ गया।

ठीक यही बात इस देश में भी हुई है। आज से केवल ३० वर्ष पूर्व उत्तरप्रदेश के हाईस्कूलों में सम्मिलित होनेवाले परीक्षार्थियों की संख्या लगभग तेरह हजार होती थी। अब ढाई लाख है। यहाँ भी पाठ्यक्रम में उसी प्रकार के परिवर्तन हुए हैं जैसे अमेरिका में। ऐसे परिवर्तनों का फल यह है कि पाठ्यक्रम विज्ञान की वर्तमान स्थिति तथा प्रगति से दूर जा पड़ा है।

तीसरा भाग

विज्ञान पाठ्यक्रम का समुचित विकास करने तथा उसको वास्तविक विज्ञान के सान्निध्य में लाने की आवश्यकता का अनुभव तो हो रहा था परन्तु समस्या तब अत्यन्त प्रबल हो उठी जब रूस अन्तरिक्ष-दौड़ में अमेरिका से आगे बढ़ गया। उसीने प्रथम उपग्रह छोड़ा। अमेरिकनों को इसका सांघातिक दुख हुआ। जनता, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, अध्यापक आदि सभी की आँखें खुल गयीं और वे पाठ्यक्रम के अभिनवीकरण के लिए कटिबद्ध हो गये।

●

काहिरा

यह नेहरूजी की अमर कीर्ति थी, जो पिछले महीने मिस्र देश की राजधानी काहिरा के सम्मेलन में प्रकट हुई। १९६१ में बेल्ग्राड में तटस्थ देशों का पहला सम्मेलन हुआ था। उसमें पहले-पहल नेहरूजी ने योरप एशिया और अफ्रीका के नये, छोटे और सैनिक-शक्ति की दृष्टि से कमजोर देशों को आवाज दी, उनमें यह भरोसा पैदा कर दिया कि वे अमेरिका और रूस-जैसे बड़े, चन्द्रलोक के लिए होड़ लगानेवाले देशों की पूँछ पकड़े बिना भी जी सकते हैं। कौन कह सकता था कि ये देश भी कभी यह सकेंगे—"दूसरा की तरह हमें भी अपने ढंग से जीने का हक है, और हम अपने ही ढंग से जियेंगे, लेकिन नेहरूजी ने, जो आत्म-विश्वास पैदा किया था उसके कारण काहिरा में यह आवाज प्रकट हुई।

एक-दो नहीं, योरप, एशिया, और अफ्रीका के कुल मिलाकर छियालीस देशों ने दुनिया के सामने यह घोषणा दुहरायी कि वे स्वतन्त्र है, किसी गुट में नहीं हैं, हर प्रश्न पर निष्पक्ष विचार रखते हैं, न किसी की स्वतन्त्रता छीनना चाहते हैं, न किसी के गुलाम रहना चाहते हैं, आपस में एक-दूसरे के पूरक बनकर, परस्पर सहायता से आगे बढ़ना चाहते हैं; फिर भी हर देश का यह अधिकार मानते हैं कि वह अपनी परम्परा, परिस्थिति और पसन्द के अनुसार जिस तरह का शासन रखना चाहे, रखे, समाज बनाना चाहे, बनाये, जीना चाहे, जिये, और सब अपनी-अपनी जगह रहें। जिस दुनिया को योरप और अमेरिका ने अपने साम्राज्य और उपनिवेश बनाकर युद्ध और शोषण से जर्जर कर डाला है उसके लिए काहिरा की यह घोषणा मुक्ति की एक नयी आशा और सन्देश है। तटस्थता और सह-अस्तित्व के बिना अब दुनिया का गुजर नहीं है।

हिन्देशिया के डा० सुकर्ण ने जोरदार शब्दों में इस बात की याद दिलायी कि जो देश आज भी उपनिवेशों को नहीं छोड़ रहे हैं, या नये स्वतन्त्र देशों को अपनी तरह-तरह की कुचालों से परेशान कर रहे हैं उनके साथ सह अस्तित्व कैसे होगा? ठीक है कि ऐसी शरारतों का अन्त होना चाहिए, लेकिन यह सोचना कि इसका अन्त युद्ध से ही हो सकता है, भले ही उससे सारी दुनिया खत्म ही जाय, बहुत छोटे दिमाग की बात है। युद्ध को क्रान्ति का दर्शन बनाकर चीन एशिया के लिए कितना खतरनाक बनता जा रहा है, और अगर हिन्देशिया भी उसी की राह चलेगा तो एकता, समता और स्वतन्त्रता के नारे कबतक टिकेंगे?

काहिरा-सम्मेलन में, इतिहास में पहली बार इतनी सरकारों ने यह तय किया कि जो देश आज भी गुलाम है (जैसे, पुर्तगाल और फ्रांस के अफ्रीका में कई उपनिवेश) उनकी आजादी सबकी चिन्ता का विषय ही न बने, बल्कि आजादी की लड़ाई में पैसे और सिपाही से उनकी भरपूर मदद की जाय। दासता और शोषण का प्रश्न किसी भी कोने में हो, उसके अन्त के लिए जिस दिन तमाम दुनिया की चेतना जग जायेगी उस दिन विश्व-परिवार की नींव पड़ेगी। उस दिशा में यह निर्णय एक जोरदार कदम है।

प्रधानमन्त्री शास्त्री ने साथी देशों के सामने यह बात रखी कि स्वतन्त्रता के साथ-साथ विकास की आकांक्षा

स्वाभाविक है, लेकिन इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए पुरुषार्थ—स्वावलम्बन पैदा होना चाहिए, नहीं तो अबतक हमें जिन देशों की बन्दूकों ने गुलाम बना रखा था अब उनकी थैलियों के हाथ हम बिक जायेंगे। मदद जरूर ली जाय, जब जरूरत हो, लेकिन जल्द-से जल्द अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश रहे। यह साफ दिखाई दे रहा है कि पैसेवाले देश पैसा देकर नये देशों को अपने साँचे में ढालते चले जा रहे हैं, जबकि एशिया और अफ्रीका की परिस्थिति इतनी भिन्न है कि राजनीति या अर्थनीति में योरप या अमेरिका की नकल करके आगे नहीं बढ़ सकते। नये देशों को सोचना चाहिए कि उनमें से कितने सचमुच तटस्थ हैं, और कितने देश के विकास या रक्षा के नाम में किसी बड़े देश के साथ बँधे हुए हैं। सच्ची तटस्थता अपनी मौलिक—स्वतंत्र शक्ति विकसित करने से ही आयेगी। इसलिए जरूरी है कि ये देश उस शक्ति के विकास में एक-दूसरे के साथ जुड़ें और समान धरातल पर खड़े हों।

कितना अच्छा होता, अगर तटस्थ देशों की इस खोज में पड़ोसी पाकिस्तान भी शामिल होता? उसका न रहना कितना खटकता है!

कितना अच्छा होता, अगर इस सम्मेलन में हर देश की जनता की, न कि केवल सरकारों की आवाज पहुँचती? सिवाय शास्त्रीजी के वहाँ सब डिक्टेटर थे—देश भक्त, हर तरह से पौरुषवान और योग्य फिर भी डिक्टेटर, जनता को पकड़कर अपनी राह ले चलनेवाले।

कितना अच्छा होता अगर गांधी का भारत स्वतंत्रता के साथ साथ विकास और प्रतिरक्षा के प्रश्न को अपने ढंग से हल कर सका होता और साथियों के सामने जनता की संगठित शक्ति, सम्मान और स्वावलम्बन का एक नमूना पेश किया होता!

लंदन

होम की कंजर्वेटिव सरकार गयी, विलसन की मजदूर सरकार आयी। 'नया ब्रिटेन' के नारे पर मजदूर दल की जीत हुई है। कंजर्वेटिव दल की सरकार बहुत पुरानी हो गयी थी। नया ब्रिटेन किस चीज में नया होगा? विज्ञान में, उद्योगों के संगठन में, जिसमें मालिकों के स्थान पर विशेषज्ञ और व्यवस्थापकों को प्रमुखता मिलेगी, तथा शिक्षा में। अब धनी गरीब की शिक्षा में विषमता नहीं रहेगी, और शिक्षा विज्ञान के साथ मिलकर देश के विकास की मुख्य शक्ति बनेगी। नया ब्रिटेन व्यापार में आगे बढ़ेगा, आज योरप के पन्द्रह धनी देशों में उसका नम्बर दसवाँ हो गया है। वह कामनवेल्थ को मजबूत बनाकर फ्रांस के दगाल का, जिसने कंजर्वेटिव सरकार के ब्रिटेन को योरप की बिरादरी में शामिल नहीं होने दिया,* जवाब देगा।

ब्रिटेन में दो ही दल हैं, जो विकास और विदेश नीति में बहुत कुछ समान हैं, लेकिन एक बात है—वहाँ कोई दल अपनी सरकार बनाने के लिए वोटरों को न धमकाता है, न घूस देता है, न बैलटबाक्स तोड़ता है। विचार और प्रचार की 'लड़ाई' होती है, और जो हारता है वह खुले दिल से जीतनेवाले की जीत स्वीकार कर लेता है।

मास्को

कौन जानता था कि १५ अक्तूबर को अचानक क्रुश्चेव के बुढ़ापे और अस्वास्थ्य की दरख्वास्त पड़ेगी और कम्यूनिस्ट पार्टी उसे मान लेगी? जो कलतक अपने देश का सब कुछ था, आज वह कुछ नहीं है, और कल उसका क्या हाल होगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। रूस और उसकी तरह सभी कम्यूनिस्ट देशों में, कम्यूनिस्ट पार्टी के ही हाथ में सारी शक्ति रहती है, और उसका नेता पूरा तानाशाह होता है। क्रुश्चेव देश का प्रधानमंत्री तो था ही, पार्टी का भी प्रधानमंत्री था। रूस में तानाशाह को हटाने के लिए कोई खुला विद्रोह करने की जरूरत नहीं पड़ती। अन्दर अन्दर पार्टी में चीजें पकती रहती हैं, और अचानक एक दिन विस्फोट होता है, और गद्दी बदल जाती है। जनता जानती है कि उसका काम केवल आँख बन्द करके कमाना-खाना और जितना खुश रह सके, खुश रहना है। कौन उनके ऊपर शासन करेगा, उसे यह सोचने की भी जरूरत नहीं है। साम्यवाद ने ऐसा 'लोकतंत्र' विकसित किया है, जिसमें

कौशल है, संगठन है, शक्ति है, महत्वाकांक्षा है, लेकिन 'लोक' नहीं है, तंत्र-ही-तंत्र है। कुछ भी हो, साम्यवाद ने तानाशाही को एक कला बना डाला है।

पेकिंग

चीन ने अपना पहला अणुबम छोड़कर यह दिखा दिया कि अमेरिका, रूस, फ्रांस, और ब्रिटेन के साथ उसने भी विश्व का संहार करनेवालों की लिस्ट में नाम लिखा लिया। दूसरे देशों को डराकर उन्हें अपने प्रभाव में लाने की उसकी शक्ति बढ़ गयी। राष्ट्र और वर्ण के नारे के साथ साथ अगर अणुबम जुड़ जाय तो दिमाग कब खराब हो जायेगा, कौन कह सकता है ?

हमारी चीन की सरकार के साथ अनबन है। काहिरा में हमारे प्रधानमन्त्री ने घोषणा की कि हम अणुबम नहीं बनायेंगे, क्योंकि हम दुनिया के हत्यारों में नाम नहीं लिखाना चाहते, लेकिन हम अपने देश की रक्षा तो चाहते हैं, वह कैसे होगी ? चीन के पास, जो बम है और उससे कहीं अधिक शक्ति रखनेवाला समता का नारा है, जो हमारे-जैसे गरीब देशों की जनता को मोह लेता है। डर बम का नहीं, इस नारे का है। चीन के बम से बड़े बम दुनिया में मौजूद हैं, जो इस बम को भी नहीं छूटने देंगे, लेकिन अगर हमें सचमुच अपने देश को अपनी शक्ति से बचाना है तो साम्यवाद के 'साम्य' को तुरत स्वीकार कर लेना चाहिए, ताकि देश एक हो जाय और उसका एक-एक व्यक्ति, अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मर मिटने को तैयार हो जाय। 'साम्य' के बिना 'वाद' से मोर्चा लेने की शक्ति नहीं आयेगी।

दिल्ली

चौथी पंचवर्षीय योजना कितनी बड़ी होगी, इसका अनुमान मिल गया। कुल लगभग २ खरब १५ अरब रुपये की योजना बनी है। जनता रुपये को रोटी-रोजी के रूप में देखना चाहती है। गाँव-गाँव में योजना किस रूप में पहुँचती है, कितना रोजगार और सामान लाती है, उसके लिए सिवाय इसके, योजना का दूसरा क्या अर्थ होगा ? ●

–राममूर्ति

शिक्षण का सिद्धान्त

●

दादा धर्माधिकारी

दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्य का सद्भाव और स्तुति जिस प्रकार हमें प्रिय लगती है, उसी प्रकार दुष्ट-से-दुष्ट और निकृष्ट-से निकृष्ट मनुष्य का स्नेह और सौहार्द हमारे लिए उपादेय है, समाद्य है। इसको हमें प्राप्त करना चाहिए और उसका संरक्षण करना चाहिए।

यह विज्ञान नहीं कर सकता। इसके लिए शिक्षण की आवश्यकता है। शिक्षण का काम क्या है ? मनुष्य के भीतर सोई हुई इस भावना को जगाना। नयी भावना वह पैदा नहीं कर सकता। अपूर्व निर्मिति की शक्ति मनुष्य में नहीं है। शायद ईश्वर में भी नहीं है। जो वस्तु सुप्त है, उसे जाग्रत किया जा सकता है। जो अन्दर छिपी हुई चीज है, उसे प्रकट किया जा सकता है। उसे प्रकट करने का नाम ही शिक्षण है।

अंग्रेजी में जिसे 'एज्युकेशन' कहते हैं, उसका मतलब ही है बाहर निकालना। भीतर के गुण को प्रकट करने लिए दो बातें करनी पड़ती हैं—एक तो शिक्षण उसके अनुकूल होना चाहिए और दूसरे सामाजिक परिस्थिति भी उसके अनुकूल होनी चाहिए ये दोनों ऐसे हों कि मनुष्य की सद्भावनाओं को जागरित करने के लिए केवल अवसर ही नहीं, बल्कि प्रेरणा भी दें। केवल सुयोग ही नहीं, प्रोत्साहन, और स्फूर्ति दें। ●

–'मानवीयनिष्ठा' से

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

बच्चो का मानसिक स्वास्थ्य और शिक्षक

•

शिरीष

मानसिक स्वास्थ्य-शास्त्र के विवेचन के लिए हमें 'एषणाओ' को समझना आवश्यक है। शारीरिक एषणाओं की पूर्ति परिवार एव वातावरण-द्वारा होती है। मनुष्य में मनोवैज्ञानिक एषणाएँ भी हैं। ये एषणाएँ मनुष्य ही नहीं इतर जीवों में भी देखी जा सकती हैं।

लेकिन, इन दोनो प्रकार की एषणाओ के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार की एषणा भी होती है, जिसे सास्कृतिक एषणा कहते हैं। यह जन्मसिद्ध नहीं होती। सस्कृति में सदैव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है इसलिए सास्कृतिक एषणाएं भी बदलती रहती हैं। जैसे, एक समय था जब सांस्कृतिक एषणाओ में धर्म की प्रधानता थी और आज धन की है। सम्भव है, कल और किसी प्रकार की प्रधानता हो जाय।

इन सास्कृतिक एषणाओं की पूर्ति शिक्षा द्वारा होती है और इनकी आरम्भिक पाठशाला परिवार होता है। परिवार बालक के सामने जिस प्रकार के 'सास्कृतिक आदेश' या 'सास्कृतिक प्रतिमान' रखेगा, वैसा ही वह बन पायेगा।

बच्चे के माता पिता, परिवार और वातावरण जितने स्वस्थ होंगे उतना ही बालक भी स्वस्थ होगा। मानसिक अस्वस्थता का बीजारोपण, जब बच्चा माँ के पेट में होता है उस समय भी हो सकता है क्योंकि गर्भावस्था में माँ के किसी भी प्रकार के मनोविकार से गर्भस्थ शिशु प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

बालक के स्वाभाविक विकास के लिए मानसिक स्वस्थता अत्यन्त आवश्यक है। इसके पहले कि मानसिक स्वस्थता लाने के लिए शिक्षक क्या करे यह जानना आवश्यक है कि बच्चो में मानसिक अस्वस्थता का बीजारोपण, उद्भव तथा विकास किस प्रकार होता है।

मानसिक अस्वस्थता का उद्भव और विकास

ऊपर लिखा जा चुका है कि बच्चा जब माँ के पेट में होता है तभी से वह उसकी प्रत्येक हरकत से प्रभावित होता रहता है। गर्भिणी माँ का चिड़चिड़ा होना कुण्ठाओ में पलना, किसी विशेष मनोविकार का शिकार होना आदि सभी प्रकार के सोच विचार का बच्चे पर प्रभाव पड़ता है। आहार विहार तो प्रमुख है ही।

जब बच्चा पैदा होता है तो मनोविज्ञान से अपरिचित माता पिता उसका सही ढग से लालन पालन नहीं कर पाते। वे वैसा करने की क्षमता भी नहीं रखते और उनके लिए उसका कोई महत्व भी नहीं होता। अनावश्यक रूप से चिल्लाकर बच्चे को गोद में खेलाना, उछालना, चूमना, डराना आदि प्रक्रियाएं ऐसी हैं, जो उसमें मानसिक अस्वस्थता का बीज वपन करती हैं।

बालक कुछ और बड़ा होता है तो परिवार, जहाँ उसकी इच्छाओ की पूर्ति करता है दमन भी करता है। माँ-बाप तो अनुभव के साथ अपनी इच्छाओं को

नियंत्रित करना सीख जाते हैं, लेकिन यही आशा वे अपने बच्चे से भी रखते हैं। जैसे—टट्टी-पेशाब की अपनी नैसर्गिक इच्छा को बच्चा प्रतिबन्ध बिना पूरा करना चाहता है, लेकिन माँ-बाप और परिवार उसके चारों ओर बन्धनों की दीवार खड़ी कर देते हैं— 'यह न करो, वह न करो, ऐसा न करो, वैसा न करो।'

'इच्छा' क्रिया में परिणत होने के लिए है, 'क्रिया-चक्र' को आगे चलाने के लिए है। अगर उसमें रुकावट आती है तो मन के भीतर 'तनाव' पैदा होता है, और यह तनाव ही मानसिक अस्वास्थ्य का जनक होता है।

बच्चा जब रात को समय से सोता नहीं तो उसे 'हौआ' का भय दिखाकर सुलाया जाता है। कभी कभी यह 'भय' 'दण्ड के रूप में भी लाया जाता है। ऐसे भय से बच्चे के मन में तनाव स्वाभाविक है।

कभी-कभी बच्चा जब कोई गलत काम करता रहता है तो उसका उपहास करके उसे शर्मिन्दा कर दिया जाता है। यह उपहास भी उसके मन में तनाव पैदा कर देता है।

इस प्रकार कमोबेश मानसिक तनाव और अस्वस्थता लेकर बच्चा पाठशाला में आता है। अब प्रश्न है कि शिक्षक क्या करे और कैसे करे?

शिक्षक की महान जिम्मेदारी

शिक्षा का उद्देश्य है बालक का शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक विकास, लेकिन यह विकास उस समय तक सम्भव नहीं है, जब तक बालक मानसिक तनावों का शिकार है। मानसिक अस्वस्थता को दूर किये बिना शिक्षक शिक्षा की गाड़ी आगे कैसे बढ़ा सकता है?

इसलिए, शिक्षक को मनोविज्ञान का जागरूक अध्येता होना चाहिए। मात्र-अध्येता ही नहीं, उसके प्रायोगिक स्वरूप को स्पष्टता के लिए स्वतंत्र चिन्तन और परिशीलन भी आवश्यक है। जब तक यह गुण शिक्षक में नहीं होगा वह अपने बच्चों को समझ ही नहीं सकेगा।

किसी भी बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन उस समय तक पूरा नहीं हो पाता जब तक उसके वातावरण और परिवेश का भी पूर्ण विवेचन शिक्षक न कर ले।

चारित्रिक विकास शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकता है। चरित्र मनुष्य के व्यक्तित्व का प्रकाश है। मनुष्य की शकल-सूरत, उसके सामाजिक व्यवहार तथा स्वभाव का दूसरों पर जो प्रभाव पड़ता है, उन सबका सामूहिक नाम व्यक्तित्व है और चरित्र उसी व्यक्तित्व का एक आवश्यक अंग। जैसे बीज विकसित होकर वृक्ष बन जाता है, वैसे ही चरित्र विकसित होकर व्यक्तित्व बन जाता है।

मानसिक स्वास्थ्य और मूल प्रवृत्तियाँ

पहले ऐसा समझा जाता था कि बालक का चरित्र पहले ही से बना-बनाया होता है। उसका समय के अनुसार सिर्फ विकास होता है लेकिन आज मनोविज्ञान के विकास ने इसे गलत सिद्ध कर दिया है। निस्सन्देह ये मूल प्रवृत्तियाँ या प्रेरक शक्तियाँ चरित्र के निर्माण में सहायक होती हैं, परन्तु उनके आधार पर चरित्र अच्छा या बुरा किसी भी तरह का बन सकता है। संचय करने की एक प्रवृत्ति है। इससे आदमी कजूस या 'मक्खीचूस' बन सकता है और इसी शक्ति से वह किसी म्यूजियम का कुशल-संचालक भी, इसलिए यह समझना गलत है कि बालक बना-बनाया चरित्र लेकर आता है। वह बनी-बनायी प्रेरक शक्तियाँ तो लेकर आता है, लेकिन उनके आधार पर माता पिता और शिक्षक के प्रयत्न से ही वह अपने चरित्र का निर्माण कर पाता है।

मानसिक अस्वस्थ बालक का उपचार

भय तथा इतर मनोविकार—बालक जिन प्रेरक शक्तियों को लेकर जन्म लेता है, उनमें से कौन-सी उसके जीवन में मुख्य बन गयी है और कौन-सी गौण, शिक्षक के लिए यह अध्ययन आवश्यक है क्योंकि इनकी मुख्यता और गौणता सारी परिस्थितियों पर आधारित

है। जैसे, 'भय' को एक प्रेरक शक्ति है। परिस्थिति के कारण एक बालक भूत-प्रेत के नाम से अंधेरे में डरने लगता है; दूसरे के लिए भूत प्रेत का कोई महत्व नहीं होता। ऐसी हालत में शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह पता लगाये कि बच्चे में भय कहाँ से और कैसे आया। जब तक वह बच्चे के हृदय से भय का मूल नहीं निकाल पाता, उसका मानसिक तनाव दूर नहीं होगा और इस प्रकार उसका बहुमुखी विकास सम्भव नहीं हो सकता।

असुरक्षा की भावना—अगर बालक के मन में किसी तरह यह बैठ जाय कि उसकी देख-रेख करनेवाला कोई नहीं है, तो वह मानसिक तनाव के चंगुल में फंस जाता है। अपनी सुरक्षा के लिए वह चोरी कर बैठता है। 'खाने को नहीं मिलेगा तो क्या करूंगा' यह सोचकर वह जेब काटने तक उतर आता है। इसलिए शिक्षक को बालक के मन से असुरक्षा की भावना को जड़मूल से दूर करना होगा।

अनावश्यक आलोचनाएँ

माँ-बाप से और परिवेश से जब बच्चे की अनावश्यक आलोचनाएँ होने लगती हैं तो वह ऊब जाता है। उसके मन में प्रतिक्रिया होती है और इस प्रतिक्रिया के कारण वह जिद्दी हो जाता है। और, प्रायः वही निषेध कार्य करने लगता है, जिसे माँ-बाप पसन्द नहीं करते। मैं एक ऐसी लड़की को जानता हूँ, जिसके घूमने पर उसके माँ-बाप ने अनावश्यक प्रतिबन्ध लगाया और वह घूमते-घूमते आवारागर्द तक बन गयी।

शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह उन वर्जनाओं एवं आलोचनाओं की तह में पहुँचे, जिनके कारण बालक के मन में कुंठा और जिद समा गयी है। उन्हें समझकर ही वह उन्हें निकालने का शैक्षिक उपचार कर सकता है।

माता-पिता का असंयम

कभी-कभी माता-पिता की साधारण-सी असावधानी बच्चे के कुतूहल को जगा देती है और वह उसका हल न पाने पर अनेक प्रकार के मानसिक तनावों का अपने चारों ओर जाल बुन डालता है। ऐसे बच्चे ऊपर से देखने में गम्भीर और खोये-खोये से रहते हैं। नीरसता उनके जीवन का अविभाज्य अंग-सा बन जाती है। ऐसे बच्चों के साथ शिक्षक को अपरिमेय स्नेह दिखाने की जरूरत होती है। वह स्नेह से ही उनके हृदय को जीत सकता है। बिना उनका हृदय जीते वह उनकी मानसिक अस्वस्थता दूर नहीं कर सकेगा।

गलत आदतें

कभी-कभी माता-पिता और पास-पड़ोस से भी बच्चा गलत आदतें सीख जाता है। आदतें जन्मजात नहीं होतीं; इसलिए छुड़ायी जा सकती हैं। लेकिन, इनके छुड़ाने में भी शिक्षक के सामने अनेक प्रकार की बाधाएँ आती हैं। बीड़ी, सिगरेट, पान आदि बुराइयाँ बच्चे अपने परिवेश से सीखते हैं और आदी बन जाते हैं। शिक्षक की डाँट-फटकार या कोरी चेतावनी कभी भी इन बुराइयों से बच्चों को मुक्ति नहीं दिला सकती। इसके लिए तो उसे बच्चे के मन में इन बुराइयों के प्रति घृणा उत्पन्न करनी होगी। घृणा उत्पन्न करने के लिए वह अनेक प्रकार की कहानियों और चरित्रों का निर्माण कर सकता है। घृणा उत्पन्न हो जाने पर ही वह बच्चे को उस बुरी आदत से मुक्ति दिला पाने में सफल हो सकता है।

नियंत्रण

प्रोत्साहन का यह अर्थ नहीं है कि नियंत्रण बिलकुल न रखा जाय। बच्चे को कार्य कारण का बोध कराने के बाद नियंत्रण देना उसके तनावों को दूर करने में सहायक होता है। उसे इस बात का बोध होना चाहिए कि नियंत्रण उसके लाभ के लिए है।

इस प्रकार अगर शिक्षक ऊपर लिखी हुई बातों को ध्यान में रखे तो बच्चों की मानसिक अस्वस्थता दूर करने और उनके बहुमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त करने में अप्रत्याशित सफलता प्राप्त कर सकता है।

●

नमक की जरूरत

●

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

"भैया, तुम तो मेरा सारा दूध दुह लेते हो। मेरे बछड़े के लिए भी जरा-सा नहीं छोड़ते। फिर भी पानी मिलाकर उसे बेचते हो। लोग समझते हैं कि मेरा दूध ही पनियल है। अपने दूध की ऐसी निन्दा तो मुझसे नहीं सही जाती।"–गाय ने ग्वाले से शिकायत की। उसका हृदय भर आया और ममतावश वह अपने बच्चे को चाटने लगी।

ग्वाले की समझ में गाय की बात नहीं आयी।

पास ही एक भैंस बँधी थी। वह गाय से कहने लगी—"दूध तो यह आदमी बूँद बूँद निकाल ही लेता है, लेकिन खाने को भी भरपेट नहीं देता बहन।"

आँखों के सामने धनकढ़ा दूध ले जाने के लिए एक डाक्टर महोदय परिवार सहित वहाँ आये हुए थे। वह ग्वाले से कहने लगे– 'देखो भाई, पानी तो तुम मिलाते ही हो, लेकिन महरबानी करके गन्दा पानी न मिला देना।"

"देखिये डाक्टर साहब"–ग्वाले ने आँखें तरेरते हुए कहा 'मुझसे ऐसी बातें न कीजिए। मैं कहाँ दूध में पानी मिलाता हूँ।"–उसने अपनी दूध निकालनेवाली हाँडी उलटकर दिखाते हुए कहा। ग्वाले ने जोर से हाँडी को बजाया और डाक्टर साहब से पूछा–"सुनिये, आवाज खाली बरतनकी है न?" और जल्दी-जल्दी दूध दुहने लगा। डाक्टर का कम्पाउण्डर भी वहीं खड़ा था। उसने बताया कि आजकल ग्वाले गायों को खूब नमक खिलाते हैं। इससे दूध पतला होकर अधिक मात्रा में निकलता है।

ग्वाला बोला–"अगर दूध के दाम मिलते रहें तो मिलावट क्यों हो?"

इस पर डाक्टर की बीवी ने कहा–"अब कौन दाम कम ले रहे हो? कितना भी दाम दो, तुम लोगों की आदत ही दूध में पानी मिलाने की हो गयी है। दाम बढ़ा भी दिये जायँ, फिर भी तुम यह कुटेव छोड़नेवाले थोड़े ही हो!"

ग्वाला भी एक छटाहुआ था। उसने हेकड़ी से उत्तर दिया–"आपको पता है, आजकल चारे का क्या भाव है? आपको अपना वेतन बढ़ा हुआ नहीं मालूम पड़ता। सिर्फ हमारे दूध का भाव ही बढ़ा दिखाई देता है। बहूजी, महँगाई सभी तरफ बढ़ रही है।"

गाय का बछड़ा ये सब बातें सुन रहा था, लेकिन उस बेचारे की समझ में कुछ नहीं आया कि दूध किसे कहते हैं और उसमें पानी क्यों मिलाया जाता है। वह अपनी माँ से पूछने लगा–"ये लोग क्या कह रहे हैं, माँ? दूध क्या चीज होती है?"

बेचारी गाय क्या उत्तर देती? उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली।

उधर डाक्टर के छोटे लड़के ने अपने पिता से पूछा–' पिताजी, गाय बछड़े को क्यों चाटती है?"

डाक्टर ने इस प्रकार का साहित्य बहुत पढ़ा था। कहने लगे–"बेटा, गाय को नमक की जरूरत होती है। बछड़े को चाटने से वह उसे प्राप्त हो जाता है।"

डाक्टर ने पढ़-पढ़ाकर अपना हृदय पत्थर की तरह कठोर बना लिया था। ●

अणु-वैज्ञानिक
डा० हिदेकी युकावा

•

सतीशकुमार

जापान में अणुशक्ति की खोज का सूत्रपात करने वाले डा० हिदेकी युकावा जापान के एकमात्र नोबुल पुरस्कार प्राप्त वैज्ञानिक हैं। जापान की जनता ने जिन पाच व्यक्तियों को अपनी श्रद्धा का सवश्रेष्ठ पात्र घोषित किया है उनमें से एक हैं डा० युकावा। इनका ऊँचा ललाट गम्भीर आँखें तथा दार्शनिक-जैसे भाव प्रधान लम्बे चहरे से विज्ञान और आत्मज्ञान के समन्वय की धारा बहती रहती है। डा० युकावा के विज्ञान की किरणें रसायनशास्त्र की प्रयोगशाला के कटघरे तक ही बँधकर नहीं रहती बल्कि जीवन समाज संस्कृति और धर्म के अवैज्ञानिक बन्धनों पर कुठाराघात करती हुई मनुष्य के सम्पूर्ण विकास की डगर को उज्ज्वल बनाती चलती हैं।

हमारी मुलाकात में डा० युकावा ने जिस बात पर सबसे अधिक जोर दिया वह थी एक विश्व' की कल्पना। विज्ञान ने सारे संसार को नजदीक लाने में सर्वाधिक हिस्सा अदा किया है पर अभी भी एक लम्बा रास्ता पार करना बाकी है ऐसा उनका मानना है। और इसीलिए वे एक विश्व' की कल्पना को साकार करने के आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे हैं। 'जापान के सैकड़ों नगरों ने अपने आपको विश्वराष्ट्र का सदस्य घोषित किया है। हम इस दिशा में तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। विज्ञान का सच्चा लाभ तभी मिलेगा, जब वह सारे संसार के लिए समान रूप से उपलब्ध होगा।'—डा० युकावा ने इन शब्दों में अपनी तड़प व्यक्त की।

विज्ञान का स्वार्थपूर्ण उपयोग क्यों ?

नब्बे मिनट की हमारी बातचीत में इस महान वैज्ञानिक ने आइस्टीन और गांधी के विचारों का अनेक बार जिक्र किया। डा० युकावा स्वय अमरिका के प्रिंस्टन विश्वविद्यालय में ६ वर्ष रह चुके हैं और आइस्टीन के बहुत नजदीक रहकर अनुसंधान करते रहे हैं। उन्होंने बताया कि आइस्टीन अपने आखिरी दिनों में राजनीतिज्ञों-द्वारा किये जानेवाले विज्ञान के स्वार्थपूर्ण दुरुपयोग के कारण बहुत निराश हो गये थे। वे एक वैज्ञानिक होने के बजाय जूते गाँठनेवाला चमार बनना पसन्द करने लगे थे। उनका विश्वास था कि विज्ञान सम्पूर्ण मानवजाति को जोड़नेवाला सूत्र है न कि काटनेवाला चाकू पर राजनीतिज्ञों ने संसार को अलग अलग टुकड़ों में बाँटकर सारे संसार को समान रूप से विज्ञान का फल चखने से वंचित कर रखा है।

डा० युकावा इस तरह आइस्टीन की चर्चा से गांधी तक आये और बोले कि हम वैज्ञानिक अपने विज्ञान की धारा को तभी प्रवाहित रख सकेंगे जब गांधी की अहिंसा के साथ वह चलेगी अन्यथा विज्ञान स्वयं को समाप्त कर लेगा। अणुयुग ने हिंसा की शक्ति को व्यर्थ बना दिया है। कोई भी देश, चाहे वह कितना ही बड़ा कितना ही शक्तिशाली तथा कितना ही शस्त्र-सज्ज क्यों न हो युद्ध में विजय नहीं पा सकता। आनेवाले

युद्ध में किसी एक देश की हार या जीत नहीं होगी—सारे संसार की हार होगी। इसलिए आज एक वैज्ञानिक के सामने विज्ञान की प्रगति का अगर कोई रास्ता है तो गांधी की अहिंसा के साथ ही है। धर्म के लोगों ने धार्मिक भाषा में जो अहिंसा शब्द का प्रयोग अबतक किया है वह बहुत ही अधूरा, एकांगी तथा कायरता का सूचक है परन्तु गांधी ने अहिंसा को न्याय प्राप्ति का मार्ग बनाकर शोषित मनुष्य के हाथ में एक बलवान शस्त्र सौंपा है।

हिंसा से हिंसा पराजित

डा० युकावा ने पिछले महायुद्ध के सन्दर्भ में कहा कि जापान ने हिंसा का रास्ता पकड़ा। फिर उसे हिंसा ने ही परास्त भी किया। हिरोशिमा और नागासाकी में लाखों लोगों को अणुबम की ज्वाला ने भस्म कर दिया। लेकिन, जापान के लोगों ने युद्ध के बाद एक सबक सीखा और एक नया कानून बनाया कि अब यह देश सेना का संगठन नहीं करेगा। बाहर के किसी भी देश में जापान का कोई आदमी सिपाही बनकर हाथ में बन्दूक लेकर नहीं जायेगा। यह कानून एक वैज्ञानिक के लिए सबसे बड़ा वरदान है क्योंकि जापान का यह कानून वैज्ञानिक को समाज के निर्माण का अवसर देता है, समाज को नष्ट करने का नहीं। अगर सारे संसार के देश यह निर्णय करें कि उनका कोई आदमी दूसरे देश में बन्दूक लेकर नहीं जायगा लड़ने-मरने के लिए नहीं जायगा तो हम वैज्ञानिक इस धरती की काया पलट कर सकते हैं।

हम टोकियो से हिरोशिमा की पदयात्रा के बीच डा० युकावा से मिले थे। मैंने उन्हें एक पत्र लिखा कि क्योतो शहर में हम शाम को पहुँचेंगे और रात भर वहाँ रहकर अगली सुबह आगे रवाना हो जायेंगे। इस बीच अगर आप हमें मुलाकात का समय दे सकें तो बड़ी कृपा होगी। जब हम क्योतो पहुँचे तो महापौर कार्यालय से हमें बताया गया कि डाक्टर साहब हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसलिए हम तुरंत विश्वविद्यालय पहुँचे और उनकी अनुसंधान शाला 'युकावा भवन' में उनसे मिले।

डा० हिदकी युकावा

वैज्ञानिकों की शक्ति का दुरुपयोग

उन्होंने बातचीत का प्रारम्भ अपनी भारत की यात्रा के संस्मरण सुनाते हुए किया। बम्बई में अणु-अनुसंधान के काम के प्रति सन्तोष और डा० भाभा की योग्यता का बखान करते हुए उन्होंने कहा कि अणुशक्ति-आयोग के गोरखधंधे में डा० भाभा-जैसे व्यक्ति को इतना व्यस्त कर दिया गया है कि सच्चे वैज्ञानिक अनुसंधान के काम में उनको समय देने का मौका कम मिलेगा। डा० युकावा ने अपना अनुभव सुनाते हुए कहा कि मैंने इसी व्यस्तता से मुक्ति पाने के लिए जापान अणुशक्ति आयोग की अध्यक्षता से त्यागपत्र दिया है और मैं अपना पूरा समय अपनी अनुसंधान-शाला में बिता रहा हूँ। इसके अलावा मेरा सारा समय राष्ट्रीय-संकीर्णता से ऊपर उठकर विश्व-संघ की स्थापना में जाता है।'

डा० युकावा स्वयं तो इस तरह के रचनात्मक काम में लगे ही हैं उनकी पत्नी उनसे भी अधिक विश्व सरकार की स्थापना के प्रयत्नों में लगी हैं। वे अनुसंधान शाला की उलझनों में व्यस्त नहीं हैं इसलिए उनकी पूरी शक्ति विश्व-सरकार की स्थापना के आंदोलन में लग रही है।

डा० युकावा ने नेहरूजी के बारे में कहा कि इस व्यक्ति ने राजनीति को मात्र सत्ता का खिलौना न मानकर उसे विचारक और दार्शनिक की भाँति एक शास्त्र माना। इसलिए ससार के राजनीतिज्ञो की पंक्ति में वे कुछ अलग ही दीख पड़ते थे। जब तक राजनीति के पीछे सिद्धान्तो का बल नहीं होगा, तब तक उससे सच्चा लाभ ससार को नही मिलेगा। उन्होने आज की राजनीति के परिणामो पर असन्तोष व्यक्त करते हुए कहा कि सारे ससार में मनुष्यजाति के टुकडे-टुकडे हो रहे है—जर्मनी के दो टुकडे, वियतनाम के दो टुकडे और कोरिया के टुकडे। इस तरह सब जगह टुकडे-ही-टुकडे हो रहे है।

युद्ध नहीं, रोटी चाहिए

अभी सारे दक्षिणी-पूर्वी एशिया के राजनीतिज्ञ एक दूसरे के खिलाफ बन्दूकें तानकर खडे है। नेहरूजी ने इस विचार को समझा कि एशिया के गरीब लोगो को युद्ध और झगडा नहीं चाहिए, बल्कि रोटी चाहिए और चाहिए शिक्षा में प्रगति। अगर हम नेहरूजी के उस विचार को समझकर सारे एशिया को 'शान्ति-क्षेत्र' बना सकें और यह तय कर सकें कि चाहे कितनी भी कठिन समस्या उपस्थित क्यो न हो, हम हथियार नहीं उठायेंगे तो निश्चय ही बहुत बडी बात होगी। अगर नेहरूजी का यह सपना चरितार्थ नहीं होगा और छोटे छोटे देश आज की तरह ही लडते रहेंगे तो एशिया के विकास की गाडी का दलदल से बाहर निकलना सम्भव नही।

मानव-मानव एक समान

डा० युकावा हमारी दिल्ली से मास्को और वाशिगटन तक की पदयात्रा के अनुभव सुनने म बहुत रुचि ले रहे थे। १९ महीने में आठ हजार मील की पदयात्रा करके बिना एक भी पैसा जेब में रखे, किस प्रकार हम रूस, योरप और अमेरिका की सडकों को पार कर गये, यह जानने की उत्सुकता थी। मैंने उन्हें बताया—

'हम विश्व-नागरिक की भूमिका अपनाकर चले। गांधी की समाधि से हमारी यात्रा प्रारम्भ हुई और कैनेडी की समाधि पर पूरी हुई। अफगानिस्तान के पहाड़ों, ईरान के रेगिस्तानों और रूस के बर्फीले मैदानों को पार करने के बाद हमारा अनुभव यह हुआ है कि मूलत मानव स्वभाव सब जगह समान रूप से अच्छा है।'

हमारी यात्रा की कहानी सुनकर डाक्टर साहब ने कहा कि अगर आपलोगो की यात्रा मनुष्यों के हृदय में थोडी भी प्रेरणा और सोचने की अभिलाषा पैदा कर सकी तो आपका यह प्रयत्न सफल हुआ माना जायेगा। जापान एकमात्र ऐसा देश है, जहां के लोग अपने अनुभव से अणुबम की भयकरता को जानते हैं। अत हम चाहते हैं कि ऐसा भयकर अनुभव और किसी को सहना न पडे।

डाक्टर साहब ने हमारी टोकियो से हिरोशिमा की ६५० मील की पदयात्रा की चर्चा करते हुए कहा कि इस बीच आप देखेंगे कि किस प्रकार सारा देश नव-निर्माण में जुटा है। हमारे देशवासियो को सुरक्षित जीवन का मार्ग चाहिए, अणुबम नहीं।

शान्ति नेताओं में पक्षपात

डा० युकावा ने जापान के शान्ति-आदोलन के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए कहा कि यहाँ के तथाकथित शान्ति-नेता पक्षपात के कारण सच्चे शान्ति-आन्दोलन का निर्माण करने में असफल रहे है। इन शान्ति नेताओं के गले की रस्सी या तो मास्को से हिलती है, या पेकिंग या वाशिंगटन से परन्तु शान्ति आदोलन की भूमिका निष्पक्ष तथा स्वतत्र होनी चाहिए। अगर आपकी टोकियो से हिरोशिमा की इस पदयात्रा न जापान के शान्ति आन्दोलन को निष्पक्ष होने की प्रेरणा दे सकी तो उसका बहुत बडा लाभ होगा।

जापान को डा० युकावा पर गर्व हो, यह तो ठीक ही है पर सारे एशिया और सारे विश्व को ऐसे महान वैज्ञानिक की उदात्त साधना पर अभिमान क्यों न हो? विज्ञान का बल और वैज्ञानिक का मार्ग-दर्शन इस विश्व को अणुबम की ज्वालाओं से बचायेगा इस विश्वास के साथ हमने डा० युकावा को प्रणाम किया और विदा ली।

●

पक्ष-रहित चुनाव के क्षेत्र

विनोबा

लोगों को अकसर लगता है कि चुनाव में बड़ी भारी शक्ति है, परन्तु जब उन्हें मालूम हो जायेगा कि चुनाव में, जो शक्ति है उससे बहुत अधिक शक्ति अहिंसक जनशक्ति निर्माण करने में है, तब उनके सोचने का ढंग बदल जायगा।

चुनाव और जातिवाद

यहाँ का समाज जातिभेद-युक्त है। राजा राममोहन-राय से लेकर महात्मा गांधी तक जितने चिन्तनशील महापुरुष पैदा हुए उन सबने जाति भेद पर प्रहार किया, जिससे वह संस्था काफी ढीली हो गयी है, परन्तु इन दिनों जाति-संस्था अधिक मजबूत होती दिखाई दे रही है। यह क्यों हो रहा है? कारण यह है कि चुनाव में जातिभेद का विचार आता है और इससे उसको बल मिलता है।

चुनाव के दूसरे दोष ये हैं कि परस्पर द्वेष पैदा होता है पैसा और समय बरबाद होता है। आज चुनाव को जरूरत से ज्यादा महत्व दिया जाता है। किसी भी चीज का महत्व होने पर भी उसे प्रमाण से अधिक महत्व दिया जाता है तो मनुष्य-समाज गुमराह हो जाता है। स्वराज्य प्राप्ति के पहले राजनीति में, जो ताकत थी, वह स्वराज्य प्राप्ति के बाद सामाजिक कार्य में और अर्थविकास के कार्य में आती है। अभी यह बात राजनैतिक कार्यकर्ता की समझ में नहीं आयी।

चुनाव का सही तरीका

इस दृष्टि से आज के चुनाव के तरीके में क्या फर्क करना चाहिए, इस पर जरा सोचें। ऐसे तरीके का संशोधन हो, जिससे आज का किया-कराया काम, जो बरबाद होता दिखाई दे रहा है, उससे हम छुटकारा पा सकें। हमने कई बार इस पर सोचा है और कहा भी है कि इसके वास्ते गहरा चिन्तन होना चाहिए।

पहली बात यह है कि चुनाव का क्षेत्र सीमित हो जाय। जहाँ केवल जन-सेवा का कार्य करने की ही जिम्मेदारी है, वहाँ नाहक राजनीतिक पक्ष का आग्रह दाखिल न हो। वे चुनाव पार्टी की तरफ से न लड़े जायें—जैसे, म्युनिसिपैलिटी, लोकल बोर्ड आदि। इस पर लोग सोचेंगे तो उनके ध्यान में आयेगा कि इससे बहुत लाभ होगा।

म्युनिसिपैलिटी, लोकल बोर्ड, ग्रामपंचायत आदि में जन-सेवा के कार्य करने होते हैं। उनमें भिन्न भिन्न राजनीतिक वादों का बहुत सम्बन्ध नहीं आता है, और न आना ही चाहिए। हिन्दुस्तान-जैसे पिछड़े और विशाल देश में यही दृष्टि रखनी होगी। 'पिछड़े हुए' इस अर्थ में कहा है कि यहाँ का जीवनमान गिर गया है और तालीम नहीं है।

ऐसी परिस्थिति में यह भी जरूरी है कि भिन्न भिन्न राजनीतिक पक्षों के लोगों को कोई एक सामान्य कार्यक्रम मिलना चाहिए और उसी पर जोर लगाना चाहिए। उनके अपने-अपने राजनीतिक वाद, विचार और दर्शन हैं। उन दार्शनिक वादों को छोड़ने की बात मैं नहीं करता। मैं चाहता हूँ कि विचार मन्थन करना चाहिए।

मैं यह भी चाहता हूँ कि आचार-संघर्ष भी नहीं चलना चाहिए। इसका मतलब यह है कि भिन्न भिन्न राजनीतिक पक्ष, जो प्रजा का हित चाहते हैं, लोकसत्ता को मानते हैं, शान्ति की बात करते हैं, उनको ऐसा कोई सामूहिक कार्यक्रम ढूंढ लेना चाहिए, जो सबको समान रूप से मान्य हो। अगर कोई कहे कि ऐसा

कोई सामूहिक कार्यक्रम नहीं मिल रहा है, तो फिर कहना होगा कि ये सभी दुर्जनों की जमातें हैं।

लेकिन, मै मानता हूँ कि ये सारे दुर्जन नहीं, सज्जन है। सज्जनो में इस तरह के समान कार्यक्रम होते हैं, तभी तो वे सज्जनता का दावा कर सकते है। इसलिए उनके बीच समान आचार का कोई कार्यक्रम उपलब्ध होना चाहिए, जिसमें सबकी एकराय होगी और जिस पर एक राय से जोर दिया जायेगा। अगर एक व्यवस्था चले तो आज जिस तरह आचारो का सघर्ष होता है वह नहीं होगा।

प्रजा के सामने अनेक रायें रखी जाने से उसमें बुद्धिभेद पैदा होता है। यहाँ की प्रजा पहले से ही अकर्मण्य है और इस तरह का बुद्धिभेद पैदा होने से अकर्मण्यता और भी बढेगी। भिन्न भिन्न पक्ष एक दूसरे का खण्डन करते रहेंगे तो प्रजा की श्रद्धा स्थिर नही होगी।

पक्ष रहित चुनाव के क्षेत्र

म्युनिसिपैलिटी, लोकल बोर्ड, ग्रामपचायत, विद्यापीठ आदि में राजनीतिक पक्षभेद नहीं आने चाहिएं। वहाँ पर राजनीति की चर्चा खूब चले, परन्तु विद्यापीठ, पचायत आदि का, जो आयोजन हो वह सर्वमान्य विचार से हो, उसमें राजनीतिक पक्ष न हो। यदि लोगों को यह विचार मान्य हो जायगा तो फिर वैसा कानून भी बनाया जा सकता है। उन सस्थाओ के चुनाव के लिए, जो भी मनुष्य खडा रहेगा और लोग जिसे चुनेंगे, उसे अच्छा सेवक मानकर ही चुनेंगे। इस तरह चुनाव की हानियों से हम बरी होगे।

हमें थोडा तारतम्य और विवेक सीखना चाहिए। किस चीज को कितना महत्व दें, इसका भान लोगो को होना चाहिए। इससे चुनाव में आज जो दिलचस्पी मालूम होती है वह नहीं होगी, और सामाजिक तथा लोक-कार्यों में लोगों को अधिक दिलचस्पी मालूम होगी। आज तो हिन्दुस्तान में मूल्य-मापन के बिना ही कार्य चल रहा है। किस चीज को कितना महत्व दें, यह बात हम जानते ही नहीं। ●

जीवन मुसकरा उठा

●

रमाकान्त

"कहना मान जा बेटे, घर से कदम न निकाल। बाहरी दुनिया बेशुमार मुसीबतों से भरी हुई है। कदम-कदम पर ठोकरें खानी पड़ती हैं? तू बड़ा कोमल है। आँधी, पानी और तूफान भला कैसे सह पायेगा!"—फूटने के लिए बेताब अँखुए से बीज ने कहा।

बूढ़े बाप की बात अँखुआ ठुकरा न सका। उसके बढ़े कदम जहाँ-के तहाँ रुक गये। उसने अनुभव किया कि मेरे ऊपर माटी की कितनी कठोर परत है।

अपने नन्हे मुन्ने के रुकते विकास को धरती सह न सकी। दर्द से उसकी छाती फट पड़ी। आह का धुआँ आसमान में फैल गया। बादल घिर आये। रिमझिम-रिमझिम बूँदे बरस पड़ीं। माटी गीली हो गयी। कड़ी परतों का दिल पिघल गया।

अँखुआ कुनमुना उठा। उसने एक अँगड़ाई ली और आँखें खोल दीं। देखा—"सूरज की सुनहरी किरनें उसे गले लगा रही हैं। मीठी हवा के झोंके झूला झुला रहे हैं। चिड़ियाँ मीठी मीठी लोरियाँ सुना रही हैं। चारोंओर प्रकाश ही प्रकाश है।

अँखुए के प्राणों को कँपा देनेवाला भय काफूर हो गया। उसने आगे बढ़कर धूप और हवा से हाथ मिलाया। उसे जीवन के खट्टे-मीठे अवसरों में रस आने लगा। अँखुआ बढ़ा, खूब बढ़ा। पौधा हुआ। वृक्ष बना। लहराया, फूला, फला।

जीवन मुसकरा उठा। ●

शिक्षा-आयोग का परिणाम क्या होगा ?

सम्पादक जी,

चरखा जयन्ती के पावन अवसर पर शिक्षा-आयोग का विधिवत उद्‌घाटन हो चुका है। वैसे तीन महीने पूर्व ही आयोग के गठन की घोषणा हो चुकी थी। उद्‌घाटन के अवसर पर शिक्षामंत्री श्री छागला ने कहा है—"हमारी शिक्षा-प्रणाली गांधीजी-द्वारा निर्मित राष्ट्र के योग्य होनी चाहिए और लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता तथा समाजवाद को आगे बढ़ानेवाली होनी चाहिए। साथ ही पूर्ण रूप से सुनियोजित होनी चाहिए, लेकिन उस पर बहुत नियंत्रण भी नहीं होना चाहिए। हमारी शिक्षा प्रणाली की विशेषता होना चाहिए कि वह देश की जरूरतों को पूरी करने में मदद दे, लोगों में काम करने की आदत डाले, उत्पादन बढ़ाये और राष्ट्रीय एकता स्थापित करे।"

योजना अच्छी है, लेकिन हमारी समस्याएँ भी कम नहीं—शिक्षा के स्तर में गिरावट, छात्रों को अनुशासन-हीनता, शिक्षा पर होनेवाला अनुपयोगी व्यय, शिक्षा-संस्थाओं में स्थानाभाव, तकनीकी शिक्षण-प्राप्त शिक्षकों की कमी, स्वावलम्बन का अभाव, लोकतांत्रिक समाजवादी भावना, राष्ट्रीय एकता और विश्व-बन्धुत्व की कमी आदि-आदि। देखिये, कौन समस्या कहाँ तक हल हो पाती है।

सम्भवत: मार्च '६६ तक शिक्षा आयोग अपनी रिपोर्ट पेश करनेवाला है। उसके सुझावों पर निर्णय लेने में कितना समय लगेगा, कौन बता सकेगा? फिर भी कुछ सोचा-विचारा जायेगा, यही क्या कम है? लेकिन, 'हमारी शिक्षा-प्रणाली गांधीजी-द्वारा निर्मित राष्ट्र के योग्य होनी चाहिए।' यह बात पूरी तरह समझ में नहीं आयी। गांधीजी ने तो राष्ट्र के लिए तालीम का एक नया मसविदा पेश किया था, लेकिन उसकी ओर हमारे रहबरों ने ध्यान कहाँ दिया? वह उपेक्षित है सौत की बेटी की तरह। देखना है, इस नयी 'दत्तक पुत्री' का क्या हाल होता है!

अगर यह मान भी लिया जाय कि नयी तालीम असफल हो गयी—जैसा कि है नहीं—तो भी उसके प्रयोग में लगे हुए शिक्षाविदों की उपेक्षा कहाँ तक उचित है, इस पर हमारे शिक्षामंत्रीजी ने कभी कुछ सोचा भी है, नहीं जानता। असफलता के सही मूल्यांकन पर ही सफलता की नींव रखी जाती है, लेकिन हमारे यहाँ तो विदेशी स्वर में स्वर मिलाकर अलापने में ही कुशलता और गौरव का अनुभव किया जाता रहा है। नहीं जानता, भविष्य में क्या होगा!

नयी तालीम के खिलाफ सबसे जोरदार आवाज उसके स्वावलम्बन के पहलू को लेकर है, लेकिन दूसरे कई देशों में शिक्षा सही मानियों में स्वावलम्बी है और जहाँ नहीं है प्रयास किये जा रहे हैं। लेकिन, हमारे यहाँ अभी भी स्वावलम्बन कल्पना की ही वस्तु बना हुआ है। सम्भव है, विदेशी विद्वानों की सम्मति इसके पक्ष में रहे और तब यहाँ के लोगों को भी यकीन आये और कुछ ठोस कदम उठाये जा सकें। ●

—सहदेव सिंह
कासिमाबाद, गाजीपुर।

जीवन-शिक्षा

बच्चों की मासिक पत्रिका

प्रकाशक—सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, गोलघर, वाराणसी।

बच्चों की मासिक पत्रिका 'जीवन-शिक्षा' का प्रकाशन पिछले ८ वर्षों से हो रहा है। प्रकाशित होने के कुछ महीने के भीतर ही इसे राज्याश्रय मिला, जो कमोबेश में आज भी है।

अपने जन्मकाल से ही यह पत्रिका एक खास साज सज्जा और अन्दाज लेकर आयी और यह खासियत दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। डिजाइन, छपाई और उद्योग तथा ज्ञान विज्ञान से सम्बन्धित रचनाओं की दृष्टि से 'जीवन शिक्षा' प्रदेश की अन्य बाल पत्रिकाओं में अपना अलग स्थान रखती आयी है। रचनाओं की शैली सीधी रहती है; इसलिए वह जितनी ज्ञानवर्धक होती है उतनी ही मनोरंजक नहीं होती।

जो अभिभावक अपने बच्चों को दुनिया के ज्ञान विज्ञान तथा शिक्षण का लाभ देना चाहते हैं उन्हें अपने घर में इस पत्रिका को स्थान देना उपयोगी होगा।●

गांधीजी के संस्मरण

(मूल गुजराती पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर)

लेखक—शान्तिकुमार *मूल्य २-५०*

सर्व-सेवा संघ प्रकाशन—राजघाट, वाराणसी

किसी महापुरुष अथवा विचारक को पूरी तरह जानने-समझने में उसके विचारों का जितना महत्त्व होता है, लगभग उतना ही, बल्कि कुछ अंशों में अधिक महत्त्व उसके संस्मरणों का होता है। क्योंकि ये संस्मरण केवल कोरी घटनाएँ न होकर उसके व्यक्तित्व और चरित्र के प्रतिबिम्ब होते हैं—ऐसे प्रतिबिम्ब, जो परिस्थितियों के पर्दे पर व्यक्ति का विविध रूप बनकर अंकित होते चले जाते हैं। इस प्रकार के जीवन्त संस्मरण न केवल किसी व्यक्ति, बल्कि न्यूनाधिक मात्रा में उसके युग के इतिहास का अंग बन जाते हैं।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का व्यक्तित्व और जीवन क्या और कैसा था इसे जानने में भावी पीढ़ी के लोगों को उनके संस्मरणों से बड़ी मदद मिलेगी। गांधीजी के निकट सम्पर्क में आये हुए दर्जनों व्यक्तियों ने अब तक अपने संस्मरण लिखे हैं। शैली की दृष्टि से भले ही उनमें से कोई अधिक लोकप्रिय हो और कोई कम, लेकिन भावी इतिहासकार और जिज्ञासु पाठक के लिए सभी संस्मरण पठनीय होंगे।

श्री शान्तिकुमार-द्वारा प्रस्तुत 'गांधीजी के संस्मरण' एक ऐसे व्यक्ति के संस्मरण हैं, जिसने अपने बचपन से ही गांधीजी को समीप से देखने का अवसर पाया और उनका यह सौभाग्य गांधीजी के जीवन के आखिरी पड़ाव तक कायम रहा। श्री शान्तिकुमार के कुछ संस्मरण और प्रसंग ऐसे हैं, जो अकेले वे ही लिख सकते थे। इस दृष्टि से गांधीजी के संस्मरण-साहित्य में इसका अपना एक अलग स्थान है।

गांधीजी के अतिरिक्त भारत के अन्य राजनेताओं के भी संस्मरण इस पुस्तक में दिये गये हैं। इससे पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ गयी है।●

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा-संघ प्रकाशन की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
नवम्बर, १९६४ नयी तालीम रजि० सं० एल, १७२३

फुरसत कहाँ

"मास्टर साहब, आप 'नयी तालीम' पढते हैं ?—मैंने पूछा ।

"कैसी नयी तालीम ?"

"नयी तालीम एक शिक्षण-पत्रिका है, जो आपके यहाँ बराबर भेजी जाती है।'

"आह, अब समझा; आती तो जरूर है, लेकिन हेडमास्टर साहब के पास रखी रहती है ।"

"आपने पढने के लिए उनसे पत्रिका माँग क्यो नही ली ?'

"भाई, पढने-बढने की फुरसत कहाँ, किसी तरह गाडी खीच रहा हूँ ।"

"जब गाडी खीचनी ही है तो अच्छी तरह क्यो नही खीचते ?"

"कैसे अच्छी तरह खीचूँ, जबकि गाडी पर इतना बोझ हो कि जिसे खीचना मेरे बूते के बाहर हो ? इसके साथ-साथ जमाने की हवा भी उलटी है । सुबह ४ बजे उठता हूँ । ८ बजे तक घर का काम-काज देखता हूँ ।

"१० बजे स्कूल पहुचता हूँ। स्कूल से छूटने पर कुछ देर ट्यूशन करता हूँ और २ घटा दिन डूबे घर पहुँचता हूँ । ऐसी हालत में फुरसत कहाँ है गाडी अच्छी तरह खीचने को ?'

यह है आज के हमारे शिक्षको की मनोदशा । शिक्षको के उपयोग के लिए, जो पत्रिकाएँ स्कूल पर आती है उसे पढने की भी उन्हे फुरसत नही । यदि स्थिति यही रही तो देश का भविष्य उज्ज्वल कैसे होगा ? शिक्षको की वास्तविक कठिनाइयाँ दूर होनी ही चाहिए ।

—कृष्णकुमार

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक – खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर वाराणसी
गत मास छपी प्रतियाँ ३२ ००० इस मास छपी प्रतियाँ ३१ ८००

सर्व सेवा-संघ की मासिकी

मानव शान्ति-स्थापना में तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक उसका जीवन ऐसा बना रहे, कि उससे युद्ध के कारण पैदा होते रहें।
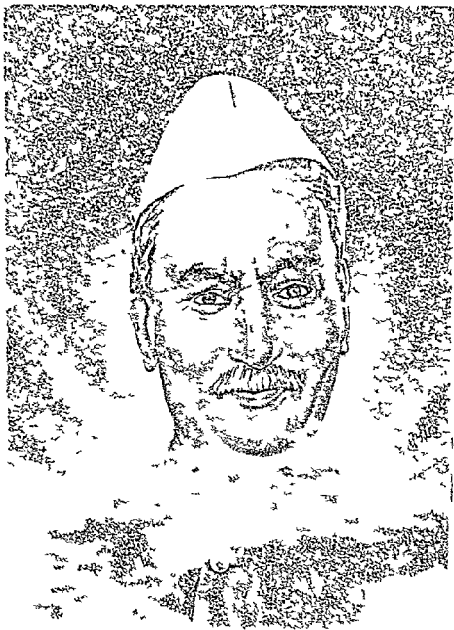
प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

वर्ष १३ अंक ५

दिसम्बर, १९६४

•

अनुक्रम

•

वार्षिक चन्दा
६ ००

एक प्रति
० ६०

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एव समाज शिक्षकों के लिए

वैभव की यह जवानी !

सूखी, बुढिया दिल्ला भी साल में एक बार जवान हो उठती है। विश्वविद्यालय के चुने हुए युवकों और युवतियों,का जाड़े में जब जमघट होता है तो दिल्लावालों को जवानी अपने पूरे वैभव में देखने को मिलती है। प्रकृति में जवानी से बढकर शायद दूसरा सौन्दर्य नहीं है, और जब प्रकृति संस्कृति के साथ मिलकर तरह-तरह की कलाओं में प्रकट होती है तो एक नयी दुनिया बन जाती है ऐसी दुनिया, जिसे अगर देखना हो तो आँखें बन्द करके ही देखा जा सकता है। आँखें खोलकर देखनेवाली दुनिया में कहाँ है वह सारा मिठास और वह सारी मस्ती, जो पिछले महीने एक साथ दिल्ली में फूट पडी थी ?

वर्ष तेरह

●

अंक पांच

जब दिल्ली में जवान नाच और गा रहे थे , और पूरी जिम्मेदारी के साथ चाय और नेताओं के प्यार की गरमी में यह तय कर रहे थे कि शिक्षक कैसे होने चाहिएँ और शिक्षा कैसी होनी चाहिए, उसी वक्त केरल के युवक भात के लिए हड़ताल कर रहे थे और दूसरों का टिफिन कैरियर छीन रहे थे। उधर उडीसा में जवानों की खुद सरकार से ही ठनी हुई थी, विद्यालय खाली पडे थे और जलूसों से सडकें भरी हुई थीं।

कहीं जवानी थिरक रही है, कहीं मचल रही है, कहीं भौहें तानकर खडी क्रोध से गुरेर रही है, कहीं पसीने बहाकर भी दो टुकडों के लिए हाथ फैला रही है, और कहीं शर्म बचकर बेशर्मी का जिन्दगी बिता रही है। अगर किसी को फुरसत हो तो देख डाले कि अपने इस देश में किस जगह जवानी का क्या रूप और क्या रंग है।

क्या इन विविध रूपों और रंगों में दूर का कोई संकेत है ? जाने की कोई दिशा है ? कहीं पहुँचने की उमंग है ? किसी के लिए निछावर हो जाने की तैयारी है ? दिल्ली के युवक समारोह के सामने जब प्रधानमंत्री ने सुझाया कि यह कार्यक्रम किसी गाँव में होना चाहिए तो बम्बई की एक युवती ने टीका की कि गाँव इस समारोह का भार उठा सकेंगे ? उस युवती के मन में व्यंग्य रहा हो या विनोद; लेकिन उसने जो प्रश्न पूछा उसका उत्तर क्या है ? खुद उसका उत्तर है—'नहीं'।

क्या दिल्ली में इकट्ठा होनेवाले किसी युवक या युवती का उत्तर 'हाँ' भी है ? अगर विद्यालयों के जवान और उनके तरीके देश के लाखों गाँवों के लिए भार बन जायँ तो सोचने की बात है कि देश के दूसरे भारों को कम करनेवाले सबल हाथ किसके होंगे ? फिर दमन और शोषण के असह्य बोझ के नीचे दबे पड़े हुए गाँवों के असंख्य युवक और युवतियाँ किसकी ओर आशाभरी निगाहों से देखेंगी ? क्या वे मान लें कि दिल्ली के मंच पर नाचनेवाली जवानी और है, जिसका रिक्शा चलानेवाले युवक और पत्थर कूटनेवाली युवती की जवानी से कोई मेल नहीं है ? सचमुच, वैभव की जवानी और अभाव की जवानी में मेल भी क्या है ?

हम सोचते थे कि जवानी जवानी है, किसी की हो, कहीं की हो। और, हम मानते थे कि स्वराज्य मिलने पर वैभव में खिलनेवाली जवानी अभाव में मुरझानेवाली जवानी की ओर सहारे का हाथ बढ़ायेगी; लेकिन हम देख रहे हैं कि न हमारा सोचना सही था, न मानना सही है। रोज यह बात पक्की होती जा रही है कि ऊपर की जवानी ऊपर ही रहना चाहती है और नीचे की जवानी को नीचे ही रखना चाहती है। दोनों जवानियों के बीच बढ़नेवाली विषमता का यही भार अब देश के गाँवों की बरदाश्त के बाहर हो रहा है। नहीं तो, गाँवों में दिल की कमी नहीं है, और बम्बई की युवती के प्रश्न का उत्तर हमारे गाँव उत्साह के साथ दे सकते थे।

जो बड़े-बुजुर्ग युवकों और युवतियों को दिल्ली में कला, संस्कृति और एकता के नाम में इकट्ठा करते हैं, उन्हें भी इस प्रश्न का उत्तर देना है कि क्यों दिल्ली और बम्बई की जवानी गाँव की जवानी से दिनोंदिन अलग होती चली जा रही है ? क्या इसी के लिए विश्वविद्यालयों की खर्चीली शिक्षा चलायी जा रही है ? जिस जवानी में ऊँची उमंग न हो, निछावर न हो, अनीति के प्रति विद्रोह न हो, जो वैभव के लिए अपने को बेचने में ही सुख और सफलता मानती हो, वह भी कोई जवानी है ? और उसे बनानेवाली शिक्षा भी कोई शिक्षा है ? शायद कोई दिन शीघ्र आयगा, जब युवक स्वयं यह प्रश्न पूछना शुरू करेंगे। बुद्धिमत्ता इसमें है कि देश के अगुआ प्रश्न पूछे जाने की राह न देखें।

धीरेन्द्र मजूमदार (signature)

गांधी-युग के इस उज्ज्वल प्रतिनिधि की जीवन-यात्रा सब तरह से धन्य हुई, जिसकी सुगन्धि राष्ट्र के वायुमण्डल में दीर्घ काल तक रहेगी।

राष्ट्रमूर्ति राजेन्द्र बाबू

•

काका कालेलकर

बाबू राजेन्द्र प्रसाद भारत के पहले राष्ट्रपति थे। राष्ट्रीय महासभा-कांग्रेस के वे अध्यक्ष रह चुके थे। स्वतंत्र भारत ने अपने लिए जिस सभा के द्वारा विधान बनाया उस विधान-परिषद के भी वे अध्यक्ष थे। न जाने भारत की कितनी राष्ट्रीय संस्थाओं, सम्मेलनों और परिषदों के वे अध्यक्ष थे। भारत की भावनात्मक एकता दृढ़ करने के लिए जब गांधीजी ने वर्धा में हमारी हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा की स्थापना की तब उन्होंने राजेन्द्र बाबू को उसके अध्यक्ष-स्थान पर बिठाया और स्वयं उपाध्यक्ष बने।

राजेन्द्र बाबू अपनी विद्वत्ता, चारित्र्य, राष्ट्रभक्ति, स्वराज्य-सेवा और गांधी कार्य की अनन्य निष्ठा के कारण सारे राष्ट्र के लिए पूज्य थे। स्वराज्य के अन्तिम समय में अपनी तेजस्विता प्रकट करते हुए भी उन्होंने अपने सात्विक, मिलनसार, उदार और अजातशत्रु स्वभाव का भी साथ साथ परिचय दिया था। भारतीय संस्कृति के व एक अच्छे प्रतिनिधि थे, और इन सब विभूतियों के कारण उनका भाग्य भी उज्ज्वल था। इसीलिए राष्ट्र ने उनको राष्ट्रपति के पद के लिए दो बार चुन लिया।

यह भी भूलना नहीं चाहिए कि भारत की रक्षा के लिए राष्ट्र ने, जो सेना रखी है उसके भी वे सर्वोच्च सेनापति थे। इतना होते हुए भी गांधीजी के आदर्शों के प्रति निष्ठावान होने के कारण और दुनिया के अनुभव का निचोड़ पहचानने के कारण उन्होंने अपना विश्वास प्रकट किया कि भारत-जैसे देश को सैन्य-विसर्जन का इकतरफा प्रयोग भी आजमाना चाहिए।

हम जब राजेन्द्र बाबू को राष्ट्रमूर्ति कहते हैं तब ऊपर की सब बातें ध्यान में लाकर ही कहते हैं।

हमारे राष्ट्रीय जीवन पर जिन तीन भाषाओं का अधिक-से-अधिक असर है उन तीनों का राजेन्द्र बाबू का अच्छा अध्ययन था—संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी। और, जब राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार करने के लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना हुई तब श्री मालवीय-जी और श्री टण्डनजी के साथ राजेन्द्र बाबू भी उसके एक संस्थापक थे।

बिहार की भूमि राजा जनक, भगवान बुद्ध, महावीर स्वामी और सम्राट अशोक की कर्मभूमि है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि बिहार की प्रजाधानी पटना सिखों के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह की भी भूमि है।

और, बिहार का भाग्य भी कैसा? आतंकवादी लोगों के पहले बम का प्रयोग भी बिहार में हुआ और अहिंसा-प्रतिकार के शस्त्र का गांधीजी का सत्याग्रही प्रयोग भी भारत में सबसे पहले बिहार में ही हुआ। खनिज-सम्पत्ति में चावल और गन्ना दोनों के लिए बिहार में स्थान है। मैं तो कहूँगा 'गिरमिटिया' के रूप में अपमान का कलंक सहन करते हुए, जो भारतवासी परदेश में जाकर बसे, उनमें से बिहार के बहुत लोग थे। इसे भी इतिहास-विधाता की ही योजना समझनी चाहिए। भारत को अपने पहले राष्ट्रपति इसी बिहार की भूमि से मिले, यह बात भी सब तरह से उपपन्न ही है।

बिहार में जब सन् १९३४ म भयानक भूचाल हुआ तब सकट निवारण के काम का सारा बोझ श्री राजद्र बाबू न उठाया। हमें इस बात का गौरव है कि इस असाधारण सेवाकाय को सगठित करने के लिए राजद्र बाबू न सबसे पहले मदद मांगी हमारे साबरमती के सत्याग्रह आश्रम से ही। कुदरत के इस प्रकोप से जनता का रक्षण करन के लिए दो प्रकार का धन सग्रह हुआ—एक वाइसराय का दूसरा राजद्र बाबू का। दोनों में काफी होड़ चली। भारत की अग्रेज सरकार न अपना प्रभाव चलाया और लोगो न सरकारी फण्ड में काफी धन दिया। इधर राष्ट्र न राजद्र बाबू के फण्ड म भी अच्छी रकमों की वर्षा की। और इस होड म स्वराज्य प्रमी राष्ट्र हारा नही। तभी से लोग कहन लगे कि स्वराज्य के प्रमुख तो राजद्र बाबू ही होंगे।

स्वराज के आदोलन म बम्बई शहर न धन और जन की जो मदद की उसका ख्याल करके कई लोग बम्बई को स्वराज्य नगरी कहते थ। इस बम्बई म जब काग्रस का वार्षिक अधिवशन हुआ तब अध्यक्ष के तौर पर राजद्र बाबू की ही नियुक्ति हुई थी।

जब देश के सामन बँटवारे का सवाल आया तब उसका विरोध करन म राजद्र बाबू न ही अपनी सारी शक्ति लगायी थी और बटवारे से हिदू और मुसलमान दोनो का कसा एकसा नुकसान होगा यह अकाट्य प्रमाण देकर बताया था।

राष्ट्रपति होन के बाद राजद्र बाबू न विश्व के अनक देशो की यात्रा की और भारतीय विश्व कल्याण की नीति के प्रभाव का परिचय सबको दिया। नम्र बन उन्नत बाला राजा भतृहरि का वणन जिनके जीवन म पूणतया चरिताथ हुआ ह उनकी फिहरिस्त म राजेद्र बाबू का नाम सबसे पहले *आयगा। गांधी युग के इस उज्ज्वल प्रतिनिधि की* जीवन-यात्रा सब तरह से धन्य हुई जिसकी सुगंधि राष्ट्र के वायुमण्डल म दीघकाल तक रहेगी।

●

दुख हल्का हो गया

●

रामगोपाल दीक्षित

लो बाबा फूल लो। आज त्योहार ह। —किशोर मण्डल के एक बच्च न अस्पताल म उदास लट हुए बूढे रोगी से कहा।

कांपत हुए हाथ स फूल थामते हुए उस बूढ न हाथ जोड़ दिया और कहा— मरा त्योहार तो उस दिन होगा जब भगवान मुझ इस दुनिया से उठा लगा। त्योहार तो उनका ह जो अपन बाल बच्चा क बीच घर पर ह।

यह कहते कहत उसकी आंखो म अपन परिवार की तसवीर नाच गयी और उसन अपनी निराशा भरी दृष्टि छत पर लगा दी। वह विचारों की गहराई म डब गया।

लाओ बाबा तुम्हारे नाखून काट दूं। बहुत बड हो गय है। हाथ पकडत हुए दूसरे बालक न कहा।

बूढ की तन्मयता भग हुई और उसन अपना हाथ खींचते हुए नकारात्मक सिर हिलाया।

बालक न कहा— बाबा क्यो? तकलीफ न होगी।

बूढे न अपनी निस्तेज आंखो को बालक के चेहरे पर गडाते हुए गिडगिडाकर कहा— बटा मरी गांठ म तुम्हें देन के लिए पसे नही ह। आज तो बच्चो को मिठाई देनी चाहिए न। बूढे का गला भर आया और आंखो म आंसू छलछला आये।

म खड़ा यह सब देख सुन रहा था। मन कहा— *बाबा! गांठ म पसे नहीं ह तो क्या आंखो म मोती* तो ह!

आंख के आंसू पोछते हुए उसन कहा— सारा दुख हल्का हो गया बटा। ●

सही ढंग की शिक्षा

डा० राजेन्द्र प्रसाद

शिक्षण-संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि अपने छात्रों को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य से सम्पन्न करें, जिससे वे जीवन में आनेवाली नाना प्रकार की कठिनाइयों का डटकर सामना कर सकें, और न केवल व्यक्ति के जीवन में, बल्कि समाज और राष्ट्र के जीवन में, जो अग्नि-परीक्षाएँ आयेंगी उनका प्रसन्नता और आत्मविश्वास के साथ सामना कर सकें। केवल कुछ पुस्तकें पढ़-पढ़ाकर और उन विषयों पर प्रश्नों के उत्तर दे-दिलाकर छुट्टी पा जाना ही यदि शिक्षण-संस्थाओं का लक्ष्य बन गया तो इसे बड़ा एकांगी और संकीर्ण लक्ष्य माना जायगा।

हमारी प्राचीन शिक्षा प्रणाली में शिष्य और गुरु के वैयक्तिक सम्पर्क को विशेष महत्व दिया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि गुरु अपने आचरण से शिष्य के जीवन और आचरण को बहुत अधिक प्रभावित करता था। गुरु बहुत सम्पन्न व्यक्ति नहीं होता था, परन्तु उसे उच्चतम सम्मान मिलता था। उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति थी ज्ञान और चारित्र्य, जिसके सामने धनी और गरीब, राजा और रंक हाथ जोड़े रहते थे।

आज अध्यापक और छात्र के बीच का सम्बन्ध क्षीण से क्षीणतर होता जा रहा है। परिणाम यह हो रहा है कि न तो शिक्षक को अपने जीवन से छात्र को प्रभावित करने का और न छात्र को ही अपने अध्यापक के जीवन से कुछ भी ग्रहण करने का अवसर मिल पा रहा है।

यदि हम अपने शास्त्रीय, सांस्कृतिक एवं सामाजिक शिक्षण-स्तर को सुधारना और सँवारना चाहते हैं तो शिक्षक और विद्यार्थी के सम्पर्क को पुनः स्थापित करना ही होगा।

मुझे गलत न समझेंगे यदि मैं यह कहूँ कि बरसाती मच्छड़ की तरह शिक्षण संस्थाओं की संख्या में वृद्धि से, शिक्षण के आवश्यक उपकरण और साधन के अभाव में, लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होने की सम्भावना है, क्योंकि बिना पूरी तैयारी और साधन के कोई भी संस्था अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती।

मेरा विचार है कि हमारे शिक्षाक्रम में कहीं एक निश्चित स्तर होना चाहिए, जहाँ शिक्षाक्रम शाखाओं में विभाजित हो जाय, जिससे जो छात्र स्वभावतः जिस योग्य हो वह उस दिशा में आकृष्ट हो जाय। आज विभिन्न स्तर के तकनीकी और वैज्ञानिक ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न व्यक्तियों की अधिकाधिक माँग के कारण भी शिक्षाक्रम में इस विभाजन की आवश्यकता हो गयी है। इस अभियान में ऐसी अलंघ्य कठिनाइयाँ नहीं आनी चाहिएँ, जिनसे कोई व्यक्ति एक बार शिक्षाक्रम चुन लेने पर उसे बदल-कर अपनी प्रकृति के अनुसार दत्तचित्त होने में असमर्थ हो जाय।

सामान्यतः इस विभाजन से यह प्रत्यक्ष लाभ होगा कि जो विज्ञान, तकनीकी या मानवशास्त्र में निष्णात होने के अधिकारी हैं उन्हें उच्चतम बौद्धिक ज्ञान देने के लिए अधिक-से-अधिक ध्यान और अवसर मिलेगा, और वे लोग जो इसके योग्य हैं उन्हें अयोग्यों के साथ बेमतलब घसीटा न जायगा।

व्यक्तिगत रूप में मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि शिक्षा के स्तर को उठाने के लिए उच्च शिक्षा में यदि विस्तार-

भावना को कुछ रोकना भी पड़ जाय तो कोई हानि नहीं। इसका अभिप्राय किसी को शिक्षा से वंचित करना न समझा जाय। इसका अभिप्राय इतना ही है कि सुयोग्य छात्रों को उच्चतम स्तर पर पहुँचने के लिए सारी सुविधाएँ, और साधन उपलब्ध होने चाहियें, जहाँ कि दूसरे, जो इसके योग्य नहीं है पहले ही अनुकूल दिशा में लगा दिये जायें।

मैंने आज की शिक्षा पद्धति में नैतिक-शिक्षा की व्यवस्था के अभाव की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। अँग्रेजों के समय से ऐसा चला आया है। उस समय जितना भी चरित्र निर्माण सम्भव हुआ वह इसलिए नहीं कि उसके पीछे कोई सुनिर्दिष्ट योजना या प्रयत्न था, प्रत्युत इसलिए कि देश में कुछ वैसा वातावरण था और उन पुस्तकों में, जो पढ़ायी जाती थी चरित्र निर्माण के अनुकूल सद्विचार थे।

चूँकि हमारे देश में अनेक धर्म व्यापक हैं, इसलिए यह सम्भव नहीं कि राज्य की ओर से किसी विशेष धर्म पर बल दिया जाय। इसीलिए हमारा राज्य धर्मनिरपेक्ष राज्य है, परन्तु इसका मतलब यह न समझ लिया जाय कि यह ईश्वर-विहीन राज्य है या आचारनीति से परे है। इसका वास्तविक अभिप्राय इतना ही है कि राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान है और इनमें से किसी एक विशेष धर्म को वरीयता नहीं दी जा सकती, इसलिए कि वह किसी समुदाय विशेष का धर्म है, वह समुदाय छोटा हो या बड़ा। परन्तु इसका मतलब यह भी नहीं है कि सत्य और असत्य, भले और बुरे के बीच, जो विभाजक रेखा है उसका ज्ञान भी न कराया जाय, जिसे सभी धर्म समानरूप से स्वीकार करते है। निश्चय ही, धर्म में अश्रद्धा या अविश्वास तो हमें अपनी नयी पीढ़ी में बोना ही नहीं चाहिए।

नैतिक स्तर में पतन क्यों ?

सामान्य स्तर के लोगों से हिलने मिलने पर यह बात साफ जाहिर हो जाती है कि सभी प्रकार के लोगों में यह भावना फैल गयी है कि नैतिक स्तर पतनोन्मुख है। मेरी राय में इसके कई कारण हो सकते हैं। पहला कारण है धर्म में श्रद्धा का अभाव। धर्म के बारे में, उसके विरोध में चाहे जितना कुछ भी कहा जाय, जैसे वह अन्धविश्वास और अन्धश्रद्धा को जन्म देता है, और सामान्य तथ्यों की उपेक्षा करता है, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि सारे संसार में धर्म ने ही नैतिकता को मजबूती से सँभाल रखा है। हमें राज्य से यह अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए कि नैतिकता के अवलम्बन के लिए वह किसी धर्म विशेष को प्रश्रय देगा, परन्तु जो गैरसरकारी संस्थाएँ हैं वे नैतिकता के अवलम्बन के लिए किसी भी धर्म को आधार बना सकती हैं।

मेरा यह भी विचार है कि मात्र-भौतिक विकास पर ही अत्यधिक और एकान्तिक बल देने के कारण यह भाव जनमानस में उठ खड़ा हुआ है कि जीवन में सबसे बड़ी सिद्धि अर्थ की है। इसे यदि ईमानदारी से हासिल किया जा सके तो ठीक, यदि नहीं तो येन-केन प्रकारेण अर्थ की उपलब्धि होनी ही चाहिए। यह हमारे देश को या वर्तमान समय की देन है, कहना कठिन है, परन्तु इस पर रोक अत्यन्त आवश्यक है, और कहीं ऐसा न होने पाये कि यह उन लोगों पर ही हावी हो जाय, जो लौकिक लाभों के स्थान में अलौकिक अनिर्वचनीयता में रमते थे।

वास्तविक नेतृत्व की आवश्यकता

मेरी यह भी मान्यता है कि शिक्षण संस्थानों में नैतिक शिक्षा के अभाव के कारण यह विषम स्थिति उत्पन्न हुई है जिसके साथ मिल गयी है समाज में नैतिक मूल्य के व्यापक ह्रास की भावना। यदि वास्तविक नेतृत्व मिले तो हमारे देश की जनता उच्चतम स्तर तक पहुँचने में समर्थ है, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है। एकमात्र आवश्यकता है उत्तम चरित्र के मानदण्ड की स्थापना की। और, यह सम्भव है सही ढंग की शिक्षा से। हमें हर समय मार्गदर्शन के लिए महात्मा नहीं मिल सकते, यद्यपि अनादिकाल से सन्त, महात्मा और आचार्य सभी देशों, सभी समयों में होते आये हैं, जिनमें अन्तिम थे महात्मा गांधी, परन्तु इस आदर्श को सदा सामने रखना है और यह हो सकता है शिक्षाशास्त्रियों और अध्यापकों द्वारा ही। ●
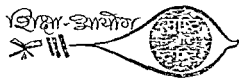
राष्ट्र-निर्माण में प्राथमिक शिक्षा का योगदान

•

द्वारिका सिंह

राष्ट्रीय शिक्षा का वह कौन-सा विशिष्ट अंग है, जिसपर यह अवलम्बित है और जिसके बिना शिक्षा का कोई भी दूसरा अंग स्वत विकसित नहीं हो पाता। वह विशिष्ट अंग प्राथमिक शिक्षा की राष्ट्रीय योजना है। प्रश्न यह उठता है कि राष्ट्रीय उन्नयन में प्राथमिक शिक्षा का क्या महत्व है? आर राष्ट्रीय शिक्षा के दो पक्षों को लें। पहला बाल-शिक्षा, दूसरा प्रौढ शिक्षा।

यदि हम इनके प्रबन्ध, व्यवस्था, सचालन, छात्रों का नामाकन, उनके शिक्षण की व्यवस्था, पर्यवेक्षण, निरीक्षण, मूल्यांकन इत्यादि के विराट स्वरूप की परिकल्पना करें तो ऐसा ज्ञान होगा कि सारे राष्ट्र के उन्नयन की बुनियाद का प्राथमिक शिक्षा एक प्रमुख स्तम्भ है।

प्राथमिक पाठशालाएँ क्या करें ?

इतना ही नहीं, पाँच सौ की जन-सख्यावाला शायद ही कोई गाँव अपने देश में होगा, जहाँ प्राथमिक शाला न हो। प्रत्येक गाँव में एक प्राथमिक विद्यालय की स्थापना का अर्थ होता है कम-से कम एक शिक्षक, चालीस छात्र, चालीस छात्रों के अभिभावक और पचायत के दस-पन्द्रह लोग। ये सारे लोग उस गाँव की सर्वांगीण योजना के बारे में ग्रामसभा को अपनी राय देकर गाँव का मार्गदर्शन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए किसी एक भारतीय गाँव की योजना के सम्बन्ध में नीचे लिखे कुछ सुझाव दिये जाते हैं—

प्रत्येक प्राथमिक पाठशाला गाँव का विस्तृत सर्वेक्षण करेगी। इस सर्वेक्षण में गाँव की सारी वर्तमान परिस्थितियों के अध्ययन की बात रहेगी। जैसे—गाँव की जमीन, बाग बगीचा, गोचर जमीन, रास्ते, सडकों श्मशानों, मशारो में लगी जमीन, जनसख्या, महिलाओं और पुरुषों का अन्दाज, साक्षरों-निरक्षरों का प्रतिशत, ६ से १४ साल तक के बच्चे-बच्चियों की सख्या, उनमें विद्यालयों में जानेवालों की सख्या, बच्चियों की पढाई की स्थिति भूमिहीनता, नशा मुक्ति, ग्राम सहकारिता, गृहउद्योग और ग्रामोद्योग, कच्चे माल का उत्पादन, आवश्यकतानुसार माल की तैयारी, पेय जल, पशुपालन इत्यादि-इत्यादि बातों का समावेश होगा। ऐसे विस्तृत सर्वेक्षण के बाद गाँव की सारी परिस्थितियों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जायगा।

गाँव और बाह्य जगत की कड़ी : शिक्षक

अध्ययन से यह स्पष्ट होगा कि गाँव की तात्कालिक प्रमुख समस्या कौन सी है। ऐसी समस्याएँ ग्रामसभा में रखी जायेंगी। ग्रामसभा उन समस्याओं की गम्भीरता पर विचार करेगी। इस तरह गाँव के धरातल पर, गाँव की वास्तविक पृष्ठभूमि पर और गाँव के जीवन की भूमिका पर वहाँ की वास्तविक योजना तैयार होगी। इस योजना की तैयारी में प्राथमिक शिक्षक और प्राथमिक विद्यालय का महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। इसका कारण यह है कि प्राथमिक शिक्षक ग्राम-शिक्षा के प्रभारी होने के नाते राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखेगा। प्रखड, राज्य और राष्ट्र के साधनों और शक्तियों को दृष्टि में रखते हुए ग्रामसभा

को ग्रामयोजना के ठोस कार्यान्वयन के सम्बन्ध में परामर्श देगा। इस तरह प्राथमिक शिक्षक गाँव और बाह्य जगत के बीच की कड़ी होगा। शासन-द्वारा मार्ग-दर्शित सभी प्रकार के साधन, साहित्य और विचार को ग्रामसभा के सामने रखेगा।

जन शक्ति को जगाये कौन ?

ग्राम-निर्माण के काम में ग्रामसभा की कार्यकारिणी समिति में ग्राम-शिक्षा के प्रतिनिधि ग्राम-शिक्षक, ग्राम-अर्थ-समिति के प्रतिनिधि, ग्राम-सहयोग-समिति के कार्यकर्ता, और ग्राम-प्रशासन यानी पंचायत के प्रतिनिधि सदस्य होंगे। कार्यकारिणी समिति के संयोजक प्राथमिक शिक्षक होंगे। इस पृष्ठभूमि में ग्रामसभा-द्वारा ग्राम-स्वराज्य की बुनियाद पड़ेगी। इस तरह ग्राम के सर्वांगीण उन्नयन का काम ग्रामवासियों-द्वारा होगा और इस व्यवस्था की पृष्ठभूमि में ग्रामशिक्षा के प्रभारी ग्राम शिक्षक होंगे।

जन-जागरण और जन-स्थिति का एक छोटा-सा उदाहरण आप लें। आप अपनी दृष्टि में दियासलाई की एक डिबिया को रखें। डिबिया के भीतर काठ की चालीस छोटी-छोटी काठियाँ हैं, जिनके सिरों पर प्रकाश उत्पन्न करनेवाली वस्तु यानी फासफोरस लगा रहता है। काठियों के सिरे पर, जो तत्त्व है वही तत्त्व डिबिया के बाहर दो तरफ अवस्थित है ? अर्थात् डिबिया में भीतर भी अग्नि प्रज्ज्वलित करने की शक्ति है और बाहर भी। लेकिन, जबतक दोनों भागों को स्पर्श करानेवाला नहीं मिलता तब तक अग्नि प्रज्ज्वलित करने की शक्ति रहते हुए भी अग्नि प्रज्ज्वलित हो नहीं पाती। आज हमारे देश के प्रत्येक गाँव की यही स्थिति है और यही राज्य की। गाँव की जन-शक्ति में उन्नयन की या प्रज्ज्वलन की शक्ति है। ऊपर की व्यवस्था में भी प्रज्ज्वलन की शक्ति विद्यमान है; लेकिन दोनों का संयोग कौन करे ? उत्तर स्पष्ट है। यह काम प्राथमिक शाला और प्राथमिक शिक्षक, ये दोनों कर सकते हैं। इनके बिना राष्ट्रीय उन्नयन का काम सम्भव नहीं है।

प्रौढ़ शिक्षा और शिक्षक

हमारे यहाँ बच्चे और बच्चियाँ शिक्षा पाती हैं, लेकिन उनके अभिभावक अशिक्षा और अविद्या के गहरे गर्त में अपना दुर्दिन बिताने को बाध्य होते हैं। इतना ही नहीं, बच्चे-बच्चियों का छ: घण्टों का जीवन विद्यालय में चले और उनका अठारह घण्टों का जीवन अशिक्षा और अविद्या से परिवेष्ठित उनके घरों में चले तो निश्चय फल होगा कि छ घण्टों की उनकी औपचारिक शिक्षा भी कारगर न हो सकेगी।

यदि इसी परिस्थिति को प्राथमिक शिक्षक अपने ध्यान में रखे और कुछ करना चाहे तो जनशक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर राष्ट्र के उन्नयन का एक बहुत बड़ा काम कर सकता है। मान लें कि छोटी-सी बस्ती है। उसमें एक हजार लोग रहते हैं। एक हजार की आबादी में दो सौ पढ़े-लिखे हैं। यदि प्राथमिक शिक्षक दो सौ साक्षरों को साक्षरता की विधि का ज्ञान करा दे और ग्रामसभा की सहायता-द्वारा ये दो सौ आदमी एक साल में एक-एक व्यक्ति को साक्षर बनाने का संकल्प लें तो दूसरे साल के अन्त में उस गाँव में चार सौ व्यक्ति साक्षर होंगे। फिर दूसरे साल चार सौ व्यक्ति एक-एक आदमी को साक्षर करने का संकल्प लें तो दूसरे साल के अन्त में गाँव की कुल एक हजार की आबादी में आठ सौ व्यक्ति साक्षर होंगे। यदि तीसरे साल यही संकल्प पूर्ववत् जारी रहा तो कुल आबादी के बचे हुए बाकी दो सौ आदमी तो साक्षर हो ही जायेंगे, साथ ही उनको प्रायोगिक शिक्षा की भी व्यवस्था की जा सकेगी।

गाँव के जीवन के उन्नयन के सम्बन्ध में उदाहरण-स्वरूप यह बात रखी गयी है। गाँव की समस्याओं का हल प्राथमिक शिक्षक ग्रामसभा के केन्द्र-बिन्दु में रहकर आसानी से कर सकता है। इसी तरह समाज-निर्माण के दूसरे कार्य भी प्राथमिक शिक्षक गाँव, प्रशासनिक, अर्द्ध प्रशासनिक और प्राइवेट एजेंसियों की सहायता से कर सकता है। सारांश यह कि प्राथमिक शिक्षक ग्राम्य-जीवन का प्रकाशस्तम्भ होगा और गाँव का मुख्य सेवक होते हुए रचना के काम में गाँव का नेतृत्व करेगा। यह बात एक गाँव की हुई, गाँव में स्थापित एक ग्राम-पाठशाला की हुई और उस पाठशाला में काम करते हुए एक शिक्षक की हुई।

आज समाज में महिलाओं के भद्दे चित्र, भद्दे फिल्मी गाने, लाउडस्पीकरों के उपयोग, उत्तेजक परिधान, प्राणनाशक नशाकारी पदार्थ, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, असत्य आचरण, खाद्य पदार्थों में मिलावट, चोरी, डकैती, अकर्मण्यता, आलस्य, भोग की लिप्सा, श्रम के प्रति अरुचि इत्यादि अनेकानेक राष्ट्र-उन्नयन विरोधी तत्वों का उन्मूलन प्राथमिक शिक्षक छात्र, अभिभावक, समाज और शासन के सम्मिलित प्रयास से करने में एक महत्वपूर्ण पार्ट अदा कर सकता है।

लेकिन, इस पार्ट को अदा करने की एक आवश्यक शर्त है कि यदि हम शिक्षक, जो काम समाज में करना चाहते हैं उसका आचार हमारे द्वारा होना चाहिए। धूमपान करनेवाला शिक्षक उसका निषेध नहीं कर सकता। नशा-सेवन करनेवाला शिक्षक नशा-मुक्ति का आन्दोलन नहीं कर सकता। अपने विद्यालय में देर से जानेवाला अनियमित शिक्षक समाज को नियमितता का पाठ नहीं पढ़ा सकता। इसलिए हम शिक्षकों का यह कर्त्तव्य और दायित्व है कि यदि हम राष्ट्र-उन्नयन और राष्ट्र-निर्माण का काम करना चाहते हैं तो हमें शत प्रतिशत शुद्धाचार करना होगा। हमें अपने मार्गदर्शन के लिए और नियंत्रण के लिए एक आचार-संहिता का निर्माण करना होगा, जिसकी बुनियाद पर हमारे आचरण होंगे। उनको जीवन में उतारने में कोई अपवाद नहीं होगा।

यह बात बिलकुल स्पष्ट हुई कि राष्ट्र के उन्नयन की बुनियाद राष्ट्रीय शिक्षा है। राष्ट्रीय शिक्षा की आधारशिला प्राथमिक शिक्षा है। प्राथमिक शिक्षा का केन्द्रबिन्दु प्राथमिक शिक्षक है। ग्राम-स्वराज्य की भूमिका में प्रमुख कार्यकर्ता ग्राम-शिक्षक है। इस तरह राष्ट्र उन्नायक और राष्ट्र निर्माण मूलतः और प्रमुखतः प्राथमिक शिक्षक है। इसलिए इस बात को स्वीकारना होगा कि ऐसे राष्ट्र-उन्नायकों और राष्ट्र निर्माताओं के महत्त्व को शासन और समाज को समझना होगा और इन्हें उचित रूप से प्रतिष्ठित करना होगा।●

हमारी अर्थ-व्यवस्था और शिक्षा

●

वैकुण्ठ ल० मेहता

श्री वैकुण्ठ ल मेहता का निधन २८ अक्तूबर को हुआ। यह अंश उन्होंने बीमारी के एक दिन पहले लिखा था। —सम्पादक

पिछले चालीस वर्ष में और खास कर योजनाओं की अवधि में देश में उद्योगों का निरन्तर विकास होता आ रहा है। फिर भी, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की जड़ता अभी बनी ही हुई है। ग्रामीण आय में वृद्धि का कोई लक्षण प्रतीत नहीं होता, पारम्परिक उद्योगों के पुनर्जीवन तथा पुनर्गठन से इतना ही हो रहा है कि कुछ पूर्णकालिक और अंशकालिक रोजगारी की व्यवस्था हो रही है, लेकिन भूमि के बँटवारे की परिपाटी से पैदावार गिरती जा रही है।

हमारी निरन्तर बढ़ती हुई आबादी को काम दे सकने में कृषि-उद्योग असमर्थ है। इसी कारण सारे देश के ग्रामीण क्षेत्रों से हजारों व्यक्ति रोजगारी की तलाश में शहरों तथा नगरों की ओर भागते चले जा रहे हैं। बड़े नगरों में तो इस आगमन की वजह से बहुत-सी गन्दी बस्तियाँ उमड़ आयी हैं और अनेक सामाजिक बुराइयों तथा नैतिक पतन ने उन्हें आ घेरा है।

श्री शास्त्री के शब्दों में, हमारी शिक्षा की योजना ही दोषपूर्ण है, जिस कारण माध्यमिक और उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले अधिकांश युवक अपने जीविकोपार्जन के लिए गाँवों में जाना ही नहीं चाहते।

हमारी शिक्षा-पद्धति में ऐसा कुछ नहीं है जो श्रम मर्यादा पर जोर दे। इसके लिए एक नये अभियान की जरूरत है, जैसा कि गांधीजी ने बुनियादी तालीम के साथ शुरू किया था।●

ईसा और भारत

•

विनोबा

''''आज हमने धर्मों में भी भेद-भाव पैदा कर लिया है। एक समाज दूसरे समाज से लड़ता है। देशों के बीच दुश्मनी चलती है, लेकिन इन सबकी तुच्छता दिखानेवाले कुछ महात्मा भी सारी दुनिया में हो गये हैं, जो किसी देश, पन्थ, सम्प्रदाय या समाज-विशेष के नहीं कहे जा सकते। ऐसे सत्पुरुषों में महात्मा ईसा भी गिने जाते हैं।

महात्मा ईसा अपने को 'मानव-पुत्र' कहते थे। उसके मानी ये हैं कि वे अपने लिए कोई संकुचित उपाधि, पद, या दर्जा कबूल करने को तैयार नहीं थे। स्वयं को सारे मानव-समाज का प्रतिनिधि समझते थे, यानी वे मानव की शक्ति और अशक्ति दोनों के प्रतिनिधि थे। इसीलिए उन्होंने मानव-मात्र की शुद्धि के लिए बहुत प्रायश्चित्त किया। जहाँ-जहाँ ईसाई धर्म प्रचलित है वहाँ तो उनका स्मरण होता ही है, दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी उनका स्मरण पवित्र माना जाता है।

ईसाई धर्म भारत का धर्म है

आज परिस्थिति यह है कि हिन्दुस्तान यह महसूस करे कि ईसाई धर्म भी हिन्दुस्तान का एक धर्म है। मैं तो समग्र भारतीय संस्कृति की ओर से कह सकता हूँ कि भारत को ईसामसीह कबूल है। जब भी ईसाई मित्र कहते हैं कि सारा हिन्दुस्तान ईसामसीह को कबूल करे, तब मैं सारे देश की तरफ से जाहिर करता रहता हूँ कि ईसामसीह हमें कबूल हैं, उनके सन्देश को हम शिरोधार्य मानते हैं, उस पर पूरी तरह अमल के लिए उत्सुक हैं। हम ईसा को अपने ही परिवार का अंग समझते हैं। हमारा यह दावा है, इसमें कोई अभिमान की बात नहीं है, नम्रता की ही बात है कि ईसामसीह की तालीम का, जितने व्यापक परिमाण में सामूहिक प्रयोग महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत ने *किया, उतना और कहीं हुआ होगा, यह हम नहीं* जानते। महात्मा ईसा का सन्देश शिरोधार्य करने की बुद्धि परमेश्वर ने हमें दी, जिससे हमारी भलाई हुई। हम आशा करते हैं कि ईसा के स्मरण का पवित्र दिन हिन्दुस्तान के लिए और सारी दुनिया के लिए अन्त परीक्षण का दिन समझा जायगा।

इसलिए भारत के ईसाई भाई यहाँ की पृष्ठभूमि को कबूल करें और हिन्दुस्तान की ईसाइयत का एक अपना विचार बनायें, इससे ईसाई धर्म परिपूर्ण होगा और हिन्दू धर्म और इसलाम धर्म आदि दूसरे धर्मों में भी पूर्णता आयगी। सबका संगम हो जायगा। इसलिए यहाँ के ईसाई, मुसलमान आदि, जिनकी परम्परा भारत के बाहर भी है, एक दूसरे को अपने धर्म का और अपने जीवन का ही अंग समझें।

भारतीय इसलामियत, भारतीय ईसाइयत

इसलाम में एक प्रकार का भाईचारा है। यह सभी धर्मों को कबूल है। सेवामय काम करने की प्रवृत्ति ईसाई-धर्म की विशेषता है। यह भी सबको कबूल है। इन दोनों चीजें जल्द-से-जल्द जीवन में लाना चाहते हैं और इन चीजों के कारण हम अपने को मुसलमान और ईसाई मानते हैं। भारत के हिन्दू के नाते मैं कहना चाहता हूँ कि

मुझे इसलाम और ईसाई धर्म कबूल हैं। इन्हें कबूल करने में मेरा हिन्दुत्व मिटता नहीं, बल्कि खिलता है और प्रकाशित होता है। इसका कारण यह है कि इस भूमि में जो ब्रह्मविद्या निर्माण हुई है वह मजबूत चीज है। इसीलिए मैं कहना चाहता हूं कि इसलाम के भाईचारे तथा ईसाई धर्म की सेवावृत्ति को विशेष बल मिलने के लिए, उसमें ब्रह्मविद्या की मजबूती और प्रखरता आने के लिए भारत की अपनी एक इसलामियत और एक विशेष ईसाइयत होनी चाहिए। भारत-भूमि का रंग चढ़ने से दोनों में एक विशेष बल आयगा और उनकी प्रभा विशेष आकर्षक होगी। यहां का लोक-मानस उसे अपनी चीज समझ ले, तब वह व्यापक कहलायगी।

विज्ञान की अनुकूलता

आज सारी दुनिया में कशमकश चल रही है। यह बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि जिन देशों ने दूसरों के खिलाफ ज्यादा-से ज्यादा पैमाने पर हिंसा का आयोजन किया, वे भगवान ईसा के अनुयायी कहलाते हैं। हम समझते हैं कि यह बात अब बहुत दिनों नहीं चलेगी और जो भविष्यवाणी ईसामसीह ने की थी कि 'प्रभु का जो राज्य आसमान पर अबाधित है, वह जमीन पर भी अबाधित रहेगा।' वह निकट भविष्य में सिद्ध होगी। शस्त्रास्त्र बढ़ाने में ही अपनी और दुनिया की रक्षा समझनेवाले देश इस बात को भले ही ईसा की तालीम के कारण न समझें, पर विज्ञान के कारण तो अवश्य ही समझेंगे।

• विज्ञान के जमाने में यह ज्यादा दिन नहीं चल सकता कि शस्त्रास्त्र बढ़ाते चले जायें और शक्ति का संतुलन कायम रखकर शांति की कोशिश करें। विज्ञान हथियारों को सीमित नहीं रहने देगा इसलिए वह मनुष्य को सोचने के लिए विवश करेगा। मनुष्य आज नहीं, कल यह समझ जायगा कि आखिर हिंसक शस्त्र के परित्याग में ही मानवता का विकास और मानव-समाज का कल्याण है। शरीर की रक्षा और आत्मा का विकास दोनों चीजें इस एक ही बात से सधने-वाली हैं। मनुष्य जब शस्त्रास्त्र का परित्याग करेगा और परस्पर प्रेम और सहयोग से दूसरों के लिए जीना सीखेगा, देने में ही सुख अनुभव करेगा तभी उसका बेड़ा पार होगा, और यह सब विज्ञान से प्रत्यक्ष सिद्ध होगा।
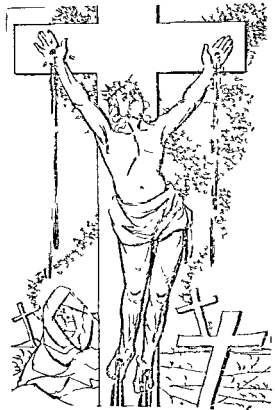
हिंसा की लाचारी

हिंसा का बचाव करनेवाले कहते हैं कि हम हिंसा के लिए हिंसा नहीं चाहते। हिंसा के लिए हिंसा करना शैतान का ही लक्षण है। दुनिया भर में ऐसा कोई मानव-समाज नहीं हो सकता, जिसे हिंसा के लिए हिंसा प्यारी हो। लाचारी से उसे हिंसा करनी पड़ती है, क्योंकि सामनेवाला जब हिंसा-बल दिखाता है तब क्या किया जाय? यह जो लाचारी है, पुरुषार्थहीनता है, इसे मैं निर्वीर्यता कहूंगा।

●

विद्यार्थी काल में डा० मार्टिन लूथर किंग के मानस पर गांधीजी के अहिंसा सिद्धान्त का गहरा प्रभाव पड़ा और नीग्रो आन्दोलन के दौरान यह और अधिक पुष्ट होता गया। —सम्पादक

अमेरिका का गांधी

•

सतीशकुमार

[इस वर्ष का नोबल शान्ति-पुरस्कार अमेरिका के शान्तिवादी नीग्रो नेता डा० मार्टिन लूथर किंग को प्राप्त हुआ है। डा० किंग ने अपने जीवन के अभी तक कुल ३५ वसन्त देखे हैं। आपसे कम उम्र के किसी व्यक्ति ने अभी तक यह पुरस्कार नहीं पाया है।

सन् १९५५ के पहले डा० मार्टिन लूथर किंग को अधिक लोग नहीं जानते थे। उस समय वे अलबामा राज्य के माण्टगोमरी नामक स्थान पर बेपटिस्ट पादरी का कार्य करते थे। सन् १९५५ में जब वहाँ नीग्रो लोगों द्वारा यातायात की बसों का बहिष्कार आन्दोलन एक वर्ष तक चला तो उसके नेतृत्व का भार डा० किंग के कंधों पर ही था। 'बसों के बहिष्कार आन्दोलन' ने इन्हें नीग्रो लोगों के नागरिक अधिकार आन्दोलन के प्रतिनिधि नेता के पद पर आसीन किया।

जब हम भारत से विश्व-शान्ति-पदयात्रा पर विदा हो रहे थे तो कुछ मित्रों ने हमसे कहा कि आप विदेशों में भारत की ऊँची संस्कृति का सन्देश फैलायें और दुनिया को अहिंसा तथा शान्ति का पाठ सिखायें। लेकिन जब हमने अमेरिका में डा० मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व में चलनेवाला अहिंसात्मक नीग्रो आन्दोलन देखा और डा० किंग से मिले तो मुझे लगा कि शायद भारत को अहिंसा का मार्ग वहाँ से सीखना पड़ेगा और शान्तिमय आन्दोलन के द्वारा समानता को कैसे प्राप्त करें इसके सक्रिय शिक्षण के तरीकों का अध्ययन करना होगा।

इतिहास की यह अपूर्व घटना मानी जायगी कि अहिंसक आन्दोलन के सेनानी तथा सत्याग्रह के मार्ग पर योद्धा की भाँति आगे बढ़नेवाले डा० किंग को संसार का सबसे बड़ा पुरस्कार—नोबल प्राइज—देकर उनके अहिंसा सम्बन्धी विचारों का सम्मान किया गया है। ये डा० किंग ही थे जिनके आह्वान पर हजारों नीग्रो जेलों में गये। ये डा० किंग ही थे जिनके आह्वान पर अमरिकी जनता ने नीग्रो को समानता का हक देना स्वीकार किया। ये डा० किंग ही थे जिनके आह्वान पर अमरिकी सरकार ने काले गोरे के भेद को समाप्त करने वाला कानून स्वीकार किया। ये डा० किंग ही थे जिनके आह्वान पर दो करोड़ नीग्रो लोगों ने आजादी की लड़ाई के लिए हिंसा रक्तपात और वैमनस्य का नहीं बल्कि प्रेमपूर्ण प्रतिकार, असहयोग, सविनय कानून भंग और सत्याग्रह का मार्ग चुना।

डा० किंग को प्राप्त नोबल प्राइज उन सभी के लिए एक विशेष गौरव की बात है जो अहिंसात्मक साधना से लड़ी जानेवाली मानवीय क्रान्ति की लड़ाई में विश्वास रखते हैं।

आखिर अमेरिका का नीग्रो-आन्दोलन है क्या, इसे अच्छी तरह हमें समझना चाहिए। न्यूयार्क की विश्व-प्रदर्शनी के समय अमेरिका के कुछ नीग्रो नेताओ ने जिस अद्भुत प्रदर्शन का आयोजन करने की ठानी थी, वह प्रदर्शन सफल रहा और न्यूयार्क की चतुर पुलिस ने सैकडो प्रदर्शनकारियो को गिरफ्तार करके प्रदर्शन की व्यूह-रचना को बडी तत्परता और कुशाग्रता के साथ तोड डाला। लेकिन, नीग्रो-आन्दोलन फिर भी जोरजोर पकड रहा है। छ महीने मैंने अमेरिका की यात्रा की और हर जगह मैंने नीग्रो-अधिकारों की माँग तीव्र स्वरो में सुनी। न्यूयार्क की विश्व-प्रदर्शनी के समय आयोजित प्रदर्शन के सम्बन्ध में यद्यपि नीग्रो नेताओ में तीव्र मतभेद था, क्योंकि अमेरिका के राष्ट्रपति जान्सन से लेकर देश विदेश के लाखो नर नारी, जिस प्रदर्शनो को देखने आ रहे हों, उस समय किसी प्रकार की गडबडी, अव्यवस्था और असुविधा पैदा करना कहाँतक मुनासिब होगा, यह प्रश्न अहिंसा और सद्भाव के सिद्धान्तो पर चलनेवाले नीग्रो नेताओ को रह-रहकर अखर रहा था। फिर भी, सदियों से दबाई हुई नीग्रो-हृदय की पीडा को और कब तक दबाकर रखा जा सकता है?

अब्राहम लिंकन के बाद पहली बार स्वर्गीय राष्ट्रपति जॉन केनेडी ने नीग्रो-जाति के गालो पर बहते हुए आँसुओ को पोछने का बीडा उठाया। काली और गोरी चमडी के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच दुर्भाव, घृणा और भेद पैदा करनेवालों को उन्होने जीवन के नये मूल्य अपनाने की अपील की तथा देश के सामने नागरिक-अधिकार कानून उपस्थित किया। इसके पहले कि यह कानून साकार हो पाता, केनेडी के सीने को बन्दूक की तीन गोलियाँ चूम गयीं। दुर्भाग्यवश उनका सपना उनके रहते रूप नहीं ले सका। उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति जान्सन ने कहा कि स्वर्गीय राष्ट्रपति को सच्ची श्रद्धांजलि देने का सबसे श्रेष्ठ साधन है—'नागरिक अधिकार कानून' को यथावत् स्वीकारना। परन्तु, गोरी चमडी को श्रेष्ठता का प्रतीक माननेवाले कुछ प्रतिक्रियावादी लोग केनेडी और जान्सन की अपील को मानने लिए राजी नहीं हो रहे थे।

डा० मार्टिन लूथर किंग

काली और गोरी चमडी का प्रश्न पूरे अमेरिका में दिन-प्रति दिन तीखा होता जा रहा है। किसी भी समय हिंसा फूट पडने का खतरा सिर पर लटक रहा है। एक प्रतिक्रियावादी नेता मलकम एक्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि गोरेपन के अभिमान में चूर अहिंसा की भाषा कभी नहीं समझेंगे। अत हमें अपने बचाव के लिए बन्दूक चलाने का प्रशिक्षण लेना चाहिए और गोरों के अन्यायो को समाप्त करने के लिए ईट का जवाब पत्थर से देना चाहिए। अगर इस युवा नीग्रो-नेता की सीख पर अमल किया गया तो इसमें सन्देह नही कि अमेरिका में गोरो और कालो के बीच वैसे ही रक्तपात का खतरा है, जैसा कि १९४७ में भारत में हिन्दुओं और मुसलमानो के बीच हो चुका है।

आज अमेरिकी नीग्रो एक दुराहे पर खडा है। एक ओर मलकम एक्स बन्दूक का रास्ता दिखा रहे हैं और दूसरी ओर डा० मार्टिन लूथर किंग सद्भावना और अहिंसा का दीपक लेकर खडे हैं। यह आज का नया नीग्रो 'नागरिक अधिकार कानून' के निर्णय से कुछ

आश्वस्त हुआ है। यदि यह कानून अस्वीकार हो जाता तो निराश, असन्तोष और प्रतिक्रिया की चपेटों में उलझा हुआ नीग्रो किस मार्ग की शरण लेता, यह कहना कठिन है। प्रारम्भ में यह कानून कांग्रेस ने तो स्वीकार कर लिया था पर सिनेट में आकर यह अटक गया था। एक डेमोक्रेट राष्ट्रपति-द्वारा उपस्थित यह बिल डमोक्रेट सदस्यों के विरोध की भँवर में उलझा हुआ था। गोरी चमड़ी की उत्कृष्टता के पोषक कुछ सदस्य इस बिल में अनेक संशोधन उपस्थित करके उसे असरहीन, कमजोर और लँगड़ा बना देना चाहते थे।

एक भेंट में डा० मार्टिन लूथर किंग ने मुझसे कहा कि ये सारे संशोधन न केवल कानून के रूप को ही बदल डालते बल्कि उसे पूरी तरह निकम्मा ही बना डालते। इस संशोधित बिल को स्वीकार करने के बजाय बिल का न होना ही ज्यादा अच्छा था। डा० किंग न मुझे एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहा कि अमरिका पर दुनिया की नजरें लगी हैं। जनतन्त्र व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सम प्रता के आदर्शों के लिए सदा से हमारे देश के नता वकालत करते रहे हैं। यदि अपने देश में ही हम इन सिद्धान्तों पर अमल नहीं कर सकते तो हम दुनिया को किस मुँह से उपदेश दे सकेंगे, इसलिए नीग्रो समानता नैतिक दृष्टि से तो अनिवार्य है ही राजनीतिक दृष्टि से भी उसका महत्व कम नहीं। डा० मार्टिन लूथर किंग सम्पूर्ण नीग्रो आन्दोलन के सूत्रधार माने जाते हैं। गांधीजी के सत्याग्रह और सविनय कानून भंग के सिद्धान्तों पर न केवल उन्हें पक्का भरोसा है बल्कि उन्होंने इन सिद्धान्तों को अमली जामा पहनाया है। उन्हें अमरिका का गांधी कहने में अयुक्ति न होगी।

नीग्रो-आन्दोलन पर अहिंसा का जो प्रभाव है वह अपना असाधारण महत्व रखता है। मैं अपनी अमरिकी यात्रा के दौरान लगभग १०० शहरों में घूमा हूँ। ३०-३५ विश्वविद्यालयों में मैंने व्याख्यान दिये हैं। नीग्रो आन्दोलन के कारण अहिंसा और गांधी लोगों के लिए विशेष चर्चा और अध्ययन के विषय बन गये हैं। प्रसिद्ध विचारक और लेखक रिचार्ड बी० ग्रेग ने मुझसे एक मुलाकात में कहा कि 'मैं कई बार आश्चर्य चकित रह जाता हूँ, जब देखता हूँ कि अमेरिका के नीग्रो छात्र ठीक वही भाषा बोलते हैं, जो भाषा गांधीजी बोला करते थे।' इससे यह स्पष्ट है कि अमरिका का नीग्रो अपना आन्दोलन धीरज और गम्भीरता के साथ चला रहे हैं। लेकिन, डर है कि उनके धीरज का बाँध कहीं दूसरे पक्ष की हठधर्मी के कारण टूट न जाय।

यह सही है कि इस बिल के स्वीकार हो जाने मात्र से नीग्रो गन्दी बस्तियों को छोड़कर खूबसूरत महलों में नहीं पहुँच जायेंगे, स्कूलों सिनमाघरों और होटलों में बरता जानेवाला भेदभाव भी एक दिन में नहीं मिट जायगा शिक्षा का स्तर आसमान पर नहीं चढ़ जायगा, बेकार नीग्रो काम पर नहीं लग जायेंगे उनकी आर्थिक आय फौरन में दुगुनी नहीं हो जायगी, नीग्रो बच्चों को खूबसूरत कपड़े नहीं मिल जायेंगे, स्कूलों में पर्याप्त शिक्षक भी नहीं पहुँच जायेंगे, और बीमार नीग्रो तुरत दवा नहीं पा जायंगे। यह काम केवल कानून बन जाने से नहीं होगा। यह परिवर्तन तभी आयगा जब अमेरिका की जनता का दिल बदलेगा प्रत्येक अमरिकी के मन में नीग्रो के प्रति सद्भाव पैदा होगा।

लेकिन कानून बन जाने से आज की हीनता की स्थिति पर जबरदस्त हथौड़ा लगेगा। नीग्रो हीनभाव और दूसरी श्रेणी के नागरिक की तह से ऊपर उठने के लिए तैयार हो सकेगा इसीलिए इस बिल का इतना महत्व है। मैं डा० किंग से उनके दफ्तर म मिला। दो बार उनके भाषण सुने और ऐसे अनेक केन्द्र देख, जहाँ युवकों को अहिंसात्मक प्रतिरक्षा की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है। मैंने पहले-पहल उन्हें देखा था १९५९ में जब वे भारत की यात्रा पर आये थे और विनोबा से उन्होंने मुलाकात की थी। ज्यों ज्यों उनके बारे में मैं अधिकाधिक जानता गया, त्यों त्यों उनके निकट खिंचता गया और आज तो व मेरे मन के हीरो बन गये हैं। मैं व्यक्ति-पूजा में विश्वास नहीं करता और डा० किंग के प्रति मुझे अन्ध भक्ति भी नहीं है पर मेरे लिए यह तथ्य है कि वे एक युग-पुरुष हैं। उनके साथ बिताये हुए क्षणों को मैं भूल नहीं सकता। ●
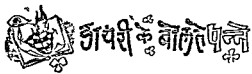
क्या यह सम्भव है ?

क्रान्ति बाला

उद्योग का समय। छोटी-छोटी थालियों में गेहूँ और चावल लिये बच्चों की कतार। अनाज के दानों के बीच उनकी छोटी-छोटी उँगलियों की आकर्षक गतिशीलता। नाचती उँगलियों के साथ-साथ किसी किसी की आँखें उसी गति से कभी अपनी थाली पर और कभी साथी की थाली पर आ जा रही हैं।

एक पलथी लगाकर एकाग्रता में कैलाशपति शिव का स्मरण दिलाता है, दूसरे के नटखट पैर साथी की थाली से टकराये बिना नहीं रहते। इधर पैर टकराये, उधर चेहरे पर मधुर मुसकान दौड़ गयी। सामनेवाले की भौंहें सिकुड़ गयीं। उसने शिक्षिका को पुकारा। शिक्षिका आयी और उसने अपने ढंग से समस्या को सुलझा दिया। दोनों बच्चों के चेहरों पर मुसकान दौड़ गयी और पुनः वही क्रम चल पड़ा।

लगभग १५ मिनट तक बच्चों का चित्त अनाज के दानों के साथ रहा। धीरे धीरे उकताहट की रेखाएँ उनके चेहरों पर उभरने लगीं। चतुर शिक्षिका से उनके मन की बात छिपी न रही। उसने सबको अपनी अपनी थाली, आसन यथास्थान रखने को कहा और स्वयं उनके साथ साधनों को व्यवस्थित करने में जुट गयी।

बच्चों का साफ किया अनाज उसी टीन में पड़ गया, जिसमें बिना साफ किया अनाज था। बच्चों की चपल आँखों से यह छिपा नहीं रहा। कई बच्चे बोल उठे—'बहन आ तो वीणेला छे, आ तो वीणेला छे।' (साफ किया हुआ है, साफ किया हुआ है)। शिक्षिका अपनी धुन में थी। उसने उत्तर दिया 'हमने खबर छे, पण कोई वान्धो नाहीं, एमज चालशे। (मुझे मालूम है, पर इस तरह चलेगा कोई बात नहीं है।) उसने सोचा रोज-रोज उद्योग की प्रवृत्ति करानी है तो नया नया अनाज कहाँ से लाना, इसी को बार बार देती रहूँगी।

बच्चों का कोमल चित्त इस आघात को बरदाश्त न कर सका। उनके श्रम की कोई कीमत नहीं! उनकी क्रियाशीलता और उनके सर्जन का कोई महत्त्व नहीं!! बेचारे रुआँसे हो गये।

इस आघात की प्रतिक्रिया किस रूप में बढ़ेगी, प्रकट होगी, कोई कह नहीं सकता। फिर भी यह सत्य है कि प्रतिक्रिया मात्र हिंसक होती है। हिंसा चाहे आत्मग्लानि का रूप ले, चाहे अभिमान का। हिंसा में से विवशता भी फूट सकती है और शोषण तथा दमन भी। इस तरह बड़ों के द्वारा अज्ञानतावश गलत बीज डाले जाते हैं और आशा रखी जाती है मीठे फल की। क्या यह सम्भव है ?

काश, श्रम और उद्योग के पीछे छिपी दृष्टि को समझने की कोशिश होती!

सीनियर बेसिक-स्कूलों में दो शिल्प क्यों ?-२

वंशीधर श्रीवास्तव

'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' ने सन् १९५२ ईस्वी में बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा के लिए आठ सालों का सम्पूर्ण शिक्षा-क्रम प्रस्तुत किया। उसमें स्पष्ट लिख दिया कि हर स्कूल में पाँचवें दर्जे तक बागवानी और खेती का काम लाजिमी है। इसके बाद उसकी (स्कूल की) बुनियादी दस्तकारी अलग होने पर भी यह अपेक्षा की जाती है कि विद्यार्थी सहायक उद्योग के तौर पर खेती और बागवानी का काम करते रहेंगे। इसी प्रकार स्कूल की बुनियादी दस्तकारी या मूल उद्योग अलहदा होने पर भी हर विद्यार्थी को पाँचवें दर्जे तक कताई के अभ्यास-द्वारा वस्त्र-स्वावलम्बन की शिक्षा देनी चाहिए। इसके बाद अगर विद्यार्थी की बुनियादी दस्तकारी बुनाई न हो, तब भी कताई में उसको कुशलता का ज्ञान कायम रहे और बुनाई मिलाई की कामचलाऊ कुशलता प्राप्त हो जाय। स्कूल में वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए प्रतिदिन आध घण्टा समय मिलना चाहिए।[1]

जाकिर हुसैन-समिति ने तो शिक्षकों के पाठ्यक्रम में भी दो दस्तकारियाँ रखी हैं। समिति लिखती है कि "शिक्षकों के पाठ्यक्रम में नीचे लिखे विषय रहने चाहिएँ—

(क) रुई की धुनाई और तकली पर कताई—कोई भी बुनियादी दस्तकारी क्यों न चुनी जाय, वह हर एक शिक्षक के लिए लाजिमी होगी।

(ख) ऊपर जिन बुनियादी दस्तकारियों का जिक्र किया है उनमें से किसी एक दस्तकारी की इतनी तालीम हो कि शिक्षक उसे बुनियादी स्कूलों में तीन साल के लिए सिखा सकें।[2]

अस्तु, शिल्प के सम्बन्ध में बेसिक स्कूलों में एक से अधिक शिल्प अथवा दस्तकारी रखने के इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया और प्रायः सभी प्रदेशों ने, जहाँ बेसिक शिक्षा चली, एक मुख्य शिल्प (बुनियादी दस्तकारी) और दूसरा कोई भी गौण शिल्प खेती बाग-वानी, कताई अथवा कागज का काम अथवा कोई भी दूसरा हाथ का काम रखा गया। बिहार प्रदेश ने भी, जब वह 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' की बुनियादी शिक्षा को नमूना मान कर चला, दो शिल्प रखे, और १९५७-५८ में जब उसने प्रदेश के बुनियादी और गैर बुनियादी सभी प्रारम्भिक विद्यालयों के लिए एक ही समन्वित पाठ्यक्रम चलाने का निश्चय किया तब भी एक से अधिक शिल्प रखे। बिहार के प्रारम्भिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में लिखा है कि "पहले की पाँच कक्षाओं में (बिहार प्रदेश में प्रारम्भिक शिक्षा की अवधि सात वर्ष की है।) कताई की विभिन्न क्रियाओं और बागवानी का अभ्यास होगा और जहाँ भी सुविधा होगी, नीचे लिखे में से एक या एक से अधिक शिल्पों का अभ्यास होगा—

१—गत्ते का काम।

२—मिट्टी का काम, खिलौने बनाना, बरतन बनाना।

३—रस्सी बटना, टोकरी बनाना और चटाई बुनना।

४—छोटे-छोटे करघों पर निवाड़-फीता आदि बुनना। (कक्षा ४ और ५ के विद्यार्थियों के लिए)।

---

१. आठ सालों का सम्पूर्ण शिक्षा-क्रम, प्रकाशक—हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, १९५३ पृष्ठ ३९-४०।

२. बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा जाकिर हुसैन समिति का विवरण और विस्तृत पाठ्यक्रम १९३९ पृष्ठ ४६।

कक्षा ६ और ७ में मुख्य और गौण शिल्प

कक्षा ६ और ७ में (७ अन्तिम वर्ग है) विद्यार्थियों को नीचे लिखे हुए ६ शिल्पों में से अपनी रुचि, स्थानीय परिस्थिति और सहूलियत के अनुसार कोई एक शिल्प लेना होगा।

१—कताई-बुनाई।
२—बागवानी और प्रारम्भिक खेती।
३—लकड़ी का काम और बाँस का काम।
४—धातु शिल्प।
५—गृहशिल्प।
६—मिट्टी का काम, खिलौने बनाना, बरतन बनाना।

प्रत्येक विद्यार्थी को एक गौण शिल्प लेना होगा। जिन्होंने कताई बुनाई को मुख्य शिल्प चुना है वे बागवानी को गौण शिल्प के रूप में लेंगे और शेष सभी कताई को।[1]

इसका अर्थ यह है कि बिहार में भी जूनियर बेसिक स्तर पर दो से अधिक और सीनियर बेसिक स्तर पर दो शिल्प पढ़ाने की योजना है।

सन् १९३९ ई० के बाद उत्तरप्रदेश में जब बेसिक शिक्षा आरम्भ हुई तो सन् १९४०-४१ में बालकक्षा और कक्षा १ के करीक्युलम में बेसिक हस्तकला (शिल्प) के अन्तर्गत (१) बागवानी, (२) कताई और (३) कला और हस्तकार्य पढ़ाने की व्यवस्था की गयी। ये विषय सबके लिए अनिवार्य थे। सन् १९४२-४३ ई० में बाल-कक्षा से कक्षा ४ तक के लिए (प्राइमरी स्तर उस समय कक्षा ४ तक ही था।) बेसिक स्कूलों का पाठ्यक्रम तैयार किया गया। उसमें भी बुनियादी शिल्प के अन्तर्गत (१) बागवानी (२ कताई और (३) कला तथा हस्तकार्य विषय रख गये।[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि बेसिक शिक्षा के प्रारम्भ होने के साथ उत्तरप्रदेश के बेसिक स्कूलों में एक से अधिक दस्तकारी अथवा हस्तकार्य पढ़ाने की योजना बनायी गयी और प्रारम्भिक शिक्षा को एक इकाई के रूप में सयोजित किया गया। यदि इस पाठ्यक्रम का स्वाभाविक विकास हुआ होता तो सीनियर स्तर पर (कक्षा ६-७ और ८ में) भी सभी शिल्प अपने विकसित रूप में रहते, जैसा दूसरे प्रदेशों में हुआ, परन्तु उत्तरप्रदेश में ऐसा नहीं हुआ। उत्तरप्रदेश में बेसिक शिक्षा सन् १९५४ ई० तक कक्षा ५ तक ही सीमित रही। यद्यपि ६ वर्ष पहले ही १९४८ ई० में डाइरेक्टर शिक्षा विभाग सयुक्त प्रान्त (आज का उत्तरप्रदेश) प्रदेश के आदेश नम्बर सेकेण्डरी ४८, इलाहाबाद, ११ मई १९४८ ई० के अनुसार बालक और बालिकाओं के समस्त प्राइमरी स्कूलों को बेसिक शिक्षा में परिवर्तित घोषित कर दिया गया था।[3]

शायद इसीलिए जुलाई १९५४ ई० से प्रचलित कक्षा १ से कक्षा ५ तक के पाठ्यक्रम को हमने उत्तर-प्रदेश के 'बेसिक स्कूलों का पाठ्यक्रम' की सज्ञा दी थी और उसे जूनियर बेसिक स्कूलों का पाठ्यक्रम नहीं कहा था। दूसरे शब्दों में हमने बेसिक शिक्षा को कक्षा ५ में ही समाप्त मान लिया था।

अब हम यदि उत्तरप्रदेश के प्राइमरी स्कूलों में बेसिक शिक्षा लागू हो जाने के तत्काल बाद वर्ना-क्यूलर (हिन्दुस्तानी) मिडिल स्कूलों के पाठ्क्रमों का अध्ययन करें तो देखेंगे कि ये पाठ्यक्रम बेसिक स्कूलों में प्रचलित पाठ्यक्रम के स्वाभाविक विकास नहीं है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है उनका विकास एक अलग इकाई के रूप में ही हुआ है और हम इस विकास को नीचे की बेसिक शिक्षा और ऊपर की माध्यमिक शिक्षा (हाई-

---

१ बिहार गजट, एक्स्ट्राडिनरी, पटना, बुद्धवार १४ मई १९५८ पृष्ठ ३१-३२।

२ देखिए सयुक्त प्रांत के बेसिक स्कूलों की बालकक्षा और कक्षा १ का करीक्युलम सन् १९४०-४१, हिन्दी में—पृष्ठ १ एवं १९४२-४३ ई० का करीक्युलम—अंग्रेजी में पृष्ठ १।

३. देखिए सयुक्त प्रान्त के जूनियर हाई स्कूल परीक्षा का पाठ्यक्रम जुलाई १९४८ ई० से प्रचलित (हिन्दी में) परिशिष्ट का—पृष्ठ २३-२४।

स्कूल शिक्षा) के बीच एक 'लचर' समझौता-सा पाते हैं। (१९४८ ई० के पहले हम कक्षा ६ ७ ८ (पहले से कक्षा ५ ६ ७) को वर्नाक्यूलर मिडिल (हिन्दुस्तानी मिडिल) स्कूल कहते थे। १९४८ ई० से हम उन्हें जूनियर हाईस्कूल कहने लगे। यह इस बात की स्वीकृति है कि हमने इस स्तर की शिक्षा को हाईस्कूल की शिक्षा की पूर्व तैयारी मान लिया है और हाईस्कूल शिक्षा के पहले का स्तर स्वभावत जूनियर हाईस्कूल कहलाया है। हमने विषयों का संयोजन भी इसी दृष्टिकोण से किया है। १९४४ और १९४५ ई० के वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों के पाठयक्रमों के अध्ययन से इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड जाता है—

जुलाई १९४४ ई० से प्रचलित पाठ्यक्रम

१ भाषा

अ पहली भाषा उर्दू या हिन्दी

ब–दूसरी भाषा हिन्दी या उर्दू

२ गणित—अंकगणित बीजगणित और रेखागणित

३ सामाजिक विषय

अ–इतिहास और नागरिक शास्त्र

ब–भूगोल

४ आर्ट और क्राफ्ट

५ वैकल्पिक विषय

निम्नलिखित म से कोई एक—

१ सामान्य विज्ञान

२ कृषि अथवा रूरल नॉलेज

३ काष्ठ शिल्प

४ अंग्रजी

५ संगीत

६ संस्कृत अथवा फारसी अथवा अरबी

७ अतिरिक्त उर्दू या हिन्दी

८ कामर्स और व्यापार प्रणाली

९ गृह शिल्प

१० कताई बुनाई

६ शारीरिक शिक्षा

जुलाई १९४५ ई० से प्रचलित पाठ्यक्रम

१ भाषा—हिन्दी या उर्दू

२ प्रारम्भिक गणित

३ सामाजिक विषय—

अ–इतिहास और नागरिक शास्त्र ब–भूगोल

४ शारीरिक शिक्षा

५ वैकल्पिक विषय

निम्नलिखित म से कोई एक—

१ सामान्य विज्ञान

२ कृषि अथवा रूरल नॉलेज

३ काष्ठ शिल्प।

४ अंग्रजी

५ गणित

६ संस्कृत या फारसी या अरबी

७ कामर्स और व्यापार प्रणाली

८ गृह शिल्प

९ कताई-बुनाई

१० आर्ट और क्राफ्ट

११ वर्नाक्यूलर सेकेण्ड फार्म हिन्दी या उर्दू

१२ गणित

१३ शरीर विज्ञान स्वास्थ्य विज्ञान प्रारम्भिक चिकित्सा और गृह शुश्रूषा।

इन पाठ्यक्रमों के विश्लेषण से निम्नलिखित तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—

१ सन् १९४४ ई० के पाठ्यक्रम में आर्ट और क्राफ्ट अनिवार्य विषय है। सन् १९४५ ई० म वे वैकल्पिक हो गये हैं।

२ सामान्य विज्ञान भी वैकल्पिक विषय है।

३. वैकल्पिक विषयों की सूची १९४५ ई० में और भी लम्बी हो गयी है और इन विषयों में वे विषय भी सम्मिलित कर लिये गये हैं, जो हाईस्कूल के साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक, कलात्मक अथवा कामर्स वर्गों में हैं।

इन तथ्यों के विश्लेषण से दो-तीन बातें साफ हो जाती हैं। एक तो यह कि आर्ट और क्राफ्ट को वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों में अनिवार्य विषय रखकर इस बात का प्रयास किया जा रहा है कि बेसिक स्कूलों से निकलनेवाले लड़के यदि चाहें तो आगे की कक्षाओं में इस विषय का अध्ययन कर सकें। दूसरा यह कि सामान्य विज्ञान और आर्ट तथा क्राफ्ट को वैकल्पिक विषय बना देने का अर्थ यह है कि पाठ्यक्रम बनानेवालों के मन में जूनियर बेसिक स्तर से चले आते हुए विषयों की एकता को अखंडित रखने का कोई आग्रह नहीं है और तीसरा यह कि वैकल्पिक विषयों के अन्तर्गत उन विषयों को रखने का प्रयास किया जा रहा है, जो आचार्य नरेन्द्रदेव-समिति की सस्तुतियों के फलस्वरूप हाईस्कूल में साहित्यिक, रचनात्मक आदि विभिन्न वर्गों में पाठ्य-विषय हैं।

इसीलिए मैंने जूनियर हाईस्कूल के पाठ्यक्रम को एक समझौता कहा है। सन् १९४८ और १९४९ ई० के पाठ्यक्रमों में समझौते का यह क्रम और आगे बढ़ता है। जूनियर बेसिक स्तर पर क्राफ्ट कहे जानेवाले कताई-बुनाई, काष्ठकला, धातुकला, पुस्तककला ग्रामोपयोगी शिक्षा और कृषि के विषयों को बेसिक कला तथा कौशल के नाम से सम्बोधित किया जाता है और उनमें से किसी एक को परीक्षा का अनिवार्य विषय बना दिया जाता है। स्पष्ट यह प्रक्रिया नीचे की बेसिक शिक्षा को ऊपर बढ़ने की प्रक्रिया का परिणाम नहीं है, बल्कि मिडिल अथवा जूनियर स्तर पर कुछ ऐसे विषयों को शामिल कर देने का फल है, जो बेसिक स्कूलों में अध्ययन के विषय हैं और क्राफ्ट इनमें से प्रमुख है। तथ्य यह है कि जूनियर हाईस्कूल को हाईस्कूल के लिए तैयारी मान कर हाईस्कूल के विषयों से जूनियर हाईस्कूल के विषयों का तालमेल बैठाया गया है।

इस समय तक आचार्य नरेन्द्रदेव-समिति की सस्तुतियों के फलस्वरूप माध्यमिक स्तर पर बहुवर्गीय शिक्षा प्रारम्भ हो गयी थी और रचनात्मक वर्ग में कताई-बुनाई, पुस्तककला काष्ठकला, धातुकला आदि शिल्प प्रारम्भ हो गये थे। कृषि का एक वर्ग ही अलग हो गया है। एक कलात्मक वर्ग भी बन गया था, जिसमें चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत आदि विषय थे। गृहशिल्प लड़कियों के लिए (हाईस्कूल में) अनिवार्य विषय बन गया था। इसीलिए जूनियर हाईस्कूल स्तर पर शिल्प, कला, गृह शिल्प और कृषि आदि विषयों को पढ़ाने की योजना प्रस्तुत की गयी। बेसिक शिक्षा की कसम खाने के लिए इनमें से कुछ प्रायोगिक विषयों को बेसिक कला के नाम से सम्बोधित कर दिया गया।

यहाँ तक कि सन् १९५४ ई० में जब उत्तरप्रदेश में शिक्षा की पुनर्व्यवस्था हुई और सन् १९५६ ई० में जब जूनियर हाईस्कूल-स्तर को सीनियर बेसिक-स्तर कह दिया गया तब भी यह पाठ्यक्रम लगभग ज्यों-का त्यों बना रहा। अन्तर केवल इतना हुआ कि कृषि सभी मिडिल स्कूलों (जूनियर हाईस्कूलों) में प्रमुख अनिवार्य विषय हो गयी, और जहाँ कृषि पढ़ाने की सुविधा न हो वहाँ काष्ठकला, धातुकला, चर्मकला, पुस्तककला, कताई, बुनाई, सिलाई और गृहशिल्प आदि प्रायोगिक विषयों (तथाकथित बेसिक कला और कौशल) में किसी एक को पढ़ाने की योजना बनायी गयी। यही योजना आज भी प्रचलित है।

यही कारण है कि सीनियर बेसिक स्तर की संज्ञा से सम्बोधित किये जाने के बावजूद जूनियर हाईस्कूल में एक ही शिल्प की शिक्षा होनी है और इस बात तक का ध्यान नहीं रखा जाता कि सीनियर स्तर पर पढ़ाया जानेवाला यह शिल्प समीप के जूनियर स्तर पर पढ़ाये जानेवाले शिल्प का स्वाभाविक विकास हो। परिणाम यह हुआ है कि एकीकृत बेसिक स्कूलों में भी जूनियर स्तर पर कताई और बागबानी है तो सीनियर स्तर पर काष्ठ-शिल्प अथवा धातु शिल्प अथवा चर्म शिल्प है। ऐसा नहीं होना चाहिए। जब तक जूनियर हाईस्कूल अलग इकाई थे तब तक जो कुछ हुआ उसे गलत कहने

का कोई कारण नहीं है; परन्तु जब १९५६ ई० में पुनर्व्यवस्थित जूनियर हाईस्कूलों को सीनियर बेसिक स्कूल घोषित कर दिया गया तब पूरी प्रारम्भिक बेसिक शिक्षा की एक इकाई होनी चाहिए और जिन शिल्पों की, अथवा जिन विषयों की शिक्षा जूनियर स्तर पर हो रही है उनकी शिक्षा सीनियर स्तर पर भी होनी चाहिए। अगर जूनियर स्तर पर एक से अधिक शिल्प हैं तो सीनियर स्तर पर भी एक से अधिक शिल्प रहें। बेसिक शिक्षा की अखण्डता और एकता के लिए यह आवश्यक है।

बेसिक स्कूलों में दो शिल्प रखने का एक और भी कारण है। शिल्प अथवा किसी भी विषय का पठन पाठन साधन मात्र है, साध्य तो है व्यक्ति और समाज। शिक्षा का लक्ष्य होता है विशेष प्रकार के व्यक्तित्व अथवा समाज का निर्माण। गांधीजी का लक्ष्य था एक ऐसे समाज का निर्माण, जो शोषण-मुक्त हो और एक ऐसे व्यक्ति का निर्माण, जो अहिंसक और स्वावलम्बी हो। ऐसे ही व्यक्ति और समाज के निर्माण के लिए उन्होंने शिल्प-मूलक बेसिक शिक्षा की नींव डाली थी। अहिंसा और अशोषण पर आधारित समाज की रचना तभी सम्भव होगी जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी उत्पादक इकाई बन जाय।

देखा यह गया है कि स्वावलम्बन के लिए मुख्य उद्योग के अतिरिक्त सहकारी उद्योग की भी आवश्यकता होती है। कृषि-प्रधान भारत के गांवों में खेती के अतिरिक्त एक सहकारी उद्योग भी चाहिए। किसान की सुख-सम्पन्नता के लिए आवश्यक है कि वह खेती के अतिरिक्त कोई दूसरा सहकारी शिल्प भी जाने। यही बात दूसरे शिल्पियों के लिए, बढ़ई अथवा जुलाहे के लिए भी जरूरी है। अतः इस दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि आठ वर्ष की बेसिक शिक्षा समाप्त करने के बाद प्रत्येक बालक को दो-तीन उद्योगों का ज्ञान हो, भले ही उसमें एक को वह मुख्य उद्योग और दूसरे को गौण उद्योग के रूप में सीखे। यह इसलिए और भी आवश्यक है कि बुनियादी शिक्षा अपने में एक इकाई है और इस स्तर की शिक्षा समाप्त करने के बाद ५०-६० प्रतिशत बालक जीविकोपार्जन में लग जाते हैं। ●

सौ मन की जगह एक सौ छः मन !

●

राममूर्ति

हमारे देश में जितनी जनसंख्या है उसके लिए कुल जितना अनाज चाहिए उसका अर्थ मोटे तौर पर यही है कि आज जहाँ सौ मन अनाज पैदा हो रहा है वहाँ एक सौ छ मन होने लगे। इतना हो जाय, और इसी हिसाब से बढ़ता रहे, और हर एक को मिलता जाय तो कम-से-कम अनाज के मामले में हमारी मुहताजी खत्म हो जायगी। लेकिन, विज्ञान के जमाने में हम इतना भी तो नहीं कर पा रहे हैं!

प्रश्न—सरकार देहात के कामों में सबसे अधिक ध्यान खेती पर दे रही है। वैज्ञानिक खेती की चर्चा हमलोग कितने दिनों से सुन रहे हैं। नयी खादें और नये-नये औजार बनाकर निकाले जा रहे हैं, और कई लोग गाँव में भी उनका इस्तेमाल कर रहे हैं। सिंचाई के लिए ट्यूबवेल और नहरें पहले जितनी थीं उससे कहीं अधिक अब हो गयी हैं। जमीन के नये कानून बने हैं, खेती के नये विश्वविद्यालय,

कालेज और स्कूल खुलते ही जा रहे हैं, जिनमें हजारों की संख्या में युवक खेती की शिक्षा पा रहे हैं और बडी बडी डिग्रियाँ लेकर निकल रहे हैं। ब्लाक में गाँववालों की मदद के लिए अनेक अफसर रखे गये हैं, और जैसा हमलोग अखबार में पढते हैं सरकार विदेशों से, मुख्य रूप से अमेरिका से, विशेषज्ञ और सलाहकार भी बुलाती रहती है। सुनते हैं सामुदायिक विकास का देशभर में फैला हुआ काम बहुत कुछ अमेरिका के नमूने पर चल रहा है। यह सब कुछ हो रहा है, लेकिन सौ की जगह एक सौ छ की समस्या बनी ही हुई है। समझ में नहीं आता, ऐसा क्यों है ?

उत्तर–कारण बताना सहल भी है और कठिन भी। यह ठीक है कि आपने जो कुछ कहा वह सब हो रहा है, और आगे भी होगा। अमेरिका से हम हथियार, पैसा, अनाज और बुद्धि सब कुछ ले रहे हैं, और शायद आगे अभी कुछ दिन और लेंगे, लेकिन स्वराज्य के बाद के इतने वर्षों में हमने देख लिया कि हमारी गाडी आगे नहीं बढ रही है। सोचिए, गाँव में खेती करना किसके जिम्मे है ? मुसहर, चमार, पासी आदि ही तो खेत में उतरते हैं, हल जोतते हैं, फावडा चलाते हैं, बोते हैं, सींचते हैं, काटते हैं, अनाज तैयार करते हैं और घर में रखते हैं। जो खेत का मालिक है वह खेती कराता है, करता नही, जो करता है वह मजदूर है, मालिक नही। क्या आप सोचते हैं कि इन्हीं मुसहरों और चमारों के भरोसे वैज्ञानिक खेती होगी ?

प्रश्न–क्यों, क्या कठिनाई है ? ऐसा तो हमेशा से होता आया है !

उत्तर–यह ठीक है कि हमेशा से ऐसा होता आया है, लेकिन अब तो दो जबरदस्त कठिनाइयाँ पैदा हो गयी हैं। एक तो यह कि जिस मजदूर से हम खेती करा रहे हैं वह स्वयं अशिक्षित है, अवैज्ञानिक है। नये तरीके अपनाने की परेशानी वह उठाना नही चाहता, और अगर चाहे भी तो उसमें योग्यता नहीं है। इससे भी बडी बात यह है कि खेती अच्छी हो, पैदावार बढे, इसमें उसे रुचि क्या है ? वह क्या चाहे कि उत्पादन बढे ? खेत उसका तो है नहीं, वह खेती में मजदूरी पर काम करता है या बँटाई पर। ऐसी हालत में वह खेत में काम इसीलिए करता है कि उसके पास दूसरा काम नहीं है या अगर दूसरा काम है भी तो उसके लिए उसके पास हुनर नही है। और, वह यह देखता नही कि अगर उसकी मेहनत से उत्पादन बढेगा तो उस हिसाब से उसकी आमदनी भी बढेगी। इस तरह हालत यह है कि खेती में दिल मालिक का है, और हाथ मजदूर का है, और बुद्धि किसी की भी नहीं है। और, जब यह हालत है तो क्या करेंगे नारे, नये यंत्र, खादें और योजनाएँ ?

प्रश्न–बडे पते की बात कही आपने ! गाँव का कोई भला आदमी, पढा लिखा आदमी खेत में नहीं उतरना चाहता, लेकिन मैं देखता हूँ कि इस महँगी में खेती की ओर ध्यान कुछ गया है। आपका क्या ख्याल है ?

उत्तर–हाँ, जरूर कुछ ध्यान गया है, लेकिन पढ़े-लिखे लोग काम में लगें और उत्पादन बढ़ायें, ऐसा नहीं हो रहा है। ज्यादा ध्यान मुनाफाखोरी की ओर है। मुनाफाखोरी दो तरह की है—एक तो यह कि मजदूर को कम से-कम दिया जाय, उसका तरह-तरह से शोषण करके बचत की जाय और दूसरे यह कि अपने माल को, खुले या ब्लैक, महँगे-से-महँगे बाजार में बेचा जाय, मिलावट की जाय, कम तौला जाय। आप मानेंगे कि यह रास्ता उत्पादन बढाने का नहीं है। किसी तरह कमाई बढा लेना एक बात है, और बुद्धि, पूंजी और श्रम लगाकर उत्पादन बढाना बिलकुल दूसरी बात है।

प्रश्न–मैं तो गाँव में यह देखता हूँ कि खेती को खेती मानकर बहुत कम लोग खेती करते हैं। ज्यादातर लोग खेती इसलिए करते हैं कि उनके पास दूसरा धन्धा नहीं है। जिनके पास ज्यादा जमीन है वे जमीन पर कब्जा बनाये रखने के लिए जोताई-बोआई कराते रहते हैं। सच पूछिए तो गाँव में भी हर एक की निगाह शहर की ओर लगी हुई है। खेती की चिन्ता किसको है ?

उत्तर–आप ठीक कह रहे हैं। और, जिसको चिन्ता है उसकी खेती अच्छी है। कोइरी को देखिए। वह दिल से भूमि की सेवा करता है और भूमि भी उसको उसी तरह प्रसाद देती है। कोइरी की खेती का मुकाबला दूसरों की खेती से कर लीजिए। लेकिन, सब मिलाकर आप का यह कहना सही है कि लोगों की निगाहें शहर की ओर, नौकरी की ओर, व्यापार की ओर लगी हुई हैं। जिस लडके ने पढ लिया वह शहर में नौकरी चाहता है जिसके पास थोडी पूँजी हो गयी वह शहर में मकान बनाना चाहता है या किसी धन्धे में लगाकर कमाई करना चाहता है, और मजदूर भी शहर में रिक्शा खींचना अच्छा समझता है, खेत में काम नहीं करना चाहता। गाँव में न लक्ष्मी रहना चाहती है, न सरस्वती, और न श्रमशक्ति।

प्रश्न–ऐसा क्यों है? शहर में क्या सुख है कि लोग वहाँ रहना चाहते हैं?

उत्तर–गाँव में अधिकांश लोग ऐसे हैं, जिनके पास थोडी जमीन है, और खेती के अलावा दूसरा कोई धन्धा नहीं है। ऐसे लोग देखते हैं कि मेहनत से पेट नहीं भरता, और जो मेहनत की जिन्दगी बिताता है समाज में उसको इज्जत भी नहीं मिलती। पेट न भरे, इज्जत न मिले और आज की जिन्दगी की चमक दमक भी न हो तो कोई गाँव में क्यों रहे? सब कुछ बरदाश्त करने पर भी ठिकाना नहीं रहता कि फसल होगी ही। आदमी देखता है कि महँगी चाहे जितनी हो, फसल चाहे जैसी हो, नौकरीवाला, व्यापारवाला, शहरवाला गाँव के सैकडे पीछे अस्सी लोगों से फिर भी अच्छा रहता है, बिलकुल बेठिकाना नहीं होता। गाँव में भी मजे में वे ही लोग हैं जिनके पास जमीन अधिक है, अनाज और पैसा सूद पर चलता है, कलकत्ता-बम्बई से कमाई आती है और नौकरी है, केवल खेती में गरीबी के सिवाय और क्या है? केवल खेती तो 'करो और मरो' का सौदा है।

प्रश्न–ठीक बात है। तभी तो देखिए शासक, शिक्षक, वकील, डाक्टर, साधु, सुधारक, पुरोहित, मालिक, विद्यार्थी सब मेहनत से–शरीर की मेहनत से–अलग रहते हैं, और जो मेहनत से अलग रहते हैं वे ही समाज के अगुआ समझे जाते हैं। लेकिन, अनाज की जरूरत तो सबको रहती है, पर पूरी कैसे हो?

उत्तर–यह सवाल बुनियादी है। उत्पादन बढे और सबको मिले, यह जरूरी है। लेकिन, देश में जिनके पास बुद्धि है वे कोई भी उत्पादन का काम करके हाथ नहीं मैला करना चाहते, हाथ में मिट्टी लगाने का काम गाँव-वालों के जिम्मे छोड दिया गया है।

प्रश्न–और गाँव में भी लोगों की बुद्धि जितनी दूसरों को गिराने में लगती है उतनी अपने काम को अच्छा बनाने में कहाँ लगती है?

उत्तर–हाँ, हर आदमी अपने पडोसी को 'दुश्मन' समझता है। घर में छोटा भाई पैदा होता है तो बडा भाई समझता है—मेरा पट्टीदार पैदा हो गया। छीना झपटी नोच-खसोट बस जिन्दगी का यही रंग ढंग हो गया है। बिलकुल जंगल की जिन्दगी हो गयी है। 'कब किसका क्या पायें हड़प लें'—जहाँ दिमाग इसी धुन में मस्त है वहाँ सही काम कैसे होगा? दमन और शोषण यही गाँव के जीवन का ताना बाना है। सच पूछिए तो गाँव है कहाँ? जिसे हम गाँव कहते हैं वह कुछ घरों का समूह है और कुछ नहीं।

●

निवेदन

● पत्रिका के सम्बन्ध में पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अनिवार्य रूप से करें।
● चन्दा भेजते समय अपना नाम तथा पूरा पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम, सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१

●

प्रशिक्षण-विद्यालयों का दोषपूर्ण पाठ्यक्रम

•

जे० डी० वैश्य

यह निर्विवाद सत्य है कि शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए शिक्षकों के प्रशिक्षण पर पर्याप्त बल देने की आवश्यकता है। शिक्षकों के प्रशिक्षण पर प्रत्येक राज्य-सरकार काफी धन व्यय कर रही है। इस समय राज्य (राजस्थान) में दो प्रकार की प्रशिक्षण संस्थाएँ चल रही है। एक तो प्रशिक्षण महाविद्यालय, जिनमें बी० एड०, एम० एड० के छात्राध्यापक लिये जाते हैं और दूसरे एस० टी० सी० स्कूल हैं, जिनमें न्यूनतम हाईस्कूल पास अध्यापक लिये जाते हैं।

सन् १९४७ के बाद स्कूलों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ी है। विकास का यह कार्यक्रम इतनी तेजी से चला है कि प्रशिक्षण संस्थाएँ साथ-साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकीं। यही वजह है कि आज भी उनका पाठ्यक्रम और उनकी प्रणाली ६० वर्ष पुरानी है।

वर्तमान दशा

आज के प्रशिक्षण-प्राप्त शिक्षक को कक्षा में पढ़ाते देखकर अधिकतर निराशा ही होती है। यदि हम ३० वर्ष पहले के प्रशिक्षण-प्राप्त अध्यापक का चित्र अपने मस्तिष्क में रखकर वर्तमान अध्यापक को कक्षा में जाते हैं तो निराशा और भी बढ़ जाती है। इसका कोई-न-कोई कारण अवश्य है। हमको पहली और वर्तमान परिस्थिति की तुलना करनी होगी और सोचना होगा कि ऐसा क्यों है।

तो क्या प्रशिक्षक स्कूलों में कुछ नहीं पढ़ाते है?

यह कटु सत्य है कि छात्राध्यापक सुबह से शाम तक परिश्रम में जुटा रहता है। उसके अध्यापक स्वयं बहुत मेहनत करते हैं। इतना होते हुए भी हमारे एस० टी० सी० विद्यालयों से सफल अध्यापक नहीं निकल रहे है।

प्रशिक्षण किसके लिए?

आज छात्राध्यापक को एस० टी० सी० प्रशिक्षण-विद्यालय में हम जो कुछ सिखलाते हैं उससे वह न तो स्कूल की पूरी जानकारी कर पाता है, न बालकों की। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान प्रशिक्षण-विद्यालयों से निकला हुआ छात्राध्यापक न तो बालकों के दृष्टिकोण से उपयोगी बन पाता है और न स्कूल के।

पाठ्यक्रम का खोखलापन

आजकल जो पाठ्यक्रम एस० टी० सी० प्रशिक्षण-विद्यालयों में चालू है वह एक भानुमती का विचित्र पिटारा बना हुआ है। इस बात को सब जानते हैं कि एस० टी० सी० प्रशिक्षण विद्यालय से निकलकर छात्राध्यापक प्राथमिक शालाओं में अध्यापन का कार्य करेंगे। इसलिए एस० टी० सी० प्रशिक्षण विद्यालय में उनको इन स्कूलों में कार्य करने की दक्षता हासिल करने में सहायता दी जाय।

हम अपने शिक्षकों को खेती के पाठ सिखाते है, उनसे प्रायोगिक कार्य कराते हैं। क्या यह विषय उन

छात्राध्यापकों को प्राथमिक शाला में पढ़ाना पड़ता है ? नहीं। फिर छात्राध्यापक किस संस्था में और किस कक्षा को पढ़ाने के लिए तैयार किया जा रहा है ? प्राथमिक शालाओं में शायद गिनी चुनी ही शालाएँ होंगी, जिनमें खेती के लिए स्कूल के पास जमीन होगी खेती के साधन होंगे तथा अन्य सुविधाएँ होंगी।

इसी प्रकार हमारा छात्राध्यापक दरी बनाना सीखता है। क्या प्राथमिक शालाओं में इसके साधन होते हैं ? नहीं। कोई विरला ही ऐसा स्कूल होगा जिसमें ये साधन होंगे। प्रशिक्षण विद्यालय में हम छात्राध्यापकों को उन चीजों के बारे में बताते हैं जिनको अध्यापक स्कूल में जाकर शायद ही कभी पढ़ाता हो।

खेती और दस्तकारी की यह दुर्दशा क्यों ?

इसका कारण एक-मात्र यही है कि हम बेसिक शिक्षा के प्रकाश से इतने चकाचौंध में पड़ गये हैं कि वास्तविकता को पहचान नहीं पाते। इस खेती और दस्तकारी की शिक्षा से शायद हम अपने छात्राध्यापकों को उन प्राथमिक शालाओं के लिए ही तैयार कर रहे हैं, जो अभी कहीं भी नहीं हैं। जिनके साथ बड़े बड़े खेत होंगे, हल होंगे, बैल होंगे, भिन्न भिन्न प्रकार की फसल स्कूल के छात्र उगायेंगे, बड़े-छोटे करघे होंगे जिनपर प्राथमिक शाला के विद्यार्थी दरी बुनेंगे कपड़ा बुनेंगे सुतारी व लोहे के काम की स्कूल में सुविधा होगी जिसमें हल करघे रहँट बन सकेंगे, उनकी मरम्मत हो सकेगी।

इन सपनों के कारण हम अपनी वर्तमान शालाओं की वास्तविक आवश्यकताओं को देखकर शिक्षक प्रशिक्षण की ओर ध्यान नहीं दे पा रहे हैं।

पाठ-अभ्यास

छात्राध्यापक जिस प्रकार की परिस्थिति में पाठ पढ़ाने का अभ्यास करते हैं वे परिस्थितियाँ वास्तविकता से बहुत दूर होती हैं। इन छात्राध्यापकों को अधिकतर प्राथमिक शालाओं में जाना होगा। इन प्राथमिक शालाओं में इन्हें एक से अधिक कक्षाएँ एक साथ पढ़ानी पड़ेंगी। हम प्रशिक्षण विद्यालय में इस ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते और जितने भी पाठ अभ्यास होते हैं वे सब इस धारणा पर अवलम्बित होते हैं कि शिक्षक एक ही कक्षा एक बार पढ़ायेगा और छात्रों को बैठने की बहुत अच्छी सुविधा प्राप्त होगी। इसका फल यह होता है कि *छात्राध्यापक प्रशिक्षण समाप्त कर जब स्कूल में जाता है तो स्कूल की सारी बातें उसे अटपटी मालूम* होती हैं। इस प्रकार प्रशिक्षण विद्यालय वर्तमान प्राथमिक शाला के लिए उपयुक्त अध्यापक तैयार नहीं कर रहे हैं।

शाला प्रबन्ध

छात्राध्यापक शाला प्रबन्ध के नाम से प्रशिक्षण विद्यालय में बहुत कुछ पढ़ता है और सुविधाएँ प्राप्त *करता है लेकिन वे सुविधाएँ हमारी* वर्तमान प्राथमिक शालाओं में उपलब्ध नहीं होतीं। प्रशिक्षण विद्यालय में ऐसी शाला के प्रबन्ध का चित्र उसके सामने खींचा जाता है जिसमें सुन्दर कमरे होते हैं और प्रत्येक कक्षा *के छात्र अलग अलग कमरों में बैठते हैं*। उसको इस बात की न तो शिक्षा दी जाती है और न अभ्यास कराया जाता है कि यदि एक बरामदे में दो कक्षाएँ बैठानी हो तो उन्हें कैसे बैठाया जाय तथा उनका 'समय विभाग' कैसे बनाया जाय।

राजस्थान के प्रशिक्षण विद्यालय में जो व्यक्ति प्रशिक्षण पाते हैं उनमें से अधिकांश को राज्य के स्कूलों में स्थान मिलेगा अथवा पंचायत समितियों के स्कूलों में। पंचायत समितियों के स्कूलों में भी प्रायः प्रशासन के नियम वही हैं जो राज्य के स्कूलों में होते हैं। *शाला प्रबन्ध के* अन्तर्गत हम न तो सरकारी पत्र लिखना बतलाते हैं *न अन्य स्कूलों के* कार्यालयों की बातें। रजिस्टर कैसे भरने चाहिएँ इसका उसे कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाता। स्कूल पुस्तकालय में पुस्तकें आती हैं उनको रजिस्टर में कैसे दर्ज करना चाहिए पुस्तकालय की पुस्तकों पर कहाँ मोहर लगनी चाहिए कहाँ नम्बर डालने चाहिएँ, विभागीय पत्र किस तरह लिखना चाहिए इन सब बातों की जानकारी शायद ही कोई प्रशिक्षण विद्यालय कराता हो। फलतः छात्राध्यापक जिस समय स्कूल में पहुँचता है व्यावहारिक जानकारी में कोरा ही होता है।

एक और कमी

पाठ्यक्रम में एक और भी कमी मालूम होती है। यह कमी उस समय अध्यापक के सामने आती है जब वह केवल एक पाठ ही नहीं, बल्कि सारी पुस्तक को अपने सामने देखता है। उसकी समझ में नहीं आता कि वह सारी पुस्तक छात्रों को पढ़ाकर परीक्षा के लिए कैसे तैयार करे। इसका एक-मात्र उपाय यह है कि प्रशिक्षण विद्यालय में ऐसी पाठन-विधि धीरे-धीरे बतलायी जाय, जिसको प्रयोग में लाने पर पाठ्यपुस्तक भली प्रकार समय से पढ़ायी जा सके और उस पाठन-विधि के द्वारा बच्चों को परीक्षा के लिए भली प्रकार तैयार किया जा सके।

आजकल जिस पाठन-विधि पर हम जोर देते हैं उसके द्वारा न तो सारी पाठ्यपुस्तक ही पढ़ायी जा सकती है, न छात्र को परीक्षा के लिए पूरा तैयार किया जा सकता है। परिणाम यह होता है कि छात्राध्यापक अध्यापक बनते ही यह समझने लगता है कि विभिन्न पाठ्यविधियाँ केवल प्रदर्शन-मात्र के लिए हैं, स्कूल में उनसे काम नहीं लिया जा सकता।

छात्राध्यापक और बच्चों से सम्पर्क

वह समय गुजर चुका है, जब अध्यापक केवल कक्षा-पाठ को ही शिक्षा समझता था। आजकल छात्राध्यापक-सम्पर्क को, छात्रों की विभिन्न अतिरिक्त प्रवृत्तियों को और अध्यापक द्वारा छात्र की विभिन्न आदतों को, अच्छाइयों को, बुराइयों को, कठिनाइयों को, परीक्षण को हम शिक्षा के क्षेत्र में ही मानते हैं। इस समय भी प्रशिक्षण-विद्यालय केवल कक्षा पाठ का ही अभ्यास कराते हैं, जैसाकि प्रशिक्षण-विद्यालयों में ५० वर्ष पूर्व होता था। प्रशिक्षण-विद्यालय में इस नयी धारा, इस विकास युक्त चेतना का कहीं भी स्थान नहीं। यही कारण है कि हमारे अधिकांश वर्तमान प्रशिक्षित अध्यापक स्कूल की विभिन्न प्रवृत्तियों में सफल नहीं होते।

आवश्यकता

सारांश में यह कहा जा सकता है कि प्रशिक्षण विद्यालय का यह प्रयत्न होना चाहिए कि वह छात्राध्यापकों को उन सभी चीजों का अभ्यास कराये, जैसा कि उसको बाद में स्कूलों में करना पड़ेगा। यह सब अभ्यास हमारे स्कूल के वास्तविक वातावरण में ही होना चाहिए। सारा पाठ्यक्रम इस दृष्टिकोण के अनुरूप संशोधित करना आवश्यक है। बिना इसके हम अपने प्रशिक्षण-विद्यालय में छात्राध्यापक को एक काल्पनिक स्कूल के लिए और एक काल्पनिक बालक-समुदाय के लिए तैयार करते रहेंगे।

एक और बीमारी

पिछले कुछ वर्षों से प्रशिक्षण-संस्थाओं में शैक्षिक यात्रा (एज्यूकेशनल टूर) और 'हाईक' की ओर आवश्यकता से अधिक बल दिया जा रहा है। क्या इससे छात्राध्यापकों को कोई विशेष लाभ पहुँचता है? जितना समय और पैसा लगाया जाता है, क्या उनको उसके अनुपात में लाभ पहुँचता है?

यह ठीक है कि इस प्रकार की सैर एक अपना महत्व रखती है, लेकिन एक छात्राध्यापक के लिए, जिसको एक सफल अध्यापक बनने की शिक्षा दी जा रही है, कुछ और ही अनुभव चाहिए। प्रशिक्षण-विद्यालय में हाईक और एज्यूकेशनल टूर के अन्तर्गत गाँव की सैर की जाय, ऐसी शालाओं का निरीक्षण किया जाय, जिनमें कुछ विशेषताएँ हों, अपने डिवीजन या अपने प्रान्त की ओर अधिक ध्यान दिया जाय। जब तक एज्यूकेशनल टूर व हाईक के प्रति हमारा दृष्टिकोण नहीं बदलता है तब तक वह केवल सस्ते दाम में सैर-सपाटे और मनोरंजन का कार्यक्रम रह जाता है। उसके द्वारा छात्राध्यापकों को वे अनुभव प्राप्त नहीं होते, जिनके द्वारा उनको सफल अध्यापक बनने में सहायता मिल सके।

●

एक अभिनव प्रयोग

वस्त्र-स्वावलम्बन की दिशा में

•

काशिनाथ त्रिवेदी

आज देश में अन्न, वस्त्र और आवास का सवाल दिन-पर दिन टेढ़ा और परेशानी पैदा करनेवाला बनता जा रहा है। हालत बद से बदतर हुई जा रही है और उसकी रोकथाम का कोई कारगर उपाय कहीं अमल में आता दिख नहीं रहा है। सरकारो द्वारा जो कोशिशें देश में जगह जगह को जा रही है, उनके कारण भी हालत जितनी सुधरनी चाहिए, सुधरती दिख नहीं रही है। हम अपने एक वस्त्र-स्वावलम्बन-सम्बन्धी ऐसे अनुभव की जानकारी दे रहे है, जिससे पाठकों को सहज ही इस बात की प्रतीति हो सकेगी कि आज देश में, जो मनुष्य-शक्ति हमारे पास पड़ी है, उसके हाथ में थोड़े साधन दे देने से, और एक व्यवस्थित कार्यक्रम खड़ा कर लेने से वस्त्र की समस्या किस प्रकार आसानी से हल हो सकती है।

सूत्रयज्ञ का सकल्प

टवलाई में ग्रामभारती-आश्रम में 'कुमार-मन्दिर' के नाम से हम लोग पिछले ५ वर्षों से एक बुनियादी शाला चला रहे हैं। उसमें इस समय पहली से आठवीं तक ११९ छात्र छात्राएँ पढ़ रही है। इनमें से २२ बच्चे आश्रम के छात्रावास में, शेष टवलाई और आसपास के गाँवो में रहते है।

हमारी कोशिश यह रही है कि छात्रावास में रहनेवाले बालक कम-से-कम अपने वस्त्रों के मामले में स्वावलम्बी हो। इस समय छात्रावास में छोटे बड़े कुल २२ छात्र है, जिनमें ५ बालिकाएँ है। हर साल की तरह इस साल भी हमने आश्रम में गाधी-जयन्ती के निमित्त सामूहिक सूत्रयज्ञ का कार्यक्रम रखा था।

इस साल २ अक्तूबर को गाधीजी का ९६ वाँ जन्मदिन पडनेवाला था, इसलिए इस निमित्त हमने आश्रम-परिवार के सब साथियों के सहयोग से ९६ दिन का सामूहिक सूत्रयज्ञ शुरू किया। रोज दिन में दो घण्टे की सामूहिक कताई २९ जून, '६४ से शुरू हुई, जो २ अक्तूबर, '६४ तक चली। दो घण्टे म एक घण्टा मौन कताई का रहा और दूसरे घण्टे में भजन, धुन, गीत आदि के साथ कताई चली। मौन-कताई के साथ समूह वाचन का कार्यक्रम चलता रहा।

कुमार-मन्दिर की आचार्या कु० सुश्री यमुना बहन केलकर ने सूत्रयज्ञ के समय म आश्रम परिवार को छोटी-बडी कोई १५ पुस्तकें इन ९६ दिनो में पढ़कर सुनायीं। इस समूहवाचन का एक बडा लाभ यह हुआ कि सूत्र-यज्ञ में नियमित रूप से सम्मिलित होनेवाले विद्यार्थियों और कार्यकर्ताओं को अनायास ही गाधीजी के जीवन और तत्त्वदर्शन की अनेक बातो का ज्ञान हुआ और महाभारत-जैसे प्रसिद्ध और महान ग्रन्थ के प्रमुख पात्रो की जानकारी उन्हें गुजरात के एक अग्रगण्य शिक्षा-

शास्त्री स्व० श्री नानाभाई भट्ट की शैली में प्राप्त हो गयी।

विवरण के बोलते आँकड़े

इस बार के सामूहिक सूत्रयज्ञ में ४६ छात्रों और २० कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। कुल संख्या ६६ की रही। इन सब भाई-बहनों ने मिलकर ९६ दिन में कुल २,३९५ गुण्डी सूत काता। इनमें १,६४१ गुण्डियाँ विद्यार्थियों की, ७०४ गुण्डियाँ कार्यकर्ताओं की और उनके परिवार की बहनों की रहीं। २८ सितम्बर से २ अक्तूबर तक ९६ घण्टे का अखण्ड सूत्रयज्ञ भी हुआ, जिसमें कुल १४२ गुण्डियाँ कतीं। इस प्रकार पूरे सूत्रयज्ञ की कुल गुण्डियाँ २,५३७ हुईं। जिससे प्रति वर्गगज ५ गुण्डी के हिसाब से कुल ५०७ वर्गगज खादी तैयार हो सकेगी।

यदि सूत्रयज्ञ में भाग लेनेवाले ६६ व्यक्तियों की दृष्टि से सोचें तो औसतन प्रति व्यक्ति ७॥ वर्गगज से कुछ अधिक ही खादी के लिए सूत कता। यहाँ यह लिखना आवश्यक है कि जिन ६६ व्यक्तियों ने सूत्रयज्ञ में भाग लिया, उनमें से हर एक ने लगातार ९६ दिन पूरे समय नहीं काता। यदि सब-के-सब रोज दो घण्टे लगातार पूरे समय कातते, तो जितना सूत कता, उससे दुगुने से भी अधिक सूत आसानी से कत सकता था। यदि प्रौढ़ कार्यकर्ता और ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थी तथा उनके शिक्षक प्रतिदिन एक गुण्डी के हिसाब से कातने का आग्रह रखते, तो २,००० से अधिक गुण्डियाँ उन्हीं की कत जातीं। इस प्रकार सबके आग्रह का लाभ मिलता, तो तीन-सवा तीन महीनों में ही प्रति व्यक्ति चौदह वर्गगज से भी अधिक खादी का उत्पादन सरलता से हो जाता।

सामूहिक सूत्रयज्ञ का परिणाम

अब हम यह देखें कि जो छात्र छात्रावास में रहे और जिन्होंने बड़ों की तुलना में अधिक नियमितता से और अधिक समय काता, ९६ दिन की कताई में उनकी कुल गुण्डियाँ कितनी कतीं। छात्रावास के कुल २१ छात्रों ने सामूहिक सूत्रयज्ञ में भाग लिया। इनमें पहली से आठवीं तक के विद्यार्थी रहे। ९६ दिनों में इनकी कुल १,०८९ गुण्डियाँ कतीं। मतलब यह हुआ कि २१ छात्रों ने ९६ दिन में २१८ वर्गगज खादी के लायक सूत काता। इस तरह प्रति विद्यार्थी ने १० वर्गगज खादी से अधिक का सूत काता। इस प्रकार जहाँतक छात्रावास के छात्रों के स्वावलम्बन का प्रश्न है, ९६ दिन के सामूहिक सूत्रयज्ञ के कारण ही उन्होंने इतना सूत कात लिया, जिसकी मदद से वे पूरे वर्षभर के लिए वस्त्र-स्वावलम्बी बनने योग्य हो गये।

यदि इसमें छात्रों की शेष आठ महीनों की नियमित कताई के अंकों को और जोड़ दें, तो उनका वस्त्र-स्वावलम्बन पहनने के वस्त्रों से भी आगे सरलता से बढ़ जाता है।

वस्त्र स्वावलम्बन की दृष्टि से हमारा यह अनुभव बहुत ही उत्साह प्रद है। जो काम हमारे कुमार-मन्दिर के छात्रावास में रहनेवाले बालक अपने नित्य के सारे गृह-कार्य और पढ़ाई आदि अन्य कार्यों को नियमित रूप से करते हुए सहज ही कर सके, वह कार्य दूसरी शिक्षा-संस्थाओं में भी थोड़े प्रयत्न और थोड़ी व्यवस्था से सहज ही किया जा सकता है।

कार्यकर्ताओं का स्वावलम्बन

अब हम यह देखें कि कार्यकर्ताओं ने इन ९६ दिनों में कुल कितना सूत काता। कार्यकर्ताओं की कुल संख्या २० रही। कुल ७५४ गुण्डियाँ कतीं। इनमें १ कार्यकर्ता ने पूरे आश्रम में सबसे अधिक यानी ९६ दिनों में १५० गुण्डियाँ कातीं। दूसरे एक कार्यकर्ता की ७९ गुण्डियाँ कतीं। कम-से-कम ८ गुण्डी और अधिक से-अधिक १५० का प्रमाण रहा। विद्यार्थियों में १ विद्यार्थी ने ७८ गुण्डियाँ कातीं। यदि व्यक्तिगत स्वावलम्बन की दृष्टि से सोचें, तो जिन भाई ने ९६ दिन में १५० गुण्डी सूत काता, वे अपने लिए ३० वर्गगज खादी बना सकेंगे, और जिस विद्यार्थी ने ७८ गुण्डी सूत काता, उसकी साढ़े पन्द्रह वर्गगज खादी बन सकेगी। इस तरह क्या व्यक्तिगत और क्या सामूहिक दोनों दृष्टियों से सूत्रयज्ञ का यह कार्यक्रम वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए बहुत ही सहायक सिद्ध हुआ है।

इसी तरह पिछले साल आश्रम परिवार ने ९५ दिनों के सामूहिक और ९५ घण्टों के अखण्ड सूत्रयज्ञ द्वारा कुल २,५५९ गुण्डी सूत काता था। इनमें दो विद्यार्थियों ने क्रमशः १५२ और १३६ गुण्डी सूत कातकर नये कीर्तिमान स्थापित किये थे। इन विद्यार्थियों ने गत वर्ष सहज प्रेरणा से एक-एक दिन में ५-५ गुण्डी सूत भी काता था और अपनी अधिक से-अधिक क्षमता का अन्दाज लिया था।
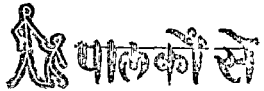
वस्त्र-स्वावलम्बन की विराट सम्भावना

ऊपर के इस विवरण से पाठक देखेंगे कि शिक्षा संस्थाओं में वस्त्र-स्वावलम्बन की कितनी विराट सम्भावना विद्यमान है। यदि देश की समस्त प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा संस्थाएँ राष्ट्रपिता गांधीजी-द्वारा सूचित बुनियादी शिक्षा को प्रामाणिकता से अपना लें और अपने यहाँ शिक्षा के लिए खादी के उद्योग को एक माध्यम के रूप में स्वीकार कर लें, तो वस्त्र की विकट समस्या को हल करना बड़ी दूर तक आसान हो जाय और नयी पीढ़ी के विद्यार्थियों में स्वावलम्बन का एक नया गुण विकसित हो सके। स्वावलम्बन की यह साधना उनमें अन्य अनेक सद्गुणों को भी विकसित कर सकेगी और वे अपने देश तथा समाज के एक जिम्मेदार अंग बनकर स्वाभिमान-पूर्वक जी सकेंगे।

हाल ही में, गत ६ अप्रैल, '६४ से हमारे शासन ने समूचे देश में बुनाई की योजना प्रचलित की है। उसको सफल बनाने में भी देश की प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा संस्थाएँ बड़ी दूर तक मदद कर सकती हैं। यदि शासन और समाज के हमारे कर्णधार इस ओर ध्यान दें और उत्कटता से काम लें, तो कोई कारण नहीं कि शिक्षा संस्थाओं में वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्यक्रम सफल न हो।

ग्रामभारती आश्रम

टवलाई

धार, मध्यप्रदेश

●

पालकों से

बच्चे क्या पढ़ते हैं ? —२

●

श्रीकृष्णदत्त भट्ट

> राही कहीं है, राह कहीं, रहबर कहीं,
> ऐसे भी कामयाब हुआ है सफर कहीं ?

बच्चे क्या पढ़ते हैं, क्यों पढ़ते हैं, कैसे पढ़ते हैं; आज के बाल मानस की भूख कैसी है, उन्हें कैसी किताबें पढ़ने में मजा आता है कैसी किताबों की ओर निगाह जाते ही वे लपकते हैं—यह है पहली बुनियादी बात, जिसका ठीक-ठीक पता लगाना जरूरी ही नहीं, अनिवार्य है, यदि हम यह जानना चाहते हैं कि हमारे बच्चे किधर जा रहे हैं।

पर, हमारे जीवन का ढर्रा कुछ दूसरा ही है। हम शायद सोचते भी नहीं कि इस दिशा में हमारा भी कुछ कर्तव्य है। उनकी रुचि का पता लगाना और अच्छे ढंग से उसकी पूर्ति करना हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है, पर उस कर्तव्य की हम कहाँ तक पूर्ति करते हैं !

हम तो यह मान बैठे हैं कि स्कूल के पाठ्यक्रम में जो पुस्तक रख दी गयी, हमारे बच्चे के अध्यापक या अध्यापिका ने जिस किताब की सिफारिश कर दी, बस, उसे खरीद देना ही बस है। बच्चे उसी को पढ़ें, उसी को गुनें, उसी को रटें। बाहर की सारी किताबें उनके लिए बन्द। लड़का यदि बाहरी किताबें ही पढ़ता रहेगा तो हो चुका!

कितना गलत पैमाना है यह!

× × ×

बच्चे ठीक ढंग से नहीं बढ़ रहे हैं, ठीक दिशा में नहीं चल रहे हैं, वे न अनुशासन मानते हैं, न बड़े-बूढ़ों की कद्र ही करते हैं, रातदिन धमाचौकड़ी मचाते रहते हैं, तूफाने-बदतमीजी बरपा करते रहते हैं, न उनमें कोई अदब-कायदा और शिष्टाचार है, न नम्रता और शालीनता, शरारत और बदतमीजी उनकी नस-नस में भरी है—यह है आज के माता-पिता और अभिभावक की पेटेण्ट शिकायत। चाहे जिधर जाइए, आपको यही रिमार्क सुनने को मिलेगा।

स्कूलों में जाइए, कालेजों में जाइए, विश्वविद्यालयों में जाइए—सब जगह एक ही रोना। डण्डे से, मार से, डराकर, धमकाकर बच्चों को राहे-रास्त पर लाने की कोशिश की जाती है, पर डण्डे से यदि नम्रता और अनुशासन आया करता तो आज की दुनिया कब की बदल गयी होती!

'वैर से वैर कभी नहीं मिटता'—आज से ढाई हजार साल पहले भगवान बुद्ध ने कहा था। 'तलवारवाले तलवार के ही घाट उतरेंगे।'—आज से दो हजार साल पहले भगवान ईसा ने कहा था। पर, कौन सुनता है इन महापुरुषों की बातें! तुलसी बाबा की दुहाई देकर लोग 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' पर ही हाथ नहीं साफ करते, बच्चों की नंगी पीठ पर भी नीली सतरें खींचा करते हैं। भारत में ही नहीं, दूसरे देशों में भी यही हाल है! उसका एक उदाहरण है अंग्रेजों की यह कहावत—

> 'स्पेयर दि राड एण्ड स्पोइल दि चाइल्ड!'
> 'छड़ी जमाने में कोताही की कि बच्चा बिगड़ा।'

× × ×

जमाइए छड़ी और देखिए नतीजा।

बच्चे बचपन से ही विद्रोह करना सीख लेते हैं। आप रोज हैरान रहते हैं कि यह हुआ क्या? कलेजा मसोसकर आप कहने लगते हैं—

होत सपूत कपूत के, होत कपूत सपूत!

भला यह कोई दवा है मर्ज की?

मर्ज कुछ है, दवा कुछ।

बच्चे की रुचि पर लोग ध्यान नहीं देते, उसपर अपनी ही रुचि जबरन लादते हैं। जो उससे कराना चाहते हैं, वह खुद नहीं करते और फिर यह अपेक्षा रखते हैं कि बच्चा उनकी आशा के अनुरूप बने—यह सरासर बेवकूफी नहीं तो क्या है?

और, हम हों या आप—सब एक ही नाव पर सवार हैं।

× × ×

तो आइए, हम जरा सोचें कि मर्ज की जड़ कहाँ है?

वह है बाल-मानस के छोटे-से घरौंदे में।

उस घरौंदे को देखिए, उसे समझिए, उसमें विकसित होनेवाले छोटे से पौधे को सींचिए, उसे बढ़िया खाद दीजिए, अच्छी हवा दीजिए, फिर यदि उस पौधे में खुशबूदार गुलाब न खिलें, तब आप शिकायत कर सकते हैं।

पर, इतनी तकलीफ गवारा करना आप पसन्द करेंगे? बच्चे को यदि आप सुधारना चाहते हैं तो आप को इधर ध्यान देना ही पड़ेगा। बिना दिये गति ही नहीं। याद रखिए—'सन्देशों खेती नहीं होती!'

बच्चों की देखरेख करने की यदि आपको फुरसत नहीं, तो बच्चों के बिगड़ने की जिम्मेदारी दूसरों की नहीं, आपकी है। भाड़े के टट्टुओं से भी कहीं काम चल सकता है? पर आप शायद उन्हीं से काम चला लेना चाहते हैं।

> नतीजा सामने है।
> हाथ कंगन को आरसी क्या?

ब्रिटेन की नयी शिक्षानीति

•

रुद्रभान

पिछले आम चुनाव के मौके पर ब्रिटेन के मजदूर दल न अपन घोषणापत्र को नया ब्रिटन का नाम दिया। नया ब्रिटन किस अथ म नया होगा इसको उस घोषणा पत्र म पर्याप्त झलक मिलती ह।

नया ब्रिटेन म जिस समाज-व्यवस्था की तसवीर दिखायी गयी ह उसम आज के उद्योगो के सर्वाधिकारी मालिको के स्थान पर उद्योगों के सगठन सचालन म विशेषज्ञो योजनाकारा और व्यवस्थापको की प्रमुखता मानी गयी ह। उन उद्योगो म काम करनवाले मजदूर वज्ञानिक ज्ञान और तकनीकी कुशलता म पर्याप्त दक्ष होगे। कुल मिलाकर नया ब्रिटन शिक्षा विज्ञान उद्योगो के सगठन यातायात और आवास व्यवस्था का एक नया चित्र प्रस्तुत करता ह जिसम शिक्षा विज्ञान के साथ मिलकर विकास की मुख्य शक्ति बनती है।

आम तौर पर राजनीतिक पक्ष अपन चुनाव घोषणा पत्र म उन मुद्दो और नीतियों की ही चर्चा करते ह जिन्ह वे सत्ता प्राप्त करते ही लागू करन का निश्चय रखते ह। नया ब्रिटेन म मजदूर दल न ऐसी घोषणा करने के पहले अपन तात्कालिक तथा दीर्घकालिक कार्यक्रम से सम्बद्ध नीतियों का विशद उल्लेख किया है।

जो ब्रिटन आर्थिक वैज्ञानिक और तकनीकी क्षत्र में कभी यूरोपीय देशों का अगुआ था उसका स्थान अब और देशो न ले लिया है। इतना ही नहीं है बल्कि क्रमानुसार वह कई देशों के पीछ पहुँच गया है। मजदूर दल के प्रतिभावान नता श्री हरॉल्ड विल्सन तथा उनके अन्य सहयोगियो की यह निश्चित राय है कि ब्रिटेन की इस राष्ट्रीय अधोगति के अनक कारणों में अपर्याप्त शक्षिक सुविधा एक मूल कारण है। अतएव वे शिक्षा को व्यापक और गतिशील बनान में कोई कोर-कसर नहीं रखना चाहते।

चालू शिक्षा पद्धति म समय की मांग के अनुसार शिक्षण सुविधाओं के विस्तार की गुंजाइश नहीं है। जो परिपाटी पहले से चली आ रही है उसम बौद्धिक क्षमता के आधार पर एक निश्चित सख्या म सबसे तेज छात्रो को चुन लिया जाता ह और केवल उन्ह ही उच्चतर शिक्षा का अवसर मिलता है।

कुछ शिक्षण सस्थाए केवल धनीमानी अभिभावकों के बच्चो के लिए सुरक्षित ह जहां एक निश्चित सख्या तक के छात्रो के लिए खर्चीली शैक्षिक सुविधाएँ उपलब्ध है। सामान्य जनता के अधिकाश बच्चे इस परिपाटी के कारण उच्च शिक्षा अथवा तकनीकी शिक्षा प्राप्त करन से वचित रह जाते ह। रॉबिन्स की शैक्षिक जांच के अनुसार सन् १९६० म विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करनवाले छात्रों म मजदूर वग से आनवाले छात्र केवल २६ प्रतिशत थे। सन् १९२८ का अनुपात भी लगभग यही था। इसका स्पष्ट अथ होता है कि लगभग दो पीढ़ी बीत जान पर भी ब्रिटेन के मजदूर वग के बच्चे शक्षिक सुविधा की दृष्टि से वहीं ह जहां वे पहले थ।

अधिकाश बच्चो को १४ वष की उम्र तक तथा कथित आधुनिक माध्यमिक स्कूलो म जो शिक्षा मिलती है वह उनके भावी जीवन की दृष्टि से निकम्मी होती है। अधिकतर बच्च १० वर्षों तक स्कूल में जाकर डस्क पर अपना समय बिताते हैं और एक दिन छुट्टी होन पर खुशी म होहल्ला मचाते हुए अपनी अन्तिम कक्षा

से बाहर चले आते हैं। देश में शिक्षा-सम्बन्धी जो भी आधुनिक और उपयोगी शैक्षिक साधन मौजूद हैं उनका उन्हें कुछ भी लाभ नही मिल पाता। शिक्षा-सम्बन्धी जाँच करनेवाले सभी लोगों ने अपनी रिपोर्टों में मजदूर वर्ग के उन लाखों प्रतिभावान बालकों का जिक्र किया है, जो उचित शैक्षणिक सुविधा पाने से वंचित रह जाते हैं। इससे कुल मिलाकर देश की भारी क्षति होती है, क्योंकि इस प्रकार की निकम्मी शिक्षा पाये हुए अधिकांश लोगों द्वारा, जो समाज और राष्ट्र बनता है वह तेजी से प्रगति नहीं कर सकता।

'मजदूर दल' के विचारकों की मान्यता है कि ब्रिटेन के आर्थिक, सामाजिक, तकनीकी और वैज्ञानिक क्षेत्र की अधोगति के मूल में शिक्षा सम्बन्धी अवरोध ही काम कर रहा है। इस चतुर्मुखी गत्यवरोध को दूर करने के लिए शिक्षा-पद्धति ऐसी रखनी होगी, जो छात्रों के बौद्धिक और सामाजिक विकास की दृष्टि से उपयुक्त होने के साथ साथ उन्हें राष्ट्र के आर्थिक, औद्योगिक और तकनीकी विकास का वाहक बना सके।

इसी कारण श्री विल्सन की मजदूर सरकार ने अपने तात्कालिक तथा दीर्घकालिक कार्यक्रमों के अन्तगत शिक्षा को एक खास मुद्दा माना है। ब्रिटेन के नागरिकों को विज्ञान और तकनीकी दक्षता में यूरोपीय देशों की अगली कतार में पहुँचाना मजदूर-सरकार की दीर्घकालिक शिक्षा-नीति है। दीर्घकालिक शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत वैज्ञानिक शोध, संयोजन और तकनीकी ज्ञान की सुविधाएँ सर्वसुलभ करके आर्थिक विकास की गति तीव्र करने का प्रयास किया जायगा।

मजदूर-सरकार अपनी तात्कालिक शिक्षा-नीति लागू करने के दौरान, जिन बुनियादी सुधारों को पहले हाथ में लेगी उसके कुछ संकेत पहले से ही प्रकट हो चुके हैं। शिक्षा सम्बन्धी आगामी सभी सुधार एक दूसरे से जुड़े होंगे।

पहली कोशिश यह होगी कि विश्वविद्यालयों और अध्यापक-प्रशिक्षण-महाविद्यालयों का विस्तार हो। इस कोशिश के नतीजे से प्रशिक्षित अध्यापकों की तादाद बढ़ते ही उनके जरिये स्कूल की नयी कक्षाएँ शुरू की जायँगी, ताकि चालू कक्षाओं में पढ़नेवाले बच्चों की संख्या, जो प्राय ५० तक हो जाती है, घटायी जा सके। इसके बाद बच्चों को १६ वर्ष की उम्र तक विद्यालयों में पढ़ने की आम सहूलियत देने की कोशिश की जायगी। इन सुधारों के साथ साथ ब्रिटेन की मजदूर सरकार वहाँ के शैक्षिक-ढाँचे में कुछ जरूरी रद्दोबदल करेगी, जो इस प्रकार होंगे—

१. 'इलेवन प्लस' परीक्षा पद्धति शीघ्र बन्द करके सभी 'ग्रेमर, टेकनिकल' तथा मॉडर्न स्कूलों को समग्र माध्यमिक स्कूलों (काम्प्रीहेंसिव स्कूल्स) में बदलना।

२ सम्पन्न लोगों के बच्चों के लिए चलनेवाले 'पब्लिक स्कूलों' को राजकीय स्कूलों की कड़ी में जोड़ना।

३ तकनीकी शिक्षा देनेवाले क्षेत्रीय महाविद्यालयों को तकनीकी विश्वविद्यालय के स्तर पर पहुँचाना।

४ शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को इस प्रकार पुनर्गठित करना कि उनमें न सिर्फ शिक्षकों का, बल्कि सभी प्रकार की सामुदायिक और सामाजिक सेवाओं में लगनेवाले व्यक्तियों का प्रशिक्षण हो सके।

ब्रिटेन की मजदूर सरकार को अपनी शिक्षा सम्बन्धी योजनाओं को लागू करने के लिए बड़ी संख्या में शिक्षकोंकी आवश्यकता होगी। शिक्षकों का वेतन मान कम होने के कारण प्रायः अच्छे लोग अन्य क्षेत्रों में चले जाते हैं, जहाँ उन्हें अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक सुविधाएँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त अप्रशिक्षित, प्रशिक्षित, तथा विश्वविद्यालय के डिग्रीधारी स्नातकों के वेतन-मान का भारी अन्तर सकुशल व्यक्तियों को शिक्षण कार्य में लगने के बदले, उन्हें दूसरे क्षेत्रों में जाने की अधिक प्रेरणा प्रदान करता है।

मजदूर सरकार शिक्षकों के चयन और प्रशिक्षण, तथा उनके वेतन मान के सम्बन्ध में ऐसे सुधार करेगी, जिससे शिक्षण-कार्य एक आकर्षक और सम्मानित पेशा बन सके।

ये आवारागर्द बच्चे !

•

शिरीष

वैज्ञानिक प्रगति और औद्योगिक विकास इस युग की विशेष उपलब्धियाँ हैं लेकिन दुर्भाग्यवश अभी विज्ञान हमारे जीवन में प्रवेश नहीं कर पाया है और हम औद्योगिक समस्याओं का हल नहीं ढूँढ पाये हैं, जिससे जन जीवन ध्वस्त और उलझाव-पूर्ण बनता जा रहा है, सामाजिकता छिन्न भिन्न होती जा रही है, सगठन टूटते जा रहे हैं और नयी-नयी सामाजिक गुत्थियाँ सामने आती जा रही हैं। बच्चों में बढती हुई आज की आवारागर्दी इसी प्रकार की एक सामाजिक समस्या है।

आवारागर्दी क्यों ?

आज के परिवेश में बच्चा की आवश्यकताएँ प्राय पूरी नहीं हो पातीं। वे अरा पास-पडोस और वातावरण से खोझे हुए रहते हैं। माँ-बाप के कडे व्यवहार से वे दूर-दूर रहने में ही अपना कल्याण देखते हैं। फलत उनमें आवारागर्दी की बुनियाद पडती जाती है। शुरू में ये बच्चे दोषी नहीं होते। उनका हर एक काम समाज के नियमों का उल्लंघन नहीं करता, लेकिन दुर्गति के कारण भविष्य में ये ही बच्चे पूर्ण आवारागर्द बन जाते हैं। आधारहीन और निरुद्देश्य इधर उधर एकाकी घूमनेवाले बच्चों को सम्मान, सहानुभूति और उनके कार्यों को समर्थन मिल जाता है, जिससे ये समझते हैं कि उन्हें बहुत बडी चीज मिल गयी। उनकी निर्भीकता बढ़ जाती है और उनमें साहस आ जाता है।

आवारागर्दी का आरम्भिक स्तर १०-१२ वर्ष तक रहता है। इस बीच बच्चे का सुधार किया जाना सरल होता है, किंतु उसके बाद ही उसकी आवारागर्दी गिरोह की शक्ल में बदल जाती है और तब सुधार करना कठिन बन जाता है। कुछ दिनो बाद सुधार के अभाव में ये ही स्थायी गिरोह का रूप ले लेते हैं।

आवारागर्दी आज के विकासशील शहरो की प्रमुख समस्या है। औद्योगिक नगरो में इसकी वृद्धि का स्पष्ट दर्शन किया जा सकता है। किसानों और कारीगरो के बच्चो में ये दुर्गुण प्राय नहीं होते।

आवारागर्दी बढ़ने के कारण

कभी-कभी बच्चे के प्रति अभिभावको की अपेक्षाएँ इतनी बढ़ जाती हैं कि व उन्हें पूरी नहीं कर पाते। ऐसा प्राय उस समय होता है जब बालक के पिता न हो, सिर्फ विधवा माँ हो। माँ अपने कमजोर कन्धों से आर्थिक बोझ बच्चे के कन्धो पर फेंककर मुक्ति पाने के लिए आतुर रहती है। इसलिए बच्चा माँ से दूर-दूर रहना चाहता है। वह खेलने-कूदने और पढ़ने लिखने के अतिरिक्त दूसरी जिम्मेदारियों को उठाने के लिए उस पैमाने पर तैयार नहीं रहता, जिस पैमाने पर विधवा माँ अपेक्षा रखती है। फलत उसमें काम के प्रति दिलचस्पी खत्म होने लगती है और धीरे-धीरे आवारागर्दी के अकुर फूट पड़ते हैं।

माँ बाप दोनों के न होने पर या विमाता का आश्रय मिलने पर प्राय बालक के साथ घोर उपेक्षा का बर्ताव होता है, जिसे उसके कोमल मन-प्राण सह नहीं

पाते। स्नेह और वात्सल्य का भूखा बालक घर से अलग अलग रहने लगता है और गली-कूचों में निरुद्देश्य फिरनेवालों के साथ समय बिताने लगता है।

कभी-कभी माँ बाप बच्चे से जरूरत से ज्यादा काम लेते हैं या उसके प्रति सही दृष्टिकोण नहीं अपना पाते और उसके हर एक काम को शका की दृष्टि से देखा करते हैं। ऐसी स्थिति में बच्चा माँ-बाप की ओर से लापरवाह हो जाता है और उसके मन में एकाकी रहने के भाव घर करने लगते हैं और यहीं से आवारा-गर्दी की भावना अनजाने ही उसके मन में घर करने लगती है।

आर्थिक विवशताओं के कारण कभी कभी माँ-बाप दोनों को नौकरी करनी आवश्यक हो जाती है। वे चाहते हुए भी अपने बच्चे को उचित स्नेह और वात्सल्य नहीं दे पाते। बच्चा अपने को उपेक्षित समझने लगता है। इस प्रकार की देखभाल की कमी के कारण भी बच्चा आवारागर्द बन जाता है।

कहा गया है कि गरीबी अभिशाप होती है। गरीबों के बच्चे मुसीबतों की मार से ऊबकर घर से भागते देखे गये हैं। नगरों के गिरोहबाज उन्हें पैसे का लोभ देकर अपने उपयोग के लिए ट्रेन्ड कर लेते हैं और उनसे जेबकटी तथा इसी प्रकार के दूसरे काम कराते हैं।

पारिवारिक तनाव से भी ऊबकर बच्चे घर से अलग रहना चाहते हैं। घरों म उन्हें घुटन मालूम पडती है, जिससे छुटकारा पाने के लिए वे छटपटा उठते हैं। फलत वे घर से निकलने लगते हैं और बाहर कुसगति और आवारागर्दी के सिवा और दूसरा रास्ता उन्हें नहीं मिलता।

शहरी बच्चों को बिगाडने में सिनेमाघरों का बहुत बडा हाथ है। मनोरजन के नाम पर आज सिनेमा की बढती हुई छिछली प्रवृत्ति पर रोक लगनी चाहिए। साथ ही केवल बच्चों के लिए अलग चित्र बनने चाहिएँ और उन्हें अलग से छविगृहों में दिखाने का विशेष प्रबन्ध होना चाहिए।

नगरों की गन्दी और घनी बस्तियाँ भी आवारागर्दी का अखाडा बन गयी हैं। अत इन बस्तियों का सुधार आवश्यक है। इन बस्तियों में रहनेवालों का आर्थिक स्तर ऊँचा उठना चाहिए। इन बस्तियों में बच्चों के आमोद-प्रमोद और खेल-कूद के लिए विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रमों को भरपूर प्रोत्साहन मिलना चाहिए, जिससे उनके पाँव घर से न निकल सकें।

आवारागर्दी से मुक्ति कैसे मिले

पाठशाला और परिवार दोनों जगह समान रूप से बच्चों को आत्मानुशासन की व्यावहारिक शिक्षा मिलनी चाहिए। शिक्षकों और परिवारवालों को उनके सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। उच्छृखल आचरण और आत्मानुशासन के उपदेश साथ-साथ नहीं चल सकते।

यह हमेशा ध्यान रखना होगा कि बालक के अह को कहीं ठेस न लगे, वरना उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहज ही बाधा पड सकती है। बच्चे को कभी यह सोचने का अवसर नहीं मिलना चाहिए कि मैं उपेक्षित हूँ, अरक्षित हूँ।

आवारागर्दी की दिशा में बच्चे के बढते चरण को अगर कोई रोक सकता है तो वह है पाठशाला का स्नेहिल वातावरण और शिक्षक का प्यार-भरा बर्ताव। इस सन्दर्भ मे हमारे शिक्षकों की जिम्मेदारी और बढ़ जाती है।

पाठशालाओं का प्रत्येक कार्यक्रम इतना रचनात्मक बनाने की जरूरत है कि घर से ऊबा हुआ बालक सडकों और गली-कूचों में घूमने फिरने के बजाय सीधे पाठशाला में आये और उसके अशात मन को वहाँ भरपूर शान्ति मिले।

शिक्षक का कर्तव्य

शिक्षक को चाहिए कि वह आवारागर्दी के कारणों का अध्ययन करने के लिए पालकों से सम्बन्ध स्थापित करे और उनकी वैयक्तिक तथा पारिवारिक कठिनाइयों को दूर करने का उन्हें रास्ता सुझाये। कुछ बच्चों की आवारागर्दी पाठशाला मे स्नेहभरा वातावरण पाकर छूट जाती है। इसलिए शिक्षक पाठशाला के कार्यक्रमों

में इतनी रोचकता लाये कि बच्चा सबकुछ भूलकर तादात्म्य स्थापित कर सके।

इसके अतिरिक्त आवारागर्दी रोकने के लिए किन्हीं विशेष शिक्षालयों के निर्माण की भी आवश्यकता है, जिनमें बच्चों को चौबीसों घण्टे शिक्षापूर्ण वातावरण मिल सके। इस प्रकार आवारागर्दी की कुटेवों के सुधार में सुगमता और गतिशीलता दोनों आयगी। सुना है, उत्तरप्रदेशीय सरकार ने कानपुर में ऐसा ही कुछ प्रयास किया है।

जब तक ऐसा सम्भव नहीं, नगरपालिकाओं को चाहिए कि वे बड़े और सघन आबादीवाले महल्लों में बच्चों के खेलने के लिए बाल क्रीडा केन्द्र बनायें तथा पुस्तकालय और वाचनालय का उचित प्रबन्ध करें। इनके संचालन का सारा भार कुशल शिक्षकों की छत्र छाया में स्वयं बच्चों पर रहना चाहिए।

हमारी प्रारम्भिक पाठशालाओं में शिक्षक एक बार प्रशिक्षित होने के बाद पूरे जीवन के लिए निष्णात मान लिया जाता है और अपने शैक्षिक जीवन के आखिरी क्षणों तक शिक्षण की गाड़ी जैसे-तैसे खींचता रहता है, जो ठीक नहीं। आज आवश्यक है कि शिक्षण-विधियों में नित नये होनेवाले परिवर्तनों, सामाजिक प्रक्रियाओं, मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों, युग की औद्योगिक एवं वैज्ञानिक विकास-शील कार्यक्रमों की शिक्षक को विशेष जानकारी रहे।

इसके लिए प्रतिवर्ष प्रत्यास्मरण पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) अनिवार्य रूप से चलने चाहिएं। हमारे समाज की बदलती हुई मान्यताओं और उनके साथ साथ उत्पन्न होनेवाली अनेक प्रकार की सामाजिक व्याधियों की पूरी-पूरी जानकारी जब तक शिक्षक को नहीं रहेगी, वह बच्चों पर पड़नेवाले प्रभावों को न तो समझ ही सकता है और न दूर ही कर सकता है। इसलिए बदलते हुए जमाने की नये रंग रूप में सज सँवरकर सामने आनेवाली सामाजिक बुराइयों से बचने के लिए, देश को बचाने के लिए आवश्यक है कि शिक्षक का प्रशिक्षण सदैव ताजा रखा जाय, उसे सतत जागरूक रखा जाय, तभी नयी पीढ़ी का सुधार सम्भव है।

खूब सोना चाहिए

एक राजा था। वह शेखसादी के पास पहुँचा और बोला—"मुझे कुछ बोध दीजिए।"

शेखसादी ने पूछा—"आप कौन हैं?"

वह बोला—"मैं राजा हूँ।"

शेखसादी ने कहा—अच्छी बात है। आप रात को सोते तो होंगे ही?"

"सोता तो हूँ, लेकिन कम।"

शेखसादी ने कहा—"हमारी सलाह है कि आपको रात में खूब सोना चाहिए।"

फिर शेखसादी ने पूछा—"दिन में भी सोते हैं?"

राजा ने बताया—"खास नहीं, कभी-कभी एक-आध घण्टे सो लेता हूँ।"

शेखसादी ने कहा—"आपको दिन में भी खूब सोना चाहिए।"

रात में सोना और दिन में भी सोना—राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—"आज तक हमें ऐसा उपदेश किसी ने नहीं दिया, आप क्यों दे रहे हैं?"

शेखसादी ने समझाया कि लोगों को राजा बहुत पीड़ा देते हैं, इसीलिए वे जितना सोते रहें, उतना ही अच्छा। जागने पर तो वे लोगों को पीड़ा ही देंगे।

—विनोबा कथित

विद्यार्थी : एक समस्या

•

राममूर्ति

केरल—चावल

उड़ीसा—सरकार

कानपुर—परीक्षा

केरल में विद्यार्थियो ने चावल के लिए उपद्रव किया। उड़ीसा में उनकी स्वय सरकार से सीधी भिड़न्त हुई। कानपुर में उन्होने परीक्षा टालने की इतनी जिद की कि विद्यालयो को बन्द कर देना पडा। प्रश्न कोई भी हो, विद्यार्थियो की टक्कर हर जगह अधिकारियो से ही हुई। इस तरह की टक्कर आये दिन कहीं-न कहीं होती ही रहती है, और देश के सामने आज जितनी समस्याएँ हैं, उनमें विद्यार्थियो की 'अनुशासनहीनता' एक मुख्य समस्या मानी जाती है। विद्यार्थी की खाने-पीने की समस्या माता पिता हल करते हैं और पढ़ने-लिखने की समस्या शिक्षक हल करते हैं, लेकिन जब विद्यार्थी स्वय एक समस्या बन जाता है तो माता पिता या शिक्षक असहाय हो जाते हैं, और सरकार भी समझ नहीं पाती कि इस अत्यन्त कठिन समस्या को कैसे हल करें।

आज का विद्यार्थी अपने परिवार में समस्या है, विद्यालय में समस्या है, समाज में समस्या है और शायद अपने लिए भी समस्या है। किसी जगह वह अपने लिए मन का स्थान नहीं बना पा रहा है। परिवार में उसे पोषण भले ही मिलता हो, लेकिन परिवार की परिधि से उसका जीवन कहीं अधिक बडा हो गया है, इसलिए परिवार के सीमित सम्बन्धो से उसे समाधान नहीं मिलता। विद्यालय में शिक्षक को वह अपनी श्रद्धा और आदर का पात्र नहीं पाता, और जब विद्यालय से निकलकर वह समाज में जाता है तो वह देखता है कि विद्यालय में जो 'पूँजी' उसने कमायी है उसे लेकर वह समाज के साथ अपना मेल नहीं बिठा पाता।

हर जगह अपने को बेमेल पाकर विद्यार्थी या तो निरकुश हो जाता है या दब्बू, और हल्की उत्तेजना पाने पर भी पके फोडे की तरह फूट पडने के लिए तैयार रहता है। वह बालिग नागरिक नहीं है, इसलिए समाज या सरकार उसे उस दृष्टि से नहीं देख पाती, जिससे वह दूसरो को देखती है। वह कुछ भी करे, विद्यार्थी होने के नाते वह हर एक के प्यार और उदारता का केन्द्र बना रहता है, इसलिए उसके मन में अपेक्षा रहती है कि वह विशिष्ट है और उसके साथ विशिष्ट व्यवहार होना चाहिए। विशिष्टता की इस भावना के कारण जब उसकी अपेक्षाओ को ठेस लगती है तो वह उबल पड़ता है—कभी खुलकर, कभी आँखें चुराकर।

हमारा विद्यार्थी समस्या बन गया है, इसमें शक नही। हम विद्यार्थी का और अधिकार चाहे जितना मानें या न मानें, उसका एक अधिकार हम पूरा मानते हैं। "हमें समस्या किसने बनाया, क्यो बनाया ?" उसका यह प्रश्न है, जिसका उत्तर पाने का उसका अधिकार है। इस प्रश्न का उत्तर कौन देगा ? क्या हम यह कहेंगे कि हमारा आदेश और उपदेश मान लो तो तुम समस्या नहीं रह जाओगे ? क्या हमें अपने आदेश और उपदेश पर

भरोसा है ? क्या हमें निराशा है कि हमारा नेतृत्व विद्यार्थी को ऊँचाई की ओर ले जा सकता है ? क्या विद्यार्थी यह नहीं देख रहा है कि समाज में राजनीति और व्यवसाय का जो नेतृत्व है वह समाज के जीवन में सारे तत्त्वों को समाप्त करता जा रहा है, जिनके कारण जीवन सार्थक होता है ? हमने विद्यार्थी को क्या दिया है कि उससे ऊँचे दिल, दिमाग और चरित्र की आशा रखते हैं ? हमने उसके हाथ को, उसकी बुद्धि को उसके हृदय को क्या सिखाया है ? जब हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी है कि उसकी उँगलियाँ बेकार हुई, बुद्धि की मौलिकता नष्ट हुई, और भावनाएँ कुत्सित हुई, तो क्या आश्चय है कि वह समय समय पर अपने समग्र ह्रास का परिचय अपनी उद्दण्डता से दे ?

क्या आज का विद्यालय और आज का समाज विद्यार्थियो को समस्या बनने से रोक सकता है ? कौन रोकेगा, कैसे रोकेगा ? यह बात ध्यान देने की है कि परिवार, विद्यालय, समाज या सरकार, हर जगह विद्यार्थी अधिकारी (अथॉरिटी) से ही भिडता है। क्यो ? पिता, शिक्षक, या शासक किसी भी 'अधिकारी' की सत्ता उसे स्वीकार नहीं है। और, आज के जमाने में है किसे ? इसलिए जब शिक्षक अधिकारी के रूप में उसके सामने जाता है तो उसकी सत्ता को भी वह अस्वीकार कर देता है। विज्ञान और लोकतन्त्र के इस युग में क्या विद्यार्थी और क्या नागरिक, हर एक को मित्र की तलाश है, अधिकारी की नही।

इस युग में मैत्री का समाज चलेगा और मैत्री का ही विद्यालय चलेगा। मित्रता की, प्रेम की सत्ता के सिवाय दूसरी किसी चीज की सत्ता नही चलेगी। 'बडों' की यही मित्रता आज छोटो को नहीं मिल रही है और दोनो के बीच की खाई दिनो दिन बढ़ रही है। इसलिए विद्यार्थियो को समस्या बनाने की जिम्मेदारी उनपर है जो अपने स्वार्थ या दुराग्रह के कारण समाज को गलत दिशा में जाने से रोक रहे हैं। अगर बडों की राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति, धर्मनीति और शिक्षानीति में जीवन के सही और युग के अनुरूप मूल्य न हो तो विद्यार्थी के जीवन में कहाँ से आयेंगे ?

एक बात और है।

हमारी सामाजिक व्यवस्था ने हमेशा से मनुष्य के व्यक्तित्व को कुचलकर उसे रास्ते पर लाने की कोशिश की है। उसी मान्यता पर आज भी हमारी संस्थाएँ—राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक या शैक्षणिक चल रही हैं। अब समय आ गया है कि हम इस तथ्य को पहचानें कि स्वतन्त्र व्यक्तित्व में ही पुरुषार्थ की शक्ति है, इसलिए उसे कुचलकर मनुष्य को निर्वीर्य न बनाया जाय, बल्कि कोशिश यह की जाय कि सही शिक्षा और सामाजिक सम्बन्धो के द्वारा हम व्यक्तित्व को रचनात्मक दिशा दें, ताकि उँगलियाँ निर्माण में लगें, बुद्धि आविष्कार में लगे, और हृदय अनीति का विरोध की प्रेरणा से भरे।

हमें दुख है कि हमारे किशोर और युवक बडो से अपनी प्रह्लाद शक्ति खोते जा रहे है, इसीलिए उनका दिल और दिमाग हल्की चीजो में फँसकर बिगड रहा है। वास्तव में विद्यार्थी के सामने जीवन का कोई चित्र नहीं है और जो है वह अत्यन्त विकृत है। विद्यार्थियो की समस्या उनसे अधिक उनके बडो की है—उन बडो की, जो उन्हें थोथे नारो में फँसाकर संघर्ष और स्वार्थपरता के द्वारा सफलता का रास्ता दिखा रहे है, जो आज भी सामन्तवाद और पूँजीवाद के जीवन मूल्यो और सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने का दुराग्रह दिखा रहे हैं, जिनकी कुचालें इतनी व्यापक होती जा रही हैं कि जिन्दगी ऊँचाई से उतरकर बाजार का सौदा बन रही है। जब बडो की जिन्दगी बाजारू बन जायगी तो किशोरो और तरुणो में बाजारूपन नही तो और क्या आयगा ?

पाठकों से

'नयी तालीम' के पिछले अक पढ़ने के बाद आपने अपनी राय बना ली होगी। आप बिना सकोच के हमारी त्रुटियों को इंगित करें और अपनी सम्मति भेजें। —सम्पादक

प्राथमिक शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षा

•

कृष्ण कुमार

अखिल भारत प्राथमिक शिक्षक-संघ का सातवाँ अधिवेशन पटना में ३ नवम्बर से ७ नवम्बर' ६४ तक बडी सफलता एव शान्ति के साथ सम्पन्न हुआ। इसमें शरीक होने के लिए देश के विभिन्न भागो से करीब २० हजार से अधिक प्रतिनिधि आये थे। राज्य के प्रतिनिधियो की सख्या भी १५ हजार से कम न थी।

सम्मेलन का शुभारम्भ योजना-आयोग के सदस्य श्री वी० के० आर० वी० राव ने किया और अध्यक्ष थे विद्वान चिन्तक डा० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'। दूसरे दिन के अधिवेशन का उद्घाटन किया था राज्यपाल श्री अनन्तशयनम् अयगार ने।

अधिवेशन के प्रधानमंत्री श्री जगदीश मिश्र ने बताया कि आज भारत में ४ लाख ७२ हजार ७ सौ प्रारम्भिक पाठशालाएँ हैं। उनमें करीब साढे पाँच करोड बच्चे शिक्षा पा रहे हैं। शिक्षको की सख्या भी करीब १४ लाख है। हमें चौथी पचवर्षीय योजना में २ करोड बच्चो को विद्यालय में लाने का सकल्प लेना है। आज की परिस्थिति में आवश्यक लगता है कि शिक्षा को केन्द्रीय विषय बनाया जाय। श्री राव ने इस बात पर विशेष बल दिया कि देश का नव-निर्माण शिक्षक और नागरिक ही कर सकते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि हमारे शिक्षक राष्ट्रीय हित को सभी स्वार्थों के ऊपर रखें, तभी यह सम्भव है। विश्वविद्यालय में पढनेवाले युवको को पढाने की अपेक्षा छोटे बच्चो को पढाने का काम अधिक कठिन और जिम्मेदारी का है। आज आवश्यक हो गया है कि आरम्भ से ही बच्चो को विज्ञान की शिक्षा मिले। नहीं तो विज्ञान की दौड में हम पीछे रह जायेंगे।

श्री अयगार ने शिक्षको की तुलना भगवान राम के निर्माता ऋषि विश्वामित्र से की। उन्होने कहा कि अगर शिक्षक चाहें तो आज भी हमारे समाज में राम और लक्ष्मण-सरीखे आदर्श व्यक्तियो की कमी नही हो सकती। बच्चो के चरित्र निर्माण पर आपने विशेष बल दिया।

अध्यक्ष स्वागत-समिति श्री सत्येन्द्र नारायण सिंह (शिक्षा-स्वायत्त-शासन मंत्री, बिहार) ने आज के छात्रो में बढती हुई अनुशासनहीनता की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य के सृजन के लिए आपने बताया कि अखिल भारतीय स्तर पर एक अभियान चलाना चाहिए। यह काम शिक्षकों के सहयोग के बिना नही हो सकता।

श्री सत्येन्द्र सिंह ने इस बात पर विशेष बल दिया कि भारत में प्राचीन काल में शिक्षा का प्रधान दायित्व समाज के ऊपर था। मध्यकाल में भी स्थिति बहुत कुछ इसी तरह की थी। इस स्थिति में स्वभावत हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि आज के युग में, जब शिक्षा की आवश्यकता अन्य युगो की अपेक्षा और अधिक हो गयी है, समाज की उस उदार भावना का उचित लाभ क्या हम नहीं उठा सकते? पर, इसके लिए हमें शिक्षक की प्रतिष्ठा को समाज में पुन स्थापित करना होगा और शिक्षक-समुदाय को भी समाज के नेतृत्व का भार ग्रहण करना होगा।

अधिवेशन के अध्यक्ष डा० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने बताया कि शिक्षा का विषय जितना महत्वपूर्ण है उसके अनुपात में हमारे साधन पर्याप्त नहीं है। हमारी

अर्थ-व्यवस्था भी उसके अनुकूल नहीं है। वस्तुतः गांधी ने अपनी दृष्टि से इस परिस्थिति का गम्भीर ही अनुमान कर लिया था। उनका विचार था कि भारत जैसे विशाल राष्ट्र में कोई भी सरकार अनिवार्य शिक्षा के लिए अपार धन राशि की व्यवस्था सरलता-पूर्वक नहीं कर सकती। इसीलिए उन्होंने देश के शिक्षा शास्त्रियों के सामने बुनियादी तालीम का प्रश्न रखा, जिससे स्वावलम्बन के आधार पर सारे देश में शिक्षा प्रसार किया जा सके। *गांधीजी का यह स्वप्न पूरा नहीं हो सका।*

स्वावलम्बन के नाम पर चलनेवाली यह शिक्षा-पद्धति, अपनी गलती के कारण ही इतनी परावलम्बी साबित हुई कि सरकार इस भार को ढोने में असमर्थ रही, असफल हुई। बुनियादी शिक्षा में प्रशिक्षित विद्यार्थियों के लिए प्रशासन में कोई उचित व्यवस्था नहीं की गयी। वे निराश्रित हो गये। परम्परागत शिक्षा के साथ बुनियादी शिक्षा के समन्वय का भी प्रयत्न किया गया, किन्तु सारा प्रयत्न विफल ही हुआ।

प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रकार के प्रयोग हो रहे हैं। हमारे देश में भी कई प्रयोग हुए हैं—जैसे, शान्ति निकेतन में कला द्वारा शिक्षा, जयपुर के विद्या भवन में सामाजिक वातावरण द्वारा शिक्षा तथा बेसिक स्कूलों में हाथ के काम द्वारा शिक्षा। इनमें सफल तो कोई नहीं रहा किन्तु सिद्धान्त रूप में इन सभी में कुछ न-कुछ सार तत्त्व अवश्य है जिसे ग्रहण करना चाहिए।

लोकतन्त्र लोक-जीवन की पद्धति है, वह केवल एक राजनीतिक व्यवस्था नहीं है। शिक्षा की सच्ची कसौटी मनुष्य बनाना है। यदि हम शिक्षा के माध्यम से एक दूसरे पर विश्वास करने की सामाजिक भावना जगा सकें, हम अपने विवेक के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक काम कर सकें तो लोकतन्त्र की नींवें पक्की होंगी। अब तक हमने अपने राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण नहीं किया है। राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण न अर्थनीति से सम्भव है और न राजनीति से। वह शिक्षा-द्वारा ही सम्भव हो पायगा।

●
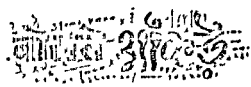
यह है शस्त्रीकरण की कीमत !

निःशस्त्रीकरण से क्या लाभ होंगे, इस विषय पर यूनेस्को की मासिक पत्रिका के नवम्बर अंक में एक लेख छपा है। उसके आँकड़े पढ़ने की नहीं, मनन करने योग्य हैं—

१. नये ढंग के 'बाम्बर' की कीमत—दो लाख पचास हजार शिक्षकों का वार्षिक वेतन

या

विज्ञान के तीस विभाग (फैकल्टीज) निर्मित हो सकते हैं; जिनके प्रति विभाग में एक हजार विद्यार्थी शिक्षा पा सकें।

२. अणु शक्ति चालित एक बड़ी पनडुब्बी (एटॉमिक सबमरीन)—

५० शहरों में आधुनिकतम सामग्री से सज्जित अस्पतालों का व्यय।

३. आवाज की गति से तेज चलनेवाले लड़ाकू विमान (सुपर सॉनिक फाइटर प्लेन) का विकसित रूप—

६ लाख घरों के निर्माण पर होने वाला व्यय, जिन घरों में तीस लाख लोग निवास कर सकेंगे।

४. संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक रिपोर्ट के अनुसार आज दुनिया में प्रति घण्टा ६ करोड़ रुपये शस्त्रों पर खर्च हो रहे हैं।

जरा सोचिए तो, कितना महँगा है यह सौदा ?

यह सच है कि शान्ति सभी चाहते हैं। इससे बढ़कर यह सच है कि शान्ति शस्त्रों से नहीं आती। फिर शस्त्रों के निर्माण की यह होड़ क्यों ?

●

नये सामाजिक ढाँचे के अनुरूप
नयी शिक्षा

'बुनियादी शिक्षा और औद्योगिक विकास'
ले० वंशीधर श्रीवास्तव

प्रकाशक–राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा संस्थान
राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, नयी दिल्ली।

पृष्ठ संख्या–४०   मूल्य ६५ पैसे

बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में उपयुक्त साहित्य की चली आ रही कमी को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने बुनियादी शिक्षा के लिए साहित्य और दूसरी सामग्री तैयार करने की एक योजना बनायी है। उक्त योजना के 'विशेषज्ञ साहित्य' के क्रम में उपयुक्त पुस्तिका प्रकाशित की गयी है।

शिक्षा का प्रयोजन सामाजिक है अत वह समाज के परिवर्तनों की ओर उदासीन नहीं रह सकती। वास्तव में शिक्षा को तो उन सारी शक्तियों का, जो हमारे समाज के आर्थिक और व्यावसायिक ढाँचे को बदल रही हैं, सहायक बनकर इन परिवर्तनों की रफ्तार को और भी तेज करने का साधन बनना चाहिए तभी शिक्षा गत्यात्मक रह सकेगी। इसके लिए हमें शिक्षा के सभी पक्षों–पाठ्यक्रम, विषय संगठन और शिक्षा पद्धति–में परिवर्तन करने होंगे। आज अपने नये राष्ट्र के सामने जहाँ अनेक समस्याएँ हैं वहाँ एक बड़ी समस्या यह भी है कि इस प्रकार का परिवर्तन किस स्तर पर कितना और कैसे किया जाय?

प्रचलित शिक्षा-पद्धति में हमें सबसे पहला परिवर्तन यह करना है कि हम प्राथमिक स्तर से पोस्ट ग्रेजुएट-स्तर तक कला-कौशल तथा उद्योगों और व्यवसायों की शिक्षा को देश की सामान्य शिक्षा का महत्वपूर्ण और अभिन्न अंग बना दें।

लोकतांत्रिक समाज निर्माण की दृष्टि से हमारी दूसरी आवश्यकता है देश के समस्त बच्चों के लिए समान शिक्षा का प्रबन्ध करना। समान शिक्षा की यह योजना केवल स्कूल के भीतर के लिए ही न हो। स्कूल के बाहर यदि इस शिक्षा का उपयोग न हुआ तो वह शिक्षा अपर्याप्त सिद्ध होगी।

समाजवादी औद्योगिक समाज के अनुरूप शिक्षा-नीति की तीसरी आवश्यकता यह है कि शिक्षा के संगठन और अध्यापन की पद्धतियों में लोकतांत्रिक सहकारिता के तत्त्वों का अधिक-से अधिक समावेश हो। अतः भविष्य में हमें अपनी शिक्षा-नीति में भी इस प्रकार के परिवर्तन करने पड़ेंगे जिससे शिक्षा का संगठन और पद्धति सहकारिता और लोकतंत्र के सिद्धान्तों के अनुरूप बने।

पुस्तिका के विद्वान लेखक ने अत्यन्त स्पष्टता और समग्रता के साथ यह प्रमाणित किया है कि (१) बुनियादी शिक्षा भविष्य की शिक्षा-योजना के लिए किस प्रकार उपयुक्त है, (२) औद्योगिक लोकतंत्र के लिए उसकी कितनी अनुरूपता है, (३) सामुदायिक सहकारी जीवन के संस्कार बनाने में उसका कितना महत्व है और (४) स्वावलम्बी उत्पादन तथा ज्ञान और क्रिया की एकरूपता पर आधारित होने के कारण वह देश की नयी आकांक्षा और आवश्यकता की पूर्ति करने में किस अंश तक सक्षम है। देश के शिक्षाशास्त्रियों और आयोजकों के लिए यह पुस्तिका पठनीय है।

●   –धर्मदेव सिंह

नये प्रकाशन

प्रभो, इन्हें क्षमा करना

(एकांकी नाटक)

सम्पादक *नारायण देसाई*

पृष्ठ २४, *मूल्य* : ०'२५

साम्प्रदायिक दगों के मूल में कैसी कैसी वृत्तियाँ काम करती है, अगर आप जानना चाहते है, तो इस पुस्तिका को अवश्य पढें।

पिछले दिनो राउरकेला तथा जमशेदपुर में जो साम्प्रदायिक दग हुए उसमें शान्ति स्थापना करते, हुए पादरी हरमान रसाकार्ट का बलिदान हुआ। व एक उत्तम कोटि के शान्ति सैनिक थ। इस छोट से नाटक में उन्ही को श्रद्धाजलि दी गयी है। साबरमती में 'अखिल भारतीय किशोर शान्तिदल' के समारोह के अवसर पर यह नाटक तैयार किया गया और खेला गया।

प्रेममूर्ति ईसा

लेखक *विनोबा*

पृष्ठ ६०, *मूल्य* ०६०

प्रस्तुत पुस्तक में विनोबा के प्रभु ईसा ईसाई धम की विशेषताओं तथा भारत म ईसाई धम की स्थिति और सम्भावनाओ सम्बधी विचारो का सकलन है।

यह सयोग की बात है कि यह पुस्तक ऐसे अवसर पर प्रकाशित हुई है जब भारत म विश्वभर के ईसाइयों का विशेष सम्मेलन होने जा रहा है।

पुस्तक का अँग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। नाम है क्राइस्ट दी लव इनकारनेट'। मूल्य-एक रुपया मात्र।

चिंगलिंग (उन्यास)

लेखिका . *निर्मला देशपाण्डे*

प्रस्तावना . श्री जैनेन्द्रकुमार

पृष्ठ *२४८ + १६, मूल्य : ३'००*

सुश्री निर्मला बहन का यह उपन्यास एक चीनी कन्या चिंगलिंग' के जीवन से सम्बन्धित है। वह चीनी पिता अमेरिकन माँ की बेटी है और भारत मे विनोबाजी की पदयात्रा में सम्मिलित होकर चीन भारत-अमेरिका के बारे में अन्तमुख होकर गहरे उतरती जाती है।

उपन्यास की कथावस्तु में जीवन और जगत का विश्लेषण प्रमुख है। कला, सस्कृति और भाव अवगाहन सब दृष्टियो से उपन्यास आकर्षक एव बोधक है। इसकी प्रस्तावना सुप्रसिद्ध साहित्यकार और दार्शनिक जैनेन्द्रजी ने लिखी है।

तन्दुरुस्ती की कहानियाँ

लेखक . डा० एस० के सिंह

पृष्ठ *४४, मूल्य* ०'२५

इस पुस्तक में स्वास्थ्य की कहानी अगो की जबानी दी गयी है। शरीर के विभिन्न अग अपनी कहानी बडे रोचक ढग स सुनाते है। उनकी परेशानियाँ हमारे अज्ञान, लापरवाही और अनियमितता तथा गलत रहन-सहन खान पान के कारण कितनी बढ़ जाती है।

बच्चो शिक्षको और अभिभावको, सबके लिए विशेष उपयोगी है।

दैनन्दिनी

क्राउन साइज (७३" × ५") मूल्य २५०

डिमाई साइज (९" × ५३") ,, ३'००

प्रतिवष की तरह दो आकारो में सन् १९६५ का दैनंदिनी प्रकाशित हो गयी है। इसमें सर्व-सेवा-सघ का परिचय भूदान आन्दोलन का सिंहावलोकन, डाक-तार के नियम, भूदान प्राप्ति वितरण के आँकड़े, पर्व-त्योहारो की सूची प्रार्थना आदि उपयोगी सामग्री जोडी गयी है।

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन—राजघाट, वाराणसी

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा सघ प्रकाशन की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

शिक्षा की नींव

बालवाड़ी

- मजबूत नीवँ पर ही मकान बनता है। नीवँ मजबूत हो तो मामूली मकान भी टिकाऊ हो जाता है। नीवँ कमजोर रह जाय तो ऊपर का मजबूत मकान भी टिक नहीं पाता।

- बचपन का शिक्षण ही बालक के भविष्य की नीवँ होता है; और बचपन की शिक्षा की पहली ईंट है बालवाडी। बालवाडी यानी नन्हे-मुन्नो की कुदरती प्रवृत्तियों और सामाजिक सस्कारो के प्रकट होने और पनपने की बीज-भूमि।

- बालवाडी-जगत के सिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री जुगतराम दवे ने, जो अनुभव अर्जित किये हैं वे अनूठे और मौलिकता से ओतप्रोत हैं। भारतीय परिस्थिति के सन्दर्भ मे उन्होने अपने जो अनुभव और शिक्षण विचार मूल गुजराती पुस्तक में प्रकट किय थे उसे मूल पुस्तक जैसी सरल और भावपूण शैली में श्री काशिनाथ त्रिवेदी ने हिन्दी में प्रस्तुत किया है। पूव बुनियादी और बालवाडी के क्षेत्र मे लगे शिक्षक शिक्षिका इस ग्रन्थ को पढकर अपूव उल्लास और प्ररणा का अनुभव करेंगे।

o

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
दिसम्बर, १९६४ नयी तालीम रजि० सं० एल, १७२३

पहले भोजन, फिर उपदेश

एक बार भगवान बुद्ध का एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी मिला। वह प्रचारक उसे धर्म का उपदेश देने लगा। भिखारी ने उसकी तरफ ध्यान ही नहीं दिया।

प्रचारक नाराज हुआ। वह बुद्ध के पास गया और उनसे कहा—"वहा एक भिखारी बैठा है। मै उसे कितनी अच्छी शिक्षा दे रहा था; पर उसने कोई ध्यान ही नहीं दिया।"

बुद्ध ने कहा—"उसे मेरे पास लाओ।"

वह प्रचारक उसे बुद्ध के पास ले गया। भगवान बुद्ध ने उसकी दशा देखी। उन्होने ताड लिया कि यह कई दिन से भूखा है। उन्होने उसे भर पेट भोजन कराया और कहा—"अब जाओ।"

प्रचारक ने कहा—"आपने उसे खिला दिया, लेकिन उपदेश कुछ भी नही दिया।"

भगवान बुद्ध ने कहा—"आज उसके लिए अन्न ही उपदेश था। आज उसे अन्न की ही सबसे ज्यादा जरूरत थी। वह उसे पहले देना चाहिए। अगर जीवित रहा तो कल उपदेश भी सुनेगा।"

—विनोबा

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—सम्मेलनाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी
गत मास छपी प्रतियाँ ११,८०० इस मास छपी प्रतियाँ ११,८००

सर्व सेवा-संघ की मासिकी

जहाँ किसी भी किस्म का दबाव न हो वहीं सीखने का मौका होता है।
दबाव में व्यक्तियों को प्रभावित करने के सभी तरीकों का समावेश होता है
चाहे वे प्रेम के रूप में हों या रिझानेवाले प्रोत्साहनों के छद्म वेश में।

जे० कृष्णमूर्ति
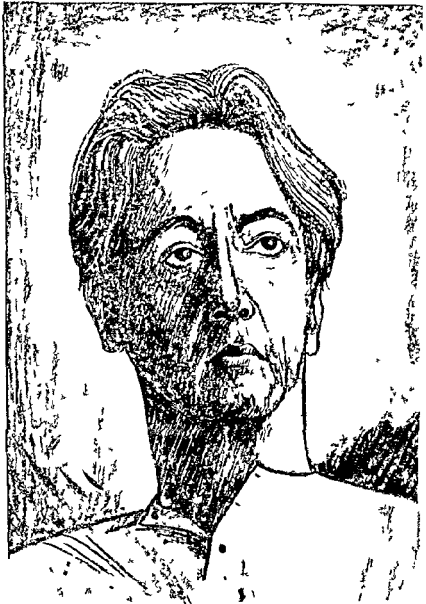
प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

वर्ष १३ अंक ६

जनवरी, १९६५

•

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४ वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।

  व्यवस्था-सम्बन्धी पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या का उल्लेख अनिवार्य होता है।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती हैं।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।

वार्षिक चन्दा
६ ००

एक प्रति
० ६०

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज शिक्षकों के लिए

अब टाला नहीं जा सकता

वर्ष . तेरह
•
अंक छ

सन् '६५ आ ही गया। अब टाला नहीं जा सकता। भारतीय संविधान के अनुसार राष्ट्रभाषा के लिए मुल्क को अब निर्णय लेना ही होगा। ऐसे अवसर पर शिक्षामंत्री श्री छागलाजी ने देश का एक बहुत बड़ा उपकार किया है—भाषा के प्रश्न को छेड़कर: और उस पर जिद के पैमाने तक अड़कर उन्होंने हिन्दी की जितनी सेवा की है शायद इस देश में टंडनजी से लेकर आज तक किसी हिन्दी भक्त ने नहीं की। इसलिए देश के सभी हिन्दी प्रेमियों का आभार उनके लिए मिलना ही चाहिए।

हमारा देश इतना सोया हुआ है कि बिना सख्त आघात पहुँचाये किसी चीज के लिए किसी किस्म का जागरण नहीं होता। वह आघात छागलाजी ने देश को हिन्दी तथा मातृभाषा पर पहुँचाया है। आघात का स्वरूप यह रहा कि 'विश्वविद्यालय के स्तर पर शिक्षण-व्यवस्था के लिए देश की भिन्न भिन्न मातृभाषाएँ, जिनमें हिन्दी भी शामिल है, अयोग्य हैं।' मुझे मालूम नहीं, छागला साहब ने ऐसी धारणा किस तरह बनायी। ऐसी धारणा के लिए दो ही कारण हो सकते हैं—एक यह कि अँग्रेजी-भक्ति इतनी उत्कट है कि दूसरी स्वदेशी भाषा की कोई सामग्री रुचिकर न लगी हो, या किसी स्वदेशी भाषा को देखा ही न हो, और न उसके भंडार की सामग्री की जानकारी ही हो। मुझे मालूम नहीं, किस वजह से उन्होंने ऐसी धारणा बनाया है।

कारण कुछ भी हो, उन्होंने देश में भाषा के प्रश्न पर एक व्यापक आलोड़न खड़ा कर दिया है।

जब देश में इस प्रकार का आन्दोलन खड़ा हुआ है तो हर एक व्यक्ति को शान्ति से इस पर विचार करने की जरूरत है।

श्री छागलाजी ने देश के सामने, जो मुख्य प्रश्न पेश किया है वह यह कि हिन्दी और भिन्न भिन्न मातृभाषाओं में सामग्री का अभाव है। इस प्रश्न पर पहला सवाल यह उठता है कि यह अभाव क्यों? सत्रह साल तक सरकार क्या कर रही थी?

थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि भिन्न भिन्न भाषाओं में उच्चस्तरीय सामग्री का अभाव है, लेकिन सरकारी पत्र-व्यवहार के लिए जितनी भाषा की आवश्यकता है उसका भी अभाव रहा है क्या? अगर नहीं रहा तो उस पर अमल क्यों नहीं हुआ? हम मानते हैं कि इस दिशा में सरकार ने देश के संविधान की अवहेलना कर अँग्रेजी भक्ति का ही परिचय दिया है।

दूसरा और मुख्य प्रश्न यह है कि अगर उच्चस्तरीय सामग्री नहीं है तो बने कैसे? यह कहना कि राष्ट्र की भिन्न भिन्न भाषाओं में उच्च शिक्षा के लिए सामग्री जब बन जायगी तभी उन्हें विश्वविद्यालयों के लिए स्वीकार किया जा सकता है, वरना नहीं, यह ठीक उसी तरह की बात है जिस तरह कोई साइकिल सीखनेवाले से कहे— तुम्हारा बैलेंस ठीक हो जाने पर साइकिल पर बैठने को मिलेगा, लेकिन साइकिल पर बैठकर ही बैलेंस ठीक होता है और बैलेन्स होने पर ही साइकिल चल सकती है। दोनों स्थिति अन्योन्याश्रित है, यह स्पष्ट है। कोई लेखक गंगा में समर्पण के लिए सामग्री नहीं तैयार करता और न प्रकाशक ही बिना मतलब के उसे छापता है; यहाँ तक कि सरकारी प्रकाशन विभाग भी नहीं। उसका इस्तेमाल करना होगा। फिर किसी विषय पर एकाएक पूर्ण सामग्री कोई भी तैयार नहीं कर सकता। एक सामग्री लिखी जायगी वह छपेगी; विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में उसका इस्तेमाल होगा, देश भर के अध्यापकों का चिन्तन उस पर लगेगा तब कहीं उसकी खामियाँ भरी जा सकेंगी और यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी तभी आवश्यक स्टैंडर्ड की सामग्री बन सकेगी।

अतः अगर विचार की दृष्टि से छागला साहब को यह मान्य है कि अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय भाषाओं में विश्वविद्यालय की शिक्षा का आयोजन करना है तो उन्हें आज से ही निर्णय करना होगा कि माध्यम स्वदेशी भाषा हो, ताकि शिक्षा क्रम के साथ साथ साहित्य निर्माण का कार्यक्रम भी चल सके। साहित्य निर्माण का कार्यक्रम पूरा हो, फिर शिक्षा क्रम में उसे शुमार किया जाय, यह विचार अत्यन्त अवैज्ञानिक तथा अव्यावहारिक है।

अतएव, देश में आज जब यह प्रश्न उठा है तो दो बातें तुरत शुरू होनी चाहिएँ। सरकारी काम-काज में मातृभाषा तथा हिन्दी का ही इस्तेमाल हो तथा विश्वविद्यालय तक के शिक्षण का माध्यम स्वदेशी भाषा हो। जो लोग स्वदेशी भाषा के पक्षपाती हैं उन्हें कठिन परिश्रम

करना होगा, ताकि जिस निर्णय के लिए सरकार पर दबाव डाला जा रहा है वह निर्णय लेने में उसको सहूलियत हो।

छागला साहब ने राष्ट्रीय एकता के नारे की जो आड ली है वह विचार में बैठता नहीं है। उनका तर्क भी समझने लायक नहीं है। पूरा राष्ट्र एक जगह बैठकर आपस में चर्चा कर सके, उसके लिए आवश्यक नहीं है कि एक ही भाषा के माध्यम से हर प्रदेश की शिक्षा-व्यवस्था चले। मातृभाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा के साथ हिन्दी और फिलहाल अँग्रेजी भाषा को भाषा के रूप में पढ़ा देना क्या काफी नहीं है?

आज आये दिन दुनिया के भिन्न भिन्न मुकामों पर अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों और सम्मेलनों की सूचना मिलती रहती है। ऐसी गोष्ठियाँ हर विषय पर होती हैं। अगर यह सम्भव है तो अपनी अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षित विद्वानों के लिए अन्तर्देशीय गोष्ठियों में कठिनाई होगी, यह बात किसकी समझ में आयगी? वह भी जब सबको केवल भाषा के रूप में हिन्दी और अँग्रेजी आती हो!

अँग्रेजी का आग्रह रखनेवाले मित्र कहते हैं कि बिना अँग्रेजी भाषा के ज्ञान के वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन सम्भव नहीं है; लेकिन दुनिया के दूसरे 'अ-अँग्रेजी' मुल्कों की सरकारों ने ऐसी दलील पेश नहीं की थी, और न जापान, चीन, रूस आदि मुल्क बिना अँग्रेजी के विज्ञान के ज्ञान में भारत से पिछड़े हुए हैं। आज भी अँग्रेजी भाषा द्वारा शिक्षित भारतीय विज्ञान के विद्यार्थी थोड़े ही दिनों में जर्मन तथा दूसरी विदेशी भाषाएँ सीखकर भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में विज्ञान का अध्ययन कर रहे हैं। फिर मातृभाषा-द्वारा उच्च शिक्षित विद्यार्थी दूसरी भाषाओं के ज्ञान-भंडार का लाभ नहीं ले सकेंगे, ऐसा सोचना ठीक है क्या?

देश के नेता, विद्वान तथा विचारकों से मेरा निवेदन है कि वे पुराने संस्कार-ग्रस्त चिन्तन से बाहर निकलकर देश के नव जागरण और नवीन परिस्थिति के सन्दर्भ में ही शिक्षा की समस्या पर विचार करें।

शिक्षा आयोग से भी अनुरोध है कि वह शिक्षा के प्रश्न पर नये सिरे से साफ स्लेट पर अपनी सिफारिशें लिखे।

आशा है, देश की सरकार और जनता सन् '६५ बीतने से पहले इस प्रश्न का अन्तिम हल निकाल लेगी।

—धीरेन्द्र मजूमदार

●

क्रान्ति और शिक्षण*

•

जे० कृष्णमूर्ति

आज के सर्वतोमुखी सत्तावाद के युग में श्री कृष्णमूर्ति के अपूर्व मुक्तजीवन का दर्शन मानव के लिए संजीवन-मन्त्र है। जिसे हम आध्यात्मिक क्षेत्र कहते हैं, उसमें मनुष्यों का मनोनिग्रह और बुद्धिनिग्रह अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है। धर्म ने मनुष्यों के मन और बुद्धि पर जितनी सर्वंकश सत्ता का प्रयोग किया है, उतना और किसी क्षेत्र में अन्य किसी तत्त्व ने नहीं किया है। श्री कृष्णमूर्ति अध्यात्म और धर्म के क्षेत्र में वास्तविक तथा आमूलाग्र क्रान्ति के प्रवर्तक हैं। इसलिए उनका व्यक्तित्व इस युग के लिए और भी अधिक उपयुक्त है। टाल्सटाय, थारो आदि के विषय में और कुछ अंशों में गांधी के विषय में भी यह कहा जाता है कि वे दार्शनिक अराज्यवादी थे। अध्यात्म के क्षेत्र में उसी प्रकार कृष्णमूर्ति सत्तावाद और प्रामाण्यवाद के विरोधी हैं। —दादा धर्माधिकारी

ज़माने की जटिल समस्याओं और सवालों का मुकाबला करने के लिए एक अभिनव नैतिकता तथा शील की नितान्त आवश्यकता है, ऐसा महसूस हो रहा है और साथ ही ऐसे कर्म की भी जरूरत महसूस होती है, जो मानव जीवन के विविध पहलुओं के समग्र दर्शन से अनुप्राणित हो। इन तमाम कठिनाइयों का हल राजनीति या सामूहिक संगठन के द्वारा करने का प्रयास हम करते रहते हैं। इसी काम को पूरा करने के लिए हम अक्सर आर्थिक पुनरचना और सुधार के कार्यक्रम भी बनाते रहते हैं।

लेकिन ये सभी तरीके और कानून जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझाने में कामयाब नहीं हो सकतीं। उनसे सिर्फ थोड़ी देर के लिए राहत ही मिल पाती है। समाज-सुधार के कार्यक्रम, चाहे कितने ही व्यापक और स्थायी क्यों न मालूम हों, केवल नयी पेचीदगियाँ ही पैदा करते हैं जिनको हल करने के लिए फिर नये सिरे से सुधार या परिवर्तन की जरूरत पड़ जाती है। जब तक संसार के विभिन्न पेचीदे पहलुओं का यथातथ्य आकलन न हुआ हो, समाज सुधार की आवश्यकता होते हुए भी उनसे परिस्थिति नहीं सँभलेगी बल्कि उलझन पैदा करनेवाली सुधार की माँगें समाज में बार बार उठती रहेंगी। सुधार का कोई अन्त नहीं और इस दिशा में प्रयास करने से जीवन की समस्याओं का कोई मूलग्राही समाधान नहीं मिल सकता।

नया किस्म की क्रान्ति

राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक क्रान्तियाँ भी मानव-जीवन की समस्याओं का कोई जवाब नहीं हैं

* मूल अंग्रेजी लेख का हिन्दी रूपान्तर

क्योंकि विभिन्न क्रान्तियों के फलस्वरूप या तो कष्टकारक अधिनायकत्व कायम हुआ है या फिर राजसत्ता केवल एक गुट के हाथों से दूसरे किसी गुट के हाथों में हस्तान्तरित होकर रह गयी है। किसी भी परिस्थिति में ऐसी क्रान्तियाँ अव्यवस्था और कलह से छुटकारा नहीं दिला सकती। लेकिन, ऐसी भी एक क्रान्ति है, जो इन क्रान्तियों से सर्वथा निराली है। हमारे जीवन की अनन्त चिन्ताओं तथा झगड़े-झंझटों की निराशा और विकलता-पूर्ण भावना से मुक्त होने के लिए इस महान क्रान्ति की नितान्त आवश्यकता है।

इस नयी किस्म की क्रान्ति का उपक्रम किसी सैद्धान्तिक या वैचारिक स्तर पर नहीं हो सकता। सैद्धान्तिक और वैचारिक स्तर की सारी कोशिशें अन्त में बेकार साबित होती हैं। मानव-मन के अन्तर-बाह्य आमूल परिवर्तन से ही इस क्रान्ति का आरम्भ होता है। यह क्रान्ति सम्यक् शिक्षण और सम्पूर्ण विकास से ही सम्पन्न हो सकती है। इस क्रान्ति का अभिप्राय केवल विचार तक ही सीमित नहीं, बल्कि मानव का सर्वांगीण विकास है। सम्यक् शिक्षण के जरिये होनेवाली यह क्रान्ति एक समग्र चित्त का आमूल परिवर्तन है, न कि केवल बौद्धिक या वैचारिक परिवर्तन। अन्ततोगत्वा विचार एक परिपाक है, कारण या हेतु का बीज नहीं। कारण में ही जड़मूल से परिवर्तन होना चाहिए, न कि केवल परिणाम में।

आम तौर से हम ऊपरी स्तर पर बाह्य लक्षणों में मामूली हेर-फेर करके अपना काम निबाह लेते हैं, जिससे आचार-विचार के बाह्य रूप-मात्र बदलते रहते हैं। हम पुरानी मान्यता, लब्ध-प्रतिष्ठ परम्परा और आदतें जड़ से उखाड़कर आमूलाग्र परिवर्तन की कोई नयी प्रक्रिया नहीं खोजते, परन्तु इस प्रकार का आमूल परिवर्तन ही हमारा वास्तविक उद्देश्य है और उसकी पूर्ति सम्यक् शिक्षण से ही हो सकती है।

सीखने का अर्थ

खोजने और सीखने की क्षमता मन का मुख्य धर्म है और यही यथार्थ ज्ञानार्जन की विधि है। केवल स्मरण-शक्ति बढ़ाना या तरह-तरह की जानकारी जुटाना ही सीखना नहीं है। विविध विषयों की जानकारी और वस्तुज्ञान का विशाल संचय ही मन का कार्य नहीं है। भ्रम और प्रमाद-रहित स्पष्ट और विवेक-युक्त मुक्त चिन्तन की क्षमता ही मानव चित्त का वास्तविक धर्म है। इस चिन्तन का आरम्भ वस्तुस्थिति से होता है, मान्यताओं या आदर्शों से नहीं। किसी पूर्व निर्धारित प्रयोग या निष्कर्ष से जब विचार का आरम्भ होता है तो सीखने के लिए कोई अवसर नहीं रह जाता।

विविध प्रकार की जानकारी का संचय ही ज्ञान है, ऐसा अक्सर ख्याल किया जाता है, परन्तु यह तो निरा शब्द ज्ञान है। सीखने का अर्थ है शब्द के पीछे छिपा हुआ वस्तु का तत्त्व जानने की उत्सुकता। किसी कार्य को आन्तरिक रुचि से करना, न कि लाभ की लालच से, ज्ञान उपार्जन का साधन है। जहाँ किसी भी किस्म का दबाव न हो वहीं सीखने के लिए मौका होता है। दबाव (साम-दान-दण्ड भेद आदि) के कई प्रकार हो सकते हैं। दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करने के सभी तरीकों का, चाहे वे प्रेम के भेष में हों या धमकियों के रूप में हों या फुसलानेवाली सूक्ष्म दलीलों और रिझानेवाले प्रोत्साहनों के छद्मवेष में हों—समावेश दबाव में होता है। ये सभी तरह के दबाव जिज्ञासा का गला घोंट देते हैं।

सात्त्विक महत्त्वाकांक्षा

बहुत लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि तुलना से, और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से सीखने तथा ज्ञान पाने की प्रेरणा को प्रोत्साहन मिलता है, किन्तु वस्तुस्थिति बिलकुल विपरीत है। तुलना के कारण विफलता की भावना दृढ़ होती है, ईर्ष्या और मत्सर का आवेग बढ़ता है। इसी प्रवृत्ति का शिष्ट रूप प्रतिद्वन्द्विता और प्रतियोगिता है। सूक्ष्म या स्थूल अनुरंजन या फुसलाने के तरीकों से सीखने में बाधा पहुँचती है और उससे भय पैदा होता है। महत्त्वाकांक्षा भय की जननी है। महत्त्वाकांक्षा, चाहे व्यक्तिगत हो या सामाजिक, हमेशा समाज-विरोधी होती है। उदात्त मानी जानेवाली या

सात्विक महत्वाकांक्षा भी पारस्परिक मानवीय सम्बन्धों के लिए घातक होती है।

जीवन की अनेकानेक समस्याओं का दृढ़ता और समग्रता से सामना करने की क्षमता जिस चित्त में होती है उसे सत्‌चित्त कहते हैं। ऐसे चित्त के विकास को उत्तेजन देना आवश्यक है। ऐसा समर्थ चित्त जीवन की समस्याओं से जैसे तैसे छुटकारा पाने की चेष्टा नहीं करता, क्योंकि पलायनवाद मनुष्य को हताश, कटु कुत्सित और द्वन्द्वमय बनाता है। इस दृष्टि से वस्तुस्थिति को यथातथ्य आँकने की मन की विविध शक्तियों का समुचित विकास होना चाहिए। साथ ही किन किन संस्कारों और प्रेरणाओं का मन पर प्रभाव पड रहा है, इसका हमेशा भान रहे, और इसका भी बोध रहे कि हम किन आकांक्षाओं के चक्कर में उलझ रहे हैं।

ज्ञानोपार्जन की विधि

मन की मौलिक शक्तियों का विकास हमारे मुख्य उद्देश्यों में से एक है। इसलिए अध्यापक किस तरह शिक्षा प्रदान करते है, यह एक महत्व का सवाल बन जाता है। आवश्यक है मनुष्य के मन का सर्वांगीण विकास करना, न कि केवल विविध विषयों का ज्ञान कराना। विषय-ज्ञान या जानकारी हर प्रकार के वार्तालाप-द्वारा देना उपयुक्त होगा। तरह-तरह के विषयों की जिज्ञासा जागृत करने के लिए और छात्रों में स्वतंत्र विचार की प्रवृत्ति का विकास करने के लिए परिसंवाद और परिप्रश्न की हर सभाव्य पद्धति का प्रयोग करना चाहिए। सीखने की प्रक्रिया म 'प्रामाण्य' का कोई स्थान नहीं है। ज्ञानोपार्जन के क्षेत्र में विशेषज्ञों के विशेषाधिकार के लिए कोई अवसर नहीं है। सीखने सिखाने के इस अनोखे सम्बन्ध में अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही साथ-साथ सीखते रहते हैं।

लेकिन, इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानार्जन मे विनय, व्यवस्था और औचित्य का ध्यान न रहे। अनुशासन के नाम पर किसी खास सिद्धान्त को या साम्प्रदायिक मत-प्रणाली को विशेष ज्ञान के प्रमेयों की शक्ल में छात्र के दिमाग पर थोपना निहायत गलत है। यदि अध्यापक को बराबर यह भान रहा कि सीखने का मतलब प्रज्ञा का अबाधित विकास है, तो कुदरती तौर पर छात्र और अध्यापक के बीच मुक्त विचार-प्रवाह का वातावरण रहेगा। इस विचार स्वातंत्र्य का अर्थ स्वच्छन्दता हरगिज नहीं, और न केवल विवाद-प्रियता ही *विचार स्वातंत्र्य है। मुक्त विचार उस अवस्था का* नाम है, जिसमें विद्यार्थी के चित्त को उसकी आकांक्षाओं, इरादों, वासनाओं और प्रेरणाओं का सहज प्रत्यय मिला होता है। उसे अपने आचार-विचार और भावनाओं से पता चलता है कि वह क्या चाहता है और उसका रुख किस तरफ है।

स्वतंत्र मन

अनुशासनबद्ध चित्त कभी स्वतंत्र चित्त नहीं हो सकता। किसी भी सम्प्रदाय के निर्धारित अनुशासन में रहनेवाला मन उन्मुक्त विचार के लिए असमर्थ होता है। उसी प्रकार वह मन भी स्वतंत्र नहीं हो सकता, जिसने वासना का दमन किया हो। जो मन वासनाओं की सारी गतिविधियों को भली-भाँति पहचानता हो वही स्वतंत्र मन है। उसी को प्रज्ञा का उन्मेष प्राप्त होता है। अन्धपरम्पराओं और साम्प्रदायिक निष्ठाओं के चौखट में रहकर सोचने समझने की आदत अनुशासन के ही नाम पर पनपी है।

लेकिन यह प्रवृत्ति प्रज्ञा के अबाधित विकास मे विघ्नरूप है। अन्धानुगमन की यह परम्परा विचार के क्षेत्र में अधिसत्ता को शिरोधार्य मानने की प्रवृत्ति बढ़ाती है। जो भी समाज का ढाँचा हो, जैसी भी समाज व्यवस्था हो, उसका वर्चस्व मानकर केवल विशेषज्ञ बनने की अल्प-सन्तुष्ट वृत्ति इस तरह दृढ़ हो जाती है, लेकिन प्रज्ञा के विकसन में मन की अन्त शक्तिओं का उन्मेष इस वातावरण में कदापि नहीं हो सकता। स्मृति शक्ति के सहारे खास किस्म की विशेषज्ञता प्राप्त करनेवाला मन आधुनिक विद्युदणु सगणक की भाँति (इलेक्ट्रानिक काम्प्युटर पुर्जों की तरह) है।

अधिसत्ता के दबाव और प्रामाण्य के प्रभाव से केवल किसी विशेष दिशा में ही विचार को गति दी जा सकती

है, लेकिन पूर्व निर्धारित सिद्धान्तों की सीमाओं में रहकर सोचने-समझने का अभ्यास वास्तविक विचार ही नहीं है। यह विचार करना क्या हुआ, यह तो केवल एक मानव यंत्र बन कर जीना है। इससे विवेकहीन असन्तोष मन में जड़ पकड़ता है और वैफल्य वेदना और कटुता की अनर्थ परम्परा जारी हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास, उसमें जो-जो विशेषताएँ और योग्यताएँ है, उनको उस व्यक्ति को सम्पूर्ण योग्यता के अनुरूप उन्नति हमारा लक्ष्य है। अध्यापक की कल्पना में योग्यता का जो उच्चतम आदर्श हो उससे हमारा मतलब नहीं है। हमारा मतलब है उस उच्चतम योग्यता से, जहाँ तक कोई व्यक्ति विकसित हो सकता है, अर्थात् अभिरुचि का चरम आविष्कार ही हमारा उद्देश्य है।

तुलना का स्थान नहीं

तुलना की दृष्टि से दो छात्रों में 'तरतम' देखने दिखाने की प्रवृत्ति व्यक्तित्व के विकास को रोक देती है। चाहे वह व्यक्ति वैज्ञानिक हो या बागवान। लेकिन, तुलना न हो तो बागबान का अपने व्यवसाय में कर्तृत्व, और वैज्ञानिक का अपने विषय में नैपुण्य दोनों ही पुरुषार्थ के चरम पर्याय है, लेकिन जहाँ तरतम-भावना प्रकट हुई वहाँ ईर्ष्या का द्वार खुल जाता है और पारस्परिक सम्बन्ध मत्सर और कलह से कलुषित हो जाते हैं। प्रेम में तुलना का कोई स्थान ही नहीं है। दुख की तरह प्रेम का भी कोई परिमाण नहीं हुआ करता। दुख दुख है, चाहे वह गरीब का हो या अमीर का, उसी प्रकार प्रेम प्रेम है।

व्यक्ति की सम्पूर्ण उन्नति समाज में समता की भावना स्थापित करती है। केवल आर्थिक, आध्यात्मिक या किसी एक ही क्षेत्र में समता स्थापित करने का प्रयास एकांगी है। इसलिए इस उद्देश्य से चलाये हुए सामाजिक संघर्ष अर्थहीन है। समता की स्थापना के उद्देश्य से जो समाज सुधार के कार्यक्रम बनाये जाते हैं उनमें अन्य प्रकार की समाज विरोधी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती है। यदि समीचीन शिक्षण हो तो समाज-सुधार की कोई जरूरत नहीं रहेगी, क्योंकि कर्तृत्व पराक्रम के क्षेत्र से प्रतिद्वन्द्विता व ईर्ष्या मत्सर की होड़ ही मिट जायगी।

यहाँ विशिष्ट कार्य और दरजा रुतबा का भेद स्पष्ट कर लेना चाहिए। विविध कर्मों में ऊँच-नीच की दृष्टि रखने से मद मान, अहंभाव बढ़ने का अवसर होता है, और अधिकार की अनुक्रम पद्धति से सेव्य-सेवक भावना समाज में दृढमूल हो जाती है। जहाँ व्यक्ति-मात्र को अपने विकास का पूरा अवसर प्राप्त हो वहाँ कर्म और दरजा में अन्तर्विरोध की गुंजाइश नहीं रहती। अध्यापक हो या प्रधान मंत्री हर एक के अपने विशिष्ट कार्य का उन्मेष प्रकट होता रहता है। इस तरह ऊँच-नीच भाव का डंक निकल जाता है। निपुणता या तंत्र विशेषज्ञता आजकल बी० ए०, पी० एच० डी० इत्यादि उपाधियों से व्यक्त होता है।

योग्यता उपाधि में नहीं

लेकिन, जहाँ मानव के समग्र विकास का सदैव भान रहता है वहाँ चाहे कोई व्यक्ति अपने नाम के पीछे उपाधि जोड़े या न जोड़े उस में निहित योग्यता उसे अवश्य प्राप्त होगी। उपाधि लेना या न लेना उसकी इच्छा पर निर्भर रहेगा, उसका योग्यता उपाधि से नहीं नापी जाती। उसे अपनी शक्तियों का प्रत्यय उपाधियों के बिना भी होता है। अपनी विशेषता की अभिव्यक्ति से उसमें वह आत्मश्लाघा और अहमन्यता पैदा नहीं होती, जो केवल विशिष्ट कला-निपुणता से पैदा होती है। आत्मगौरव की यह भावना अन्य लोगों की तुलना और विविध कर्मों में तरतम-भेद रखने से पनपती है। अतः वह समाज विमुख है। मर्यादित व्यवहार की सुविधा के लिए तुलना का उपयोग हो सकता है, लेकिन अध्यापक को अपने शिक्षा-क्रम में छात्रों की योग्यताओं का तुलनात्मक मूल्यांकन करना और उस दृष्टि से उनको ऊँच नीच स्थान देने का कोई प्रयोजन नहीं है।

असली चीज

हमारा लक्ष्य है व्यक्ति की सर्वांगीण उन्नति। इसलिए शुरू में विद्यार्थी को अपने अध्ययन के विषय चुनने का अवसर नहीं होना चाहिए। अगर उनको यह मौका

मिला तो सिर्फ पूर्वाग्रह के आधार पर या आसान विषय है, ऐसा समझकर कम से कम पढ़ाई करनी पड़गी, इस नीयत से वे अपने अध्ययन के विषय पसन्द करेंगे, या अपने समय और समाज की तात्कालिक खास जरूरतों के प्रभाव से अपने अध्ययन के विषय तय करेंगे। परन्तु, हमें तो असली चीज से मतलब है, इसलिए अपने पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति पूर्णरूप से किस तरह सिद्ध हो सकेगी, इसका छात्र को निरन्तर ध्यान रहेगा, कौन सा विषय आसान है और कम-से कम पढ़कर किस विषय म आसानी से पास होने की आशा है, यह विचार मुख्य नहीं होगा। जीवन की विविध समस्याओं और सवालों का समग्र दृष्टि से समाधान करने का हमारा प्रयास है। सभी आन्तर-मानसिक बौद्धिक तथा भावनात्मक प्रश्न इसी दृष्टि से हल करन होंगे। प्रारम्भ मे ही इस सर्वस्पर्शी दृष्टि से जीवन-विषयक विचार करन का संस्कार विद्यार्थी को मिलता रहे और किसी भी समस्या से भयभीत होकर वह मुँह न मोड़।

किसी भी प्रश्न का सर्वांगीण दृष्टि से सामना करने की क्षमता ही बुद्धिमत्ता है। विद्यार्थिओं को नम्बर देन से या उनमें गुणानुक्रम लगा देने से उनकी बुद्धिमत्ता विकसित नहीं होती है, बल्कि उसका उलटा असर होता है। उसमे बुद्ध की ग्रहण शक्ति की धार कम हो जाती है। परस्पर तुलना की पद्धति मन को पगु बना देती है। लेकिन, हमारा यह मतलब हरगिज नहीं है कि प्रत्येक छात्र की प्रगति का अध्यापक को अवधान न रह, या वह उसका लेखा न रखे। माता पिता और अभिभावक आमतौर पर अपन बच्चों की तरक्की के विषय में उत्सुक होत है और उसके बारे में समय-समय पर रिपोर्ट भी पाना चाहत हैं, परन्तु अत्यन्त दुर्भाग्य का विषय है कि उन्हें इस बात का शायद ही खयाल होता है कि शिक्षक बच्च के लिए क्या कर रहा है। उस रिपोर्ट को लेकर व अपने बच्चे को पुचकार या डरा धमकाकर अपने ख्याल के मुताबिक अभ्यासक्रम में प्रगति दिखाने को प्रोत्साहित करेंगे, मजबूर करेंगे। इस तरह छात्र की बुद्धिमत्ता सर्वांगीण बनाने की दृष्टि से शिक्षक जो कुछ कर रहा हो उस पर पानी फेर देंगे। ● (अपूर्ण)

माँ की बात

●

गुरुशरण

"बीस साल पहले की बात है। सुलतपुरा गाँव में एक साल सूखा पड़ गया। कहीं भी घास तक का पता न था। मगल महतो गाँव का सबसे मेहनती किसान था। पानी नहीं बरसा, फिर भी वह खेत पर खुरपी लेकर रोज जाता।

महीनों तक सूखे खेत में खुरपी चलाते देख एक दिन बादल ने पूछा—"घास तो है नहीं, फिर बेकार मेहनत क्यों करते हो ?"

किसान ने जवाब दिया—"इसलिए कि मैं कहीं घास छीलना न भूल जाऊँ।"

किसान का उत्तर सुनकर बादलों को लगा कि कहीं वे भी बरसना न भूल जायें और फिर उस दिन खूब वर्षा हुई।

"माँ, यह भी कोई कहानी है।"—सुशील ने कहा।

'बेटा, यह तो हुई पुरानी कहानी। अब मैं मगल महतो की आगे की कहानी सुनाती हूँ। चार साल बाद गाँव में मुखिया का चुनाव हुआ। महतो का मेहनती स्वभाव देखकर गाँववालों ने उसे ही मुखिया बना दिया।"

"माँ फिर क्या हुआ ?"

"गाँव में फिर सूखा पड़ गया, क्योंकि मेहनती किसान का मुँह कुर्सी की ओर और पीठ खेत की ओर हो गयी।"—माँ ने उदासी भरे स्वर में कहा।

पता नहीं, बच्चे ने माँ की बात कहाँ तक समझी' ●

बाल-कला के साधन

•

जुगतराम दवे

कला का अर्थ है—हृदय में उठनेवाली ऊर्मियो को प्रकट करना, कुछ सुन्दर-सुन्दर सृजन करना। बालक के जीवन को देखने से पता चलता है कि उसमें ऐसे सुन्दर सृजन भिन्न-भिन्न स्वरूपो में होते ही रहते हैं। बालक के स्वाभाविक जीवन में इस प्रकार की कला का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

जब बालक आनन्द में मस्त होता है तो वह अपने शरीर को खुला छोडकर नाचने लगता है और हाथ, पैर, गरदन आदि के कैसे सुन्दर सुन्दर रूप प्रकट करता है। यह नृत्य-कला बालक हमारे किन्हीं नृत्यकारो से नहीं सीखा होता। उनका नृत्य किसी को देखकर या किसी से सीखकर अथवा नृत्यकला के किन्हीं निश्चित नियमो का अनुसरण करके नहीं होता, बल्कि स्वयभू होता है। उनके अन्त करण में अन्दर से आनन्द की एक लहर उमड उठती है और उनका मुँह मुसकान से भर जाता है, किन्तु सिर्फ इतना करने से उन्हें अपना आनन्द प्रकट करने का सन्तोष नहीं होता। वे हाथ फैलाकर उन्हें नाना प्रकार की सुन्दर आकृतियों में बदलने लगते हैं। जब इससे भी उन्हें सन्तोष नहीं होता तो वे नाचने-कूदने लगते है और आकर लिपट जाते है।

बालक की काव्य सृष्टि

इसी तरह बालक जब बहुत प्रसन्न होता है तो गाने लगता है। किसी सगीतशास्त्री के पास जाकर उसने किसी प्रकार की काव्य-कला का अभ्यास नहीं किया है। अभी हमारे रचे हुए गीतो और पदो को भी वह जानता-समझता नहीं है। अन्दर से उमडनेवाले आनन्द को प्रकट किये बिना वह रह नहीं पाता। उसका वह आनन्द तरह-तरह के बाल-रागो और बाल-आलापो के रूप में फूट निकलता है, और उस समय तक बालक के पास भाषा की जो थोडी पूँजी इकट्ठा हुई होती है उसका उपयोग करके वह अपनी बाल कविता भी गाने लगता है।

एक छोटी लडकी अपने से बहुत छोटी बहन को खेला रही थी। रास्ते में बकरी दिखाई पडी तो गाने लगी—

बकरी आ. . . ती . . है,
बकरी आ. . . ती . . . है।

अपनी गान-सृष्टि और काव्य-सृष्टि में वह इतनी लीन हो गयी थी कि कोई दस मिनट तक लगातार गाती ही रही। हाथ के इशारे से बकरी दिखाती जाती थी और लम्बा राग अलापती जाती थी!

अपने अन्तर की ऊर्मियो को साकार करने के लिए बालक सबसे पहले ईश्वर की दी हुई जिस सामग्री का उपयोग करने लगता है, वह—उसके अपने हाथ-पैर, उसकी अपनी आँखें, उसका अपना मुँह, अपना समूचा शरीर और अद्भुत स्वरो की सृष्टि करनेवाला उसका अपना कण्ठ। इसके लिए उसे बाहर से कोई साधन लाना नहीं पडता, किसी से कुछ माँगने जाना नही पडता।

किन्तु, जैसे-जैसे बालक का जीवन विकसित होता जाता है वैसे वैसे उसके अन्तर की ऊर्मियो में कुछ ऐसी विविधता आने लगती है कि कल्पना नही की जा सकती। ऊपर बताये गये ईश्वरदत्त साधनो से अर्थात् अपने शरीर के अग-प्रत्यग से उन ऊर्मियो को प्रकट करने के बाद भी उसे सन्तोष नही होता। सब प्रकार की ऊर्मियाँ इन अमूर्त साधनो से प्रकट भी नहीं की जा सकतीं। इसलिए

वह अपने आसपास की दुनिया से अपने दिल की तरंगों को प्रकट करने के लिए, अपनी कला की सृष्टि के लिए नाना प्रकार के साधन खोज लेता है। धूल रेता कंकड़ और ठीकरी के रूप में उसे जरूरी सामग्री तुरंत मिल जाती है। उनके साथ अपनी बाल कल्पनाओं और बाल ऊर्मियों को मिलाकर वह अपनी विविध प्रकार की सृष्टि खड़ी कर लेता है।

हमारी आँखें तो सिर्फ इतना ही देख पाती हैं कि बालकों ने कंकड़ों और ठीकरियों को टेढ़े मेढ़े ढंग से बैठा रखा है पर कंकड़ों में एक माँ है दूसरा मेहमान एक चूल्हा है दूसरा थाली। अपनी इस कल्पना सृष्टि को बालक अपनी कलात्मक सूझ समझ के अनुसार रचता है। यदि उसे लगता है कि मेहमान जरा टेढ़े बैठे हैं तो वह उन्हें तुरंत सीधा बैठा देगा। यदि वह देखेगा कि थाली कुछ दूर रखी गयी है तो उसे मेहमान से सटाकर रख देगा। यदि माँ वाला कंकड़ चूल्हे के बहुत पास रखा होगा तो उसे एकदम ख्याल आयगा कि कहीं माँ को आँच न लग जाय इसलिए वह उसे वहाँ से फौरन हटा लेगा। इस प्रकार ठीकरियों और कंकड़ियों को अलग अलग आकृतियों के रूप में रचकर बालक उनके निमित्त से अपनी बाल कल्पनाओं को प्रकट करते रहते हैं।

पानी

चौमासे में पहली बारिश के आने पर सबसे पहले तो इस अद्भुत घटना के कारण बालकों के मन में दौड़ने भीगने नाचने और अपने ढंग से आलाप ले लेकर गाने की तरंगें उठेंगी। फिर धूल मिट्टी और रेती पानी में मिला देखकर उनके मन में नाना प्रकार की वस्तुएं सर्जन करने की कल्पनाएं उत्पन्न होंगी। सूखी रेत को देखकर जो कल्पनाएँ कभी जाग नहीं सकतीं वैसी कल्पनाएँ उसके दिमाग में चक्कर काटने लगेंगी। नदी बहाना तालाब बनाना गीली रेत का मन्दिर बनाना, उस पर झण्डी गाड़ना आदि अनेक प्रकार के सृजन का श्रीगणेश हो जायगा।

कला की हमारी परम्परा के अनुसार बालकों के बनाये ये नदी तालाब और मन्दिरों के घाट भले ही कलामय न बन पाये हों *परन्तु अपनी अनोखी बाल-कला* के अनुसार तो बालक इस बात की सावधानी रखते ही हैं कि उनका सारा काम कलात्मक रीति से हो। यदि मन्दिर पर फहरानेवाली ध्वजा बालक की कल्पना के अनुसार ठीक जगह पर ठीक तरह से खोंसी नहीं गयी है तो बालक उसे बार-बार बदलेगा। यदि किसी जगह अपनी बनायी हुई नदी की धार का मोड़ उसे अपनी कल्पना के अनुसार ठीक न लगा, तो वह उसके स्वरूप को बार बार बदलता रहेगा और जबतक उसे सन्तोष न होगा परिवर्तन-परिवर्धन करता ही रहेगा।

कभी-कभी सहानुभूतिपूर्वक हम उसके खेल में शरीक हो जायें तो बालक अपने मन की कल्पना हमारे सामने रख भी देता है। जब हमें पता चलता है कि बालक अमुक परिवर्तन या सुधार किसलिए कर रहा है तभी हम उसकी बालकला का सच्चा दर्शन कर पाते हैं।

और यह जरूरी नहीं है कि हर बार केवल कला का अर्थात सुन्दर आकृति तैयार करने का ही विचार बालक के मन में उठे। कभी बाल इंजीनियरिंग की भावना भी अपना काम करती है। बालक सोचता है-नदी तो बहने लगी लेकिन माँ पानी भरने आयगी तो किस रास्ते आयगी? इस कल्पना के आते ही वह *सीढ़ियाँ तैयार करके माँ के लिए उतनी सहूलियत खड़ी* कर देता है।

डण्ठल, डिब्बियाँ, पेटियाँ

अपनी कला सृष्टि के लिए बालक अपने आस पास से दूसरी जरूरी सामग्री भी बटोर कर ला सकते हैं। जैसे पेड़ पौधों के डण्ठल बाँस की खपचियाँ डिब्बे डिब्बी और दियासलाई की पेटी वगैरह। हम इन सुन्दर सुन्दर चीजों को यों ही फेंक देते हैं। यह देखकर बालक हमारे कला कौशल के बारे में अपनी राय बहुत हलकी बनाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। हमारी इस भूल को सुधारकर वे इस कीमती सामान की मदद से तरह-तरह की और नयी-नयी चीजें बना लेते हैं। अपनी कल्पना के सहारे वे इनकी मदद से मनुष्य की घोड़े की गाय की और ऐसी ही दूसरी मनचाही चीजों की सृष्टि कर लेते

है, और अपनी कला भावना को सन्तुष्ट करनेवाले ढग से इन सबको सजाकर बैठाते है। कही मिट्टी या गारा दिखाई पड जाय और कुछ करने की प्रेरणा जाग उठे तो उसमें अरहर आदि के डण्ठल खोसकर वे घर भी खडे कर लेते हैं।

फूल-पत्तियाँ

सृजन या निर्माण के लिए बालको की दूसरी बहुत ही प्रिय सामग्री पेड-पौधो की पत्तियाँ और फूल हैं। जब बालक इन चीजों का उपयोग करना चाहते है, तो उन्हें अनुभव होने लगता है कि जीवन कितना बन्धनमय है। माता-पिता के मनाही हुक्म फौरन छूटने लगते हैं। उनके मन में बालको के लिए कितनी ही सहानुभूति क्यों न हो, फिर भी पेड-पौधो को स्थायी रूप से हानि पहुँचाने की आजादी वे बालकों को क्योंकर दे सकते है? फूल के हाथ में आनेपर कभी-कभी बालक का ध्यान उसके सुन्दर रूप-रग से हटकर उसकी पखुडियो और केसर आदि की रचना की ओर खिंच जाता है। उस समय वह कला का उपासक न रहकर विज्ञान का उपासक बन जाता है और फूल की पखुडियो को नोचकर इस बात की खोज करने लगता है कि अन्दर की रचना कैसी है। एक सुन्दर और सुगन्धित पुष्प की ऐसी दुर्दशा को भला माता-पिता कैसे सहन कर सकते है? माता पिता के ऐसे मनाही हुक्म सुन-सुनकर आखिर बालक समझ जाते है कि भले वे इस दुनिया की अनेकानेक वस्तुओ का उपयोग अपने सृजन-कार्य के लिए करना चाहें, पर उन्हें वैसा करने की आजादी मिल नहीं सकती।

मेज कुर्सी, छड़ी, छाता

घर में मेज-कुर्सी, खाट-छडी छाता, जूते, लालटेन वगैरह चीजें होती है। हम देखते हैं कि मुहल्ले-मुहल्ले में बालक अपनी सृष्टि रचना की तरगो को सन्तुष्ट करने के लिए घर की इन वस्तुओ का विविध उपयोग करते रहते हैं। अपने मन में उठनेवाली ऊर्मियो के अनुसार वे अपनी कुछ रचना खडी कर लेते हैं और कभी घर गृहस्थी का नाटक खेलते है तो कभी खटिया की आड खड़ी करके और घण्टी की जगह कोई डिब्बा टाँगकर व पाठशाला का नाटक भी खेल लेते हैं। कभी छडी और छाता हाथ में लेकर अपनी घोड़ागाड़ी भी दौडा लेते हैं। माता-पिता जहाँ तक सहन कर पाते हैं, वहाँ तक तो अपने बालको को घर की इन चीजो का ऐसा अटपटा उपयोग सहानुभूतिपूर्वक करने देते हैं, *लेकिन एक हद के बाद उनकी मर्यादा का अन्त आ* जाता है, और अमुक चीजो को जब्त करके बालको के रग में भग भी डालना ही होता है।

बालको के स्वाभाविक जीवन म कलात्मक सृजन के ये काम यो निरन्तर चलते ही रहते हैं। इनके लिए वे नानाप्रकार की चीजें खोज निकालते हैं और उम्र के साथ जैसे-जैसे उनकी कल्पना-शक्ति का विकास होता जाता है, और हाथ की उँगुलियो की कुशलता में वृद्धि होती रहती है, वैसे-वैसे बालक की कला का भी विकास होता रहता है।

बाल-स्वभाव के इस महत्त्वपूर्ण अग को पहचानकर हमें बालवाडी म भी बालक की कला-सृष्टि के लिए पर्याप्त अनुकूलता कर देनी चाहिए और इसके लिए नाना प्रकार का साज सामान उसके सामने रखकर बालक को उसके उपयोग की दिशा का साधारण ज्ञान भी देते रहना चाहिए।

यदि हम बालवाडी के मैदान में धूल, मिट्टी और रेती के ढेर तैयार रखेंगे और साथ ही छोटे-छोटे फावडो, टोकरियो या तसलो की व्यवस्था रखेंगे, तो इनकी मदद से बालक अपनी कल्पना के अनुसार तरह-तरह की चीजें बनाते ही रहेंगे।

यदि उपर्युक्त सामान के साथ हम बालवाडी के मैदान मे ईंट या मिट्टी की हदवाला एक चौक भी खडाकर देंगे और बालको को समझा देंगे कि रेती और मिट्टी की उनकी अपनी दुनिया रचन के लिए यह जगह बनायी गयी है, तो वे हमारी बात समझ जायेंगे और फिर गलत चीजो के हानिकर उपयोग क लिए अथवा घर के कमरे में तरह-तरह की चीजो का सग्रह करने के लिए हम उनके नाम मनाही हुक्म जारी करने की जरूरत नही पडेगी। ●

(अपूर्ण)

शिक्षा शासन-मुक्त हो

•

काशिनाथ त्रिवेदी

प्राचीन काल से हमारे यहाँ विद्या को जीवन मुक्ति अथवा अमरता का वाहन माना गया है। सा विद्या या विमुक्तये और विद्यया अमृतम् अश्नुते दो उदात्त मंत्र विद्या के उपासकों ने बहुत प्राचीनकाल से इस देश में अपने सामने रखे हैं। इतना भव्य और दिव्य उत्तराधिकार जिस राष्ट्र की मानवता को पीढ़ियों से प्राप्त रहा है उस राष्ट्र की जनता विशेषकर शिक्षित सम्पन्न और प्रतिष्ठित जीवन बितानेवाली जनता अपने इस महान उत्तराधिकार को भूलकर प्रवाह पतित की भाँति केवल उदर निर्वाह की दृष्टि से शिक्षा के क्षेत्र में आती है और विभिन्न प्रकार की रूढ़ परीक्षाओं के चक्र से निकलकर प्रमाणपत्रों के सहारे अपने जीवनयापन के साग सोजन में लग जाती है।

इसीलिए रह रहकर मन में सवाल उठता है कि आखिर हम अपने इस देश में शिक्षा का कौन सा क्रम स्थिर करना चाहते हैं—जो पराधीनता के काल से चला आया है और लोकमानस में रूढ़ हो गया है जिसे हमारे *लोकशासन ने भी व्यर्थ की झूठी प्रतिष्ठा दे रखी है* और जिसका अन्तर्बाह्य सब कुछ अनेकानेक आधिव्याधि और उपाधियों के कारण जर्जर गलित और दुर्गन्ध-दूषित हो गया है जिसमें न तो किसी महान आदर्श की उपासना का कोई भाव रहा है और न जिसमें किसी प्रकार की पवित्रता प्राञ्जलता निर्मलता शालीनता और सस्कारिता ही रह गयी है।

नयी पीढ़ी का नौजवान आज अपने को अपने विद्यार्थी-जीवन की एक भारी विभीषिका के बीच पाता है। उसके मन प्राण को और उसकी आन्तरिक भावनाओं को पुष्ट करनेवाला उसके सपनों को समृद्ध बनानेवाला कोई वातावरण उसे आज की हमारी शिक्षा सस्थाओं में कहीं मिलता नजर नहीं आता। देश के शिक्षा जगत में जो अनेकानेक भ्रान्तियाँ और विकृतियाँ स्वतन्त्रता के इन १७ सालों में खड़ी हो गयी हैं उन्होंने ऊपर से नीचे तक शिक्षा जगत में गये हुए लोगों को इस तरह जकड़ लिया है कि वे अपनी जागृति के क्षणों में कितने ही क्यों न छटपटायें अपने आपको इस जकड़बन्द से मुक्त कर लेने में भारी असमर्थता का अनुभव कर रहे हैं। विश्वविद्यालयों के कुलपतियों और उप-कुलपतियों से लेकर नीचे प्राथमिक शालाओं और बालमन्दिरों में काम करनेवाले शिक्षक शिक्षिकाओं तक सभी आजकल इस देश में एक भयकर और विचित्र सी कुण्ठा और विवशता के शिकार बने हुए हैं। नानाविध विकृतियों के जिस जाल में वे घिर गये हैं उससे वे स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा बच निकलें यह उनके लिए अब सम्भव दिखता नहीं है। इसीलिए बरबस यह पूछने की इच्छा होती है कि आज की हमारी शिक्षा किस बात की शिक्षा है? किसलिए है और कैसी है? जब तक इस मूलभूत प्रश्न पर पूरी गहराई से और तटस्थता से सोचने की स्थिति नहीं बनती तब तक हमारे इस स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का प्रश्न इसी तरह उलझा रहेगा और देश को

मानवता को हर तरह त्रस्त करता रहेगा एवं गहरी क्षति पहुँचाता रहेगा।

इस देश की वर्तमान शिक्षा आमूल-चूल क्रान्ति चाहती है, छोटे-मोटे सुधार नहीं। जो चादर जर्जर हो गयी है, सड़ गयी है और गल गयी है, उसमें कितने ही बढ़िया पैबन्द क्यों न लगाये जायँ, वे उस चादर की शक्ति और शोभा को किसी तरह बढ़ा नहीं पायेंगे। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि चादर ही नयी हो और देश की नयी पीढ़ी को उसी की ऊष्मा का लाभ मिले।

शिक्षा के ज्वलन्त प्रश्न

पहला विचारणीय प्रश्न यह है कि स्वतंत्र और लोकतन्त्र निष्ठ भारत के नौनिहालों की शिक्षा का स्वरूप क्या हो? शिक्षा सर्वांगीण हो या एकांगी? केवल बुद्धि का विकास करनेवाली हो या बुद्धि के साथ ही शरीर मन और आत्मा का भी विकास करनेवाली हो?

दूसरी विचारणीय वस्तु यह है कि आखिर इस देश की नयी पीढ़ी की शिक्षा का लक्ष्य क्या हो? शिक्षा केवल जीविकोपार्जन के लिए हो या जीवन-निर्माण के लिए। जीविकोपार्जन भी परोपजीवी वृत्ति का हो अथवा स्वावलम्बी हो?

तीसरा प्रश्न है शिक्षा कारखानों के वातावरण में दी जाय या पारिवारिक वातावरण में दी जाय? ऊपर से लादे गये अनुशासन के वातावरण में दी जाय अथवा आत्मानुशासन का पोषण करनेवाली हवा में उसकी सारी व्यवस्था की जाय? शिक्षा गुण विकास के लिए हो या केवल बुद्धि विलास के लिए? शिक्षा मनुष्य-मनुष्य के बीच की समानता और स्वतन्त्रता की पोषक हो अथवा दोनों के बीच की विषमता को बढ़ानेवाली और एक दूसरे की दासता का उत्तरोत्तर पोषण करनेवाली? शिक्षा मिथ्या अनुकरण का पोषक हो अथवा गुरु शिष्य में जीवन की मौलिक दृष्टि और मौलिक चिन्तन करने की शक्ति का विकास करनेवाली? शिक्षा आत्मस्वरूप के निरीक्षण-परीक्षण के लिए हो, ज्ञान-विज्ञान के गहरे अध्ययन, चिन्तन और आविष्करण के लिए हो अथवा केवल उथला छिछला और हलका-फुलका निरुद्देश्य जीवन बिताने के लिए हो? ये और ऐसे अनेकानेक प्रश्न हैं, जो आज इस देश के शिक्षा-जगत के सामने अपनी सारी प्रखरता के साथ उपस्थित हैं। ये प्रश्न हम में से हर एक के लिए चुनौती-रूप हैं और समाधानकारक उत्तरों की अपेक्षा रखते हैं। उत्तर भी तुरत खोजने होंगे, देर करने से स्थिति और भी जटिल हो जायगी और बहुत सम्भव है कि असाध्य हो जाय।

देश के कर्णधारों और मनीषियों के मन में शिक्षा-जगत की इन सारी समस्याओं के प्रति क्या धारणा है, वे इनके समाधान के लिए क्या सोच रहे हैं और किन उपायों का अवलम्बन कर रहे हैं, यह कहना कठिन है। हालत जिस तेजी के साथ गिरती जा रही है, और बेकाबू हुई जा रही है, उसे ध्यान में रखकर तदनुरूप उत्कटता से और तत्परता से कोई उपाय योजना कहीं होती दिखाई नहीं पड़ती। इसलिए सहज ही व्याकुल मन और छटपटा उठता है।

इस देश के केन्द्रीय शासन में और राज्य-शासनों में जो रथी महारथी शिक्षा के रथ का संचालन करते आ रहे हैं, उन्हें भी बड़ा भारी दिशा-भ्रम हो गया है। किंकर्तव्यविमूढ़-सी स्थिति में सारा काम घिर गया है और कहीं से प्रकाश की कोई किरण फूटती नजर नहीं आती।

केन्द्रीय शासन जब इधर-उधर से लोकमत के दबाव का कुछ अनुभव करता है, तो उससे बचने के लिए छोटे-बड़े कमीशनों की रचना करके उनकी आड़ में क्षणिक स्वस्थता का अनुभव कर लेता है। समस्या की गहराई में जाने और दृढ़तापूर्वक तथा साहसपूर्वक वस्तु-स्थिति का सामना करने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती। जो सुधार या उपाय सोचे जाते हैं, वे भी अपेक्षित परिणाम प्रस्तुत नहीं कर पाते।

हाल ही में हमारे देशके वर्तमान शिक्षा मन्त्रीजी ने एक बड़े और भारी-भरकम शिक्षा-आयोग की स्थापना की है। वे आशा रखते हैं कि इस आयोग की सिफारिशें देश की शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण करने में सहायक होंगी, पर उन्होंने इस आयोग की रचना जिन

देशी विदेशी विद्वानों की ओर विशेषज्ञों की नामावलि के साथ दी है, उसे देखते हुए यह विश्वास नहीं होता कि विशेषज्ञों और शिक्षाविदों का यह आयोग देश की करोड़ों-करोड़ मूक, उपेक्षित और नाना प्रकार के अज्ञान में डूबी निस्सहाय जनता की शिक्षा दीक्षा का कोई समुचित मार्ग सुझा सकेगा। (कभी-कभी विदेशी विशेषज्ञ मौजूं राय भी देते आये हैं—सम्पादक)

अन्य क्षेत्रों की तरह आज की हमारी शिक्षा भी निहित स्वार्थों का शिकार बन रही है। उसके बारे में सबके हित की दृष्टि से सोचने को कोई तैयार ही नहीं दिखाई पड़ता। एक सीमित और संकुचित दृष्टि से सोचकर शिक्षा-सम्बन्धी बड़े से बड़े प्रश्नों के उत्तर खोजे जाने की परिपाटी-सी इधर पड़ गयी है। एक तरफ हम अपने देश में समाजवाद के माध्यम से आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में *समानता लाने की घोषणाएँ शासकीय मंच से करते रहते* हैं और दूसरी तरफ उसी शासकीय मशीनरी के द्वारा देश में ऐसे-ऐसे शिक्षा-विषयक प्रयोग होते रहते हैं, जिनसे क्या शासन में, क्या समाज में और क्या देश की सारी लोकव्यवस्था में, नाना प्रकार की नयी-नयी विषमताओं की सृष्टि होती रहती है। प्रयोगों के नाम पर कुछ थोड़े से लोगों को शिक्षा के अनुशासन और प्रशिक्षण आदि के विशेष अवसर विशेष सुविधाओं के साथ दिये जाते हैं, जो आगे चलकर स्थापित हितों के रूप में विकसित होते हैं और सामाजिक तथा आर्थिक विषमता की खाई को अधिक-से-अधिक चौड़ा और गहरा करने के निमित्त बनते हैं।

जैसे सामन्तशाही और पूँजीशाही में विशिष्ट स्वार्थवाले घरानों के अपने शक्तिशाली वर्ग खड़े हुए थे वैसे ही दूसरे वर्ग नये-नये नाम और रूप धारण करके आज हमारे देश में लोकतान्त्रिक समाजवाद के सङ्कल्प के साथ उभरते चले जा रहे हैं। आगे चलकर ये ही समाज और राज्य दोनों के लिए भारी उपद्रव और चिन्ता के कारण बन जायें तो आश्चर्य नहीं, और लक्षण कुछ ऐसे हैं कि आज की सी अस्थिर और अनिश्चित मनोवृत्ति में हमारे कर्णधारों को वह सब सूझता ही नहीं, जिससे देश में समाज और शासन की रचना वर्गनिरा-करण के साथ नागरिक-नागरिक के बीच की समान भूमिका को लेकर की जा सके। पता नहीं, शिक्षा-जगत में चल रही यह सारी विसंगति सबको कब, किस गहरी खाई में ले जाकर पटकेगी।

हमारी शिक्षा का सारा मन्त्र और तन्त्र आज गड़बड़ा गया है। हमारे देश के जो करोड़ों-करोड़ *लोग गुलामी* के दिनों में जबरदस्ती शिक्षा के लाभ से वंचित रखे गये थे, स्वतन्त्रता के बदले हुए सन्दर्भ में आज जब हम उनके पास शिक्षा का सन्देश लेकर जाते हैं, तो वह शिक्षा एक ऐसी शिक्षा होती है, जो उनमें रहे-सहे पुरुषार्थ, उनकी प्रामाणिकता और उनके मानवीय गुणों को ही समाप्त करनेवाली बन जाती है। गाँवों में रहनेवालों को शहरी ढंग की पुस्तकीय शिक्षा का लाभ देकर हम गाँवों की नयी पीढ़ी को भी बाबूगिरी के लिए तैयार करने में लगे हैं। गाँवों से उखड़कर शहरों में आने और बसनेवाले देहाती बाबू आज इस देश में त्रिशंकु-सा जीवन बिताने के लिए विवश हो रहे हैं। वे अपनी परिस्थितियों के मारे न पूरे नागरिक बन पाते हैं, न ग्रामवासी रह पाते हैं। उनका सारा जीवन आज की हमारी विसंगतिपूर्ण व्यवस्था पर एक करारा व्यंग्य ही सिद्ध हो रहा है।

नगरों और गाँवों में शिक्षित बेकारों की सेना निरन्तर बढ़ती चली जा रही है। शासन अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद बेकारों को काम देने की कोई व्यवस्था नहीं कर पा रहा है। शहरों के शिक्षित बेकारों के साथ साथ गाँवों के अर्द्धशिक्षित, और खेती-किसानी में लगे अन्य लोगों की बेकारी भी दिन-पर-दिन तेजी से बढ़ती जा रही है। शासन के कर्णधारों से यह वस्तुस्थिति छिपी नहीं है, फिर भी पुराने परम्परागत और रूढ़िग्रस्त विचारों के दुश्चक्र में वे कुछ इस तरह जकड़ गये हैं कि चाहने पर भी किसी क्रान्तिकारी पथ को अपना नहीं पाते। आज की हमारी स्थिति की यही एक भारी विडम्बना है।

हमारे अधिकारी धुरन्धरों का ध्यान अपने देश की ओर उतना नहीं है, जितना विदेशों की ओर दिखाई पड़ता है। देश की मूल प्रकृति, परिस्थिति और आव-

श्यकता की उपेक्षा करके वे इस देश में विदेशों की प्रतिसृष्टि खडी करने के फेर में पडे दीखते हैं। ध्यान दिलाने पर भी ध्यान देने की उनकी तैयारी नहीं है। कहने को देश में हमने लोकतन्त्र चला रखा है, किन्तु असल में आज का हमारा लोकतन्त्र अभी राजतन्त्र की निरकुश भूमिका के साथ ही चलाया जा रहा है। सत्तारूढ़ व्यक्ति लोकभावना की उपेक्षा करके प्रायः अपने मन की लहर के अनुसार ही काम करते पाये जाते हैं। ऐसा करते समय वे राष्ट्रात्मा-द्वारा मान्य तत्त्वो और सिद्धान्तो की भी उपेक्षा सहज निरकुशता के साथ करते रहते हैं। उनके ऐसे अनुत्तरदायित्व-पूर्ण व्यवहार का घातक परिणाम पूरे राष्ट्र और समाज को भुगतना पडता है।

प्रश्न चाहे बुनियादी शिक्षा के प्रसार का हो, चाहे अंग्रेजी का हो, चाहे शिक्षा के माध्यम का हो अथवा शिक्षा की समूची रीति-नीति का हो, हर बात में, हर जगह सत्तारूढ व्यक्ति अपनी मनमानी करने पर तुल जाता है और इस तरह जिनकी उत्तम सेवा के लिए वह सत्तारूढ होता है, उनकी अधम प्रकार की कुसेवा करके ही अपने पद से हटता है।

ऐसी दशा में प्रश्न यह उठता है कि आज की इस अराजक स्थिति में साधारण नागरिक करे क्या? अपने नौनिहालो की समुचित शिक्षा-दीक्षा के लिए वह कौन-सा पथ स्वीकार करे? किधर जाय? किनका सहारा ले? सारी स्थिति पर दृष्टि दौडाने से मन में एक ही विचार प्रबल भाव से उठता है और वह यही है कि शिक्षा को सत्ता से अलग करके जनता के सेवको के हाथ में सौंपा जाय अथवा जनता का जागृत अग स्वय अपनी नयी पीढी की शिक्षा-दीक्षा का सारा दायित्व अपने कन्धो पर ले और जिस तरह का समाज और जैसी राज-व्यवस्था उसे इष्ट है, उसके अनुरूप शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करने में वह स्वय सगठित रूप से जुट जाय। जब तक शिक्षा का क्षेत्र शासन और शासको के हाथ में रहेगा, तब तक न तो शिक्षा-गुरुओ में अपनी निज की कोई जीवन निष्ठा जागेगी और न शिक्षार्थियो के सम्मुख ही उज्ज्वल तेजस्वी अथवा प्रतापी जीवन का कोई चित्र खडा हो सकेगा। यदि शिक्षा को सर्वांगीण बनाना है, और सर्वव्यापी करना है, तथा शिक्षितो के जीवन के लक्ष्य को नयी दिशा देनी है, उन्हें परावलम्बन से हटाकर स्वावलम्बन की ओर मोडना है, तथा उनके जीवन को नित नये साहस और पुरुषार्थ की आकाक्षाओ से परिपूरित करना है, तो आज की स्थिति में उसका एक ही समर्थ उपाय दिखता है और वह है शिक्षा के सारे कार्य को शासन से मुक्त करना।

इस देश में यह सब कैसे होगा, कब होगा और कौन करेगा? हम शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिष्ठित अपने गुरुजनों और सहयोगियो से निवेदन करते हैं कि वे इन प्रश्नो को अपने ऊहापोह का विषय बनायें और अपने चिन्तन का लाभ सर्वसाधारण को दें।

○

बुनियादी शिक्षा-परिचर्चा

गत २२-२३ दिसम्बर, '६४ को सेवापुरी में उत्तर प्रदेशीय गांधी-स्मारक निधि द्वारा बुनियादी शिक्षा की एक परिचर्चा का आयोजन हुआ। परिचर्चा में बेसिक शिक्षा के जाने-माने शिक्षाशास्त्री और व्याख्याता सम्मिलित हुए, जिसमें बुनियादी शिक्षा के मूल्यांकन पर लिखित निबन्ध पढ़कर सुनाये गये और नयी तालीम की नयी 'इमेज' (चित्र) प्रस्तुत की गयीं। परिचर्चा का निष्कर्ष आगामी अंक में प्रकाशित होगा।

—सम्पादक

●

दीये से दीया जले

•

रामभूर्ति

प्रश्न—आपने कहा था कि देश में गिनने को गाँव ही गाँव हैं; लेकिन सचमुच गाँव एक भी नहीं है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—मान लीजिए आपका गाँव है और उसमें सौ परिवार हैं। कई जाति के लोग रहते हैं। धनी, गरीब भूमिवान, भूमिहीन, किसान मजदूर, व्यापारी, नौकरी करनेवाले, सब हैं। क्या आप बता सकते हैं कि एक ही गाँव में बाप दादा के समय से रहनेवाले इन सौ परिवारों में प्रेम है ? क्या कोई ऐसा धागा है, जो इन सबको एक में बाँधता है ? धम, पड़ोस कमाई, रस्म-रिवाज, क्या कोई भी चीज है, जिसे लेकर ये सब एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हों ? क्या यह बात नहीं है कि गाँव में मजबूत कमजोर को दबाता है, और धनी गरीब को चूसने की कोशिश करता है ?

बात कुछ ऐसी है कि पुराने वक्त से जमीन 'ऊँची' जातिवालों के हाथ में रही है और नीची जाति के लोग भूमिहीन रहे हैं। इसके अलावा कुछ और भी कारण हैं, जिनसे गाँव के जीवन में जाति के भेद और धन की विषमता का मेल हो गया है, और ऐसा लगता है, जैसे ग्रामीण जीवन का पूरा ताना-बाना जातिगत दमन और वर्गगत शोषण से बना हुआ है। जाति की दीवाल, धन की दीवाल धर्म की दीवाल, और अब दल की भी दीवाल—जब एक को दूसरे से अलग करनेवाली इतनी दीवालें हैं तो कैसे कहा जा सकता है कि गाँव एक है ? और क्या आश्चर्य है कि अब शायद ही कोई गाँव हो, जिसमें दो-चार लोग ऐसे हों, जिनमें ग्राम भावना हो और जो भेद भाव और लाग डाँट से ऊपर उठकर पूरे गाँव के बारे में सोचते हों।

प्रश्न—है तो गाँव का कुछ ऐसा ही हाल, तभी तो गाँव के किसी काम में सबका उत्साह नहीं होता और लोगों में आपसी अविश्वास और सन्देह बना रहता है। किसी काम में सब लोग एक होकर लगते ही नहीं। कैसे गाँव की कोई योजना सफल होगी ?

उत्तर—जाहिर है कि आज गाँव जैसा है उसमें पूरे गाँव की कोई योजना नहीं चल सकती। खेती को ही लीजिए। सिंचाई के लिए नहरें बनी लेकिन जिसके पास खेत ही नहीं है वह सींचेगा क्या ? और जो मजदूर है उसे दूसरे के खेत का उत्पादन बढ़ाने में उत्साह क्यों हो ? मालिक का उत्पादन बढ़ेगा तो क्या मजदूर को ज्यादा मजदूरी मिलेगी ? इसी तरह सरकार की जितनी भी योजनाएँ होती हैं उनका फायदा ज्यादातर उन्हीं को मिलता है, जो 'पहुँच' रखते हैं और मौके से काम बना लेना जानते हैं। नीचे के लोग अछूते रह जाते हैं।

प्रश्न—बात सचमुच ऐसी ही है, लेकिन कैसे इसमें परिवर्तन होगा, समझ में नहीं आता। कभी-कभी तो मन कहने लगता है कि गाँव की हवा इतनी बिगड़ गयी है कि अब उसमें सुधार नहीं होगा।

उत्तर—जरूर, गाँव के जीवन का ताना-बाना बेहद ढीला हो गया है। गरीबी, बेकारी, जाति-पाँति के भेद-भाव के अलावा स्वराज्य के बाद, जो दलबन्दी और चुनावबाजी शुरु हुई उसने तो, ऐसा लगता है कि गाँव गाँव को अखाडा बना दिया। सम्पत्ति और सत्ता की होड जैसे एक एक आदमी के दिल और दिमाग में घुस गयी है। समस्या आसान नही है, लेकिन एक आशा है।

प्रश्न—वह क्या ?

उत्तर—यह कि आज बहुत ज्यादा लोग महसूस करने लगे है कि बात बहुत बिगड गयी है और देश का जीवन जिस तरह चल रहा है उस तरह नही चलना चाहिए। यह प्रतीति व्यापक है, लेकिन जरूरत है उसे सही दिशा में मोडने की। केवल असन्तोष प्रकट करने से काम नही चलेगा।

प्रश्न—तब क्या किया जाय कि मोड़ आये ?

उत्तर—क्या असन्तोष को यह रूप नहीं दिया जा सकता कि लोग मिलकर सोचें, मिलकर निर्णय करें, और मिलकर अपने सवालों को हल करने की कोशिश करें।

प्रश्न—अपना विचार कृपया और साफ कीजिए।

उत्तर—क्या हम गाँव के लोगो को यह समझा सकते है कि अब समय आ गया है कि हर गाँव अपने लिए खुद सोचे और गाँव की रोटी-रोजी, झगडे और तरक्की के सवाल कैसे हल होंगे, इसके बारे में निर्णय करे ?

प्रश्न—पचायत इसीलिए तो है। उससे अलग क्या करना है ?

उत्तर—नहीं भाई, पचायत से यह काम नही होगा।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—कारण साफ है। पंचायत चुनाव से बनती है, और चुनाव में लडाई होती है, जो चुनाव के बाद भी चलती रहती है। इस लडाई के कारण गाँव दलबन्दी में पड जाता है और एक होकर नहीं सोच पाता। दूसरी बात यह है कि पचायत अपने को सरकार का अग समझती है और गाँव पर कानून की शक्ति से शासन करना चाहती है। किस पचायत को गाँव के जन जन का प्रेम प्राप्त है ?

प्रश्न—प्रेम तो नहीं प्राप्त है, लेकिन दूसरा कौन करेगा ?

उत्तर—मैं करूँगा, आप करेंगे, जिसमें गाँव के लिए दर्द है, ग्राम भावना है, वह करेगा।

प्रश्न—तब किया क्या जाय ?

उत्तर—सबसे पहले गाँववालों के सामने यह बात रखनी चाहिए कि हमें खुद अपने लिए सोचना है। जब लोगो में यह भावना आ जाय तो उनके सामने एक ठोस कार्यक्रम रखा जाय। स्वराज्य के बाद के इतने वर्षों में सरकार की ओर से विकास के जो काम हुए है और उनके लिए करोडो-करोड रुपये खर्च हुए है उनका एक जबरदस्त असर यह हुआ है कि गाँव के लोग अपने गाँव के प्रति अपनी कोई जिम्मेदारी नहीं महसूस करते। वे मानने लगे है कि हर चीज की जिम्मेदारी सरकार पर है। पहले बरसात में बाँध टूटता था तो लोग कुदाल लेकर दौडते थे, अब दरख्वास्त लेकर बी० डी० ओ० के पास दौडते हैं। यहाँ तक हो गया है कि गाँव में कोई अतिथि आता है तो उसे मुखिया के पास भेज देते हैं। इसलिए सबसे पहले लोगो के दिमाग को नया मोड देने की जरूरत है।

यह हमारा गाँव है, हम इसे बनायेंगे, ऐसी भावना लोगो में भरनी है। यह काम आज बहुत कठिन मालूम होता है, लेकिन अगर हर आदमी, जिसके अन्दर थोडी भी ग्राम-भावना है, कोशिश करेगा तो उसे चार-छ साथी जरूर मिल जायेंगे, और इस तरह गाँव की भलाई की बात सोचनेवाले मित्रो की एक इकाई (सेल) बन जायगी। ऐसी इकाई गाँव गाँव में बननी चाहिए। एक दीये से दूसरा दीया जले, दूसरे से तीसरा और इसी तरह दीये जलते चले जायें। अगर ऐसा होगा तो आप देखेंगे कि देखते-देखते लोगो के सोचने की दिशा बदल जायगी। समाज इसी तरह बदलता है।

प्रश्न—ये इकाइयाँ काम क्या करेंगी ?

(क्रमश)

बच्चे क्या पढ़ते हैं ?–३

•

श्रीकृष्णदत्त भट्ट

भारत की एक प्रमुख भाषा है—तमिल। पुरानी सांस्कृतिक भाषा। मद्रास राज्य में तमिल भाषा बोली जाती है। तमिल बोलनेवालों की सख्या है कोई तीन करोड़।

स्कूलों म पढनेवाले ६ से १५ साल तक के तमिल भाषी बच्चों की सख्या है कोई ३७ हजार।

लका, बर्मा सिंगापुर मलाया दक्षिण अफ्रीका में भी तमिल भाषा लोग रहते हैं लेकिन यहाँ पर हम केवल मद्रास राज्य के तमिल भाषी बच्चों की बात ले रहे हैं।

तमिल भाषी बच्चे क्या पढ़ते हैं—इस विषय पर जनवरी फरवरी १९६० म एक सर्वे की गयी। यूनेस्को की ओर से स न लेंग्वेज बुक ट्रस्ट' न यह सर्वे की। बाल मानस को समझने के लिए इस सर्वे में बहुत कुछ मसाला मिल सकता है। आइए, हम उस पर कुछ विचार कर।

× × ×

तमिल भाषा यों तो बहुत समृद्ध है पर पाठ्य पुस्तकों के अलावा बच्चों के पढ़ने की सामग्री उसमें बहुत कम है। अगस्त १९५७ में डाक्टर एस० आर० रगनाथन की अध्यक्षता में एक कमेटी न सर्वे की थी, तो पता चला था कि बच्चों के लिए कुल २६३ पुस्तकें निकली हैं जिनम से ६ साल तक क बच्चों क लायक तो केवल २ ही पुस्तकें है। ७ से ९ साल तक के बच्चों के लायक ६० पुस्तकें हैं। १० से १२ सालवालों के लायक १०० पुस्तकें है और १३ से १५ साल तक के बच्चों के लायक भी १०० पुस्तकें हैं।

तीन साल के भीतर कोई ७०–७५ पुस्तकें और निकलीं। तो १९६० में जब यह सर्वे की गयी, तब बच्चों के पढ़ने लायक कोई ४०० पुस्तकें बाजार म थी, जिनम ३ से ६ सालवाले बच्चों के लायक ६ पुस्तकें थी, ७ से ९ सालवालों के लायक ९० पुस्तकें थीं, १० से १२ सालवालों के लायक १६० थी और १३ से १५ सालवालों के लायक १४०।

बच्चों क लायक पत्र-पत्रिकाओं की सख्या १९४७ से १९५२ तक ४० थी, यद्यपि उनके सर्वथा उपयुक्त पत्रिकाएँ उनमें से केवल ५ ही थीं। इन पत्र-पत्रिकाओं की सख्या घटती बढ़ती रहती है।

जहाँ तक पुस्तक प्रकाशकों का सवाल है, तमिल में कोई ४०० पुस्तक प्रकाशक हैं, जिनमें मुश्किल से ३० प्रकाशक बच्चों की पुस्तकें छापते हैं। उनकी खपत भी बहुत कम है।

दायरा बहुत सकुचित है फिर भी तमिल भाषी बच्चों की पठन की रुझान से हम दूसरे बच्चों की रुझान का भी कुछ अन्दाज लगा सकते हैं।

× × ×

बच्चों की रुझान का पता लगाने के लिए एक प्रश्नावली तैयार की गयी थी। यह प्रश्नावली ४००० पाठशालाओं, पुस्तकालयों और व्यक्तियों के पास भेजी गयी मद्रास के १० जिलों में वितरित की गयी। जाँच के लिए लोग ४३ नगरों में गये ६४ गाँवों में। १५०० उत्तर मिले, १,११० लडकों के और ३९० लड़कियों के। ६ से ९ साल के १०४ बच्चों ने, १० से १२ साल के ५६४ बच्चों न, और १३ से १५ साल के ९३२ बच्चों ने जवाब भेजे।

१५०० बच्चों को ज्ञान का यह अध्ययन बहुत-सी बातों पर प्रकाश डालता है। जैसे—

"बच्चों की पढ़ने की आदतें नगरों में जैसी हैं, देहातों में भी वैसी ही हैं।

सभी उम्र के बच्चे साल में पाठ्य-पुस्तकों के अलावा कोई २० पुस्तकें बाहरी पढ़ते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो बाहरी पुस्तकें बिलकुल ही नहीं पढ़ते; और कुछ ऐसे हैं, जो १०० पुस्तकें पढ़ डालते हैं।

साल में औसतन २० पुस्तकें पढ़नेवाले बच्चों की संख्या सबसे ज्यादा है। इनमें सम्पन्न परिवारों— डाक्टरों, इंजीनियरों, वकीलों, प्रोफेसरों, अफसरों, व्यापारियों और जमींदारों के बच्चों की संख्या ३२ फीसदी रहती है। मध्यम श्रेणी के परिवारों के बच्चों की संख्या २८ फीसदी रहती है। किसानों, मजदूरों, कारीगरों के बच्चों की संख्या २५ फीसदी रहती है।

१,५०० बच्चों में से १,४०६ बच्चों को यानी सौ में ९४ बच्चों को अपने स्कूल में पुस्तकालय की सुविधा प्राप्त है। ८९ फीसदी बच्चे पुस्तकालय की सुविधा उठाते हैं और वहाँ से पुस्तकें लेकर पढ़ते हैं, पर इनकी शिकायत है कि पुस्तकालय में बच्चों के लिए अलग से कोई व्यवस्था नहीं रहती।

१० फीसदी बच्चे सरकारी पुस्तकालय से पुस्तकें लेकर पढ़ते हैं। ८१ फीसदी बच्चे स्कूलों के पुस्तकालय से पुस्तकें लेकर पढ़ते हैं। ८४ फीसदी बच्चे मित्रों से लेकर पुस्तकें पढ़ते हैं।

७६ फीसदी बच्चों को माता-पिता खरीदकर पुस्तकें देते हैं। ५४ फीसदी बच्चे घरवालों से प्राप्त पैसों से पुस्तकें खरीदते हैं।

६६ फीसदी बच्चों को उपहार में पुस्तकें मिलती हैं। स्कूल की प्रतियोगिता में ६४ फीसदी बच्चों को पुस्तकें मिलती हैं और जन्मदिवस के मौके पर २१ फीसदी बच्चों को।

६७ फीसदी बच्चे टोली में बैठकर पढ़ना पसन्द करते हैं। एक पढ़ता है, दूसरे सुनते हैं।

पुस्तकों के चुनाव में बच्चे कई चीजें देखते हैं— ४४ फीसदी विषय पर ध्यान देते हैं, ३९ फीसदी पुस्तक के नाम पर।

४८ फीसदी अपने प्रिय लेखक पर ध्यान देते हैं, ३५ फीसदी चित्रों पर।

३३ फीसदी पुस्तक के मुखपृष्ठ पर ध्यान देते हैं, केवल ७ फीसदी प्रकाशक पर ध्यान देते हैं।

कम उम्र के बच्चों का पहला आकर्षण होता है— पुस्तक के चित्र और उसका मुख-पृष्ठ।

बड़े बच्चे पुस्तक के विषय पर ज्यादा ध्यान देते हैं, चित्रों और गेटअप पर कम।

२८ फीसदी बच्चे ३२ से ३६ पृष्ठ तक की पुस्तक ज्यादा पसन्द करते हैं, ३६ फीसदी बच्चे ३३ से ६४ पृष्ठ की। ४१ फीसदी बच्चे ६४ पृष्ठ से ऊपर की पुस्तकें पसन्द करते हैं।

६ से ९ साल के बच्चे बड़े आकार की पुस्तकें पसन्द करते हैं, बड़े बच्चे साधारण क्राउन आकार की।

८९ फीसदी छोटे बच्चे चित्रवाली पुस्तकें पसन्द करते हैं। ८३ फीसदी बड़े बच्चे भी चित्र पसन्द करते हैं। चित्रों में भी ५४ फीसदी बच्चे रंगीन चित्र और ५३ फीसदी कार्टून पसन्द करते हैं। २८ फीसदी बच्चे फोटो चित्र पसन्द करते हैं।

८८ फीसदी बच्चों को कड़े पुट्ठेवाली पुस्तकें रुचती हैं।

छोटे बच्चे बड़ा १८ पाइण्ट टाइप पसन्द करते हैं, बड़े बच्चे छोटा—१२ पाइण्ट।

विषयों के हिसाब से बच्चों की रुचि निम्न प्रकार की होती है। सामान्य पसन्द और विशेष पसन्द भी दो भागों में बाँटी गयी है—पहली प्राथमिकता, दूसरी प्राथमिकता।

६ से ९ साल के बच्चे	सामान्य पसन्द		विशेष पसन्द	
लड़के	साहस की कहानियाँ	विनोद की कहानियाँ	साहस की कहानियाँ	जासूसी और विनोद की कहानियाँ
लड़कियाँ	विनोद की कहानियाँ	जासूसी कहानियाँ	जासूसी कहानियाँ	चित्रमय कहानियाँ
१० से १२ साल के बच्चे				
लड़के	जासूसी कहानियाँ	साहस की कहानियाँ	जासूसी कहानियाँ	साहस की कहानियाँ
लड़कियाँ	विनोद की कहानियाँ	परीलोक की कहानियाँ	जासूसी कहानियाँ	विनोद की कहानियाँ
१३ से १५ साल के बच्चे				
लड़के	विनोद की कहानियाँ	विदेशी कहानियाँ	जासूसी कहानियाँ	साहस की कहानियाँ
लड़कियाँ	विनोद की कहानियाँ	परीलोक की कहानियाँ	जासूसी कहानियाँ	विनोद की कहानियाँ

साहस की कहानियाँ, विनोदपूर्ण कहानियाँ बच्चों को सबसे ज्यादा पसन्द आती हैं। उसके बाद जासूसी कहानियों का स्थान है। लड़कियों को परियों की कहानियाँ बहुत पसन्द आती हैं।

इनके अलावा बच्चों को खेलों की पुस्तकें, जीवनियाँ, पुराणों की कहानियाँ, चित्रोंवाली कहानियाँ, विज्ञान आदि की कहानियाँ भी पसन्द आती हैं।

जासूसी कहानियाँ बड़ों के पास से पढ़ने को सहज मिल जाती हैं; इसलिए बच्चे भी शौक से पढ़ते हैं।

यात्रा वर्णन, लोकगीत और तरह-तरह की हॉबियों वाली पुस्तकें बच्चे अपेक्षाकृत पसन्द करते हैं।

बच्चों की पत्र पत्रिकाएँ बहुत कम हैं। बच्चों को वे बहुत कम पढ़ने को मिलती हैं। उनके अभाव में वे बड़ों की पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते हैं।

बाहरी पुस्तकें पढ़ने में अधिकतर बच्चे एक घण्टा या उससे भी कम समय लगाते हैं। ३४ फीसदी बच्चे एक घण्टे से अधिक समय लगाते हैं। यह पढ़ने में वे अधिकतर शाम का समय देते हैं।

खेलकूद की हॉबी सभी उम्र के बच्चों को रहती है। १३ से १५ साल की लड़कियाँ खेलने के बजाय पढ़ना अधिक पसन्द करती हैं। खेल के बाद बच्चों की दूसरी हॉबी रहती है–पढ़ना, दस्तकारी, बागवानी, शहद की मक्खी पालना, स्टाम्प इकट्ठे करना आदि।

माता पिता की शिक्षा और उनके व्यवसाय का भी बच्चों के पढ़ने की आदत पर असर पड़ता है। जिन १५०० बच्चों ने उत्तर भेजे, उनमें से ११६ को छोड़कर शेष सभी बच्चों के अभिभावक पढ़े-लिखे व्यक्ति थे।"

× × ×

बच्चों के पढ़ने की आदतों की इस सर्वे के दौरान सर्वे करनेवालों को बाल-मानस का अध्ययन करने का अच्छा अवसर मिला। बच्चों की यह आम शिकायत थी कि हमारे लिए कोई अच्छी पत्र-पत्रिका नहीं है, हमारी बस्ती में हमारे लिए कोई पुस्तकालय नहीं, हमारे लिए चलती-फिरती लाइब्रेरी नहीं।

कुछ बच्चों की शिकायत थी कि स्कूल में हमें हफ्ते में एक ही पुस्तक पढने को मिलती है, दो या उससे ज्यादा पुस्तकें हमें मिला करें। हमारी भाषा में हमारे लिए अधिक पुस्तकें छपें।

कुछ बच्चों को वैज्ञानिक उपन्यास पसन्द हैं, पर वे पढने को मिलते नहीं। कुटीर उद्योगों पर भी पुस्तकें पढ़ने को नहीं हैं।

पुस्तकों का दाम अधिक न रहे तो हम उन्हें आसानी से खरीद सकेंगे, यह भी बच्चों की माँग है।

भिन्न भिन्न विषयों पर हमारे लिए अच्छी, सचित्र पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ खूब निकलें, यह माँग तो प्राय. सभी बच्चों की थी।

३७ लाख बच्चो में से केवल १५०० बच्चो ने उत्तर दिये। इन्हें बहुत प्रातिनिधिक नही माना जा सकता। दाल में नमक बराबर ही है ये उत्तर, फिर भी इस सर्वे से हम कुछ निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं—

१—बच्चों का—छोटे बच्चों का अच्छा साहित्य कम है, बहुत कम।

२—बहुत छोटे बच्चो का साहित्य तो और भी कम है। नन्हें-मुन्नो का साहित्य तो उंगलियो पर गिनने लायक है।

३—बच्चो की पत्र-पत्रिकाएँ भी बहुत ही कम हैं।

४—बच्चे साहस की कहानियां पढना चाहते है, वीरता की कहानियाँ पढ़ना चाहते हैं। उनके मन में कुछ करने की, कुछ महत्वपूर्ण काम करने की तीव्र भावना रहती है।

५—बच्चे विनोद को बातें, विनोदपूर्ण कहानियाँ खूब पढते हैं। विनोद उनके जीवन के लिए आवश्यक है। उसका विकास होना चाहिए। विधिवत विकास होना चाहिए।

६—बच्चे जासूसी कहानियाँ भी पसन्द करते हैं। इसका यह कारण तो है ही कि माता-पिता, भाई-बहन को ऐसी कहानियो में दिलचस्पी रहती है, पर जासूसी कहानियों में दिलचस्पी का मतलब है—जिज्ञासा की वृत्ति, रहस्य को खोजने की वृत्ति। यह वृत्ति ज्ञान-पिपासा की पहली सीढी है। जरूरत है इसको अच्छी दिशा देने की।

७—बच्चो में पढने की रुचि है। पढने की सामग्री अच्छी मिले तो उनमें सभी प्रकार के सद्गुणो का विकास हो सकता है। आसानी से हो सकता है।

जरूरत है माता पिताओ और अभिभावको को इधर ध्यान देने की। इस ओर पूरा ध्यान दिया जाय तो राष्ट्र के इन भावी कर्णधारो को निश्चय ही राहे रास्त पर लाया जा सकता है।

साथ ही बच्चो के लिए उपयोगी, स्वस्थ और स्वच्छ साहित्य कम-से-कम दाम में देना, प्रकाशको का पुनीत कर्तव्य है।

काश, हम सब अपने इन कर्तव्यो के प्रति जागरूक हो सकें!

●

राष्ट्रीय मनोवैज्ञानिक परिस्थिति और बुनियादी शिक्षा

●

धीरेन्द्र मजूमदार

आपलोगो ने चर्चा के लिए इतनी समस्याएँ रख दी कि कम-से कम ७ दिन की चर्चा के लिए खुराक बन गयी। करुण भाई ने उनके अलावा और समस्याओ की बातें कहने के लिए मुझसे कहा। उन्होंने पहले ही इतनी बातें कह दीं कि मेरा काम बिलकुल सरल हो गया, क्योंकि अब मुझे कोई दूसरी समस्या नहीं रखनी है। इसलिए मैं अब लगातार भाषण नही करूँगा। कुछ फुटकर प्रश्नो पर आप लोग सोचें और चर्चा करें, इसलिए उन्हें एक एक करके कह देना चाहता हूँ।

पहली बात यह है कि हमने बहुत पहले १९३७ में ही बुनियादी शिक्षा का लक्ष्य देश के सामने रखा था। उस समय कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव में इस शिक्षा को 'बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा' कहा था अर्थात् बुनियादी शिक्षा पूरे राष्ट्र की शिक्षा बने, ऐसी कल्पना थी। अब प्रश्न यह है कि आज की परिस्थिति में क्या बुनियादी शिक्षा राष्ट्रीय यानी राष्ट्रव्यापी बन सकती है? राष्ट्रीय शिक्षा वही हो सकती है, जो राष्ट्र की परिस्थिति में लागू हो सके, और पूरे राष्ट्र के लोग उसे स्वीकार कर सकें।

जब हम शिक्षा के सन्दर्भ में परिस्थिति की बात करते हैं ,तो सबसे पहले मनोवैज्ञानिक परिस्थिति का ही विचार करना होगा, क्योंकि शिक्षा का सम्बन्ध बुनियादी तौर पर मानस से है। गाधीजी बुनियादी शिक्षा के माध्यम से पूरे देश को एक स्वावलम्बी समाज में परिणत करना चाहते थे। उन्होंने माना था—"देश में वर्गभेद नहीं होगा।' एक वर्गीय समाज मे बुद्धिजीवी और श्रमजीवी कहकर दो प्रकार की श्रेणियाँ नहीं रह सकतीं।

यही कारण है कि गाधीजी ने अपनी शिक्षा का मुख्य माध्यम उत्पादन की प्रक्रिया माना, लेकिन क्या शिक्षा के सम्बन्ध में राष्ट्र की मान्यता इसके अनुकूल है? क्या राष्ट्र की आकाक्षा और मानस का श्रममूलक जीवन-क्रम के आदर्श के साथ मेल खाता है? अगर आज गहराई से देखें तो इस देश की मनोवैज्ञानिक परिस्थिति ऐसी नहीं है, जिससे राष्ट्रीय जन उपर्युक्त विचार तथा जीवन-पद्धति को स्वीकार करें।

जनता की आकांक्षा

आज पूरे देश की आकाक्षा किसी प्रकार ऐसी परिस्थिति में पहुँच जाने की है, जिससे हाथ से काम न करना पड़े। हर व्यक्ति अपनी लडकी के लिए आदर्श वर खोजता है। लड़की के लिए वर ठीक करके जब पिता अपने घर के समाज में लौटता है तो वह अपने मित्रो, सम्बन्धियों तथा पडोसियों से अत्यन्त प्रसन्नता और उत्साह के साथ कहता है कि बहुत अच्छा रिश्ता ठीक किया है। वर तो कुछ 'मीवर' (निर्बल) जरूर है; लेकिन घर बहुत ही अच्छा है। वहाँ बिटिया को एक गिलास पानी खुद भरकर नहीं पीना पडेगा। यह सुनकर सारा समाज हर्षोत्फुल्ल हो जाता है, अर्थात् मान्यता यह है कि वर चाहे जैसा हो, बिटिया को हाथ से पानी न निकालना पड़े तो वह आदर्श जीवन है। यह है इस देश की मनोवैज्ञानिक परिस्थिति।

यह कोई नयी परिस्थिति नहीं है, पुरानी है। हम जब बच्चे थे तो हमारी दादी-नानी हमें कहानियाँ सुनाती थीं कि एक आदमी बहुत दुखी था, क्योंकि उसको हाथ से मेहनत करके खाना पड़ता था। उसे रोज कुल्हाड़ी से लकड़ी काट कर लानी पड़ती थी। फिर किसी जल-देवता ने उसे एक सोने की कुल्हाडी का उपहार दिया और वह सुख से रहने लगा। इस देश में बच्चों के लिए जितनी लोक-कथाएँ हैं, सभी इसी प्रकार की हैं। इससे आप समझ सकते हैं कि मुल्क का मानस कहाँ है?

क्या आप मानते हैं कि ऐसी मानसिक स्थिति में इस देश में बुनियादी शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा बन सकती है?

असफलता निश्चित थी

अनुभव बताता है कि इस दिशा में प्रयास के बावजूद वह बन नहीं सकी। मुल्क ने उसे स्वीकार नहीं किया। देश के नेता तथा बुनियादी शिक्षा के भक्त शिकायत करते हैं कि बुनियादी शिक्षा सफल नहीं हुई, कुछ लोग कहते हैं कि उसे ईमानदारी से चलाया ही नहीं गया। लेकिन, सवाल यह है कि क्या अगर ईमानदारी से चलाया जाता तो भी सफलता मिलती? और क्या यह कहना उचित होगा कि इस देश में चूँकि बुनियादी शिक्षा सफल नहीं हुई, इसलिए वह ईमानदारी से चलायी नहीं गयी?

वस्तुत ईमानदारी या गैर ईमानदारी का सवाल ही नहीं है। वह सफल हो ही नहीं सकती थी। गाँव के लोग कहते हैं—क्या बच्चे को हल जोतने के लिए स्कूल भेजा जाता है? ठाकुर साहब की लड़की बुनियादी शाला से नाक में मिट्टी लगाकर अगर लौटे तो वह अपनी माँ की पिटाई से मुक्ति नहीं पा सकती। देश में पढे-लिखे लोग हाथ से काम करने में अपनी नाक कटती है, ऐसा मानते हैं। आप चाहते हैं कि आपका बच्चा शाला में खेती का काम करे, कुम्हार,बढ़ई का काम करे, कताई-बुनाई का काम करे, लेकिन बच्चा जन्म से ही क्या देखता है? वह देखता है कि इन कामों को करने से मेरी माँ की नाक कटती है, मेरे बाप की नाक कटती है, मेरे मास्टर साहब की नाक कटती है। तो, उसके लिए यह सोचना स्वाभाविक है कि क्या मेरी ही नाक फालतू है? ऐसी हालत में चाहे जितनी ईमानदारी

के साथ बुनियादी तालीम चलायी जाय उसकी असफलता अवश्यम्भावी है।

एक बहाना

जब हम लोगों से बुनियादी तालीम की बात कहते हैं तो वे कहते हैं कि कोई अच्छी बुनियादी शाला नहीं है। उसमें पढ़ाई अच्छी नहीं होती है। मित्रो, यह एक बहाना है। मैं खुद बैठकर खादीग्राम (मुंगेर) में बुनियादी शाला चलाता था। उसका शिक्षक मैं था, आचार्य राममूर्ति और दूसरे शिक्षक भी उच्च शिक्षा के अध्यापक रहे। जितने लोग आते थे, पढ़ाई से बहुत प्रभावित होते थे। सभी कहते थे बहुत अच्छी पढ़ाई है, लेकिन अपना बच्चा कोई नहीं भेजता था। दूसरों को तो छोड़ दीजिए नयी तालीम और खादी के सेवक भी नहीं भेजते थे। बिहार के खादी-ग्रामोद्योग-संघ की ओर से खर्च की व्यवस्था करने पर भी कार्यकर्ता अपने बच्चे नहीं भेजते थे यद्यपि वे सभी पढ़ाई की तारीफ करते थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आज की मनोवैज्ञानिक परिस्थिति में बुनियादी शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा नहीं बन सकती है। और, चूँकि ऐसा नहीं होसकता, इसलिए सरकार इस शिक्षा को नहीं चला सकती, क्योंकि सरकार की कोई भी योजना राष्ट्रीय पैमाने पर ही चलानी पड़ती है। नयी तालीम तो एक सामाजिक क्रांति के माध्यम के रूप में ही चल सकती है, जिस क्रान्ति द्वारा गांधीजी के परिकल्पित स्वावलम्बी समाज का अधिष्ठान सम्भव हो सकेगा। इसीलिए यह तालीम 'पायनियर्स' के द्वारा ही चल सकेगी और जिन्हें इस तालीम के प्रति आस्था है उन्हें पायनियर बनकर समाज-क्रांति के समवाय में ही इसे चलाना होगा।

हम क्या चाहते हैं

वस्तुतः देश को सोचना होगा कि राष्ट्रीय शिक्षा की पद्धति क्या हो? आज जो शिक्षा चल रही है उसे आपलोग दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं–'वोकेशनल' और 'जेनरल' जिसे आप जेनरल एजुकेशन कहते हैं, देश के नेता उसीको राष्ट्रीय शिक्षा में परिवर्तित करना चाहते हैं। लेकिन, आप विचार करें कि क्या यह शिक्षा पद्धति राष्ट्रीय पैमाने पर चलायी जा सकती है और चलायी भी जाय तो उसकी कोई राष्ट्रीय उपयोगिता भी है? गहराई से विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि जिसे आप जेनरल एजुकेशन कहते हैं वह भी शुद्ध वोकेशनल एजुकेशन ही है। आप इस शिक्षा-द्वारा देश के लिए क्लर्क तैयार करना चाहते हैं, व्यवस्थापक तैयार करना चाहते हैं, प्रशासक तैयार करना चाहते हैं, विकास-कर्मचारी *तैयार करना चाहते हैं या शिक्षक बनाना चाहते* हैं? इस शिक्षा द्वारा हम शिक्षित वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक नागरिक नहीं बनाना चाहते, जो स्वतंत्र नागरिक के रूप में समाज में रहें। आखिर वोकेशनल एजुकेशन किसे कहते हैं? जिस शिक्षा-द्वारा किसी विशिष्ट पेशे के लिए कार्यकर्ता प्रशिक्षित किया जाता है उसे ही वोकेशनल एजुकेशन कहते हैं। क्या देश के समस्त नागरिकों को उपर्युक्त पेशों में शरीक किया जा सकेगा? अगर नहीं किया जा सकेगा तो उनके लिए आज कौन सी शिक्षा पद्धति चल रही है? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है—कुछ नहीं।

शिक्षा की मूल कसौटी

तो वह क्या है, जो चलना चाहिए, जिसे चलाना लोकतंत्र की आवश्यकता के लिए अनिवार्य है और जो जेनरल नागरिक के लिए उपयोगी हो? आखिर जेनरल एजुकेशन उसे ही न कहेंगे, जो हर व्यक्ति को दिया जा सके? ये जनरल जनता सबकी सब क्लर्क नहीं बनेगी और न विकास के सेवक या प्रशासक होगी। सबलोग किसान होंगे, लोहार होंगे, बढ़ई होंगे, बुनकर होंगे, और इसी प्रकार के कुछ न-कुछ उत्पादक पेशे से *अपना अपना* गुजारा करनेवाले होंगे। क्या यह सम्भव होगा कि हर एक व्यक्ति को इन पेशों के कार्यक्रमों से निकाल कर आज के प्रचलित शिक्षा-क्रम में शामिल किया जाय? अगर किसी जादू के बल पर यह सम्भव भी हो जाय तो क्या उपर्युक्त पेशों के बिना समाज चल सकेगा? इसलिए जब आप जेनरल एजुकेशन की बात सोचने लगें तो बिना किसी समझौते के गांधीजी-द्वारा परिकल्पित नयी तालीम

यानी बुनियादी उद्योग मूलक समाज प्रधान शिक्षा जिसकी मूल कसौटी स्वावलम्बन है को ही एक मात्र शिक्षा पद्धति के रूप में ग्रहण करना पड़ेगा।

अगर इस काम को देश नहीं उठाता है और जो आज चल रहा है उसी से सन्तोष मानता है तो कम-से-कम यह स्वीकार कर लें कि यह शिक्षा पद्धति आमलोगों के लिए नहीं है अर्थात राष्ट्रीय शिक्षा नहीं है किसी-न किसी प्रकार की सेवा या प्रशासन कार्य के लिए है। तब फिर शिक्षा का संयोजन दूसरे ढंग से करना होगा। हिसाब लगाना होगा कि साल में कितने इंजीनियर चाहिए कितने शिक्षक चाहिएँ कितने प्रशासक चाहिएँ और कितने दूसरे सरकारी और गैर-सरकारी सेवा के लिए कर्मचारी चाहिए। उसी अनुपात में स्कूलों और कालेजों की संख्या निर्धारित करनी होगी नहीं तो यौवन की शक्ति व सामर्थ्य से भरपूर शिक्षित बेकारों की हरकतों को समाज बरदाश्त नहीं कर सकेगा वह ध्वस हो जायगा।

मुख्य शक्ति कहाँ लगे ?

आम जनता का शिक्षण लोकतन्त्र के अधिष्ठान व संरक्षण के लिए भी अनिवार्य है। आप देख रहे हैं कि एशिया और अफ्रीका के जो देश स्वतंत्र होते चले जा रहे हैं और जिनके नेता स्वतंत्रता के साथ साथ लोकतन्त्र का स्वप्न देख रहे थे उनका लोकतन्त्र दिन प्रतिदिन धराशायी होता चला जा रहा है। कारण क्या है ? लोकतन्त्र में दो तत्त्व होते हैं—लोक और तन्त्र। लोक मुख्य तत्त्व और तन्त्र लोक के हाथ का औजार है यही लोकतन्त्र का सिद्धान्त है।

लेकिन हमारे देश तथा एशिया और अफ्रीका के दूसरे देशों की परिस्थिति क्या है ? इन देशों का तन्त्र यूरोप के हुकूमत काल से अति सुसंगठित बना हुआ है। अंग्रेज जब हमारे देश से गये तब यहाँ भी अति सुसंगठित तन्त्र मौजूद था जिसका बुनियादी आधार मजबूत सैनिक-शक्ति थी। मुल्क के लोक की स्थिति हजारों वर्षों के शोषण और निर्दलन के फलस्वरूप एक विध्वस्त मानव का मलबा जैसा हो रही है। ऐसी परिस्थिति में देश का लोकतन्त्र निर्माण करने की समस्या गांधीजी के सामने आयी। इस समस्या का मुकाबला करने के लिए प्रश्न यह है कि देश की कौन सी शक्ति तन्त्र संचालन में लगे और कौन लोक निर्माण में। स्पष्ट है ऐसी परिस्थिति में देश की मुख्य शक्ति और विशिष्ट प्रतिभा लोक निर्माण के काम में लगे और साधारण व्यवस्थापक-शक्ति तन्त्र-संचालन में। यही काम गांधीजी कांग्रेस को लोक-सेवक संघ के रूप में परिणित करके तथा लोक प्रवृत्तिमूलक शिक्षा-पद्धति चलाकर करना चाहते थे।

लोकतन्त्र की न्यूनतम माँग

अब प्रश्न यह है कि जनरल एजुकेशन यानी सबको शिक्षा कहाँ तक दी जाय ? वस्तुतः अगर तन्त्र को लोक के हाथ के औजार के रूप में प्रतिष्ठित करना है तो यह आवश्यक है कि सामान्य लोक की योग्यता तन्त्र-संचालक से अधिक हो। अगर इसे असम्भव या अत्यन्त कठिन मानकर कोरा आदर्शवाद की संज्ञा देना चाहते हैं तो भी लोकतन्त्र की न्यूनतम माँग यह अवश्य है कि हर बालिग कम से कम इतना शिक्षित हो जिससे वह चुनाव घोषणा देखकर और उसे विश्लेषण कर निर्णय कर सके कि कौन सी नीति देश के लिए बेहतरीन है। अगर हर एक को इतनी शिक्षा देनी है तो स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति जहाँ जिस काम में लगा हुआ है उसी काम के माध्यम से शिक्षा-पद्धति का संयोजन किया जाय। यही कारण है कि गांधीजी ने समाज के समस्त कार्यक्रम यानी उत्पादन की प्रक्रिया सामाजिक वातावरण और प्रकृति परिचय को शिक्षा का माध्यम माना।

लेकिन, हुआ क्या ? देश के नेता लोकसेवक संघ बना कर लोक में जाकर नहीं बैठे। पहले जो बैठे हुए थे वे भी उसमें से निकलकर तन्त्र में चले गये। शिक्षा के प्रश्न पर भी समाज के समस्त कार्यक्रम को तालीम का माध्यम नहीं माना गया। उस विचार को उसी तरह अमल में लाया गया जिस तरह भक्त लोग गंगाजल का इस्तेमाल करते हैं। प्राचीन ऋषियों ने देख लिया था कि गंगाजल में शुचिकरण की शक्ति है। उसमें कीड़े नहीं पड़ते तो उन्होंने वस्तुओं को शुद्ध करने के लिए गंगाजल से धोने का विधान दिया। लेकिन, भक्तों ने बोतल में भरकर गंगाजल अपने घर में रखने की परिपाटी बनायी, ताकि

आवश्यकता पडने पर वस्तुओ पर उसकी दो चार बूँद छिडकी जा सके। गाधीजी ने कहा कि समाज के सारे कार्यक्रमों को शिक्षा का माध्यम बनना चाहिए, लेकिन भक्तो ने सारे सामाजिक कार्यक्रम के नमूने बोतल में भरकर बुनियादी शाला की आलमारियो में रख दिया, ताकि विशेष अवसरो पर उसे छिडका जा सके।

लोकतन्त्र की बुनियाद

फलस्वरूप दिन-ब-दिन देश का लोक ऊपर के तन्त्र के नीचे दबता जा रहा है। हमारे नेता उस तन्त्र को बाँटकर लोक के हाथ में पहुँचाना चाहते हैं, लेकिन लोक-शिक्षण के अभाव में वह तन्त्र लोक के हाथ में न पहुँच कर सिर पर फैलता जा रहा है। नेता कहते है, हम और आप भी कहते है कि लोकतन्त्र की इमारत की बुनियाद ग्राम पचायत है, लेकिन आज गाँव का जो भी, कुछ पढ लिख लेता है वह गाँव छोडकर ऊपर के तन्त्र में शामिल हो जाता है, या उसमें घुसने की कोशिश में लगा रहता है। जो प्रथम ग्रेड के है वे दिल्ली जाते है, द्वितीयवाले लखनऊ, तृतीय बनारस, चतुर्थ सेवापुरी-ब्लाक। गाँव में बचता है गोबर और भूसा। क्या आप उम्मीद करते हैं कि बुनियाद में गोबर और भूसा भरकर लोकतन्त्र की इमारत को स्थित कर सकेंगे? वह तो धडधडाकर गिरेगी। और, आज एशिया व अफ्रीका के मुल्कों की इमारतें गिरती जा रही हैं। हिन्दुस्तान की भी क्या हालत है, बताने की जरूरत नही।

एजेंसी क्या हो ?

अतएव जब तक गाधीजी के शिक्षण विचार को राष्ट्र मान्य नही करता तब तक लोकतन्त्र का निर्माण असम्भव है, यह हमने देखा। अब सवाल यह है कि काम करने की एजेंसी क्या हो? स्पष्ट है, यह काम राजनीतिक एजेन्सी से नहीं हो सकता है और न आर्थिक एजेन्सी से चल सकता है। यह काम शिक्षा का है और जिम्मेदारी शिक्षक की है। अत शिक्षक को ही समाज का नेतृत्व अपने हाथ में लेकर अनुकूल मानस बनाने के काम में लगना होगा।

आप कहेंगे कि यह सब तो लम्बे अरसे का प्रोग्राम है। आज की तात्कालिक स्थिति में हम क्या करें? समस्याएँ तो घनघोर हैं। उनका मुकाबला हम कैसे करें? मित्रो, १९४५ में जेल से निकलकर गाधी ने बगाल के भयानक दुर्भिक्ष की बात जब सुनी तब उन्होंने कहा था कि अगर देश में नयी तालीम चलती होती तो दुर्भिक्ष नहीं होता। आज की तात्कालिक समस्या क्या है? कोई भी बच्चा बतायेगा कि अन्न की समस्या आज की मुख्य समस्या है। मैं गाधीजी के शब्दो में कहना चाहता हूँ कि अगर देश में नयी तालीम चलती होती तो यह समस्या ही नहीं पैदा होती।

आखिर जब हम अन्नोत्पादन करेंगे, तभी न भुखमरी बन्द होगी? देहातो में जो लोग पढ लिखकर अपने को बौद्धिक वर्ग का मानते है वे अन्न उत्पादन करने नही जायेंगे, अर्थात आज का जो उत्पादन है वह बुद्धि को 'माइनस' करके ही है। अब आप बुद्धि को बाद करके अन्न उत्पादन करने चलेंगे तो देश भूखा नहीं रहेगा तो क्या होगा? जिस किसान के चार बेटे हैं वह सबसे मूर्ख बेटे को खेती-गृहस्थी में लगायगा और बाकी को इधर-उधर भेजेगा। जो बेटा पढने जायगा उसे घर का कोई आदमी भूल से बैल का चारा काटने को भेज देगा तो बाकी लोग यह कह कर दौड़ेंगे कि 'हमार भैया पढत हैं, तू ओकरा के काम पर भेजत हो?' क्योकि इस देश का मुहावरा है— 'पढे फारसी बेचे तेल'।

समस्या का हल

अजीब तमाशा है। आज देश में बहस छिडी हुई है कि अन्न के मामले में सरकार कण्ट्रोल करे कि नहीं। जब देश में अन्न का उत्पादन ही नही होगा तो सरकार किस पर कण्ट्रोल करेगी! देश के पढे लिखे बाबू लोगो की समझ में ही नहीं आता कि राष्ट्रीय उत्पादन के अभाव में सरकार क्या करेगी? खानेवालो का उत्पादन तो धडाके से हो रहा है, लेकिन उनके लिए अन्न-उत्पादन में किसी की रुचि नही है। अतएव आज की तात्कालिक समस्या के हल के लिए नयी तालीम को ही अपनाना पडेगा। अन्न उत्पादन के क्षेत्र में बैल-जैसा ही मनुष्य लगा रहे तो इस समस्या का हल किसी तरह ही ही नहीं सकता।

अतएव जो चाहता है कि समस्या का समाधान हो जिनके मन में लगा है वह चाहे जितना पढा लिखा हो चाहे जितना सुसज्जित मनुष्य हो उसे खत में जाकर अन्न उत्पादन करना होगा। दूसरा कोई प्रोग्राम कोई सरकारी कण्ट्रोल, प्लैनिंग या कोई ऊपरी तरीका देश का खिला नहीं सकेगा। आज की परिस्थिति में दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं।

अतएव देश में जितने कार्यकर्ता है और जो ग्रामसेवा व देशसेवा में लगे हुए हैं उन सबको अन्न उत्पादन के काम में लगना होगा। और जब वे अन्न-उत्पादन में लगेंगे तो उनका काम उन्हें नयी तालीम की बुनियाद पर पहुँचना होगा।

राहु और केतु

उत्पादन के फ्रण्ट पर एक दूसरी परिस्थिति बाधक बन रही है। मैंने कहा है कि देश भर की मूख मण्डली के हाथ म ही आज खती पडी हुई है। उसमें भी दो फरीक हैं– एक खत का मालिक और दूसरा मजदूर। मालिक वह है जिसका दिल खत पर और हाथ पैर घर पर या मेड पर रहता है। और मजदूर वह है जिसका हाथ-पैर खत पर और दिल घर पर। अर्थात् मूर्खों में भी कोई साबूत मूख खत पर नहीं है। एक का दिल और दूसरे का हाथ पैर राहु और केतु जैसा।

समस्या का समाधान

अतएव पहला काम यह करना होगा कि हर जमीन का मालिक खत में काम करके हाथ और पैर को उसके अन्दर ले जाय और मजदूर के दिल को खत पर ले जाने के लिए उसे उसका मालिक बनाये। यह तभी हो सकेगा जब ग्रामदान हो अर्थात अन्न समस्या के समाधान के लिए ग्रामदान के जरिये बुद्धि और विज्ञान को उत्पादन के साथ जोडना होगा यानी बुद्धिमान और वैज्ञानिक मनुष्यो को उत्पादन के काम में लगाकर नयी तालीम की प्रक्रिया से पूरे राष्ट्र की शिक्षा का सगठन करना होगा।

वरुण भाई ने कहा कि डिफेंस की समस्या भी आज बडी समस्या है। वस्तुत चीन का हमला इतिहास का एक अभिनव हमले का उदाहरण है। यह उसका मास्टर प्लैन' है। उसने हमला किया और आगे बढ़कर वापस चला गया। पूरे देश को डरा दिया। दस चार सौ करोड से आठ सौ करोड और उस पर से १२ सौ करोड की ओर दौड रहा है। आज तो अणुबम की तैयारी की माँग हो रही है लेकिन यह होगा कैसे?

हमारी दृष्टि साफ हो

कहीं ऊँचा टीला बनाना चाहेंगे तो कहीं गढ़ा तो बनाना ही होगा न! सैनिक शक्ति का टीला जितना ही ऊँचा बनाते जाओगे पेट में उतना ही बडा गड्ढा करना होगा। इस तरह चीन ने देश पर एसा जबरदस्त निराकार हमला कर रखा है कि हमारी दृष्टि साफ नहीं होगी तो चाहे जितनी सैनिक तैयारी हो, हम पराजित होंगे।

आखिर चीन का हमला केवल सैनिक-हमला नहीं है। उसका मुख्य हमला तो 'मुक्ति-सेना' का नारा है। इस जमाने की लडाई फौज से नहीं होती। पूरे मुल्क को लडना होता है। आपको समझ लेना चाहिए कि मुल्क में जितने लोग भूखे रहेंगे उनके पेट में चीन के पचमांगी का अण्डा फूटेगा। जिस अनुपात से सैनिक तैयारी बढ़गी और साथ-साथ पेट का गडढा बढेगा उसी अनुपात म चीन के पचमांगियों की सख्या भी बढगी।

कोई भी मुल्क, देशव्यापी पचमांगियो को रखकर विजयी नहीं हो सकता। इस कारण से भी देश के पढ लिखे या विद्वान लोगो को पेट भरने के फ्रण्ट पर दौडना ही होगा।

मित्रो मैंने कहा था कि आपके सामने सोचने के लिए चन्द प्रश्न उपस्थित करूंगा। थोडे में मैंने उन्हें रख दिया। आप सब इन प्रश्नो पर विचार करें और कुछ निश्चित निष्पत्ति पर पहुँचे। ●

(सेवापेरी बेसिक शिक्षा-सगोष्ठी भाषण)

विश्व-शान्ति की स्थापना और इतिहास-शिक्षण का योगदान

•

ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव

विश्व-शान्ति की स्थापना तथा मैत्री-भावना बनाये रखने के लिए अनेक प्रयास नित्य-प्रति किये जा रहे हैं। शान्ति-स्थापना के लिए कहीं सम्मेलनों में ओजस्वी भाषण दिये जाते हैं, तो कहीं प्रस्ताव पेश किये जाते हैं तथा कभी-कभी अणु-शक्तियों के पाशविक प्रयोगों के विरुद्ध सड़कों पर प्रदर्शन किये जाते हैं, परन्तु जिस वस्तु से अथवा जिस साधन से विश्व में शान्ति तथा मैत्री स्थापित हो सकती है उसकी ओर हमारा तथा हमारे शासन के कर्णधारों का ध्यान जाता ही नहीं, वह साधन एकमात्र शिक्षा है।

शिक्षा के विभिन्न विषयों में इतिहास एक ऐसा विषय है, जिसका सही ढंग से पठन पाठन हो तो यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि अनेक विषयों की अपेक्षा यह विषय शान्ति तथा मैत्री अधिक प्रभावशाली ढंग से स्थापित कर सकता है।

इतिहास की व्यापक क्षमता

प्राय कहा जाता है कि यदि किसी देश की संस्कृति को मिटाना हो तो सर्व प्रथम उस देश के इतिहास को या तो नष्ट कर दिया जाय या उसे पूर्णत नया रूप प्रदान कर दिया जाय या इतिहास के गलत रूप को उस देश के निवासियों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय। इतना ही नहीं, यदि किसी देश से युद्ध करना या उसपर अधिकार जमाना होता है तो अपने पक्ष को सबल बनाने के लिए इतिहास का ही सहारा लेते हैं। परन्तु, जहाँ इतिहास एक देश का सम्बन्ध दूसरे देश से बिगाड सकता है, वहाँ बनाने की सामर्थ्य भी रखता है। एक देश का दूसरे देश के साथ अच्छा सम्बन्ध इस बात पर भी निर्भर करता है कि हमारे अतीत का सम्बन्ध उस देश के साथ कैसा था। उदाहरणार्थ भारत और चीन का जो सम्बन्ध कुछ वर्ष पहले था वह अतीत का ही परिणाम था।

उपर्युक्त बात कहने का प्रयोजन यह है कि यदि हम विश्व में मैत्री-सम्बन्ध तथा शान्ति की स्थापना करना चाहते हैं तो हमें इतिहास के सास्कृतिक पहलुओं का अध्ययन करना तथा कराना होगा। अतीत में जो कटु सम्बन्ध परस्पर पडोसी देशों में थे उसे हमें कडवी औषधि की भाँति पी जाना होगा। एक देश ने दूसरे देश पर हमला करके कई हजार व्यक्तियों को कत्ल कर दिया। जैसे-कटु तथ्यों को इतिहास के पृष्ठ से बिलकुल ही निकाल देना होगा। वास्तव में बालकों के मस्तिष्क पर इन सब बातों की अमिट छाप पड जाती है और यही छाप उनके बडे होने पर व्यवहार का रूप धारण कर लेती है, क्योंकि बचपन की कटु स्मृतियाँ अचेतन मन में छा जाती है और बडे होने पर वही व्यवहार का एक अग बन जाती हैं। यद्यपि इसका कारण क्या है, हमें स्वयं पता नहीं रहता।

आज हिन्दू जाति में मुसलमान जाति के प्रति जो अश्रद्धा की भावना देखने को मिलती है उसका एक मुख्य कारण मुसलमानों का हिन्दुओं के प्रति इतिहास में वर्णित दुर्व्यवहार है। कहने का प्रयोजन यह है कि यदि हम परस्पर मैत्री तथा शान्ति स्थापित करना चाहते हैं तो हमें इतिहास के इन कटु स्थलों के ज्ञान की अवहेलना करना होगा तथा उनके स्थान पर सास्कृतिक सम्बन्धों की चर्चा करनी होगी, ताकि छात्रों के मस्तिष्क में प्रतिहिंसा की भावना न जग सके।

इसके अतिरिक्त इतिहास के तथ्यों की अभिव्यक्ति भी समय तथा परिस्थितियों के अनुसार करना होगा। इस समय हमारे सम्मुख विश्व में शान्ति स्थापित करना प्रमुख लक्ष्य है। इतिहास के तथ्यों का प्रस्तुतीकरण भी इसी बात को ध्यान में रखकर करना होगा। जैसे—औरंगजेब ने हिन्दुओं पर अत्याचार किये परन्तु इस तथ्य को हम इस रूप में प्रस्तुत न करके कि वह बड़ा अत्याचारी शासक था, उसका प्रस्तुतीकरण निम्नांकित ढंग से करें तो हमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति सरलतापूर्वक हो सकती है। जैसे—औरंगजेब भारतवर्ष को अपना देश समझता था वह समस्त भारतवर्ष की जनता के प्रति अपने भाई तथा पुत्र-जैसा सम्बन्ध रखता था उसकी दृष्टि में कुछ ऐसे विचार थे जिनसे मानव का कल्याण हो सकता था। वह बड़े भाई तथा पिता की तरह आदेश देता था। आदेश का पालन न होने पर वह दण्ड भी दिया करता था, जैसा कि प्रत्येक पिता अथवा बड़ा भाई अपने छोटों के साथ किया करता है। इस प्रकार से तथ्यों के प्रस्तुतीकरण से तनाव कम हो सकता है। इतिहास में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जिनको समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल मोड़ा जा सकता है। परस्पर देशों में शान्ति तथा मैत्री स्थापित करने का एक यह भी अच्छा तरीका समझा जाता है।

मानवीय भूमिका में इतिहास

इसके अतिरिक्त एक प्रमुख सुझाव यह भी है कि आज तक हम इतिहास का अध्ययन अलग अलग देशों के आधार पर करते आये हैं वैसा न करके मानव के विकास के इतिहास का अध्ययन कह कर करें। उदाहरणार्थ—भारतवर्ष का इतिहास यौरप का इतिहास या चीन के इतिहास के रूप में इतिहास का अध्ययन न करके हम 'मानव के विकास का इतिहास' यौरप में, भारत में चीन में अथवा रूस आदि देशों में, कहकर करें। इतिहास का इस प्रकार नामकरण कर देने से छात्रों में विश्व मानव के प्रति एकता की भावना जागृत होगी।

इतिहास कैसे पढ़ायें

इन सुझावों के अतिरिक्त प्रत्येक स्तर पर अवस्था, योग्यता तथा रुचि के अनुसार विश्व इतिहास का अध्ययन छात्रों को कराना होगा। छोटी कक्षाओं में प्रमुख व्यक्तियों के जीवन चरित्र को कथाओं के रूप में प्रस्तुत करना होगा। जूनियर हाईस्कूल की कक्षाओं में अथवा कक्षा ६ से ९ वीं कक्षा तक के छात्रों को विश्व-इतिहास के सांस्कृतिक देशों तथा सम्बन्धों का संक्षिप्त ज्ञान कराना होगा। इसके ऊपर की कक्षाओं के छात्रों को अच्छे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा औद्योगिक युग का परस्पर देशों पर प्रभाव आदि का अध्ययन कराना होगा। इन सुझावों को कार्यान्वित करते समय छात्रों की योग्यता रुचि तथा अवस्था को ध्यान में रखना होगा।

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

उपर्युक्त सुझावों को पढ़ने के बाद पाठकों के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या हमें अपने देश के इतिहास का अध्ययन छोड़ देना होगा? क्या अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को जागरित करने के लिए राष्ट्रीय भावनाओं का गला घोंट देना होगा? वास्तव में ऐसी बात है नहीं। हम ऐसा कर भी नहीं सकते। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना जागृत करने के लिए राष्ट्रीयता के प्रथम सोपान को पार करना ही होगा। राष्ट्रीयता की नींव पर ही अन्तर्राष्ट्रीयता का भवन खड़ा किया जा सकता है।

सच्ची मैत्री का मार्ग

अतः यह आवश्यक है कि अपने देश के इतिहास का अध्ययन मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में कराया जाय तथा उसके द्वारा छात्रों में सच्ची राष्ट्रीयता के विस्तृत अर्थों के भाव जागृत किये जायें। वास्तविक राष्ट्रीयता की भावना जगाने के बाद परस्पर देशों के अच्छे सम्बन्धों तथा आपसी सांस्कृतिक आदान प्रदान, दोनों का ज्ञान कराया जाय तभी सच्ची मैत्री तथा विश्व-शान्ति स्थापित हो सकती है। ●

शान्ति के पथ पर

ए० जे० मस्ते

•

सतीशकुमार

"आपकी यात्रा ने तो हमारे दिलो में हलचल पैदा कर दी है।' —अमेरिका के मुख्य अहिंसावादी नेता श्री ए० जे० मस्ते ने हमारी पहली ही मुलाकात में कहा।

न्यूयार्क नगर के एक गगनचुम्बी अट्टालिका की छठी मंजिल में बैठा हुआ एक दार्शनिक दुनिया के सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक जीवन की व्याख्या करने में अनवरत लीन रहता है। ऐसी लीनता के बीच जब मैं उनसे मिला तो सबसे पहले मेरी नजर उनके ठीक सामने दीवार पर टंगे गांधी के चित्र पर पड़ी।

श्री मस्ते ने मुझे उस चित्र की ओर निहारते देख कर कहा- 'यह मेरी प्रेरणा के स्रोत हैं। मैं समझता हूं कि इस युग में यदि किसी ने अहिंसा में प्राण और सक्रियता का संचार किया तो वे गांधी ही थे।"

हमारी नजरें चित्र से हटकर इस गम्भीर चर्चा के कारण एक दूसरे के चेहरे पर उलझ गयीं। मैंने मस्ते से पूछा-"अहिंसा में प्राण और सक्रियता तो है ही, गांधी ने नया क्या किया ?"

श्री मस्ते मुसकरा उठे। बोले-"क्या एक भारतीय को मुझे यह समझाना पड़ेगा ?"

मैंने कहा— 'एक अमेरिकन विचारक गांधी का मूल्यांकन कैसे करता है, यह जानने के लिए मेरा सवाल आपके सामने आया है।"

इसपर मस्ते ने दो क्षण चुप्पी बांध ली और फिर बोले— 'किसी जमाने में मैं पादरी था। एक ऐसा पादरी, जो सदैव ईसा मसीह के उपदेशों पर प्रवचन किया करता था परन्तु मेरे मन में रह-रहकर यह बात चुभती थी कि आखिर यह हमारा प्रेम कैसा है, जो समाज की घृणा को दूर नहीं कर सकता। यह अहिंसा कैसी है, जो हिंसा का मुकाबला करने के लिए चट्टान की तरह अड़ नहीं जाती और इसीलिए निष्क्रिय प्रेम का उपदेश करते-करते मैं ऊबता जा रहा था तभी मैंने गांधी को पढ़ा जिन्होंने कहा था—न केवल अन्याय करना गलत है बल्कि अन्याय को सहना और उसकी उपेक्षा भी गलत है।

"गांधी के इसी विचार ने मुझे न केवल उनके निकट ला दिया, बल्कि पूरे भारत के निकट ला दिया और भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन को करीब से देखने का मौका दिया।"

श्री मस्ते की यह संक्षिप्त व्याख्या मेरे लिए एक नयी दृष्टि पैदा करने वाली थी। मैं एक आलोचक की भांति यह जानने के लिए उतावला हो उठा कि आखिर उस सक्रिय अहिंसा का प्रयोग स्वयं मस्ते किस तरह कर रहे हैं ?

मुझे यह तो मालूम था कि श्री मस्ते ने युद्ध में भाग लेने से इनकार करके शान्तिवादियों में अपना नाम बहुत ऊँचा कर लिया था, परन्तु योरप और अमेरिका के ऐसे युद्ध-विरोधी तथा शान्तिवादी लोग मेरी दृष्टि से अत्यधिक नकारात्मक पहलू तक सीमित रहे हैं। उन्होंने युद्ध में भाग लेने से तो इनकार किया है, पर युद्ध को पैदा करनेवाले कारणों के मिटाने के लिए कोई परिपूर्ण योजना दुनिया के सामने नहीं रखी है।

मैंने इस तरह की आलोचना मस्ते के सामने रखी तो वे बोले—"आपकी बात बहुत हद तक सही है, परन्तु हमने अमेरिका में एक तरह का नया प्रयत्न चालू किया है और पूरे देश में इस तरह के अनेक केन्द्र स्थापित किये है, जहाँ अहिंसा के विचार को सक्रिय रूप से और वैज्ञानिक ढंग से समाज में उतारने के प्रयोग चल रहे हैं।"

श्री मस्ते ने अपनी बात का विश्लेषण करते हुए कहा—"आखिर युद्ध चाहता कौन है? क्या आम जनता युद्ध चाहती है? नहीं। क्या नेता युद्ध चाहते हैं? नहीं। फिर चाहता कौन है? कोई नहीं। फिर भी युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं, क्योंकि हमारे समाज का ढाँचा ही ऐसा है, जो युद्ध को पैदा करने वाला है, इसलिए जबतक समाज के इस ढाँचे में आमूल परिवर्तन नहीं होगा तब तक युद्ध को टाला नहीं जा सकता।"

श्री मस्ते के इन विचारों से मैं प्रभावित हुआ और उसके बाद अपनी छ महीने की यात्रा के दौरान मैंने उनके काम को भी देखा। मस्ते न केवल अमेरिकी शान्तिवादियों में श्रद्धापात्र है, बल्कि वे युवक-समुदाय के लिए भी प्रेरणा के स्रोत है।

अगर अमेरिका के पूर्वी राज्यों में उनके साथी पद-यात्राएँ करके वहाँ के मशीनीकरण का विरोध करते है तो पश्चिमी राज्यों में उनके साथी युद्ध के लिए भेजी जानेवाली सामग्री से भरे-पूरे जहाजों को रोकने का प्रयत्न करते हैं। अगर उत्तरी राज्यों में उनके साथियों ने खेती और लघु उद्योगों के प्रयोग प्रारम्भ किये है तो दक्षिणी राज्यों में इनके साथियों ने काले और गोरे के बीच चलनेवाले भेद-भाव को खतम करने के आन्दोलन के नेता डा० मार्टिन लूथर किंग के दाँये-बाँये चलकर उस आन्दोलन को तीव्र बनाया है।

इस तरह मैंने देखा कि मस्ते के विचारों की गूँज पूरे अमेरिका में है। लगते हाथ मैंने मस्ते से यह भी पूछा कि भारत के गांधीवादी आन्दोलन के बारे में उनकी क्या राय है। श्री मस्ते ने कहा—'अगर मैं भी आपकी ही तरह थोड़ा आलोचक बनकर राय प्रकट करूँ तो आप नाराज तो न होंगे?"—और फिर मुसकराते हुए उन्होंने कहा—"आज का गांधीवादी आन्दोलन चिन्तन के क्षेत्र में कहीं अधिक गहराई तक जरूर पहुँचा है; लेकिन क्रियाशीलन के क्षेत्र में वह निर्जीव-सा है।"

श्री मस्ते हमारे मित्र हैं और मित्रों की आलोचना में सहानुभूति होती है, इसलिए वह उनमें भी थी। साथ ही उनकी आलोचना में सार भी था।

हमें अपने देश की परिस्थितियों पर आत्म-चिन्तन करके यह सोचना होगा कि हम क्रियाशीलन में कहाँ कमजोर रहे हैं? इसी प्रसंग में हमारी बातों का दौर अमेरिका के विश्वविद्यालयों की शिक्षा पर गया। "हमारे विश्व विद्यालय तो कुछ अमुक तरह के लोगों को पैदा करने-वाले कारखाने बन गये है। वहाँ मनुष्यों का निर्माण नहीं, बल्कि इंजीनियरों, डाक्टरों, वकीलों आदि का निर्माण होता है।" श्री मस्ते ने यो कहते हुए यह टिप्पणी भी जोड़ दी कि "भारत में भी शिक्षा का यही ढर्रा चल रहा है। गांधीवादियों पर नयी शिक्षा की बुनियादें रखने का एक बड़ा उत्तरदायित्व है।"

इस तरह उन्होंने अपनी बातचीत से हमारे मन पर यह प्रभाव डाला कि वे निरे युद्ध-विरोधी ही नहीं हैं; बल्कि उनकी दृष्टि समग्र है और वे एक नयी समाज-रचना का पूरा सपना सँजोये बैठे हैं।

आठ हजार मील की पैदल यात्रा के बाद लगभग छ महीने तक श्री मस्ते और उनके साथियों के अतिथि बनकर अमेरिका को हम अपने घर-जैसा अनुभव करने लगे और यात्रा की सारी थकान भूल गये।

●

यह लहुराबीर है !

मैं काशी आया हूँ, वेदों में वर्णित दुनिया की प्राचीनतम जीवित नगरी का दर्शन करने !

उत्तर प्रदेश के शायद सबसे गँवार कहलानेवाले बलिया जिले के एक गाँव में प्राइमरी स्कूल का शिक्षक हूँ मैं। बहुत साल गुजर गये, जब मैंने मैट्रिक की परीक्षा थर्ड डिवीजन में पास की थी और जिला-बोर्ड के अध्यक्ष महोदय की सिफारिश के बल पर नार्मल-ट्रेनिंग लेने का मौका मिल गया था। अब तो मैं जिले के प्राइमरी पाठशाला के अच्छे शिक्षकों में गिना जाता हूँ।

मेरे साथ मेरी धर्मपत्नी शीला और १० साल का मेरा बेटा सत्यप्रकाश भी हैं। बरसों की सँजोई तमन्ना आज पूरी हुई है--सपरिवार काशी दर्शन की। दिल बाँसों उछल रहा है, शीलाजी के तो पाँव ही जमीन पर नहीं पड रहे हैं, और 'सत्य' ने तो पूरी काशी की दुकानों के खिलौने, मिठाइयाँ, कपडे और न जाने क्या-क्या खरीद लेने की मन ही-मन ठान रखी है। जेब में उसके मामा के दिये पारसाल के पाँच रुपये जो पडे हैं! उसे क्या पता कि उसकी चाहों में और उसकी (जिद करने पर मेरी भी) क्रय-शक्ति में जमीन आसमान का फर्क है।

शीलाजी शादी के दिन की बनारसी साडी पहने चाँदी के कडे झनकाती थोडा घूँघट काढे धीरे-धीरे कदम रख रही हैं। औडिहार जक्शन पर खरीदी १० पैसे की मूँगफली हाफगैंट की जेब से निकालकर खाते हुए सत्य कभी दौडकर आगे बढ जाता है, लेकिन मोटर के हार्न या रिक्शे की घण्टी सुनकर डर भी जाता है। कभी किसी बडी दुकान के सामने खडा होकर देर तक निहारता रहता है। गाँव की सीमित और प्राय खामोश जिन्दगी से निकलकर शहर के विराट वैभव में उसका चौकना, ललचाई निगाहों से चीजों को देखना स्वाभाविक है, फिर भी स्वभाववश कभी-कभी ठीक से चलने के लिए डाँट ही देता हूँ।

पाँच साल पहले जब सहायक से प्रधानाध्यापक के पद पर मेरी तरक्की हुई थी उस समय मैंने दोसूती खादी का एक बन्दगला कोट और 'ननगिलाट' का एक पायजामा बनवाया था। उसे सिर्फ डिप्टी साहब के मुआइना के अवसर पर पहनता था, लेकिन शीलाजी के आग्रह पर आज मुझे भी धराऊँ कपडे पहनने पडे। सावधानी से सहेजकर बाँधी गयी जरूरी चीजों की गठरी बगल में दबाये सिकडउर' (वाराणसी) से गोदौलिया की ओर हम चल रहे हैं। सडक पर सरक रहे एक के बाद एक खूबसूरत रिक्शे को देखकर दिल करता है रोककर सवार हो जाऊँ। सत्य ने तो स्टेशन पर हठ भी किया था, लेकिन पूरे साल के जुटाये पैसों से भरी जेब भी इजाजत नहीं दे रही है। मन मसोसता है, लेकिन सोचता हूँ--जितने पैसे बचे रहेंगे काम देंगे, बहुत घूमना जो है।

यह लहुराबीर है ! पहले तो ऐसा न था ! नये नये नक्शे की ऊँची ऊँची इमारतें, सजी-सजायी दुल्हिन-सी दुकानें, रग बिरगी ढीली और चुस्त पोशाकों में सजी-सँवरी तिरछी बाँकी तसवीरें ! तभी मेरी निगाहें टेढे-मेढे, लेकिन खूबसूरत अक्षरों में लिखे 'क्वालिटी' पर टिक जाती हैं।

"बाबूजी, इतनी बडी मिठाई की दुकान है देखो।"

मैं चौंक उठता हूँ। सामने देखता हूँ--राजपूत-ब्रदर्स विशाल साईनबोर्ड--"हम भी मिठाई खायेंगे, कुर्सी पर बैठकर मेज पर रखकर, सफेद-सफेद तश्तरी चम्मच से, चलो न बाबूजी !"--सत्यप्रकाश ने जिद में पकड ली।

"पीढ़ों की इतनी बड़ी-बड़ी आलमारियों में तरह-तरह की मिठाइयां ! बाप रे ! ऐसी दुकान तो ददरी के मेले में भी कभी नहीं देखी !'

'बाबूजी, चलो न !'—सत्य हाथ पकड़कर दुकान की ओर खींच रहा है जेब के पैसे राम रहे हैं, शीला की क्या राय है ? अरे ! उसका घूंघट तो आंखों से भी ऊपर खिंच गया है, धीरे-धीरे मुसकरा रही है। अब तो भई, जेब के पैसे शहीद होकर ही रहेंगे।

अच्छा भई, चलो !

हमलोग एक मेज के चारों तरफ रखी कुर्सियों पर बैठे हैं, प्लेटों की खड़खड़ाहट, चम्मचों की झनझनाहट, पैसों की !

'क्या लाऊं 'साब' !'—लगभग बारह साल का एक लड़का सामने खड़ा पूछ रहा है।

'रसगुल्ले !'—साहबजादे रोब से आज्ञा दे रहे हैं। इतने अल्प काल में ही आप साहब बन चुके हैं, लेकिन यहाँ तो पसीना आ रहा है। न जाने और भी क्या क्या माँगें होंगी ?

खट खट खट तीन प्लेटें सामने आती है। " और चम्मच ?"—सत्यप्रकाशजी पूछ रहे हैं।

"चट चट चट .."—निगाहें देख रही हैं, होटल का मैनेजर उस मासूम लड़के के गालों पर चपत जड़ रहा है। मैं उसके हाथ पकड़ लेता हूँ।

"छोड़िए साहब, साले का दिमाग खराब हो गया है, हरामी, लुच्चा"—और भी भद्दी गालियाँ बकता हुआ मैनेजर लौट रहा है अपनी गद्दी की ओर। लड़के के दोनों गालों पर अँगुलियों के रक्तिम चिह्न अंकित हो गये हैं, वह मेज के सहारे सिर झुकाये खड़ा है। आंखों से बड़ी-बड़ी बूँदें मेज पर गिर रही हैं—टप टप टप ।

एक मिनट के अन्दर ही वह कमीज की बाँह से आँखें और कन्धे पर पड़े गन्दे तौलिये से मेज पर टपके आँसू पोंछता है और बगल की जूठी प्लेटें उठाने लगता है ।

मैं रसगुल्ले की प्लेट अपने पास खींचता हूँ कि सत्य मेरी बाँह पकड़ लेता है—"रहने दो पिताजी, हम मिठाई नहीं खायेंगे।"

मैं स्तम्भित रह जाता हूँ। उसकी आँखें भरी हुई हैं, मेरी और शीला की हथेलियाँ पकड़े वह कुर्सी से अलग खड़ा होकर दरवाजे की ओर खींच रहा है।

मैं समझाने की कोशिश करता हूँ—"पगले, उसने अपने नौकर को पीटा है, तुम क्या दुखी होते हो ?"

"हमें यहां मिठाई नहीं खानी है नहीं खानी है।"—वह दृढ़ता से कहता है।

मैनेजर की मेज पर डेढ़ रुपये का बिल चुकाना है और वह अपनी बड़ी बड़ी आंखों से घूर रहा है।

शीला और सत्य के साथ अब मैं गठरी दबाये क्वीन्स कालेज के छात्रावास के पास खड़ा सारनाथ की बस का इन्तजार कर रहा हूँ। सत्य की हठ के आगे हम दोनों की एक न चली। अब वह काशी में एक मिनट भी नहीं रुकना चाहता, कुछ भी नहीं देखना चाहता, सिर्फ घर जाना चाहता है। बड़ी मुश्किल से सारनाथ चलने को राजी हुआ है। वह भी इस शर्त पर कि वहीं से रात की गाड़ी पकड़ लेंगे। इधर-उधर विद्यार्थियों के झुण्ड हाथ में किताब-कापियों के बण्डल लिये गये लगा रहे हैं, बस' की प्रतीक्षा चल रही है।

सत्य को भूख तो लगी ही होगी, पैंट की जेब में पड़ी रास्ते में खरीदी मूँगफली के बचे-खुचे दाने निकाल कर बीच-बीच में मुँह में डाल लेता है और फिर मायूस नजरों से चौक की ओर देखने लगता है।

और मैं ?

सोच रहा हूँ—काश ! हमारे देश में कभी वह जमाना भी आता, जब देश के नौनिहाल अपने गुणों, प्रतिभाओं और क्षमताओं के विकास का पूरा-पूरा अवसर पाते !

अगर ऐसा होता तो भैंस की पीठ पर बैठे बैठे या होटलों की प्लेटें साफ करते करते उनकी जिन्दगी नहीं गुजर जाती, पूँजीवाद और सामन्तवाद के थप्पड़ खाते-खाते उनकी आँखों के आँसू न चुक जाते. ॥●

उत्तर प्रदेश की बेसिक शिक्षा का मूल्यांकन

•

वंशीधर श्रीवास्तव

उत्तर प्रदश में बेसिक शिक्षा जिस ढग से आरम्भ हुई वह ढग दूसरे सभी प्रदेशो स भिन्न था। डा० जाकिर हुसैन समिति द्वारा पाठयक्रम बनाये जाने के बाद वर्धा में सर्वप्रथम बेसिक शिक्षा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। पहला बुनियादी स्कूल वही खुला। बुनियादी तालीम के जीवन-दशन मे निष्ठा रखनवाले कायकर्ता वहाँ थे। हिन्दुस्तानी तालीमी सघ का दफ्तर वही था। वर्धा बुनियादी शिक्षा के प्रवतक की कमभूमि थी। अत यह स्वाभाविक था कि वर्धा का हिन्दुस्तानी तालीमी सघ और वहाँ की बुनियादी सस्थाएँ बुनियादी शिक्षा का स्रोत बनें। हुआ भी ऐसा ही। वधा बुनियादी शिक्षा के प्रचार और प्रसार का केन्द्र बन गया। सभी प्रदेशो ने बेसिक शिक्षा प्रारम्भ करने के पहले अपने कायकर्ताओ को ट्रेनिंग के लिए वर्धा भेजा। वहाँ से बुनियादी तालीम के सिद्धान्तो और टेक्नोक में दीक्षा पाकर कायकर्ताओ ने अपने प्रदेशो में बुनियादी शिक्षा का कार्य प्रारम्भ किया और बाद में भी वे हिन्दुस्तानी तालीमी सघ से मार्ग-दर्शन पाते रहे।

परन्तु, उत्तर प्रदेश में ऐसा नहीं हुआ। उत्तर प्रदेश की बुनियादी शिक्षा वर्धा के जीवन्त प्रभाव से दूर रही। वर्धा के कार्यकर्ता बुनियादी शिक्षा की जो व्याख्या कर रहे थे और उसकी जो टेक्नोक वे विकसित कर रहे थे उसमें उत्तर प्रदेश की बुनियादी तालीम के कार्यकर्ताओ को कभी ट्रेनिंग के लिए नही भेजा गया। उत्तर-प्रदेश में बुनियादी शिक्षा को समझने समझाने का एकमात्र साधन था—जाकिर हुसैन-समिति का विवरण और उसके साथ प्रकाशित पाठ्यक्रम। इसका एक नतीजा यह हुआ कि उत्तर प्रदेश में बेसिक शिक्षा जीवन-मार्ग और जीवन-दशन क रूप में नहीं अपनायी गयी—अपनायी गयी कोरी शिक्षा-पद्धति के रूप में।

इस दृष्टिकोण को अपनाने के कारण इस प्रदेश में बेसिक शिक्षा के सामाजिक पहलू को बिलकुल छोड दिया गया, और सामुदायिक काय इस प्रदेश की प्रारम्भिक स्तर की बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम का अग नहीं बन पाया। उत्तर प्रदेश की बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में आप कही सामुदायिक कार्य का उल्लेख नहीं पाइएगा। दूसरे शब्दो में उत्तर प्रदेश की बेसिक शिक्षा एकान्त सस्थागत रही। सस्था से बाहर निकलकर समुदाय के सम्पर्क में आने का प्रयास उसने सन १९५४ तक नहीं किया—जब उसन पहली बार शिक्षा-पुनर्व्यवस्था योजना के रूप में प्रसार-कार्य को अपनाया—और वह भी ६, ७, ८ के सीनियर स्तर पर। कक्षा १ स ५ तक बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में आज भी उसकी कहीं चर्चा नहीं है।

जीवन माग और जीवन दशन के दृष्टिकोण को छोड देने के कारण ही बेसिक शिक्षा के स्वावलम्बन और शिल्प की उत्पादकता के पहलू का भी परित्याग कर दिया गया। स्वावलम्बन और उत्पादकता के पहलू का सर्वथा परित्याग उत्तर प्रदेश की बेसिक शिक्षा का सबसे प्रमुख लक्षण है। इसका मूल्यांकन करते समय इस पहलू को सदा सामने रखना चाहिए।

स्वावलम्बन को गांधीजी ने बेसिक शिक्षा की नेजावी जाँच बतलाया। शिक्षा मन्त्रियों के एक सम्मेलन में किसी के यह कहने पर कि "यदि बेसिक शिक्षा के दार्शनिक पहलू को छोड दिया जाय तो भी बेसिक शिक्षा प्रगतिशील शिक्षा-पद्धति है और उसे अपनाना चाहिए।" गांधीजी ने स्पष्ट कह दिया था कि अगर बेसिक शिक्षा के दर्शन को छोड देना है तो बेसिक शिक्षा को ही छोड़ देना श्रेयस्कर होगा। उनके इतना कहने पर भी उत्तर प्रदेश में बेसिक शिक्षा के दार्शनिक पहलू और स्वावलम्बन के सिद्धान्तो को छोड दिया गया। इतना ही नही, शिल्प की उत्पादकता के पहलू को भी छोड दिया गया। फलत १९४०-४१ के कक्षा १-२ के पाठ्यक्रमो में जाकिर हुसैन-समिति के पाठ्यक्रम का अनुकरण कर शिल्पो की उत्पादकता के जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे उन्हे पाठ्यक्रमों से निकाल दिया गया और केवल शिल्प की प्रक्रियाएँ ही रह गयी। शिल्प केवल ज्ञान का साधन है, अत उनकी क्रियाओ प्रक्रियाओ का ज्ञान पर्याप्त समझा गया।

इस दृष्टिकोण को अपनाने का भयकर परिणाम हुआ। बात तो यहाँ से शुरू हुई थी कि किसी भी प्रकार के उत्पादन और आर्थिक लाभ की बात शिक्षण की प्रक्रिया को हानि पहुँचायगी, अत उद्योग केवल शिक्षण के लिए चलाये जायें, परन्तु परिणाम यह हुआ कि जब उत्पादकता का लक्ष्य छोड दिया गया तो उद्योग लापरवाही से किये जाने लगे और उसकी क्रियाओ को वैज्ञानिक ढग से सिखाने की आवश्यकता नहीं अनुभव की गयी। उत्पादन का अंकुश हट गया तो शिल्प की शिक्षा भी ठीक रास्ते न चल सकी। जो क्रिया वैज्ञानिक ढग से नहीं की जाती वह शिक्षा की दृष्टि से भी ठीक नहीं होती। लक्ष्य ही शिल्प की क्रियाओं को सोद्देश्य बनाता है। उत्पादन का लक्ष्य हट जाने से क्रिया निरुद्देश्य हो गयी। जिस शिक्षा-पद्धति में उत्पादक उद्योग ही शिक्षा का केन्द्र है उस पद्धति मे उत्पादकता के लक्ष्य को छोड देने से उद्योग का वैज्ञानिक शिक्षण रुक गया।

फलत जिस शैक्षिक पहलू के लिए हमने 'उत्पादन और अर्थ' के पहलू को छोडा था वह भी सिद्ध नहीं हुआ, और उत्तर प्रदेश में शिल्प की क्रिया अवैज्ञानिक तथा ढुलमुल ढंग से की जाने लगी। दूसरे शब्दो मे कहूँ तो यो कहूँगे कि किसी को न कातना आया, न बुनना, न बोना आया, न काटना। जब वैज्ञानिक ढग से क्रिया करना ही नहीं आया तो क्रिया के माध्यम से अन्य विषयो का ज्ञान कैसा और कितना प्राप्त हुआ, इस सम्बन्ध में जितना कम कहा जाय उतना ही अच्छा है। यह तथ्य है कि उत्तर प्रदेश के ५० हजार बेसिक स्कूलों में किसी भी स्कूल के बच्चों को किसी भी शिल्प की कोई भी क्रिया वैज्ञानिक ढग से करनी नही आती और एक भी स्कूल ऐसा नहीं मिलेगा, जहाँ इन क्रियाओ के माध्यम से पाठ्यक्रम के अन्य विषयो को पढाने की कोई चेष्टा की जाती हो। उत्तर प्रदेश के बेसिक स्कूलो में अनुबन्धित शिक्षण का काम नहीं होता। मूल्याकन की भाषा में बोला जाय तो यह कहना होगा कि उत्तर प्रदेश के शत-प्रतिशत स्कूलों में शिल्प का वैज्ञानिक शिक्षण और शिल्प-द्वारा शिक्षण नहीं होता, यानी बेसिक शिक्षा नहीं होती।

उत्पादकता को छोड देने के और दो भयकर परिणाम हुए हैं। एक तो यह कि जब उत्पादकता का लक्ष्य ही छोड दिया गया तो कोई यह पूछनेवाला नहीं रहा कि जो साधन दिया जा रहा है (और उत्तर प्रदेश में शिल्प के साधन और सरजाम के लिए पहले प्रति विद्यालय ३४ रु० और आजकल ८ रु० अब ७९ रु० दिये जा रहे हैं।) उसका उपयोग कैसे हो रहा है। परिणाम-स्वरूप स्कूलों में शिल्प-कार्य का कोई हिसाब-किताब नही रखा जाता और बेसिक स्कूल बरबादी के बहुत बडे केन्द्र हो रहे हैं। मै उन्हें बरबादी का केन्द्र नहीं कहता, अगर शिल्प शिक्षा का माध्यम भी बन गये होते, परन्तु वह भी तो कहीं नहीं हो रहा है।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि जब उत्पादकता का लक्ष्य छोड दिया गया तो अध्यापक के लिए शिल्प की क्रिया में निष्णात होना आवश्यक नहीं रह गया। फलत. तीन महीने के प्रत्यास्मरण पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) म थोडा बहुत शिल्प सिखाकर उसे शिल्प-शिक्षण के लिए भेज दिया गया। ये शिक्षक वैज्ञानिक ढग से शिल्प का शिक्षण नही ले पाये। फलतः आज उत्तर प्रदेश के प्रारम्भिक बेसिक स्कूलो में

शिल्प की शिक्षा देनेवाले अध्यापकों को किसी भी शिल्प का पर्याप्त वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है। अधकचरे शिल्प ज्ञान की पूँजी लेकर बेसिक शिक्षा का सम्यक् वैज्ञानिक अध्यापन नहीं हो सकता। जो शिल्प समस्त शिक्षा का केन्द्र है उस शिल्प की क्रियाओं में दक्ष हुए बिना उसकी शैक्षणिक सम्भावनाओं से लाभ भी नहीं उठाया जा सकता। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि उत्तर प्रदेश के प्रारम्भिक बेसिक स्कूलों में बेसिक शिक्षा के नाम पर ऐसा कुछ नहीं हो रहा है, जिसे वास्तविक बेसिक शिक्षा कहा जाय।

बेसिक शिक्षा के प्रसार के ढंग में उत्तर प्रदेश ने जो मार्ग अपनाया वह भी अन्य प्रदेशों से नितान्त भिन्न था। अन्य प्रदेशों में बेसिक शिक्षा कक्षा १ से आरम्भ हुई और क्रमशः कक्षा ७ या ८ तक गयी, और इस तरह के बेसिक स्कूलों की संख्या क्रमशः बढ़ायी गयी। इसे हम 'सीमित क्षेत्रों में प्रगाढ़ प्रयोग और क्रमशः विकास' की संज्ञा दे सकते हैं। बेसिक शिक्षा के विकास का यह स्वाभाविक मार्ग था। उसके प्रारम्भ करने के लिए पारम्परिक स्कूलों से अधिक साधनों और विशेष प्रकार के प्रशिक्षित अध्यापकों की आवश्यकता होती है। प्रयोग-क्षेत्र को क्रमशः विस्तृत करने से इस प्रकार के साधनों और अध्यापकों की सुव्यवस्था करना सम्भव हो सका। उत्तर प्रदेश में इसके विपरीत बेसिक शिक्षा को प्रारम्भिक शिक्षा के समस्त क्षेत्र में लागू करने का निश्चय किया गया और प्रदेश के सभी प्रारम्भिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों में परिवर्तित करने की नीति अपनायी गयी, जिससे प्रदेश में एक साथ दो समानान्तर शिक्षण विधियों के चलाने की उलझन से बचा जा सके।

योजना को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए सबसे पहली जरूरत यह महसूस हुई कि उपयुक्त शिक्षकों का प्रबन्ध किया जाय और बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों से परिचित निरीक्षकों का एक ऐसा समूह तैयार किया जाय, जिनसे बुनियादी स्कूलों के अध्यापक पथ-प्रदर्शन पा सकें। अतः उत्तर प्रदेश की सरकार ने अगस्त सन् १९३८ में इलाहाबाद में स्नातकों के लिए एक पोस्ट ग्रेजुएट बेसिक-ट्रेनिंग कालेज खोला। इस ट्रेनिंग कालेज में प्रशिक्षण के विषय प्राचीन एल० टी० ट्रेनिंग कालेज के ही समान थे, केवल बेसिक शिक्षा के सिद्धान्त और अनुबन्धित शैली के विषय बढ़ा दिये गये। इस ट्रेनिंग कालेज को प्राचीन एल०टी० ट्रेनिंग के समकक्ष माना गया।

क्राफ्ट के नाम पर केवल कताई और पुस्तक-शिल्प सिखाये गये, बुनाई और काष्ठ-शिल्प नहीं। ऐसा इसलिए कि बेसिक शिक्षा को कक्षा ५ तक ही चलाने का निश्चय किया गया था। कला पर बहुत अधिक बल दिया गया और शिल्प की भाँति उसे स्पेशलाइज़ेशन का विषय माना गया। बागवानी और खेती नहीं सिखायी गयी। सच पूछिए तो सन् १९५४ के पहले यानी पुनर्व्यवस्था शिक्षा-योजना लागू करने के पहले बागवानी और खेती बेसिक स्कूलों में पाठ्य-विषय नहीं थे। आज भी जूनियर स्तर पर सम्यक् ढंग से बागवानी सिखाने की व्यवस्था बहुत कम है।

इस संस्था से निकलने के बाद स्नातकों को प्रदेश के सात रिफ्रेशर कोर्स ट्रेनिंग केन्द्रों में भेज दिया गया। इन पर तीन महीने के रिफ्रेशर कोर्स के लिए जिले के प्रारम्भिक स्कूलों के वे अध्यापक आते थे, जो वी० टी० सी० ट्रेण्ड थे। प्रत्येक केन्द्र पर २५० अध्यापक आते थे। इस तरह साल भर में लगभग ७,००० अध्यापकों को रिफ्रेशर कोर्स देने की व्यवस्था थी। चूँकि ये अध्यापक प्रशिक्षित थे, अतः केन्द्रों पर उन्हें बेसिक शिक्षा के सिद्धान्त बताये जाते थे और समवाय-पद्धति से परिचित करा दिया जाता था। उन्हें कताई-बुनाई, पुस्तक शिल्प और कला भी सिखाया जाता थी। तीन महीने के इस प्रशिक्षण के बाद वे वापस जाकर अपने स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित कर लेते थे।

जैसे-जैसे इन केन्द्रों से प्रशिक्षित होकर अध्यापक निकलते गये वैसे-वैसे प्रदेश के प्रारम्भिक विद्यालय बेसिक विद्यालय में परिवर्तित होते गये। ये केन्द्र सन् १९४६ तक चलते रहे और इनमें लगभग ३५,० शिक्षकों को बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त और प्रयोग की शिक्षा दी गयी। १९४६ के बाद इन केन्द्रों को नार्मल स्कूलों में परिवर्तित कर दिया गया। प्रदेश के अन्य नार्मल स्कूल भी बेसिक-नार्मल स्कूलों में परिवर्तित कर दिये गये। इनका नाम तो नहीं बदला, परन्तु उनके पाठ्यक्रम में बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों का समावेश कर दिया गया और उनमें मूल-

उद्योग और तत्सम्बन्धित कला के निर्माण की व्यवस्था भर दी गयी। भूल यह हुई कि सामञ्जयिक पाठों को पढ़ाने तथा उनमें शिक्षा देने की व्यवस्था नहीं की गयी। सन् १९४८ में प्रदेश के सभी प्रारम्भिक विद्यालयों को बेसिक शिक्षा के ढंग पर सचालित करने का आदेश दिया गया और उन्हें बेसिक स्कूल कह दिया गया।

अस्तु उत्तर प्रदेश में बेसिक शिक्षा की जो भी सकल्पना अपनायी गयी उसके प्रसार के ढंग में भी अन्य प्रदेशों से भिन्न मार्ग अपनाया गया। यद्यपि गांधीजी ने पहले ही व्याख्यान में यह साफ कह दिया था कि बेसिक शिक्षा जीवन भर की शिक्षा है केवल प्रारम्भिक स्तर की नहीं फिर भी वर्धा-कान्फ्रेंस में यही निश्चित हुआ कि उसका प्रयोग पहले प्रारम्भिक स्तर पर ही किया जाय और उसी स्तर के लिए जाकिर हुसैन समिति ने पाठ्यक्रम भी बनाया। परन्तु उसी सम्मेलन में यह भी निश्चित कर दिया कि इस प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा सात (पीछे आठ) वर्ष की एक इकाई होगी। इकाई हम उस पाठ्यक्रम को कहते हैं जिसमें स्तर विशेष की पहली कक्षा में जो विषय प्रारम्भ होते हैं व उस स्तर की अन्तिम कक्षा तक चलें जाकिर हुसैन-समिति-द्वारा पाठ्यक्रम में जो विषय कक्षा १ में प्रारम्भ हुए थे व अथवा उनके विकसित रूप अन्तिम कक्षा तक अनिवार्य रूप से चले थे और प्रारम्भिक शिक्षा योजना के रूप में जिन प्रदेशों में भी चली उनमें इसी रूप में अपनायी गयी अर्थात कक्षा १ से कक्षा ७ या ८ तक वह अखण्ड इकाई रही।

परन्तु उत्तर प्रदेश में बेसिक शिक्षा की यह इकाई खण्डित कर दी गयी। यहाँ सन् १९३८ से सन १९५६ तक वह कक्षा १ से कक्षा ५ तक की खण्डित इकाई के रूप में ही चली और सन १९५६ में जूनियर हाई स्कूलों की कक्षा ६ ७ और ८ को बेसिक स्कूल का सीनियर स्तर घोषित कर दिया गया तब भी पाठ्यक्रम की दृष्टि से कक्षा १ से ८ तक के पाठ्यक्रम को एक समग्र इकाई के रूप में सगठित नहीं की गयी और आज भी जूनियर स्तर पर जो विषय प्रारम्भ होते हैं वे सीनियर स्तर तक नहीं चलते। जूनियर स्तर पर जो शिल्प हैं तो सीनियर स्तर पर एक ही शिल्प है जूनियर स्तर पर कला और सामान्य विज्ञान अनिवार्य विषय हैं तो सीनियर स्तर पर वैकल्पिक।

प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा की एकता बहुत महत्वपूर्ण वस्तु है और जिन शिक्षाशास्त्रियों ने सगठन की सहूलियत की दृष्टि से अथवा दूसरे कारणों से बेसिक शिक्षा को दो स्तरों में बाँटने की बात की है उन्होंने भी इस एकता को बनाये रखने की सिफारिश की। उदाहरणार्थ अखिल भारतीय स्तर पर सार्जेंट कमेटी ने प्रारम्भिक बेसिक शिक्षा को दो इकाइयों में बाँटने की बात की है। बेसिक शिक्षा के सगठन और पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कमेटी लिखती है कि बेसिक शिक्षा अपनी मौलिक एकता को कायम रखते हुए दो स्तरों में विभाजित होगी—जूनियर प्राइमरी स्तर जिसकी अवधि ५ वर्ष की होगी और सीनियर (या मिडिल) स्तर जिसकी अवधि ३ वर्ष की होगी। जिन्हें बेसिक शब्द रखना पसन्द नहीं वे प्राइमरी और मिडिल शब्द रख सकते हैं। परन्तु हर हालत में इन दोनों स्तरों की आवश्यक एकता को कायम रखना होगा और प्राइमरी स्तर के कोर्स का इस प्रकार आयोजन करना होगा कि उसका स्वाभाविक विकास मिडिल स्तर पर हो। *

सन् १९५२ में केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने अपने एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव-द्वारा पुनः एकता के इसी तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। प्रस्ताव में कहा गया है कि— शिक्षा की कोई पद्धति सच्चे अर्थ में तब तक बेसिक शिक्षा पद्धति नहीं मानी जा सकती जब तक वह जूनियर और सीनियर दोनों ही स्तरों पर समन्वित पाठ्यक्रम नहीं लागू करती और शिल्प कार्य के शिक्षात्मक और उत्पादक दोनों ही पहलुओं पर पर्याप्त बल नहीं

* (पोस्टवार एजुकेशनल डेवलपमेण्ट इन इण्डिया—केन्द्रीय सलाहकार समिति की रिपोर्ट (अंग्रेजी में) पृष्ठ ८ ९)।

देती।" शिल्प क्रिया के खण्डित हो जाने से शिक्षात्मक और उत्पादक दोनों ही पहलुओं की पूर्ण अवहेलना हो जाती है। उत्तर प्रदेश में जूनियर तथा सीनियर स्तर के पाठ्यक्रमों में एकता नहीं है। अतः उत्तर प्रदेश की बेसिक शिक्षा का मूल्यांकन करते समय यह बात बार-बार उभर कर सामने आ जाती है।

शिक्षा पुनर्व्यवस्था-योजना

उत्तर प्रदेश में बेसिक शिक्षा १९५४ तक कक्षा ५ तक सीमित रही। सन् १९५४ से इसे ६, ७, ८ में भी लागू कर दिया गया—ऐसा नहीं कि पहले ६ फिर ७ फिर ८ में बल्कि एक साथ। चूंकि कृषि इस प्रदेश का मुख्य उद्योग है और यहाँ की ८० प्रतिशत जनता इसी कार्य में लगी रहती है अतः प्रत्येक सीनियर बेसिक स्कूल (कक्षा ६, ७ और ८) के साथ लगभग १० एकड भूमि सलग्न करने की योजना बनायी गयी, जिससे इन स्कूलों में कृषि और बागबानी को मुख्य उद्योग बनाया जा सके। साथ में कताई-बुनाई अथवा किसी दूसरे स्थानीय उद्योग को गौण उद्योग के रूप म रखने का निश्चय किया गया। इस समय तक बेसिक शिक्षा की यह सकल्पना स्पष्ट हो गयी थी कि बेसिक शिक्षा जीवन के माध्यम द्वारा जीवन की शिक्षा है और यह माना जाने लगा था कि यह कोरी शिक्षा-पद्धति न होकर जीवन-यापन का एक ढग है। अतः बेसिक शिक्षा के सामुदायिक पहलू पर अधिक जोर दिया जाने लगा था। इसीलिए, पुनर्व्यवस्था योजना के अन्तर्गत यह निश्चय किया गया कि सामुदायिक सहयोग और प्रसार कार्य को सीनियर बेसिक विद्यालय के पाठ्यक्रम के मुख्य अग के रूप मे स्वीकार किया जाय और इन विद्यालयों को सामुदायिक विकास-केन्द्रों में विकसित किया जाय।

अतः सीनियर बेसिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में कृषि-कार्य और लिखाई-पढ़ाई के अलावा कृषि-प्रसार, सामुदायिक स्वास्थ्य और सफाई, सामुदायिक निर्माण-कार्य, रचनात्मक कार्यक्रम और स्थानीय कुटीर उद्योगों के विकास का काम भी सम्मिलित कर लिया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि इन स्कूलों के कार्यक्रम का बच्चों के जीवन से अधिक निकट का सम्बन्ध हो गया और वे सामुदायिक जीवन के अधिक नजदीक आ गये।

इस प्रकार जुलाई सन् १९५४ से उत्तर प्रदेश में बेसिक शिक्षा जूनियर हाई स्कूल के स्तर तक बढा दी गयी। इन सीनियर बेसिक स्कूलों मे कृषि मुख्य उद्योग है, और जहाँ कृषि की सुविधा नहीं है वहाँ कोई दूसरा उद्योग मुख्य शिल्प रखा गया है।

उत्तर प्रदेश में इन सीनियर बेसिक स्कूलों के लिए अब तक २१,००० एकड से अधिक भूमि प्राप्त हो चुकी है, जो सन्तोष की बात है। इस समय तक प्रदेश के ३,५०० सीनियर बेसिक स्कूलों में लगभग २ १०० ऐसे कृषि-साधन सम्पन्न सीनियर बेसिक स्कूल है, और लगभग ३०० ऐसे स्कूल है, जिनमें कताई-बुनाई, काष्ठकला, धातुकला आदि दूसरे शिल्प मुख्य उद्योग के रूप में चलते है। इन सीनियर बेसिक स्कूलों मे कार्य करनेवालों में काफी सख्या में ग्रेजुएट और कृषि के विशेषज्ञ ग्रेजुएट और अण्डर ग्रेजुएट हैं। इन्हें बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त और प्रयोग तथा प्रसार-कार्य में रिफ्रेशर कोर्स दिया गया है और इनके लिए लगातार सेवाकालीन प्रशिक्षण की योजना है, जिसके लिए प्रदेश भर में कई केन्द्र है। सबसे बडा केन्द्र प्रतापगढ में है।

मेरा विचार है कि पुनर्व्यवस्था योजना के रूप में हमारे पास, जो ४,००० सीनियर बेसिक स्कूल हैं वे सरलता-पूर्वक प्रदेश में बेसिक शिक्षा के आदर्श 'न्युक्लियस' बन सकते है। उनके पास भूमि का साधन है। दूसरे सहकारी उद्योगों के लिए साधन देना प्रदेश के बूते के बाहर नहीं है। अत इन्हीं को अतिरिक्त सहायता देकर और अच्छा बनाया जाय तो उत्तर प्रदेश की बेसिक शिक्षा के मूल्यांकन की मापा बदल जायगी।

सगठन

सगठन का चर्चा किये बिना कोई भी मूल्यांकन अधूरा रह जायगा। उत्तर प्रदेश की बेसिक शिक्षा का सबसे कमजोर पहलू उसका सगठन है, जो जिला-परिषदों के हाथ में है। वहाँ स्थिति इतनी खराब है कि अधिकाश

लोगों की राय यह हो रही है कि जब तक प्रारम्भिक शिक्षा जिला परिषदा के हाथ में रहेगी तब तक उसमें कोई सुधार नहीं होगा। शिक्षा विभाग से बेसिक शिक्षा में सुधार के लिए जो आदेश जाते हैं, शायद ही उनमें किसी का पालन ठीक से होता है।

एक उदाहरण ले लीजिए। आज कल जो अस्सी रुपये का अनुदान बेसिक कटेंजेसी के रूप म शिल्प-साधन खरीदने के लिए दिया जाता है उसका ५ प्रतिशत से अधिक व्यय कच्चा माल और औजार खरीदने में नहीं किया जाता। कहीं तनख्वाह बाँट दी जाती है, कहीं टाट-पट्टियाँ खरीद ली जाती है। फिर बेसिक शिक्षा में सुधार कैसे हो?

अभी हाल में हर जिले में कुछ स्वीकृत स्कूल खुले है। विभाग से यह आदेश गया था कि इनम अच्छे अध्यापक रखें जायें तथा बिना प्रशासकीय कारणो के उनका स्थानान्तरण न किया जाय परन्तु कुछ जिलो म तीन वर्षों में ६० प्रतिशत अध्यापकों का स्थानान्तरण हो गया है।

बेसिक शिक्षण संस्थाएँ

दो शब्द बेसिक प्रशिक्षण संस्थाओ के बारे में भी। प्रशिक्षण संस्थाओं के यहाँ तीन स्तर हैं—नामल/ज०टी० सी०, जे० बी० टी० सी० और बेसिक एल० टी०। अन्तिम दो स्तरो का पुनर्गठन सन् १९५४ के बाद हुआ है और इनके पाठ्यक्रम बेसिक शिक्षा के आदर्शों के अनुकूल है। जे० टी० सी० नामल स्कूल में जो दोष हैं उनकी चर्चा हो चुकी है। थोड़े प्रयत्न से ही इनमें सुधार हो जायेंगे।

अन्त में एक बात और।

ऊपर बेसिक शिक्षा की जिन त्रुटियों की चर्चा हुई है, उत्तर प्रदेश की सरकार उनसे अवगत है और वह शीघ्र एसे कदम उठा रही है, जिनसे इनका परिहार हो जायेगा।●

—सेवापुरी की बुनियादी शिक्षा-संगोष्ठी में पठित

निकम्मा शिक्षण

●

विनोबा

आजकल घरों में कोई शिक्षण नहीं है। घरवालों ने अपना सर्वस्व राज्य पर छोड़ दिया है, बच्चे भी उसके हाथ में सौंप दिये हैं। सबसे श्रेष्ठ रत्न, जो उनके पास हैं—छोटे छोटे बच्चे, उनको भी सौंप देते हैं। और, वह भी ऐसे शिक्षकों के हाथ में, जिनके पास कम-से-कम ज्ञान है, शायद बहुत ज्यादा ऊँचे चरित्रवाले भी नहीं हैं और जिनको कम-से कम तनख्वाह दी जाती है।

सरकार भी मान लेती है कि तालीम का इन्तजाम हो गया। कहीं-कहीं एक शिक्षक का स्कूल होता है। जब मैंने ऐसा स्कूल देखा कि एक कमरे में गुरुजी बैठे हैं और इधर-उधर चार कक्षाएँ लगी हैं, तब मैंने कहा कि यह एक शिक्षकीय शाला की कल्पना अपने शास्त्रकारों को भी सूझी होगी, इसलिए उन्होंने ब्रह्मदेव को चार मुखवाला माना होगा। चार कक्षाएँ साथ लेने की समस्या सामने आने से ही चार मुँह की कल्पना की होगी। शिक्षक ऐसे चार मुँहवाले ब्रह्मदेव होते हैं, तभी तो चार कक्षाओं को शिक्षण देते हैं।

लेकिन, उसको तो एक ही मुख है वह कैसे करे, कुछ समझ में नहीं आता? शिक्षक की जितनी अवहेलना इधर सौ सवा सौ सालों में हुई है उतनी भारत में कभी नहीं हुई। ग्राम पंचायत क हाथ में तालीम थी, इसलिए वह अपना इन्तजाम करती थी। जगह-जगह तालीम का इन्तजाम था, लेकिन जबसे तालीम सरकार का विषय हो गयी, तब से उसकी अत्यन्त अवहेलना हो गयी है।●
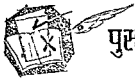
बुनियादी शिक्षा और नवीन समाज व्यवस्था

लेखक–मिलापचन्द्र दुबे

मूल्य-१ ००

पृष्ठ-संख्या–४९

प्रकाशक–राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा-संस्थान,
१४४, सुन्दर-नगर, नयी दिल्ली।

द्वितीय संस्करण : १९६४

पुस्तिका के प्रारम्भ में ही लेखक ने 'शिक्षा में परिवर्तन क्यों' का प्रश्न उठाया है और बताया है कि मनुष्य अपनी विकास-प्रक्रिया में समाज को बदलता है और बदला हुआ समाज मनुष्य का विकास करता है। इसीलिए शिक्षा का उद्देश्य यह मान लिया गया है कि मनुष्य समाज में रहकर अपनी विशेषताओं का विकास करके समाज के लिए उपयोगी बने। यही मनुष्य और समाज के पारस्परिक विकास में मेल बिठाने की योजना है, जिससे मनुष्य अपने को समाज के योग्य बनाये रख सकता है। यदि शिक्षा के क्षेत्र में समयानुसार परिवर्तन नहीं किया जाय तो वह निर्जीव हो जाती है। उससे व्यक्ति और समाज का मेल नहीं बैठता और विकास रुक जाता है।

हमारे देश की राजनीतिक रचना लोकतन्त्रात्मक है। संविधान के अनुसार उसके आदर्शों का आधार है-एक ऐसे समाज का निर्माण करना, जिसकी नीवें न्याय समानता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व पर हो। इसी को शोषण-मुक्त और वर्ग-विहीन समाज कहा गया है। इस पृष्ठभूमि में बुनियादी शिक्षा बदली हुई समाज-व्यवस्था की आवश्यकताओं की कहाँतक पूर्ति कर सकती है, इसका विवेचन आगे के अध्यायों में किया गया है।

उपसंहार मिलाकर पुस्तिका कुल १४ अध्यायों में विभाजित है और सम्बद्ध विषयों की चर्चा कम-से-कम शब्दों (साररूप) में की गयी है।

'भारतीय लोकतंत्र और बुनियादी शिक्षा' के पहलू पर विचार करते समय जनतंत्र के आधार-भूत स्तम्भों की चर्चा करते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि समाज-संगठन का आधार शिक्षा ही है।

'बुनियादी शिक्षा और सामाजिक संगठन' शीर्षक अध्याय में कहा गया है कि बुद्धि और श्रम मिलकर ही एक सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। शिक्षा और श्रम दोनों को समान रूप से सबके लिए अनिवार्य करने से जहाँ एक ओर गरीब अमीर का भेद-भाव मिटेगा वहाँ दूसरी ओर शोषण की सम्भावनाएँ भी कम होती जायेंगी। श्रम स्वावलम्बी जीवन अपनाने में सहायक होगा। बौद्धिक ज्ञान अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरूक करेगा और अवसर की समानता आर्थिक वैषम्य कम करके एक दूसरे को अधिक समीप ला सकेगी। श्रम तथा शिक्षा के समन्वय से वर्गभेद कम होगा। समाज में आत्मनिर्भरता, स्वतन्त्रता और सहयोग के गुणों का उदय होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की रक्षा के साथ-साथ समाज विकास के लिए भी योग-दान देगा। यही होगी सामाजिक नव निर्माण की भूमिका।

उपसंहार में कहा गया है कि बुनियादी शिक्षा श्रमिक जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ाकर, शिक्षायुक्त कर्म करने की योजना द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय करती है। जहाँ एक ओर वह उत्तम शिक्षण-कला है वहाँ दूसरी ओर वह समाज के नव निर्माण का भी एक उत्तम साधन है। इसकी संयोजना में नया मानव और उसके द्वारा समाज के नव निर्माण की कल्पना सन्निहित है।

–रुद्रभान

खादी ग्रामोद्योग

एकादश वार्षिकांक अक्तूबर–१९६४

प्रकाशक–खादी और ग्रामोद्योग-कमीशन,
ग्रामोदय–बम्बई ५६
वार्षिक शुल्क–२ ५०
एक प्रति–२५ पैसे
एकादश वार्षिकांक का मूल्य—२ रुपये

खादी ग्रामोद्योग खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थशास्त्र विषयक मासिक है। अंग्रेजी तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में पिछले दस वर्षों से प्रकाशित होता आ रहा है।

अर्थशास्त्र जैसे गूढ विषय पर मौलिक लेख प्राय अंग्रेजी लेखकों द्वारा प्राप्त होते हैं। अत खादी ग्रामोद्योग हिन्दी के अधिकांश लेख अंग्रेजी लेखों के अनुवाद होते हैं। यदि मौलिक लेख हिन्दी में कुछ भी प्राप्त न होते हों तो अनूदित लेखों से काम चलाना उचित है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि हिन्दी में मौलिक सामग्री प्राप्त करने का भरपूर प्रयत्न ही नहीं होता ?

इसमें कोई शक नहीं कि 'खादी ग्रामोद्योग' अपने विषय का अनूठा पत्र है जिसकी सामग्री उच्चकोटि की होती है। छपाई और सजावट का स्तर सराहनीय रहता है।

गांधी के पथ पर

गांधी-शताब्दि-समारोह-विशेषांक

प्रकाशक–उत्तर प्रदेश गांधी-स्मारक निधि, सेवापुरी

यह पत्र ग्राम सेवकों और ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं के स्तर के पाठकों के लिए उपयुक्त है। लेकिन, पत्र के टाइप और साज सज्जा में कुछ परिवर्तन अपेक्षित है।

–सिद्धनाथ

●

अनुक्रम

●

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा संघ प्रकाशन की ओर से शिव प्रेस प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

नयी तालीम

का

नये वर्ष का प्रयास

हम चाहते है कि नयी तालीम शैक्षिक पत्रिका के अगले अकों मे पूरे वर्ष भर नीचे लिखे विषय-सकेतो के अन्तर्गत अपने पाठको को उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करते रहे। उसका सामान्य प्रारूप इस प्रकार है —

- **शिक्षा आयोग:सृष्टि और दृष्टि** : लोकतात्रिक समाजवाद के सन्दर्भ मे शिक्षा-नीति और शैक्षिक सयोजन पर विभिन्न चिन्तकों के लेख।
- **शिक्षा विभिन्न देशों में** : विभिन्न प्रगतिशील देशो की शिक्षण-पद्धति तथा उनका राष्ट्र-निर्माण मे योगदान।
- **क्रान्ति और शिक्षण** : मुक्त जीवन-दर्शन के प्रखर चिन्तक श्री जे० कृष्ण-मूर्ति के शिक्षा-सम्बन्धी विचारो का क्रमबद्ध प्रकाशन।
- **शान्ति के पथ पर** : देश-विदेश के प्रमुख शान्तिवादियों और उनके आन्दोलन का परिचय।
- **शान्ति-समाचार** : देश विदेश के शान्ति-आन्दोलन से सम्बन्धित मुख्य प्रवृत्तियो और घटनाओ का विवरण।
- **अन्य स्थायी स्तम्भ** : समाचार समीक्षा, पालको मे, सम्पादक के नाम चिट्ठी, शिक्षक की लेखनी से, पुस्तक-परिचय।

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी–१

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
जनवरी, १९६५ नयी तालीम रजि० सं० एल, १७२३

कहीं इनसान भी रोता है?

महाभारत की कहानी है।

उस समय चारो ओर भयानक अकाल पडा हुआ था। अन्न का दाना-दाना मोती बन गया था। आदमी तो आदमी पशु-पक्षी भी भूख से बेहाल हो रहे थे।

एक ऋषि थे। वे जगल मे रहते थे। उनका एक लडका था। लडका छोटा था। उसे भूख बडे जोरो की लगी थी। वह जोर-जोर से चिल्ला रहा था।

लडके के रोने की आवाज सुनकर कही से एक कुत्ता आ गया। उसने लडके से पूछा—"तुम रोते क्यो हो भाई ?"

लडके ने कहा—"मुझे भूख लगी है। घर मे खाने के लिए कुछ भी नही है।"

कुत्ते ने कहा—"बस, इतनी-सी बात के लिए रोना! तुम आदमी के बेटे हो। तुम्हे रोना शोभा नही देता। भगवान ने काम करने के लिए तुम्हे दो हाथ दिये है। मेरे पास काम करनेवाले तुम्हारे-जैसे हाथ नही हैं, फिर भी मै कहाँ रोता हूँ? जिन्दगी मे कुछ न-कुछ करता रहता हूँ।"

कुत्ते की बात सुनकर लडके की आँखें खुल गयी। वह चुप हो गया और उठ खडा हुआ। उसने उसी क्षण से हाथो से काम करना शुरू कर दिया।

—विनोबा कथित

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी

सर्व-सेवा-संघ की मासिकी

प्रधान सम्पादक : धीरेन्द्र मजूमदार

आशादेवी - आर्यनायकम्

फरवरी, १९६५

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त में आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४ वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- व्यवस्था-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या का उल्लेख अनिवार्य होता है।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती हैं।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।

वार्षिक चन्दा
६.००

एक प्रति
०.६०

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज शिक्षकों के लिए

वर्ष तेरह • अंक सात

प्रतिभाशील नेता कब समझेंगे ?

इधर कुछ अरसे से एक नया प्रश्न शिक्षा जगत को आलोडित कर रहा है। वह यह कि देश के विश्वविद्यालय केन्द्रीय शासन के अधीन रहें या राज्य सरकार द्वारा संचालित हों। निचले स्तर की शिक्षा के लिए भी यह चर्चा छिड़ी हुई है कि उसे ग्राम-पंचायत, जिला-परिषद या राज्य-सरकार के नियंत्रण में रखा जाय।

नयी तालीम के जनवरी '६५ के अंक में श्री काशिनाथ त्रिवेदी तथा श्री वंशीधरजी श्रीवास्तव ने इस विषय पर अपनी अपनी दृष्टि से चर्चा की है। श्री काशिनाथजी देश के गिने चुने शिक्षाशास्त्रियों में हैं और श्री वंशीधरजी उत्तर प्रदेश की बेसिक शिक्षा के जन्म-काल से आज तक सरकार की ओर से शिक्षक प्रशिक्षण में लगे हुए हैं। दोनों ही शिक्षा-जगत के अनुभवी विचारक हैं।

एक ओर श्री काशिनाथजी कहते हैं-"यदि शिक्षा को सर्वांगीण बनाना है और सर्वव्यापी करना है तथा शिक्षितों के जीवन के लक्ष्य को नयी दिशा देनी है"" " तो आज की स्थिति में उसका एक ही समर्थ उपाय दिखता है; और यह है—शिक्षा के सारे कार्य को शासन से मुक्त करना।"

दूसरी ओर श्री वंशीधरजी शिक्षा के मूल्यांकन के सिलसिले में कहते हैं—"बेसिक शिक्षा का सबसे कमजोर पहलू उसका संगठन है, जो जिला-परिषदों के हाथ में है। वहाँ स्थिति इतनी खराब है कि अधिकांश लोगों की यह राय हो रही है कि जब तक प्रारम्भिक शिक्षा जिला-परिषदों के हाथ में रहेगी उसमें कोई सुधार नहीं होगा।"

उसी अंक में विश्वविख्यात शिक्षा विचारक श्री जे० कृष्णमूर्ति का विचार भी प्रकाशित हुआ है। वह कहते हैं—"जहाँ किसी भी किस्म का दबाव न हो वहीं सीखने का मौका होता है।" अर्थात् जहाँ शिक्षाशास्त्री और विचारक यह महसूस करते हैं कि शिक्षा सर्वथा दबाव या शासन से मुक्त हो वहाँ जन मानस इस विचार की ओर संगठित हो रहा है कि शिक्षा केन्द्रित रूप से सरकार के अधीन हो।

प्रश्न यह है कि समाज में यह उत्कट विसंगति क्यों ?

वस्तुतः शिक्षण एक ऐसी प्रवृत्ति है, जिसका लक्ष्य जीवन और मानस-निर्माण का है। स्पष्ट है, किसी भी देश के इस लक्ष्य-पूर्ति का कार्यक्रम उन्हीं के हाथ में होना चाहिए, जो देश के मुख्य प्रगतिशील मनीषी हैं।

अब देखना यह है कि आज की विशिष्ट प्रतिभा है कहाँ ?

भारत ही नहीं, सारे विश्व के शिक्षक हमेशा लोकनायक के रूप में रहते हैं। वे जनप्रस्थी या वानप्रस्थी होते थे, राजप्रस्थी कभी नहीं होते थे। वह युग राजतंत्र का था। दुनिया के लोगों ने संगठित होकर राजतंत्र समाप्त किया और लोकतंत्र की स्थापना की। स्वभावतः लोकतांत्रिक---आन्दोलन का नेतृत्व इन्हीं लोकशिक्षकों और लोकनायकों के हाथ में रहा है।

लोकतंत्र के अधिष्ठान पर सहज रूप से अपेक्षा यही रही कि प्रस्तुत लोकनायक नये समाज के संचालन की बागडोर अपने हाथ में लें। फलस्वरूप समाज के स्वाभाविक शिक्षक और नायक जनप्रस्थी न रहकर राजप्रस्थी हो गये।

स्पष्ट है कि यह सारी प्रतिभा केन्द्रीय सरकार के स्तर पर ही मौजूद है। ऐसी हालत में शिक्षा की बागडोर उन्हीं के हाथ में आनी चाहिए, यह तर्क-संगत विचार है।

लेकिन, सवाल यह है कि यह विचार चाहे जितना तर्कसंगत हो, अगर शिक्षा सरकार के नियंत्रण और संचालन में रहे, तो क्या लोकतंत्र का अधिष्ठान हो सकता है?

लोकतंत्र में लोक मुख्य तत्त्व है और तंत्र गौण। अगर शिक्षा लोकनिर्माण का माध्यम है और वह माध्यम तंत्र के नियंत्रण में है तो क्या तंत्र लोक-आधारित रहेगा या लोक ही तंत्र आधारित बन जायगा?

लोकशिक्षण जब लोकमत-निर्माण का एकमात्र उपादान है और जब वह शासन के ही हाथ में रह जायगा तब क्या लोकमत शासक-द्वारा परिकल्पित ढाँचे में ही नहीं ढलेगा? तो क्या फिर वह शासक लोक के नियंत्रण में, लोकसेवक के रूप में रहेगा, या लोक को नियंत्रित करने के लिए अधिनायक के रूप में अधिष्ठित रहेगा?

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकतन्त्र के इतिहास ने लोकनायक को शासक-पद पर अधिष्ठित कर लोकतंत्र की जड़ को ही हिला दिया है।

फलस्वरूप आज विश्व की जनता शासन-तंत्र के नीचे इस कदर जकड़ी हुई है कि वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व का अनुभव ही नहीं कर पाती। लोक-मत और लोक निर्वाचन प्रथा 'रूटीन' में बँधकर समाज-यंत्र का एक जड़ चक्र बन गयी है। अगर जनता को इस चक्र से बाहर निकालना है, जनतत्र को महज वैधानिक दायरे से निकालकर वास्तविक बनाना है और लोक को तंत्र के ऊपर आसीन करना है तो समाज के सारे प्रगतिशील विशिष्ट मनीषियों को सोचना होगा कि उनका स्थान कहाँ है? क्या वे राज्यकर्ता के रूप में शासन-दण्ड-द्वारा लोक-संचालन करते रहेंगे, या लोकनायक के रूप में लोगों के बीच बैठकर शिक्षा प्रक्रिया-द्वारा लोक निर्माण में लगेंगे?

जब तक समाज के मुख्य मनीषी इस तरह लोक प्रस्थी बनने का संकल्प नहीं करेंगे तब तक शिक्षा किसके हाथ में रहे, इस चर्चा में कोई तथ्य नहीं है। जाहिर है कि यह केन्द्रीय सरकार के ही हाथ में रहेगी। लेकिन, जब तक ऐसा रहेगा तब तक शिक्षा अधिनायक तंत्र का औजार बनेगी, लोकतंत्र का उपादान नहीं, यह स्पष्ट है।

यही कारण है कि गांधीजी ने देश के मुख्य प्रतिभाशील नेताओं को राज्य में न जाकर लोक में फैलने के लिए कहा था। क्या आज के प्रतिभाशील नेता गांधीजी की इस अत्यन्त आवश्यक सलाह को समझेंगे और उसके अनुरूप आगे बढ़ेंगे? ●

–धीरेन्द्र मजूमदार

क्रान्ति और शिक्षण–२

•

जे० कृष्णमूर्ति

माता पिता और अभिभावक यह समझने की कोशिश करें कि स्कूल किस दृष्टि से उनके बच्चों का शिक्षण कर रहा है। आम तौर पर माता पिता की दृष्टि केवल यही होती है कि उनके बच्चे सफलता और गौरव के साथ परीक्षा पास कर सकें और पदवी हासिल करें, जिससे वे सम्मान-पूर्वक जीविका उपार्जित कर सकें। इससे अधिक भी कुछ कार्य शिक्षा-द्वारा सम्पन्न होना चाहिए, इसकी फिक्र बहुत थोड़े अभिभावकों को होती है। अपने बच्चे खुश रहें और उनका जीवन लौकिक दृष्टि से सुखी और सफल हो, ऐसी उनकी कामना अवश्य रहती है लेकिन बालक के समग्र व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए, इसकी चिंता उनको नहीं होती। अक्सर उनकी यही इच्छा होती है कि बच्चे का किसी तरह 'कैरियर' बने। इसलिए वे बालकों को दुलार से दबाकर या धौंस धमकी देकर पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाध्य करते हैं। किताबों के अध्ययन पर इस तरह जोर देने से शब्द ज्ञान की अवास्तविक महिमा बढ़ती है। इसके फलस्वरूप स्मृति-संचित ज्ञान का प्रभाव हमारी विद्वत्ता का स्थायी भाव बन जाता है, जिसमें स्वतंत्र विचार-विमर्श का पूर्णत: अभाव रहता है।

अध्यापकों की यह दिक्कत है कि सामान्यत: माता पिता या अभिभावक व्यापक और सूक्ष्म विद्या तथा समीचीन शिक्षण के प्रति बड़े उदासीन रहते हैं। और, वर्तमान भ्रष्ट समाज व्यवहार में जिस विद्या के जरिये प्रतिष्ठा और रोजगार मिल जाय, ऐसा छिछला ज्ञान उनकी निगाहों में बड़ी अहमियत रखता है।

समग्र विकास के लिए उत्तरदायी कौन ?

अध्यापक को, न सिर्फ छात्रों को अच्छा शिक्षण देना है, वरन् जो कार्य विद्यालयों में हो रहा है उसको माता पिता बेकार न बनायें, इसकी दक्षता भी रखनी चाहिए। चाहिए तो यह कि विद्यालय और घर दोनों शिक्षा के परस्पर पूरक बनें। अध्यापक एक चीज चाहे और माता पिता कुछ और ही चाहें, उनमें ऐसा आपसी विरोध न रहे। माता पिता अध्यापक की दृष्टि से अच्छी तरह परिचित रहें, और अपने बच्चों की समग्र प्रगति में हार्दिक आस्था रखें, इसका बड़ा महत्व है।

समुचित शिक्षा द्वारा बच्चे का समग्र विकास किस तरह सम्पन्न हो सकता है, इसका उत्तरदायित्व प्रधानत: माता पिताओं का है। इसलिए यह जिम्मेदारी अकेले अध्यापक के कंधों पर सौंपकर उन्हें निश्चिन्त नहीं रहना चाहिए, क्योंकि अध्यापक को अन्य परेशानियाँ भी रहती हैं। अध्यापक, छात्र और माता पिता के बीच सौहार्द और सामंजस्य की दृढ़ भावना हो तो यह समग्र विकास की दृष्टि कार्यान्वित हो सकेगी। अभिभावक के

संकीर्ण सुझाव व दुराग्रह, जिससे छात्र के हित की हानि होती हो, अध्यापक किसी भी परिस्थिति में नहीं मान सकता। अत उनके बच्चे की शिक्षा का जो कुछ प्रबन्ध अध्यापक कर रहा हो, माँ-बाप उसका समझदारी से सार ग्रहण करें, ताकि बच्चे के जीवन में नाहक दुविधा और उलझन न पैदा हो जाय।

बाल जिज्ञासा और प्रोत्साहन

सहज जिज्ञासा और खोजने-जानने की उत्सुकता बालको की अभिजात वृत्ति है। उसको बुद्धि पूर्वक प्रोत्साहन देते रहना चाहिए, ताकि शैशव, कुमार और युवा इन तीनों अवस्थाओं में वह पुष्ट हो सके। जीवन के विशाल और विविध पहलुओ का आकलन करने की सहज प्रेरणा का विवेक से सवर्धन करना आवश्यक है, ताकि इस कुतूहलपूर्ण उत्सुकता के फलस्वरूप अविकृत विकास से अनेकानेक विषयो का मनोयोग-पूर्वक अध्ययन बढ़ जाय। अगर यह अभिजात जिज्ञासा-वृत्ति हर सम्भव रीति से उन्नत होती रही तो गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान तथा प्राणिशास्त्र का अध्ययन छात्र के लिए या अध्यापक के लिए एक समस्या नहीं बनेगी। विवेकपूर्ण स्नेह, सौहार्द, आस्था और प्रसन्नता के वातावरण में ज्ञानोपार्जन की साधना सुगम हो जाती है।

भय और परावलम्बन

अध्यापक और शिष्य के बीच जब घनिष्ठ आत्मीयता की प्रतीति होगी तब छात्र के भाव-जीवन के तरल सवेगो का यथोचित पोषण हो सकेगा। अन्तेवासी (गुरु के पास रहनेवाला शिष्य) को प्रश्रय का आश्वासन प्राप्त होना नितान्त आवश्यक है। लेकिन, इस निरापद (सुरक्षित) प्रश्रय में और निस्सहाय पराधीनता में जमीन आसमान का अन्तर है। अधिकतर अध्यापक जाने-अनजाने शिष्य में अवलम्बन की वृत्ति बढाते हैं। इससे उनके चित्त में भय की सूक्ष्म भावना दृढ़मूल हो जाती है। अपने प्यार-दुलार के नाम पर और बुजुर्गी के प्रभाव से माता पिता भी यही करते रहते हैं। बच्चों को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, वे क्या बनें और क्या न बनें, इस विषय में बार बार उन्हें आदेश व चेतावनियाँ दी जाती हैं और इस प्रकार उनपर पराधीनता के संस्कार डाले जाते हैं। भय परावलम्बन का प्रतिबिम्ब है।

अपने बारे में अविश्वास तथा आशका बच्चो में अन्धानुकरण की वृत्ति बढाती है। इस पराधीनता के वातावरण में भावना के तरल सवेग कुन्द और भोंडे हो जाते हैं। ऐसी हालत में उनका पनपना और खिलना नामुमकिन हो जाता है। लेकिन, जब बच्चो को प्रश्रय के आश्वासन की प्रतीति हो तब उनकी भावनाएँ सहजता से खिलने और पनपने लगती हैं, उनके मन में कोई डर या खटका रहता ही नहीं है। यह आत्म निर्भर आश्वासन की भावना केवल अनिश्चितता का अभाव-मात्र नहीं है—आन्तरिक प्रश्रय की यह भावना उसी प्रकार की है, जिसका बोध 'नैहर' शब्द से होता है। यहाँ उस घर से मतलब नही है, जिसमें बालक ने जन्म लिया हो। नैहर से मतलब उस सहारे से है, उस आश्रय-स्थान से है, जहाँ वह अपने आप रह सके, जहाँ उसे यह बनने के लिए या वह न बनने के लिए मजबूर न होना पडे, जहाँ बच्चा निस्सकोच रीति से, अपने असली रूप में रह सके, जहाँ वह आजादी के साथ पेड पर चढ सके और कभी गिर भी जाय तो उसे कच्ची-पक्की बातें नहीं सुननी पड़ें, या छात्रावास के गृह-पिता या गृह-माता उसके कल्याण की निरन्तर चिन्ता रखे और जिसका नि शब्द प्रत्यय (विश्वास) बच्चे को मिलता रहे।

अभय भावना और श्रद्धा

सबसे अधिक महत्व इस बात का है कि पहले ही सम्पर्क में बच्चे को यह प्रतीति हो जाय कि मैं अपने घर में हूँ, बिलकुल सुरक्षित हूँ। यह प्रतीति उसे कुछ हफ्तो या महीनो बाद हो, तो काम नहीं चलेगा। प्रथम सस्कार की अनन्य असाधारण महिमा है। लेकिन, अनेक-विध उपायों से बच्चे का विश्वास प्राप्त करने की कोशिश अध्यापक करते रहें, और साथ साथ बच्चे को अपने मन से चलते रहने दें, तो फिर बच्चे में अध्यापक के प्रति आलम्बन की भावना जरूर पैदा हो जायगी। इस तरह बच्चे को यह सस्कार नहीं मिलेगा कि मैं

अपने घर में हूँ, जहाँ समीपस्थ गुरुजन मेरे समग्र कल्याण की उत्कट चिंता रखते हैं। इस अननुभूत सत्कार का प्रथम प्रत्यय होने से बच्चे और अध्यापक के बीच परस्पर एक अकृत्रिम सौहार्द कायम होगा, जहाँ गुरुजनों के बारे में बच्चा यह नहीं समझता कि उनसे हमेशा कुछ बचकर ही रहना चाहिए। यह प्रवृत्ति अमूमन आदर-भाव के रूप में प्रकट होती है।

ज्ञानोपार्जन में जिस श्रद्धा और आदर की आवश्यकता होती है, उसकी अभिव्यक्ति बालक अपने ढंग से करता ही रहेगा, जब उसके मन में अध्यापक के प्रति अभय-भावना स्थिर हो जायेगी। इस इतमीनान की आबोहवा में छात्र की दिनचर्या और चाल चलन गुरुजनों की धाक से नहीं बनेगी, बल्कि वह उसके सहज शिक्षण का एक अंग बन जायेगी। गुरुजनों के साथ सम्पर्क में सम्पूर्ण आश्वासन का अनुभव होने से छात्र उनका हमेशा लिहाज रखेंगे, उनका आदर करेंगे। इसी सामंजस्य के वातावरण में छात्रों के भाव जीवन का समुचित विकास हो सकेगा। इस भावना के प्रश्रय में क्रियाशीलता का अप्रतिहत उन्मेष हो सकता है, और उचित तथा अनुचित के असमंजस से बालक बच सकता है—एक तरफ बलवान प्रेरणाओं के वेगवान प्रवाह में बहने से और दूसरी तरफ अविवेक-पूर्ण दमन, दुराग्रह तथा हठधर्मी से।

संवेगशील भावनाएँ और बाल विकास

संवेगशील भावनाओं का उद्रेक सर्वस्पर्शी होता है। वृक्ष-वल्लरी, जीव जन्तु, आकाश, जलाशय, उड़ती चिड़ियाँ इन सबके साथ सहजता से बुद्धि सम्पर्क स्थापित हो जाता है। समीपवर्ती गुरुजन परिजनों की अव्यक्त भाव-तरंगों, तथा निकट मार्ग से गुजरनेवाले यात्री और पथिकों का भी ख्याल रहता है।

इस शीघ्र प्रवाही भावावेग से सबके साथ अकृत्रिम सम्पर्क रखने की स्वार्थ रहित प्रवृत्ति बनती है, जो नकी और शील का द्योतक है। ऐसा बालक उदार चरित होगा, क्षुद्र नहीं। इसलिए अध्यापक के इशारे तक से अपने रुख को सुधारेगा, सँभालेगा, नाहक जिद या बहस में नहीं फँसेगा।

हमारा लक्ष्य मानव का सर्वांगीण विकास है। मानव की भावनाएँ और उमंगें उसकी तर्कशक्ति से कहीं अधिक प्रबल हैं। इन मनोभावों और प्रवृत्तियों का समुचित संवर्धन करना जरूरी है। वासनाओं की गुत्थियों का समझदारी से मुकाबला करने की कूवत हो तो फिर उनमें दहशत-सी नहीं रहती।

कोरा शब्द ज्ञान बेकार

मानव के समग्र विकास की दृष्टि से उसके मनोवेग की तरल गतिशीलता का पोषण करने का महान साधन एकान्तवास है। गणित का ज्ञान, जितना आवश्यक है उतना ही तनहाई का अन्वय-सन्दर्भ जानना (कार्य कारण का सम्बन्ध) और ध्यान का मर्म तथा मृत्यु का रहस्य। इन चीजों का कोरा शब्दज्ञान बेकार और नाकाफी है। यह आत्म प्रत्यय (आत्मविश्वास) का विषय है, न केवल प्रश्नोत्तर का। यह अनुभूति स्वतः खोजने से ही प्राप्त हो सकती है, न केवल उपदेश से। इस दृष्टि से ध्यान का रहस्य एकान्त का मथितार्थ और मृत्यु का सारगर्भ ढूँढने की तीव्र आंतरिक उत्सुकता और जिज्ञासा बढनी चाहिए। इन बातों की कोई सबक (सबक) नहीं दी जा सकती। यह स्वयं प्रतीति का क्षेत्र है। संकेत-द्वारा इसका कुछ दिग्दर्शन किया जा सकता है।

तीव्र जिज्ञासा ही अपरोक्ष ज्ञान की साधना है। जिस चित्त में अहेतु जिज्ञासा का उद्रेक हो उसको वह ज्ञान सुगम है। लेकिन, जहाँ यह जिज्ञासा बुद्धि विशेषज्ञता के प्रभाव से अभिभूत हो जाती है, अथवा गुरुतर अनुभव के या प्रामाण्य के सामने झुक जाती है वहाँ सीखना मात्र-अनुकरण का एक प्रयास बनता है। इस अनुकरण का फलित आत्मानुभव विहीन शब्द-पाण्डित्य है, न कि अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि। (अपूर्ण)

हमारी शिक्षा-पद्धति और प्राइमरी पाठशालाएँ

-डा० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

राष्ट्रपिता गांधी ने अपनी दूर दृष्टि से देश की विषम परिस्थिति का सहज ही अनुमान कर लिया था। उनका विचार था कि भारत-जैसे विशाल राष्ट्र में कोई भी सरकार अनिवार्य शिक्षा के लिए अपार धन-राशि की व्यवस्था सरलता-पूर्वक नहीं कर सकती। इसी कारण उन्होंने देश के शिक्षा-शास्त्रियों के सामने बुनियादी-तालीम का प्रस्ताव रखा, जिससे स्वावलम्बन के आधार पर सारे देश में शिक्षा का प्रसार किया जा सके। गांधी का वह स्वप्न पूरा नहीं हो सका। बुनियादी शिक्षा के पुरोहितों ने भी उसकी असफलता की घोषणा कर दी। उसका उद्देश्य बड़ा क्रान्तिकारी है, किन्तु उसका पालन नहीं किया जा सका। अब बुनियादी शिक्षा एक पद्धति-मात्र रह गयी, जो अपनी स्वाभाविक गति से मृत्यु की ओर जा रही है।

आरम्भ में सरकार ने अत्यधिक उत्साह से बुनियादी-शिक्षा-पद्धति का भरण पोषण किया, किन्तु उसे शिक्षा की सामान्य पद्धति से अलग ही रखा। परिणाम यह हुआ कि स्वावलम्बन के नाम पर चलनेवाली यह शिक्षा-पद्धति अपनी गलती के कारण इतनी परावलम्बी साबित हुई कि सरकार इस भार को ढोने में असमर्थ रही और असफल हुई। बुनियादी शिक्षा में प्रशिक्षित विद्यार्थियों के लिए प्रशासन में कोई समुचित व्यवस्था नहीं की गयी। वे निराश्रित हो गये। परम्परागत शिक्षा के साथ बुनियादी शिक्षा के समन्वय का भी प्रयत्न किया गया, किन्तु सारा प्रयत्न विफल ही हुआ।

आज स्थिति यह है कि न विद्यार्थी और न उनके अभिभावक ही बुनियादी शिक्षा की ओर जाने के लिए तैयार हैं। जिस शिक्षा-पद्धति को हम अपने राष्ट्रीय जीवन का दर्शन बनाने की कल्पना कर रहे थे वह जीवन-दर्शन तो क्या, जीवन-पद्धति भी नहीं बन सकी।

शिक्षा-पद्धति का स्वरूप क्या हो ?

हमारी शिक्षा-पद्धति हो कैसी, यह प्रश्न जितना महत्वपूर्ण है उतना ही जटिल भी। कोई भी शिक्षा-पद्धति सदैव के लिए एक-जैसी नहीं बनायी जा सकती। वस्तुतः शिक्षा-पद्धति किसी युग के अनुरूप ही बनायी जाती है, अनन्त काल के लिए नहीं। मनुष्य की प्रकृति को प्रशिक्षित करने के लिए किसी अपरिवर्तनशील पद्धति से काम नहीं चल सकता। परिवर्तन मनुष्य की प्रकृति है, और प्रकृति के नियम में परिवर्तन असम्भव है। मूल प्रकृति को संस्कृत करना शिक्षा का एक उद्देश्य है। अत मनुष्य की प्रकृति को संस्कृत करने के लिए, जो शिक्षा दी जाती है और उससे मनुष्य की प्रकृति में, जो परिवर्तन होता है, वह भी प्रकृति का एक नियम है, दूसरा कुछ नहीं।

लोकतन्त्र लोक-जीवन की एक पद्धति है, केवल एक राजनीतिक व्यवस्था नहीं। यदि शिक्षा के माध्यम से हम एक दूसरे पर विश्वास करने की सामाजिक भावना को जगा सकें, यदि हम अपने विचार के अनुसार स्वतन्त्रता-पूर्वक काम कर सकें तो लोकतन्त्र की नींवें पक्की की जा

सकती है। आज लोक-जीवन या प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। शायद जितना है नहीं उतना बताया जाता है। फिर भी इतना निस्सकोच स्वीकार करना चाहिए कि समाज और शासन में भ्रष्टाचारियो की सख्या अगणित है। ये भ्रष्टाचारी आये कहाँ से? स्कूल-कालेजो में, जो असह्य अनुशासनहीनता देखी जाती है, वह पैदा कहाँ से होती है, और कैसे होती है, यह प्रश्न हमारे लिए बहुविध विचारणीय है, चिन्तनीय है।

दण्ड विधान की एक सीमा है। दण्ड के भय से कुप्रवृत्तियाँ कुछ देर के लिए दब भले ही सकती है, किन्तु दण्ड का भय सद्प्रवृत्तियों को जगा नही सकता। उन्हें जगाने के लिए नैतिक शिक्षा की बडी आवश्यकता है। अब तक हमने अपने राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण नही किया है। बिना टिकट रेल में सफर करनेवाले विद्यार्थी को हम बदमाश या चोर नहीं कहते, हम उसे बुद्धिमान या चतुर कहते हैं। इसीलिए लोक जीवन में भी बडे परिष्कार की जरूरत है। राष्ट्रीय चरित्र के बिना हमारा राष्ट्र न आगे बढ़ सकेगा और न ऊँचा ही उठ सकेगा। प्राथमिक पाठशालाओ के बालको को केवल अबोध बच्चा कहकर छोड देना, मनोवैज्ञानिक भूल है। यदि हम प्राथमिक स्तर पर ही राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण की व्यवस्था करें तो हमें पश्चाताप करने का कोई सबल कारण नहीं रहगा।

नैतिक शिक्षा अनिवार्य की जाय

छोटे बच्चो में नयी बातो को ग्रहण करने की बडी तीव्र शक्ति रहती है। इसी अवस्था में उनपर नैतिक शिक्षा का, जो प्रभाव पडेगा वह जीवन व्यापी होगा। बालकों में अवस्था के क्रम से जब आलोचनात्मक बुद्धि विकसित हो जाती है तब वे अपनी रुचि या सस्कार से अच्छी-बुरी बातों को ग्रहण करते हैं। वे जो कुछ ग्रहण करते हैं, चुनकर ग्रहण करते हैं। अत नैतिक शिक्षा के आधार पर राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण का दायित्व मुख्यत प्राथमिक पाठशालाओ पर ही है। शायद इसीलिए प्राथमिक पाठशालाओ के शिक्षक राष्ट्र निर्माता कहे जाते हैं।

धर्म निरपेक्ष राष्ट्र का यह मतलब कभी नहीं हो सकता कि वह मनुष्य में धार्मिक प्रवृत्तियों को उत्पन्न करने में सहायक न हो। हम प्रतिदिन सरकारी आकाशवाणी से कुँवर-कन्हैया तथा राम के भक्ति-संगीत सुनते हैं। हमने देखा है कि अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर सरकार ने लाखो लाख खर्च कर भारत के बौद्ध-तीर्थों का जीर्णोद्धार किया है उनका विकास किया है। हम इसका विरोध नहीं करते। हम इतना ही चाहते हैं कि सरकार सविधान की ओट में अपने को छिपाये नहीं। उसे खुलकर प्राथमिक तथा माध्यमिक कक्षाओं में नैतिक शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। धर्म की बात मैं नहीं कहता। नैतिक जीवन ही आध्यात्मिक जीवन की भूमिका है। आध्यात्मिकता ही हमारी सस्कृति का मूल है। यदि हम मूल को छोडकर भटकेंगे तो नष्ट हो जायेंगे, प्रकृति का यह नियम अखण्ड है। हिन्दू तथा मुसलिम राजत्व-काल में शिक्षा-पद्धति में धर्म को शिक्षा एक आवश्यक अग थी। धार्मिक शिक्षा को हम नैतिक शिक्षा के रूप में ही ग्रहण करते हैं।

शिक्षा की कसौटी

बालको के बौद्धिक विकास को शिक्षा का परम लक्ष्य नहीं समझना चाहिए। उन्हें इस योग्य बनाने की चेष्टा करनी चाहिए कि वे कर्तव्य या अकर्तव्य के भेद को समझकर वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में पवित्रता तथा विनयशीलता को विकसित कर सकें। जहाँ जीवन का मूल उद्देश्य ही लुप्त हो जाता है वहाँ व्यक्तिगत चरित्र की पवित्रता तथा स्थिरता सम्भव ही नहीं है। जीवन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थी केवल बौद्धिक रूप से ही सतर्क न रहें उन्हें मानसिक रूप से भी सन्तुलित रहना है जिससे वे जीवन के अनिवार्य सघर्षों का भी सामना कर सकें। बालक को बालक समझकर ही छोडना ठीक नहीं है, उसे पूरा मनुष्य बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

शुद्ध धर्म निरपेक्ष शिक्षा अधूरी शिक्षा है या यों कहें कि शुद्ध धर्म निरपेक्ष शिक्षा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते है कि बालकों को आज, जो शिक्षा दी जा रही है वह शिक्षा नहीं है।

तब वह क्या है ? इसका उत्तर स्कूल-कालेजों में फैली अनुशासनहीनता ही दे सकती है। जिस शिक्षा से विद्यार्थी का विवेक नहीं जगे और विवेक जगने पर उसके अनुसार अपना चरित्र नहीं बना सके उसको शिक्षा की संज्ञा देना व्यर्थ है। सच्ची शिक्षा के माध्यम से जब बालकों में धीरे-धीरे मनुष्यता का विकास हो जायगा तब वह स्वाधीन राष्ट्र के योग्य नागरिक बन सकते हैं। इसके बाद ही वह इंजीनियर बनें या डाक्टर। मनुष्य बनाना शिक्षा की सच्ची कसौटी है।

शिक्षक ध्यान दें

प्राथमिक शिक्षा में आज जो ह्रास दिखाई पडता है, उसका एक प्रधान कारण यह है कि स्कूलों में विद्यार्थियों के लिखित कामों की जाँच नहीं होती। इस कारण विद्यार्थियों-द्वारा लिखे अक्षरों और शब्दों के रूप गलत रह जाते हैं। वाक्य-रचना भी ठीक नहीं बन पाती। इसका प्रभाव बालकों के चिन्तन पर भी पडता है। वस्तुतः लिखने और सोचने का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अधिकांशतः अस्पष्ट लेख अस्पष्ट विचारों का द्योतक होता है और ऐसे ही विचारों को बढ़ाता है, जिसे हम आज के विद्यार्थियों में प्रत्यक्ष देख रहे हैं। यदि प्रारम्भिक शिक्षा के समय ही बालकों की इन कमजोरियों को सुधार दिया जाय, तो वे आगे चलकर बहुत अच्छे चिन्तनशील व्यक्ति बन सकते हैं। ●

काँटों की झाड़ी

●

महाकवि जलालुद्दीन रूमी

एक मुँह के मीठे, लेकिन दिल के खोटे आदमी ने रास्ते के बीच काँटों की झाड़ी उगा दी। आने-जानेवाले उसे धिक्कारते और उखाड़ने को कहते; लेकिन वह बात नहीं मानता। उसे उखाड़ना नहीं था, उसने उसे उखाड़ा नहीं।

उस झाड़ी की यह दशा थी कि प्रति पल बढ़ती थी। उसके काँटे पथिकों के पैर में चुभ जाते और उनके पैर लहू-लुहान हो जाते। उस आदमी की शिकायत हाकिम तक पहुँची। उसने उस आदमी का पता लगाया और झाड़ी को उखाड़ फेंकने का हुक्म दे दिया।

हाकिम के हुक्म पर भी वह आदमी नहीं माना। उसने जवाब दिया–"किसी फुरसत के दिन उखाड़ डालूँगा।" इस तरह वह बराबर टाल-मटोल करता रहा। यहाँ तक कि झाड़ी ने अपनी जड़ें धरती में खूब गहरी जमा लीं।

एक दिन हाकिम ने कहा–"ऐ वादा तोड़नेवाले! बहुत दिनों से तू आज-कल करता आ रहा है। अब तुम्हारी एक न चलेगी। यह समझ लो कि जितना ज्यादा वक्त गुजरता जायगा उतना ही ज्यादा बुराई का पेड़ पनपता जायगा। और, उखाड़नेवाला बूढ़ा और कमजोर होता जायगा। धीरे-धीरे पेड़ बड़ा और मजबूत होता जा रहा है। जहाँ तक हो सके, जल्दी कर। देख, मौका कहीं हाथ से जाने न पाये।" ●

मनुष्य की हर बुरी आदत काँटों की झाड़ी है। अनेक बार वह अपने आचरण पर लज्जित होता है; फिर भी उसकी आँखें नहीं खुलतीं। दूसरों के कष्ट का वह प्रायः अनुभव नहीं करता; लेकिन अपने घाव का अनुभव तो उसे होना ही चाहिए।

इनकी यह २६ जनवरी !!

•

रामभूर्ति

"बाबू हम लोगों को भी कुछ परती जमीन मिल जाती तो ."

"क्यों, परती जमीन किसलिए ?"

"अपना गाँव छोड़कर वहाँ बस जाते।"

"क्या, गाँव छोड़ने की क्या बात है ?"

"क्या करें, मालिक लोग धमकाते हैं, बेगार लेते हैं, तेली से मुफ्त तेल और कुम्हार से मुफ्त बरतन माँगते हैं। बटाई की खेती में थोड़ा-सा धान देकर बाकी सब ले लेते हैं।"

"अब भी बेगार लेते हैं ?"

"हाँ सरकार, मौसम में पहले मालिक का खेत जोतकर ही अपना खेत जोत सकते हैं।"

"कितने दिनो से आप लोग गाँव में बसे हुए हैं ?"

"बाप दादों के समय से।"

'आप लोगो के पास अपनी जमीन है ?"

"नहीं, हमारा घर भी मालिक की जमीन में है, और गाँव के चारों ओर जो जमीन हमलोग अधिया-बटाई पर जोतते हैं सब मालिकों की ही है।"

"भले ही जमीन अपनी न हो, लेकिन गाँव क्यो छोड़िएगा ?"

"उपाय क्या है ? मालिक लोग गाँव से निकालने पर उतारू हैं। एक दिन मटरू पीटा भी जा चुका है। हममें से कई के घर की खपड़ैल चूर कर दी गयी है। अब जान बचाने के लिए भागना आखिरी उपाय है।"

"नहीं, इस तरह डरकर भागना ठीक नहीं है।"

"बाबू किसकी शरण में जायँ ? कर्मचारी मालिक से मिला हुआ है, पुलिस सुनती नहीं है, मुखिया में कुछ कहने की हिम्मत नही है। अब अन्तिम भरोसा आपका है कि भूदान में मिली थोड़ी परती जमीन दे दीजिए, नहीं तो बाल-बच्चे सब अनाथ हो जायँगे।"

सुबह आठ बजे कच्ची सड़क पर खड़े-खड़े बिरना गाँव के आठ दस लोग हमें अपनी यह कहानी सुना रहे थे। उनमें बूढ़े, जवान सब थे। वह साठ साल का बूढ़ा उसी गाँव म पैदा हुआ था और उसका बाप भी।

ठीक उसी समय मैं देख रहा था सामने के बेसिक स्कूल में बच्चे इकट्ठा हो रहे हैं। समय हो रहा है। मुझे ही झण्डा फहराना है। २६ जनवरी है—गणतंत्र दिवस।

बाद को मैंने सुना कि पहाड़ के किनारे के दस-बारह गाँवों में यही स्थिति है। इन गाँवो में आदिवासी भूमिहीन मजदूर और बटाईदार रहते हैं। स्वतन्त्रता के अट्ठारह वर्ष बाद वे अपने बाप-दादों की जमीन से

निकाले जा रहे हैं। पुरानी जमींदारी खत्म हो गयी, लेकिन मालिकी तो बनी ही हुई है। किसान नये कर्मचारी के साथ मिलकर शायद पुराने जमींदार से भी अधिक भयंकर हो गया है। महँगी ने जमीन के लिए लालच बेहद बढ़ा दी है। और, सरकार के रोज बदलते हुए कानूनों के कारण यह भरोसा नहीं रह गया है कि कल क्या होगा। इसलिए किसान अपने लिए रास्ता ज्यादा-से-ज्यादा साफ कर लेना चाहता है। मोह और भय के कारण अब वह मामूली मनुष्यता भी भूल गया है। और, यह हालत एक जगह नहीं है, देश में करोड़ों भूमिहीनों का यही हाल हो रहा है।

इन अभागों को कैसे समझाया जाय कि आज स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व की घोषणा करनेवाला गणतंत्र दिवस है, कैसे समझाया जाय कि वे स्वतंत्र देश के समान अधिकारी रखनेवाले नागरिक हैं, और एक सुसंगठित सरकार-द्वारा सुरक्षित हैं। वे कैसे मानेंगे कि देश में सबके विकास के लिए दो पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी हो चुकी हैं और तीसरी पूरी होने जा रही है? वे कैसे समझेंगे कि चीन ने लद्दाख की हजारों मील जमीन को जबरदस्ती ले लिया है? जब वे अपने ही गाँव में लद्दाख से हजारों मील दूर उसी जबरदस्ती के साथ बेदखल हो रहे हैं, और किसी को उनकी फरियाद सुनने की फुरसत तक नहीं है। उनके लिए कानून का दरवाजा पैसे ने बन्द कर रखा है। डण्डे की लड़ाई में उनकी हार निश्चित है। पेट हड़ताल करने नहीं देगा। तो रास्ता क्या है? देश में नेता बहुत हैं, अफसर और अधिकारी, सेवक और सुधारक बहुत हैं, लेकिन ये वोट और टैक्स देनेवाले नागरिक आज भी अनाथ हैं। लेकिन, एक बात है। जब धरती पर कोई अपना नहीं, और आसमान में भगवान भी अपना नहीं, तो इन्हें भूमिवाले बाबा विनोबा की याद आती है। क्या अब वही इनका अन्तिम सहारा रह गया है?

इन्हें कैसे मालूम होगा कि २६ जनवरी क्या है! २६ जनवरी तो उस दिन होगी जब ये मालिकी से मुक्त होंगे। मालिकी और अफसरी का तंत्र जब तक रहेगा तब तक ये गण स्वतंत्र नहीं होंगे।

●

बुनियादी शिक्षा-गोष्ठी के निष्कर्ष

- प्रदेश में इस समय चार हजार सीनियर बेसिक स्कूल चल रहे हैं। इनके साथ आस-पास के जूनियर बेसिक स्कूलों को संयुक्त कर दिया जाय और इन पाठशालाओं में संयुक्त पाठ्यक्रम चलाया जाय। इस तरह प्रदेश में कम-से-कम चार हजार स्कूलों को अच्छे बेसिक स्कूल के रूप में प्रारम्भ किया जाना चाहिए।
- प्रदेश के बेसिक स्कूलों के लिए वर्ग १ से ८ तक का संयुक्त पाठ्यक्रम बनाया जाय। पाठ्यक्रम में उद्योगों के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित होना चाहिए; और इनका पूरा करना आवश्यक होना चाहिए। प्रत्येक कक्षा में दो उद्योगों—एक मुख्य और दूसरा सहायक का पाठ्यक्रम होना चाहिए।
- बुनियादी शिक्षा का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से है। अस्तु पाठ्यक्रम में सामाजिक विषय की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इसके अभाव में बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।
- प्रदेश में रचनात्मक संस्थाओं ने भी बेसिक शिक्षा के प्रयोग किये हैं। इनका सरकारी बेसिक स्कूलों से समन्वय होने से शिक्षा के गुणात्मक विकास में सहायता मिलेगी। ऐसी गैर सरकारी पाठशालाओं से सम्बन्ध खण्ड-स्तर पर शिक्षा के सघन क्षेत्र चलाये जायँ। 'शिक्षा के सघन क्षेत्र' की योजना १९६२ में सेवापुरी-बुनियादी-शिक्षा-गोष्ठी में प्रस्तुत की जा चुकी है।

●

सीखने के सिद्धान्त और अध्यापन-कार्य

•

रामनयन सिंह

सीखने के विभिन्न सिद्धान्तों की उपयोगिता और प्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद बड़ा है, फिर भी कुछ ऐसे विश्वसनीय तथ्य हैं, जिनकी चर्चा निश्चयात्मक ढंग से की जा सकती है और जिनके व्यावहारिक उपयोग भी हैं। इनमें से कई तो पहले से ही व्यवहार में प्रचलित हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से भी उनकी पुष्टि हुई है। फिर भी सीखने की क्रिया के बारे में हमलोग जिन बातों को जानते हैं उनमें से सभी का समावेश सीखने-सिखाने के अभ्यास में नहीं हो पाया है। सीखने सिखलाने की क्रिया को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक, माता-पिता और अभिभावक इन तथ्यों से परिचित हों और अपनी कार्य-पद्धति का आधार इन तथ्यों को बनायें।

सीखना-सम्बन्धी आधारभूत तथ्य

१ सीखने की क्रिया में सीखनेवाले को निष्क्रिय दर्शक या श्रोता के रूप में ही न रहकर क्रियाशील रहना चाहिए। यह तथ्य कोई नया नहीं है, 'करके सीखने' के पुराने नारे का समर्थन मात्र है। लेकिन, इसका पर्याप्त समावेश अध्यापन कार्य में नहीं हो पाया है। चाहे छोटी कक्षा हो या बड़ी, सब कुछ बता देने के लोभ का संवरण अध्यापक नहीं कर पाता, जिससे विद्यार्थी पराश्रयी बन जाते हैं। शिक्षा के हर स्तर पर अध्यापक को यह सोचने की आवश्यकता है कि विद्यार्थी को स्वयं अधिक-से अधिक सोचने, काम करने, तथ्य इकट्ठा करने और सीखने का अवसर मिले।

२ सीखने की क्रिया में आवृत्ति का अब भी महत्व है। सीख के स्थायित्व के लिए सीखने के बाद भी पर्याप्त आवृत्ति होनी चाहिए। यद्यपि इस सिद्धान्त का उपयोग लड़के को स्वयं करना है, फिर भी गृहकार्य, मासिक जाँच करके तथा नया ज्ञान देते समय पूर्वज्ञान का सहायता से अध्यापन प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

३ सीखने की क्रिया में पोषक तत्त्वों(री इनफोर्समेंट) का बहुत ही महत्व है। पुनरावृत्ति ऐसी व्यवस्था के अन्दर होनी चाहिए, जिसमें सही क्रियाएँ पुरस्कृत हों। जिन क्रियाओं से व्यक्ति को संतोष, सफलता, पुरस्कार, सराहना प्राप्त होती है वे उसके व्यवहार का अंग बन जाती हैं। पोषक तत्व 'सकारी' पुरस्कार और सफलता के रूप में अथवा 'नकारी' दण्ड के रूप में होते हैं। सामान्यतया यह पाया गया है कि 'सकारी' तत्व 'नकारी' की अपेक्षा अपनाने योग्य है।

अध्यापक को सीखने की परिस्थिति की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि हर विद्यार्थी उचित अंश में सफलता का अनुभव कर सके। विद्यार्थी अध्यापक-द्वारा

प्रशंसा, अनुमोदन और मान्यता पाने के लिए लालायित रहता है। इनका प्रयोग अध्यापक को पोषक तत्त्व के रूप में करना चाहिए। नकारी पोषक तत्त्व—जैसे दण्ड, फटकार, व्यंग्य कभी-कभी अधिक प्रभावशाली होते हैं; लेकिन इनके प्रयोग से और दूसरी उलझनें पैदा हो जाती हैं। अतः इनका प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए।

४. सामान्यीकरण और विभेदीकरण-सम्बन्धी अध्ययन से यह निर्देश मिलता है कि पुनरावृत्ति विभिन्न परिस्थितियों में होनी चाहिए, ताकि विद्यार्थी को यह ज्ञान हो जाय कि उस सीख का प्रयोग किन परिस्थितियों में करना चाहिए और किन में नहीं। कोई जानकारी या ज्ञान देना ही पर्याप्त नहीं है, उसका प्रयोग कहाँ और कैसे होना चाहिए, यह अभ्यास कराने की भी आवश्यकता है। ऐसा अभ्यास देने पर ही विद्यार्थी ज्ञान का प्रयोग कर सकता है, अन्यथा विभिन्न सीखों का वह संग्रहालय-मात्र रह जायगा।

५ समस्याओं का हल सिखाते समय उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए कि सीखनेवाला सम्पूर्ण समस्यात्मक परिस्थिति के तत्त्वों के आपसी सम्बन्धों का निरीक्षण कर सके। अध्यापक-द्वारा समस्या हल कर देने के बजाय उसे ऐसा अभ्यास देने की आवश्यकता है कि विद्यार्थी पहले हर सम्पूर्ण समस्या के प्रत्यक्षात्मक पहलू पर ध्यान दे और उसके विभिन्न अंगों के सम्बन्धों का निरीक्षण करने की आदत बनाये। समस्याओं का हल निकालने के लिए उसके विभिन्न अंगों के सम्बन्धों का पता लगाना आवश्यक है।

मुख्य रूप से देखा जाता है कि अध्यापक समस्या का हल श्यामपट्ट पर लिख देना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। इससे विद्यार्थी कुछ समस्याओं का हल भले ही जान जाय, लेकिन उनको हल करने की योग्यता उसके अन्दर नहीं उत्पन्न हो पाती।

६. समझ-द्वारा सीखी गयी बात रटन्त सीख या सूत्रों-द्वारा दी गयी सीख की अपेक्षा अधिक स्थायी होती है और उसका प्रयोग विभिन्न परिस्थितियों में किया जा सकता है।

आज की शिक्षा-प्रणाली पर परीक्षा का भूत इस प्रकार सवार है कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति में रटने की क्रिया और हर बात का सूत्रवत अध्ययन ही प्रमुख बन गया है।

आज का अध्यापक विद्यार्थियों को केवल परीक्षा पास कराने के लिए ही पढ़ाता है। उस पर 'कोर्स' समाप्त करने की सनक सवार रहती है, और क्यों न हो? उसके कार्यों का मूल्यांकन तो केवल इसी आधार पर होता है कि उसने कितने प्रतिशत लड़कों को पास कराया। फिर भी आश्चर्य है कि विद्यार्थी और अध्यापक दोनों की उन्मुखता परीक्षा की ओर होने पर भी असफल होनेवालों की ही अधिकता है। और भी कई कारक हैं इसके पीछे। उनमें से एक प्रमुख कारक यह भी है कि आज की परीक्षा-पद्धति-द्वारा समझने की क्रिया को बल नहीं मिलता।

७. सीखने की क्रिया में विद्यार्थी को अपनी प्रगति के बारे में जानकारी होते रहने से आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है। यह तथ्य केवल उन्हीं विद्यार्थियों के लिए प्रभावकारी होता है, जो सचमुच सीखना चाहते हैं।

इस तथ्य के प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक-द्वारा विद्यार्थी को उसकी प्रगति का वास्तविक चित्रण समय-समय पर मिलते रहना चाहिए। परीक्षा इसके लिए प्रमुख साधन है। वास्तविक चित्रण के लिए हर विषय में नवीन निरपेक्ष परीक्षणों की आवश्यकता है।

८. सीखने की क्रिया में लक्ष्य-निर्धारण को पर्याप्त प्रेरणादायक पाया गया है और व्यक्ति की सफलता और असफलता इस बात के निर्णायक तत्त्व हैं कि वह भविष्य के लिए कैसा लक्ष्य निर्धारित करेगा। दूरस्थ लक्ष्य की अपेक्षा निकटस्थ लक्ष्य अधिक प्रभावशाली होता है।

कक्षा-कार्य कराते समय अध्यापक को वर्ष भर में पूरा किये जानेवाले कार्यों को विभिन्न इकाइयों में बाँट लेना चाहिए। इन विभिन्न इकाइयों में से एक के बाद दूसरे को तात्कालिक लक्ष्य बनाना चाहिए, जिसके लिए समय-सीमा बाँध देनी चाहिए। अध्यापक को पाठ-वस्तु

कक्षा में इस प्रकार रखने की आवश्यकता है कि विद्यार्थी सफलता का अनुभव कर सकें। इसके लिए 'सरल' से 'जटिल' की ओर बढना चाहिए। सरल कार्य पूरा कर लेने से प्राप्त सफलता का अनुभव व्यक्ति को जटिलतर कार्य करने के लिए उकसाता है। कक्षा में पिछडे विद्यार्थियों को आगे बढाने के लिए यह उपाय बहुत कारगर है।

९ मन में विचार एक दूसरे से सम्बन्धित और सगठित रूप में रहते है। नये ज्ञान को पुराने ज्ञान के सगठन में समन्वित कर देने से सीखने की क्रिया सरल हो जाती है। पूर्व परिचित बातो से नये ज्ञान को सम्बन्धित करने और समता विषमता प्रकट करने से उसके सगठन में आसानी हो जाती है। अत नये ज्ञान की टहनी को पुराने ज्ञान की डाली से 'ग्रैफ्टिंग' करने की आवश्यक्ता है।

सीखने सिखाने की प्रक्रिया में अभी तक व्यक्तिगत भेद के तथ्य की ओर लोगों का कम ध्यान गया है। व्यक्तित्व-सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक अध्ययनो से ऐसे तथ्य प्रकट हुए हैं, जिनका सीखने की क्रिया से निकट का सम्बन्ध है। ऐसे कुछ प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं—

● सीखने की क्रिया में सीखनेवाले की योग्यता का पर्याप्त महत्व होता है। स्कूल की पढाई में धीमी गति और तीव्र गति से सीखनेवालों के लिए उचित मान्यता देने की आवश्यक्ता है। जिस कक्षा में योग्यता की दृष्टि से अधिक विषमता होती है उसमें अध्यापन कार्य प्रभावोत्पादक ढग से नहीं हो पाता।

● कुछ योग्यताएँ शारीरिक और सामाजिक विकास पर आधारित होती हैं। विद्यार्थियों से किसी माँग की पूर्ति की आशा करते समय उनके विकास-स्तर पर ध्यान देना आवश्यक है। विद्यार्थी की सीमाओं पर ध्यान दिये बिना उससे जब ऊँची माँग की जाती है तो कार्य में अरुचि हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है।

● विद्यार्थियो के व्यक्तिगत निर्देशन के लिए उनकी प्रेरणाओ के सगठन, मूल्यो, व्यग्रता-स्तर और उनकी सस्कृति तथा उप सस्कृति की ओर भी अध्यापक का ध्यान जाना चाहिए। ●

एक पत्रोत्तर

सुशीला बहन,

आपका पत्र मिला। धन्यवाद। मेरा स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

शुद्ध	अशुद्ध
आयी	आई
खायी	खाई
बनायी	बनाई
गयी	गई

● किसी भी क्रियापद के भूतकालिक प्रयोग में 'य' ही प्रत्यय लगता है, 'ई' नहीं। जैसे, पुलिंग में 'आया', 'आये' होता है, वैसे ही स्त्रीलिंग में भी 'आयी' 'आयीं' ही होना चाहिए।

आये, आय	आवे
जाये, जाय	जावे
खाये, खाय	खावे आदि

● यह आशीरर्थक प्रयोग है। यहाँ धातु में 'ये' अथवा 'य' प्रत्यय लगता है, 'वे' नहीं।

● भविष्यकालिक प्रयोग में भी यही नियम है। जैसे–

आयेगा, आयगा	आवेगा
जायेगा, जायगा	जावेगा आदि
करते हुए	करते हुवे, हुये

यह 'हो' धातु का कृदन्त रूप है। कृत् प्रत्यय आ, ए, ई, है 'य' या 'वे' नहीं। करता हुआ, करते हुए, करती हुई, यही ठीक है।

● लिये और लिए–यह एक विवादास्पद रूप है। इसमें नियम यह है कि जहाँ चतुर्थी विभक्ति प्रत्यय के रूप में प्रयोग होता है वहाँ 'लिए' ही सही है। जैसे-राम के लिए, मेरे लिए, उसके लिए आदि।

जहाँ कृदन्त रूप से प्रयोग होता है वहाँ 'लिये' होना चाहिए। जैसे–किताबें लिये जाता हूँ, साधना किये जाओ आदि।

● आइए और आइये–यह भी ध्यान देने योग्य है। कुछ लोग 'आइये' लिखते हैं। यह ठीक नहीं। 'आइए' ही चलना चाहिए। 'बनिये' शब्द बनिया का बहुवचन भी हो जाता है, 'भजिये' भी भजिया (खाद्य-वस्तु) का बहुवचन है। इस प्रकार 'इये' प्रत्यय लगाने से कहीं-कहीं सन्देह हो जाता है। इसलिए 'ए' ही ठीक है।

● माता का बहुवचन रूप कुछ लोग 'मातायें' लिखते हैं। यह ठीक नहीं। माताएँ ही होना चाहिए। आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों पर भी 'एँ' ही प्रत्यय लगता है—सफलताएँ, मालाएँ, बालाएँ आदि।

● जो हलन्त शब्द हैं उनपर भी 'एँ' ही लगता है। जैसे, गाय-गायें, किताब-किताबें आदि। इसलिए सर्वत्र एक ही प्रत्यय को मानना व्याकरण की दृष्टि से भी ठीक है।

दो-दो शब्दों को अलग या एकसाथ लिखने के सम्बन्ध में आपने कुछ शब्द उदाहरणार्थ पूछे हैं।

● करते हुए, कई बार, कहाँ तक आदि शब्दों को अलग-अलग ही लिखना अधिक उचित है।

● मुख्य-मुख्य, बार-बार, धीरे-धीरे, लेते लेते, करते-करते, साथ-साथ, अलग-अलग इत्यादि समुच्चयों में बीच में हाइफिन (-) देना चाहिए। दोनों को एक साथ लिखना गलत है, अलग-अलग लिखना भी ठीक नहीं।

● एक ही शब्द की द्विरुक्ति हो तो वह शब्द लिखकर प्रायः २ लिख दिया जाता है, यह ठीक नहीं। जैसे–बार २, करते-२, जाते-२ आदि।

● पूछना, कहना, इन दोनों धातुओं के प्रयोग में द्वितीया विभक्ति प्रत्यय नहीं, तृतीया विभक्ति-प्रत्यय ही लगेगा। जैसे–राम से पूछो, राम से कहो, यही सही प्रयोग है। राम को पूछो, राम को कहो, नहीं।

● कुछ लोग करनेवाला, जानेवाला, इत्यादि प्रयोग में 'वाला' को अलग-अलग लिखते हैं, यह भी ठीक नहीं। मिलाकर ही लिखना चाहिए।

● समास शब्दों को निःसन्दिग्ध बनाने की दृष्टि से हाइफिन (-) का उपयोग करना जरूरी है। जैसे–संघ-प्रकाशन, (संघ का प्रकाशन के अर्थ में) घर-बार की चिन्ता (घर और बार की चिन्ता के अर्थ में) वर्षा-ऋतु (वर्षा की ऋतु के अर्थ में) बिहार-राज्य (बिहार नामक राज्य के अर्थ में) केन्द्र-सरकार (केन्द्र की सरकार के अर्थ में) निष्ठा-मूलक, कृपा-पूर्वक, सन्त-कृपा, शासन-मुक्ति, करने-जैसा, सुनने-योग्य, जन-सेवा, आदि।

इनमें हाइफिन न देने से अर्थ में भ्रम हो सकता है। बीच में स्पेस न देकर एक साथ मिलाकर लिखने से अर्थ-भ्रम तो नहीं होगा, पर शब्दों का आकार बढ़ता है। ये दोनों दोष टालने-जैसे हैं। इसलिए हाइफिन देना ठीक है।

● अनुस्वार का भी एक नियम मान्य कर लेना चाहिए। अनुस्वार का ही अधिकतर प्रयोग चल पड़ा है–पंछी, अंक, अंग, आदि, लेकिन टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के पहले के चार अक्षरों के संयोग में अनुस्वार के बदले उस-उस वर्ग के पंचम अक्षर का उपयोग होना चाहिए।

घण्टा, डण्डा, तन्तु, तन्द्रा, गन्ध, पन्थ, पम्प गुम्फ, अम्ब, दम्भ, यही ठीक है। कवर्ग और चवर्ग में भी यही नियम चल सकता है, पर हिन्दी ही प्रचलित हो गयी है।

आशा है, इससे कुछ स्पष्टता आयी होगी।

● —कृष्णकुमार

विनोवाजी

का

क्षेत्र-संन्यास

•

सिद्धराज ढड्ढा

अब बाबा विनोबा क्षेत्र-संन्यास का प्रयोग कर रहे है, अर्थात् वे अब 'ब्रह्म विद्या-मन्दिर' के स्थान में ही कैद हो जाना चाहते है। पदयात्रा का तेरह वर्षीय एक दौर पूरा हुआ। तेरह वर्ष तक 'कर्म में अकर्म' का अनुभव किया, अब एक जगह स्थिर होकर 'अकर्म में कर्म' का अनुभव लेना चाहते हैं।

पवनार आश्रम में कैद हो जाने का या उम्र के ७० वें साल में 'निवृत्त' होने का अर्थ यह नहीं है कि बाहर की समस्याओं से या ग्रामदान-आन्दोलन से वे उदासीन रहेंगे। ११ जनवरी को आश्रमवासियों के सामने उनका जो भाषण हुआ, उसमें उन्होंने कहा कि उनका 'सारा समय प्रथम ब्रह्म विद्या-मन्दिर के लिए और उतना ही ग्रामदान आदि के लिए है।'

जहाँ तक आन्दोलन का सम्बन्ध है, उसके इस अद्यतन काम के पीछे आरोहण कार्य को गणसेवकत्व के आधार पर खड़ा होने का, या करने का प्रयोग आजमाने की दृष्टि है। राजस्थान के सर्वोदय-सम्मेलन के लिए भेजे हुए सन्देश में भी उन्होंने कई मर्तबा अपने इस कथन की ओर ध्यान दिलाया है कि 'अब नेतृत्व के दिन खत्म हैं, गणसेवकत्व की आवश्यकता है। उनके पास कोई भी कार्यकर्ता प्रश्न लेकर जायेंगे या आयेंगे तो वे उसका समाधान देंगे ही। 'मैं यहाँ डिक्शनरी जैसा रहूँगा। डिक्शनरी का कोई उपयोग करता है तो उपयोग देती है अन्यथा पड़ी है। उसको यह उत्साह नहीं कि खुद उठकर लोगों को शब्दार्थ समझाती रहे, वैसे ही मैं यहाँ रहूँगा। मेरा बिना संकोच उपयोग करना चाहिए। लिखित सवाल लाना चाहिए। पत्र-व्यवहार और 'कुछ पाबन्दी के साथ' मुलाकातें भी जारी रहेंगी।'

श्री लालबहादुर शास्त्री से अधिक सम्पर्क रखने की ओर बाबा ने खास तौर से ध्यान आकृष्ट किया है। 'शास्त्रीजी सहयोग के लिए उत्सुक दीखते हैं। वे हमारी काफी बातें पसन्द करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।' दूसरे प्रसंग में उन्होंने कहा—'मेरा सुझाव है कि त्रिविध कार्यक्रम के मामले में केवल पत्र-व्यवहार से नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष मिलकर उनके साथ सम्पर्क रखना चाहिए। जो-कुछ अड़चनें हैं, जो कुछ सोचा जा रहा है, उन सबसे उनको परिचित रखना चाहिए।'

आने की इजाजत माँगते हुए जब मैंने बाबा से पूछा कि उनकी ओर से कोई आदेश हो तो दें, तो उन्होंने खासतौर से यह लिखकर दिया—'ब्रह्म विद्या और त्रिविध कार्यक्रम में विरोध तो है ही नहीं, बल्कि ब्रह्म-विद्या की बुनियाद पर त्रिविध कार्यक्रम मजबूत बनेगा।' इस बात की अनुभूति हम लोगों में, और हमारे साथी कार्यकर्ताओं में बहुत कम है, यह तो स्पष्ट है। ब्रह्म-विद्या के और अर्थ जो हों, मुझे उसका मुख्य पहलू यह मालूम होता है कि हमारा सारा काम केवल आर्थिक और सामाजिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक है, अर्थात् हमारे काम से हमारी अपनी चित्त-शुद्धि कितनी होती है, इसका सतत् ध्यान हमें रखना चाहिए।

इस सिलसिले में एक बात मुझे यह भी लगती है कि जैसे गांधीजी के जमाने में स्वराज्य प्राप्ति के लिए रचनात्मक कार्य और राजनीतिक कार्य एक दूसरे के पूरक थे उसी प्रकार आज समाज परिवर्तन के इस आरोहण में 'आश्रम' और 'आन्दोलन' दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। •

राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में यदि सृजनात्मक चिन्तन और कल्पना पैदा हो और जिन विचारों में हमें आस्था है उन्हें क्रियान्वित करने का हममें संकल्प हो, तो समाज-व्यवस्थाओं और सभ्यताओं में आमूल परिवर्तन किया जा सकता है। –विलिस डी० मेदरफर्ड

बदलती परिस्थितियों में शिक्षण

•

शिरीष

आज हम चौथी पंचवर्षीय योजना के द्वार पर खड़े हैं, लेकिन जब हम मुड़कर अपनी शैक्षिक उपलब्धियों की समीक्षा करते हैं तो निराशा ही हाथ आती है। आखिर स्वतन्त्रता के सत्रह वर्ष बिता चुकने पर भी हम अपने पाठ्यक्रम में सामान्य फेर-बदल के अतिरिक्त कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन क्यों नहीं कर पाये?

आजादी के बाद प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा सुलभ हो सके, इस दिशा में प्रयास किये गये। गाँवों में नये-नये स्कूल खुले, लेकिन स्कूलों की इस बाढ़ से शिक्षा के स्तर को भारी धक्का लगा। ट्रेण्ड एवं उपयुक्त टीचरों की कमी तथा आवश्यक साधन-सामग्री का अभाव आदि इसके कई कारण रहे।

इसके अतिरिक्त प्रौढ़ शिक्षण का काम भी बड़ी धूम धाम से शुरू हुआ, लेकिन उसमें लोक-शिक्षण के तत्वों का नितान्त अभाव रहा। फलतः साक्षरों की एक लम्बी कतार तो सामने जरूर आयी, लेकिन उसमें शिक्षण-जैसी कोई वस्तु न थी। दैनिक जीवन में प्राप्त की हुई उस अधकचरी साक्षरता का उपयोग न होने से कुछ ही दिनों में वह भी विस्मृति के अन्तराल में जा छिपी। इस तरह प्रौढ़ शिक्षण की दिशा में किये गये हमारे सारे प्रयास करीब-करीब बेकार साबित हुए।

अतः आज हमारे लिए अनिवार्य हो गया है कि हम भारतीय सांस्कृतिक भावभूमि पर अपने पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में पुनर्विचार करें और उसमें जड़मूल से परिवर्तन की बात सोचें।

भारत के लिए पाठ्यक्रम बनाते समय कुछ मूल-भूत बातें ऐसी हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैसे, भारत गाँवों का देश है, जहाँ किसान रहते हैं। किसानों के इन बेटे-बेटियों के लिए जिस पाठ्यक्रम में स्थान नहीं होगा वह पाठ्यक्रम और कहीं का हो सकता है, भारत का नहीं। साथ ही, भारत की अपनी एक विशेष संस्कृति रही है। उस पाठ्यक्रम में उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

पाठ्यक्रम के अतिरिक्त एक दूसरा विचारणीय पहलू भी है—शिक्षण-तकनीक का। विज्ञान की प्रगति ने जहाँ हमारे लिए सुख सुविधा के हजार-हजार बन्द दरवाजों को खोल दिया है, वहीं असंख्य अबूझ कठिनाइयों और समस्याओं का पहाड़ भी हमारे सामने खड़ा कर दिया है, जिनका हल हमें हर मूल्य पर निकालना है।

प्रश्न है कि आज के इस बदले हुए सन्दर्भ में हमारी शिक्षण-तकनीक क्या हो? इस विषय पर समग्रता से विचार करने की आवश्यकता है। आज की हमारी

तात्कालिक समस्याएँ, जिनका हमारे जन जीवन से गहरा सम्बन्ध है मोटे तौर पर इस प्रकार हैं—

महँगाई समस्या–हमारी अविकसित खेती और देश की बढ़ती हुई आबादी दोनों इस समस्या से जुड़ी हुई हैं। लघु उद्योगों की हीनावस्था भी कम महत्व नहीं रखती।

सीमा समस्या–पड़ोसी चीन और पाकिस्तान के साथ सीमा सम्बन्धी तनाव और कश्मीर की समस्या, जिसको बहुत दूर तक राजनीतिक दाँवपेंच के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। नागालैण्ड का तनाव भी कम होता नहीं दिखता।

जागतिक समस्याएँ–वैज्ञानिक प्रगति के कारण यन्त्रीकरण की दौड़ चल रही है और संहारक उपकरणों के उत्पादन की भयानक होड़ लगी हुई है। युद्ध की सम्भावनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं, व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता इसके जड़मूल में है। केनेडी की हत्या, ख्रुश्चेव का अपदस्थ किया जाना और चीन का अणु-विस्फोट भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

पण्डित नहरू का असामयिक निधन हमारे देश के लिए, देश की नव अंकुरित लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था के लिए एक महान चुनौती है, जिसे हमें स्वीकारना होगा और इसका अर्थ होगा परिस्थितियों से जूझने की अकूत शक्ति एकत्र करना, जो शिक्षा से ही सम्भव है।

जाति पाँति और छुआछूत की समस्या भारत जैसे पिछड़े देशों की ही नहीं, अमरिका और ब्रिटेन जैसे पूर्ण विकसित और अपने को सभ्य समझनेवाले राष्ट्रों के लिए भी सिर दर्द बनी हुई है। राष्ट्रपति केनेडी की हत्या इस बात का उदाहरण है कि अमरिकी शिक्षण पद्धति में कहीं-न कहीं बुनियादी भूल है, जिसे उन्हें दूर करना होगा। अगर हम मानवता के इस कलंक को सदा-सदा के लिए धो डालना है तो अपनी शिक्षण तकनीक में बुनियादी फर्क करना पड़ेगा।

यही नहीं, ख्रुश्चेव का अपदस्थ किया जाना और उसके दूसरे दिन ही चीन का अणु विस्फोट विश्व के विचारकों के लिए एक चुनौती है। आज के इस बदलते हुए सन्दर्भ में स्थायी मूल्यों का समाज में प्रतिस्थापन करना है तो हमें शिक्षण के तरीकों में आमूल-चूल परिवर्तन करना होगा।

आज महँगाई के कारण देश के एक छोर से दूसरे छोर तक असन्तोष व्याप्त है और इस असन्तोष से उत्पन्न समस्याएँ कुछ इतनी उलझी हुई और बड़ी हैं कि उन्हें शीघ्र हल कर लेना भी किसी के बूते का नहीं। तो फिर इसका समाधान क्या? गाँव-गाँव में बिखरा हुआ शिक्षक-समाज ही ऐसा आशा केन्द्र है, जिससे सही मार्गदर्शन की आकांक्षा रखी जा सकती है। उसको अपनी तैयारी के लिए आवश्यक उपादान अपेक्षित हैं, जिनकी पूर्ति आजकी स्थिति में शिक्षा विभाग ही कर सकता है।

उदाहरण के लिए, आज शिक्षक को जानना है महँगाई का शुरू से आजतक का पूरा इतिहास। भूतकाल में महँगाई कब कब अपने किन किन रूपों में आ चुकी है और उसका किस किस तरह मुकाबला किया जा चुका है। आज की महँगाई का भूतकाल की महँगाई से कहाँतक सम्बन्ध है? बदले हुए सन्दर्भ क्या हैं? उनके लिए कौन कहाँतक जिम्मेवार है? इन प्रश्नों के समाधान के लिए सरकार की ओर से बुलेटिनें और आवश्यक पत्रिकाएँ शिक्षकों के पास पहुँचाने का प्रबन्ध होना चाहिए।

क्या आज भी हम उसी रास्ते चलकर महँगाई का मुकाबला कर सकते हैं? क्या अकेले सरकार के प्रयास से महँगाई का संकट टाला जा सकता है? अगर जनता का सहयोग अपेक्षित है तो किसे और क्या करना है शिक्षक के सामने पूरा चित्र स्पष्ट होना चाहिए तभी वह ग्रामीण जनता का सही मार्गदर्शन कर सकता है।

महँगाई की विभीषिका से मुक्ति पाने के लिए हमें अपनी खेती में वैज्ञानिक फरफार करने होंगे। बड़ी-बड़ी योजनाओं की भूल भुलैया में न पड़कर सिंचाई की समस्या सबसे पहले हल करनी होगी। इसके लिए पाठशालाओं का

मूल उद्योग बिना किसी हिचक के खेती को बनाना होगा और इतर लघु उद्योगों को पूरक के रूप में अपनाना होगा। हमारा प्रत्येक स्कूल आस-पास के गाँवों के लिए प्रयोगशाला का काम करेगा। सुधरे हुए यंत्र तथा दूसरी महत्वपूर्ण जानकारी हर एक ग्रामीण को इन पाठशालाओं-द्वारा ही मिलनी चाहिए।

यहाँ मैं स्पष्ट कर दूँ कि पाठशाला की चहारदीवारी तोड़कर शिक्षक को अपना कार्यक्षेत्र उन सभी गाँवों को बनाना होगा, जहाँ के बच्चे उसके पास पढ़ने आते हैं। मात्र-बच्चों को पाठ्यक्रम में निर्धारित इतिहास, भूगोल और गणित पढ़ा देना ही शिक्षक का कर्तव्य नहीं है। आज शिक्षक को अपना खोया हुआ सम्मान वापस लेना है, और उसे आगे आना है देश का नेतृत्व अपने हाथ में लेने के लिए।

महँगाई के साथ साथ हमारी सीमा-समस्या भी कम उलझी हुई नहीं है। चीन और पाकिस्तान हमारे पड़ोसी हैं, जिनसे हमारी सीमाएँ जुड़ी हुई हैं। पड़ोसी से झगड़ा कभी नहीं चल सकता। सीमा-सम्बन्धी समस्या के हर पहलू की जानकारी शिक्षक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

कश्मीर की पेचीदा समस्या और नागालैण्ड का उलझाव भी हमारे लिए प्रश्नचिह्न बना हुआ है। इनके नाजुक पहलू क्या हैं, जिनसे समस्याएँ हल नहीं हो पा रही हैं, आदि पूरी जानकारी शिक्षक के लिए आवश्यक है।

विज्ञान की दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक्की हो रही है। यंत्रीकरण की भयानक दौड़ चल रही है। संहारक उपकरणों के निर्माण ने आज विचारकों की नींद हराम कर रखी है। युद्ध की सम्भावना उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। कहा नहीं जा सकता कि कब, कहाँ मामूली-सी चिनगारी फूट पड़े कि सारा संसार धू-धू कर जल उठे। लेकिन, शिक्षक को विश्वास-पूर्वक जानना है कि प्रकृति समन्वयवादी है। किसी भी वस्तु का अति विकास उसे ह्रास की ओर ले जाता है। इसलिए आज अतिहिंसा को अहिंसा की ओर बढ़ने के सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं है। अहिंसा को अपनाने के अतिरिक्त संसार के सामने अपने कल्याण का कोई मार्ग नहीं दिखता। अहिंसा को तो आना ही है, चाहे आज हम इसे खुशी-खुशी अपना लें, या कल विवश होकर।

आज की भयानक व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता युद्ध को भड़काने की भूमिका में अपना विशेष रोल अदा कर रही है। बढ़ते हुए उत्पादन की खपत और कच्चे माल की माँग ने राष्ट्रों को कूटनीति के छिछले स्तरों पर दाँव-पेंच के लिए खड़ा कर दिया है। प्रश्न उठता है कि इन नित-नवीन बदलती परिस्थितियों की ताजी जानकारी शिक्षक को कैसे मिले? इसके तीन रास्ते हो सकते हैं—

१ एक दैनिक समाचार-पत्र हर स्कूल में अनिवार्य रूप से आना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक मासिक पत्रिका, जो उन्हें नयी-नयी शैक्षिक गतिविधियों की भरपूर जानकारी देती रहे, आनी चाहिए।

२. प्रत्येक पाठशाला में रेडियो जरूरी है। शिक्षकों के लिए कम से कम प्रतिदिन घण्टे-आध घण्टे का उपयोगी प्रोग्राम अनिवार्य रूप से चलना चाहिए।

३ सरकार इन समस्याओं से सम्बद्ध आवश्यक पुस्तकें, बुलेटिनें तथा इतर सामग्री स्वयं प्रकाशित-कर तत्काल हर एक स्कूल में पहुँचाने की उचित व्यवस्था करे।

शिक्षक गाँव के किसी सार्वजनिक स्थान पर एक श्यामपट रखे और रोज की प्रमुख खबरें उसपर लिख दिया करे। खबरों के अतिरिक्त वह समय समय पर तात्कालिक परिस्थितियों की सामान्य समीक्षा भी नोट कर दिया करे। समय-समय पर गाँववालों की सभा करे। नाटक, प्रहसन तथा दूसरे माध्यम उन्हें एकत्र करने के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। इन उचित माध्यमों-द्वारा वह अपने अभिप्राय का प्रचार आसानी से कर सकता है। इससे लोक मानस का परिष्कार होगा और लोकतान्त्रिक समाजवाद की जड़ें गहराई तक जायेंगी।

साथ ही, हमें अपने पाठ्यक्रम में भी आवश्यक फेर-फार करना होगा। अब वह जमाना लद गया जब हम हिमालय को दुर्लभ्य प्रहरी होने तथा महासागर को अजेय सीमा का यशोगान गाते थे। आज की परिवर्तित परिस्थितियों के प्रकाश में हर एक वस्तु को समझने बूझने,

परखने और उसका सही मूल्यांकन करने की आदत बच्चों में शुरू से ही डालनी होगी।

हमारे राष्ट्रीय जागरण में व्यापार का बहुत बड़ा हाथ है। बच्चों को जानने की जरूरत है कि हमारे देश का आयात निर्यात क्या है? अन्तर्देशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति क्या है? एक देश दूसरे देश से व्यापारिक समझौते करता है। उसका उस देश पर तो असर पड़ता ही है, दूसरे देशों पर क्या प्रभाव पड़ता है, आदि बातें आज के छात्रों के लिए बड़े महत्व की हैं।

देश की बढ़ती हुई जनसंख्या का हमारे राष्ट्रीय विकास से कहाँतक सम्बन्ध है, महँगाई बढ़ाने में इसका कहाँतक हाथ है, इसका जनता के रहन सहन और जीवन स्तर पर क्या प्रभाव पड़ता है, आदि जीवित प्रश्नों का समाधान शिक्षक और छात्र ही नहीं, गाँव के हर एक नागरिक को पाठशाला के माध्यम से मिलना चाहिए।

अगर इस प्रकार के बहुमुखी आयोजन किये जायें तो समवाय की दुरूहता भी स्वयं हल हो जाय। आज पाठशालाओं में उद्योग नाम की कोई वस्तु है नहीं, समस्याओं से शिक्षक को सरोकार नहीं, फिर समवाय कैसे हो सकता है?

अब मिटती हुई मान्यताओं की छाहँ में चलनेवाली शिक्षण तकनीक काम की नहीं रही। हम अपनी पाठशालाओं के लिए नयी मान्यताओं के प्रकाश में नयी पुस्तकें तैयार करान की जरूरत है। जरूरत है कि आज हमारी पुस्तकों में इतना क्षमता हो कि वे बच्चों में स्वावलम्बन की भावना जगा सकें, आपस में सहानुभूति का व्यवहार करना सिखा सकें, बदलती हुई परिस्थितियों में अपने को ढाल सकें, संघर्षों से जूझने की शक्ति पैदा कर सकें, जाति, धर्म और भाषा आदि की संकीर्णताएँ दूर कर सकें, उचित व्यावसायिक क्षमता पैदा कर सकें और राष्ट्रीय एकता की भावना बढ़ा सकें। यह सारा काम अकेले सरकार का नहीं, बल्कि सरकार, जनता और शिक्षक तीनों के पारस्परिक सहयोग पर ही सम्भव है। ●

बाल-कला के साधन–२

●

श्री जुगतराम दवे

पिछले अंक में लेखक ने बताया है कि बच्चे अपनी आन्तरिक ऊर्मियों को साकार करने के लिए पानी, डण्ठल, डिब्बियाँ, पेटियाँ, फूल-पत्तियाँ, मेज कुरसी और छाता-छड़ी आदि विविध वस्तुओं का किस प्रकार उपयोग करते हैं। बच्चे अपने नित नवीन सृजन की भूख मिटाने के लिए अन्य वस्तुओं का उपयोग किस प्रकार करते हैं, इस लेख में पढ़ेंगे।

—सम्पादक

आस पास पेड़-पौधे बाग बगीचे और खेती होगी तो बालकों को इनके सहारे अपनी कला वृत्ति को तृप्त करने के अनेक साधन मिल जायेंगे। आवश्यकता इस बात की रहेगी कि समय समय पर बालकों का मार्ग-दर्शन किया जाय, उन्हें समझाया जाय कि पेड़-पौधों में भी जान होती है, इसलिए उनका उपयोग भी विवेक-पूर्वक ही किया जाना चाहिए।

संयम बरतने के साधन

यदि बालकों को समझा दिया जाय कि अपनी कला के काम के लिए वे साधारणतया उन्हीं फूलों-फलों का उपयोग करें, जो झड़कर नीचे गिरते हैं या उन्हीं पेड़ों के पत्ते तोड़ें, जिनमें पत्तों की बहुतायत होती है, तो प्राय: वे इस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेंगे।

यदि चौकी, आले अथवा छोटी झोंपड़ी-जैसी चीजें तैयार करके रखी जायँ तो बालक रोज-रोज नये-नये ढंग से उन्हें सजाकर आनन्द लूटेंगे और इस प्रकार अपनी कलावृत्ति के लिए उन्हें सुन्दर अवसर मिल जाने से, हमें विश्वास करना चाहिए कि साधारणतया न तोड़ने लायक चीजों को नहीं तोड़ेंगे।

कागज का उपयोग

कपड़े के रंग-बिरंगे टुकड़े और रस्सियां भी बालकों के लिए सृजन तथा कला के बहुत बढ़िया साधन बन जाती हैं। यदि बालक कुछ बड़े हुए तो उनके लिए सूई-धागे की विशेष व्यवस्था की जा सकेगी। इन साधनों की मदद से वे गेंद, गुड़िया, फूल और सजावट के अन्य साधन, गुड्डा-गुड्डी की पोशाक वगैरह नाना-प्रकार की चीजें बना सकेंगे।

कपड़े और चिथड़े

बालकों की सृजन-शक्ति के विकास के लिए शिक्षिकाओं को कागज अनेक प्रकार से उपयोगी प्रतीत होता है। पहली बात तो यह है कि कागज अनेक आकर्षक रंगोंवाले और जरूरत के मुताबिक मोटे-पतले सब तरह के तैयार मिल सकते हैं। दूसरे, कागज का काम करने से न हाथ गन्दे होते हैं और न कपड़े। उसे कई तहों में मोड़कर उसपर कैंची चलाने से और तहों को खोलकर कागज को फैलाने से दोनों ओर एक-सी आकृतियोंवाली फूल-पत्तियां बिना मेहनत के तैयार हो जाती हैं।

कभी-कभी कैंची की मदद से रंगीन फूल-पत्तियां, बेल-बूटे, पशु-पक्षी, सूर्य-चन्द्र आदि तैयार करके उन्हें मोटे कागज पर चिपकाने से उनकी सुन्दर कला-कृतियां खड़ी हो सकती हैं।

इस प्रकार की कला-कृतियों में खरीदकर कागज का बहुत ही कम उपयोग करना चाहिए। उतना ही कम, जितना चित्रकारी के लिए रंग-पेटी के रंग का होता है। अकसर रद्दी कागजों की कतरनें काट कर ही इस प्रकार की कला-कृतियां खड़ी की जाती हैं। हमने प्राय: देखा है कि जब कल्पना के धनी कुछ कलाकार मित्र इस प्रकार की निकम्मी चीजों को अपने पास पड़ा देखते हैं तो सहज ही उन्हें प्रेरणा होती है कि वे उनकी मदद से कुछ सुन्दर-सुन्दर कला-कृतियां बना लें।

शंख, सीप आदि

बालकों की कला के एक सुन्दर और सुलभ साधन के रूप में कहीं-कहीं बालवाड़ियों में शंख और सीप का भी उपयोग किया जाता है। इन साधनों का उपयोग अधिक मात्रा में हो सके तो वह इष्ट ही है। शिक्षिकाएँ फर्श पर या छोटी वेदियों पर मोटी-मोटी रेखाएँ खींच दें और बालक उनपर कंकड़, शंख, सीप आदि जमाते रहें। इस तरीके में बालकों को कलम या ब्रश पकड़ने की बारीकी में जाने की जरूरत नहीं रहती। इससे उन्हें सुन्दर और शोभामय आकृतियां रचने का आनन्द सहज हो मिल सकता है। रेखा-कृतियों पर जमाने के लिए शिक्षिकाएँ दूसरी भी कई उपयोगी चीजें आसपास के जंगलों या बाग-बगीचों से प्राप्त कर सकेंगी। यदि शिक्षिकाएँ इमली और रीठे के बीज, बेर की गुठलियां, गुंजा, तरबूज और कद्दू के बीज, सीताफल के बीज और ऐसी ही अन्य चीजों के बीज डिब्बों में भर भरकर रखेंगी तो बालक उन्हें सच्चे मोती की तरह मूल्यवान समझकर उनका एहसान मानेंगे।

हार-तोरण

बालकों के सामने एक और कलात्मक उद्योग रखने योग्य है, और वह है—विभिन्न वस्तुओं के हार और तोरण गूंथने का। इसके लिए फूल अच्छी-से-अच्छी वस्तु है, पर हम फूल उगाते ही कहां हैं, जो कला का संस्कार देने के लिए बालकों के सम्मुख फूलों के ढेर रख सकें? पेड़ों की पत्तियां अच्छा काम दे सकती हैं;

लेकिन यह सब भी वहीं करना चाहिए, जहाँ पेड़-पौधों की विपुलता हो।

रंग और पींछी

बाल शिक्षा की संस्थाओं में कला का काम करने की बात जब भी सोची जाती है, तो अकसर शिक्षकों के ध्यान में कागज और रंगीन पेंसिल की बात ही तुरंत आती है, इसलिए हमने विस्तार से यह समझाने का प्रयत्न किया है कि बालक कैसे-कैसे विविध साधनों से कला की सृष्टि कर सकते हैं। कागज पर की जानेवाली चित्रकला के लिए बालवाडी के बालक अभी बहुत छोटे कहे जायेंगे, किन्तु अपनी बालवाडी में कला का श्रीगणेश करने के उत्साह में नयी नयी शिक्षिकाएँ सीधी बाजार पहुँच जाती हैं और वहाँ से चित्रकारी के लिए आवश्यक महँगे और मोटे कागजों की पोथियाँ खरीद लाती हैं। रंग और पींछियाँ खरीदते समय वे थोड़ी परेशान जरूर होती हैं।

उन्हें डर लगता है कि इन चीजों को बालकों के हाथ में देने पर वे बहुत-कुछ तोड़-फोड़ और नुकसान करेंगे। इसलिए आखिर वे रंगीन पेंसिलें खरीद लाती हैं, लेकिन बालकों के हाथ में पेंसिलें देने के बाद उनके मन में एक नयी चिन्ता खड़ी होती है। बालक बड़ी बेदरदी से कागज और पेंसिल दोनों का मनमाना उपयोग करते हैं। प्रश्न होता है कि उन्हें रोका कैसे जाय? ऐसे समय शिक्षिकाओं की स्थिति बहुत नाजुक हो जाती है। मन से वे यह मानती जानती हैं कि बालक को रोकना टोकना नहीं चाहिए, फिर भी उन्हें बार बार टोकना पड़ता ही है—

"देखो, ऐसी बेकार की लकीरें मत खींचो।"

"कागज बहुत महँगे मिलते हैं, उनके उपयोग में किफायत से काम लो।"

कभी-कभी तो शिक्षिकाएँ कागज काटनेवाले बालकों को टालने के लिए झूठमूठ ही कह देती हैं—अब कागज खतम हो चुका है।

जब आपने बालकों के हाथ में कागज और पेंसिल दे ही दिये हैं, तो फिर उनकी खींची हुई लकीरों या आकृतियों को निकम्मी कहना कितना विचित्र होता है? जो रेखाएँ हमें निकम्मी लगती हैं, बालकों के लिए तो वे अभ्यास-रूप होती हैं।

बालकों की चित्रकारी के लिए रंग के छोटे कुल्हड़ देने चाहिए। किसी में खड़िया मिट्टी का सफेद रंग घुला हो, किसी में गेरू का लाल रंग हो, किसी में पीली मिट्टी का रंग हो—यों अलग अलग रंगों के कुल्हड़ उन्हें सौंप देने चाहिए। चित्रकारी की पृष्ठभूमि के रूप में बालकों की दृष्टि से कागज बहुत ही छोटा पड़ता है। उनकी चित्रकारी की पृष्ठभूमि के लिए मिट्टी का तसला, तवा, मटकी, सिकोरा, कुल्हड़, गमला आदि चीजें उत्तम से उत्तम साधन हैं। झोंपड़ों की भीतों को रंगीन मिट्टी की मिलावटवाली लीपन से लीप-पोतकर तैयार कर दिया जाय तो बड़े आकार के चित्र खींचने की दृष्टि से बालकों के लिए वे बढ़िया पृष्ठभूमि का काम देती हैं।

बालकों की चित्रकारी के लिए हम अपनी बालवाडी के आँगन में छोटी भीतें भी बना सकते हैं। जमीन में डण्डे गाडकर उनके सहारे बाँस की आड़ी खपच्चियाँ गूँथ दी जायें, और उन्हें दोनों ओर से लीप-पोतकर तैयार कर लिया जाय, तो चित्रकारी के लिए यह एक बढ़िया पृष्ठभूमि बन सकती है। कुछ अगले भाग पर चित्र बनायेंगे, तो कुछ पिछले भाग को भी चित्रित कर सकेंगे। इसी तरह चटाइयों और आसनों पर मिट्टी का हाथ फेरकर भी बालकों के लिए छोटी छोटी पीठिकाएँ बनायी जा सकती हैं।

इस प्रकार के चित्र खींचने के लिए बाजार से मिलनेवाले छोटे छोटे ब्रश बालकों के काम के नहीं होते। उनके लिए तो बबूल के छरके या खजूर के डण्ठल या ऐसी ही किसी चीज को कूटकर उसकी कूँचियाँ बना देनी चाहिए।

यों बालकों के सम्मुख चित्रकला का विषय रखना हो तो उसके लिए साधन इसी प्रकार के होने चाहिए; ड्राइंग पेपर, ब्रश और पेंसिल नहीं।

—'बालवाडी' से

सम्पादक के नाम चिट्ठी

माध्यमिक शिक्षा की यह शोचनीय स्थिति !

•

सुनीलकुमार मुखोपाध्याय

सम्पादकजी,

सारे देश में शिक्षा की स्थिति शोचनीय है। आश्चर्य है कि भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था के होते हुए भी योजनाओं में शिक्षा को उचित महत्व नहीं दिया जा रहा है। देश में ७० प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित हैं। शेष को जो शिक्षा उपलब्ध है वह भी अक्षम एवं निम्नस्तरीय।

शिक्षक के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न जब भी कहीं उठता है, आर्थिक बाधाएँ सामने खड़ी कर दी जाती हैं। राज्य और समाज शिक्षक को किसी प्रकार का संरक्षण प्रदान करने में असमर्थ है, जिसका भीषण परिणाम यह है कि कुछ सहायता प्राप्त स्कूलों में तो अधिकारियों द्वारा शिक्षकों से घरेलू नौकरों-जैसा व्यवहार किया जाता है।

शिक्षा एवं शिक्षकों की इस दयनीय दशा पर विचार-कर अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षक-संघ ने जन-मानस जागृत करने के लिए वाराणसी सम्मेलन में कुछ ठोस निर्णय लिये हैं। संघ की स्पष्ट माँग है कि योज-नाओं में शिक्षा को एक स्वतन्त्र तथा महत्वपूर्ण विषय बनाया जाय। प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा पर सम्पूर्ण व्यय का ७ प्रतिशत रखा गया था। दूसरी योजना में यह घटकर ६.४ प्रतिशत हो गया और तृतीय योजना में वह और भी घटकर ४.८ प्रतिशत हो गया, जबकि ये योजनाएँ, व्यय-क्रम में अन्य योजनाओं की अपेक्षा बड़ी होती गयीं।

परिणामतः स्वतन्त्रता के पश्चात् १७ वर्षों में ६ से ११ वर्ष तक के बच्चों के लिए निःशुल्क, अनिवार्य एवं सार्वभौम शिक्षा की व्यवस्था तक नहीं हो पायी। संघ ने माँग की है कि शिक्षा के लिए सम्पूर्ण योजना की लागत का १० प्रतिशत लगाया जाय। साथ ही कृषि, उद्योग एवं सहकारिता के क्षेत्र में शिक्षण-कार्य महत्वपूर्ण अंश ग्रहण कर सके, इसके लिए उन मदों में से दो हजार दो सौ करोड़ रुपये अतिरिक्त रूप से शिक्षा के क्षेत्र में व्यय होने चाहिए, ताकि इन दिशाओं के विद्यालय भी प्रभावकारी एवं सक्षम बन सकें। राज्य-सरकारें भी अपने बजट (प्लान, नान प्लान) का कम-से कम २० प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करें।

सारे देश के शिक्षकों के लिए समान वेतन-मान व सेवा-दशाएँ, मापदण्ड व स्तर में एकरूपता लाने तथा प्रभावकारी नियंत्रण रखने के लिए माध्यमिक शिक्षा-अनुदान-आयोग की नियुक्ति होनी चाहिए।

साथ ही पाठ्यक्रमों, पाठ्यसूचियों एवं उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों की रचना तथा भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं में उच्च स्तरीय प्रासंगिक पुस्तकों के निर्माण के लिए केन्द्र में एक राष्ट्रीय समिति की अविलम्ब स्थापना होनी चाहिए, जिसकी शाखाएँ प्रत्येक राज्य में हों।

शिक्षा की एकरूपता के लिए प्राथमिक के साथ माध्यमिक शिक्षा की अवधि १२ वर्ष होनी चाहिए तथा इस लम्बी अवधि के बीच तीन स्तर होने चाहिए— प्रथम आठ वर्ष, द्वितीय १० वर्ष, एवं अन्तिम स्तर १२ वर्ष का। राज्य-सरकारों को चाहिए कि वे सभी गैर सरकारी विद्यालयों के कर्मचारियों को न्यूनतम मानवीय साधनों की सहायता तुरत प्रदान करें और केन्द्रीय सरकार को भी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए

प्रत्येक राज्य की योजना सीमा के ५० प्रतिशत अतिरिक्त व्यय का भार वहन करना चाहिए।

जीवनोपयोगी वस्तुओं के दामों में असाधारण वृद्धि के कारण देश के अन्य नागरिको की भाँति शिक्षक समुदाय भी अत्यधिक पीडित है। अध्यापकों को सामयिक सहायता के रूप में अविलम्ब तीस रुपये महँगाई भत्ता मिले तथा दिसम्बर १९६३ के जीवन निर्वाह सूच्यांक को आधार मानकर प्रति इकाई वृद्धि पर २५ पैसे और महँगाई भत्ते में जोडकर दिया जाय।

हमेशा की तरह आज भी शिक्षक समुदाय के लिए सेवा की सुरक्षा अहम प्रश्न बनी हुई है। इस सम्बन्ध में संघ की स्पष्ट राय है कि गैर सरकारी स्कूलों की प्रबन्ध समितियों के अभियोगकर्ता एवं न्यायकर्ता के दोहरे अधिकार की समाप्ति अविलम्ब होनी चाहिए। किसी भी तथ्यहीन भूमिका के आधार पर शिक्षकों को पदच्युत नहीं किया जाना चाहिए। हर राज्य के 'अपीलेट' अधिकारों के निर्णयों को कार्यान्वित कराने के लिए ठोस उपाय निश्चित किये जाने चाहिए।

सभी स्तरों पर शिक्षा के लाभकारी प्रसार के लिए आवश्यक है कि बारह सौ रुपये तक के वार्षिक आयवालों के बालकों तथा चौबीस सौ वार्षिक आय तक के लोगों की बालिकाओं को निःशुल्क शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान की जायँ।

आज विधान परिषदों के शिक्षक निर्वाचन-क्षेत्र को समाप्त करने का सरकार इरादा कर रही है। विधान-निर्माताओं ने काफी विचार विमर्श के पश्चात शिक्षकों के लिए यह राजनीतिक सुविधा प्रदान की थी। शिक्षक संघ माँग करता है कि जब तक राज्यों में विधान परिषद है तब तक शिक्षक निर्वाचन क्षेत्र को समाप्त न किया जाय। शिक्षक निर्वाचन-क्षेत्र की समाप्ति के समर्थक में यह दलील देना कि दूसरे पेशेवालों को यह सुविधा नहीं मिली है, युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि शिक्षा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें हर क्षेत्र के पेशेवाले आ जाते हैं–चाहे वह इंजीनियर, वकील, डाक्टर अथवा और कोई हो। ● —मंत्री जनपद जिला वाराणसी

शिक्षण सामाजिक विषय

पाठ्यक्रम–३

●

वंशीधर श्रीवास्तव

इस लेखमाला की पिछली किस्तों में लेखक ने स्पष्ट किया है कि सामाजिक विषय की शिक्षा का उद्देश्य है—बालक को उसके प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का समन्वित ज्ञान देना, उस वातावरण का, जिसमें उसका घर और पड़ोस है; उसके खेत खलिहान, नदी-तालाब और बन-बाग हैं; पहाड़ और समुद्र हैं दुकान और बाजार है, जिनका विकास समन्वित इकाई के रूप में हुआ है। भोजन, वस्त्र और आवास सम्बन्धी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव ने प्राकृतिक वातावरण में उपलब्ध भौतिक साधनों का उपयोग कर अपनी सुख-सुविधा के लिए नाना प्रकार के उद्योग धन्धों, यातायात, शासन-तंत्र, लेन-देन, व्यापार, कला, विज्ञान, धर्म और दर्शन का विकास किया है। इस पूरी कहानी को बालक और उसके समुदाय की आवश्यकताओं और अनुभवों के सन्दर्भ में समझना समझाना ही सामाजिक विषय का लक्ष्य है।

इस विषय का पाठ्यक्रम बनाने में मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सामग्री ली जा सकती है; परन्तु सामग्री लेते समय दो बातों का ध्यान रहना चाहिए। एक तो यह कि उसका अध्ययन बालक

को आज के समाज में रहने की अधिक क्षमता किस सीमा तक प्रदान कर रहा है; और दूसरा यह कि यह पाठ्यक्रम समाज के विकास की कहानी के सश्लिष्ट रूप की अखंडता को खंडित और विकृत तो नहीं कर देता ? यह लेख इस लेखमाला की आखिरी किस्त है। —सम्पादक

मानव का प्राकृतिक वातावरण

समुदाय की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति में प्राकृतिक वातावरण (भौगोलिक परिस्थितियों) का हाथ।

प्राकृतिक वातावरण–भौगोलिक परिस्थितियाँ–पृथ्वी और आकाश–भूगोल और खगोल, धरातल और भू-आकृति–पहाड़, पठार, बेसिन, मैदान–भू निर्माण और भू-क्षरण–झील और समुद्र।

प्राकृतिक सम्पदा–वनस्पति और खनिज पदार्थ–जलवायु–इनसे प्रभावित समुदाय की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ–भोजन, आवास और वस्त्र–तथा इनसे सम्बन्धित उद्योग। मानव के मार्ग में प्रकृति एक चुनौती और एक वरदान, प्रकृति और मानव के संघर्ष की कहानी–प्राकृतिक परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने का मानव-प्रयास। प्रकृति और मानव के इस क्रिया प्रतिक्रियात्मक संघर्ष का परिणाम मानव का उद्योग और विज्ञान। वैज्ञानिक प्रगति द्वारा प्राकृतिक शक्तियों का दोहन एवं उपयोग–जलविद्युत, उन्नत एवं सघन कृषि-क्षेत्र का विस्तार, बिना स्थल की खेती आदि।

क–समुदाय का भोजन

१. आखेट करना और मछली मारना—उत्तरी ध्रुव के एस्किमों का जीवन, सील और वालरस मछलियों का शिकार।

   समुद्र तट के निवासियों का जीवन—जापान और इंग्लैण्ड तथा मद्रास के मछली मारनेवालों का जीवन।

२. पशुपालन—भेड़-बकरी चराना–मध्य एशिया के खिरगीज का जीवन, आस्ट्रेलिया के भेड़ों के आधुनिक चरागाह, स्टेपीज के चरागाह, घुमक्कड़ जीवन।

३. वनस्पति-सम्पदा और फलों का धन्धा–कश्मीरी, अफ्रीकी और भूमध्य सागरीय जलवायु के प्रदेशों का जीवन। लकड़ी का उद्योग-बर्मा और मलेशिया के जंगलों का जीवन।

४. कृषि–खेती की आदिम पद्धति—मलाया के आदिवासियों की शिफ्टिंग पद्धति। भारतवर्ष की प्राचीन कृषि-पद्धति। चीन की सघन कृषि-पद्धति, आधुनिक उन्नत यंत्रीकृत खेती। सामूहिक खेती–रूस के सामूहिक यंत्रीकृत फार्म तथा उनका जीवन। उत्तरी साइबेरिया के सामूहिक 'रेनडियर फार्म–ईजराइल के आधुनिक सामूहिक फार्म–सामूहिक अर्थ-व्यवस्था, नियोजित अर्थ-योजना।

५ कोयले–लोहे की खानों में काम करनेवालों की जीवनी–इंग्लैण्ड की कोयले की खानों में काम करनेवालों की जिन्दगी, रानीगंज और झरिया (भारत) की कोयले की खानों में काम करने करनेवालों का जीवन। मैसूर की सोने की खानों में काम करनेवालों का जीवन। मिट्टी के तेल और पेट्रोल के कारखानों में काम करनेवालों का जीवन।

६ बिजली का काम—एक नया धन्धा–हाइड्रो-एलेक्ट्रिक स्टेशन–भाखड़ा-नांगल और रेहन्द बाँध–सिंचाई की नहरें और मछली मारने के जलाशय, संयुक्त राष्ट्र-अमेरिका की टिनेसी-वैली योजना।

ख–समुदाय का आवास

विभिन्न देशों की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के आवास—

१. खेमों का आवास—मध्य एशिया के खिरगीज, अरब के बद्दू।

२ पेड़ों पर की झोंपड़ियाँ—मलाया के आदिवासी, अफ्रीका के बौने।

३ बर्फ के मकान—इगलू–उत्तरी ध्रुव के एस्किमों के मकान।

४. कागज और लकड़ी के मकान—जापान।

५ मिट्टी के कच्चे मकान और झोंपड़ियाँ—भारत के गाँव।

६. आधुनिक नगरों के पक्के मकान—ईंट, लोहा और सीमेंट का प्रयोग ।

७. औद्योगिक नगरों में मकान—न्यूयार्क की गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ ।

ग-मनुष्य का वस्त्र—

विभिन्न प्रकार के जलवायु के अनुसार विभिन्न प्रकार की वेश भूषा—

१ एस्किमों के खाल के वस्त्र ।

२. अफ्रीका और विषुवत रेखा के समीपवर्ती अधिक वर्षा और ऊमसवाले प्रदेशों में कम वस्त्र धारण करने की प्रवृत्ति-अफ्रीका के बौनो की लँगोटी ।

३ गरम देशों में सूती कपड़े—ढीले वस्त्र ।

४. ठण्ढे देशों में ऊनी कपड़े—पतलून, कोट, ओवर-कोट आदि ।

५ अधिक हवावाले प्रदेशों में शरीर से चिपके हुए वस्त्र, पायजामा और अचकन ।

घ—समुदाय के उद्योग धन्धे-प्राकृतिक परिस्थितियों का परिणाम—

१ उत्तरी ध्रुव के निवासियों का उद्योग—आखेट और मछली मारना-बिना पहिये की स्लेज गाड़ियाँ बनाना आदि ।

२ उत्तरी साइबेरिया के सामूहिक रेनडियर फार्म ।

३ स्टेपीज के चरागाह—पशुचारण।

४ मैदानों में खेती और बागबानी—उन्नत यान्त्रिक खेती-कृषि के सहकारी धन्धे ।

५ पर्वतों में फलोद्यान ।

६. न्यूजीलैण्ड के समीप रहनेवाले डच, समुद्र तल से नीचे की भूमि—डाइक की सघन कृषि और गोपालन, डेयरी का धन्धा ।

७ प्रेरी-उत्तरी अमेरिका और अर्जेण्टाइना का जीवन—गेहूँ की कृषि और पशुपालन ।

८ तिब्बत के पठार के निवासियों के उद्योग-धन्धे—ऊनी कारोबार-भेड़ और याक पालना ।

९. पश्चिमी आस्ट्रेलिया की मरुस्थलीय खानों में काम करनेवालों का जीवन ।

१०. मैनचेस्टर, लीवरपूल (इंगलैण्ड) और राइनलैण्ड (जर्मनी) आदि के लोहे और कोयले के उद्योग, भारत के औद्योगिक क्षेत्र ।

११. सेंटलारेन्स के किनारे कनाडा तथा नारवे और स्वीडेन के निवासियों के लकड़ी और कागज के कारखाने । जल-विद्युत । कनाडा और साइबेरिया के लकड़ी चीरने, समूर इकट्ठा करने और चमड़ा कमाने के धन्धे।

१२ मानव की भौगोलिक परिस्थितियों पर विजय के कुछ उदाहरण-सहारा के मरुस्थल को हरे-भरे मरुद्यान में परिवर्तित करने का प्रयास, साइबेरिया में आइस-ब्रेकर, उर्वरक के प्रयोग तथा जलवायु के अनुकूली-करण-द्वारा कृषि फार्म और फलोद्यानों का विस्तार ।

च-यातायात के साधन और मार्ग

उद्योग-धन्धों की भौगोलिक एकदेशीयता के कारण—आवश्यकतापूर्ति के लिए-विनिमय और व्यापार की आवश्यकता के हेतु व्यापार-मार्गों का विकास ।

१ व्यापार के स्थल मार्ग-प्राचीन काल की सड़कें—बैलों, ऊँटों और खच्चरों के कारवाँ-बैलगाड़ी, रथ, घोड़ागाड़ी, इक्का, ऊँटगाड़ी आदि का प्रयोग ।

२ जलमार्ग—नदी और समुद्र के मार्ग-नाव, स्टीमर, जहाज आदि का आविष्कार और विकास ।

३ वायुमार्ग—हवाई जहाज का आविष्कार तथा उसका यात्रियों और माल ढोने में प्रयोग ।

४ प्राचीन और आधुनिक संसार के व्यापार-मार्गों का सर्वेक्षण—

ग्लोब का अध्ययन—जल और स्थल वितरण—महासागर और महाद्वीप—समुद्र, खाड़ी और द्वीप—उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव ।

५ मानव की प्राकृतिक परिस्थितियों पर विजय का प्रयास अन्तरिक्ष यात्रा । ●

मुझे धेला दीजिए

•

काका कालेलकर

मैं मराठी पाठशाला में पढ़ने जाता था। शायद मैं दूसरी कक्षा में पढ़ रहा था। रामभाऊ गोडबोले नामक एक लड़का हमारे साथ था। एक दिन उसने मुझसे पूछा—"क्यों रे कालेलकर, तेरे पास कुछ पैसे हैं?"

मैंने अनमने भाव से जवाब दिया—"ना भाई, एक दिन मैं लिमये के यहाँ गया था। वहाँ मिठाई खाने के लिए मुझे आठ आने मिले थे। वे पैसे मैंने तुरत घर में दे दिये थे।"

रामभाऊ कहने लगा—"तो उससे क्या हुआ? वे पैसे कहलायेंगे तो तेरे ही। माँ से माँग लेना। हम बाजार से कुछ अच्छी खाने की चीज खरीदेंगे।"

मैंने आश्चर्य से कहा—"हम क्या शूद्र हैं, जो बाजारू चीज खायेंगे?'

तो वह खीझकर कहने लगा—'तू तो कुछ समझता ही नहीं। पैसे तो ले आ, फिर तुझे सिखाऊँगा कि पैसे का क्या करना है। तेरे पैसे तुझे न मिलें, इसका क्या मतलब?"

मुझे बाजार से कोई चीज खरीदकर खाने की इच्छा तो बिलकुल न थी, लेकिन घर से मैं पैसे नहीं पा सकता, यह बात दोस्तों के सामने कैसे कबूल की जा सकती थी, इसलिए मैंने हाँ कह दिया। फिर भी रामभाऊ बड़ा खुर्राट था। उसने कहा—"देख, माँ ने यदि पैसे देने से इनकार किया तो रो धोकर ले लेना।"

इतनी सीख से सुसज्जित होकर मैं घर गया। दूसरे दिन सबेरे माँ के पास पैसे माँगने गया। मेरे पैसे मुझे क्यों न मिलें, यह भूत तो दिमाग में घुसा ही था, लेकिन आठ आने माँगने की हिम्मत कौन करे? मैंने सिर्फ एक धेला माँगा। यह सिक्का आजकल दिखाई नहीं देता। माँ ने कहा—"बेटा, मैं भी अपने पास पैसे नहीं रखती, तुझे कहाँ से दूँ? 'उनसे' जाकर माँग लेना।"

मैं सीधा पिताजी के पास गया और कहने लगा—"मुझे एक धेला दीजिए।"

उन्हें आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूछा—"तुझे धेला किसलिए चाहिए?"

मैं बड़े सकट में फँस गया। दोस्त का नाम तो बताया ही कैसे जा सकता था? फिर रामभाऊ ने मुझे यह ताकीद कर दी थी कि भूलकर भी मेरा नाम किसी से मत बताना। न यह ही कहा जा सकता था कि बाजार की चीज लेकर खानी है। उससे आबरू जाने का डर था। इसलिए मैंने बिना कोई कारण बताये सिर्फ यह रट लगायी—"मुझे धेला दीजिए।"

पिताजी ने साफ-साफ कह दिया कि जिस काम के लिए धेला चाहिए, वह बताये बगैर धेला तो क्या, एक पाई भी नहीं मिल सकती।

मैंने भी हठ पकड़ा। सिखाये मुताबिक मैंने रोना शुरू किया—"मुझे धेला दी जि ए।" रोना सबेरे से ग्यारह बजे तक जारी रखा। कुछ दिन पहले मेरी छोटी भाभी ने मेरी माँ से पूछा था—"पिताजी को तनख्वाह कितनी मिलती है?" माँ ने कहा था—"दो सौ रुपये।" दस वर्ष की भाभी का कुतूहल जगा। "दो सौ रुपये कितने होते होंगे?" माँ ने बहू की इच्छा पूरी करने के लिए पिताजी को खास तौर से कहा था कि "इस महीने नोट न लाइए, सब नकद रुपये ही

छाइए।" जब रुपये आये तब एक चाँदी की थाली में भरकर माँ ने मामी को बताया था। उस घटना का स्मरण हो आने से मैंने मन में कहा—"पराये घर की मामी के लिए ये लोग इतना करते हैं और मुझे एक धेला भी नहीं देते।"
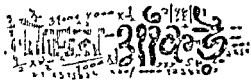
पिताजी दफ्तर गये और मैं रोते रोते सो गया। शाम हुई। पाँच बजे पिताजी घर आये। उन्हें देखकर मैंने फिर शुरू किया—'मुझे धेला दीजिए।" यह 'धेला गान' रात के दस बजे तक चला। आखिर मेरी इच्छा के बिना और अचानक नींद ने मुझे घेर लिया और इस किस्से का अन्त हो गया।

दूसरे दिन पिताजी के भय से पाठशाला गया और रामभाऊ को मैंने सारी हकीकत कह सुनायी तथा उसका तिरस्कार प्राप्त किया।

नौ बजे हमें पेशाब की छुट्टी मिलती थी। उस वक्त विश्वनाथ वकील नामक एक लड़का मेरे पास आया। उसका चेहरा अभी भी नजर के सामने है। उसने मुझे एकतरफ बुलाकर कहा—"भाई, कल से तेरे और रामभाऊ के बीच, जो बात चल रही है, वह मैं सुन रहा हूँ। रामभाऊ बदमाश लड़का है। तू उसकी सोहबत न कर।"

विश्वनाथ की शिक्षा का मुझपर बहुत असर हुआ। मैंने रामभाऊ की संगत छोड़ दी। आज जब सोचता हूँ, तो लगता है कि तीसरी कक्षा में पढ़नेवाले विश्वनाथ की शिक्षा उसके खुद के अनुभव की तो हो ही नहीं सकती, कहीं से सुना या पढ़ा हुआ ही उसने मुझसे कहा होगा। अपनी शिक्षा का पूरा अर्थ भी वह शायद न जानता हो, लेकिन उसकी श्रद्धा सच्ची थी। इसलिए उसकी बात का असर मुझपर पड़ा। वह विश्वनाथ आज भी मेरी नजर के सामने ताजा है। मेरे भले विश्वनाथ 'तू कहाँ है क्या करता है, यह मैं नहीं जानता लेकिन तूने मेरे जीवन पर एक ही क्षण में, जो प्रभाव डाला है उसके लिए तू नमन के योग्य है।●

?

एक प्रश्नचिह्न

अपने अपने धर्म का तहे दिल से पालन करनेवाले दुनिया में कितने होंगे, कितने हैं इसका हिसाब कहाँ से मिलेगा? अपने अपने धर्म का अभिमान रखकर दूसरे धर्मवालों से होड़ में उतरनेवाले धर्मावलम्बियों की तादाद ही आजकल गिनी जाती है।

दुनिया के उपलब्ध आँकड़े इकट्ठा करके हिसाब करने में योरप और अमरिका के लोग बड़े ही कुशल होते हैं। ये हैं उनके आँकड़े—

सब तरह के ईसाई	कुल	७६ कोटि	२ लाख
मुसलमान	कुल	४० कोटि	२० लाख
हिन्दू	कुल	२० कोटि	७८ लाख
बौद्ध	कुल	१६ कोटि	८० लाख
यहूदी	कुल	१ कोटि	२० लाख
विभिन्न आदिवासी	कुल	१० कोटि	
चीनी कन्फ्युशियस	कुल		३० लाख
धर्म निरपेक्ष कम्युनिस्ट	कुल	करीब	१ लाख

हमारे हिन्दू लोग अगर मानें कि मुसलिम, ईसाई और बौद्ध सबके सब हमारे दुश्मन हैं तो उनकी संख्या कुल मिलाकर १३३ कोटि होगी। देश के स्थानीय झगड़ों से चिढ़कर १३३ कोटि मानव को दुश्मन बनाने में न है राजनीतिक हित और न है आध्यात्मिक उत्कर्ष।●

इस स्तम्भ के अन्तर्गत हम बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी जिज्ञासाओं के उत्तर प्रकाशित करते रहेंगे। –शिरीष

नयी तालीम की कसौटी

•

धीरेन्द्र मजूमदार

प्रश्न–बापू ने स्वावलम्बन को नयी तालीम की कसौटी कहा है, लेकिन दुर्भाग्यवश स्वावलम्बन की दिशा ही साफ नहीं हो पायी। आज के सन्दर्भ में आप प्राइमरी पाठशालाओं से स्वावलम्बन की कैसी और कितनी अपेक्षा रखते हैं, स्पष्ट करने की कृपा करेंगे।

उत्तर–बापूजी ने जो कहा था कि स्वावलम्बन नयी तालीम की कसौटी है, वह उन्होंने इसलिए कहा था कि बिना स्वावलम्बन के राष्ट्रीय शिक्षण सम्भव नहीं है। हर एक मनुष्य की स्थिति इन तीन में से एक होती है–१ नौकरी करने की स्थिति, २. मजदूर खटाकर मुनाफा खाने की स्थिति, और ३ अपने श्रम से स्वावलम्बी जीवन बिताने की स्थिति।

आज सारे विश्व के विचारक मजदूर खटाकर मुनाफा कमाने की स्थिति से इनकार करते हैं। अतः इस समाजवादी युग में प्रत्येक मनुष्य को दो में से एक पेशे में लगना होगा–नौकरी में, या स्वावलम्बन में। स्पष्ट है कि राष्ट्र का अति अल्पसंख्यक ही नौकरी में लग सकता है, और अत्यधिक बहुसंख्यक को उत्पादक वर्ग में ही रहना होगा। अगर पूरे राष्ट्र को शिक्षित करना है तो शिक्षा का संयोजन इसी बहुसंख्यक को दृष्टि में रखकर करना होगा। नहीं तो वह राष्ट्रीय शिक्षा नहीं होगी, एकवर्गीय शिक्षा होगी।

अतएव, पूरे राष्ट्र की शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए, जिससे शिक्षित वर्ग को स्वावलम्बी जीवन के लिए आत्मविश्वास तथा मानसिक समाधान हो सके। यह तभी होगा, जब शिक्षा-पद्धति को ही स्वावलम्बन के आधार पर संयोजित किया जाय।

जब आप प्राथमिक शाला की बात करते हैं तो पहले यह समझने की आवश्यकता है कि प्राथमिक शाला किस वर्ग तक को कहते हैं? बापू की बुनियादी शाला और आज की प्राथमिक शाला में फर्क है।

बापूजी ने कक्षा १ से ८ तक की एक इकाई मानी थी। यह इकाई स्वावलम्बन तथा शिक्षण दोनों दृष्टि से आवश्यक है। बापूजी का हिसाब यह था कि शिक्षक और शिक्षार्थी अपनी-अपनी उम्र के हिसाब से उत्पादन का काम करेंगे। निचली कक्षाओं के बच्चों को स्वावलम्बन में विशेष मदद नहीं होगी। इनकी कमी ५ से ८ तक के बच्चे पूरी कर लेंगे, अर्थात् पूरी इकाई यानी ८ कक्षाओं के औसत उत्पादन से शाला स्वावलम्बी होगी, ऐसा हिसाब था। आज की ५ साल की प्राथमिक शाला में यह हिसाब बैठ नहीं सकेगा, इसलिए वह शाला स्वावलम्बी नहीं होगी। अगर ठीक से चलाया जाय तो उसमें इतना ही होगा कि बच्चों के स्कूल की वर्दी और नाश्ता के लिए कुछ फल-सब्जी मिल सकेगी।

दूसरी बात यह है कि बुनियादी शाला तभी स्वावलम्बी होगी जब शिक्षण-कला, उत्पादन की प्रक्रिया के समवाय में विकसित हो सकेगी, अर्थात् उत्पादन की प्रक्रिया के माध्यम से शिक्षा का आयोजन होगा, न कि उत्पादन के साथ पढ़ाई का। उत्पादन के साथ पढ़ाई में बच्चों के लिए उत्पादन-कार्य नीरस होगा और उसके साथ पढ़ाई अलग बोझ-रूप बन जायगी। फलस्वरूप उत्पादन में से कोई निष्पत्ति नहीं निकलेगी।

प्रश्न–प्राइमरी पाठशालाओं में कताई-बुनाई को मुख्य उद्योग के रूप में रखा गया था, लेकिन उसमें सफलता नहीं मिली; क्यों ?

उत्तर-सफलता इसलिए नहीं मिली कि शिक्षा-जगत में उसे सफल करने का इरादा ही नहीं था। राष्ट्रीय अर्थनीति केन्द्रीय औद्योगीकरण के आधार पर बने और शिक्षा-नीति कताई-बुनाई के आधार पर संगठित हो, यह चल नहीं सकता। इस विसंगति के लिए राष्ट्रीय प्रेरणा सम्भव नहीं है। शिक्षा-नीति जिस उत्पादन की प्रक्रिया के माध्यम से बने, अर्थनीति भी उसी प्रकार के उद्योग के आधार पर संगठित हो, तभी शालाओं का उत्पादन वास्तविक हो सकेगा, और तभी वह स्वावलम्बन का माध्यम बन सकेगा। इतना ही नहीं, बल्कि इसके बिना उत्पादन ज्ञान-प्राप्ति का जरिया भी नहीं बन सकेगा।

प्रश्न–क्या आप मानते हैं कि आज के सन्दर्भ में प्राइमरी पाठशालाओं में मुख्य उद्योग के रूप में कताई-बुनाई ही चलनी चाहिए ? एक बार आपने चर्चा के दौरान खेती को मुख्य उद्योग के रूप में अपनाने की बात रखी थी। तो क्या ऐसी स्थिति में कताई-बुनाई को पूरक उद्योग के रूप में रखने की आपकी कल्पना है ?

उत्तर–बुनियादी शिक्षा राष्ट्रीय उद्योग के माध्यम से होनी चाहिए, यह स्पष्ट है। कृषि-मूलक ग्रामोद्योग-प्रधान उद्योग-नीति ही इस देश में सफल हो सकती है। अत. कृषि-मूलक-ग्रामोद्योग प्रधान उत्पादन-पद्धति ही बुनियादी शाला का माध्यम बन सकती है। चूँकि वस्त्रोद्योग ग्रामोद्योग की बुनियाद है, इसीलिए उसकी प्रधानता मानी गयी।

कताई-बुनाई को इसलिए भी रखा गया था कि उसे शाला के हाते के अन्दर आसानी से संगठित किया जा सकता है। प्रारम्भ के लिए वह ठीक था, लेकिन अब शाला के साथ कृषि और बागबानी को जोड़ना आवश्यक होगा। वस्त्रोद्योग के सिवाय दूसरा उद्योग इतना व्यापक नहीं होगा कि सबको दिया जा सके, लेकिन उत्तर बुनि-*यादी तथा उत्तम बुनियादी के स्तर पर विशिष्ट विषय के* रूप में दूसरे उद्योगों को लिया जाना चाहिए।

प्रश्न–कृषि को मूल उद्योग बनाने के सम्बन्ध में *आपके क्या सुझाव हैं–शिक्षकों के लिए, जनता के* लिए, सरकार के लिए, और बच्चों के लिए ?

उत्तर–कृषि मूल उद्योग हो, उसके लिए पहली आवश्यकता यह है कि शिक्षक कृषि विज्ञान में दक्ष हो। इतना ही नहीं, वरन शिक्षण-कार्य प्रारम्भ करने के पहले वह खेती में इतना अभ्यास कर ले कि समुचित साधन मिलने पर स्वावलम्बी बनने के लिए उसमें आत्मविश्वास हो, ताकि छात्रों के सामने समुचित उदाहरण पेश कर सके। छात्रों में कृषि कार्य में दिलचस्पी होनी चाहिए। यह दिलचस्पी तभी पैदा हो सकेगी, जब शिक्षक और माता-*पिता उन्हें इस दिशा में प्रोत्साहित करेंगे। प्रोत्साहित* करने का तरीका यह है कि वे अपने उदाहरण से बच्चों में यह धारणा पैदा करें कि खेती प्रतिष्ठित काम है।

जनता को बच्चों के शिक्षण के लिए अपनी-अपनी जमीन में से हिस्सा निकालकर शाला को समर्पित करना होगा। साथ ही समाज में इस मान्यता का वातावरण तैयार करना होगा कि चूँकि कृषि इस देश का मुख्य धन्धा है, इसलिए देश की मुख्य प्रतिभा को इसी काम में लगना चाहिए।

सरकार को राष्ट्र की अर्थनीति में कृषि-विकास के काम का महत्व मुख्य है, ऐसा मानना चाहिए। शिक्षा-नीति में भी कृषि तथा उद्योगों को प्रधान स्थान देना होगा।

शिक्षण संस्थाओं के लिए वैज्ञानिक ढंग से चलने-वाले तथा आकर्षक औजार मुहैया करने पड़ेंगे। बच्चों के लिए तथा शिक्षण की दृष्टि से *अलग से कृषि-औजार की विशेष प्रयोगशाला का संचालन करना होगा,* ताकि औजार आनन्ददायक बनें, जिसमें शिक्षार्थी को काम में दिलचस्पी पैदा हो, क्योंकि जिस काम में दिल-चस्पी पैदा ही नहीं होगी, उसके लिए जिज्ञासा पैदा नहीं हो सकती, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। प्रत्येक शिक्षक जानता है कि जिज्ञासा ज्ञान की जननी है। ●

कटौती से बचायी गयी रकम सुरक्षा के अन्य विकसित साधनों में खर्च की जायगी।

शान्ति-समाचार

● मास्को

रूस के प्रधान मंत्री श्री कोसीजिन ने १० दिसम्बर को रूस के अगले बजट पर भाषण देते हुए बताया कि अगले वर्ष के रूस के सैन्य बजट में ५० करोड़ रूबल्स की कटौती की गयी है। उन्होंने यह भी घोषणा की कि अमेरिका भी अपने १९६५-६६ के सैनिक व्यय में कमी करने का इरादा रखता है। श्री कोसीजिन ने कहा कि सैनिक बजटों में वार्षिक रूप से जो कमी की जाती है; उसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुधार की दृष्टि से भारी महत्त्व है।

● वाशिंगटन

१३ दिसम्बर को अमेरिका के सुरक्षा मंत्री श्री रावर्ट मेकनमारा ने सेना और नेशनल गार्ड के पुनर्गठन की घोषणा करते समय बताया कि वे सैनिकों की संख्या में डेढ़ लाख की कटौती करके सुरक्षा बजट में २ अरब डालर (लगभग १० अरब रुपये) की कमी करेंगे। सैनिकों की संख्या की इस कटौती से बचायी गयी रकम सुरक्षा के अन्य विकसित साधनों में खर्च की जायगी।

● मैण्ट्रियल

कैनेडा में नये पैसीफिस्ट ग्रुप (शान्तिवादी समुदाय) का गठन कैनेडा के मैण्ट्रियल नगर में विभिन्न क्षेत्रों से लगभग ३० प्रतिनिधियों ने एकत्र होकर तीन दिनों तक की चर्चा के बाद रैडिकल पैसीफिस्ट (उग्र शान्तिवादी) नामक संगठन खड़ा किया। यह संगठन कैनेडा में अहिंसात्मक क्रान्ति के लिए आन्दोलन चलायेगा। इसने समाज-रचना और सैनिकवाद के विरोध को अपने कार्यक्रम का मुख्य अंग माना है।

इस सम्मेलन की घोषणा में कहा गया है कि अब ऐसी परिस्थिति बन गयी है कि मानवता पर आधारित ऐसे शान्तिवादी समुदाय की स्थापना की जा सकती है, जो न केवल सैनिकवादी हिंसा; बल्कि समाज में प्रचलित हर तरह की हिंसा से अपने को विमुख रख सके।

इस सम्मेलन में अमेरिका के प्रसिद्ध शान्तिवादी नेता श्री ए. जे. मस्ते भी विशेष वक्ता के रूप में शरीक हुए थे।

● बर्लिन

दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में फैली फौजी हथियारों की होड़ और कई ढंग से इस्तेमाल होनेवाले आणविक आयुधों के खतरे से चिन्तित यॉरप के १२ देशों के १४० कैथोलिक पादरी और सामान्य लोग पिछले नवम्बर में बर्लिन में इकट्ठा हुए। विभिन्न देशों के पारस्परिक विश्वास और आपसी समझौतों के आधार पर ही दुनिया में स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती है, यह उनकी मान्यता थी। उस सम्मेलन में मुख्य रूप से सबका ध्यान इस समस्या पर केन्द्रित था कि जो शक्तियाँ दुनिया की शान्ति भंग करने में लगी हुई हैं उनका सामना कैसे किया जाय? ●

अब गाँव 'में' नहीं गाँव 'का' काम

•

रामभूर्ति

प्रश्न—आपने कहा था कि सबसे पहले गाँव-गाँव में ऐसे लोगों को मिलाकर, जिनमें ग्राम भावना है, नये जमाने की कुछ सामाजिक चेतना है, इकाई (सेल) बनानी चाहिए। बताइए तो, इस इकाई के जिम्मे काम क्या होगा ?

उत्तर—यह इकाई वह काम करेगी, जो दूध में जामन करता है।

प्रश्न—लेकिन गाँव के जीवन का दूध इतना ठण्डा है कि वह विकास का जामन लेने के लिए तैयारी नहीं है।

उत्तर—आपका कहना सही है, इसलिए पहला काम यही है कि दूध में गरमी पैदा की जाय।

प्रश्न—बताइए कैसे ?

उत्तर—देखिए, जो दो-तीन लोग कुछ करने को तैयार हों, वे आपस में बैठें, चर्चा करें, और तय करें कि गाँव के लिए कौन-सा ऐसा काम किया जाय, जिसका प्रभाव गाँव के हर परिवार पर पड़े—छोटा-से-छोटा और गरीब-से गरीब परिवार भी छूटने न पाये।

प्रश्न—गाँव में कोई भी काम करने की कोशिश हो, अधिकांश लोगों को कोई रुचि ही नहीं होती।

उत्तर—यह एक बुनियादी बात है। स्कूल, पुस्तकालय, कुआँ, बाँध, आदि जितने काम हैं वे गाँव में होते हैं, गाँव के नहीं होते। यही कारण है कि गाँव के सब लोगों पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रश्न—बात साफ नहीं हुई। क्या स्कूल, पुस्तकालय या सिंचाई का प्रबन्ध सबके लिए नहीं है ?

उत्तर—मान लीजिए, पुस्तकालय बनता है। सौ में अस्सी लोगों को पुस्तकालय में क्या रुचि होगी ? स्कूल के लिए भी गाँव के गरीबों, मजदूरों आदि को क्यों उत्साह होगा ? उसी तरह सिंचाई आदि के लिए कुआँ बनेगा तो उन्हीं लोगों को तो फायदा होगा, जिनके पास खेत होगा। इसी तरह गाँव में होनेवाला हर काम गाँव के कुछ लोगों का होकर रह जाता है, पूरे गाँव को छूता नहीं, तो पूरे गाँव को क्यों उत्साह हो ?

प्रश्न—यह सवाल बड़ा टेढ़ा है। ऐसा कौन काम होगा, जिससे सबको लाभ होगा और जिसमें सबका सहयोग होगा ?

उत्तर—एक मिसाल लीजिए। गाँव का हर आदमी कोई अपवाद नहीं है—कपड़ा पहनता है। मान लीजिए, आपके गाँव में पाँच सौ आदमी हैं। अगर एक आदमी साल में अधिक नहीं, औसत २० रुपये का भी कपड़ा पहनता हो तो पूरा गाँव साल भर में कपड़े पर ५०० × २० यानी दस हजार रुपये खर्च करता है। खर्च करने का अर्थ है कमाई के पैसे का गाँव के बाहर जाना, यानी गाँव हर साल दस हजार रुपये का गरीब हो जाता है।

प्रश्न—लेकिन जब कपड़ा पहनना है तो खरीदना ही पड़ेगा। उपाय क्या है?

उत्तर—मैं यह कह रहा हूँ कि जो उपाय हर व्यक्ति का बीस रुपये साल बचा सकेगा उसमें सबकी रुचि हो सकती है। इसी तरह अगर पुलिस और अदालत से मुक्ति का कोई उपाय हो तो सबको प्रभावित करेगा। कोई उपाय भूमिहीनों को जमीन दिलाने का हो तो सबसे निचले व्यक्ति को भी उत्साह होगा। मुख्य बात ध्यान में रखने की यह है कि कार्यक्रम ऐसा हो, जिसमें हर व्यक्ति के लिए स्थान हो, जो हर एक की शक्ति के अन्दर हो, और जिसमें गाँव के लोग परस्पर एक-दूसरे के लिए कुछ कर सकें। अब तक की विकास-योजनाओं में न सबके लिए स्थान रहा है, और न परस्पर एक दूसरे के लिए कुछ करने की प्रेरणा रही है, और न वे गाँव की शक्ति और अभिक्रम से शुरू ही हुई हैं। उन्हें गाँव अपनी नहीं मानता।

प्रश्न—बात समझ में तो आती है, लेकिन समझ में नहीं आता कि यह सधेगा कैसे? दिखाई नहीं देता कि कहाँ शुरू किया जाय और कैसे? आज हालत यह है कि अगर कोई आदमी परिवार से आगे बढ़ेगा तो जाति की सोचेगा, अपने दल का सोचेगा, अपनी भाषा, धर्म और राज्य की सोचेगा। यह भी हो सकता है कि देश की सोचे, लेकिन परिवार से ऊपर उठकर गाँव की बात सोचनेवाले अत्यन्त कम लोग हैं। और, जो हैं भी, वे दूसरे लोगों को विश्वास कैसे दिलायें कि उनके मन में नेकनीयती और सामूहिक हित की भावना है। आपस में अविश्वास इतना है कि लोग उनकी बात और काम को सन्देह की निगाह से ही देखेंगे। और, यह भी है कि गाँव में कौन ऐसा है, जो मालिक और मजदूर, गरीब और अमीर, छूत और अछूत, हिन्दू और मुसलमान, तथा एक जाति और दूसरी जाति को एक सूत्र में बाँधने को तैयार है? समता तो जैसे हमारे खून में ही नहीं है।

उत्तर—बात बिलकुल ठीक है, इसीलिए अब स्थिति ऐसी नहीं है कि गाँव गाँव में प्रचलित ढंग के एक-दो कल्याणकारी काम करके बहुत कुछ असर पैदा किया जा सके। जरूरत है एक ऐसे आन्दोलन की, जो देश के जीवन में मन्थन पैदा कर दे। गाँवों की जिन इकाइयों की हमने पहले चर्चा की है वे उसके साथ जुड़कर ही कारगर हो सकती हैं। अब 'गाँव के काम' का सचमुच अर्थ है गाँव के सम्पूर्ण समाज की शक्ति को प्रकट करना। अभी तक समाज में राज्य की, बन्दूक की शक्ति ऊपर है, अब लोकतन्त्र में लोक की शक्ति को ऊपर करना है।

प्रश्न—कहाँ है देश में इस तरह का आन्दोलन? अपनी योजनाएँ तो पचायत, स्कूल और कोआपरेटिव के आगे भी कुछ सोचती हैं, ऐसा दिखाई नहीं देता। आप जिसे 'गाँव का काम' कहते हैं, उसका कोई चित्र मौजूदा योजनाओं में नहीं मिलता, और जाहिर भी है कि गाँव को टुकड़ों में बाँटनेवाली ग्राम-पचायतों से नहीं हो सकता। उसके लिए कुछ दूसरा ही करना पड़ेगा। लेकिन क्या?

उत्तर—आपने ठीक सोचा है। मैं कहूँगा कि गाँव का काम सर्वोदय का काम है—सर्व की सम्मति से, सर्व की शक्ति से, सर्व के लिए होनेवाला काम।

प्रश्न—सर्वोदय का नाम तो मैंने सुना है। क्या इसमें ये सब बातें हैं? •

(क्रमश:)

शिक्षा शास्त्री परिचय

आशादेवी आर्यनायकम्

•

मनुभाई पण्डित

गांधी युग के रचनात्मक सेवकों में श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम का स्थान पहली पाँत में है। ये हैं तो बंगाल की लेकिन इनका जन्म हुआ है लाहौर में। इनके पिताजी का नाम था श्री फणिभूषण अधिकारी और माताजी का श्रीमती सरजूबाला देवी।

इनके पिताजी ने शुरू में कुछ सालों तक दिल्ली में प्रोफेसरी की। वहीं स्वर्गीय डा० एनीबेसेण्ट के साथ उनकी जान-पहचान हुई और वे दिल्ली से बनारस आ गये। फिर हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और श्री फणिभूषणजी वहीं दर्शन और तत्त्वज्ञान के अध्यापन का काम करने लगे।

आशादेवी का बचपन कुछ तो लाहौर में और अधिक बनारस में बीता। बँगला उन्होंने अपनी माँ से सीखा। उनकी पढ़ाई बचपन से ही तेजस्वी रही। वे हर साल इनाम जीततीं और छात्रवृत्तियाँ प्राप्त करतीं। संगीत सिखाने के लिए घर पर ही एक शिक्षक बराबर आते थे।

गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ अधिकारी परिवार का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। आशादेवी के पिताजी का निवृत्त जीवन वहीं बीता। उन दिनों गुरुदेव यौरप यात्रा के लिए निकलनेवाले थे। शान्ति निकेतन में उस समय ऐसी कोई बहन न थीं जिन्हें वहाँ का सारा काम सौंपकर गुरुदेव निश्चिन्त हो पाते। अतएव निकेतन के महिला विभाग और शिशु विभाग के संचालन के लिए आशादेवी को बनारस से शान्ति निकेतन बुला लिया गया।

अपनी यौरप यात्रा के दिनों में गुरुदेव की निगाह एक तेजस्वी युवक पर पड़ी जो उस समय वहाँ पढ़ रहा था। गुरुदेव ने उसे ठीक तरह से पहचान लिया। कुछ समय तक उसे अपने साथ रखा और फिर बुला लिया शान्ति निकेतन में। ये ही थे हमारे आर्यनायकमजी। बाद में गुरुदेव ने ही आशादेवी का विवाह आर्यनायकमजी के साथ कराया। फिर यह दम्पति वहीं काम करने लगा।

कुछ ही दिनों में आशादेवी वहाँ इतनी सब प्रिय हो उठीं कि छोटे बड़े सभी उन्हें दीदी कहने लगे। यहाँ तक कि स्वयं गुरुदेव भी उन्हें दीदी ही कहते थे। शान्ति निकेतन का वातावरण अत्यन्त सरस मधुर और तपोवन तुल्य था। फिर भी आशादेवी के हृदय में एक खटका सा बना रहता था।

उन्हीं दिनों गांधीजी ने देश के सामने शिक्षा सम्बन्धी अपने विचार रखने शुरू किये थे। गांधीजी की उस विचारधारा ने इस युगल को अपनी ओर खींचा। इसने अनुभव किया कि शिक्षा का दूध तो देश के सभी बालकों के लिए सुलभ होना चाहिए। शान्ति निकेतन में धीरे धीरे धनवानों के ही बालक आने लगे थे। इसके कारण वहाँ शिक्षा ही नहीं जीवन का स्तर भी ऊँचा उठ रहा था। गरीब विद्यार्थियों के लिए वहाँ कोई स्थान न था। फलत एक दिन यह युगल गांधीजी के पास पहुँचा। गांधीजी ने दोनों की शक्ति को परख लिया और इन्हें उपयुक्त काम सौंपा।

सारे देश में बुनियादी शिक्षा के प्रयोग शुरू हो गये। उन्हें व्यवस्थित रूप देने के लिए हिन्दुस्तानी तालीमी-संघ की स्थापना हुई। डा० जाकिर हुसैन उसके अध्यक्ष बनाये गये। श्री आर्यनायकमजी और आशादेवी ने संघ का मन्त्रि-पद सँभाला।

उन्हीं दिनों सेवाग्राम-आश्रम में कोई करुण घटना घटी वो वह थी आशादेवी के एकमात्र पुत्र आनन्द की मृत्यु। आर्यनायकमजी प्रवास में थे और आशादेवी बापू के पास गयी थीं। बालक आनन्द ने सूने में पड़ी एक शीशी में से दाबकर के पुटवाली कुनैन की गोलियाँ निकालीं और करीब मुट्ठीभर खा गया। फिर क्या था? सारे शरीर में विष फैल गया और हँसता खेलता बालक आनन्द बात-की-बात में सदा के लिए सो गया। आज उन्हें मिता नाम की एक लड़की मात्र है।

आशादेवी को बचपन से ही गाने और कविता करने का शौक था। और, अपनी इसी भावना को उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया। इससे उन्हें अतुल बल मिला और वे एक सन्तान की माँ न रहकर अनेक अनेक सन्तानों की माँ बन गयीं। सेवाग्राम का सारा समाज उन्हें 'माँ' कहकर पुकारने लगा। उनका मातृ-प्रेम भी अद्भुत ही है। उनके निकट पहुँचकर सब मातृत्व का ही अनुभव करते हैं। दुख में आश्वासन देना, निराशा में धीरज बँधाना, हतोत्साहों में नये उत्साह का संचार करना, यही सब उनका नित्य कार्य रहा है।

आशादेवी जब कक्षा में पढ़ाने बैठती थीं तो वहाँ भी उनकी अपनी एक अलग विशेषता प्रकट होती थी। कक्षा में उनकी बातें इतनी रोचक हुआ करती थीं कि विद्यार्थियों को यह लगता ही न था कि वे कक्षा में बैठकर कुछ पढ़ रहे हैं। सभी ऐसा अनुभव करते थे— मानो घर में ही बैठे हैं और माता-पिता के साथ बातचीत कर रहे हैं। वातावरण कुछ ऐसा बनता था—मानो माँ अपने बेटों को सच्ची सलाह दे रही हो। उनके प्रवचनों में हमें सतत् प्रेम-पूर्ण और अनुभव सिद्ध वाणी की गूँज सुनने को मिलती थी।

आशादेवी अपने सेवाग्राम-जीवन में इतनी व्यस्त रहतीं कि समय कैसे बीत जाता, उन्हें पता तक न चलता। ढेरों चिट्ठियों का जवाब समय से देतीं, आने-जानेवाले देशी-विदेशी अतिथियों को सन्तुष्ट करतीं, और नयी तालीम पत्रिका के सम्पादन में हाथ बँटातीं।

● एक दिन की बात है कि आशादेवी भोजनालय से अपने घर की तरफ आ रही थीं। इतने में एक नन्हें बालक ने उन्हें पुकारा—माँ। बच्चे की पुकार सुनकर वह तुरत लौट पड़ीं। लेकिन, बालक तो अपनी मौज में था। उन्हें बार-बार वापस बुलाने में उसे मजा आ रहा था। इसलिए ज्यों ही वह कुछ दूर चली जातीं, बालक उन्हें फिर पुकारता, और अपनी तरफ बुला लेता। इस तरह उस दिन उसने आशादेवी को सात बार बुलाया और वह सातों बार लौट-लौटकर उसके पास पहुँचीं। बालक के प्रति उनका प्रेम कुछ ऐसा ही है।●

सारे देश में नयी तालीम का प्रचार और प्रसार करने में उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। भूदान के काम में भी उन्होंने कम योग नहीं दिया है। कक्षाओं में बैठकर विविध विषयों की चर्चा करना, उत्सवों के आयोजन में रस लेना, रवीन्द्र-संगीत सिखाना, और छोटे छोटे बाल-गोपालों की छोटी मोटी शिकायतें सुनना और उनका हल निकालना, उनकी दैनिक दिनचर्या का अंग बन गया था। सवेरे चार बजे से लेकर रात के ग्यारह बजे तक रोज यही चक्र चलता रहता।

राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में उनकी वर्षों पुरानी सेवाएँ भुलायी नहीं जा सकतीं। तालीमी संघ के आरम्भ से ही वे उसके मंत्री का काम करती रहीं। संकट के समय अपनी शक्तिभर देश की मदद करने में वे कभी पीछे न रहीं। देश के विभाजन के बाद उन्होंने शरणार्थियों के बीच काम किया। सरकार ने उनकी सेवाओं का सम्मान करते हुए उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि देनी चाही, पर उन्होंने बड़ी ही विनम्रता से राष्ट्रपति को इनकार लिख भेजा और कहा—"सेवा हमारे समान सेवकों के लिए तो जीवन की एक साधना है, धर्म है और है कर्तव्य। उसका पुरस्कार क्या?" देश में आशादेवी पहली महिला हैं, जिन्होंने सरकार की दी हुई उपाधि को इस तरह लौटा दिया।

इस समय वे सेवाग्राम में नयी तालीम के पूर्व-बुनियादी से लेकर उत्तम-बुनियादी तक के पूरे शिक्षण क्रम का समग्र चित्र प्रस्तुत करने के महान प्रयास में अपने पति का हाथ बँटा रही हैं।

आशादेवी ने अपने जीवन से भारतीय नारी के आदर्श को पुनः प्रतिष्ठित किया है। उनकी-सी विद्वत्ता, विनम्रता और वत्सलता आज तो विरल ही है। उनके बारे में सहज ही कहा जा सकता है कि यदि कहीं गुरुदेव और गांधीजी के संस्कारों का सुभग मिलन देखना हो तो आशादेवी को देखिए। उन्होंने अपने जीवन में इन दोनों विभूतियों के उत्तम गुणों को मूर्तिमान किया है।

जीवन में सत्य, शिव और सुन्दरम् की उपासना करनेवाली आशादेवी सचमुच ही एक कल्याणमयी माँ हैं, और हैं एक महान साधिका और महान शिक्षक। ●

अनु०—काशिनाथ त्रिवेदी

कन्या-शिक्षा की समस्याएँ

●

वच्चन पाठक 'सलिल'

आज देश में कन्या-पाठशालाओं और महिला-महाविद्यालयों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है, यह हर्ष की बात है। लेकिन, हमें सोचना होगा कि नारी-शिक्षा के नाम पर केवल संस्थाओं की संख्या बढ़ाने से ही लाभ न होगा, बल्कि तत्सम्बन्धी समस्याओं पर गहराई से विचार भी करना होगा।

हमारा ध्यान आकृष्ट करनेवाली सबसे पहली समस्या है—कन्या शिक्षा का पाठ्यक्रम क्या हो? क्या चालू पद्धति की तरह गणित, अंग्रेजी, हिन्दी, सामान्य-विज्ञान आदि की शिक्षा देकर कन्या शिक्षा के प्रति हम अपना दायित्व पूरा मान लें? क्या लड़कों और लड़कियों के लिए एक ही शिक्षा पद्धति श्रेयस्कर है? क्या हम चाहते हैं कि स्कूलों और कालेजों से निकलनेवाली लड़कियाँ क्लर्क, टाइपिस्ट तथा स्टेनो बन जाने को ही शिक्षा का चरम उद्देश्य समझ लें?

आज नयी रोशनी के कुछ अन्ध समर्थक बहुत जोर से कहते हैं कि स्त्रियों और पुरुषों में कुछ भी अन्तर नहीं है। लड़कों और लड़कियों को एक ही विषय पढ़ाये जायें। लड़कियों के लिए भी परेड और सैनिक-शिक्षा

अनिवार्य रखी जाय। जहाँ तक महत्व का प्रश्न है, स्त्री और पुरुष दोनो समान हैं। दोनो के संयुक्त प्रयास से ही समाज का चालन सम्भव है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि दोनों एक ही काम करें। कान और आँख–दोनों ही शरीर के महत्वपूर्ण अवयव हैं, हालांकि कान सुनता है और आँखें देखती हैं।

बिहार के विद्वान राज्यपाल श्री अनन्तशयनम्-आयंगर का कहना है—'बालकों और बालिकाओं का शारीरिक गठन भिन्न है, उनकी प्रवृत्तियाँ अलग-अलग हैं तथा उनमें कुछ मौलिक अन्तर हैं। लडकियो के लिए भी खेलो की व्यवस्था हो, मैं उसका विरोध नहीं करता; पर एन॰ सी॰ सी॰ को अनिवार्य करने की बात मेरी समझ में नहीं आती। उनके लिए तो संगीत और नृत्य ही अनिवार्य होने चाहिए।'

आज हमारा राष्ट्र संकट की घडियो से गुजर रहा है। यों भी हम एक विकासोन्मुख राष्ट्र के निवासी हैं। स्त्रियो का निर्माण-क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान है, लेकिन स्त्रियाँ केवल सैनिक या इजीनियर बनकर ही नहीं, अपितु नर्स, डाक्टर और शिक्षिका बनकर भी अपेक्षाकृत अधिक सफलता के साथ राष्ट्र की सेवा कर सकती हैं।

हाई स्कूल स्तर तक बालिकाओ का पाठ्यक्रम अलग होना चाहिए। गणित, विज्ञान, भूगोल, अर्थशास्त्र-जैसे विषय ऐच्छिक रहने चाहिए। निश्चय ही मिडिल तक इनका प्राथमिक ज्ञान उन्हें मिल जायगा। प्राथमिक शरीर तथा स्वास्थ्य विज्ञान, नर्सिंग, पाक विज्ञान, गृह प्रबन्ध आदि की शिक्षा अनिवार्य कर देनी चाहिए। कालेजों में भी गृह-विज्ञान (व्यावहारिक सहित) अनिवार्य रखना चाहिए।

कुछ ऐसी प्रतिभाशालिनी छात्राएँ हो सकती हैं, जो इजीनियर ही बनना चाहें। उन्हें उस प्रकार की सुविधाएँ दी जायें, पर इसका साधारणीकरण उचित नहीं।

मेरे एक अमेरिकन मित्र श्री कोवाल्स्की का कहना है कि अमेरिका-जैसे उन्नत पाश्चात्य देश में भी स्त्रियों की सेवाएँ जन स्वास्थ्य एवं शिक्षा के लिए अन्य विभागो की अपेक्षा अधिक तरजीह पाती हैं।

आजकल के बालिका-विद्यालयों की शिक्षिकाओं की वेश भूषा तथा उनका रहन-सहन भी एक समस्या ही है। शिक्षिकाएँ ऐसी हों, जिनके जीवन और आचरण से बालिकाओं को आदर्श जीवन की प्रेरणा मिले, उनमें फैशन की सक्रामक बीमारी न फैले। वे स्वेच्छा से शिक्षिका, नर्स या गृहिणी होना पसन्द करें। जो शिक्षिका स्वयं अपने अभावों की चर्चा कर अतृप्ति का दर्शन छात्राओं के बीच करती हैं, क्या वह उन्हें महान बना पायेगी?

सह शिक्षा की बहस अब पुरानी पड गयी है। जिन छोटे-छोटे कस्बों में स्वतत्र बालिका विद्यालय न खुल सकें, वहाँ सह-शिक्षा चलायी जा सकती है। लडकियो को कुछ विषय अलग से पढाने की व्यवस्था की जा सकती है।

आज हमारा सामाजिक जीवन इतना विशृंखलित हो गया है कि नगरो में बालिकाओं का विद्यालयों में जाना दिन-प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है। गुण्डागर्दी की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। इस ओर सामाजिक नेताओं, अभिभावकों तथा सरकार का सयुक्त प्रयास अपेक्षित है।

गन्दे पोस्टरो की बाढ को रोकना होगा, और रोकना होगा सिनेमा के पिछले और गन्दे प्रचार को, छात्राओ में आत्म विश्वास जगाना होगा तथा उन्हें प्राचीन भारत के महिला रत्नो की गाथाएँ सुनानी होंगी। तभी आज की बालिकाएँ कल की आदर्श देवियाँ बन सकेंगी।

आज युग की माँग है कि पश्चिम का अन्धाधुन्ध अनुकरण करने के बजाय हम कन्याओं के मन-प्राण में महाकवि प्रसाद का यह सन्देश पहुँचा दें—

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग-पग-तल में,
पीयूष स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में।

शुरुआत कहाँ से होगी ?

एक माह हुए मेरा तबादला गाँव के प्राइमरी स्कूल से तहसीली मिडिल स्कूल में हो गया है। शीलाजी ने तो इसे कालीमाई की असीम कृपा समझा और वह अगली रामनवमी को पूजा का विशेष आयोजन भी करने वाली हैं।

अपनी तरक्की से कौन खुश नहीं होता साहब! लेकिन, क्या करूँ लिखते हुए कुछ झिझक सी हो रही है। बात यों है कि जब से यहाँ आया हूँ रह रहकर मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है, जैसे हमारी जिन्दगी कुछ बाजारू हो रही है। गाँव की सीमित आवश्यकताओं वाला तृप्त मन धीरे धीरे पीछे छूट रहा है और तहसील की असीम माँगें पेश करनेवाला कोई अतृप्त मन हमारे जीवन की इस छोटी सी परिधि में घुसता आ रहा है।

यहाँ आने के एक सप्ताह बाद ही शीलाजी की माँग हुई—एक जोड़ी बारीक और रंगीन साड़ियों की। उनका कहना था कि पैबन्द लगी साड़ी पहनकर वे पड़ोसिनों की महफिल में मास्टरजी का सिर नीचा नहीं कर सकतीं। दूसरे हफ्ते 'टी सेट' की फरमाइश हुई। गँवार की तरह भेली और दाने से आखिर कबतक काम चलता ? और, अब तो साहबजादे भी जरा रुआब गालिब करना चाहते हैं। नंगे पाँव स्कूल जाने में तौहीन महसूस करते हैं, बिना क्रीज के कपड़े पहनने में उन्हें शर्म आती है, गाँव का गुल्ली-डण्डा छूट गया, अब तो अगले महीने की तनख्वाह मिलने की देर है, हाकी का एक बैट खरीदकर ही मानेंगे। पिछली रात तो उन्हें टूटी खाट और गन्दे गूदड़ पर नींद ही नहीं आयी, रात भर करवटें बदलते रहे।

दिन ढल चुका है। बच्चे अपने अपने घरों को खेल के मैदान से लौट रहे हैं। होली के दिन करीब हैं, हलका हलका गुलाबी जाड़ा अब भी है, लेकिन मैं बाहर कुरसी पर पड़े पड़े शाम की मायूसी का मजा ले रहा हूँ। अकेला हूँ शायद इसीलिए बार-बार ऐसा लग रहा है कि मेरे जीवन की रेलगाड़ी किसी मोड़ से गुजर रही है। मैं इंजिन के पासवाले डब्बे में बैठे बैठे अन्तिम डब्बे तक को स्पष्टता से देख रहा हूँ।

'ऐ दरीवाले ! यहाँ आना।' क्या करूँ साहब, जी नहीं मानता। एकलौते बेटे को हमेशा खुश देखने की तमन्ना कोई गुनाह तो है नहीं ! मैं एक गरीब अध्यापक हूँ तो क्या, मेरे खूबसूरत सपने भी गरीब ही रहें ? जेब से पैसे खर्चने पड़ते हैं तो थोड़ी तकलीफ होती है, भविष्य की चिंता होने लगती है, लेकिन शीलाजी की एक हलकी सी मुसकान या सत्य के एक क्षण की उछाह-भरी लतीफ जिन्दगी में सब कुछ भूल जाता हूँ।

'अजी, ओ दरीवाले ! सुनते नहीं क्या ?' अजीब बात है। एक मुरझायी सी नजर से इधर देखकर, वह अपनी राह चला जा रहा है जैसे कुछ सुना हो, लेकिन जिस पर ध्यान देने की जरूरत ही न हो।

'अरे, समझ क्या रखा है दरीवाले नवाब ! बुलाने पर आते क्यों नहीं ?' मैं जरा जोर से अपनी मास्टरी आवाज में पुकारता हूँ।

तीसरी पुकार सुनकर सिर पर रंगबिरंगी दरियों का गट्ठर लादे दो तीन कन्धों पर पीठ पर फैलाये वह फेरीवाला आहिस्ते से आकर सामने की मेज पर गट्ठर रख देता है। फिर लखनवी लहजे में एक-एक की तारीफ करते हुए दिखाया जा रहा है, और मेरा दिल कीमतें सुन सुनकर बैठता जा रहा है।

'कौन-सी पसन्द आयी मास्टरजी ?' वह धीमी और स्थिर आवज में पूछता है।

'अभी तो सिर्फ देखने के लिए ही बुलाया था जी, तुम यहीं रहते हो न ? तनख्वाह मिलेगी तो एक मुन्ने के लिए खरीदूँगा।'—बुझी-सी उमग के साथ मैं कह रहा हूँ।

'मैं जानता था मास्टरजी, इसलिए नहीं आ रहा था।'

'क्या जानते थे ?'

'क्योंकि मैं भी कभी शिक्षक था। अपने बच्चों की जरूरतें पूरी करने के लिए इसी प्रकार मैं भी तडपता रहता था। आखिर इस तग जिन्दगी से ऊबकर इस्तीफा दे दिया। अब मैं दरियो के गट्ठर सिर पर रखे दिन भर राह की धूल फाँकता हूँ, लेकिन अब बीबी-बच्चो की अहक पूरी करने के लिए तरसना नही पडता। तीन साढे तीन सौ रुपयो की कमाई हो जाती है, मजे में गुजारा हो जाता है। बडा लडका बी० एच० यू० में पढ रहा है, मझली लडकी की शादी में पिछले साल पौन चार हजार के लगभग खर्च किया था। मिनहत की जिन्दगी में मास्टरजी, इज्जत थोडी कम जरूर है, लेकिन जिन्दगी की घुटन नहीं है।

'अच्छा, अब चलता हूँ। जब भी दरी लेनी हो' मुझे पुकार लीजियेगा। इसी रास्ते शाम को अकसर गुजरता हूँ। आपको मूल कीमत में ही दे दूँगा।'

वह जा रहा है गठरी सिर पर रखे, दरिया का लबादा आढ़े, शायद मेरे चेहरे पर अपनी सख्त हथेली की एक चपत जडकर। मैं उसे एकटक देख रहा हूँ आँखों से ओझल होने।

मेरे कदम बढ रहे हैं घर की ओर। मन में उथल-पुथल है, कौन सा प्रश्न अधिक महत्व-पूर्ण है—भारत के भविष्य का निर्माण अथवा अपनी अभिलाषाओं की तृप्ति ?

'कहाँ जा रहे हैं मास्टर साहब, खोये-खोये-से ? आइए चाय पी ली जाय।' मेरा साथी शिक्षक न जाने किधर से आकर मेरे कन्धे पर हाथ रखे चाय की दुकान की ओर बढ़ रहा है, मैं उसका साथ दे रहा हूँ ?

'कैसे गुमसुम हो रहे हो यार। माजरा क्या है ?'—चाय पीते पीते साथी पूछ रहा है।

'कुछ नही, यो ही जरा ' ''।' मैं जल्दी-जल्दी चाय पीकर कुल्हड उधर फेंकता हूँ।

'अरे यह क्या ?' चिथडो में लिपटी काली, गन्दी एक मानव-छाया कुछ आगे बढती है। उसकी सूखी हड्डियों-वाली उँगलियाँ फेंका हुआ कुल्हड थामे हैं, सडक के किनारे की अत्यन्त गन्दी नाली का थोडा पानी उसमें लेकर उसमें लिपटी चाय के बूँ की घोल तैयार करके गटागट पी रही है। मैं उसी समय दौडकर उसके हाथ से कुल्हड झटककर फेंक देने की सोचता हूँ कि तब तक वह खुद ही कुल्हड खाली कर फेंक देती है, तृप्ति की डकार लेकर आगे बढ जाती है।

मैं गुमसुम घर की ओर जा रहा हूँ। मालूम हो रहा है कि नाले का गन्दा पानी किसी ने जबरदस्ती मेरे हलक के नीचे उतार दिया है। मुझे उबकाई आ रही है।

मन की उलझन बढ गयी है। सोच रहा हूँ—भारत के भविष्य का निर्माण अधिक महत्व रखता है, लेकिन उसकी शुरुआत कहाँ से होगी ? ●

सुनो-गुनो

वाराणसी से निकलनेवाला 'नवोदितों का प्रतिनिधि पाक्षिक' 'सुनो गुनो' का पहला अक गणतत्र दिवस के पावन अवसर पर सामने आया है। इस प्रयास के लिए पत्र के सम्पादक द्वय को बधाई।

वार्षिक शुल्क : ३ रुपये
एक प्रति · १५ पैसे

—मानव मन्दिर
२०।५२ कालभैरव, वाराणसी

●

नयी तालीम पत्रिका की जानकारी

फार्म रूल, ४८

प्रकाशन का स्थान	वाराणसी
प्रकाशन-काल	मासिक
प्रकाशक का नाम	श्रीकृष्णदत्त भट्ट
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	'नयी तालीम' मासिक, राजघाट, वाराणसी
मुद्रक का नाम	मित्र प्रेस, ए १०।२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी
सम्पादक का नाम	धीरेन्द्र मजूमदार
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	'नयी तालीम' मासिक, राजघाट, वाराणसी
पत्रिका के मालिक	सर्व-सेवा संघ (सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट १८६० के सेक्शन २१ के अनुसार रजिस्टर्ड सार्वजनिक संस्था)

मैं श्रीकृष्णदत्त भट्ट, यह विश्वास दिलाता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार उपर्युक्त विवरण सही है। ● —श्रीकृष्णदत्त भट्ट

अनुक्रम

●

बच्चों के

लिए

हमारी चार नयी किताबें

१—बोलती कहानियाँ—विनोबाजी-द्वारा कही गयी २५ कहानियों का यह पहला संग्रह है। इसका दूसरा भाग शीघ्र ही निकलनेवाला है। यह संग्रह ४८ पृष्ठों का है। पूरी पुस्तिका आकर्षक चित्रों से सजी-सँवरी है। इसका मूल्य है मात्र—सवा रुपया।

२—खेल-खेल में सीखना—नाम से ही प्रकट है कि यह खेलों की किताब है। इसमें कुछ खेल अक्षरों के हैं, कुछ गिनतियों और कुछ शब्दों के। साथ ही इसमें कुछ खेल ऐसे हैं जिन्हें वे लड़के भी खेल सकते हैं, जो अभी पढ़ते लिखते नहीं। ६० पृष्ठों की इस पूरी किताब का मूल्य है मात्र—डेढ़ रुपया।

३—शहद का छत्ता—खरगोश, भालू, बन्दर आदि बच्चों के परिचित जानवरों के प्रतीक से कही गयी कहानी है। इस कहानी के माध्यम से बच्चों के मन में निर्भयता, क्षमा तथा पड़ोसी-धर्म का संस्कार डालने की दिशा में प्रयास किया गया है। १२ पृष्ठों की यह पुस्तिका दोरंगी छपी है। इसमें चित्रों की प्रधानता है। ये चित्र स्वयं कहानी बोलते हैं। इसका मूल्य है मात्र—एक रुपया।

४—क से कमला—इस किताब में कमला नाम की एक हठीली बच्ची की कहानी है, जो पढ़ने-लिखने के नाम से रोने लगती है। इस लड़की के सामने ऐसा वातावरण उपस्थित किया गया है कि वह स्वतः पाठशाला जाने लगी। यही इस किताब की खूबी है। १२ पृष्ठों की दोरंगी छपी इस किताब का मूल्य है मात्र—एक रुपया।

सभी पुस्तकों की साइज है—बीस × तीस आठपेजी।

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
फरवरी, १९६५ नयी तालीम रजि० सं० एल, १७२३

प्रमाण-पत्र मिल गया

भगवान कृष्ण १५ साल की उम्र तक खेतो में काम करते रहे, कुश्ती लडते रहे और मक्खन खाते रहे। बचपन में ही उन्होंने कस का वध किया।

कृष्ण के पिता को लगा कि उन्हे स्कूल में तो शिक्षा मिली ही नही। इसलिए उन्होने कृष्ण को महर्षि सन्दीपन के यहां पढने के लिए पहुँचा दिया।

कृष्ण वहाँ छ महीने रहे। इतने थोडे समय मे ही उनकी चतुराई देखकर सन्दीपन ऋषि आश्चय में पड गये। वे कहने लगे—"इसके पास जो ज्ञान है, वह तो मेरे पास भी नही है। इसने काम करते-करते ज्ञान सीखा है और मैंने पुस्तक पढते पढते।"

पुस्तक में लिखा है कि डरना नही चाहिए। लेकिन, जब साप दिखता है तो हम लोग डरते हैं और पुस्तक की लिखी बात भूल जाते है। यह कृष्ण तो सांप के सिर पर नाचनेवाला है।

सन्दीपन गुरु ने कृष्ण को छ महीने मे ही प्रमाण पत्र दे दिया।

—विनोबा कथित

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा-संघ की ओर से हिंद प्रेस प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—मण्डलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी

सर्व-सेवा-संघ का मासिक

बाल-शिक्षा की सुन्दर और सुदृढ़ नींव पर ही उच्च शिक्षा के अच्छे-से-अच्छे भवन का निर्माण किया जा सकता है। —आचार्य गिजु भाई
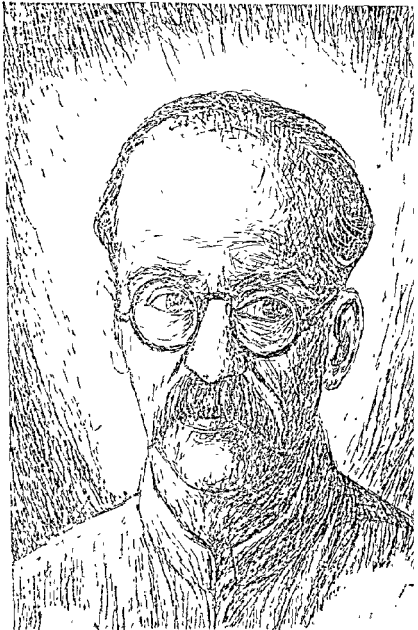
प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

वर्ष : १३ अंक : ८

मार्च, १९६५

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४ वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती हैं।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है।

वार्षिक चन्दा
६.००

एक प्रति
०.६०

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एव समाज शिक्षकों के लिए

हिन्द और हिन्दी

वर्ष : तेरह
●
अंक : आठ

एक

हम एक हुए तो स्वतंत्र हुए; अब स्वतंत्र होकर एक कैसे रहें, यह सवाल पैदा हो गया है। अभी हिन्दी अँग्रेजी को लेकर मद्रास में जो तोड़-फोड हुई, सरकारी आदमियों और सरकारी सम्पत्ति के साथ जो भयंकर कार्रवाइयाँ की गयीं उनके पीछे क्या इतना ही था कि मद्रास के विद्यार्थी हिन्दी नहीं चाहते थे ?

'तमिल जिन्दाबाद, हिन्दी मुर्दाबाद' 'अँग्रेजी सदा, हिन्दी कभी नहीं'– *जिन लोगों ने ये नारे लगाये उनके दिल और दिमाग कैसे हैं ? क्या वे दिल और दिमाग भारतीय नहीं हैं ? क्या उन्हें भारत की एकता की चिन्ता नहीं है ?*

हिन्दी का विरोध राजाजी करते हैं—क्यों ? हिन्दी को मानने के लिए द्रविड मुन्नेत्र कडगम तैयार नहीं है—क्यों ? विद्यार्थियों को हिन्दी से भय है—क्यों ? हिन्दी हिन्द को मिलानेवाली भाषा है, फिर भी उसका इतना विरोध क्यों है, और अँग्रेजी गुलामी की याद दिलानेवाली भाषा है, फिर भी उसका इतना चाव क्यों है ?

कहा जाता है कि हिन्दी के विरोध में वाणी राजाजी की है, संख्या डी० एम० के० (द्रविड मुन्नेत्र कडगम) की है; संगठन कम्युनिस्ट लोगों का है, पैसा मिल-मालिकों का है, और हाथ विद्यार्थियों का। निस्सन्देह इनमें से कोई भी अलग तोड फोड और [illegible] *चाहता; लेकिन जब*

चारों का अपना अपना क्रोध हिन्दी के सवाल पर मिल जाता है तो ऐसी हवा बनती है कि खून की धारा फूट पड़ती है। दिमाग में गरमी हो तो हाथ कब तक नहीं उठेगा? देखते-देखते भारत की एकता के रेशमी धागे के टूटने की नौबत आ जाती है। ऐसा लगने लगता है जैसे देश के सामने हिन्दी बनाम अँग्रेजी के सिवाय दूसरा कोई सवाल ही नहीं है। दुनिया कहाँ जा रही है, और हम कहाँ जा रहे हैं? और, भाषा का झगड़ा तब, जब सैकड़े पीछे अस्सी को अक्षर का भी ज्ञान नहीं है, और करोड़ों-करोड़ लोग भूख और बेकारी की चक्की में इस तरह पिस रहे हैं कि उन्हें दूसरी कोई चीज सोचने की फुरसत नहीं है।

राजाजी से पूछिए—'आप क्या चाहते हैं?' उत्तर देंगे—'भारत की एकता।' फिर पूछिए—'तो हिन्दी का विरोध क्यों करते हैं?' उत्तर देंगे—'भारत की एकता कायम रखनी है, तो अँग्रेजी को बनाये रखो।' 'तो आप हिन्दी चाहते ही नहीं?' 'नहीं' मैं विरोध हिन्दी का नहीं करता, हिन्दी को राजभाषा बनाने का करता हूँ।'

भारत का प्रेम राजाजी को राजभाषा हिन्दी का विरोधी बनाता है, और भारत का ही प्रेम हमें उसी राजभाषा हिन्दी का समर्थक बनाता है। यह विरोध क्यों? विरोध हिन्दी का नहीं है; विरोध है हिन्दी के राजभाषा होने का। यह विरोध किसी को गद्दार कहने से नहीं समझ में आयेगा; इसे समझने के लिए लाखों लोगों के दिलों और दिमागों में घुसकर देखना पड़ेगा कि उनमें क्या है; क्योंकि जो बाहर है वह महज भीतर की झलक है। किसी की नीयत पर शुबहा करके हम उसे अपनी तरफ नहीं खींच सकते; अपनी बात पर अड़कर बैठ जाने से हम कोई सवाल हल नहीं कर सकते। भारत का बड़प्पन यही है कि यह सबका है—हिन्दीवाले का, गैर हिन्दीवाले का; अँग्रेजीवाले का भी। इतना मानकर हमारा हर आपसी झगड़ा आपसी ढंग से हल होना चाहिए, नहीं तो हर मतभेद विवाद बनेगा; विवाद से विरोध होगा; और विरोध संघर्ष का रूप लेकर देश की एकता की जड़ों को हिला देगा।

दो

२६ जनवरी १९६५ को सरकार के फैसले के अनुसार हिन्दी इस देश की राजभाषा घोषित की गयी, और यह भी कहा गया कि जब तक अहिन्दी राज्य हिन्दी को मान नहीं लेंगे तब तक हिन्दी के साथ-साथ अँग्रेजी भी बनी रहेगी, ताकि हिन्दी के कारण किसी व्यक्ति या राज्य को कोई दिक्कत न हो। घोषणा में यह छूट थी कि जो राज्य चाहे अपना काम अपनी भाषा में चलाये या अँग्रेजी में, एक राज्य दूसरे राज्य को अँग्रेजी में लिखे या अपनी भाषा में लिखकर साथ में अँग्रेजी का अनुवाद भेजे। भारत सरकार के बारे में यह कहा गया कि अहिन्दी राज्य उसे बराबर अँग्रेजी में लिखते रहें, और खुद भारत सरकार के काम में अँग्रेजी का इस्तेमाल पहले की तरह होता रहे। इतना ही नहीं हुआ कि हिन्दी भारत सरकार की भाषा घोषित की गयी;

बल्कि यह भी हुआ कि मद्रास में तमिल, बंगाल में बँगला, गुजरात में गुजराती, यानी जिस राज्य में जो भाषा ज्यादा चलती है उसे वहाँ की राजभाषा होने की छूट मिल गयी।

२६ जनवरी सचमुच इस देश की सभी बड़ी भाषाओं को अँग्रेजी की गुलामी से मुक्ति का दिन था। जो काम १९४७ को ही हो जाना चाहिए था वह इतने वर्षों बाद २६ जनवरी १९६५ को हुआ। मद्रास के लोगों को खुशी होनी चाहिए थी कि मद्रास से अँग्रेजी गयी, और उसकी जगह तमिल आयी, लेकिन तमिल की खुशी से अधिक उन्हें रंज इस बात का हुआ कि दिल्ली में हिन्दी आ गयी, यद्यपि अँग्रेजी गयी नहीं। ऐसा क्यों हुआ? इस व्यवस्था में ऐसी कौन-सी चीज थी, जिसके कारण अहिन्दी लोगों के मन में भय हुआ? गांधीजी के जमाने में उनकी प्रेरणा से दक्षिण के लोगों ने हजारों की संख्या में हिन्दी सीखी थी और बराबर सीख रहे थे, और विनोबाजी अपनी पदयात्रा में हर जगह प्रार्थना प्रवचन हिन्दी में ही देते हैं, जिसका अनुवाद स्थानीय भाषा में होता है। गांधी और विनोबा की हिन्दी का कभी किसी ने विरोध नहीं किया, लेकिन वही हिन्दी जब राजभाषा हुई—अँग्रेजी को हटाकर नहीं, उसे रखकर तो उपद्रव हुआ और कहा गया—'यह उत्तर की भाषा है, हमारे ऊपर लादी जा रही है; इसे हम नहीं बरदाश्त करेंगे।'

विद्यार्थियों को भय हुआ कि भारत सरकार की नौकरियों में हिन्दी के कारण उनकी कठिनाई बढ़ जायगी; क्योंकि अँग्रेजी तो सबके लिए समान रूप से सरल या कठिन है; लेकिन हिन्दी जिनकी मातृभाषा है उनके लिए तो सरल ही-सरल होगी। हिन्दीवालों का काम दो भाषाएँ सीखने से चल जायगा; लेकिन उन्हें तीन भाषाएँ सीखनी पड़ेंगी—अपनी भाषा, अँग्रेजी और हिन्दी।

राजाजी और डी० एम० के० को यह भय हुआ-नया भय? नहीं, बहुत दिन पहले से था-कि हिन्दी पटरानी हो गयी तो दूसरी भाषाएँ रानियाँ होकर रह जायँगी, और हिन्दीवालों का दर्जा देश में अहिन्दी लोगों के मुकाबले ऊँचा रहेगा। उत्तरवालों का यह बड़प्पन दक्षिणवाले क्यों मानें? हिन्दी भाषा या हिन्दी साहित्य में ऐसा कौन सा गुण है कि उसे राजभाषा बनाया जाय? अँग्रेजी दुनिया की एक बड़ी भाषा है; अँग्रेजी ऐसी खिड़की है, जिसके द्वारा हम दुनिया को देखते हैं। अपने देश के हर राज्य में इसे बोलने और समझनेवाले लोग हैं; गुलामी के दिनों में इसने हमें एक करने का इतना बड़ा काम किया, तो क्या कारण है कि ऐसी भाषा को छोड़ा जाय और हिन्दी को राजभाषा होने का गौरव दिया जाय? ज्यादा-से-ज्यादा यही तो कहा जा सकता है कि हिन्दी बोलने और समझनेवालों की संख्या सबसे अधिक है; लेकिन इतने से क्या हुआ? इस तरह का तर्क है राजाजी का, और वह कहते हैं कि अगर दिल्ली के कानून से हिन्दी राजभाषा बनाकर दक्षिण पर लादी गयी तो भारत की एकता खतरे में पड़गी, जिसकी जिम्मेदारी उत्तरवालों पर होगी। 'एकता के लिए अँग्रेजी'—यह राजाजी का नारा है।

डी० एम० के० बहुत पहले से द्रविड़िस्तान का नारा लगाता रहा है। उसे भी हिन्दी के राजभाषा होने में दक्षिण पर उत्तर-द्वारा दमन दिखायी देता है; लेकिन उसकी माँग राजाजी की तरह केवल अंग्रेजी की नहीं, उसकी माँग है कि भारत की सभी मुख्य भाषाएँ, जो संविधान में हैं, राजभाषाएँ मानी जायँ; कोई भी एक भाषा अलग न की जाय। हर राज्य-सरकार अपनी भाषा में लिखे, और दिल्ली में काम-काज की सुविधा के लिए हर भाषा में अनुवाद का प्रबन्ध किया जाय। डी० एम० के० मानता है कि समता और एकता के लिए इतनी कीमत चुकानी ही पड़ेगी।

कम्युनिस्ट लोग भारत को एक राष्ट्र नहीं मानते; बल्कि यह मानते हैं कि भारत अनेक राष्ट्रों का भाई-चारा है, जिसमें हर 'राष्ट्र' की अपनी भाषा और संस्कृति है, जो सब समान हैं; इसलिए हर 'राष्ट्र' को छूट होनी चाहिए कि वह भारत के दूसरे 'राष्ट्रों' के साथ रहे या अलग हो जाय। बहुभाषी भारतीय संघ की कोई एक राजभाषा न हो; उसकी केन्द्रीय सरकार और अखिल भारतीय व्यवहार के लिए हिन्दुस्तानी (यानी सरल हिन्दी) मान्य हो। लेकिन, उनका कहना है कि पार्लियामेंट में, जो कानून पास होंगे सब भाषाओं में प्रकाशित किये जायँ; राज्यों को छूट हो कि वे अपनी ही भाषा में दिल्ली सरकार को पत्र लिख सकें; पार्लियामेंट में सदस्य अपनी भाषा में बोल सकें; नौकरियों की परीक्षाओं में विद्यार्थी अपनी भाषा में लिख सकें; लेकिन हिन्दुस्तानी सबको आनी चाहिए।

पूँजीपति हर चीज को बाजार और मुनाफे की दृष्टि से देखता है। हमारा राज्य, हमारी भाषा, हमारा बाजार—यह तरीका मुनाफे पर जीनेवालों के सोचने का होता है। उसके लिए 'हिन्दी मुर्दाबाद' के नारे का अर्थ होता है उसका तमिल राष्ट्र, और तमिल राष्ट्र में उसका तमिल-बाजार। इसलिए वह उस नारे का समर्थन करता है। आज के जमाने में हर सवाल में राजनीति और व्यवसाय इस तरह मिले हुए हैं कि यह कहना कठिन है कि किसकी किस राय के पीछे क्या नीयत है। हर एक अपना मौका देखता है और आग में घी डालने के लिए तैयार रहता है। नेता मनुष्य को बस वोटर मानता है, व्यापारी कस्टमर (गाहक) और सरकार टैक्सपेयर (करदाता)। मनुष्य को मनुष्य मानकर सोचनेवाले कितने हैं? लेकिन हम देखते हैं कि जब तक हम मनुष्य को मनुष्य मानकर नहीं सोचेंगे हमारा कोई सवाल सही और स्थायी तौर पर हल नहीं होगा। केवल पैबन्द लगाने से एक सवाल हल होता दिखायी देता है तो दो पैदा हो जाते हैं।

तीन

पूरे देश की एक भाषा हो; और अलग अलग क्षेत्रों की अपनी अपनी भाषाएँ हों, यह केवल इसीलिए नहीं सोचा गया था कि सरकार का काम चले और ज्यादा से ज्यादा लोगों को शासन और शिक्षा की दृष्टि से सुविधा हो; बल्कि सबसे अधिक इस बात की जरूरत महसूस की

गयी कि कश्मीर से केरल तक और गुजरात से नेफा तक देश के करोड़ों लोगों का दिल जोड़नेवाली एक भाषा होनी चाहिए। कोई कहीं चला जाय, भाषा के कारण अपने को परदेशी न महसूस करे। ऐसी भाषा कौन हो? क्या अँग्रेजी क्या? अँग्रेजी किसी भी तरह हमारे देश की भाषा हो सकती है? यह ठीक है कि अँग्रेजी का आज बोलबाला है और अंग्रेजी-राज के जाने के बाद भी अंग्रेजियत का इतना असर है कि लोग अँग्रेजी से चिपके रहना चाहते हैं। यहाँ तक कि उत्तर प्रदेश में, जो हिन्दी का घर है, तीसरे दर्जे से अंग्रेजी पढ़ाई जा रही है और देश भर में बड़े लोग अपने बच्चों को ऐसे ही स्कूलों में भेजना चाहते हैं, जहाँ अंग्रेजी में पढ़ाई होती हो।

फिर भी, अंग्रेजी न हमारे देश की भाषा हो सकती है, न हमारे दिल की: और न अँग्रेजी में हमारा दिमाग ही चल सकता है। और अँग्रेजी जाननेवाले हैं कितने? पैंतालीस करोड़ के देश में मुश्किल से चालीस लाख। यह जरूर है कि ये चालीस लाख देश भर में फैले हुए हैं—सरकार में, बाजार में, स्कूल में, अदालत में, हर जगह इन्हीं का बोलबाला है। इन्हीं के हाथ में देश है। इतना होते हुए भी यह कहने की हिम्मत कोई नहीं कर सकता कि अँग्रेजी देश को जोड़नेवाली भाषा हो सकती है। हिन्दी का नाम इसीलिए आया, क्योंकि उसको बोलने और समझनेवालों की संख्या सबसे अधिक है—लगभग १७ करोड़। थोड़े प्रयत्न से यह संख्या तेजी से बढ़ सकती है। ऐसा कोई नहीं है, जो इन बातों को मानता न हो; लेकिन राजाजी और डी० एम० के० आदि का यह कहना है कि भारत सरकार कानून बनाकर हिन्दी को ऊंचा दर्जा न दे; अपनी शक्ति से वह जितना बढ़ सकती है, बढ़ने दे।

यह ठीक है कि अन्त में अगर हिन्दी टिकेगी तो अपनी ही शक्ति से टिकेगी; लेकिन सरकार विकास के जैसे और काम करती है उसी तरह वह राष्ट्रभाषा और राजभाषा का विकास करने का काम भी कर रही है, बल्कि शिकायत यह है कि उसे जितना करना चाहिए था उतना नहीं किया। स्वराज्य के बाद हिन्दी और हिन्दुस्तानियत की बातें चाहे जितनी हुई हों, लेकिन देश के जीवन की धारा अँग्रेजी और अँग्रेजियत की ही रही, और वह धारा जल्द खत्म होगी, इसके लक्षण भी नहीं दिखायी देते। स्वराज्य में लोकशक्ति जैसे खत्म हो गयी। हर सवाल राजनीति की सौदेबाजी का विषय बन गया। नेता और जनता के बीच का फासला इतना बढ़ता जा रहा है कि एक का दिल दूसरे के दिल से नहीं मिलता।

विनोबाजी ने साफ कह दिया है कि जो राज्य हिन्दी रखना चाहते हैं उनपर अंग्रेजी, और जो राज्य अँग्रेजी रखना चाहते हैं उनपर हिन्दी लादी न जाय। लादने का तो सवाल ही नहीं हो सकता। अब तो जो स्थिति बन गयी है उसमें दो ही रास्ते हैं—एक तो यह कि सरकार अपनी ओर से कुछ करना छोड़ दे, और दूसरा यह कि समझौते का कोई रास्ता निकाले, और कानून में ऐसी शर्तें रख दे कि किसी तरह का भय न रहे। सरकार ने समझौते का रास्ता पकड़ा है।

फरवरी के अन्त में दिल्ली में कांग्रेस के नेताओं और देश भर के मुख्य मंत्रियों की जो बैठक हुई उनमें यह तय हुआ कि हिन्दी राजभाषा मानी जाय, साथ ही हर राज्य को अपनी भाषा चुनने की छूट हो, और भारत-सरकार में अँग्रेजी और हिन्दी दोनों चलें। हाँ, दो बातें विशेष रूप से तय हुईं। भारत सरकार की नौकरियों में सब राज्यों का निश्चित हिस्सा रहे, और उनकी परीक्षाएँ सब भाषाओं में हों। ये बड़े बुनियादी निर्णय हैं; लेकिन क्या इस तरह के बँटवारे और सौदेबाजी से देश की एकता बढ़ेगी? हिन्दी को आगे बढ़ाने के लिए अगर ऐसे गलत काम करने पड़ें तो सोचना पड़ेगा कि हिन्दी को क्यों रखा? हिन्द ही नहीं रहेगा तो हिन्दी कहाँ रहेगी?

हिन्दी पूरे हिन्द की कैसे बनेगी? हम उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान या मध्यप्रदेश के लोग मद्रास, बंगाल या महाराष्ट्र के लोगों से यह नहीं कह सकते—'हिन्दी हमारी भाषा है, तुम्हें हमारी ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानना होगा।'

हमें सही अर्थ में हिन्दी को पूरे हिन्द की बनाना पड़ेगा। इसीलिए गांधीजी ने बरसों पहले हिन्दुस्तानी की बात कही थी। आज हम उसे 'भारती' कह लें, लेकिन उसका स्वरूप अखिल भारतीय ही होगा। भाषा सरल हो, जो शब्द जनता में चल पड़े हैं वे हटाये न जायँ, देश की सभी भाषाओं से अच्छे, चालू शब्द लिये जायं और जरूरत के अनुसार व्याकरण और लिपि आदि में भी कोई सुधार करना पड़े तो किया जाय—इन गुणों की भाषा को पूरा भारत जरूर स्वीकार करेगा। जो हिन्दी सबके लिए है, उसे सबकी होना चाहिए—उत्तर और दक्षिण की, पूरब और पच्छिम की, हिन्दू और मुसलमान की। कोई दिन आयेगा जब देश की एक भाषा के साथ साथ देश की एक लिपि होगी, यानी सब भाषाएं किसी एक लिपि में लिखी जायँगी, और तब हम देखेंगे कि सचमुच एक भाषा दूसरी से जितनी दूर दिखायी देती थी उतनी दूर है नहीं; लिपि और उच्चारण के कारण दूरी बहुत अधिक दिखायी देती है।

जो राज्य हिन्दी के कहे जाते हैं उनकी जिम्मेदारी बहुत अधिक है। आज हिन्दी का प्रश्न छिड़ गया है तो ऐसा लगता है कि हम सब हिन्दी के हो गये हैं; लेकिन हम अपने दिलों को टटोलें कि सचमुच बात क्या है। हमारी जबान पर हिन्दी कितनी है, और हमारे दिलों में हिन्द कितना है? हमारे स्कूलों में छोटे छोटे बच्चों को अँग्रेजी पढ़ायी जा रही है, हाई स्कूल और दूसरे इम्तहानों में लड़के सबसे अधिक अँग्रेजी में फेल हो रहे हैं, बाजार अँग्रेजी फैशन की अनावश्यक चीजों से भरे पड़े हैं, देश के विकास में विदेशी तरीके अपनाये जा रहे हैं, और ऐसा लगता है, जैसे देश दो हिस्सों में बंट गया है—एक अँग्रेजी का, अँग्रेजियत का और उन्नत; दूसरा देशी और गँवार। ऐसी हवा रहेगी तो हिन्दी कानून में रहेगी, जीवन में नहीं उतरेगी। हिन्दी केवल एक भाषा नहीं है, वह 'स्वदेशी' का प्रतीक है। ●

—राममूर्ति

6

सद्ग्रन्थों का प्रभाव

•

विनोबा

पुराने जमाने में जब गाँव स्वाधीन थे तब जमीन गाँव की मालिकी में थी। उसे कोई बेच नहीं सकता था। वैसे ही जैसे गाँव की कन्या, और हरि-कथा को कोई बेच नहीं सकता था। जमीन सबकी थी, इसलिए गाँव में समृद्धि थी। गाँव मे आवश्यक चीजें बनाने के उद्योग थे। स्कूल ग्राम-पंचायत की ओर से चलाये जाते थे। लोगों की जैसी इच्छा होती, वैसी तालीम दी जाती।

तालीम का रंग

तालीम का रंग कैसा था? जहाँ कीर्तिदास रहते वहाँ रामायण और जहाँ काशीराम रहते वहाँ महाभारत सुनाते। जैसा विद्वान वैसी तालीम। पढ़ना, लिखना और हिसाब करना, यह तीन चीजें सिखायी जाती थीं। विद्वानों के मुताबिक विशेष विशेष विद्या-विभाग थे।

उन दिनों विद्वान और ज्ञानी केवल शहरों में ही नहीं रहते थे। ऋषि, मुनि, तपस्वी और पण्डित छोटे-छोटे गाँवों में और खास कर नदी के किनारे रहते थे। वहाँ विशेष प्रकार का ज्ञान मिलता था।

उस समय कुछ लोग उत्तरावस्था में घूमते थे। वे चातुर्मास में कहीं एक जगह निवास करते थे। उस समय स्पेशल सेमिनार चलता था। घूमनेवाले लोग सारे भारत में घूमते थे। उन्हें भूगोल, जड़ी-बूटियों और सद्ग्रन्थों का ज्ञान रहता था। वे ग्रामीण लोगों को सुन्दर विचार सुनाने के लिए जाते थे।

आज सारी स्थिति बदल गयी है। अब (वैसी) ग्राम-सभा नहीं, गाँव में उद्योग नहीं, गाँव में सबकी अपनी जमीन भी नहीं, ज्ञानी और पण्डित तो देहात में आते ही नहीं, वे शहर में ही रहते हैं। इसलिए जो लोग कालेज में जा सकते हैं वे ही ज्ञान के द्वार पर पहुँच सकते हैं।

आज बंगाल में बीस प्रतिशत लोग पढ़े लिखे हैं। उनमें से दस प्रतिशत चार-पाँच क्लास तक ही पढ़े होंगे। जो अँगूठे के बदले हस्ताक्षर करते हैं, आज उनकी गिनती भी पढ़े लिखों में हो गयी है। अंग्रेजी में ज्यादा पढ़े लिखे को 'वेल रेड' कहते हैं। उस समय उसे 'बहुश्रुत' कहा जाता था।

पहले हर रोज हरि-कथा होती थी और पुराण-श्रवण होता था। इस श्रवण-व्यवस्था ने लोगों को ज्ञान दिया। इसलिए जो ज्यादा ज्ञानवाला होता, वह बहुश्रुत कहलाता था। देश की हर भाषा में रामायण, भागवत और महाभारत ग्रन्थ लिखे हुए हैं। इन ग्रन्थों के अध्ययन और श्रवण से सारा तत्त्व ज्ञान गाँवों में पहुँचा है। जो लोग पढ़ना लिखना नहीं जानते थे वे भी श्रवण से भारतीय तत्त्व ज्ञान समझ सकते थे।

तालीम का नया माध्यम

मैं पंजाब से एकाएक राजस्थान गया। वहाँ एक ऐसा गाँव मिला, जहाँ एक भी आदमी पढ़ा लिखा नहीं था। सभा में बहुत बड़ी संख्या में बहनें आयी थीं। वे नहीं जानती थीं कि यह भूदानवाला बाबा आया है। उन्हें न भूगोल का ज्ञान था, न इतिहास का। तेलंगाना क्या है और भूदान कैसे शुरू हुआ, इसका उन्हें पता नहीं था। मुझे लगा कि अब इन्हें कैसे समझाऊँगा? आखिर भारत के तत्त्व ज्ञान का आश्रय लिया। मैंने पूछा—'मरने के बाद क्या होता है?'

जवाब मिला–'दूसरा जन्म मिलता है।'

फिर पूछा–'कैसे मिलेगा?'

'भला काम किया तो भला जन्म मिलेगा और बुरा किया तो बुरा।'

'बुरे काम कौन कौन से हैं और भले कौन से?'

'चोरी करना बुरा काम है और गरीबों की मदद करना अच्छा।'

ऐसे सवाद से उन्हें भूदान की विचार धारा समझायी। प्रद्युदेश की सीमा पर ठीक इससे उल्टा अनुभव आया। असम और प्रद्युदेश की सीमा पर जंगल में एक गाँव है। वहाँ हमारी सभा में नागा लोग इकट्ठा हुए थे। उनकी भाषा ही दूसरी थी। हमने उनसे पूछा— मरन के बाद क्या होगा?

बोले–'क्या होगा, कुछ भी नहीं होगा।

मैं घबरा गया—'कुछ तो जरूर होगा। अगर भला काम करेंगे तो भला होगा और अगर बुरा करेंगे तो बुरा।'

फिर मैंने और भी बातें समझायीं लेकिन वहाँ कोई ज्ञानी नहीं था और ज्ञान की भूमिका भी नहीं थी। हमें मालूम हुआ कि वहाँ रामायण, महाभारत और भागवत-जैसे ग्रन्थ नहीं चलते।

ज्ञान प्रचार

रामायण, भागवत तथा महाभारत ग्रन्थों ने असाधारण ज्ञान प्रचार किया है। इनसे ब्रह्म विद्या का प्रचार हुआ है। ज्ञान, कर्म जन्म पुनर्जन्म मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आत्मा, प्राण ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय, आदि सभी परिभाषाएँ गाँव गाँव के लोगों को इन ग्रन्थों ने समझायीं। निद्रा, जागृति स्वप्न, पुनर्जन्म, कर्म का परिणाम, स्वर्ग नर्क की व्यवस्था, चौरासी लाख योनि, मनुष्य की विशेषता आदि सारी भाव धारा और तत्वज्ञान इन ग्रन्थों ने गाँव गाँव में पहुँचाया।

अंग्रेजी में आत्मा को 'सोल' कहेंगे या 'स्पिरिट', इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है, मगर भारत के अनपढ़ लोग भी इन सारी परिभाषाओं को समझ सकते हैं।

निष्ठा

एक बार एक मिशनरी आये। वे कहने लगे–'हिंदुस्तान के लोग अनेक भगवान को मानते हैं।' उस गाँव में कुछ बच्चे बैठे हुए थे। मैंने उनसे पूछा—'इस गाँव में कितने मन्दिर हैं?'

बोले–'पाँच—हनुमान का, देवी का, विष्णु का और गणेश तथा शंकर का मन्दिर है।'

हमने पूछा–'भगवान कितने हैं?'

जवाब मिला— एक।

छोटे छोटे बच्चे भी जानते हैं कि भगवान एक है। हमने उस मिशनरी से कहा कि आप यह मत समझना कि यहाँ के लोग अध्यात्म शून्य हैं, नर्क के अधिकारी हैं इन्हें खिस्त की कहानी सुनाओगे तभी इनका उद्धार होगा। इसी धर्म में रहकर गांधी गांधी बने और विवेकानन्द विवेकानन्द बन हैं। आप निरहंकार बनकर सेवा कीजिए। 'प्रीच लेस एण्ड प्रैक्टिस मोर'—यह बात हमने मिशनरी से कही।

गाँव के लोग आध्यात्मिक विद्या सम्पन्न हैं, लेकिन अब यह परम्परा टूट रही है। आजकल कुरान, भागवत, रामायण, बाइबिल आदि धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन नहीं होता। यह अच्छी स्थिति नहीं है। हर रोज शाम को हरि चर्चा होनी चाहिए।

एक निवेदन

'नयी तालीम' का आगामी जून-जुलाई का अंक संयुक्तांक होगा और विशेषांक भी। संयुक्तांक का मुख्य विषय होगा—भारत की राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप। लेखकों से अनुरोध है कि वे अपनी रचनाएँ मई के अन्त तक भेज देने की कृपा करें। —सम्पादक

हमारी शिक्षा-प्रणाली
के लिए
दार्शनिक आधार

●

डा० सम्पूर्णानन्द

स्वाधीनता के १७ वर्षों की अवधि में प्रतिरक्षा के अलावा किसी भी अन्य विषय की ओर इतना कम ध्यान नहीं दिया गया जितना शिक्षा की ओर। अभी तक इस दिशा में जो कुछ किया गया है वह अधिकतर पुस्तकीय व अव्यवस्थित प्रकृति का है, और उसपर गत दशाब्दों के ब्रिटिश शासन के प्रभाव का परिणाम है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली और हम

वर्तमान प्रणाली के प्रति आम तौर पर असन्तोष प्रकट किया गया है और इसे भारतीयों को राष्ट्र के सामाजिक व आर्थिक स्तर उठानेवाली कार्रवाइयों में महत्वपूर्ण भाग लेने के अयोग्य बनाने के उद्देश्य से जान-बूझकर गढ़ी गयी अत्यधिक किताबी करार दिया गया है। हमारे जिन राष्ट्रनेताओं ने इस विषय पर काफी विचार किया, इस शिक्षा व्यवस्था के प्रति उनका विरोध तो उनके अध्ययन का अनिवार्य परिणाम था, लेकिन अनेक अन्य लोगों का तत्सम्बन्धी विरोध सुविधा-जन्य नारेबाजी के अलावा और कुछ नहीं था। क्योंकि देश को जिन तकलीफों का सामना करना पड रहा है उनके लिए किसी-न-किसी को दोष दिया जाना जरूरी था और इस दृष्टि से शिक्षा-व्यवस्था ही आक्रमण का आसान लक्ष्य प्रतीत होती थी।

शैक्षिक सुधार और दिशा-दर्शन

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध बढता हुआ असन्तोष व्यर्थ नहीं गया। जनसाधारण के अज्ञान पर आधारित, किन्तु मुखर आन्दोलन और विशेषज्ञों की राय, ये दोनों परस्पर मिलकर इस क्षेत्र में कुछ सुधार लाने के कारण हैं। माध्यमिक विद्यालय और विश्वविद्यालय के बीच कुछ कक्षाओं का नव गठन हुआ। शारीरिक श्रम-सम्बन्धी कुछ ऐच्छिक विषयों को जोड़कर माध्यमिक विद्यालय के पाठ्यक्रम को उदार बनाया गया और कुछ नये प्राविधिक विद्यालयों की स्थापना हुई।

साफ जाहिर है, इन सुधारों से ज्यादा लाभ नहीं हुआ। गत १५ वर्षों में सभी स्तरों पर शिक्षा का काफी विस्तार हुआ, पर दिशा और सामान्य प्रवृत्ति में कोई ज्यादा परिवर्तन नहीं हुआ। वर्तमान केन्द्रीय शिक्षा मंत्री अपने गत्यात्मक व्यक्तित्व के कारण शिक्षा प्रणाली का जीर्णोद्धार करने के लिए उत्सुक हैं और निकट भविष्य में ही समग्र ढाँचे में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देंगे। अन्य देशों के अनुभवों के आलोक में 'पाठ्यक्रमों' को संशोधित किया जायगा और शिक्षण-पद्धति में सुधार होगा, अध्यापकों को ज्यादा वेतन मिलेगा और प्रतिभा-शाली छात्रों को हर तरह से प्रोत्साहन प्राप्त होगा। सभी राज्यों में उपलब्धि के स्तरों में पूर्वापेक्षा अधिक एकरूपता आयगी, हालांकि मुझे पूरी-पूरी आशा है कि

नीरस समानता थोपने की कोशिश नहीं की जायगी, अन्यथा राज्य-अधिकारी और शिक्षा शास्त्री नये-नये परीक्षणों के अवसर और उत्साह की भावना से वंचित हो जायेंगे। विज्ञान एवं प्रविधि पर बहुत ज्यादा बल दिया जायगा और इस बात पर ध्यान दिया जायगा कि छात्र हृष्ट-पुष्ट हों तथा उनमें ऐसी अनुशासन-भावना व्याप्त हो, जैसी सैनिक-प्रशिक्षण से प्राप्त होती है। यह भी माना जा सकता है कि मानवीय भावनाओं को, जो अभी तक पूर्णतः उपेक्षित रही है, उचित स्थान प्राप्त होगा और भारत का भावी नागरिक आधुनिक युग के प्रतियोगी समाज में अपने देश के तथा खुद अपने हितों की रक्षा करने में आधुनिक भारतीय नागरिक की अपेक्षा अधिक समर्थ होगा।

धर्म निरपेक्षता की अशुद्ध व्याख्या

ये सभी बातें सुनने-सुनाने में बहुत अच्छी लगती है, पर दुर्भाग्य से यही पर्याप्त नहीं है। मैंने आशा प्रकट की है कि भावनाओं को उचित स्थान प्राप्त होगा, पर प्रश्न यह है कि उनका उचित स्थान क्या है? आधुनिक शिक्षित भारतवासी में एक दोष है। उसे यह जानकर थोड़ा सन्तोष होता है कि संसार में उस-जैसे दुखी व्यक्तियों की संख्या कम नहीं है।

धर्म निरपेक्षता की हमारी गलत व्याख्या धर्म के प्रति विनोदात्मक घृणा के दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देती है। कालेजों व स्कूलों में धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है और हमारा समाज सदियों पुरानी परम्पराओं के प्रति, जिनका प्रतीक धर्म है, पूर्ण अज्ञान में पल-पनप रहा है। यदि भावी सन्तति धर्म के प्रति अज्ञान और तज्जनित धर्मविरोध के वातावरण में पले तो इसमें भावी अभिभावकों का कोई दोष नहीं होगा। अंधविश्वास और समाज विरोधी प्रवृत्तियों के मिश्रण के रूप में प्रस्तुत किये जाने के कारण ही धर्म अपने प्रति सम्मान की भावना जागृत नहीं कर पाता।

लोकतंत्र और समाजवाद के सही दृष्टिकोण

लेकिन, अंत यहीं नहीं होता। हमने लोकतन्त्र और समाजवाद को अपनी राष्ट्र-नीति के अंग-स्वरूप स्वीकार किया है। हम जानते हैं कि राजतंत्र या तानाशाही का अभाव ही लोकतन्त्र नहीं है। लोकतन्त्र जीवन और व्यक्ति के प्रति एक दृष्टिकोण की संज्ञा है और व्यक्ति समाज की मूल इकाई है। इसी तरह समाजवाद भी समाज के जीवन को नियन्त्रित करनेवाली आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था की विशेष किस्म का नाम नहीं है। यह भी एक दृष्टि है और खास तौर पर व्यक्ति व समाज के बीच वाञ्छनीय सम्बन्धों के बारे में जनता के दृष्टिकोण का नाम है। समाजवाद की कई धाराएँ हो सकती हैं, क्योंकि इन सम्बन्धों के बारे में भिन्न भिन्न दृष्टिकोण रहे हैं।

शिक्षा दर्शन की उपेक्षा

हमारी शिक्षा-प्रणाली के सबसे बड़े दोष ऐसे ही स्तरों पर है, लेकिन दुर्भाग्य से विषय के इस पहलू की पूर्णतः उपेक्षा की गयी है। जिन अध्यापकों पर तरुणों को शिक्षित करने की जिम्मेदारी है वे अपने क्षेत्र की किसी गम्भीर समस्या के अस्तित्व से अवगत प्रतीत नहीं होते और नीति नियामक भी इस विषय में विमूढ़ शाही और दिखावटी आचरण से सन्तुष्ट प्रतीत होते है। भावनात्मक एकीकरण समिति ने आधुनिक भारतीय शिक्षा के इतिहास में शायद पहली बार इस विषय के लिए पृथक अध्याय जोड़ा, जिसका शीर्षक शिक्षा का दर्शन था, लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि शायद इस अध्याय पर शिक्षाशास्त्रियों और प्रशासकों ने सबसे कम ध्यान दिया है।

अध्यापक अपने आप से पूछें

शिक्षा में रुचि रखनेवाले हर व्यक्ति को और खास-तौर से अध्यापकों को अपने-आप से गम्भीरता-पूर्वक यह प्रश्न करना चाहिए कि शिक्षार्थी कौन है, शिक्षा किसे दी जाती है? हर छात्र की अपनी राष्ट्रीयता, मातृभाषा और शायद अपना धर्म होता है और रजिस्टर में उसके बारे में अनेक सूचनाएँ दर्ज की जाती हैं, लेकिन इस एक मूल तथ्य को नजरअन्दाज कर दिया जाता है कि वह मूलतः मानव है।

मनुष्य के बारे में आम तौर पर दो मत हैं। उसे परमाणुओ का जटिल सकलन माना जा सकता है, जिसे किसी उप लक्षण से चेतना प्राप्त हो गयी है। एक मार्क्सवादी दार्शनिक का कहना है कि अपने दीर्घ विकास से पात्र स्वय को पहचानता है। उपलक्षण होने के कारण चेतना स्थायी गुण नही है और देखा जाय तो पात्र में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसके लिए वह स्थायी गुण हो। शरीर का अस्तित्व न तो गर्भ से पूर्व था और न मृत्यु के बाद रहेगा। चेतना के बारे में भी यही बात है।

दूसरी ओर मनुष्य को शरीर से आवृत्त चेतना की इकाई माना जाता है। इस मान्यता के अनुसार चेतना स्थायी गुण है, जिसे आत्मा कहा जा सकता है। अत चेतना मृत्यु से पूर्व और बाद में भी अस्तित्ववान रहती है।

इसमें किस मत को मानने से क्या फल निकलेगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। प्रथम मत के अनुसार व्यक्ति के निजी अधिकार कुछ नहीं हो सकते। वह जिस सम्प्रदाय में रहता है, उसके नता की इच्छा के अनुसार चलना होगा। आचार के उन नियमो को नैतिकता माना जायगा, जिन्हें अनुभव तथा भविष्य की दृष्टि से सफल जीवन के अनुकूल मानते हो। इस प्रकार के लोकतत्र की कोई गुजाइश नहीं है। लोकतत्र केवल व्यक्ति की प्रतिष्ठा के आधार पर कायम रह सकता है। लेकिन, ऐसे समाज में, जहां व्यक्ति के जीवन को समाज में सदस्यो के हितो की सेवा का माध्यम माना जाता हो, व्यक्ति की प्रतिष्ठा क्या हो सकती है ?

यदि इसके विपरित हम दूसरे मत को मानें तो कुछ और ही निष्कर्ष निकलेगा। उस सूरत में व्यक्ति स्थायी अस्तित्व की हैसियत से अपन निजी अधिकार रख सकता है, और अपने ही नियमो के अनुकूल अपना विकास करने का अधिकारी हो सकता है। हमने पौधा और पशुओ को यह अधिकार पूर्णत दे रखा है। यदि व्यक्ति के जीवन का कोई अर्थ है तो समाज और उसके सभी साधन व्यक्ति को पूर्णता तक पहुँचाने में उसके सहायक बनें। यह परिकल्पना लोकतत्र को विश्वसनीय नीवें प्रदान करती है, और इस बात की स्थापना करती है कि समाजवाद तथाकथित समाजवादी अधिनायकवाद की स्थापना के अनुकूल नही पडता, क्योकि अधिनायकवाद में व्यक्ति के ऊपर आध्यात्मिक, बौद्धिक या भौतिक दबावो की कोई सीमा नही है।

शिक्षक की देन

शिक्षक को ध्यान रखना होगा कि छात्र उसके पाठो को उसकी मृत्यु के बाद भुला न दें। उसका शरीर तो अवश्य नष्ट हो जायगा, पर उसके कामो की छाप छात्र की अनश्वर आत्मा-द्वारा सग्रहीत अनुभवो के कोष का अविनाशी अश बन जायगी। यह भी प्रकट होगा कि सभी व्यक्तियो के हित परस्पर सम्बद्ध है तथा जीवन अस्तित्व का अनवरत सघर्ष ही नहीं, प्रस्तुत सहकारी उद्यम का इतिहास है।

जब ऐसे लोग आध्यात्मिक अरक्षा की भावना से ग्रस्त हो जाते हैं तो मानव मूल्यो के प्रति उनका बोध धुंधला पड जाता है। जब वे अपने आपको ढालने के लिए आदर्शों के साँचे नहीं पाते तो कुण्ठा में फँस जाते है और जीवन उनको अर्थहीन लगने लगता है। यह मानसिक अवस्था समाज के निचले बौद्धिक वग तक है, जिसके लिए डा० राधाकमल मुखर्जी के ये शब्द बिलकुल मौजूं प्रतीत होते हैं—"आधुनिक सभ्यता हर कहीं दुर्बल जडवाले, उथले और अस्थिर प्रकृति के मनुष्यों को उत्पन्न कर रही है, जो सामूहिक उत्तेजना के प्रति कीड़ों की तरह प्रतिक्रिया प्रकट कर रहे हैं।"

यह सब इस कारण हो रहा है कि मनुष्य अपने 'स्व' को भूलकर छत्ता की मक्खिया की तरह अमानवीय जीवन का अभ्यस्त होता जा रहा है। यदि मानव को भारी क्षय से बचाना है तो शिक्षा प्रणाली का नवीनीकरण करना होगा। यह तभी सम्भव है जब सही दार्शनिक आधार हो, जो मनुष्य को उसका उचित स्थान दिला सके।

मानव-प्रकृति का यह आकलन ही हमको ज्ञान करा सकता है कि भावी समाज का रूप क्या हो। यह वृत्ति जीवन को पुन अर्थवान बनायेगी और अध्यापक को कार्य निष्ठा की भावना प्रदान करेगी।०

क्रान्ति और शिक्षा–३

जे० कृष्णमूर्ति

पढाने या शिक्षा देने का केवल इतना ही मतलब नहीं कि विविध विषयों की पर्याप्त जानकारी विद्यार्थी को करा दी जाय, बल्कि उसका मतलब है सहज जिज्ञासा की प्रवृत्ति को पुष्ट करना। इससे विद्यार्थी स्वत सोचने लगेगा कि धर्म क्या है ? केवल प्रस्थापित धर्म-सम्प्रदाय, उनके सिद्धान्त और विधि-विधान की जानकारी से वह सन्तुष्ट नहीं रहेगा। ईश्वर की शोध-खोज, सत्य का स्वरूप विमर्श या जो भी नाम इस प्रवृत्ति को दिया जाय, यही धर्म की मूल प्रेरणा है। जिस सहज भाव से प्रतिदिन दतून करना, स्नान करना, अध्ययन करना, सीखना उसी तरह शान्ति से नि शब्द होकर सुनसान बैठने को, अकेले या लोगों के बीच चिन्तन करने की दैनिक क्रिया भी विद्यार्थी की अभ्यास सुलभ दिनचर्या बननी चाहिए।

एकाकी चिन्तन का अभ्यास

लेकिन, आसन लगाकर शान्ति से अकेले बैठने की क्रिया केवल दिन के झझटो से बच निकलने का एक बहाना न बने, बल्कि कुमारावस्था से ही जीवन-चर्या का यह एक खास पहलू बन जाय। यह एकान्त मनन कहीं बाह्य आचार, आदेश, परम्परा या दबाव का उपचार तो नहीं हो गया है या ऐसे लोगों का शिष्टाचार जो सुनसान बैठना तो चाहते हैं, लेकिन जिनसे एकाकी बैठने की क्रिया निभती ही नहीं—इस विषय में हमेशा सतर्क रहना चाहिए।

अगर जीवन-चर्या की प्रेरणा केवल ज्ञान संचय नहीं हो और उसमें स्वछन्द स्वयं बुद्धि से कर्तृत्व विकास की सतत आकांक्षा की धुन भी न हो तो फिर ऐसी चर्या में ज्ञान-साधना के जो भीतरी पहलू हैं उनका बोध इस एकाकी चिन्तन से हो सकता है। इस तनहाई के अभ्यास से चित्त आईने की तरह निर्मल हो जाता है। महत्वाकांक्षा के अर्थहीन प्रयास से सहसा छुटकारा मिल जाता है, इसके अतिरिक्त महत्वाकांक्षा-प्रेरित बेकार के प्रयास और उसके द्वारा पैदा होनेवाले भय और निराशा का भी उन्मूलन हो जाता है।

प्रेम की व्याख्या

मनोवेग की तरलता ही प्रेम है। प्रेम शब्द और उसका सूचित अर्थ एव आशय, यह दोनों भिन्न चीजें हैं। ईश्वर-प्रेम और मानवीय प्रेम ऐसा भेद-भाव प्रेम में नहीं मानना चाहिए। न उसमें एकाग्र प्रेम या बहुमुखी प्रेम ऐसा भेद करना चाहिए। पुष्प जिस सहजता से अपना सौरभ, जो कोई भी उसका रसास्वाद ले, उसको निछावर करता है, उसी उन्मुक्त भावावेग से समर्पण की क्षमता ही प्रेम है। मगर हम हमेशा सम्पर्क सम्बन्ध के आधार पर प्रेम भावना का मूल्यांकन करते हैं और इस प्रकार उसे खो देते हैं।

प्रेम कोई समाज सुधारकों और समाज सेवकों के हाथ से बटनेवाली वस्तु नहीं है। वह कोई राजनीति की चाल नहीं है, जिसके जरिये कोई काम निकाल लिया जाय। राजनीति और समाज सुधार के क्षेत्र में जब इस शब्द का प्रयोग होता है तो उनके हाथों में एक खोखला शब्द ही रह जाता है। इसकी असलियत को वे छू नहीं पाते। प्रेम कोई दाव पेच या ऐसा साधन नहीं है, जिसको व्यवहार में लाकर तत्काल कुछ मतलब निकाला जा सके। वह धरित्री के प्रति वात्सल्य-भावना है, मगर किसी क्षेत्र विशेष की ममता नहीं है। वह सत्य का प्रेम किसी धर्म सम्प्रदाय की

पकड में नही रहता; और प्रतिष्ठित धर्म-सम्प्रदाय जब उसको व्यवहार में लाने का प्रयास करते हैं तब वह तिरोहित हो जाता है। संस्थापित सम्प्रदाय, राजसत्ता, समाज समितियाँ अपने-अपने कार्यक्रम के जोश-खरोश में प्रेम का यह उत्कृष्ट सवेग बिना जाने ध्वस कर डालती हैं।

प्रेम केवल भावुकता नहीं है, न भक्ति की आर्तता। उसमें मृत्यु के समान ताकत है। ज्ञान प्रेम को खरीद नहीं सकता। ज्ञान को सर्वस्व मानकर, जो उसके उपार्जन में जुट जाते हैं और पराक्रम का एक पर्याय समझकर विशेषज्ञता का अनुसन्धान चलाते हैं वे कठोर हृदय बनकर रह जाते हैं।

समुचित शिक्षा के लाभ

अत अध्यापक को प्रारम्भ से ही इस प्रेम के लक्षणों का मान रखना चाहिए। यह विनय का सार है, इसकी अभिव्यक्ति सदयता, अदब, तितिक्षा, लिहाज और आदर-भावना है। समुचित शिक्षा-लाभ से सौजन्यता और मृदुता आती है। इसका यह फल होता है कि समीपवर्ती पौधों, प्राणियो और पशुओ के प्रति उदारता की भावना पैदा होती है।

बाल्य-काल से ही ऐसा ध्यान रहना चाहिए कि वृक्ष हो या व्यक्ति, कोई व्यवहारोपयोगी वस्तु हो या अद्यतन मोटर हो, सब चीजों का पूरा खयाल रहे। प्रेम की सहज-प्रवृत्ति पर हमेशा ध्यान देने से इस तरह का चित्त संस्कार-सुलभ बन जाता है। उसकी ग्रहण शक्ति तरल और शीघ्र-प्रवाही बन जाती है। और, मन अपने स्वार्थ-केन्द्रित व्यवहार, महत्वाकाक्षा, लोभ-मोह और आसक्ति में नहीं फँसता।

क्या इस दिशा में क्रियाशील होने से सहजता-पूर्वक सात्विक शील नहीं विकसित होता ? यही सद् अभिरुचि और आदर-भावना चित्त शुद्धि का भी लाभ कराती है, चाल-चलन, पोशाक और वेष-भूषा से, बातचीत के तौर-तरीको से और परस्पर व्यवहार से, जो विनीत भाव और सज्जनता की छाप दिखती है, वह प्रयत्नतः सोचकर बढ़ाये हुए सदाचार या बाह्य आवरण को रीति-नीति नहीं, बल्कि प्रेम प्रेरणा का सहजोद्गार है।

काम प्रवृत्ति का स्वस्थ विकसन

अध्यापक की निगाहो में मानव की पूर्ण रूप से उन्नति ही शिक्षा का सर्वोच्च हेतु हो, तो उस हालत में काम प्रवृत्तियो का सन्दर्भ प्रारम्भ से ही उसके मस्तिष्क में रहेगा। इस विषय में बालको की रुचि को वे प्रोत्साहित नहीं करेंगे, लेकिन उनका प्राकृतिक कुतूहल सहज भाव से पूरा करेंगे। केवल प्राणिशास्त्र की दृष्टि से काम-वासना का वैज्ञानिक विश्लेषण एकांगी है। काम-प्रवृत्ति के विकसन में जब तक भावना, प्रेम आदि का संस्पर्श नहीं होता तब तक वह केवल एक शरीर धर्म बनकर रहती है। केवल चहारदीवारी द्वारा छात्र-छात्राओ को अलग-अलग करने से, और निषेध, प्रतिबन्ध के कॉटेदार तार से परस्पर कुतूहल और आकर्षण तीव्र हो जाता है।

इस प्रेम-प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति छात्रो को अपने हाथों से काम करने के अभ्यास-द्वारा होनी ही चाहिए। जैसे-बागवानी, बढ़ईगिरी, रगसाजी तथा अन्य दस्तकारियाँ। इसके साथ-साथ कानो को चिड़ियो के कलरव और बहते निर्झरो के संगीत का रसास्वादन तथा आँखो को वृक्षो तथा धरती की समृद्धि के अवलोकन करने का अवसर मिलना चाहिए। छात्रों को समाज के उस दैन्य का भी दर्शन होना चाहिए, जो उसने अपने बीच पनपाया, बढ़ाया है। केवल बौद्धिक और भावनात्मक विकास के लिए ही यह आवश्यक हो, ऐसा नहीं है। शारीरिक स्वास्थ्य और आरोग्य के लिए भी इसकी भरपूर आवश्यकता है और इस पर इसीलिए विशेष विचार करने की आवश्यकता है। यदि शरीर पूरी तरह स्वस्थ न हो तो विचार भी विकृत और कुण्ठित हो जाते हैं। यह अत्यन्त साफ और सीधी बात है। अत यह आवश्यक है कि शरीर खूब स्वस्थ और हट्टा-कट्टा रहे, उसे आवश्यक पोषण मिले और सोने के लिए समय भी। यदि इन्द्रियाँ खूब सजग न रहें तो शरीर का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता। स्नायु-पेशियो की स्फूर्ति और शरीर को सुडौल बनाने के लिए व्यायाम, नृत्य, योगासन और तरह-तरह के खेल-कूद का अभ्यास होना चाहिए।

(अपूर्ण)

समाधान

●

विष्णुकान्त पाण्डेय

साहब अपने दफ्तर की कुरसी पर कुछ ऐसे ध्यान-मग्न बैठे थे जैसे किसी गहन समस्या का सुगम समाधान ढूँढ़ रहे हों। उनकी तन्द्रा तब भंग हुई जब बगुले के पंख-सी धुली धुलाई खादी का कुरता-टोपी पहने एक सज्जन ने अन्दर प्रवेश किया। आगन्तुक के नमस्कार का उत्तर देने के लिए साहब हड़बड़ाकर कुरसी से उठे और उनसे ऐसे मिले जैसे वह उनका अभिन्न रहा हो। सामने पड़ी कुरसी की ओर संकेत करते हुए तपाक से बोले-"आइए, विराजिए।"

आगन्तुक कुछ सकुचाया सकुचाया कुरसी पर आहिस्ते से बैठ गया। साहब भी अपनी कुरसी पर आसीन होते हुए बोले-"कहिए, क्या सेवा करूँ आपकी ?"

"जी . . . " आगन्तुक कहते कहते कुछ कह नहीं पाया। "हाँ हाँ, निस्संकोच कह जाइए। आपही लोगों की सेवा के लिए तो सरकार ने मुझे इस कुरसी पर बिठाया है और आप ही लोगों की कृपा के भरोसे सारा भविष्य धरा पड़ा है। इसमें संकोच की क्या बात है ? आज्ञा दीजिए, सेवक हाजिर है।"

आगन्तुक को कुछ ढाढ़स बँधा। साहस बटोरकर कहने लगा-"कुछ समस्याएँ हैं, जिनके समाधान के लिए अरसे से बेचैन हूँ।"

"कहिए, बन्दा हाजिर है। आप भी देखेंगे कि कैसे मिनटों में समाधान निकालता हूँ।"-साहब के स्वर में किंचित दृढ़ता थी और उससे टपक रही थीं आत्मीयता की मीठी बूँदें।

"जी, मैं एक बुनियादी विद्यालय का शिक्षक हूँ"-आगन्तुक बात के नाम पर कुछ कह भी नहीं पाया था कि साहब का रुख एकबारगी ऐसा बदला कि बाप ! तुरत चेहरा तमतमा आया, होंठ फड़फड़ा उठे और बड़बड़ाने लगे-"आप बिना पूछे अन्दर आ कैसे गये ? पढ़े लिखे आदमी हैं, अपने को शिक्षक बताते हैं; पर शिष्टाचार के नाम पर आपको 'क'-'ख' भी मालूम नहीं ? क्या पढ़ाते होंगे बच्चों को ? देखा नहीं आपने, सूचना पट्ट पर क्या लिखा है ? तीन बजे के बाद ही मिलने का समय है।"

इतना बोले उससे, और फिर अपने आप बकने लगे-"जरा भी तमीज नहीं, जब देखिए बिना बुलाये अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर हाजिर। समस्या ! समस्या !! समस्या !!! नाक में दम कर रखा है लोगों ने। मुझे और कुछ काम नहीं है कि बैठा बैठा समस्याएँ सुलझाता रहूँ?"

साहब अपना भाषण झाड़ते जा रहे थे और आगन्तुक हतप्रभ हो सिमटा जा रहा था, जैसे उसे काठ मार गया हो। आसमान से एकबारगी जमीन पर आ गिरा था बेचारा ! फिर उसे होश ही कहाँ था कि वह कुछ बोले, कुछ कहे।

इसी बीच घण्टी बजी। चपरासी हाजिर हुआ। अभी वह ठीक तरह सलाम भी नहीं बजा पाया था कि साहब बरस पड़े-' उल्लू का पट्ठा, मैं अभी तुझे बरखास्त किये देता हूँ। दरवाजे पर बैठा बैठा ऊँघता है और हराम का वेतन उठाता है। इधर जिसके जी में जब आया, अन्दर दाखिल; न रोक, न टोक।" और यों ही गुस्से में जाने क्या बड़बड़ाते रहे। आगन्तुक धीरे से उठा और साहब को प्रणाम कर खिसक गया।

बाहर निकलते ही चपरासी ने उलटे उस्तरे से हजामत बनायी। कौन जाने, क्या समस्याएँ थीं उस बेचारे की ! ●

आचार्य गिजु भाई

•

शिरीष

रुक न पाये वो रवानी देखी,
झुक न पाये वो जवानी देखी,
भूल पाये न जमाना जिसको—
हमने वो जिन्दगानी देखी।

जीना एक कला है। शायद इसीलिए हर एक जीना नहीं जानता। यों तो रो धोकर, चीख-चिल्लाकर जिन्दगी गुजार देनेवाले बेशुमार हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी हैं, जो वक्त से पहले ही जिन्दगी को परख लेते हैं और गुजरनेवाले हर क्षण को कुछ इस ढंग से सजाते-सँवारते हैं कि आनेवाली पीढ़ियाँ उनको इस कला को सराहते नहीं थकतीं।

आज से करीब छब्बीस बरस पहले हवा के एक गरम झोंके ने एक ऐसे ही फूल की पंखड़ियों को बिखेर दिया, जिसकी खुशबू आज भी कण-कण में मौजूद है। और, जो आनेवाले जमाने को भी महकाती रहेगी। वह फूल गुजरात की उस धरती पर खिला था, जिस पर बापू-जैसा युग-पुरुष घुटनों के बल चल चुका है और जहाँ गोकुल का कन्हैया भी वृन्दावन छोड़कर अपनी बंशी टेर चुका है।

तो वह अनमोल फूल, जो हर साँस को गमका गया, हर जिन्दगी को महका गया, कोई और नहीं, हमारे श्रद्धेय गिजु भाई हैं, जिनका पूरा नाम था श्री गिरिजाशंकर बधेका। पूज्य बापू ने उनके उठ जाने पर लिखा था—

"जिस दिन गिजु भाई देवलोक सिधारे उस दिन मैंने अस्पताल जाने का इरादा किया था, परन्तु दैव ने कुछ और ही सोच रखा था। बाल शिक्षा के क्षेत्र में गिजु भाई की अनुपस्थिति हर घड़ी खटकती रहेगी। जो गिजु भाई के मंत्र को ग्रहण कर सके हैं, उनका धर्म है कि वे अपने कार्यों-द्वारा उनकी क्षति को कम-से-कम खटकने दें।" —

गुजरात का हर बड़ा-बूढ़ा, बच्चा-जवान गिजु भाई के एहसान के बोझ से दबा हुआ है, क्योंकि वे गुजरात के बाल गोपाल के लिए ही जिये, और मरे भी तो उन्हीं के लिए। आखिरी साँस तक वे बच्चों के लिए रसभरी कहानियाँ लिखते रहे, नाटक खेलकर रहनुमाई करते रहे, शिक्षकों की उँगली पकड़कर उन्हें राह दिखाते रहे, माताओं पिताओं को कड़ी बातें भी कहकर उनको अपने कर्तव्य से आगाह करते रहे। जो सोते-जागते, उठते-बैठते रात दिन नन्हें-मुन्नों की भलाई की बात सोचते रहे, उस आचार्य को याद करने का सबसे अच्छा तरीका यही है कि हम उनके बताये रास्ते पर चलें यानी तालीम की वह शमा जलायें, जिसकी रोशनी से हिन्दुस्तान का हर कोना उजागर हो उठे।

वह दिन दूर नहीं, जब गुजरात ही क्यों, सारे देश के बाल-मन्दिरों में गिजुभाई पूजे जायेंगे—मूर्ति बनाकर नहीं, बल्कि जीते-जागते आदर्श शिक्षक के रूप में।

शिक्षा की क्यारी को गोडने निरान और सींचने यानी देने में आचार्य गिजु भाई ने अपनी जिन्दगी के कीमती बाईस साल दिये और आखिरी साँस यानी २३ जून १९३९ तक एड़ी चोटी का पसीना एक करके उन्होंने शिक्षा जगत की बेमिसाल खिदमत की।

शिक्षण पत्रिका में लगातार चौदह वर्षों तक गिजु भाई लिखते रहे। उन्होंने बच्चों के लिए एक दो नहीं १२० किताबें लिखीं। शिक्षा के काम में लगे हुए लोगों के लिए भी उन्होंने २७ अनमोल पुस्तकें तैयार कीं। कुछ नहीं तो बारह-तेरह काम अपनी जिन्दगी में उन्होंने ऐसे शुरू किये जिनका उद्देश्य था हर बच्चे को पूर्ण मानव बनाना।

गिजु भाई के व्यक्तित्व में दो खूबियाँ ऐसी थीं जो एक-दूसरे के खिलाफ जाती थीं। समझ में नहीं आता कि उन्हें हद से ज्यादा हँसोड़ कहा जाय या बजोड़ गम्भीर। अनुभव बताता है कि उनकी जिन्दगी के बाहरी हिस्से में जितना हँसना हँसाना था भीतरी हिस्से में उतनी ही गम्भीरता।

वे हर काम करने में इतने सजग और मुस्तैद रहते कि कामचोर उनकी परछाईं से पनाह माँगते। अपने साथियों से प्यार करना कोई उनसे सीखे। यहाँतक कि उनका गुस्सा भी प्यार में डूबा रहता था।

गिजु भाई ने अपनी मातभाषा के जरिये सरस्वती की पूजा का जो बीड़ा शुरू में उठाया उसे आखिरी दम तक निभाया। उनको तालीम की इतनी जबरदस्त धुन थी कि चर्चा किसी किस्म की क्या न चल रही हो घुमा फिराकर व उसे तालीम के दायरे में ला देते थे। हर बात पर बिना शिक्षा का रंग चढ़ाये उन्हें चैन कहाँ?

शिक्षकों के भी शिक्षक गिजु भाई बच्चों में भगवान को देखते थे और एक सच्चे पुजारी की भाँति बच्चों को पाकर खुद को भूल जाते थे। सचमुच बाल लीला के तो वे नरसी महता ही थे।

हर जिन्दगी को प्यार सिखा कर चला गया,
इनसान को भगवान बना कर चला गया,
गुमराह न हो, मंजिलें चूमेंगी कदम को—
चल राह, रहनुमा जो दिखा कर चला गया।

भाव कथा

सच्चा सुख

रमाकान्त

रात का पिछला पहर। घना अँधेरा। काँपती हुई हवा। मुसकराते हुए तारे। चारों ओर अटूट खामोशी।

इतने में एक तारा टूट पड़ा और देखते-ही देखते वह धरती पर मुँह के बल गिर पड़ा। पराची रोशनी उसका साथ छोड़ चुकी थी। अब तो वह एक मामूली पत्थर रह गया था।

गूँगा आसमान तारे की इस दुखद घटना को देख रहा था। उससे तारे का दुख देखा न गया। उसकी आँखों से आँसू चू पड़े।

पत्थर बना नक्षत्र आँसू पड़ते ही चौंक पड़ा। बात कुछ उसकी समझ में नहीं आयी।

धीरे धीरे रात सरकी। सुबह हुई। पूरब में ललाई उतर आयी।

उस टूटे नक्षत्र ने सुबह की रोशनी में देखा—आसमान के स्नेह में डूबे हुए आँसू! वह गद्‌गद् हो उठा। उसने अपने भाग्य को सौ बार सराहा। उसे आकाश में पराची रोशनी से जगमगाते रहने की अपेक्षा किसी के आँसू ढलाने में अधिक आनन्द और सुख का अनुभव आया।

शिक्षा कैसी हो ?

•

गिजु भाई

शिक्षा का अर्थ है मनुष्य का सर्वांगीण विकास। और, विकास से मतलब है—शरीर की, इन्द्रियों की, मन की, मनुष्य के हृदय में बसी हुई शुभ भावनाओं की, और अन्य सब शक्तियों की उत्तरोत्तर वृद्धि, उनका विस्तार और उनकी परिपूर्णता !

विकास की यह क्रिया आत्मा की ही तरह स्वयंभू है, अर्थात् विकास मनुष्य की प्रकृति में सहज है, स्वाभाविक है। विकास का विरोध या दमन उसकी इस प्रकृति के विरुद्ध है, उसका विकृत रूप है।

शिक्षा का आयोजन और प्रबन्ध करनेवाली शक्तियाँ यदि मनुष्य के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ खड़ी कर दें, और उसके सर्वांगीण विकास में हर तरह से उसकी सहायता करें तो विकास त्वरित गति से हो, वह पुष्ट और बलवान बन, उसका जो लक्ष्य है यानी उत्तरोत्तर अपनी शक्ति का अधिकाधिक दर्शन अर्थात् आत्म-साक्षात्कार, वह शीघ्र ही सिद्ध हो !

आजकल हमारे प्राथमिक, माध्यमिक या उच्च विद्यालयों का लक्ष्य आधिभौतिक ही विशेष है, अतएव वह त्याज्य है। इन विद्यालयों में पढ़ाये जानेवाले विषय हमारे लक्ष्य के सूचक नहीं हैं, बल्कि उन्हें पढ़ाने की जो दृष्टि है वह लक्ष्य सूचक है। आज पढ़ाने का अर्थ है—सिखाना यानी समझाकर अथवा बिना समझाये ही किसी विषय को कण्ठाग्र करा देना। आजकल की पढ़ाई का अर्थ है परीक्षा में पास होना। कितना क्षुद्र और संकुचित है यह अर्थ !

आज विद्या की समाप्ति और तृप्ति इसी में समझी जाती है कि विद्याध्ययन के बाद मनुष्य इस योग्य हो जाय कि वह थोड़ा जीविकोपार्जन कर सके और बौद्धिक विषयों को ठीक ठीक समझ ले। यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं है और परिवर्तन की अपेक्षा रखती है। आवश्यकता है कि शिक्षा की समग्र पद्धति का पुनरुद्धार हो—शिक्षा का लक्ष्य स्पष्ट और सुनिश्चित बन जाय, और वहाँ तक पहुँचने के सभी उचित साधन प्रस्तुत हो जायें।

इस पुनरुत्थान में पहली चीज़ है बालक का सम्मान। हम इस बात को भूल ही गये हैं कि बालक के अन्दर जो शक्ति मौजूद है वह उसके शरीर की तरह अल्प, असहाय अथवा अपंग नहीं है। स्मरण रहे कि बिलकुल छोटा होते हुए भी जिस प्रकार बीज में सम्पूर्ण वृक्ष समाया रहता है और इसीलिए बीज की महत्ता फल से कम नहीं है, उसी प्रकार छोटा होते हुए भी बालक के अन्दर भविष्य में विकसित होनेवाले विराट मनुष्य का सम्पूर्ण सत्त्व समाया हुआ है।

अधूरा और अपूर्ण शिक्षण

आज हम अपने आत्मगौरव और सम्मान को भूल चुके हैं। परिणामतः हमारे दिलों में बालकों के प्रति तिरस्कार, घृणा, तुच्छता, अवहेलना और अपमान आदि के भाव पैदा हो गये हैं। बालक को उसके देह के समान ही छोटा समझकर उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए हमने विषय भी वैसे ही साधारण और प्राकृत चुने हैं। आज जो शिक्षा प्रचलित है, उसमें मनुष्य को केवल इन्द्रियोंवाला मात्र-शरीरधारी माना है, जिसमें आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं, और जिसका शरीर-यन्त्र अपनी गति से

चलता रहता है। इसका प्रमाण यह है कि मौजूदा पाठ्यक्रम में आत्मा की भूख की तृप्ति या कोई साधन नहीं है—किसी के सामने यह दृष्टि ही नहीं रही है।

अपने वर्तमान जीवन क्रम में हम इस बात को भूल-से गये हैं कि बालक को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की शिक्षा के साधन आरम्भ ही से देने चाहिए। जिस शिक्षण-द्वारा हम केवल लेखन, वाचन या गणित की शिक्षा देते हैं, केवल इन्द्रिय विकास के साधन जुटाते हैं, केवल उद्योग की शिक्षा शुरू करते हैं, केवल सदाचार की शिक्षा देते हैं, अथवा केवल नैतिक बुद्धि का विकास करते हैं, वह शिक्षण अपूर्ण है, अधूरा है।

अलबत्ता आजकल के मदरसों में नैतिक विकास, बौद्धिक विकास, इन्द्रिय विकास अथवा शारीरिक विकास की दिशा में कोई खास प्रयत्न नहीं किया जाता है। हाँ, इन सब शक्तियों का ह्रास अवश्य होता है। जबरदस्ती किसी की आज्ञा का पालन करना, सत्य, शील आदि गुणों की प्राप्ति के लिए भय और इनाम की शरण लेना अत्यन्त अनुपयुक्त और अनीतिपूर्ण है।

बौद्धिक विकास के स्थान पर बालक के दिमाग में तरह तरह की जानकारी ठूँसी जाती है। स्मृति का विकास या जानकारी का संग्रह बुद्धि विकास का प्रतीक नहीं है। बुद्धि का सच्चा विकास तो वह है, जिसके द्वारा मनुष्य में सत असत का, अच्छे-बुरे का विवेक पैदा हो, वह न्याय अन्याय को तोल सके, उसके विचारों में विशालता और तर्क में शुद्धि आ सके। रट रटाकर घटनाओं को याद रखने से बुद्धि का उतना विकास नहीं होता, जितना ह्रास होता है।

कला शिक्षा का साध्य नहीं, साधन है

कला-कौशल की शिक्षा तो जीवन को शिक्षा को सफल बनाने का एक साधन मात्र है। वह हमारा ध्येय नहीं, तथापि जहाँ ध्येय की दृष्टि से इनकी शिक्षा दी जाती है वहाँ जैसाकि अब तक होता आया है सीखे हुए लोग प्रायः भगवादी और नास्तिक ही बने हैं। कला कौशल या उद्योग की शिक्षा मनुष्यगत सृजन-शक्ति के विकास और तृप्ति के लिए आवश्यक है। इस स्वभाव का विरोध करके उसने बार-बार विकृति और पतन का अनुभव किया है।

यह सब होते हुए भी निरी सृजनात्मक प्रवृत्ति-वाली शिक्षा भी अधूरी शिक्षा है, क्योंकि सृजन-द्वारा मनुष्य की प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं, विशाल बनती हैं और अपनी महत्ता तथा उच्चता का दर्शन पाती हैं, किन्तु असली चीज बन्धन-मुक्ति या मोक्ष है, वह उन्हें प्राप्त नहीं होती! अतएव सृजन या कला भी हमारी शिक्षा का साध्य नहीं, साधन मात्र है।

सदाचार विरोधी शिक्षा क्यों?

आजकल के विद्यालयों में दी जानेवाली सदाचार की शिक्षा निरर्थक सिद्ध हुई है। महापुरुषों की जीवनी सुनाने, सदाचार के व्याख्यान देने, सदाचार का आग्रह रखने, सदाचारी न बनने पर दण्ड का प्रयोग करने या सदाचारी बनाने के लिए भय या पुरस्कार को सामने रखने से मनुष्य के अन्दर यह चीज पैदा नहीं होती।

मनुष्य स्वभाव से सदाचार प्रिय है, परन्तु उसे सदाचारी बनाने के लिए आज जिस शिक्षा पद्धति का प्रयोग किया जाता है, वह उसे उलटा सदाचार विरोधी बनाती है। इस प्रकार बालकों से बलात सदाचार का पालन करवाने का ही यह परिणाम है कि आज हमारे यहाँ गुरु द्रोह, पितृ द्रोह, समाज द्रोह आदि दिन रात की बातें हो गयी हैं।

प्रत्येक वस्तु अपने विकास के लिए वातावरण और व्यायाम की अपेक्षा रखती है, सहानुभूति और संरक्षण चाहती है। आज अलग से किसी को समझाने की जरूरत नहीं कि हमारे वर्तमान विद्यालयों में किसी भी चीज को भली भाँति समझने या पाने के लिए जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसमें से कुछ भी नहीं है। जहाँ यह हालत है वहाँ आत्मविकास की तो बात ही क्या?

जिस प्रकार श्वासोच्छ्वास के लिए बालकों को साफ हवा मिलनी चाहिए, किन्तु इसके लिए हम पम्प द्वारा उनके फेफड़ों में हवा नहीं पहुँचाते हैं, उसी प्रकार बालकों में आत्मा सम्बन्धी बातों का या मुक्ति

का ज्ञान हम उपदेशों, साधनो, शिक्षा अथवा कर्मकाण्डों-द्वारा बलात् पैदा नहीं कर सकते, और न करना ही चाहिए। परन्तु, ऐसा प्रबन्ध तो होना ही चाहिए कि वे वातावरण से अच्छी चीजों को श्वासोच्छ्वास की तरह सहज गति से ग्रहण कर लें।

शान्ति और व्यवस्था

एक साधारण-से तत्त्व को लीजिए—वह है शान्ति का तत्त्व या वातावरण। व्यापक शान्ति एक ऐसी चीज है, जिसके फैलते ही निकले हुए पानी में जिस प्रकार बालू, शंख, सीप आदि वस्तुएँ साफ-साफ दिखाई देने लगती हैं उसी प्रकार हम अपने अन्दर उच्च शक्ति की स्फूर्ति का अनुभव करते हैं। कोलाहल बहिर्मुखता का और शान्ति अन्तर्मुखता का चिह्न है। अन्तर्मुख वृत्ति के लिए शान्ति का वातावरण बहुत ही अनुकूल वस्तु है। जिस दिन हमारे घरों में, समाज में और विद्यालयों में शान्ति का साम्राज्य कायम होगा, वह दिन शिक्षा की दिशा में पहला कदम बढ़ानेवाला दिन होगा।

अब दूसरे तत्त्व को लीजिए—वह है व्यवस्था और स्वच्छता। स्वच्छ और व्यवस्थित वातावरण मनुष्य की शक्तियों को स्वस्थ और निर्भय बनाता है। आत्मिक दर्शन के लिए ये साधन उपकारक हैं। स्थूल दृश्यों की स्वच्छता और व्यवस्था मनुष्य को धीरे-धीरे आन्तरिक शक्तियों की व्यवस्था की ओर प्रेरित करती है। अब तो हम इस बात को जानने लगे हैं कि बाहर का मनुष्य अन्दर के मनुष्य को और अन्दर का मनुष्य बाहर के मनुष्य को प्रभावित करता रहता है।

विज्ञान सत्य का उपासक है

नैतिक गुणों, उच्च अनुभूतियों और भावनाओं को हम विकास की भूमिका की अगली सीढ़ियाँ समझते हैं। बचपन की शिक्षा में विज्ञान की शिक्षा-द्वारा हम नीति का सुन्दर और सुदृढ़ आरम्भ करा सकते हैं। विज्ञान सत्य का उपासक है। जीवन-साधना की उड़ान में एक पंख सत्य का है और दूसरा अहिंसा का। अहिंसा की सिद्धि निर्भयता में है। जो निर्भय है, वही अहिंसक है, क्योंकि उसे हिंसा का कोई प्रयोजन नहीं रहता।

शिक्षण और जीवन में से दण्ड, भय और लालच आदि भयमूलक वस्तुओं को मिटाने का अर्थ है—उच्च शिक्षा का निषेधात्मक प्रबन्ध करना। अहिंसा का विधायक रूप है—सर्वात्म सत्त्व भाव, सबको अपनी तरह समझना। पशु-पक्षी, कीड़े-पतंगों और वनस्पतियों के पालन और परिवेश में ये भाव मौजूद हैं। इसके द्वारा बालकों में समता आती है। इससे प्रेम भाव का विकास होता है। यदि आप ऐसा चाहते हैं तो उस वातावरण को मिटा दें, जिसका लक्ष्य नम्बर, स्पर्धा और इनाम वगैरह है।

इसके अतिरिक्त इसका वातावरण तब पैदा होता है, जब बालकों को सहशिक्षा और सहजीवन का लाभ मिलता है, और वे अपने आपको भूलकर एक-दूसरे को सिखाने-समझाने बैठ जाते हैं। बालक के अन्दर इस प्रकार की वृत्ति स्वयम् होती है। बचपन की वृत्तियाँ बड़ेपन की मर्यादित स्वार्थ बुद्धि से कुण्ठित नहीं रहतीं। आवश्यकता इस बात की है कि इन सब शुभ वृत्तियों का रक्षण और पोषण किया जाय। पुरानी पाठशालाओं का पाठ्यक्रम उनकी शिक्षा पद्धति और उनका वातावरण शुभ वृत्तियों का द्रोह करनेवाला है। इस द्रोह का विनाश करना हमारा कर्त्तव्य है।

गुरु बनना कितना कठिन है !

गुरु स्वयं एक अच्छा वातावरण है। वह और कुछ भले न हो, उसे कम-से-कम जिज्ञासु और मुमुक्षु तो अवश्य होना चाहिए। यह जरूरी है कि उसका ज्ञान स्वावलम्बी हो, उसकी क्रियाएँ कल्याण-कामिनी हों। गुरु बनने का काम बहुत कठिन माना जाता है, क्योंकि उसे बालकों के हित की दृष्टि से वातावरण-रूप बनकर रहना पड़ता है, और अपने आप को भूलकर अपने 'स्व' का ही ध्येय सिद्ध करना पड़ता है।

अतएव शिक्षक या गुरु का न तो अपना कोई मत या पन्थ होता है, न उसके अन्दर स्थल-काल की बाधक भावना होती है, और न उसकी दृष्टि समाज या राष्ट्र से मर्यादित रहती है। उसका दर्शन विराट्, उसका ज्ञान-विज्ञान परम ज्ञान, और उसका ध्येय मुक्ति की उपासना के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न करना है। ●

अमेरिका
की
विद्रोहिणी गायिका जोन बायज

•

सतीशकुमार

शान्ति, समानता और आजादी के गीतों को देश-भर में घूम घूमकर गानेवाली अमेरिका की महान शान्तिवादी गायिका जोन बायज से मुलाकात के अवसर को मैं कभी भूल नहीं सकूंगा। गांधीजी के विचारों से अत्यन्त प्रभावित होने के कारण ही उसने सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए अहिंसा के मार्ग में अपना अमिट विश्वास प्रकट किया है। वह युद्ध-विरोधी गायिका स्पष्ट रूप से अमेरिकी सरकार तथा जनता से कहती है कि आज के अणुयुग में युद्ध की कल्पना करना भी मानवता के खिलाफ अपराध है। आणविक शस्त्रों के निर्माण तथा युद्ध के विरुद्ध चलनेवाले आन्दोलन में वह इसीलिए सक्रिय रूप से भाग लेती है।

भारत की हिन्दी गायिकाओं में जो स्थान लता मंगेशकर का है, वही स्थान अमेरिका में जोन बायज का है। मैं अमेरिका में सवा छः महीने तक रहा। सौ से ऊपर नगरों में गया। एक दिन भी किसी होटल में नहीं ठहरा। प्रतिदिन किसी-न-किसी परिवार में ही अतिथि बनने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता था। पर, ऐसे कम ही स्थान गये होंगे; जहां जोन बायज के गीतों की धुन न सुनाई पड़ी हो। किसी भी संगीत-प्रेमी अमेरिकी के घर में जोन के गीतों के रिकार्ड न हों, यह नामुमकिन है। जोन के कण्ठ में मिश्री घुली है या शहद, यह तो पता नहीं; पर उसके स्वर में जादू जरूर है, जो अमेरिकी युवकों के सिर चढ़कर बोलता है। आप यह जानकर आश्चर्य न कीजिए कि नये युग की इस मीराबाई को सुनने के लिए हजारों की भीड़ उमड़ पड़ती है। इसके एक संगीत-कार्यक्रम की फीस चालीस हजार रुपये तय होती है।

मैं जोन बायज को मीराबाई कहकर ज्यादती नहीं कर रहा हूँ; क्योंकि उसके गीत बाजारू प्रेम-गीत नहीं होते, बल्कि शान्ति, स्वतंत्रता, और मानवता की पुकार भरे होते हैं। नीग्रो जाति की समानता के लिए चलनेवाले आन्दोलन को जोन ने न केवल धन से ही सींचा है, बल्कि अपनी सुमधुर स्वर-झंकार से भी इस आन्दोलन की गूंज को दिग्-दिगन्त तक फैला दिया है।

मैं जोन बायज के गीतों पर तो मुग्ध था ही, पर एक दिन अमेरिका के समाचार-पत्रों ने बड़े-बड़े अक्षरों में यह समाचार छापा कि सुप्रसिद्ध गायिका जोन बायज ने अमेरिका के राष्ट्रपति को एक पत्र लिखकर सूचित किया है कि वह अमेरिकी युद्ध-नीति का विरोध करती है और वह इसलिए सरकारी कर अदा नहीं करेगी।

जोन बायज का यह मार्मिक पत्र पढ़कर मेरा दिल भर आया। दुनिया में ऐसे कितने कलाकार हैं, जो इस तरह शान्तिवादी बनकर कोई ठोस कदम उठाते हैं। स्वयं एक युद्ध-विरोधी होने के कारण जोन के प्रति मेरा मन श्रद्धा से झुक गया, और तभी से जोन के साथ मुलाकात करने की मेरी उत्कंठा तीव्र हो उठी। इसी बीच जब हम सैनफ्रांसिस्को में थे, अचानक मालूम हुआ कि जोन भी एक मुकदमे के सिलसिले में सैनफ्रांसिस्को आ रही है।

इसलिए हमने अपने मेजबान से कहा कि वे जोन से टेलीफोन करके हमारे लिए मिलने का कोई समय तय करें।

"जोन ने आपसे मिलने की उत्कण्ठा प्रकट की है, लेकिन उसके पास और कोई समय नहीं है इसलिए अपने वकील के दफ्तर में ही उसने मिलन के लिए आपको समय दिया है।" सैनफ्रांसिस्को के हमारे मेजबान मार्क मोरिस न हमारे लिए समय तय कर दिया और हम निश्चित समय पर उसके वकील के दफ्तर में जाकर उससे मिले।

"तुम तो अमरिकी नहीं लगती हो जोन !"—मैंने विनोद करते हुए पूछा—'यहां किस महिला के एसे काले और लम्बे बाल होत है ? इतना ही नहीं, तुम्हारे शरीर का गेहुँआ रग और बडी बडी गोल-गोल आँखें तो निश्चित ही अमरिकी नहीं लगती। लगता है, तुम बिलकुल हिन्दुस्तानी हो।'

जोन कहने लगी—"मुझे भारत से बड़ा प्यार है। जो देश गांधी-जैसा इनसान पैदा कर सकता है, वह देश कितना महान होगा !" मैंने कहा—"भारत आने का सादर निमंत्रण है। निश्चय ही जोन की सुमधुर ध्वनि पर भारतवासी झूम उठेंगे।" 'धन्यवाद।' जोन ने कहा—'मैं उस दिन की बताबी से प्रतीक्षा करती हूँ, जब मुझे भारत आने का सौभाग्य मिलेगा।"

थोड़ी देर बाद वह बोल उठी—'मुझे अपने वकील के साथ न्यायालय जाना होगा, पर यदि आप भी मेरे साथ न्यायालय चलें तो आपके साथ थोड़ा और समय बिताकर मुझे बहुत खुशी होगी।" और हम जोन की सफर कार में बैठ गय।

तईस वर्षीय यह अनुपम सुन्दरी और गायिका *सैनफ्रांसिस्को के भीड़ भरे राजपथ पर साठ मील प्रति* घण्टे की रफ्तार स कार दौड़ा रही थी और हमारे साथ बातें भी करती जा रही थी। युद्ध के विरोध में बारह देशों का सात हजार मील की पदयात्रा की हमारी कहानी जानने के लिए जोन की बड़ी उत्सुकता थी। जोन के चेहरे का भोलापन न केवल उसके सौन्दर्य को निखारनेवाला था, बल्कि उसके व्यक्तित्व को भी कई गुना बढ़ा रहा था।
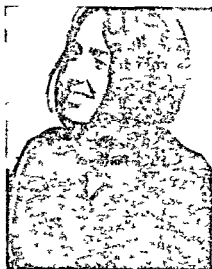
ज्यो ही हम न्यायालय में पहुँचे, जोन को पत्रकारों और फोटोग्राफरों ने घेर लिया। जोन का मुकदमा सभी के लिए एक खास दिलचस्पी की बात थी। 'इन फोटोग्राफरों के लिए पोज बनाना भी मेरे लिए एक मुसीबत है परन्तु ये छोड़ते भी तो नहीं।'—यह कहते हुए जोन ने न्यायाधीश के कमरे में प्रवेश किया।

जोन के मुकदमे की भी एक मजेदार कहानी है। जब वह सत्रह वर्ष की किशोरी थी, और मशहूर गायिका नहीं थी उस समय कुछ गीतों को एक व्यक्ति ने टेप रिकार्डर पर टेप कर लिया था। मित्रता में ऐसा हुआ और बात आयी गयी, हो गयी। इस अरसे में जोन के गीतों की शोहरत बढ़ती ही गयी और अब तो ऐसी स्थिति है कि घर घर में उसके गीतों की धूम है।

उस महाशय न जोन के गीतों से पैसा कमाने की सोची और छ साल पुरान टेप कहीं स ढूंढकर उन गीतों के पचास हजार रिकार्ड्स बनवा डाले। इसके पहले कि व रिकार्ड्स बाजार में बिकन क लिए पहुँचें, जोन को इस बात की खबर हो गयी। उसन उपर्युक्त महाशय से अनुरोध किया कि व इन रिकार्ड्स को बाजार म न भजें। व महाशय जोन को मुहमाँगा धन देने को तैयार थ, लेकिन उन रिकार्ड्स को वापस देन

के लिए तैयार नही हुए। इसलिए जोन ने न्यायालय से अपील की कि न्यायालय उन रिकार्ड्स को बाजार में जाने से रोके।

इसी मुकदमे की सुनवाई के लिए जोन न्यायालय में उपस्थित थी। न्यायाधीश ने कहा—तुम्हारी मांग कानून की दृष्टि से उचित होते हुए भी मुझे बड़ी अनावश्यक मालूम होती है। जब तुम्हारे प्रतिपक्षी तुम्हारी सारी शर्तें मानकर तुम्हें मुँहमांगा धन देने को तैयार हैं तो फिर तुम इतनी आर्थिक हानि उठाकर भी ये रिकार्ड्स बाजार में जाने से क्यो रोकना चाहती हो?

जोन न जब इस सवाल का उत्तर दिया तो सारा न्यायालय स्तब्ध रह गया। "मेरा आराध्य धन नहीं, कला है। मै कला की उपासिका हूँ। मेरे छ साल पहले के गाये हुए गीत बच्चो के खेल की तरह थे। आज वे कला की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। मेरे आज के नाम पर छ साल पुराने गीत बेचकर श्रोताओं के साथ मैं खिलवाड नही करना चाहती। धन के प्रलोभन में मैं कला के साथ अन्याय करना सहन नहीं कर सकती।' जोन के इस दो टूक उत्तर न न्यायाधीश के फैसले का फैसला कर दिया। कला की निष्ठा के *सामने पैसे का प्रलोभन हार गया।*

मैंने ऐसी कल्पना भी नही की थी कि इस तरह की अनुपम घटना का साक्षी होन का मुझ अवसर मिलेगा। पहले तो मैंने इतना जाना था कि जोन एक गायिका है। फिर यह भी जाना कि वह युद्ध विरोध में अग्रिणी है, परन्तु सैनफ्रासिस्को में जब मैंने चार-पाँच घण्टे जोन के साथ बिताये तो मैंने पाया कि वह महान शान्तिवादी और कला की साधिका है। एक दार्शनिक साधक की भाँति वह अपने जीवन को कला की दीप शिखा बना चुकी है।

जोन ने कहा कि "मेरे सगीत कार्यक्रमों में आने वाला रुपया कहाँ जाता है, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। जो कुछ शान्ति आन्दोलन, नीग्रो आन्दोलन आदि के लिए दे देती हूँ वह तो ठीक, बाकी मेरे सगीत कार्यक्रमो के व्यवस्थापकों तथा सयोजको के भरोसे छोडकर मैं निश्चिन्त हूँ।

हम जोन से विदा होकर घर आ गये, परन्तु उसके विचारो एव निष्ठा की एक गहरी छाप अभी भी मेरे दिल पर कायम है। कला के साथ ऐसे आदर्श जीवन का सगम दुर्लभ ही होता है। उसने यह माना है कि कला का विकास एक ऐसे समाज में ही सम्भव है, जो हर समय शान्तिपूर्ण हो। युद्ध की तैयारियो में लगा हुआ समाज एक दिन स्वय भी नष्ट हो जायगा और कला, *संस्कृति तथा साहित्य* को भी नष्ट कर देगा। इस शान्ति के पथ पर अग्रसर होनेवाली कलाकार तरुणी के सामने मैं नतमस्तक हूँ। ●

●

जीवन का गरल

किसी ने कहा—"मनुष्य बड़ा, बहुत बड़ा हो सकता था, लेकिन उसके दोष ही उसे देवत्व तक पहुँचने से लाचार कर देते हैं। सहज, प्रकृतिसिद्ध अहं पर विजय प्राप्त कर सकना, सत्पुरुषार्थ के एक क्षण से भी सम्भव है। किन्तु, पराक्रम और वैभव को उद्घाटित करने के बदले, लोग निन्दा और ईर्ष्या की कोठरी में छिद्रान्वेषण और दोष-दर्शन के सहारे अनायास जा पहुँचते हैं। और, तब परिणाम होता है कि हम अपना सब कुछ गँवा बैठते हैं।

"दूसरे के दोषों में जिसका दर्शन हमें होता है, वह दूसरे का न होकर हमारे मन का गरल ही तो है, जिसे हम दूसरों पर सर्वदा लादने के असफल प्रयत्न में, मुक्तिकामी की भाँति अपने को निष्कलंक प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं।"

श्रोता का चेहरा प्रफुल्लित हो उठा—कमलदलों की तरह।

●

—श्री दिगम्बर झा

उड़दन की प्रगति

•

गोविन्द राम

राजपुरा (पंजाब) में नयी तालीम-सम्मेलन सन् १९५९ में हुआ था और उसी अवसर पर राजपुरा से सात मील दूर उडदन में नयी तालीम का पौधा लगाया गया। कालका रोड से ढाई मील उत्तर में ढिकानलू बाँध के किनारे बसी ३५ परिवारों की यह बस्ती बहुत प्राचीन न सही, बिलकुल अर्वाचीन भी नहीं। सरकारी रेकार्डस के मुताबिक आज से लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व जैसलमेर के उदय सिंह नामी राजपूत ने इस ऊबड-खाबड धरती पर पहले पहल कदम रखा था। शायद, उन्हीं के नाम पर इस बस्ती का नाम पडा, और बिगडते बिगडते आज उडदन की शकल में हमारे सामने मौजूद है।

जिस समय गाँव में नयी तालीम की शाला का उद्घाटन हुआ, उसकी पहली कक्षाएँ खुले मैदान में लगी थीं। गाँव के लोगों ने शाला के भवन निर्माण के लिए जिस स्थान को चुना, उसमें पाँच-पाँच फुट गहरे गड्ढे मौजूद थे। वहाँ सार्वजनिक कूडा रखा जाता था। विद्यार्थियों और शिक्षकों ने सफाई के काम के प्रति रिवाजी घृणा को अपने मनों से दूर करके कूडा करकट के ढेरों को साफ किया, गड्ढों को समतल बनाया। बाज वक्त पालकों ने बच्चों को टोका, उन्हें भंगियों और मजदूरों-जैसा बना डालने का आरोप लगाया, लेकिन विद्यार्थियों के साथ शिक्षका के असीम स्नेह और श्रम के प्रति अनन्य निष्ठा ने भोले ग्रामीणों को आश्वस्त रखा।

सफाई

हमारे पाठ्यक्रम में सफाई को प्रमुखता दी गयी है, ताकि उनमें आनेवाली पीढ़ी इन कमजोरियों का शिकार न हो। मैले के सदुपयोग के लिए शाला में लकडी के सण्डास चालू किये गये हैं। शाला की सफाई व संडास-सफाई बच्चे तथा शिक्षक मिलकर करते हैं। आसपास की गन्दगी हटाने के लिए सामूहिक सफाई का आयोजन भी किया जाता है। सोन खाद के प्रति गाँववालों की लापरवाही खत्म हो चुकी है और वे इसके प्रयोग के इच्छुक हैं। वर्ष भर में २२५ वर्ग फुट कम्पोस्ट खाद और १५० वर्गफुट 'सोन खाद' का उत्पादन हुआ।

उद्योग

पाँचवीं कक्षा तक के बच्चे मूल उद्योग के तौर पर कताई करते हैं। इस वर्ष कुल ५२ बड बालकों ने दूसरी से पाँचवीं कक्षा तक के ४८९८ घण्टे में धुनाई-कताई इत्यादि सभी प्रक्रियाओं को करते हुए तकली और चरखा पर ५७४ गुण्डी सूत काता और २७ प्रतिशत वस्त्र स्वावलम्बन प्राप्त किया। हम मानते हैं कि एक बच्चे के लिए साल भर में १६ वर्गगज कपडा चाहिए और उनके कते सूत से कुल २७० वर्गगज कपडा तैयार हुआ।

असल बात यह है कि बच्चों को श्रमनिष्ठ बनने के अलावा यह भान भी होता है कि हम समाज के एक जिम्मेदार घटक हैं उस पर बोझ न बनकर समस्याओं के हल में अपना भाग अदा कर रहे हैं। यह प्रवृत्ति विकसित होकर उन्हें एक जिम्मेदार नागरिक बनाती है।

खेती-उद्योग

यद्यपि जमीन अच्छी नहीं और पानी का उचित प्रबन्ध भी नहीं हो सका, फिर भी २० बालकों की सहायता से ५८८ घण्टे के श्रम-द्वारा वर्ष भर में छब्बीस मन पौन पाँच सेर सब्जी

उपजायी गयी। खेती में तीनों प्रकार की खादों का प्रयोग किया गया और तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हुआ कि सोन खाद के इस्तेमाल से अच्छा परिणाम निकला।

शरीर-श्रम

शाला में सदैव स्थान की कमी बनी रहती है, और भवन कच्चा होने के कारण हर साल लिपाई-पुताई की आवश्यकता बनी रहती है। बच्चे इस काम में यथाशक्ति कुशल कारीगरों की देख रेख में भाग लेते हैं। इससे जहाँ उनके अनुभवों में वृद्धि होती है वहाँ उनके सौन्दर्य-बोध का भी विकास होता है। सडकों के निर्माण तथा मिट्टी डालने में बच्चों ने पूरा पूरा भाग लिया है। वर्ष भर में ७७४ घण्टे काम के द्वारा ७५ रुपये मजदूरी के रूप में बचा लिये हैं।

बौद्धिक ज्ञान

अनुभवों को सबसे अच्छा उस्ताद माना गया है। स्वानुभवों से प्राप्त ज्ञान ही हमारी उपलब्धि है। शाला की सभी प्रवृत्तियों के समवाय से हम बच्चों को ज्ञान देने का लक्ष्य अपने सामने रखते हैं। उदाहरणत बच्चा जब खेती करता है तो उसे खेती का ज्ञान तो मिलता ही है, जब वह इसके उत्पादन का हिसाब रखता है तो उसे गणित के विभिन्न अंगों का परिचय मिलता है। जब वह अपने कार्य की रिपोर्ट बाल सभा में पेश करता है तो उसमें उसकी वक्तृत्व कला का विकास होता है। साथ ही भाषा ज्ञान की वृद्धि में भी ऐसे अवसर सहायक होते हैं। सफाई-सफाई के वक्त उन्हें आरोग्य शास्त्र की बुनियादी बातों से परिचित कराया गया। चित्रकला या सुलेख के अभ्यास के लिए प्राप्त होनेवाले अवसरों की तो गिनती ही नहीं की जा सकती।

सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ

हमने समय-समय पर छोटे छोटे एकांकियों और प्रहसनों के अभिनय का आयोजन कर स्वस्थ्य मनोरंजन की जिम्मेदारी को पूरी करने की कोशिश की है। होली के अवसर पर रिवाजी अशिष्टता के स्थान पर मनोरंजन गाँव की एक अनुकूल आवश्यकता थी। अत गाँव के कुछ उत्साही नवयुवकों का सहयोग हासिल करके हमने गाँव में एक रंगमंच की नींवें डाली हैं, जिसका विकास पुण्य अवसरों पर रिवाजी अशिष्टता की समाप्ति के साथ स्वस्थ परम्परा की स्थापना का गवाह है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत होली और विजयादशमी के त्योहार पर गाँव में तथा बापू जयन्ती, विनोबा जयन्ती, गुरुनानक जयन्ती और स्वतन्त्रता दिवस शाला में मनाये गये। शाला के बच्चों एवं ग्रामीणों में सुरुचि का विकास हो, उनमें सौन्दर्य बोध उत्पन्न हो, सामयिक और स्थानीय समस्याओं पर रोशनी पडे, ऐसा उद्देश्य हमने बराबर अपने सम्मुख रखा है।

सर्वोदयपात्र

घर घर में सर्वोदयपात्र की उपस्थिति समाज के नव निर्माण के प्रति अपनी आस्था प्रकट करने या उसके निर्माण के लिए वोट के समान है। इसे भी शाला के कार्यक्रम का हम एक अंग मानते हैं। इसलिए बच्चों की सहायता से गाँवभर में ५७ सर्वोदयपात्र रखवाये गये, और चर्चा के दौरान बच्चे और ग्रामीणों को अहिंसक समाज रचना की कल्पना दी गयी। समय-समय पर हमारे बच्चे भूदान-टोलियों में शामिल हुए और उन्होंने प्रचार-कार्य में भाग लिया। साथ ही साथ वे स्वयं भी अहिंसक समाज रचना की रूपरेखा से परिचित हुए।

शान्तिसेना

अहिंसक व शासन निरपेक्ष समाज-रचना में शिक्षा ही रक्षा का साधन बन सकती है, इसलिए विनोबा और गांधीजी की शान्तिसेना की कल्पना को साकार रूप देने की जिम्मेदारी हम कार्यकर्ताओं पर है ऐसा हम मानते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम शासन की सहायता के बिना सामयिक और स्थानीय समस्याओं का निराकरण करके दिखायें, तभी इस प्रकार की समाज रचना पर जनता की आस्था कायम हो सकती है।

छोटे-मोटे झगडों को सुलझाने का यत्न किया जाता है और वे सुलझ भी जाते हैं, लेकिन जीविकोपार्जन

सम्बन्धित झगडों में हम सफल नहीं हो पाते। शान्तिसेना का सन्देश घर घर और आस-पास के गाँवों में पहुँचाने का प्रयास किया गया। सम्बन्धित विषयों पर चर्चाएँ चलीं। हम कह सकते हैं कि जनता में जागृति का सन्देश पहुँचाने में हम बहुत दूर तक सफल हुए हैं।

ग्राम-सम्पर्क

ग्राम-सम्पर्क बढ़ाने के लिए हमने कई प्रकार के साधनों का सहारा लिया है। स्वस्थ मनोरंजन के लिए हमने एक सार्वजनिक रंगमंच का निर्माण किया है। साप्ताहिक सत्संग में हमारे कार्यकर्ता भाग लेते हैं, जिसमें नवीनतम विषयों पर चर्चा की जाती है। पालकों की बैठकों में उन्हें बच्चों की प्रगति से परिचित कराया जाता है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इन्हीं बैठकों के माध्यम से ४५० रुपये की खादी गाँव में बेची गयी है। समय-समय पर कबड्डी, रस्साकशी जैसे खेलों का आयोजन भी किया जाता है। इनमें भाग लेने के लिए गाँव के प्रौढ़ों को भी निमंत्रित किया जाता है।

हमारी बाधाएँ

साधारण पालक बच्चे की शिक्षा में व्यक्तिगत रुचि नहीं लेते और स्वतन्त्र देश के नागरिकों के योग्य गुणों के विकास को शिक्षा का लक्ष्य नहीं मानते, बल्कि मात्र-साक्षरता को अपने बच्चे की प्रगति का मापदण्ड मानते हैं। आसपास की शालाओं के पाठ्यक्रम को पूरा करने के लिए हमें पालकों का आग्रह स्वीकार करना पड़ता है।

दूसरा कारण है आज की सदोष परीक्षा-पद्धति। हम समीक्षा अपने ढंग से करते हैं, लेकिन पाँचवीं कक्षा के पश्चात् बच्चों को पुराने ढंगवाली शालाओं में जाना पड़ता है। हमारा विचार है कि जहाँ इस प्रकार की बुनियादी शालाएँ काम कर रही हैं वहाँ दूसरे प्रकार की शालाओं का होना अनेक दिक्कतों का कारण बनता है। जब तक नयी तालीम शालाएँ चलाने के लिए सघन-क्षेत्र स्थापित न होंगे, इसी प्रकार की कठिनाइयाँ बनी रहेंगी। ●

लघु कथा

चुटकी भर नमक

●

शेख सादी

नौशेरवाँ ईरान का प्रसिद्ध बादशाह हुआ है। उसके न्याय की कहानियाँ सारे अरब में मशहूर हैं।

एक दिन वह जंगल में शिकार खेलने गया। भोजन बनाते समय रसोइए ने कहा—"नमक नहीं है।"

नौशेरवाँ ने कहा—"जा, पास के गाँव से नमक ले आ; लेकिन बिना कीमत चुकाये नमक हरगिज न लाना, नहीं तो सारा गाँव उजाड़ हो जायेगा।"

यह बात रसोइए की समझ में नहीं आयी। उसने अचरज भरे स्वर में पूछा—"गाँव उजाड़ कैसे हो जायगा जहाँपनाह?"

नौशेरवाँ ने बताया—"अगर तू रिआया के घर से चुटकी भर नमक मुफ्त ले लेगा तो दूसरे दिन राज्य के कर्मचारी सारे गाँव को चाट जायेंगे।"

नौशेरवाँ की बात रसोइए की समझ में अच्छी तरह आ गयी। ●

हिन्दी, एक प्रश्न

•

डा० रामनारायण पाण्डेय

आज हिन्दी बहुत विवाद का विषय बन गयी है। यह हमारी राष्ट्रभाषा है फिर भी कुछ लोगों-द्वारा तीव्र विरोध किया जा रहा है। ऐसा क्यों है? क्या इस विरोध की पृष्ठभूमि म कोई तर्क-सगत बात है; या मात्र-वगगत व्यक्तिगत और क्षुद्र तथा क्षणिक स्वार्थों के लिए ही वैर विरोध का यह प्रदर्शन है?

वास्तव में दासता के दिनों में अंग्रेजीवालो ने शासन तथा सार्वजनिक जीवन में, जो स्थिर स्वार्थ उत्पन्न किय गये थे, दरसल उ ही मुट्ठी भर लोगों-द्वारा आज हिन्दी का विरोध और अंग्रेजी का समर्थन किया जा रहा है। इसमें अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं है।

स्वय अंग्रेज जाति के इतिहास (पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी) में जब फ्रेंच को राजभाषा के स्थान से हटाने और अंग्रेजी को उसके स्थान पर अधिष्ठित करने की बात उठी, उस समय वहाँ भी अंग्रेजी के विरुद्ध उसी प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये गये थे, जिस प्रकार के आज हमारे यहाँ हिन्दी के विरुद्ध उपस्थित किये जा रहे हैं।

लेकिन, इंगलैण्ड में अंग्रेजी भाषा को विरोधों के बावजूद राजभाषा स्वीकार किया गया और फ्रेंचको छुट्टी दी गयी। ऐसा करके ही इंगलैण्ड ने स्वर्णाक्षरो में लिखाजाने लायक अपना इतिहास बनाया। सोवियत-रूस का आधुनिक इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि अपनी भाषा को अपनाकर कोई देश किस तेजी के साथ आगे बढ सकता है।

प्रतिभाओं का बहुमुखी विकास

ऐसा क्यों और किस प्रकार सम्भव हुआ? इसका रहस्य यह है कि विदेशी भाषा को बहुत ही थोड़े आदमी सही प्रयोग में ला सकते हैं, जबकि मातृभाषा पैदा होते ही मनुष्य की अपनी हो जाती है। इसका रहस्य यह भी है कि ज्ञान विज्ञान की भाषा विदेशी होने पर किसी देश में अपनी प्रतिभाओं का बहुत सीमित विकास होता है क्योंकि उस भाषा को जाननेवाले बहुत थोड़े लोगों को अवसर सुलभ रहता है। दूसरी ओर ज्ञान विज्ञान की भाषा होने पर देश की विशाल जनसंख्या में से सभी योग्य और मेधावी लोगों को विकास के अवसर सुलभ हो जाते हैं।

आज भारत में ज्ञान विज्ञान की भाषा अंग्रेजी है। इससे केवल दो प्रतिशत अंग्रेजी जाननेवालो के मध्य ही प्रतिभाओं का अति सीमित विकास सम्भव है, जबकि हिन्दी के ज्ञान विज्ञान की भाषा बन जाने पर अन्य ९८ प्रतिशत की विशाल जनसंख्या में भी योग्य, अच्छे तथा मेधावी व्यक्तियों की प्रतिभाओं के विकास के अवसर सुलभ हो जायेंगे। यह एक ऐसा मौलिक तथ्य और ज्वलन्त सत्य है कि इसकी रुकावटों, दिक्कतों और कितनी समस्याओं की सारी बातें एकदम बेकार और निस्सार साबित हो जाती हैं।

क्या हिन्दी क्षमताहीन है?

कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि हिन्दी में क्षमता नहीं है और अंग्रेजी समृद्ध भाषा है। ऐसे लोगो से मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि अंग्रेजी भाषा कितने ही बाहरी शब्दो से विकसित होकर आज इस जगह पहुँची है। कार्यारम्भ की दृष्टि से हिन्दी आज भी उससे काफी अच्छी है। 'हिन्दी इस योग्य हो जाय तब उसे सारे काम काज के लिए ग्रहण किया जाय।" —यदि इस तर्क से काम लिया गया तो यह स्पष्ट है कि हिन्दी कभी भी काम-काज के योग्य नहीं हो सकेगी।

बिना प्रयोग के कोई भाषा सौ तो क्या हजार वर्ष में भी विकसित नहीं हो सकती। दूसरी ओर प्रयोग शुरू होने पर बालक की तरह भाषा भी निरन्तर शब्द बनाती रहती है, अपना शब्द भण्डार बढ़ाती जाती है, और अन्ततः वह पूर्णतया विकसित और समृद्ध बन जाती है।

हमारे साथ और हमारे बाद कितने ही राष्ट्र अँग्रेजी राजसत्ता की दासता से मुक्त हुए। इन देशों में भी हमारे ही यहाँ की तरह काम-काज की भाषा अँग्रेजी ही थी। यह कितने खेद और पश्चाताप का विषय है कि हम अभी झंझटों में फँसे हुए हैं और घोलका तथा पाकिस्तान-जैसे छोटे छोटे देशों ने अपनी राष्ट्रभाषा निश्चित करके उसका प्रयोग आरम्भ भी कर दिया है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि अँग्रेजी में इंगलैण्ड की आत्मा है, आस्ट्रेलिया की आत्मा है, अमेरिका या गोरे दक्षिणी अफ्रीका की आत्मा हो सकती है, पर उसमें भारत की आत्मा नहीं हो सकती। 'अँग्रेजी' से गैंजेज को जाना जा सकता है, पर 'गंगा' का तो अर्थ ही कुछ दूसरा होता है। 'हिमालय' का ज्ञान अँग्रेजी से हो सकता है, पर कैलाश' कुछ और ही अर्थ रखता है। इसी प्रकार शिव, पवित्र दुर्गा, चण्डी भैरव, गणपति, जौहर, सतीत्व तथा ताण्डव का जो अभिप्राय है, उसका अँग्रेजी में अनुवाद नहीं हो सकता।

अँग्रेजी में सेलीबेसी' शब्द अवश्य है, पर वह हमारे ब्रह्मचर्य का पर्याय नहीं बन सकता। 'हरकुलिस' और 'हनुमान' एक तराजू पर नहीं तोले जा सकते। वस्तुत प्रत्येक भाषा की अपनी क्षमता होती है और उसका अपना इतिहास होता है, और इस विशद पृष्ठभूमि में ही प्रत्येक शब्द अपना अभिप्राय प्राप्त करता है। यह सब तो अपनी ही भाषा में सम्भव है।

इसके विपरीत, सभी भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि इनकी आत्मा एक है। इनमें भारत की आत्मा है। इस देश के ही वातावरण में ये पैदा हुईं, बढ़ीं और इसी वातावरण में उन्होंने प्रौढ़ता प्राप्त की। यही कारण है कि तमिल, तेलुगू मलयालम्, गुजराती, मराठी, बँगला, असमिया, और उड़िया आदि किसी भी भाषा में जो आत्मीयता हम पाते हैं उसका हम अँग्रेजी में अनुभव नहीं कर सकते।

इन सभी भारतीय भाषाओं में भाव साम्य तो है ही, वर्णन के विषय, कहानी-कथा, धर्म, अर्थ-न्याय सब एक ही हैं। इतना ही नहीं, इनके स्वरूप में भी काफी साम्य है।

दक्षिण की किसी भी भाषा को ले लीजिए, उसमें २५ से ७५ प्रतिशत शब्द संस्कृत के पाये जाते हैं। इन कारणों से हमें जो श्रम किसी दूसरी भाषा को सीखने में लगता है वह बहुत घट जाता है। ये सब बातें आपसी अपनाव के लिए अत्यन्त अनुकूल हैं। यदि संकीर्ण स्वार्थों को मार्ग में बाधक नहीं बनने दिया जाय तो सभी भाषाओं से हिन्दी का हित साधन ही हो सकता है तथा राजभाषा के रूप में अभिवृद्धि प्राप्त करने में उसे सहायता ही मिल सकती है।

आचार्य शंकर ने क्या किया ?

देश में भावात्मक एकता की आवश्यकता बड़ी ही तीव्रता से अनुभव की जा रही है, पर बिना राष्ट्रभाषा को अपनाये और विकसित किये यह सम्भव नहीं है, क्योंकि भाषा ही हमारे देश की भावनात्मक एकता की प्रतीक है। हमें यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि अँग्रेजी से देश की भावनात्मक एकता उत्पन्न करने का काम कभी सम्भव नहीं हो सकेगा।

अँग्रेजी हमें एक दूसरे को निकट लाने में न तो अब तक समर्थ रही है और न भविष्य में कभी समर्थ होगी। असलियत तो यह है कि आज हम भावनात्मक एकता के लिए कहते हैं, पर करते नहीं। अगर हम सचमुच देश में भावनात्मक एकता चाहते हैं तो आज से हजार-बारह सौ वर्ष पहले के अपने इतिहास पर हमें दृष्टिपात करना चाहिए। हम सोचना और समझना चाहिए कि उस समय आचार्य शंकर ने क्या किया और देश को किस प्रकार एकता के सूत्र में बाँधा ?

आचार्य शंकर ने दक्षिण के लोगों को उत्तर में और उत्तर के लोगों को दक्षिण में पूजा तथा दूसरे कार्यों के लिए रखा। दक्षिण के नम्बूदरीपाद ब्राह्मण कश्मीर

के तीर्थ-स्थानों तथा बदरीनाथ ऐसे स्थानों पर आज भी मौजूद हैं। इस तथ्य से यदि हमें कोई शिक्षा मिलती है तो यही कि अपनी भाषा और संस्कृति की पृष्ठभूमि में पारस्परिक सम्पर्क को बढ़ा करके ही हम देश में भावनात्मक एकता उत्पन्न कर सकते हैं इसका कोई अन्य उपाय नहीं है।

भावनात्मक एकता के लिए सही संकेत

आज आवश्यकता इस बात की है कि उत्तर भारत के हिन्दी भाषी क्षेत्रों का प्रत्येक विद्यार्थी कोई न कोई दक्षिणी भाषा पढ़े और इसी प्रकार दक्षिण के प्रदेशों तथा अन्य अहिन्दी भाषी राज्यों में विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ायी जाय। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यदि मुमकिन हो तो सरकार की ओर से इस सम्बन्ध में व्यापक आधार पर कुछ किया जाय। उदाहरण के तौर पर उत्तर-प्रदेश जैसे राज्यों से तीन चार हजार उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में दक्षिणी भाषाओं के विद्वान अध्यापक बुलाकर रखे जायें।

इस प्रकार ये अध्यापक अपने यहाँ से न केवल भाखरी, आमरो रशम, दोसा, साम्बर, पल्या ही लायेंगे वरन शादी-व्याह और जन्म-मृत्यु संस्कार-सम्बन्धी बहुत से व्यवहार भी अपने साथ लायेंगे जिन्हें उत्तर भारत के उनके शिष्य ग्रहण करेंगे। फिर जब उत्तर भारत के संस्कार-व्यवहार लेकर कुछ काल बाद इनमें से कुछ अध्यापक अपने घरों को लौटेंगे या इनके पढ़ाये हुए उत्तर भारत के विद्वान दक्षिण में जाकर ज्ञान फैलायेंगे तब वही देश की भावनात्मक एकता के लक्ष्य की प्राप्ति का शुभ दिन होगा।

सत्य तो यह है कि हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के मेल जोल से ही हम भारत के विभिन्न क्षेत्रों के लोग परस्पर निकट सम्पर्क में आकर देश की भावनात्मक एकता को साकार कर सकते हैं और सबल बना सकते हैं। देश की भावनात्मक एकता की प्राप्ति का यही एकमात्र साधन है, जबकि अंग्रेजी की हिमायत द्वारा उत्पन्न टकराओं से इस एकता को भारी धक्का लग सकता है और उसकी अपूरणीय क्षति हो सकती है।

भविष्य किसका ?

देश, राष्ट्रभाषा, और अन्य प्रदेशीय भाषाओं के व्यापक हितों के आगे भारतीय प्रशासकीय सेवा और अन्य सरकारी नौकरियों के पदों को पाने का सवाल एक बहुत छोटा सवाल है, क्योंकि यह एक बहुत छोटे-से निहित स्वार्थी वर्ग से सम्बन्ध रखता है। फिर भी किसी अन्य भाषा भाषी प्रदेश को यदि कथित हिन्दी साम्राज्य-वाद अथवा हिन्दी की दासता का भय है तो इन सेवाओं में भयग्रस्त लोगों के न्यूनतम प्रतिशत को निश्चित किया जा सकता है। इन सेवाओं का सम्बन्ध अंग्रेजी पढ़े लिखे उस वर्ग से है, जिसकी संख्या देश में दो प्रतिशत से अधिक नहीं है। फिर इन लोगों को यह भी समझना चाहिए कि नयी पीढ़ी के लोग अंग्रेजी के मुकाबले कहीं कम श्रम द्वारा और कहीं कम समय में प्रदेशीय भाषा की तरह हिन्दी में भी ज्ञानार्जन कर सकते हैं। हिन्दी सम्बन्धी जिन कठिनाइयों की आज चर्चा है वे चन्दरोजा हैं। मुझे विश्वास है कि वह समय दूर नहीं है, जब हमारे देश के नौजवान हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने में गर्व का अनुभव करने लगेंगे।

हमारे राष्ट्रीय जीवन में आज अंग्रेजी का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने शासक और शासित इन दो वर्गों के बीच के अन्तर को पूर्ववत कायम रखा है। इन्हें एकमन तथा एकप्राण नहीं होने दिया है।

हमारे समाज में आज अंग्रेजी कुछ विशिष्ट लोगों के सम्मान की भाषा बनी हुई है। फलस्वरूप हीनता तथा उच्चता की भावनाओं के कारण हमारा सामाजिक जीवन अत्यन्त भेदभाव पूर्ण तथा कलुषित बना हुआ है। जहाँ तक शैक्षिक क्षेत्र का सम्बन्ध है, अंग्रेजी को माध्यम बनाये रखने के समर्थक अपने बच्चों को इस विचार से 'कानवेंट्स' और 'पब्लिक स्कूलों' में भेजते हैं कि उच्च नौकरियों के लिए अपेक्षित अंग्रेजी की विशेष योग्यता इनके बच्चों को प्राप्त हो। इन स्कूलों की शिक्षा पर माता पिता का काफी पैसा खर्च करके ये बच्चे हालांकि अंग्रेजी भाषा बोलना सीख जाते हैं पर इनमें आत्म-सम्मान, आत्मनिर्भरता और देश प्रेम के व आवश्यक गुण नहीं आ पाते, जो उन साधारण स्कूलों के बच्चों में आ जाते हैं, जिनमें हिन्दी पर जोर दिया जाता है।

अनुभव तो कुछ ऐसा ही बताता है कि कानवेन्ट-जैसे स्कूलों से पढ़कर इण्टरमिडियेट की कक्षाओं में आनेवाले छात्र अन्य विषयों की तो बात ही जाने दीजिए, अकसर अँग्रेजी में भी अपने दूसरे साथियों के बराबर नम्बर नहीं ला पाते। हाँ, उनका जीवन एक अलगाववादी साँचे में अवश्य ढल जाता है।

दो शब्द लेखकों से

अन्त में दो शब्द में हिन्दी और सामान्यतया अन्य प्रदेशीय भाषाओं के लेखकों से भी निवेदन करना चाहूँगा। उन्हें यह अनुभव करना चाहिए कि वे जो स्थान अपनी अपनी भाषाओं को दिलाना चाहते हैं, वह वे नारेबाजी से नहीं दिला पायेंगे। यह तो कठिन तप के द्वारा ही सम्भव हो सकेगा। इसी तप अर्थात् किसी कार्य के लिए निष्ठापूर्ण अर्पण की महिमा का महाकवि तुलसी ने अपनी अमर कृति मानस में दो स्थलों पर इन शब्दों में वर्णन किया है—

'तप बल रचै प्रपंच विधाता।'
'तप ते अगम न कछु संसारा।'

स्वयं तुलसी की साहित्य साधना, तपश्चर्या की सफलता इन सूक्तियों की सत्यता को प्रमाणित करती है। जिस समय तुलसी ने मानस की रचना की, उस समय भारत के मुसलिम शासकों की राजभाषा फारसी थी और अरबी को विशेष स्थान प्राप्त था। तब हिन्दू पण्डितों की भाषा संस्कृत थी और वे भी हिन्दी को हेय समझते थे। तुलसी ने मानस-रचना हिन्दी भाषा में ही की और वह कृति सोने के सिक्के की भाँति आज भी अपने अन्त मूल्य के कारण चल रही है तथा सदैव चलेगी।

पर, फारसी कई सौ वर्ष तक राजभाषा रहने के बावजूद आज भारत के लिए मृत भाषाओं की पंक्ति में स्थान ग्रहण कर चुकी है। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजी का भी वही हाल होना निश्चित है, जो फारसी का हुआ। त्रिभाषी फारमूला अंग्रेजी को बचाने में समर्थ नहीं होगा, क्योंकि उसकी अपनी कमजोरियाँ हैं। अंग्रेजी अब बहुत दिन नहीं चल सकती और भविष्य निश्चित रूप से हिन्दी के साथ है। ●

संस्मरण

गुस्सा क्यों नहीं आया ?

●

युगल किशोर सिंह

स्वामी विवेकानन्दजी रेल-यात्रा कर रहे थे। उसी डिब्बे में दो अँग्रेज भी सफर कर रहे थे। उन्होंने स्वामीजी को देखकर भारत के साधु-सन्तों के बारे में जितना बुरा भला कहते बना, कहा।

इतने में कोई स्टेशन आया। गाड़ी रुकी। स्वामीजी ने स्टेशनमास्टर को बुलाकर अंग्रेजी में पानी माँगा।

स्वामी जी को अँग्रेजी बोलते सुनकर दोनों अँग्रेज स्तब्ध रह गये। वे सोच भी नहीं सकते थे कि यह गेरुआधारी साधु अँग्रेजी भी जानता होगा।

गाड़ी चली तो उनमें से एक ने स्वामीजी से पूछा—जब आप अँग्रेजी जानते हैं तो बोले क्यों नहीं? हम लोगों ने आप को लक्ष्य बनाकर बुरी भली इतनी बातें कीं, लेकिन आपको गुस्सा क्यों नहीं आया?"

स्वामी विवेकानन्द ने हँसते हुए कहा—"मेरे दोस्तो, आप जैसे व्यक्ति तो मेरे सम्पर्क में प्राय आया करते हैं। मेरे लिए यह कोई नयी बात नहीं है। .. फिर बेसमझ लोगों पर गुस्सा करके मैं अपनी शक्ति व्यर्थ क्यों खर्च करूँ?"

भाषा का सवाल

•

काका कालेलकर

"आज तक जो गलतियाँ हुई, उनको हम भूल सकते है, लेकिन परिस्थिति भूलो की कीमत लिये बिना छोडेगी नहीं। मैं मानता हूँ कि केवल हिन्दी भाषी भारत में अंग्रेजी को निर्मूल करने का आन्दोलन हितकर नहीं है। आज भले ही दक्षिण अथवा पूर्व के लोग अंग्रेजी का पक्ष करते दीख पडें, लेकिन हमें भूलना नही चाहिए कि सारे भारत में हृदय से अंग्रेजी का पक्ष करनेवाले लोग भी बहुत है।

श्री जवाहरलाल और उनके अनुयायी विधानत. हिन्दी का जरूर समर्थ करते रहे, और हिन्दी की सेवा करन में भी उन्होंने कोर-कसर नही रखी, लेकिन उनका हार्दिक समर्थन अंग्रेजी को ही था। आज सारे देश के कार्यकर्ता अंग्रेजी के आदी हैं, और अंग्रेजी में शासन की सहूलियत देखते है। भारत भर के कालेजो के अध्यापक अंग्रेजी के ही आदी है।

देश के प्रधान दैनिक पत्र अंग्रेजी में चलते है। इनमें से बहुत से दैनिकों के मालिक हिन्दी भाषी ही है, और वे अंग्रेजी के साथ साथ हिन्दी दैनिक भी चलाते है। लेकिन, उनका भी पक्षपात अंग्रेजी के प्रति है। ऐसी हालत में केवल आन्दोलन के द्वारा अंग्रेजी को मिटाने का नया प्रयत्न राजसत्ता को कमजोर कर सकेगा, लेकिन हिन्दी को सफल नहीं बना सकेगा।

मैं मानता हूँ कि आज की हालत में हम इतना कबूल करें कि जिनको हिन्दी नहीं चाहिए, उनपर हिन्दी लादी न जाय, और जिनको अंग्रेजी नहीं चाहिए, उनपर अंग्रेजी लादी न जाय।

अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में राज चलाने में कठिनाई होते हुए भी केन्द्रीय सरकार उस स्थिति को मजूर करे। आज जिस ढग से केन्द्रीय सरकार और हमारी पालियामेंट हिन्दी को स्वीकार करती है उससे तो केवल अंग्रेजी चले तो अच्छा, ऐसा कहना पड़ता है। मुख्य भाषा अंग्रेजी, उसका हिन्दी अनुवाद बेजान। उसकी तरफ कोई ध्यान ही नही देता। परिभाषा मेरे-जैसे विद्वानों ने तैयार की है। अनुभव कहता है कि उसका प्रचलन आसान नही है। मैं तो कहूँगा कि अंग्रेजी का प्रचार कम करना हो तो कुछ समय के लिए हिन्दी में अंग्रेजी के रूढ शब्द लेकर ही चलना होगा।

राज्य चलानेवाले मत्री और कर्मचारी अगर अपनी इच्छा के अनुरूप दो में से एक भाषा का और उसकी शब्दावली का अभिमान रखकर चलेंगे तो राज्य-शासन चलाना आसान नही होगा।

आज तो उग्र परिस्थिति है। उसका मुकाबला सौम्यता से और समझौते से ही हो सकेगा।

लेकिन, अगर हम राष्ट्र के प्राण की रक्षा करना चाहते है, सामान्य जनता का उद्धार करना चाहते हैं तो हमें अंग्रेजी के बारे में अपनी नीति स्पष्ट करनी ही चाहिए। इसमे दो बातें है। हमारे राष्ट्रीय जीवन का वाहन सदा के लिए अंग्रेजी ही हो, यह बात असह्य है। हमारा राज-काज अंग्रेजी में न चले, हमारी अखबारी दुनिया की प्रधान भाषा अंग्रेजी न हो, और शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी न रहे, इसके लिए हमें प्राणपण से चेष्टा करनी होगी।

इस तरह का अंग्रेजी का विरोध केवल हिन्दी के द्वारा नही हो सकेगा। हम हिन्दी का आन्दोलन फिर से शुरू करें। उसके पहले भारत की सब प्रांतीय भाषाएँ अपने-अपने क्षेत्र में अधिकारारूढ़ बनें, इसका जबरदस्त आन्दोलन हमें चलाना होगा। 'प्रजा का राज

प्रजा की भाषा में चले' यही हमारा राष्ट्रीय उद्घोष होना चाहिए। अंग्रेजी के पक्षपाती इसका विरोध करने की हिम्मत नहीं करेंगे। हम सब मिलकर भारत की सब भाषाओं को अपने क्षेत्र में मजबूत करें, अधिकारारूढ करें, और इन सब प्रान्तीय भाषाओं के द्वारा जनता को शिक्षित और समर्थ करें। यही होनी चाहिए हमारी राष्ट्रीय नीति।

मैं जानता हूँ कि अंग्रेजीवाले एकता की दुहाई देकर 'प्रजा का राज प्रजा की भाषा में' इस आंदोलन का विरोध करेंगे। हिन्दी के लोभी लोगो ने भी एकता की दुहाई देकर प्रान्तीय भाषाओं की उपेक्षा की है।

कई अंग्रेजीवाला ने यह सोचकर कि अंग्रेजी का समर्थन प्रजा मान्य नहीं होगा, प्रान्तीय-भाषा के खिलाफ हिन्दी का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि प्रान्तीय भाषाओं में राज्य चलने से देश के टुकडे हो जायेंगे। सारे देश के हित के लिए आप अंग्रेजी की आवश्यकता मजूर नहीं करते तो हिन्दी लीजिए, और जब तक हिन्दी तैयारी नही है तब तक अंग्रेजी लीजिए।

'प्रजा का राज प्रजा की भाषा में' चलने से न देश की एकता खतरे में है, न भारत के लोगों की राष्ट्रीयता। राज्यकर्ताओं ने कभी प्रान्तीय भाषाओं की कदर नही की, प्रान्तीय भाषाओं के अभिमानियों को बुरी तरह झाडा, भाषीय सरहद के झगड बढने दिये और अंग्रेजी के पक्ष को मजबूत किया।

अंग्रेजी भाषा और उसका साहित्य खास करके पश्चिम का विज्ञान और विचार हमारे देश से लुप्त न हो जाय, इसके लिए हम जरूर सतर्क रहें।

देश में जो भी आदमी उत्तम अंग्रेजी सीखना चाहे, *उसे अंग्रेजी सीखने की सहूलियतें अधिक-से अधिक* मिलें, लेकिन कोई नाम मात्र अंग्रेजी सीखना चाह तो उसे प्रोत्साहन न मिले। ऐसा प्रबन्ध करने के बाद हम जाहिर करें कि "समूचे भारत में यह नीति कायम रहेगी कि जिनको अंग्रेजी नही चाहिए उनपर अंग्रेजी नहीं लादी जायगी। जिसे अंग्रेजी नहीं आती उसे शिक्षा के क्षेत्र स और सरकारी नौकरी से भी वंचित रहना नहीं पडेगा।"

और, अब हमें नम्रता के साथ, प्रेम, अनुनय और सेवा के बल पर दक्षिण भारत में और पूर्व भारत में हिन्दी का फिर से प्रचार शुरू करना होगा। सामान्य जनता को बहकाकर उससे अंग्रेजी का समर्थन करवाना आज शक्य बना, लेकिन अगर हम प्रान्तीय भाषाओं की उत्तम सेवा करेंगे और जनता में जागृति, समृद्धि *और सामर्थ्य बढाने की कोशिश करेंगे तो मुझे पूरा* विश्वास है कि जनता परदेशी भाषा अंग्रेजी का नशा छोडकर स्वदेशी अखिल भारतीय हिन्दी को स्वीकार जरूर करेगी।

यह काम सरकार के द्वारा हो सकता था, लेकिन उसने नहीं किया। अब सरकार के द्वारा करने में गलतफहमी बढेगी। इस वास्ते यह काम राष्ट्रीय वृत्ति के लोक-*सेवकों के द्वारा होना चाहिए। इसमें हिन्दू संस्कृति,* मुसलिम संस्कृति, ईसाई संस्कृति के संकुचित अभिमानी लोगो की मदद न ली जाय। संस्कृति के उपासक भूतकाल की ही भक्ति करते हैं, उनके लिए भविष्य काल नहीं है। जो लोग भूतकाल की संस्कृति से लाभ उठाकर, वर्तमान काल की संस्कृति को पहचानकर, भविष्य की संस्कृति बनाना चाहते हैं, उन्ही के द्वारा यह काम होने का है। इसमें जिनकी जन्म-भाषा हिन्दी है, वे नेतृत्व न करें, किन्तु उनसे जितनी हो सके सहायता दें। हिन्दी-प्रचार में भी नौकरी पेशा लोगो का एक वर्ग तैयार हुआ है। उसके द्वारा हिन्दी का लोभ हिन्दीवालो ने आज तक रखा, लेकिन उनसे कुछ नहीं हो सका।

अब शुद्ध बुनियाद पर नया काम प्रारम्भ करना होगा। हिम्मत हारने का कोई कारण नहीं है। समूचे भारत की सांस्कृतिक सेवा सबको सब भारतीय भाषाओं की मदद से हिन्दी कर सकेगी।

इस सन्दर्भ में मेरा निवेदन है कि—

जो-जो भाषाएँ भारत में जन्मी हैं, अथवा जिन भाषाओं का प्रचलन भारत में है, यानी जो भाषाएँ भारत की जनता कहीं-न-कहीं बोलती है, उन सब भाषाओं के प्रति हमारे मन में आत्मीयता और आदर हो।

इन सब भाषाओं के प्रचलन और विकास के लिए प्रोत्साहन दिया जाय। बोलनेवालों की संख्या कम है अथवा भाषा अविकसित है, इस कारण किसी भी भाषा की उपेक्षा न हो।

मैं जानता हूँ कि चन्द भाषाएँ बोलनेवालों की संख्या बिलकुल छोटी है और चन्द भाषाएँ अब विकसित होने की अवस्था में नहीं हैं। ऐसी भाषाओं को स्वाभाविक मौत से मरने देना योग्य होगा। उनके प्रति हमारा तुच्छ भाव या विरोध उसका कारण न हो।

भारत की प्रान्तीय भाषाओं में ही प्रजा (जनता) का राज चले और वे ही भाषाएँ शिक्षा का वाहन अथवा माध्यम बनें।

अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध बढ़ाने के लिए और अखिल भारतीय स्वरूप का काम करने के लिए अखिल भारतीय स्वरूप की ही हिन्दी भाषा हो। इस कार्य के लिए अँग्रेजी का स्वीकार हमेशा के लिए हरगिज न हो।

हिन्दी के अखिल भारतीय स्वरूप की शर्त यह है कि भारत के सब लोगों की आत्मीयता उसके प्रति हो। इस भाषा में सब भाषाओं के शब्दों को प्रवेश करने की इजाजत हो।

हिन्दी में स्वाभाविक क्रम से आनेवाले किसी भी भाषा के शब्दों का बहिष्कार करने की वृत्ति को कहीं भी प्रश्रय न मिले। हिन्दी में संस्कृत के, पाली आदि प्राकृत के, अरबी, फारसी, पोर्तगीज, फ्रेंच, अँग्रेजी आदि परदेशी भाषाओं के, दक्षिण की तमिल, तेलुगु, मलयालम्, कन्नड़, तुलु आदि भाषाओं के, या अन्य सब भाषाओं के शब्द अगर स्वाभाविक क्रम से आने लगें तो उसका विरोध न किया जाय। जो शब्द टिकेंगे सो टिकेंगे और जो नहीं टिकेंगे वे चले जायेंगे।

यह डर कि उर्दू हिन्दी को खा जायेगी, अब अर्थ विहीन है, इस डर को छोड़ देना चाहिए।

उर्दू भाषा का जन्म भारत में ही हुआ है। उसका प्रचलन भारत में ही है। उसमें देशी शब्द कम करके अरबी-फारसी के शब्द बढ़ाने की नीति उर्दूवालों ने किसी समय चलायी। उसमें जीवन-द्रोह था। उर्दू का विकास-हिन्दू-मुसलिम दोनों ने किया है। ऊपर बताया हुआ जीवन द्रोह भी दोनों ने किया है। आज उस भाषा का अभिमान मात्र मुसल्मानों को ही है। उसकी लिपि की कठिनाई भी है, यह मैं जानता हूँ। लेकिन, उर्दू की अवहेलना हमसे बिलकुल न हो। भारत के सब लोग उर्दू लिपि सीखें, यह आग्रह नहीं चला सकते, लेकिन अरबी-फारसी के शब्दों का बहिष्कार करने की प्रवृत्ति जाहिरा तौर पर छोड़ देनी चाहिए।

अँग्रेजी को हटाकर उसकी जगह हिन्दी लाने का प्रयत्न किसी भी सरकार ने आज तक पूरे दिल से नहीं किया, यह बात सही है, किन्तु इस पर जोर देकर उत्तर भारत की अँग्रेजी-भक्ति छिपाना न्याय की बात नहीं है।

सन् १९२५ में कांग्रेस ने हिन्दुस्तानी को हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा के तौर पर मंजूर किया था। कॉन्स्टीट्युएण्ट ऐसेम्बली में जवाहरलालजी ने उसी का प्रस्ताव किया था। उसका स्वीकार होता तो जवाहरलालजी, मौलाना, गांधीजी आदि सब लोगों का बल हिन्दी को मिलता। दक्षिण के लोगों की मदद लेकर हिन्दुस्तानी की नीति को करीब-करीब सर्वानुमति से परास्त किया। इससे हिन्दी के सिर पर राजमुकुट चढ़ा; लेकिन राजदण्ड अँग्रेजी के हाथ में गया।

उर्दू के खिलाफ विजय पाना, इसी में हिन्दी की सारी शक्ति खत्म हुई। अँग्रेजी के खिलाफ गांधीजी का जो संकल्प था, इतना प्रभावी संकल्प हिन्दीवालों में कभी था ही नहीं। आज कुछ दिख पड़ता है, लेकिन वह विकृत है और सार्वत्रिक नहीं है।

अँग्रेजी की उपेक्षा हम इस देश में न करें। केवल पश्चिम का भौतिक विज्ञान और यन्त्रविद्या ही नहीं, किन्तु मानव विकास का पश्चिम का चिन्तन भी हमारे लिए उपादेय है। इसलिए दीर्घकाल तक अँग्रेजी के अध्ययन की सार्वत्रिक सहूलियत देश में कायम रहनी चाहिए। लेकिन—

भारत का राज कहीं भी अँग्रेजी में न चले। किसी भी विषय के अध्ययन के लिए माध्यम के तौर पर

अंग्रेजी का उपयोग न हो और देश के दैनिक अखबारों में और वृत्त-विवेचन में अंग्रेजी की प्रधानता दिन-पर-दिन कम हो, यह जरूरी है।

और, जिसे अँग्रेजी नहीं सीखनी है, उसके लिए शिक्षा के दरवाजे बन्द न हों। जो भी अंग्रेजी सीखना चाहे, उसे सब तरह की मदद अवश्यमेव दी जाय। आजकी हालत में 'फीसदी सौ आदमी अँग्रेजी सीखना चाहेंगे, सो मैं जानता हूँ। लेकिन, जो अंग्रेजी नहीं चाहते, उनपर वह लादी न जाय और उनके लिए ज्ञान-प्राप्ति के दरवाजे बन्द न हों।

जिस तरह अँग्रेज अपने साम्राज्य और कामनवेल्थ की सब भाषाएँ सीखने का प्रबन्ध इंगलैण्ड में करते हैं, और काफी संख्या में वे ऐसी भाषाएँ सीखते हैं, उसी तरह और उससे अधिक उत्तर भारत के लोगों को दक्षिण की भाषाएँ सीखनी चाहिए; और उनकी सेवा करनी चाहिए; उनके विकास में आर्थिक सहायता भी देनी चाहिए।

जो लोग बिगड़ बैठते हैं और तूफान करते हैं या गला पकड़ते हैं, केवल उन्हीं की तरफ ध्यान देने के हमारे स्वभाव के कारण ही तूफान बढ़ता जाता है। जिसके प्रति अन्याय या उपेक्षा होती है, वे लाचारी से या सज्जनता से सहन करते हैं। लेकिन, उनका शाप हमें क्षीण करता है।

जो लोग हमारा विरोध करते हैं, उनके कहने में वजूद या सत्य कितना है, यह देखने के पहले हम उनपर चिढ़ जाते हैं, उनसे घृणा और द्वेष करते हैं। यह आत्मघाती वृत्ति है और स्वाराज्य को कमजोर करती है। विरोधी लोग अपने ही हैं, स्वदेशवासी हैं, हमेशा के लिए साथ रहनेवाले हैं। उनसे हम प्रेम-भाव से न रहें, तो वे अपना अलग राज करेंगे और उन्हें ऐसा करते हम रोक नहीं सकेंगे। इतनी बात तो कम-से-कम हमें समझनी चाहिए और हमेशा याद रखना चाहिए।

आज की हालत में जैसा हो सके, कुछ समझौता करके संकट को टालना चाहिए; लेकिन नम्रता, दृढ़ता और सेवा के द्वारा दक्षिण की और पूर्व की सेवा हम करते जायें। उनकी भाषा, उनका साहित्य और उनका समाज, सबके प्रति आत्मीयता बढ़ाकर, आज नहीं, किन्तु अन्त में उन्हें हिन्दी के लिए अनुकूल बनाना बिलकुल शक्य है, इतना विश्वास तो हमें रखना चाहिए।

जो थोड़े परदेशी लोग हमारे यहाँ स्थायी रूप से रह रहे हैं और जो भारतीय इंगलो-इण्डियन के नाम से पहचाने जाते हैं, उनके लिए भले ही शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी हो; लेकिन उनको हिन्दी तो सीखनी ही चाहिए।

राज्य प्रजा के लिए है, राज्यकर्ताओं की सहूलियत के लिए नहीं। इसलिए राज्यकर्ताओं की सहूलियत को आज जो महत्व दिया जाता है, इतना देने की जरूरत नहीं है।

आल इण्डिया सर्विसेज का महत्व नाहक बढ़ाया गया है, भाषावार प्रान्त-रचना के दोष नाहक बताये जाते हैं। अंग्रेजी भाषा के द्वारा ही भारत की एकता टिक सकती है, यह कल्पना गलत है। लोगों की परस्पर आत्मीयता और भारत की सम्मिश्र संस्कृति ही भारत की एकता को बनाये हुए है।

भारतीय एकता सुदृढ़ करने के लिए भिन्न-भाषी, भिन्न-धर्मी और भिन्न-प्रान्तीय लोगों का सामाजिक जीवन ओतप्रोत बनना चाहिए, ऐसा आज नहीं है। हम लोग छोटे छोटे दायरे बनाकर रहने के आदी बन गये हैं, यही है बड़ा राष्ट्रीय दोष।

छोटे-छोटे सवालों का निराकरण बहुमत से हो सकता है; किन्तु जब साथ एकत्र रहना है या नहीं, ऐसा सवाल खड़ा होता है, तब निर्णय आत्मीयता बढ़ाने से ही हो सकता है। परस्परावलम्बन के द्वारा ही हम बच सकते हैं, इतना विश्वास लोगों में बढ़े, ऐसी हमारी आत्मीयता होनी चाहिए।

आत्मीयता, उदारता, क्षमावृत्ति, सहनशीलता ये ही हो सकते हैं हमारे राष्ट्रीय सद्गुण। इनसे तेजस्विता, दृढ़ता, पराक्रम और विजय आदि सिद्ध होंगे।

भूलना नहीं चाहिए कि आखिरकार जागतिक मानवता ही हमारा उद्देश्य है, और यही है हमारा युगधर्म।●

रचनात्मक कार्य : अब तक और आगे

●

राममूर्ति

ऐतिहासिक दृष्टि से 'ग्राम इकाई' का जन्म सरकार की विकास योजना तथा संस्थाओं के रचनात्मक कार्यक्रम की विफलता के गर्भ से हुआ था। लम्बे अनुभव से एक ओर सरकार ने महसूस किया कि योजना तो चलती है; लेकिन विकास किसका होता है ? दूसरी ओर संस्थाओं ने देखा कि *कार्य तो होते हैं, पर रचना किसकी होती है ?* जिस गाँव के नाम में आजतक सब कुछ किया गया, क्या वह जैसे का तैसा, ज्यों-का त्यों नहीं रह गया ? क्या विकास का पैसा और प्रचार का कामदेव ग्रामीण जीवन के अडिग-अचल शिव को हिला सका ? क्या *इतने वर्षों की रगड के बाद भी सरकार का विकसित* समुदाय या हमारा अहिंसक समाज कहीं दूर क्षितिज पर भी दिखाई देता है ? क्या कारण है कि हम अपनी जगह सही कार्य करने का दावा करते हैं; लेकिन अपेक्षित परिणाम नहीं निकलता ? सफलता के अभाव की इस प्रतीति के कारण ही रचनात्मक संस्थाओं ने १९५९ में 'नया मोड' स्वीकार किया और तय किया कि लोकतंत्र और योजना के इस युग में हम गाँव से बड़ी एक क्षेत्रीय इकाई यानी पंचायत को लेकर समग्र कार्यक्रम चलायेंगे, ताकि एक सम्पूर्ण— सहकारी, स्वावलम्बी-समन्वित समाज का विकास हो।

फलतः देश भर में अनेक 'ग्राम इकाइयाँ' बनायी गयीं। सरकार, कमीशन और संस्थाओं की इस सम्मिलित सन्तति को सबका समान आशीर्वाद मिला और जोरों के साथ काम शुरू हुआ। 'नया मोड' के पाँच वर्ष बाद हम यह सोच रहे हैं कि मुड़कर हम कहाँ पहुँचे हैं। यह बात नहीं है कि कहीं अच्छा काम हुआ ही नहीं है। जगह-जगह अम्बर और बुनाई आदि के द्वारा उत्साही परिवारों की *कमाई बढ़ाने का अच्छा काम* हुआ है, जिससे कुछ आस्था जगी है, आशा बढ़ी है, लेकिन कहीं भी व्यापकता या गहराई का दर्शन नहीं हुआ, और प्रश्न बना ही है कि समन्वित विकास के नाम से समन्वय हम किस चीज का कर रहे हैं, कार्यक्रम के विभिन्न तत्त्वों का, समाज के परस्पर-विरोधी समुदायों का, संस्था और जनता का, या दुखी *लोगों के तात्कालिक कल्याण और समाज की बुनियादी* क्रान्ति का ?

काम गाँव 'का' होना चाहिए, केवल गाँव 'में' नहीं

बात यह है कि हमने अब तक जो काम किया है 'गाँव में' किया है 'गाँव का' नहीं किया है। 'गाँव में काम' और 'गाँव का काम'—इन दोनों में मूलभूत अन्तर है। हमारे *काम को गाँव ने अपना काम कभी नहीं* माना, और हम अपनी ओर से गाँव के हर व्यक्ति को छू भी नहीं सके। हमारे बहुत से जिन चतुर परिवारों ने कुछ कर लिया उनके हाथ कुछ कमाई लग गयी, लेकिन गाँव में रहनेवाले परिवारों ने आपस में स्वयं *एक दूसरे के लिए कुछ नहीं किया।* और, हमारी सेवा भी मुख्यतः चरखे तक ही सीमित रही। अवश्य, रचनात्मक कार्य के ग्राम इकाई युग में हमने सादे चरखे से

आगे बढ़कर अम्बर चरखे की सम्भावना प्रकट की। यह सिद्ध हुआ कि पारिवारिक उद्योग के रूप में अम्बर चरखा कठोर परिश्रम करने पर परिवार को काफी अच्छी हालत में जिंदा रख सकता है। लेकिन, कहीं भी अब तक अम्बर चरखा गांव की सामूहिक अर्थनीति का आधार या अंग नहीं बन सका है। उस दिशा में कोई कोशिश भी नहीं की गयी है।

हमारे रचनात्मक कार्य गांव के इने गिने लोगों के सहयोग, लेकिन हमारे अपने ही पैसे और प्रेरणा से चले हैं, कहीं भी हमारे कामों ने समाज की बुनियादों को नहीं प्रभावित किया है। 'सर्व' की सम्मति और 'सर्व' की ध्वनि से 'सर्व' का हित सधे, ऐसी स्थिति कहीं भी नहीं आयी है। और, जब हम रचनात्मक कार्यों को गांधीजी-द्वारा दिये गये 'अन्तिम व्यक्ति' (लास्ट मैन) के माप-दण्ड से नापते हैं तो परिणाम प्राय शून्य दिखाई देता है। अन्तिम व्यक्ति तक तो न सरकार की विशाल, कल्याणकारी भुजाएँ पहुँची हैं, और न हमारे सेवा-परायण हाथ। जो ग्रामदानी गांव हमारी ही क्रान्ति की देन थे उनमें भी रचनात्मक कार्य का कोई समन्वयकारी या मुक्तिदायी स्वरूप नहीं प्रकट हो सका। हमने गांव में काम खूब किया, लेकिन हम कैसे मानें कि हमने गांव का काम किया?

मानवीय सम्बन्ध के बिना विकास कैसा?

ग्रामइकाई की अब तक जो निष्पत्ति हुई है, उसे लेकर कई प्रश्न उठते हैं। यह मालूम है कि इकाई की मूल कल्पना में समन्वय था, समग्रता थी। तो क्या जिस पंचायत को हमने अपने काम के लिए इकाई माना उसमें समन्वय का कोई तत्त्व था? क्या हमारी कार्य पद्धति में समन्वयकारी तत्त्व थे? हमने जनता के सामने समन्वय का क्या चित्र (इमेज) प्रस्तुत किया? और, जो सबसे अधिक महत्त्व की बात है, क्या हमने अपने कार्यक्रम के लिए अनुकूल मानवीय परिस्थिति (ह्यूमन सिचुएशन) का निर्माण किया? या, सरकार की विकास-नीति की तरह हमने भी मान लिया कि गांव में संस्था बना देने और कुछ साधन दे देने से ही गांव का विकास हो जायगा?

संस्था (इन्स्टीट्यूशन), साधन (इम्प्लीमेण्ट) और सम्बन्ध (रिलेशन)—यह विकास की त्रयी है, लेकिन इस त्रयी का आधार के सम्बन्ध (रिलेशन) है, जो सरकार-द्वारा जितना उपेक्षित रहा है उतना ही हमारे द्वारा भी। जिसका नतीजा यह हुआ है कि विकास के लिए आवश्यक मानवीय परिस्थिति का निर्माण हुआ ही नहीं, केवल संस्थाएँ बनती रहीं और साधन बाँटे जाते रहे। गांव के जो लोग संस्थाओं से बाहर रहे, वे साधनों से वंचित रहे। हमने यह नहीं सोचा कि सही सम्बन्धों की भूमिका न हो तो साधन और संस्था दोनों शोषण और दमन के माध्यम बन जाते हैं। हमारे देश में आज यही हो रहा है। स्पष्ट है कि ऐसी हालत में ग्राम-इकाई के जिस लक्ष्य को लेकर हम चले थे उस दिशा में हम कुछ आगे नहीं जा सके। इतने दिनों के बाद अब हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि समन्वित कार्यक्रम की दृष्टि से 'ग्राम-इकाई' को छोड़कर 'ब्लाक इकाई' बनानी चाहिए, लेकिन क्या इकाई-क्षेत्र का विस्तार-मात्र कर देने से समस्या का हल हो जायगा?

आज तक हम पंचायत को इकाई मानकर चल रहे थे। पंचायत को इकाई हमने किस आधार पर माना था? पंचायत देश की प्रशासकीय व्यवस्था की सबसे निचली इकाई है। राजनीतिक दलों ने पंचायत को 'सत्ता' की इकाई (पावर सेल) मान रखा है, लेकिन हमने उसे किस आधार पर पुरुषार्थ की इकाई माना था? क्या एक पंचायत में रहनेवाले लोगों में किसी प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या सांस्कृतिक एकता है, जो सामूहिक अभिक्रम और पुरुषार्थ का आधार बन सके? ऐसी कोई भी एकता पंचायत में नहीं है, और सामान्यतः पंचायत के पदाधिकारियों को जनता का विश्वास और श्रद्धा भी प्राप्त नहीं है।

तो क्या आश्चर्य है कि एकता की भावना के अभाव में हम जो भी कार्यक्रम लेकर जाते हैं उसके लिए हमें पंचायत के इने गिने प्रमुख कहे जाने-वाले लोगों की सद्भावना पर भरोसा करना पड़ता है, और उनकी भी सद्भावना क्यों मिलती है? 'हमारे गांवों में भी कुछ हो', 'एक कार्यकर्ता रहेगा, अपना

जाता गया है, और कुछ नहीं होगा तो कुछ चरख तो चलम आदि सकीर्ण बातें सद्भावना की जड़ म होती है। जिस तरह लोगो में परिवार की प्रतिष्ठा का ध्यान होता है उसी तरह मुखिया को अपनी पचायत के स्टटस का ध्यान होता है और वह स्कूल कोआपरटिव तथा पचायत घर की तरह अम्बर परिश्रमालय को भी पचायत के स्टटस का चिह्न (स्टटस सिम्बल) मानता है। सस्था को जल्दी रहती है कमीशन से अनुदान लेन की ग्राम सहायक को जल्दी रहती है परिश्रमालय खुलवाकर अपना काम दिखान की और मुखिया को ज ी रहती ह अपनी प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ान की। बस रचनात्मक काय के शुभारम्भ के रूप में एक शुभ िन को परिश्रमालय का उद्घाटन हो जाता है।

विकास किसे कहें?

हम अपन परिश्रमालय के द्वारा ग्रामीण समाज के सामन विकास का क्या चित्र (इमज) रखते हैं? सरकार की योजनाओं का गाँव के लोग यह अथ लगाते रहे हैं कि उन्हें स्वीकार करन से गाँव को कुछ सुविधाएँ मिलती है और कुछ साधन मिलते ह। अब तक सरकार का सारा जोर साधन और सुविधा देन पर रहा है अब खती का उत्पा न बढ़ान पर है लेकिन सरकार की एमी आँख ह कि वह टोटल को देखती ह। गाँव के कितन लोगो को मिलाकर वह टोटल पूरा होता है इसको देखन की फुरसत केन्द्रित योजना (सेंट्रलाइज्ड प्लनिंग) और नौकरशाही—सह नताशाही के विकास तत्र म नहीं के बराबर होता ह इसलिए स्वभावत वे ही परिवार सुविधाओ और साधनो को ले लेते हैं, जो ले सकते हैं और इस तरह सरकारी टोटल पूरा हो जाता है। टोटल पूरा हो जाता ह पर पेट खाली ही रहता है। फलत गाँव का जो परिवार जीवन में धन अधिकार और प्रभाव का स्टार्ट नहीं पाता वह विकास की दौड़ म भी पीछे रह जाता ह।

रचना मक सस्थाओ के द्वारा होनवाले रचना मक काय के पीछे सरकार के विकास से भिन्न प्रेरणा थी। हमन अहिंसक समाज की स्थापना की घोषणा की थी। गाधीजी न उसी भूमिका में अपना रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत भी किया था। हम जानत थ कि सरकार के विकास और हमारी रचना में अतर ह इसलिए हमें यह सोचना चाहिए था कि सरकारी विकास आज के समाज को जैसे का तैसा रखते हुए भी सम्भव है लेकिन हमारी रचना का तो अथ ही ह नया समाज। उसकी प्ररणा हैं नये मूल्य और निष्पत्ति ह नया समाज। इसी अतर को विनोबाजी न कल्याण-काय और मुक्ति काय की भाषा देकर स्पष्ट किया है और जोर देकर बार बार कहा है कि जिस काय में मुक्ति नहीं ह वह अच्छा और आवश्यक होते हुए भी हमारा नहीं है। उसके लिए हमारा कल्याणकारी राज्य (वल्फयर स्टेट) और उसके अनगिनत हाथ मौजूद हैं।

ये रचनात्मक सस्थाएँ

ग्राम इकाई का प्रवत्तन करन की जिम्मदारी मुख्यत सुसगठित रचना मक सस्थाओ की रही है। बड़ी रचनात्मक सस्थाएँ गाधीजी के जमाने से काम करती आ रही हैं और छोटी नयी सस्थाओ न बड़ी सस्थाओ के रास्ते पर चलन की कोशिश की है। गाधीजी न जो अठारह रचना मक काय देश के सामन रखे वे चार श्रणियों में बाँट जा सकते है—उत्पादन, सेवा, शिक्षण और सगठन। गुलामी की विशेष परिस्थिति में खादी स्वराज्य की वर्दी बनी और रचना मक सस्थाओ ने खादी के उत्पादन को अपना मुख्य काय माना। मूल्य परिवतन तथा अहिंसक अथनीति के विकास की दृष्टि से भी शुरू में खादी पशुपालन और ग्रामोद्योगों पर ही विशेष जोर रहा। स्थायी रूप से अभावग्रस्त देश में उत्पादन की प्रवृत्तियों को पहला स्थान मिलना स्वाभाविक है। स्वराज्य के आ दोलन में जो राष्ट्रीय भावना जगी, और गाधीजी न जिस तरह मानवीय मूल्यो को प्रेरित किया उसके कारण उत्पादन के बाद सेवा को, तथा कुछ छिटपुट शिक्षण की प्रवत्तियो को स्थान मिला। लेकिन, जब तक अग्रजी राज से लड़न के लिए काग्रस मौजूद थी तब तक सगठन की ओर ध्यान देन की तत्परता नहीं प्रकट हुई यद्यपि गाधीजी ने सगठन को ही अहिंसा की कसौटी माना था।

-गांधीजी के जाने के बाद रचनात्मक कार्य अपनी दिशा नहीं स्थिर कर सका। स्वराज्य के बाद यह सम्भव था—सम्भव ही नहीं, आवश्यक था—कि सेवा के कार्य हम लोक-कल्याणकारी सरकार को सौंप देते, उत्पादन समाज के जिम्मे छोड़ देते, और अपने पास केवल शिक्षण और संगठन का कार्य रखते। ऐसा करना स्वराज्य से ग्रामस्वराज्य की दिशा में चलने के अनुरूप होता, लेकिन संस्थाओं ने खादी को लेकर एकाधिकार के बाजार (मनोपली मार्केट) में अपना जो स्थान बना लिया था उसके कारण उनका अपना आर्थिक निहित स्वार्थ (वेस्टेड इण्टरेस्ट) विकसित हो गया था, जिसके कारण उनमें शक्ति नहीं रह गयी थी कि वे अपने संस्थागत स्वार्थ का त्याग कर सकें। उन्होंने उत्पादन और बिक्री-द्वारा बेकारी में राहत देने का अपना कल्याणकारी कार्य जारी रखा। कार्यकर्ताओं और संचालकों ने 'सेवा' की इस पद्धति में अपनी सुरक्षा देखी और बावजूद भूदान-ग्रामदान आन्दोलन के नये क्रान्ति दर्शन के संस्थाओं का अपना पुराना काम पुराने, परिचित तरीकों से ही चलता रहा। बाद को जब भूदान-ग्रामदान आन्दोलन निधिमुक्त और तन्त्रमुक्त हुआ, लेकिन कठिनाइयों के कारण उसके कार्यकर्ताओं को लौटकर संस्थाओं की ही शरण में जाना पड़ा, तो संस्थाओं को अपनी अपरिवर्तनशीलता का मनचाहा समर्थन मिल गया।

दूसरी ओर कमीशन के तत्त्वावधान में संस्थाएँ सरकार की पंचवर्षीय योजनाओं के साथ जुड़ीं, और ग्रामीण क्षेत्र में उन्हें राष्ट्रीय विकास का माध्यम बनने का गौरव मिला। कमीशन ने हमें पैसा दिया, दिशा दी (मनी और मिशन)। काम बढ़ाने के लिए पूँजी मिली, साधन मिले। बढ़ती हुई बेकारी के कारण संस्थाओं को अपनी खादी और ग्रामोद्योग की प्रवृत्तियाँ बढ़ाने की खुली छूट मिली। पूँजी बढ़ी, कार्यकर्ता बढ़े, मुनाफा बढ़ा, इमारतें बढ़ीं, उत्पादन बढ़ा, बिक्री बढ़ी, संचालकों की सत्ता बढ़ी, संस्था-संस्था में व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी, भ्रष्टाचार बढ़ा। हर संस्था ने अपना-अपना 'सेवा का साम्राज्य' बनाया। सब कुछ बढ़ा, सब कुछ बना, घटी केवल गांधी-विचार की शक्ति और गांधी-विचार में निष्ठा।● (अपूर्ण)

एक अभिनव प्रयोग

ब्रिटेन और टेलीविजन

गत फरवरी में प्रत्येक सोमवार को ब्रिटेन में टेलीविजन पर २० २० मिनट का एक विशेष कार्यक्रम नागरिकों में एक विश्व-परिवार की भावना जगाने की दृष्टि से प्रसारित हुआ।

इसके पहले तीन कार्यक्रमों में यह दिखाया गया कि एक राष्ट्र की राज्यसत्ता स्थापित होने पर किस तरह वहाँ के निवासियों में एक राष्ट्रीयता की भावना पनपती है। फिर कैसे उनमें आपस के हितों को लेकर तनाव की स्थिति पैदा होती है।

अगले तीन कार्यक्रमों में और गहराई के साथ यह दिखाया गया कि दुनिया के अलग-अलग देशों में राजनीतिक, धार्मिक और जातिगत विभिन्नताएँ कैसे पनपी और मजबूत हुईं, फिर कैसे इनके कारण आपसी कशमकश और संघर्ष की परिस्थिति पैदा हुई।

टेलीविजन-द्वारा यह कार्यक्रम पेश करने के दौरान नक्शों, ऐतिहासिक वक्तव्यों और राजकीय दस्तावेजों का इस्तेमाल किया गया।

कार्यक्रम के अन्त में उन पुस्तिकाओं और ग्रन्थों का भी हवाला दिया गया, जिसे रुचि रखनेवाले लोग पढ़कर अपनी जानकारी और पक्की कर सकते हैं।

रोचकता, स्पष्टता और प्रभाव तीनों दृष्टियों से ये कार्यक्रम एक विश्व की भावना मजबूत बनाने में सहायक होने योग्य साबित हुए हैं।●

अभिभावक और अध्यापक

•

शंकरलाल शर्मा

बालक के भविष्य निर्माण के लिए जहाँ अध्यापक उत्तरदायी है वहाँ अभिभावक भी कम उत्तरदायी नहीं। अध्यापक के संरक्षण में वह केवल कुछ घण्टे रहता है परन्तु उसका अधिकांश समय तो अभिभावक के संरक्षण में ही बीतता है।

क्या बालक का प्रवेश पाठशाला में करा देना मात्र ही अभिभावक का कर्तव्य है? मेरे सामने अनेक ऐसे उदाहरण आये, जब अभिभावक पाठशाला में बालक को केवल इसलिए प्रवेश कराना चाहते थे कि स्कूल में रहने से वह कम से कम अपनी माँ को तो तंग न कर सकेगा। अनेक बार छोटी उम्र के बालक को पाठशाला में इसलिए प्रवेश कराया गया कि वह कम से कम यहाँ घिरा तो रहेगा, घर पर दंगल तो न करेगा। यह बालक के जीवन के साथ कितना बड़ा मजाक है! कितना बड़ा खिलवाड़ है!!

जहाँ अभिभावक स्वयं अपनी ही सन्तान के भविष्य निर्माण की ओर से इतना विमुख हो वहाँ केवल अध्यापक द्वारा बालक के भविष्य-निर्माण की आशा करना अथवा अध्यापक को दोष देना खेदजनक नहीं तो और क्या है?

प्रायः बालक को पाठशाला में प्रवेश कराने के बाद शिक्षकों को अभिभावकों के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अनेक बार अध्यापक द्वारा बुलाये जाने पर भी आना उचित नहीं समझते। आयें भी कैसे? वह अपनी सन्तान के भविष्य का ख्याल हो तब तो? वे तो अपने व्यापार में इतना चिपके होते हैं कि उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं। इस पर भी कोसा जाता है बेचारे अध्यापक को!

अनेक बार घरों पर बालक को अध्यापक का 'हौवा' दिखाया जाता है। फलतः वह अध्यापक से इतना डरने लगता है कि स्कूल से भी गायब रहने लगता है। धीरे धीरे वह अध्यापक एवं अभिभावक दोनों को धोखा देना सीख जाता है साथ ही झूठ बोलना भी। घर से स्कूल का नाम लेकर चलता है और स्कूल न पहुँचकर इधर-उधर घूमता रहता है और स्कूल का समय समाप्त होने पर घर पहुँच जाता है। इन कारणों से वह शिक्षा से तो वंचित रहता ही है, अध्यापक को भी अपने साथ दोषी बना लेता है। परिणाम-स्वरूप अध्यापक को अभिभावक का मिथ्या कोप भाजन बनना पड़ता है। कितने माता पिता तथा अभिभावक गर्व के साथ कह सकते हैं कि वे बालक के प्रति पूर्ण सजग एवं जागरूक हैं।

ये हैं वे वास्तविक तथ्य, जिनके कारण अध्यापक एवं अभिभावक दोनों ही एक दूसरे पर दोषारोप करते हैं। वास्तविक दोषी कौन है, इसका निर्णय आप स्वयं करें।

मैं अध्यापक एवं अभिभावक दोनों से ही आशा करता हूँ कि वे अपने-अपने कर्तव्यों का यथाशक्ति पालन करेंगे और अध्यापकों से अनुरोध है कि वे अभिभावकों से सम्पर्क स्थापित कर उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट करें।●

ॐ

शान्ति समाचार

मद्रास

भाषा-समस्या को लेकर दक्षिण भारत के कुछ स्थानों में पिछले महीने, जो घटनाएँ घटी उनका विवरण देश के समाचार-पत्रों में विस्तार के साथ प्रकाशित हुआ है। इस अवसर पर वहाँ शान्ति सेना ने क्या किया, इसकी अखबारों में रिपोर्ट नहीं आयी।

इस सम्बन्ध में शान्ति सेना मण्डल के केन्द्रीय-कार्यालय से, जो सूचनाएँ प्राप्त हुईं वे नीचे दी जा रही है–

- "वर्धा में विनोबा के महत्वपूर्ण उपवास के अलावा तमिलनाड तथा अन्य स्थानों पर अनेक लोगों ने अनशन किये।
- एस आर सुब्रह्मण्यम् जो मद्रास में शान्ति-सेना का सगठन कर रहे हैं, इस परिस्थिति से व्यथित होकर अनशन के लिए प्रेरित हुए।
- बगलोर में १६ शान्ति सैनिकों ने साकेतिक उपवास करके परिस्थिति को हिंसा से बचाये रखने की कोशिश की।
- सर्व सेवा सघ के अध्यक्ष श्री मनमोहन चौधरी उन दिनों मद्रास राज्य में ही थे। उन्होंने श्री जगन्नाथन् तथा अन्य कार्यकर्ताओं सहित असन्तुष्ट और आन्दोलनकारी क्षेत्रों की पदयात्रा की।
- तमिलनाड के वयोवृद्ध शान्ति-सैनिक श्री आर टी पी सुब्रह्मण्यम् ने जगह-जगह दौड़ धूप करके परिस्थिति को शान्त रखने का प्रयास किया। आरपुकोटाई तथा विरुध नगर में उनकी उपस्थिति के कारण हिंसा रुकी।
- डा० आरम् वाराणसी से कोयम्बतूर गये, जो उनका कार्य-क्षेत्र था। कोयम्बतूर, मदुराई, तिरुनेवली तथा अन्य स्थानों पर शान्ति समितियाँ गठित हुईं, नेताओं से सम्पर्क स्थापित किया गया और इस प्रकार परिस्थिति को बिगडने से बचाने में सफलता मिली।
- देश के अन्य हिस्सों के शान्ति-सैनिकों ने दक्षिण में काम करने के लिए अपना समय देने की तैयारी दिखायी, किन्तु तमिलनाड-शान्ति-सेना-समिति सक्रिय हो चुकी थी और उसने उस समय बाहर के स्वयसेवकों को तमिलनाड बुलाना उचित नहीं समझा। तमिलनाड के हर शान्ति सैनिक को अपने अपने क्षेत्र में शान्ति रक्षा का प्रयास करने की सूचना मिल चुकी थी। आम तौर पर हिंसक काण्डों का क्षेत्र ग्रामीण जनता तक नहीं फैल पाया। सर्वोदय पक्ष (३० जनवरी से १२ फरवरी) में तमिलनाड में २२ नये ग्रामदान हुए।

लन्दन

दक्षिण अफ्रीका के गोरे शासक अपने यहाँ के गैर-गोरी चमडीवालों के प्रति जिस भेद भाव और परायेपन की नीति का व्यवहार करते हैं उसका प्रतिकार करने के लिए ब्रिटेन की शान्तिवादी जनता एण्टी एपारथेड मूवमेंट नामक एक आन्दोलन चला रही है। मार्च में इस आन्दोलन के नेता ब्रिटेन की पार्लियामेंट के सदस्यों से मिलकर अफ्रीकी गोरों की रग भेद-नीति के खिलाफ ब्रिटेन की सरकार का कडा रुख अख्तियार कराने की कोशिश कर रहे हैं।

उन लोगों ने नीचे लिखे कार्यक्रम अपनाये हैं—

१ दक्षिण अफ्रीका को ब्रिटेन से कोई फौजी सामान न मिलन पाये।

२-दक्षिण अफ्रीका की जेलों में, जो राजनीतिक बन्दी हैं, उन्हें जेल से छुड़ाने की कोशिश हो। वहाँ के जेलों की खराब हालत की जाँच राष्ट्रसंघ से करायी जाय।

३ दक्षिण अफ्रीका के राजनीतिक शरणार्थियों की देखभाल और सुरक्षा की व्यवस्था हो।

४ संयुक्त राष्ट्र-संघ दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी या कोई कदम उठाये, इसकी कोशिश हो।

५ दक्षिण अफ्रीका से आनेवाले व्यापारी सामान के लिए ब्रिटिश सरकार न जो सुविधाएँ दे रखी हैं वे समाप्त की जायँ।

२२ फरवरी से २० मार्च तक पूरे ब्रिटेन के खास-खास बाजारों में इस आन्दोलन के समर्थक धरना देंगे और प्रदर्शन करेंगे कि दक्षिण अफ्रीका की चीजों को ग्राहक न खरीदें।

इस आन्दोलन से प्रभावित होकर लन्दन की एक सहकारी सस्थान ने यह घोषणा की है कि वह अपने यहाँ दक्षिण अफ्रीका का सामान कतई नहीं मँगायेगी।

●

अनुक्रम

●

लाइसेन्स न० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भजन की अनुमति प्राप्त
मार्च, १९६५ नयी तालीम रजि० स० ए, १७२३

राजा का रूप

एक बार मेढको ने भगवान स प्रार्थना की—'हे भगवान, हमारे लिए कोई राजा भेज दो।'

भगवान ने प्रार्थना सुन ली और एक बैल भेज दिया। बैल के पांव के नीचे दबकर ४०-५० मेढक मर गये।

'हमे ऐसा राजा नही चाहिए'—मेढको ने फिर प्रार्थना की— और कोई दूसरा राजा भेजिए।'

भगवान ने एक बडा भारी पत्थर ऊपर से नीचे फेंक दिया। उसके नीचे दबकर चार-पाच सौ मेढक खत्म हो गये।

मेढक बहुत घबराये। उन्होने कहा—'यह क्या आफत डाल दी ?'

भगवान ने हँसते हुए जवाब दिया—"हमने जो बैल भेजा था वह हमारा वाहन है पर उससे आपका काम नहीं बना तो हमने स्फटिक शिला भेजी, जिस पर हम हमेशा आसन लगाकर बैठते है। वह भी आपको अच्छी नही लगी। इसलिए बिना राजा के ही आपका काम अच्छा चलेगा, यह समझ लीजिए।"

तब से मेढको ने राजा का नाम लेना ही छोड दिया।

—विनोबा-कथित

श्रीकृष्णदत्त भट्ट सर्व सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस प्रह्लादघाट वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
आवरण मुद्रक—मण्नलाल प्रेस मानमंदिर वाराणसी।

प्र० सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार
सर्व-सेवा-संघ का मासिक

वर्ष १३
अंक : ९

अप्रैल
१९६५

निवेदन

- नयी तालीम का वर्ष अगस्त मे आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक सख्या का उल्लेख अवश्य करें
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती है
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने मे सहूलियत होती है
- रचनाओं मे व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है

o

वार्षिक चन्दा
६ ००

एक प्रति
० ६०

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज-शिक्षकों के लिए

वर्ष : तेरह

●

अंक : नौ

बात कुछ और भी है !

बात क्या है कि हमारे देश की हर समस्या नासूर बनकर रह जाती है? यह नौबत ही नहीं आती कि अगर एक सवाल पैदा हो गया तो खुले दिल से उसपर विचार किया जाय और सबकी राय से सबकी भलाई का एक रास्ता निकाला जाय। भाषा के ही सवाल को लीजिए। सवाल आसान नहीं है, यह जाहिर है; लेकिन जितना पेचीदा बना दिया गया है, उतना पेचीदा भी नहीं है। सचाई को तोड़-मरोड़कर कुछ-का-कुछ बना देना, तरह-तरह की बातें कहकर लोगों को बरगलाना, और मनगढ़न्त हौवे बनाकर उनके भय और क्रोध को उभाड़ना आदि तरीके आज हमारे सार्वजनिक जीवन में आम हो गये हैं। होशियार लोग हर जगह अपने को आगे रखने के लिए उनका खुलकर इस्तेमाल कर रहे हैं, जिसका नतीजा यह हो रहा है कि सवाल एक तरफ छूट जाता है, जवाब दूसरी तरफ रह जाता है; और हम बीच की ही बातों में उलझकर रह जाते हैं।

राष्ट्रभाषा और दिल्ली-सरकार की राजभाषा का सवाल हिन्दी बनाम अँग्रेजी तो समझ में आता है; लेकिन यह सवाल उत्तर बनाम दक्षिण का क्यों बन गया, यह समझ में नहीं आ रहा है। इसमें इतनी गहरी राजनीति कैसे घुस गयी? क्या यह जरूरी है कि जिस चीज में सरकार हाथ डाल दे, और जिस पर पार्लियामेंट में चर्चा हो जाय, उसमें विरोध की राजनीति जरूर घुसा दी जाय? दक्षिण में डी० एम० के० (द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम) हिन्दी का मुँह काला कर रहा है और

जनसंघ अँग्रेजी का। उनकी नीयत कुछ भी हो, लेकिन उनके काम से देश का मुँह काला हो रहा है। आज जिस तरह भाषा का प्रश्न उत्तर और दक्षिण का प्रश्न बना दिया गया है उसी तरह अँग्रेजी जमाने में हिन्दी उर्दू का सवाल हिन्दू-मुसलमान का सवाल बना दिया गया था, जबकि न बंगाल का मुसलमान उर्दू बोलता था और न पंजाब या सिन्ध का हिन्दू हिन्दी। लेकिन, राजनीति में वह कला है कि वह बात का बतंगड़ बना लेती है। राजनीतिवाला सत्ता के सिवाय और किसी चीज को जानता नहीं, मानता नहीं; सत्ता ही उसका भगवान है। सत्य तभी तक उसके काम का है जब तक उसे सत्ता दिलाने में मददगार हो, नहीं तो सच उसके लिए झूठ है, और झूठ सच।

यहाँ राजनीति का प्राण सत्ता में बसता है, जबकि लोकनीति ऐसी है कि वह सत्य को छोड़कर टिक नहीं सकती। ऐसी हालत में राजनीति से लोक का शायद ही कोई सवाल हल हो सके। राजनीति हमेशा इसी ताक में रहती है कि जनता में कौन सा ऐसा क्षोभ पैदा किया जाय कि चुनाव में ज्यादा से ज्यादा वोट मिले। मिलकर सचाई ढूँढ़ी जाय और जब मिल जाय तो हिम्मत के साथ उसे कहा जाय, यह बात जैसे सत्ता के शिकारियों को सूझती ही नहीं। सूझे भी कैसे? जब राजनीति ने सेवा का रास्ता छोड़ दिया और सत्ता का रास्ता अपना लिया तो 'देश' और 'जनता' उसके लिए कोरे शब्द से ज्यादा और कुछ नहीं रह गये। हम देखेंगे कि भाषा के सवाल को राजनीति से अलग करते ही हमें हिन्दी के पीछे अपना महान देश हिन्द दिखाई देने लगेगा, और हिन्द के दिखाई देते ही दक्षिणवालों के मन से यह भय और उत्तरवालों के मन से यह कोप निकल जायगा, जिसे राजनीतिकों ने अपना सिक्का जमाने के लिए पैदा कर रखा है, तब हिन्दी को लादने का सवाल ही नहीं रह जायगा, क्योंकि दिमाग दलबन्दी के नारों के नशे से मुक्त होकर फौरन देख लेगा कि देश को, जो न उत्तर का है न दक्षिण का, बल्कि सबका है, जोड़ने के लिए एक भाषा की जरूरत है, जो देश की ही कोई भाषा हो सकती है। अपने देश में अपने ही देश की भाषा हो, इसे देश की जनता आसानी से समझ सकती है, बशर्ते कि नेता उसकी आँखों के सामने से नारों का परदा हटा लें। अँग्रेजी को अपनाकर गाव का किसान और कारखाने का मजदूर अपने ही देश में पराया क्यों बनना चाहेगा?

दक्षिण में भाषा के आन्दोलन के समय, जो नारे लगाये गये उनमें एक इस तरह का भी था कि हम पश्चिमी सभ्यता की ओर जा रहे हैं तो अँग्रेजी छोड़कर हिन्दी क्यों सीखें? पश्चिमी सभ्यता का जो अत्यन्त भद्दा रूप बाजार और सरकार के द्वारा हमारे देश में बेधड़क फैलाया जा

रहा है—जिसमें अँग्रेजी जमाने से कहीं अधिक स्वराज्य के बाद तेजी आ गयी है—वह सही है या गलत, वैज्ञानिक या अवैज्ञानिक, यह सवाल दूसरा है; लेकिन हिन्दी दकियानूसों की भाषा है, और अँग्रेजी आधुनिकों की, यह सवाल कहाँ से पैदा हो गया? शायद यही कारण है कि इस तरह के नारे लगानेवाले हिन्दी के राजभाषा और राष्ट्रभाषा होने के जितने विरोधी हैं उतने तमिल या तेलुगु के प्रेमी नहीं हैं। वे प्रेमी हैं केवल अँग्रेजी के; क्योंकि उन्हें अँग्रेजी के साथ-साथ अँग्रेजियत भी चाहिए—अँग्रेजियत की अच्छाइयाँ नहीं, बल्कि अच्छाइयों से ज्यादा रंगीनियाँ। अँग्रेजी की आड़ में वे अँग्रेजियत को बनाये रखना चाहते हैं, तथा अँग्रेजियत के नाम में अपनी नकली प्रतिष्ठा और अपने विशेष अधिकारों को। विज्ञान और विकास का नारा उन्होंने अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए अपना रखा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी या मातृभाषा तमिल उन्हें जनता के करीब जाने के लिए विवश कर देगी, और इसी से उन्हें सबसे अधिक भय है। उनके कान लोकतांत्रिक समता की आवाज नहीं सुनना चाहते; क्योंकि उनका दिल अब भी सामन्तवाद, पूँजीवाद और अफसरवाद को नहीं छोड़ना चाहता। इस तरह के लोग पूरे हिन्दुस्तान में फैले हुए हैं—जैसे दक्षिण में, वैसे उत्तर में, पूरब और पच्छिम में।

अँग्रेजी जमाने से लेकर आजतक पिछले दो सौ वर्षों में हमारे देश में एक ऐसा जबरदस्त समुदाय बन गया है और बनता ही जा रहा है, जो देश पर हावी है, और हावी रहना चाहता है; और ऐसा करने के लिए विज्ञान और विकास को विदेशी भाषा के साथ जोड़कर देश के करोड़ों लोगों को, जिनकी कमाई पर वह मक्खन-मलाई का मजा ले रहा है, भुलावे के नाम में रखना चाहता है। दुख है कि हमारी आज की राजनीति इसी वर्ग की बात बोलती है, नारे उसके चाहे जो हों। राजनीति से अलग हटकर सोचने पर साफ दिखाई देगा कि अँग्रेजी का समर्थन देशी भाषाओं के ही प्रति नहीं, भारत की जनता और उसके भविष्य के प्रति षड्यंत्र है। हिन्दी विज्ञान और विकास को रोकने के लिए नहीं है; जरूर अगर वह बन सकती है तो दमन और शोषण से मुक्ति चाहनेवाली मूक जनता की वाणी बनेगी। सचमुच, भाषा का सवाल राजनीति का नहीं, लोकनीति का है। अगर लोक को ऊपर उठना है तो ऐसी भाषा होनी चाहिए, जो शिक्षा में, शासन में, व्यापार में यानी जीवन के हर क्षेत्र में उसे ऊपर उठाये। इसमें राजनीति के लिए गुंजाइश कहाँ है? चले अँग्रेजी जब तक उसे चलना हो; लेकिन उसे एकता के नाम में, विज्ञान और विकास के नाम में, जनता को गुलाम रखने का नया बहाना न बनाया जाय।

राममूर्ति

प्रश्न भाषा का : मार्गदर्शन विनोबा का

दत्तोबा दास्ताने

भाषा के प्रश्न को लेकर दक्षिण में जो गम्भीर हिंसा फूट निकली, वह ऊपर से यद्यपि शान्त हुई है, फिर भी इस प्रश्न को लेकर आज भी देश में चर्चा चल रही हैं। विनोबाजी ने अपने पाँच दिन के उपवास के दरमियान देश के सामने, जो त्रिसूत्री रखी, उससे इस प्रश्न के सम्बन्ध में एक सन्तुलित विचार सामने आया है। फिर भी उस त्रिसूत्री के पहलुओं की तफसील के सम्बन्ध में अभी पूरा समाधान नहीं हो रहा है। अन्त-प्रान्तीय सम्पर्क के तौर पर अंग्रेजी को (जोड भाषा) रखने से आसानी होगी, ऐसा विचार अभी भी रखा जा रहा है। अंग्रेजी के सम्बन्ध में, जो गलत धारणा देश के पढ़े लिखे लोगों में बनी है, उसका काफी हद तक निराकरण तमिलनाड के कार्यकर्त्ताओं के बीच विनोबाजी ने जो विचार रखे उनसे हो जाता है।

गये दिनों से देश के सामने थ्री लैंग्वेज फार्मूला (तीन भाषाओं का फार्मूला) रखा गया है—(१) मातृभाषा, (२) हिन्दी भाषा (जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उनके लिए अहिन्दी प्रदेश की कोई भाषा) और (३) अंग्रेजी। इन तीन-तीन भाषाओं का बोझ लोगों पर क्यों लादा जाय? इसकी अपेक्षा मातृभाषा और अंग्रेजी दो ही भाषाएँ क्यों न रखी जायँ, ऐसा कई मित्रों ने विनोबाजी को पत्र-द्वारा सूचित किया था। उसका जिक्र करते हुए विनोबाजी ने कहा—

"भारत एक सामूहिक परिवारवाला देश है। इसलिए भारत का यह भाग्य है कि यहाँ शिक्षण में अनेक भाषाएँ आयेंगी। इंगलैण्ड की युनिवर्सिटी में फ्रेंच, जर्मन, लैटिन और ग्रीक इन चार भाषाओं में से कोई एक भाषा लेनी पड़ती है। उसमें दूरदृष्टि है। योरप में हर एक भाषा का एक स्वतंत्र देश है। उन सब देशों का एक यूरोपियन फेडरेशन बनना अभी बाकी है। हमारे यहाँ वह फेडरेशन आज मौजूद है। इसलिए तीन भाषा सीखना बोझ है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। काशी में तमिल भाषा का अध्ययन करेंगे तो हृदय विशाल बनेगा। दूसरा भी एक लाभ उसमें है। भारत की हर भाषा में, जो विशेष साहित्य है, उसका अनुवाद दूसरी भाषा में तुरन्त करने के लिए यह अध्ययन काम आयेगा। 'कुरल' (तिरुवल्लुवर-द्वारा रचित, तमिल में) में जिस ढंग से विचार पेश किया गया है वैसा संस्कृत में नहीं है। अंग्रेजी के 'सर्मन आन दि माऊंट' का ढंग अलग है, उपनिषद् की एक विशेष शैली है, जो दुनिया की किसी भी भाषा में नहीं मिलती।"

भारत एक फेडरेशन-जैसा है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए विनोबाजी ने कहा—

"भारत की एकता अंग्रेजी भाषा के कारण बनी, ऐसा किसी के मन में भ्रम हो तो वह बहुत बड़ी गलती होगी। बदरी-केदार का मन्दिर बिलकुल हिमालय के सीमा-प्रदेश में है, लेकिन वहाँ का पुजारी और संचालक केरल का नम्बूद्री ब्राह्मण ही होता है। शैव सिद्धान्त पर दो ही भाषाओं में ग्रन्थ मिलते हैं—एक तमिल और दूसरी कश्मीरी। अब शिव कश्मीर में कैसे गया? तमिलनाड के अप्परस्वामी बिहार में बारह साल रहे और जैन धर्म का उन्होंने अध्ययन किया। उत्तर भारत के दो सबसे श्रेष्ठ सन्त पुरुष—कबीर और तुलसीदास दोनों रामानुज सम्प्रदाय के थे। शंकराचार्य केरल के थे। लेकिन, महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानदेव और तुकाराम, वैसे ही बंगाल के रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद शंकर-सम्प्रदाय के थे।

"यह सारा किस तरह बना? इसीलिए बना कि दक्षिण के लोगों ने संस्कृत भाषा में अपना साहित्य लिखा, जो उस जमाने में 'वडकोडी' यानी 'उत्तर

सीमा' की भाषा थी। और, दूसरा कारण यह था कि वे सन्त उत्तर भारत में पैदल घूमे, पण्डितों से उन्होंने चर्चा की और मठों की स्थापना जगह-जगह करके अपना शिष्य सम्प्रदाय बढ़ाया। इसलिए भारत की एकता एक कल्चरल (सांस्कृतिक) एकता है। यहाँ कामन कल्चर, कामन मार्केट और कामन गवर्नमेण्ट है। काशी का आदमी रामेश्वर का दर्शन करना चाहता है। योरप में भारत जैसा फेडरेशन बनाने की बात आयेगी तब पता चलेगा कि भारत की अपेक्षा कई गुनी अधिक कठिनाइयों का उनको सामना करना पड़ेगा। वहाँ तो अभी कामन मार्केट भी नहीं बन पा रहा है।"

अँग्रेजी भाषा दुनिया की भाषा है और दुनिया का ज्ञान अँग्रेजी के द्वारा जल्दी प्राप्त किया जा सकता है, ऐसी बहुतों के मन में कल्पना होती है। यह भी कितनी भ्रामक कल्पना है, यह स्पष्ट करते हुए विनोबाजी ने कहा—

"अँग्रेजी भाषा जाननेवालों की संख्या दुनिया में तीस करोड़ है, जबकि दुनिया की लोकसंख्या तीन सौ-करोड़ है। सतीश और मेनन पैदल दुनिया में घूमकर आये तब उनको कितने ही ऐसे देश मिले, जहाँ उनको दुभाषिये का सहारा लेना पड़ा।

"दूसरी बात यह है कि अँग्रेजी अनेक खिड़कियों में से एक खिड़की है। उसी की मार्फत दुनिया को देखना चाहेंगे तो एकांगी दर्शन होगा। साइंस विषय को लेंगे तो भी पता चलेगा कि रशिया में साइंस का एक अंग विशेष प्रगत हुआ है। उसके लिए रशियन भाषा सीखना जरूरी है और जर्मनी में बढ़े हुए साइंस को सीखने के लिए जर्मन भाषा सीखना होगा।"

दक्षिण के लोगों को हिन्दी सीखना उतना ही फारेन (विदेशी) है जितना कि अँग्रेजी, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। इस सन्दर्भ में विनोबाजी ने कहा—

'मैं हिन्दुस्तान की सब भाषाएँ सीखा हूँ। इंगलिश भी जानता हूँ। मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि भारत की चौदह भाषाएँ सीखने में जितना समय और मेहनत लगती है उससे ज्यादा समय और मेहनत लगती है अँग्रेजी सीखने में।

"भारत में चौदह भाषाएँ हैं, ऐसा कहा जाता है; लेकिन दरअसल दो ही भाषाएँ हैं। दक्षिण की चारों भाषाएँ मिलकर करीब एक ही द्रविड़ भाषा है और उत्तर भारत की सभी भाषाएँ मिलकर करीब एक ही हिन्दी भाषा है। कटक, गुवाहाटी और खड़गपुर के नागरिकों ने बिना अनुवाद के मेरे हिन्दी भाषणों को समझ लिया। इसलिए हिन्दी को समृद्ध बनाना चाहिए। हिन्दी को गंगा नदी नहीं, बल्कि समुद्र बनाना होगा और समुद्र तो खारा होता है। सो, वह राष्ट्रीय हिन्दी खारी होगी, लेकिन सब भाषाओं के शब्दों का समावेश करनेवाली होगी।"

भारत के संविधान में से १७ वीं धारा (राजभाषा-सम्बन्धी) को हटाने के प्रश्न पर विनोबाजी ने कहा—

"मैंने देश के सामने त्रिसूत्री रखी। उसमें यह कहा कि हिन्दीवालों पर अँग्रेजी न लादी जाय और अहिन्दी लोगों पर हिन्दी न लादी जाय। १७ वीं धारा को हटाते हैं तो हिन्दीवालों पर अँग्रेजी की जबरदस्ती होगी, इसलिए मैं उसे ठीक नहीं समझता। मेरी त्रिसूत्री का अच्छा परिणाम उत्तर भारतवालों पर भी बहुत हुआ है, नहीं तो वहाँ भी दंगे हो सकते थे।

"विदेशी भाषा में हम हर हालत में कमजोर रहेंगे। निगोसिएशन्स आदि में हम विदेशी भाषा का उपयोग करेंगे तो हमेशा खतरे में रहेंगे। कई देशों के बड़े राजनीतिज्ञ अपनी ही भाषा में बोलते हैं। अगर हम यहाँ अँग्रेजी ही रखना चाहते हो तो फिर 'क्विट इण्डिया' के बदले 'रिटर्न टु इण्डिया' का नारा लगाना पड़ेगा।

"इसमें और एक खास बात समझने की है। हर भाषा के शब्दों के साथ विचार और संस्कार जुड़ हुए होते हैं। (अपने इस विचार को समझाने के लिए विनोबाजी ने कागज पर दो बड़े वर्तुल बनाये। एक वर्तुल में आड़ी और खड़ी लकीरों का चौरस, और दूसरे में वक्र रेखाओं की आड़ी और खड़ी लाइनें बनायीं, और कहा कि दोनों वर्तुल समान आकार के हैं। फिर भी एक वर्तुल के एक चौरस का शब्द दूसरे वर्तुल के वक्र चौरस के साथ फिट नहीं हो सकेगा। यही बात भाषाओं के अलग-अलग शब्दों के एक्सप्रेशन (प्रकटीकरण) में है।

"नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, तत्त्वज्ञान, आदि विषय ऐसे हैं कि उनमें शब्दों के साथ चिन्तन जुड़ा हुआ होता है। नयी तालीम की पद्धति को मैंने समवाय पद्धति कहा। लेकिन, उसके लिए अंग्रेजी का 'को-रिलेशन' शब्द वह भाव प्रकट नहीं करता, जो समवाय प्रकट करता है। मिट्टी और घड़े के सम्बन्ध को हमारे शास्त्रों में समवाय कहा है।"

भाषा के प्रश्न को लेकर तमिलनाड में विद्यार्थियों के साथ तथा दूसरी जगहों में गोष्ठी आयोजित करने का कार्यक्रम सर्वोदय-मण्डल ने रखा है। उसका जिक्र करते हुए विनोबाजी ने कहा—

'ऐसे तात्कालिक मसले समय समय पर खड़े होते जायेंगे, लेकिन मेरा मानना है कि हम अपने त्रिविध कार्यक्रम को लेकर ही जनता के पास जायें और तात्कालिक मसलों को त्रिविध के साथ जोड़ते चले जायें। कश्मीर में बाढ़ आयी और कई गाँव बह गये, तो मैंने समझाया कि बाढ़ भी गरीब अमीर का भेद नहीं करती तो आप क्यों भेद करते हो? बाढ़ का मुकाबला करना हो तो ग्रामदान करो। ऐसा मैं क्यों कहता हूँ? इसलिए कि यह विचार सारे प्रश्नों के जड़ में आता है।

"कम्युनिस्ट मानते हैं कि दुनिया की सारी समस्याओं के मूल में अर्थशास्त्र है। इसलिए वे इकोनामी पर से अपनी पकड़ नहीं छोड़ते। मैं हमेशा कहता हूँ कि कम्युनिस्टों के विचार में करुणा है, लेकिन अहिंसा नहीं है। और, हिंसा कभी भी मासेस (आम जनता) की ताकत नहीं बन सकती, वह क्लासेस (वर्ग विशेष) की ही ताकत रहेगी। इसलिए क्रान्ति के साथ हिंसा रहेगी तो गरीबों की ताकत नहीं बनेगी। उसके लिए संविधान बदलना होगा। दरिद्रता को मिटाना, यह प्रोग्राम कम्युनिस्टों का है और वही प्रोग्राम सर्वोदय का है। लेकिन, सर्वोदय का संविधान अहिंसा है, इसलिए वह कम्युनिस्ट विचार धारा से श्रेष्ठ है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि अपने मूल विचार से हमको चलित नहीं होना चाहिए।●

देवता भटक जाय तो?

●

रमाकान्त

शिष्य–राम कौन थे गुरुजी?
गुरु–देवता थे।
शिष्य–मरने के बाद वे कहाँ गये?
गुरु–यह भी कोई पूछने की बात है? वे सीधे स्वर्ग गये।
शिष्य–और रावण कौन था गुरुजी?
गुरु–वह तो राक्षस था।
शिष्य–मरने के बाद वह कहाँ गया?
गुरु–वह भी स्वर्ग गया।
शिष्य–क्या राक्षस भी स्वर्ग जाता है गुरुजी?
गुरु हाँ, अगर जीवन की सन्ध्या में किसी तरह पुण्य कर ले तो।
शिष्य–लेकिन गुरु जी, अगर जीवन की सन्ध्या में कोई देवता भटक जाय तो?

राष्ट्रभाषा और बदली हुई परिस्थितियाँ

नारायण देसाई

जनसंख्या के ख्याल से भारत दुनिया का दूसरे नम्बर का देश है। इसके ४४ करोड से अधिक लोग प्राय. बीस भाषाएँ बोलते हैं और उन ५७२ बोलियों का तो कहना ही क्या, जो यहाँ चलती है। इन प्रमुख भाषाओं में से नीचे लिखी १४ भाषाओं को हमारे संविधान में प्रादेशिक भाषा का स्थान दिया गया है—१. असमिया, २. बगाली, ३. गुजराती, ४. हिन्दी, ५. कन्नड, ६. कश्मीरी, ७ मलयालम्, ८ मराठी, ९. उड़िया, १० पंजाबी, ११ सस्कृत, १२ तमिल, १३ तेलुगु, और १४. उर्दू।

इनमें से अधिकाश भाषाएँ साहित्य में काफी समर्थ हैं। कुछ का साहित्य तो आसानी से विश्व-साहित्य की पंक्ति में बैठ सकता है। कइयों ने विज्ञान तथा इतर विषयों का समावेश करने की दिशा में भी काफी तरक्की कर ली है। हर भाषा को यह गर्व हो सकता है कि उसके बोलनेवालो में से कुछ हमारे महापुरुष भी थे। भारतीय संस्कृति के निर्माण में भी इनका भरपूर सम्मिलित योगदान है। शताब्दियों से भारत की महत्ता वैविध्य के बीच एकता, और वाद-विवाद के बीच संवाद (अनुकूलता) लाने की रही है।

अन्य देशों में राष्ट्रभाषा की समस्या

संसार में और भी ऐसे देश है, जहाँ एक से अधिक भाषाएँ चलती हैं, और वहाँ भी यह सवाल पैदा हुआ है; लेकिन हर देश ने इस प्रश्न का अलग-अलग हल निकाला है। जैसे—

- अमेरिका के सयुक्त राज्यों में १६ भाषाएँ बोलनेवाले लोग थे। उन्होंने अंग्रेजी को सिर्फ एक-दूसरे को जोडनेवाली भाषा ही नहीं बनाया, बल्कि उसे अपनी राष्ट्रभाषा बना लिया।
- इजराइल में सौ से अधिक भाषाएँ बोलनेवाले लोग हैं; लेकिन वहाँ उन्होंने अपनी पुरानी धार्मिक भाषा हीब्रू का पुनरुत्थान किया और जीवन के हर क्षेत्र में उसे दाखिल किया। इस प्रयास में एक समय तो ऐसा भी था कि जब पति-पत्नी घर में अपनी-अपनी मातृभाषा बोलने के बजाय हीब्रू को प्रश्रय देने के ख्याल से वे हीब्रू ही बोलते थे।
- भाषा के मसले को हल करने के लिए स्विटजरलैण्ड ने एक दूसरा ही रास्ता अपनाया। वहाँ तीन प्रमुख भाषाएँ हैं और तीनो को राष्ट्रभाषा की मान्यता प्राप्त है। स्विटजरलैण्ड के हर नागरिक को इन तीनों भाषाओं का थोडा बहुत ज्ञान रहता है।
- रूस ने अपने बीसों सोवियतो में चलनेवाली सभी भाषाओं को मान्यता दी है, लेकिन उनके बीच रूसी भाषा 'जोड-भाषा' के तौर पर है।
- अफ्रीका के नव स्वतत्र राष्ट्रों ने अपने पुराने शासकों की भाषा को ही अन्तर्जातीय सम्बन्धों में चलाया है। इन बोलियों की एक विशेषता यह है कि वे हर जाति के अनुसार बदलती हैं और उनमें लिखित या प्रकाशित साहित्य शायद ही कहीं पाया जाता है।

ससार में दुर्भाग्यवश भारत, पाकिस्तान और केनेडा ही ऐसे देश हैं, जहाँ भाषा-समस्या को लेकर कुछ बड़े

परिमाण में दंगे हुए हैं। सही बात तो यह है कि हर बहुभाषी देश को इस समस्या का अपना-अपना अनोखा हल ढूंढना पड़ा है।

संविधान के शब्दों में

भारतीय संविधान में कुछ अनुच्छेद भाषा-सम्बन्धी स्पष्टीकरण के लिए हैं, जिनका सारांश इस प्रकार है—

- भारत की राजभाषा 'नागरी लिपिवाली हिन्दी भाषा' है और उसके आँकड़े भारतीय आँकड़ों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप में रहेंगे; किन्तु संविधान के आरम्भ से पन्द्रह साल तक एक अँग्रेजी भाषा राजभाषा के नाते चालू रहेगी।
- इसके बाद अँग्रेजी का उपयोग क्रमशः कम किया जायेगा और हिन्दी का उपयोग तब तक बढ़ाया जायगा जब तक हिन्दी भाषा अँग्रेजी की जगह पूरी न ले ले। इस अन्तिम परिवर्तन के लिए कोई कालावधि निश्चित नहीं रहेगी।
- राजभाषा का व्यवहार केन्द्र और प्रदेशों तथा प्रदेश-प्रदेश के बीच किया जायगा; किन्तु यदि दो प्रदेश आपस में तय कर लें तो वे परस्पर व्यवहार में अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का उपयोग कर सकते हैं।
- लोकसभा कानून पास करके जब तक विधान न करे तब तक सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) और उच्च न्यायालय (हाई कोर्ट) की सारी कार्यवाई, सारे विधेयकों तथा अधिनियमों के मसविदे तथा योग्य अधिकारियों द्वारा जारी किये गये सारे अध्यादेश (आर्डिनेंस) अँग्रेजी भाषा में होंगे।
- किन्तु, १९६५ के बाद हिन्दी भाषा का उपयोग एक अतिरिक्त भाषा के तौर पर किया जा सकता है।
- राष्ट्रपति की अनुमति लेकर उच्च न्यायालय की कार्यवाई हिन्दी या किसी भी मान्य प्रादेशिक भाषा में लिखी जा सकेगी; लेकिन न्यायालय के निर्णय, न्यायपत्र (डिक्री) तथा निर्णयपत्र (आर्डर) अँग्रेजी में ही रहेंगे।
- हिन्दी का प्रसार करना संघ-सरकार का कर्तव्य होगा। भाषा के शब्द-संग्रह विकास के लिए हिन्दी भाषा आम तौर पर संस्कृत पर निर्भर रहेगी।
- प्रदेशों को अपने क्षेत्र में चलनेवाली एक या अधिक भाषाएं या हिन्दी का उपयोग राजभाषा के तौर पर करने की स्वतंत्रता रहेगी।

संविधान की व्यवस्था के अनुसार राज्य-कारोबार तथा तत्सम्बन्धी कार्यों के लिए हिन्दी भाषा के उत्तरोत्तर अधिक व्यवहार के लिए राष्ट्रपति से सिफारिश करने के लिए एक आयोग (कमीशन) की नियुक्ति की गयी।

आयोग की रिपोर्ट के अनुसार लोकसभा ने यह निर्णय लिया कि संविधान की व्यवस्था के अनुसार हिन्दी १९६५ से राजभाषा तो होगी ही; किन्तु उसके साथ-ही-साथ अँग्रेजी का व्यवहार भी होता रहेगा, यद्यपि यह व्यवहार क्रमशः कम होता जायगा और अन्त में उसका स्थान हिन्दी ले लेगी। इस परिवर्तन के लिए कोई अवधि ठहरायी नहीं गयी है। १९६५ के बाद सर्वोच्च न्यायालय अँग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी का भी व्यवहार कर सकता है।

राष्ट्रभाषा और नेहरू के आश्वासन ❀

स्वर्गीय प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा के अपने भाषणों द्वारा यह आश्वासन दिया था कि जब तक गैर हिन्दी-भाषी चाहेंगे तब तक हिन्दी के साथ अँग्रेजी सहभाषा के तौर पर कायम रहेगी। इस आश्वासन के कारण हिन्दी को राजभाषा बनाने के सम्बन्ध में दक्षिण के विरोध का कुछ शमन हो गया था; किन्तु साथ ही साथ हिन्दी के प्रसार के सम्बन्ध में मन्दगति होने के बारे में हिन्दी पुरस्कर्ताओं की ओर से विरोध भी होता रहा।

गणतंत्र दिवस १९६५

२६ जनवरी १९६५ को राजभाषा-परिवर्तन के लिए संविधान में दी गयी कालावधि समाप्त होती थी। उस दिन राष्ट्र के लिए एक रेडियो-सन्देश में गृहमंत्री

❀ देखिए पृष्ठ-संख्या ३३० और ३३१।

श्री गुलजारीलाल नन्दा ने इस बात का आश्वासन दिया कि उस दिन से राजभाषा के तौर पर हिन्दी के चालू करने की व्यवस्था इस प्रकार नपी तुली रीति से की जायगी कि हिन्दी न जाननेवालों को कोई तकलीफ न होगी।

उन्होंने गैर हिन्दी भाषियों को यह आश्वासन दिया कि अंग्रेजी से हिन्दी की ओर जाने की गति हिन्दी भाषा के प्रसार के साथ कदम मिलाकर चलेगी। केन्द्रीय सरकार इस विषय में सतर्क रहेगी कि गैर हिन्दी-क्षेत्रियों को केंद्रीय नौकरियाँ प्राप्त करने में हिन्दी का ज्ञान न होने के कारण कठिनाई न हो, कोई असुविधा न हो। सरकारी नौकरियों में दाखिल होने के लिए हिन्दी का ज्ञान होना आवश्यक नहीं माना जायगा। सरकारी नौकरी में आने के बाद वे हिन्दी-शिक्षा की व्यवस्था का लाभ उठा सकेंगे।

श्री नन्दा ने यह भी स्पष्ट किया कि हिन्दी के प्रचार का अर्थ अंग्रेजी का विरोध नहीं होता। साथ ही उन्होंने सरकार का यह निर्णय पुनः घोषित किया कि हिन्दी-भाषा के विकास के लिए तथा सरकारी कारोबार में उसके व्यवहार के लिए उचित प्रयत्न किये जायेंगे।

गणतन्त्र-दिवस के एक दिन पहले पी० टी० आई० के प्रतिनिधि ने यह समाचार दिया कि "गृह मन्त्रालय से यह ज्ञात हुआ है कि राजभाषा-परिवर्तन का कोई सीधा परिणाम प्रशासन की कार्रवाई पर नहीं होगा। वैसे हिन्दी के विकास के लिए इन पन्द्रह वर्षों में काफी किया गया है, किन्तु अभी बहुत-सी तैयारियाँ बाकी हैं, और अब तक प्रशासन में हिन्दी तथा अंग्रेजी को साथ-साथ चलना होगा।

"गृह मन्त्रालय के सूत्रों के अनुसार २६ जनवरी से तो हिन्दी के क्रमशः प्रवेश का आरम्भ ही होगा। हिन्दी का नया स्थान सूचित करने के लिए किसी प्रकार की सरकारी विधि-योजना नहीं अपनायी जायगी, किन्तु हिन्दी सलाहकार-समिति की सिफारिश के अनुसार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल तथा विभाग, २७ जनवरी, जो गणतंत्र दिवस के बाद पहला काम का दिन है, एक पत्र या परिपत्र हिन्दी में उस भाषा का नया स्थान सूचित करने के लिए लिख सकते हैं।"

विरोध की चिनगारी कैसे फूटी ?

१७ जनवरी को तिरुचिरापल्ली में तमिलनाड-हिन्दी विरोधी सम्मेलन ने एक प्रस्ताव द्वारा हिन्दी भाषा लादने के सम्बन्ध में अपना घोर विरोध प्रदर्शित किया और कहा कि यह कृत्य बुद्धिहीन, अन्यायी, पक्षपाती तथा आधिपत्यवादी होगा। दूसरे एक प्रस्ताव-द्वारा सम्मेलन ने सलाह दी कि संविधान में हिन्दी को राजभाषा का स्थान देनेवाले १७ वें अनुच्छेद को अनिश्चित काल तक हटा दिया जाय तथा अंग्रेजी को पूर्ववत चालू रखा जाय, ताकि भारत अपनी प्रादेशिक भाषाओं को बचाये रखते हुए छिन्न विच्छिन्न होने से भी बच जाय। सम्मेलन ने यह अभिप्राय भी प्रकट किया कि हिन्दी को दाखिल करने से भारत के छिन्न भिन्न होने के दीर्घकालीन परिणाम के अलावा उससे अभी हर दफ्तर में विलम्ब, अक्षमता और अन्धेर फैलेगा। इसके अतिरिक्त असन्तोष का शमन करने के लिए अनुवाद की व्यवस्था करनी होगी। इससे सार्वजनिक कोष से भारी धन राशि का खर्च भी होगा।

द्रविड मुन्नेत्र कड़गम ने हिन्दी को लादने का विरोध प्रकट करने के लिए २६ जनवरी को शोक-दिवस मनाने का निर्णय किया। मद्रास के मुख्य मन्त्री ने इस पर चेतावनी दी कि गणतन्त्र-दिवस को शोक-दिवस के तौर पर मनाने का यत्न करनेवालों के खिलाफ सख्ती बरती जायगी।

जब बाकी सारा देश गणतंत्र दिवस मना रहा था तब यह समाचार आया कि मद्रास, मदुराई तथा दक्षिण के अन्य कुछ स्थानों में उन लोगों की भीड पर अश्रुगैस तथा लाठी-प्रहार करना पड़ा, जो सही या गलत कारणों से यह मानते थे कि २६ जनवरी से देश पर उनकी इच्छा के खिलाफ अंग्रेजी थोपी जा रही है। उसी दिन मद्रास के एक युवक ने हिन्दी के विरोध में प्रतिकार करने के लिए अपने आप को जला लिया। प्रतिकार का यह तरीका उसने शायद दक्षिण वियतनाम से सीखा था। उसी दिन शाम को उसी शहर के एक उपनगर में आत्महत्या की ऐसी ही एक और घटना हुई। ●

(अपूर्ण)

राष्ट्रभाषा और नेहरू के आश्वासन

राष्ट्रभाषा का प्रश्न विचार-विमर्श का है, विवाद का नहीं। यही कारण है कि संविधान सभा में इसे कभी महत्व नहीं दिया गया। हाँ, कांग्रेस की अन्तरंग गोष्ठियों में इस विषय की चर्चा समय-समय पर अवश्य होती रही। लेकिन, दुर्भाग्यवश परिस्थितियों ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि यह प्रश्न उलझ गया और एक समस्या का रूप ले लिया। इस सन्दर्भ में वैचारिक स्पष्टता के लिए श्री नेहरूजी के समय-समय पर दिये गये भाषणों से भाषा सम्बन्धी उनके विचार उद्धृत हैं।–गिरीष

"एक बहुत लम्बे अरसे से, और आज भी मैं इस बात को मानता हूँ कि अँग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय जनता का कोई भी वास्तविक अभ्युदय या जागरण नहीं हो सकता। अँग्रेजी त्यागने का यह कोई कारण नहीं है ...लेकिन यह स्पष्ट है कि अँग्रेजी जनता की सम्पर्क-भाषा नहीं हो सकती।"

"यदि सामान्य जनता के सम्पर्क की भाषा अँग्रेजी नहीं हो सकती है तो हमें अनिवार्यत हिन्दी को सम्पर्क भाषा बनाना होगा। इसलिए नहीं कि हिन्दी बंगाली, मराठी या तमिल से श्रेष्ठ है— वस्तुतः ऐसा नहीं है—बस, केवल इसलिए कि (उसमें कुछ ऐसी बातें हैं, जिससे) इस काम के वास्ते हिन्दी सर्वाधिक उपयुक्त है।"

"केवल कहने या संविधान में व्यवस्था कर देने से हिन्दी सम्पर्क-भाषा नहीं बन जाती है। इसे इस रूप में विकसित करना होगा। आज अनेक कारणों से यह इस रूप में नहीं आ सकी है। यह तेजी के साथ इस रूप में (सम्पर्क-भाषा के रूप में) विकसित हो रही है। इसे विकसित होने दीजिए और हमें इस गति को तीव्र करने में बढ़ावा देना चाहिए।"

"जब तक इस (हिन्दी के विकास की) गति को बढ़ावा दिया जायगा, अँग्रेजी को सम्पर्क भाषा बनाये रखना प्राय: आवश्यक और अनिवार्य होगा। यह (सम्पर्क-भाषा का) कार्य इतना जादुई नहीं है कि आप एक तिथि निश्चित करके कह सकें कि अमुक दिन से अँग्रेजी समाप्त, और हिन्दी चलेगी। इस क्रमिक प्रक्रिया के जरिये हिन्दी सम्पर्क-भाषा होगी और इसका अधिकाधिक व्यवहार होगा तथा लोग इसे अधिकाधिक समझेंगे।"

"अँग्रेजी एक महान भाषा है और इसने हमें बहुत-सा फायदा पहुँचाया है; फिर भी, कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के आधार पर महान नहीं बन सकता। क्यों? इसलिए कि कोई भी विदेशी-भाषा जनता की भाषा नहीं बन सकती।"

"हम जो कुछ जानते हैं उसे भूलने की कोशिश तथा जो जानते हैं उसका लाभ न उठाना बेहूदापन होगा। लेकिन, अँग्रेजी अनिवार्यतः इने गिने लोगों के लिए द्वितीय भाषा रहेगी।"

"यदि देश ने हिन्दी को अपनाने का दो तरह से प्रयास किया तो हिन्दी एक बहुत महान भाषा के रूप में विकसित होगी—एक, हिन्दी विदेशी शब्दों के परित्याग की जगह उन्हें अपनाती रहे और दूसरे अनिच्छुक लोगों पर हिन्दी लादी न जाय।"

"मुझे नहीं मालूम कि हिन्दी किस हद तक अँग्रेजी के व्यवहार को हटा सकेगी; लेकिन यदि हिन्दी अँग्रेजी को पूरी तरह से हटा भी दे तब भी अँग्रेजी विदेशों से सम्पर्क व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण रूप से बनी रहेगी।"

"आपका रुख लोकतांत्रिक होगा या अधिनायक-वादी, मैं हिन्दी-भक्तों से यह प्रश्न पूछने का साहस कर रहा हूँ; क्योंकि "....उनमें यह ध्वनि मिलती है कि वे हिन्दी-भाषी क्षेत्र के नेता हैं और दूसरे केवल पिछलग्गू।" ●

बुला लेता हूँ

गोखलेजी बाँकीपुर-कांग्रेस से लौट रहे थे। उनकी तबीयत ठीक नहीं थी। सफर आराम से कटे, इसलिए उन्होंने अपना डिब्बा रिजर्व करा लिया था।

गाड़ी छूटने में थोड़ी देर थी कि भूपेन्द्रनाथ वसु आये और उन्होंने कहा—"अगर आपको कष्ट न हो तो मैं भी आपके साथ चला चलूँ।"

गोखलेजी चौंक पड़े। क्योंकि वह जानते थे कि वसु-महाशय बड़े बातूनी हैं; लेकिन सौजन्यतावश उन्होंने स्वीकृति दे दी।

अपना सामान डिब्बे में रखकर वसु महाशय टहलने चले गये और थोड़ी देर में लौटकर आये तो बोले—"एक मित्र मिल गये, क्या करूँ, बुला लेता हूँ।"

गोखलेजी ने फिर स्वीकृति दे दी।

थोड़ी देर में वे फिर आये और बोले—"एक मित्र और मिल गये, क्या कीजिएगा, बुला लेता हूँ।"

इस तरह गाड़ी छूटने तक उनका यही क्रम चलता रहा। आखिर नौबत यहाँ तक आयी कि गोखले-महोदय को बिस्तर लपेटकर ऊपरी बर्थ पर अपनी यात्रा पूरी करनी पड़ी। ●

—नेहरूजी की 'मेरी कहानी' से

अनुशासन और आधुनिक शिक्षा के तत्त्व

•

बर्ट्रेण्ड रसेल

प्राचीन विचार धारा के अनुसार बच्चे को आदेश पालन न करने पर कड़ा शारीरिक दण्ड दिया जाता था। अगर अवज्ञा अधिक हो तो उसे अलग कमरे में बन्द कर देते थे, जहाँ उसे केवल रोटी और पानी दिया जाता था। मान्यता थी कि बच्चों में स्वभावत सीखने की इच्छा ही नहीं होती, उन्हें केवल भय दिखाकर ही पढ़ने के लिए विवश किया जा सकता है। लेकिन, अब यह पता चला है कि ऐसा वास्तव में पढ़ाने की कला के अभाव के कारण ही होता था।

मान लीजिए हमको पढ़ना और लिखना सिखाना है। इन दोनों को अलग-अलग अवस्थाओं में बाँटकर ऐसा बनाया जा सकता है, जिससे औसत बच्चा उसको पसन्द करने लगे। इस प्रकार जब बच्चे अपनी इच्छा से सीखने लग जाते हैं तब बाह्य अनुशासन लागू करने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। इसके कुछ सरल से नियम हैं—जैसे एक बच्चा दूसरे बच्चे के काम में बाधा न डाले अत उनके पास एक समय में एक ही प्रकार की सामग्री हो। ये नियम ऐसे हैं, जो आसानी से समझ में आ जाते हैं और तर्कसंगत भी हैं। इनके पालन कराने में भी कोई कठिनाई नहीं होती। इसके अन्तर्गत वह कुछ अच्छी आदतें सीख लेता है और कुछ अंशों में उसे यह अनुभव होने लगता है कि अधिक महत्व के लाभ के लिए कभी-कभी अपने आवेग को रोकना अच्छा होता है।

यह बात सभी जानते थे कि खेल में इस प्रकार का आत्मानुशासन रह सकता है परन्तु कभी किसी ने यह कल्पना तक नहीं की थी कि ज्ञानार्जन को भी इतना रुचिकर बनाया जा सकता है कि इस दिशा में भी वही मनोवृत्ति काम करे। अब हम जानते हैं कि यह सम्भव है और छोटे बच्चों की शिक्षा में ही नहीं, वरन सभी स्थितियों में इस मनोविज्ञान का उपयोग हो सकेगा।

शिक्षा और धार्मिक मान्यताएँ

पहले हमारी धार्मिक मान्यता यह थी कि मनुष्य के अन्दर आदम के समय से ही यह प्रवृत्ति है कि वह बुराई की तरफ ज्यादा झुकता है। ज्यों-ज्यों इस मान्यता से विश्वास उठता गया, शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन आते गये। अब इस परम्परागत विचार धारा को कोई नहीं मानता कि हम सब जन्मजात पापी और दुष्ट हैं और सद्गुणी बनने के लिए हमें ईश्वरीय अनुकम्पा का पात्र बनना पड़ेगा, जिसे बार-बार दण्ड भोगकर जल्द प्राप्त किया जा सकता है। अति आधुनिक लोगों को इस बात पर विश्वास ही न होगा कि हमारे पूर्वजों की शिक्षा इसी सिद्धान्त के आधार पर होती थी।

जब हम सोचते हैं कि डाक्टर आर्नाल्ड-जैसे स्वभाव से ही दयालु व्यक्ति ने 'नैतिक दोषों' के प्रति भय और घृणा का वातावरण पैदा करके उसके निराकरण के लिए जिस निर्दयता का प्रतिपादन किया, वह निर्दयता शिक्षा के क्षेत्र में पीढ़ियों से चली आ रही है तब हमको चकित रह जाना पड़ता है। उनके नैतिक दोषों की परिभाषा इतनी विस्तृत है कि उसमें बच्चों की आलस्य वृत्ति को भी शामिल कर लिया गया है। जब मैं युद्धों, शारीरिक यन्त्रणाओं और अत्याचारों पर विचार करता हूँ जिनका दोष साधु पुरुषों के सिर है तो मेरा हृदय काँप उठता है क्योंकि वे लोग ऐसा समझते थे कि वे यह सब 'नैतिक दोषों' का दण्ड देने के लिए कर रहे हैं।

शुक्र है कि अब शिक्षक छोटे छोटे बच्चों को शैतान नहीं मानते। वयस्कों के विषय में और विशेषकर अपराध करने पर दण्ड देते समय ऐसे विचार का (नैतिक दोषों के प्रति भय और घृणा का) अब भी काफी महत्व है, लेकिन छोटे स्कूलों में इस बात को कोई नहीं मानता।

डा० आर्नाल्ड की इस विचार धारा के विपरीत एक और गलत धारणा मौजूद है, जो पहली धारणा से बहुत कम हानिकर है, फिर भी वह वैज्ञानिक दृष्टि से गलत है। इस विचार धारा के अनुसार बच्चे स्वभाव से ही सदाचारी होते हैं और वे अपने बड़ों की बुराई को देखकर बिगड़ जाते हैं। इस विचार का उद्गम रूसो से है।

पर्यावरण और बाल विकास

लेकिन, वास्तव में बात यह है कि बच्चे स्वभाव से न तो अच्छे होते हैं और न बुरे। वे कुछ सहज क्रियाओं और सहज वृत्तियों के साथ जन्म लेते हैं। अपने पर्यावरण के प्रभाव से वे कुछ आदतें सीख लेते हैं, जो अच्छी या बुरी हो सकती हैं। अब यह बात विशेषकर माताओं और परिचारिकाओं की बुद्धिमत्ता पर निर्भर करती है, क्योंकि आरम्भ में बच्चे के स्वभाव को जिस रूप में चाहें ढाल सकते हैं। बच्चे एक प्रकार से कच्चे माल हैं और इस दृष्टि से अधिकांश बच्चों को अच्छा नागरिक या अपराधी बनाया जा सकता है।

वैज्ञानिक मनोविज्ञान ने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है कि सप्ताह के छ दिन मारने पीटने और रविवार को उपदेश देने से बच्चों में सद्‌गुण नहीं आते, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि इसके लिए कोई और तरीका नहीं है। सैम्युअल कटलर के इस विचार का विरोध करना कठिन है कि पूर्व कालीन शिक्षकों को बच्चों को दुख देने में आनन्द मिलता था, अन्यथा यह समझ में नहीं आता कि किस प्रकार वे इतने समय तक बच्चों को व्यर्थ पीड़ा पहुँचाते रहे। एक स्वस्थ बच्चे को प्रसन्न करना कठिन नहीं, और अगर बच्चों के मस्तिष्क और शरीर की भली प्रकार देख रेख की जाय तो अधिकांश बच्चे स्वस्थ हो सकते हैं।

सीखने की सहज इच्छा और बाल शिक्षण

बच्चे भविष्य में उत्तम मनुष्य बन सकें, इसके लिए उन्हें बचपन में प्रसन्न रखना आवश्यक है। स्वाभाविक आलस्य, जिसे डाक्टर आर्नाल्ड 'नैतिक दोष' मानते थे, नहीं रहेगा, यदि बच्चे को यह अनुभव कराया जाय कि उसकी शिक्षा में उसे जो कुछ सिखाया जा रहा है वह सीखने-योग्य है। परन्तु, यदि उसको दिया जानेवाला ज्ञान व्यर्थ हो और उसके शिक्षक निर्दय हों तो बच्चा सहज ही 'चेहोव' के बिल्ली के बच्चे की तरह आचरण करने लगता।* प्रत्येक सामान्य बच्चे में सीखने की सहज इच्छा होती है और इसी इच्छा के कारण वह बोलना और चलना सीखता है। शिक्षण में भी उसकी इस इच्छा का उपयोग किया जाना चाहिए। हमारे युग की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है कि अब दण्ड के स्थान पर बच्चे की इस सहज इच्छा का उपयोग किया जा रहा है।

क्या अपराध वृत्ति रोकी नहीं जा सकती ?

चरित्र निर्माण के सम्बन्ध में आधुनिक प्रवृत्तियाँ शैशवावस्था की ओर ध्यान अधिक आकृष्ट करती हैं। प्राचीन विचारधारा के अनुसार सदाचार अनिवार्य रूप से आत्मिक बल पर निर्भर है, और हमारे अन्दर बुराइयाँ भरी हुई हैं, जिनका हम अपनी इच्छा शक्ति से दमन करते हैं। यह बात मान ली गयी थी कि बुरी इच्छाओं का उन्मूलन करना असम्भव है और अधिक से अधिक

* चेहोव के चाचा एक बिल्ली के बच्चे को, जिसकी शिकार करने की सहज प्रवृत्ति अभी विकसित नहीं थी, चूहे के साथ रखकर उसे पकड़ना सिखा रहे थे। उसके न पकड़ने पर उस पर मार पड़ी और, डरकर बार-बार के प्रयोग के बाद भी उसने चूहे को नहीं पकड़ा तो उसे जड़ मान लिया गया। जब यह बिल्ली का बच्चा बड़ा हुआ तो भी और सारी बातें तो उसकी बिल्लियों जैसी ही रहीं, लेकिन वह चूहा देखकर डर के मारे भाग खड़ा होता था।

इतना ही सकता है कि हम उनपर नियंत्रण रख सकते हैं। यह अवस्था अपराधी और पुलिस जैसी थी।

कोई व्यक्ति यह कल्पना नहीं कर सकता था कि भावी समाज अपराधियों के बिना सम्भव है। लोग यह समझते थे कि ज्यादा से-ज्यादा यह किया जा सकता है कि ऐसी कुशल पुलिस रखी जाय, जिससे अधिकांश लोग अपराध करने से डरें और जो थोड़े बहुत अपवाद रह जायें, उन्हें पकड़कर दण्ड दिया जाय।

आधुनिक मनोविज्ञान के विशेषज्ञ इससे सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि अपराध करने की प्रवृत्ति को अधिकांश रूप से उचित शिक्षा-द्वारा बढ़ने से रोका जा सकता है और जो बात समाज के लिए लागू हो सकती है वह एक व्यक्ति पर भी लागू हो सकती है। बच्चों में यह इच्छा विशेष रूप से होती है कि वे अपने बड़ों और साथियों के स्नेह भाजन बनें। उनमें ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो उनकी प्रवृत्तियों के अनुसार अच्छी अथवा बुरी दिशाओं में विकसित की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त यह अवस्था ऐसी होती है, जिसमें आदतें आसानी से डाली जा सकती हैं और अच्छी आदतों से स्वतः अच्छे गुण आने लगते हैं।

इसके विपरीत पुरानी विचार धारा के अनुसार बुरी इच्छाओं को केवल इच्छा शक्ति के बल पर ही रोका जा सकता था, जिसके द्वारा पूरी तरह इनका दमन सम्भव नहीं। परिणामतः बुरी इच्छाएँ और भड़क उठती थीं और व बाँध से रुकी हुई नदी के समान कोई दूसरा निकास निकाल लेती थीं, जो इच्छा शक्ति की जागरूक दृष्टि से बच गया है। जो मनुष्य युवावस्था में अपने पिता की हत्या करना चाहता था, बाद में अपने पुत्र को इस विचार से कोड़े मारने में सन्तोष पाता है कि वह नैतिक पाप को दण्ड दे रहा है।

जो सिद्धान्त नैतिकता का समर्थन करते हैं, उनका मूल कारण प्रायः सदैव किसी ऐसी इच्छा में निहित होता है जो हमारी प्रबल इच्छा शक्ति के सामने सहज रूप में प्रकट न होने के कारण दब जाती है और बाद में अप्रकट रूप से पाप के प्रति घृणा या ऐसी ही किसी आदरणीय भावना के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार इच्छा-शक्ति-द्वारा बुरी भावनाओं का दमन करना, यद्यपि किसी किसी समय आवश्यक होता है, परन्तु यह कहना ठीक नहीं कि इच्छा शक्ति के द्वारा ही सद्गुण आते हैं।

ये विचार हमें मनोविश्लेषण के क्षेत्र में ले जाते हैं। मनोविश्लेषण में बहुत सी बातें ऐसी हैं, जो मेरे विचार में कल्पित हैं और उनके पक्ष में समुचित प्रमाण नहीं हैं, परन्तु इसकी सामान्य विधि मुझे बड़े महत्व की लगती है और नैतिक शिक्षण के उचित उपायों के निर्माण में इनका होना बहुत जरूरी है।

बहुत-से मनोवैज्ञानिक शैशव के आरम्भिक वर्षों को जितना महत्व देते हैं, मुझे अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि उनका कहना है कि चरित्र की जो छाप शिशु के पहले तीन वर्षों में पड़ती है वह अमिट होती है। मैं ऐसा नहीं समझता। अगर उनका यह विचार गलत भी हो तो मैं कोई हर्ज नहीं समझता क्योंकि पहले जमाने में बाल मनोविज्ञान की बहुत उपेक्षा की गयी है और मैं समझता हूँ कि उस समय की बुद्धिवादिता में इस ओर ध्यान देना शायद सम्भव भी न था।

आप नींद को ही लीजिए। सभी माताएँ अपने बच्चे को सुलाना चाहती हैं क्योंकि नींद स्वास्थ्य-वर्द्धक होने के साथ सुविधा-जनक भी है। इसके लिए उन्होंने एक उपाय निकाला—पालना झुलाना और लोरियाँ सुनाना। पुरुषों ने इसकी वैज्ञानिक रीति से जाँच की और यह पता लगाया कि यह उपाय सिद्धान्त रूप में गलत है क्योंकि इससे एक या दो दिन तो बच्चा सो जायगा, पर उसमें इससे बुरी आदतें पड़ जायेंगी। प्रत्येक बच्चा यह चाहता है कि उसे अधिक महत्व दिया जाय, क्योंकि इससे उसके आत्म-गौरव के भाव को तृप्ति होती है। अगर उसे पता चल जाय कि न सोने से लोग उसकी ओर ध्यान देते हैं तो वह शीघ्र ही यह उपाय अपनाने लगता है। स्वास्थ्य और चरित्र दोनों के लिए यह समान रूप से हानिकर है।

अस्तु यह स्पष्ट है कि व्यवस्थित शिक्षण, इसके लिए पहले जो अवस्था निर्धारित थी, उससे पहले ही आरम्भ किया जा सकता है क्योंकि शिक्षण को अब आनन्ददायक बनाया जा सकता है और उससे बच्चे की अवधारणा शक्ति पर कोई जोर भी नहीं पड़ेगा। ●

प्रेरणा-श्रोत बर्ट्रेण्ड रसेल

•

सतीशकुमार

नोबल-पुरस्कार-विजेता बर्टी (उनके निकट के साथी उन्हें श्रद्धा से बर्टी कहकर पुकारते हैं) ने केवल गणितशास्त्र तक ही अपने को सीमित नहीं रखा है; बल्कि वे एक समाजशास्त्री और दार्शनिक के रूप में लम्बे समय तक अमेरिका में शिक्षक रहे हैं। प्रेम, काम, विवाह, युद्ध, राजनीति आदि के बारे में उन्होंने मौलिक विचार रखे हैं, और मैं इन विचारों में एक नया चिन्तन प्राप्त करता रहा हूँ। अमेरिका में उनके काम, विवाह और प्रेम-सम्बन्धी भाषणों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और आखिर उन्हें देश से बाहर निकल जाना पड़ा।

पिछले वर्ष जब रसेल ने अपना सारा समय अणुशस्त्र विरोधी आन्दोलन के पीछे लगाया, तब से संसार भर के शान्ति प्रेमियों में आशा की एक नयी लहर दौड़ गयी। हममें से बहुत से कार्यकर्ताओं ने यह सोचा कि एक महान दार्शनिक का नेतृत्व पाकर विश्वभर का शान्ति-आन्दोलन नयी दिशा प्राप्त करेगा। १९६१ में बर्टी ने लन्दन में एक आश्चर्य-जनक अणुशस्त्र-विरोधी प्रदर्शन का नेतृत्व करने की घोषणा की। उनकी घोषणा-मात्र से सरकार काँप उठी और उन्हें गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया।

कोर्ट में न्यायाधीश के सामने बयान देते हुए उन्होंने दुनिया भर के शान्तिवादियों और विशेष रूप से युवकों का आह्वान करते हुए अपील की कि आणविक-शस्त्रों के भयंकर तथा विनाशकारी खतरे से बचने के लिए हर व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व सँभाले और सरकारों की आणविक नीति के विरुद्ध संघर्ष करे। उनकी इस अपील ने न जाने कितने जवानों के दिलों में हलचल पैदा कर दी। मैं और मेरे साथी प्रभाकर भी उन्हीं में से थे। उनकी उपर्युक्त अपील ने ही हमें दिल्ली से पैदल चलकर मास्को, पेरिस, लन्दन और वाशिंगटन जाने की प्रेरणा दी।

१७ महीने की पैदल यात्रा के बाद जब हम लन्दन पहुँचे तो बर्ट्रेण्ड रसेल से मिलने की हमारी अभिलाषा चरम बिन्दु पर थी। वे लन्दन से सवा दो सौ मील दूर वेल्स प्रान्त के एक छोटे-से पहाड़ी-गाँव में रहते थे।

वहाँ पहुँचकर मैंने देखा कि दरवाजे पर एक ठिगना-सा, दुबला-पतला व्यक्ति खड़ा हमारे स्वागत के लिए उतावला हो रहा है। गहरे रंग का सूट और चाँदी की तरह चमचमानेवाले दुग्ध-धवल केशोंवाला यह महान चिन्तक अपने भारतीय अतिथियों को पाकर स्नेह की वर्षा कर रहा था। कुछ औपचारिक बातचीत के बाद बर्टी ने कहा—"आप लोगों ने जो असाधारण पदयात्रा की है, उसकी पूरी कहानी मुझे सुनाइए। मैं बहुत उत्सुक हूँ।" तब हमने दिल्ली से लन्दन तक की पूरी कहानी उन्हें सुनायी।

बातचीत का दौर भारत चीन-संघर्ष तक पहुँच गया। जब मैंने उनके चीन समर्थक रुख पर टीका की तो वे बोले—"भारत और चीन दोनों बड़े देश हैं। अगर ये दोनों देश युद्ध की तैयारियों में लगेंगे तो इस तैयारी का कहीं अन्त नहीं होगा। आज रूस और अमेरिका के बीच शस्त्र प्रतियोगिता चल रही है। भारत और चीन के बीच की शस्त्र-प्रतियोगिता उससे भी भयंकर होगी, क्योंकि रूस और अमेरिका पड़ोसी नहीं हैं। भारत और चीन को तो पड़ोसी बनकर रहना ही है! फिर भारत और चीन दोनों ही गरीब देश हैं। शस्त्र-प्रतियोगिता में उतरना दोनों के लिए महँगा पड़ेगा। इसलिए यह समस्या मेरे

बर्ट्रेण्ड रसेल

मन में बहुत चिन्ता पैदा करती है। भारत और चीन जैसे अपार जनशक्तिवाले देश एक दूसरे के खिलाफ सैनिक तैयारियाँ करें, यह अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारने जैसा है। दूसरे देशों की फौजी सहायता पर कहाँ-तक निर्भर रहा जा सकता है ! इन सैनिक तैयारियों से छोटे-छोटे पड़ोसी देशों म भी भय पैदा होगा।" इस तरह रसेल ने दलीलें पेश कीं।

"आपकी बात तो ठीक है, पर क्या आप चाहते हैं कि भारत चीन के सामने आत्म समर्पण कर दे ?"—मैंने मुँझलाकर कहा। 'नहीं।"-बर्टी बोले-"आत्म-समर्पण भी नहीं और युद्ध भी नहीं। कोई तीसरा रास्ता हमें ढूँढना होगा। कोलम्बो प्रस्तावों से तीसरा रास्ता खुलने की आशा थी। चीन को कोलम्बो प्रस्ताव मान्य करना चाहिए, पर उसने ऐसा करने से इनकार किया है, इसलिए एक बड़ा गत्यवरोध पैदा हुआ है। यह गत्यवरोध ज्यों ज्यों बढ़ता जायगा, सैनिक तैयारियाँ बढ़ेंगी और परिस्थितियाँ उलझेंगी। इस दुर्भाग्यपूर्ण गत्यवरोध को समाप्त करने के लिए भारतीय शांति आन्दोलन के नेता विनोबाजी, जयप्रकाशजी, आर आर दिवाकर-जैसे लोग गम्भीरतापूर्वक सोचकर और परिस्थिति की जटिलता को समझकर कोई मार्ग निकालें।"

इस चर्चा के बीच ही प्रश्न आया आणविक-शस्त्रास्त्रों का। पूरी की-पूरी इनसानी तहजीब के ही मिट जाने का खतरा अणु-शस्त्रों ने पैदा किया है। इस खतरे के डर से बर्टी भयभीत हैं। बर्टी के प्रति पूरी नम्रता और आदर के बावजूद मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि उनका चिन्तन भय पर आधारित है, अहिंसा पर नहीं। ९० मिनट की बातचीत के बाद मैंने अपने-आपको बड़ी अजीब हालत में पाया। उनके सामने किसी अहिंसात्मक समाज का स्पष्ट चित्र है, जैसाकि गांधीजी के सामने था, मुझे ऐसा नहीं लगा।

बर्टी के मन में मानव सभ्यता के ही मिट जाने का भय है, और इसलिए वे अणु शस्त्रों का विरोध करते हैं, पर इस भय के कारण यदि हम आणविक निःशस्त्रीकरण प्राप्त भी कर लें, तो भी क्या संसार में शान्ति स्थापित हो सकेगी ? पहले और दूसरे महायुद्ध के समय आज-जैसे भयंकर और विनाशकारी हथियार नहीं थे, फिर भी क्या हम युद्ध को टाल सके ? क्या घिनौनी हिंसा का शिकार होने से समाज को बचा सके ? जब तक सारा राजनीतिक ढाँचा अविश्वास, सेना और शस्त्रों के बल पर टिका रहेगा, तब तक मात्र आणविक निःशस्त्रीकरण कहाँ तक सहायक होगा, यह समझने में मैं असफल रहा।

बर्टी ने दुर्घटनात्मक आणविक युद्ध की सम्भावना की ओर भी ध्यान खींचा, पर समाज की बुनियाद में जब तक हिंसा के स्थान पर अहिंसा के पत्थर नहीं रखे जायँगे, तब तक आणविक निःशस्त्रीकरण की बात ऊपर ऊपर से पत्ते काट लेने, लेकिन जड़ को वैसे ही छोड़ देने जैसी है। अगर रूस और अमेरिका आणविक शस्त्रों के विसर्जन की बात मान लें तो दुनिया की सत्तामूलक राजनीति में उसी का वर्चस्व रहेगा, जिसके पास सबसे बड़ी सेना होगी। उसमें शायद चीन का नम्बर पहला होगा।

इसलिए, हमें सारे संसार से और सभी राजनीतिज्ञों से यह अपील करनी होगी कि वे समस्याओं के समाधान

के लिए हिंसक शक्ति का और सेना का शास्त्र समाप्त करके अहिंसा का शास्त्र स्वीकारें तथा सम्पूर्ण समाज की रचना अहिंसात्मक नीतियों के आधार पर खड़ी करें, जैसा कि गांधीजी ने आजादी प्राप्त करने के लिए अहिंसा को एकमात्र रास्ता माना था। दिल्ली से मास्को और वाशिंगटन तक की पदयात्रा में अनेक राज नेताओं और लोकनेताओं ने हमसे कहा कि "हम शान्ति चाहते हैं, युद्ध नहीं चाहते, पर अपनी आजादी की रक्षा के लिए हम सेना का सहारा लेने के लिए बाध्य होते हैं।"

यदि रसेल, इन नेताओं को एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण की सलाह देते हैं, तो उनकी आजादी की रक्षा के लिए कौन-सा दूसरा मार्ग सुझाते हैं? बातचीत के बीच रसेल ने अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की बात कही, पर क्या उनको इस बात का भरोसा है कि शस्त्र शक्ति पर आधारित यह केन्द्रित हिंसक शक्ति (पुलिस) शान्ति-स्थापना कर सकेगी?

विश्व-सरकार की स्थापना करने का विचार बहुत दिनों से चर्चा का विषय है। लन्दन में संसद सदस्यों की एक संस्था विशेष रूप से विश्व-सरकार की स्थापना के प्रयत्न में है। इस संस्था के प्रमुख नेता लार्ड एटली (भारत की आजादी-प्राप्ति के समय ब्रिटेन के प्रधानमंत्री) से जब हम मिले तो मैंने उनके विचार समझने का बहुत प्रयत्न किया। संसद-भवन में उपर्युक्त संस्था की तरफ से आयोजित शिक्षाशास्त्रियों की सभा में भी चर्चा के दौरान में यही खोज रहा था कि पश्चिम के ये विचारक किस प्रकार विश्व-सरकार के प्रश्न को सुलझाते हैं।

मुझे यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि वे सब आखिर ऐसे बिन्दु पर रुक जाते थे, जहाँ से हिंसा और अहिंसा के रास्ते अलग-अलग दिशा में जाते हैं। बर्ट्रेण्ड रसेल के सामने भी वैसा ही धुंधलापन है। उन्होंने हाल ही में दो शान्ति प्रतिष्ठानों की घोषणा की है। ये शान्ति प्रतिष्ठान अणु शस्त्रों के विरुद्ध मजबूत आन्दोलन खड़ा करने के लिए दैनिक अखबार, रेडियो-स्टेशन आदि का आयोजन करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि इस वृद्धावस्था में भी रसेल के अन्दर अपरिमित शक्ति और उत्साह भरा है। गजब का व्यक्तित्व है! नम्र, गम्भीर और सक्रिय व्यक्तित्व!! उनके पास बहुत बड़ी वैचारिक सम्पदा है, पर मैं यह समझने में असफल रहा कि वे समस्या को ऊपर-ऊपर से ही क्यों देखते हैं? तह में क्यों नहीं जाते?

विदेशों में बर्ट्रेण्ड रसेल को ब्रिटिश शान्ति-आन्दोलन का नेता माना जाता है, पर मुझे यह देखकर बहुत अफसोस हुआ कि रसेल बिना अनुयायियों के नेता हैं! दो महीने के प्रवास में मैं शान्ति-आन्दोलन के अनेक बुजुर्ग और युवा नेताओं से मिला। अनेक संस्थाओं के सम्पर्क में आया। मुझे सर्वत्र यह आभास मिला कि रसेल और अन्य शान्तिवादियों के बीच गहरी खाई है। नेतृत्व के अभाव में आन्दोलन गति नहीं पकड़ता और अनुयायियों के अभाव में नेता को शक्ति नहीं मिलती।

मेरे मन को इन शिकायतों के बावजूद व्यक्तिगत रूप से बर्ट्रेण्ड रसेल से मिलकर मैं बहुत आनन्दित हुआ। वे अपनी पत्नी के साथ वेल्स प्रान्त की पहाड़ियों में जीवन का अन्तिम भाग बहुत आनन्द के साथ बिता रहे हैं। हालांकि रसेल के पास तीन सचिव हैं, पर उनकी पत्नी किसी भी सचिव से बढ़कर उन्हें लिखने-पढ़ने के काम में मदद करती हैं। स्वयं रसेल रात को एक बजे सोते हैं और सबेरे आठ बजे उठते हैं। बाकी के पूरे समय में अभ्यागतों से मुलाकात, पत्र-व्यवहार, लेखन, पठन आदि चलता है। वे कोई भी सघन आहार नहीं ले सकते। दिन में तीन-चार बार मात्र पेय लेते हैं। उनके स्वास्थ्य का सबसे बड़ा रहस्य है—प्रकृति का निरन्तर साहचर्य।

उनका यह छोटा सा नगर पेनहिनदोयड्रथ कश्मीर की घाटी के किसी नगर से कम मनोहारी नहीं। यहाँ के लोग अभी भी ग्राम-जीवन और कृषि-जीवन का आनन्द ले रहे हैं। लकड़ी और खपरैल से बने हुए घर तथा भेड़ें और गायें चराते हुए ग्वाले सहज और आनन्दपूर्ण जीवन में चार चाँद लगा देते हैं। लन्दन, मैनचेस्टर, और बर्मिंघम की शहरी घुं-घूं के बाद उनके गाँव में पहुँचकर मुझे बड़ी ही तृप्ति मिली। ●

बच्चों को हमारी देन

•

प्रभाकर जोशी

सन् १९५१ की बात है। इगलैण्ड की प्रसिद्ध शांतिवादी महिला श्रीमती म्युरियल लिस्टर से वर्धा म मुलाकात हुई। उस समय उनकी उम्र ७५ के आस पास थी। फिर भी उनकी स्फूर्ति और उत्साह देखते ही बनता था। उ होने बताया कि गाधीजी जब इगलैण्ड आते थे तो उनके ही घर ठहरते थे। मैने उन्हीं से सीखा कि युद्ध मैदानो म नहीं हमारे सकुचित हृदयों में होते रहते हैं। रोज ब रोज चलनेवाले य युद्ध ज्वाला मुखी की तरह कभी-कभी बाहर फूट पडते ह। विश्व शांति का सच्चा तथा सही काम ह मानव मानव के बीच आतरिक सघष तथा भेदभाव को मिटाना। हमारी सकुचित मा यताए ही विश्वयुद्ध के सस्कार प्रदान करती ह।

बच्चों पर अपनी मान्यताएँ न लादें

इसन श्रीमती म्युरियल लिस्टर से फिर कई प्रश्न किये—'हिंसा की समाप्ति कैसे हो? अतर-तर में बैठी पाशविक वृत्ति का नाश कैसे हो? सामाजिक समस्याएँ अहिंसा की ताकत से कैसे सुलझायी जायँ? इन सब प्रश्नों का उनका एक ही उत्तर था— बालकों के हृदय में हिंसा, द्वेष, मद मत्सर का प्रवेश हम ही कराते हैं। अगर बच्चो को उनके स्वाभाविक रूप में विकसित होने दिया जाय तथा हम अपनी पुरानी मान्यताओं को उनपर न लादें तो विश्वयुद्ध के कारणों की ही समाप्ति हो जाती है। व्यक्तिगत लाभ तथा सामाजिक शोषण पर आधारित समाज रचना ही शस्त्र बल पर जोर देती है। नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों पर आधारित शिक्षा ही समाज को अहिंसा की आधार शिला पर खड़ा कर सकती है।

जब हम अपने बच्चों को उनकी सहज सुकोमल वृत्ति को उनके निर्मल उन्मुक्त प्रेम को, उनके परस्पर प्रेमल व्यवहार को देखते हैं तो हमको लगता है कि वे स्वयं बुद्ध के अवतार हैं। उनके हृदय में गाधी और विनोबा विद्यमान हैं परन्तु हम अपने क्रूर व्यवहार से उनके कोमल हृदयों में उठनेवाली भावनाओं का गला हमेशा-हमेशा के लिए दबोच देते हैं।

बच्चों की उपेक्षा क्यों?

समाज में गम्भीरता बड़प्पन की निशानी मानी जाती है किन्तु हम दूसरी ओर देखते हैं कि जार्ज बर्नाड शा जसे दिग्गज तथा वयोवृद्ध विद्वान भी बाल-सुलभ हास और मुसकराहट के आदी थ। मुसकराहट बालक का स्वाभाविक गुण है। जितनी छोटी उम्र का बालक, उतनी सहज मुसकराहट। देखने में बोलन म खान पीन में, खेलने-कूदने में सोने म गाने में वह मुसकराता रहता है। कभी-कभी नींद में भी वह मुसकराता ह। उसे यह आशा रहती ह कि उसके ही समान सारा ससार मुसकराये। परन्तु हम अपने ही द्वारा खड किये गये जजाल में इतन खोये रहते है कि हमारी हसी तो गायब हो ही जाती ह किन्तु हमारे सम्पर्क म आय बालको

की सहज मुसकराहट का भी हम स्वागत नहीं कर पाते। दुख में हँसने की हमें आदत नहीं। बालक अपनी हँसी का उत्तर न पाकर उदास हो जाता है। उसकी सहज मुसकराहट क्षण-क्षण लुप्त होकर, क्रूर संसार के प्रति रुदन का रूप धारण कर लेती है।

बाल मन में एकांगी भाव पैदा न करें

बालक संसार की प्रत्येक वस्तु को अपनाता है, उसे अपनी बाहों में भरता है, उसे अपनी जीभ से चखता है, उसके लिए कोई वस्तु त्याज्य नहीं। पावन तथा अपावन का भेद वह नहीं जानता। उसे नीम की पत्ती से भी उतना ही लगाव है जितना धनिया की पत्ती से। उसे कुम्हड़े का फूल भी उतना ही मोहक लगता है जितना गुलाब का। उसकी इन्द्रियाँ सबका स्वागत करती हैं। उसे सारी सृष्टि ही मंगलमय तथा सुन्दर लगती है।

किन्तु, हम उसपर अपनी मान्यताएँ लादते हैं। कड़ुई नीम की उपयोगिता तथा आवश्यकता का भान कराये बगैर ही हम उसके प्रति घृणा का भाव भर देते हैं। कुम्हड़े के फूल की सुन्दरता का परिचय कराने के पूर्व ही हम उसे असुगन्धित बताकर त्याज्य बना देते हैं। इस प्रकार प्रकृति की विविधता में होनेवाली बालक की तन्मयता को हम खो देते हैं। सब सुन्दर, सब उपयोगी, सब ग्राह्य हैं, इस भावना के विपरीत हम बालक के मन में एकांगी भाव पैदा करते हैं, रंग रूप तथा आकार के प्रति राग-द्वेष का अम्बार खड़ा करते हैं, जो बालक के मन में अपने तथा पराये का भेद पैदा करता है।

बच्चों को डराकर भीरु न बनायें

बालक प्रयोगवादी है। वह जो भी देखता है उसके साथ प्रयोग करता है। नीम की पत्ती कड़ुई है उसे चखकर वह अन्दाज लगा लेता है। नीम के कड़वेपन में भी उसे आनन्द आता है, इसलिए वह उसे बार-बार चखता है। कड़वापन भी एक स्वाद है। इस ओर उसकी प्रवृत्ति जाती है, किन्तु हम उसको इस प्रयोग से वंचित कर देते हैं। हम उसे मीठे स्वाद की ओर प्रवृत्त करते हैं, भले ही दीर्घ जीवन में वह मीठा स्वाद जहर का काम करता हो। फीके दूध का स्वाद अच्छा होता है; किन्तु उस स्वाद के आदी होने के पहले ही हम बालक को शक्कर का चसका लगा देते हैं। इस प्रकार के संस्कारों को हम अपनी कमजोरियों के ढाँचे में ढालकर बनाते हैं।

बालक हमेशा किसी-न-किसी खतरे का काम करना चाहता है। हम उसे मनचाहा काम करने दें, उसे अनुभव लेने दें। अनुभव ही उसे सही या गलत मार्ग का भान करा देंगे। हमारा काम तो उसके उस प्रयोग पर निगरानी रखने का है, क्योंकि खतरे की अन्तिम स्थिति तक भी वह अगर सँभल नहीं पाया तो हमें उसे सँभाल लेना है, किन्तु हमें इतना समय कहाँ, जो उसके प्रयोगों की ओर ध्यान दें। हम उसे हर प्रयोग से डराकर अलग रखने का प्रयत्न करते हैं। परिणाम-स्वरूप वह भीरु हो जाता है तथा हर खतरे से बचना चाहता है। और, वह अपना आत्मविश्वास खो बैठता है।

हमने लाड-प्यार की बेड़ियों में बालक को बन्द कर दिया है। पानी में जाने से रोक, आग के पास जाने से रोक, गुँथे हुए आटे को छूने से रोक, रोटी के टुकड़े के खेल से रोक, चारों ओर बस रोक-ही-रोक। हम अपनी मौज-मस्ती में हजारों रुपये का खर्च करते हैं; परन्तु बालक के प्रयोग पर कानी कौड़ी भी खर्च नहीं करना चाहते। हम उसे गुड़िया देते हैं; किन्तु गुँथे हुए आटे को उसको दूर रखते हैं। गुड़िया तो उसकी काल्पनिक साथी है, किन्तु गुँथा हुआ आटा तो उसका नित्य दर्शन है। फिर भोजन तथा उसके व्यंजनों को बनाने में उसकी रुचि कैसे जागृत हो सकती है?

बालक पानी नहीं भर सकता, रोटी नहीं बना सकता, बाल्टी में बैठकर स्नान नहीं कर सकता, अपनी मर्जी से खा नहीं सकता, अपने स्वाद की चीज चख नहीं सकता, चारों ओर उसके लिए नकारात्मक उत्तर ही हैं। इससे उसके मन में बड़ों के प्रति असहयोग की भावना उत्पन्न होती है। उसमें अविश्वास तथा असहिष्णुता का जन्म होता है। वह सोचता है संसार बड़ों के लिए है, मेरे लिए नहीं। ये सब स्वच्छन्द हैं, मैं

पराधीन है। वे समर्थ हैं, मैं असमर्थ हूँ। इनसे उसके मन में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, गधर्ष के लिए वैर, वैर के लिए क्रोध तथा क्रोध के लिए मान-अपमान के भाव उत्पन्न होते हैं।

बच्चों की समत्व बुद्धि का विकास न रोकें

बालकों में समत्व बुद्धि होती है। वे हरिजन बालकों को गले लगाते हैं, मुसलमान बच्चा के हाथ में हाथ डालकर खेलते हैं, बनिया, सिख, जैन, पारसी सब उसकी गेंद के अधीन होते हैं। गेंद ही उन्हें एकता, मित्रता तथा पारस्परिक आनन्द देती है। गरीब हो या अमीर, वे तो एक दूसरे के भक्त होते हैं, परन्तु समृद्ध परिवार के बालक की भड़कीली वेशभूषा मध्यम तथा निम्न परिवार के बालकों के मन में एक प्रकार की अपूर्णता और निराशा पैदा करती है। कभी-कभी किसी स्कूल में एक सी पोशाक में बालक दिखाई पड़ते हैं। वहाँ गरीबी अमीरी से दूर बालकों में सहज सुलभ सामर्थ्य का दर्शन होता है। काश, एक-सी पोशाक के पीछे हम बड़ों का दिल भी समान हो जाय, तो कितना अच्छा हो! सबको विकास का समान अवसर मिल सके। हमारे देश के लाखों भावी जवाहरलाल असमानता, घृणा तथा तिरस्कार के गर्त में अपने विकासशील जीवन की इतिश्री कर रहे हैं।

बच्चों के मन में भेद की दीवार क्यों ?

बालक गुणों के आगार हैं। उन्हें सद्गुण प्रकृति से ही मिले हैं। बालक प्रत्येक कार्य सद्भावना से ही करते हैं। आरम्भ में उनके सब काम निष्कलुष होते हैं। सद् असद् का भेद उनमें हम पैदा करते हैं। सांसारिक व्यापार के लिए असत्य का आश्रय तथा पारलौकिक सुख के लिए यज्ञ, दान तथा तप हमने रचा है। संसार की दुष्प्रवृत्तियों में बालक को पैगम्बर, ब्रह्मचर्य तथा संन्यास का विधान हमने बनाया है। बालक के जीवन को ही मंगलमय, पवित्र, पुण्यशाली तथा आनन्दमय बनाने का कोई विधान हमारे पास नहीं है। जिन गुणों के सहज विकास से दुनिया स्वर्ग बन सकती है उन्हें हम लूट तथा शोषण की होड़ में भुलाकर काल्पनिक स्वर्ग की सिद्धि के लिए मानव के समय तथा शक्ति के साथ खिलवाड़ करते हैं। अपने अन्तर के भगवान को भुलाकर धर्म तथा पन्थों के फेर में परस्पर सिर कटवाते हैं। निर्लेप, निराकार, निरंजन भगवान को भुलाकर हम बालकों में रंग भेद, जाति-भेद तथा धर्म भेद पैदा करते हैं। फलतः मातृत्व के दुलार, पिता के प्यार, भाई बहनों की पुचकार तथा अड़ोस पड़ोस की मनुहार पर पला-पुसा मानव, स्वार्थ-जनित विश्वयुद्ध के कलुषित कगार पर कीट पतंगों की तरह नष्ट हो जाता है।

एटम बम हमारी अन्तराग्नि की ऊर्जा से उत्पन्न होता है। विज्ञान ने विशाल दुनिया को संकुचित बना दिया, किन्तु हम अपने संकुचित हृदयों को विशाल न बना सके? क्या हमारे अन्तर की आवाज हमें विश्व-मानव बनने के लिए कभी प्रेरित नहीं करेगी? जिस सहज प्रेरणा से हम सृष्टि में सृजन करते हैं, उस सृजन के सुनियोजित सौन्दर्य में अपने सहज सुलभ मानव जीवन की सफलता का सार क्यों नहीं समझते? क्या हम अपने बच्चों को स्वतंत्रता, समता, ममता, बन्धुत्व तथा एकता का पाठ नहीं दे सकते, जो अन्तर-तर में निरन्तर चल रहे विश्वयुद्ध को हमेशा हमेशा के लिए समाप्त कर दे? ●

काश, पिताजी समझ पाते !

बेटा—आप मुझे आज चित्र बनाना सिखायेंगे न पिताजी?

पिता—नहीं बेटा, शर्माजी रास्ते में मिल गये थे। मैंने उनके घर जानेका वादा कर लिया है।

बेटा—लेकिन पिताजी, मुझसे तो आपने कल ही वादा किया था कि मैं तुम्हें आज चित्र बनाना सिखाऊँगा!

पिता—हाँ बेटा, लेकिन क्या करूँ, मैं मजबूर हूँ।

बेटे के अहम् को चोट लगी और वह मूक स्वरों में बोल उठा—काश, पिताजी मेरी मजबूरी भी समझ पाते!

–शिरीष

शिक्षा के स्तर में ह्रास क्यों ?

•

विद्या पाठक

अभी कुछ दिन हुए भागलपुर विश्वविद्यालय के उप कुलपति श्री दिनकरजी ने सिनेट में भाषण करते हुए कहा था कि परीक्षाफल के प्रतिशत में भीषण ह्रास का कारण शिक्षा की वह प्रणाली है, जो अँग्रेजी को अनिवार्य मानती है। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। अँग्रेजी को पाठ्यक्रम से हटा देने पर निरीक्षकों का नपौना अत्यन्त उदार हो जायगा और विद्यार्थी परीक्षा की वैतरणी निश्चित रूप से पार कर लेगा, और यदि हमारा लक्ष्य केवल परीक्षा की सफलता ही होता तो निस्सन्देह अँग्रेजी के बहिष्कार-मात्र से सारी समस्याएँ हल हो जाती।

लेकिन, परीक्षा स्वयं साध्य नहीं बन सकती, वह साधन भी नहीं है; साध्य है देश की छियालीस करोड जनता के व्यक्तित्व का निर्माण, गणित और विज्ञान, दर्शन और साहित्य, राजनीति और इतिहास के क्षेत्र में महान प्राप्तियाँ एवं बल और बुद्धि का संवर्धन। परीक्षा तो बरसों से हमारे अर्जित ज्ञान की तुला-मात्र रही है। अब तो उस तुला की सार्थकता और शुद्धता पर भी प्रश्नचिह्न लग गया है।

परीक्षा का हौवा

सच पूछिए तो परीक्षा एक प्रकार का हौवा बनकर रह गयी है, जो हमारे सुस्त और अक्षम, ज्ञान की पिपासा से सर्वथा रहित बालकों को कोड़ा मारकर, थोड़ी-बहुत सामयिक प्रेरणा दे देती है। इसलिए केवल परीक्षा को ध्यान में रखकर किया गया परिवर्तन विशेष लाभकर न होगा। आवश्यकता है उन कारणों के खोज की, जो हमारे शिक्षा-क्षेत्र के इस सर्वतोमुखी ह्रास के लिए जिम्मेदार हैं।

यहाँ काम करने के घण्टे उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं, जबकि दूसरी जगहों में कमी की बात सोची जा रही है। अँग्रेजी को ऐच्छिक कर देने की भी माँग है और क्षेत्रीय भाषा में भी अध्ययन और अध्यापन की राय दी जा रही है। शिक्षाशास्त्रियों के अनेक वर्ग अनेक किस्म की सलाह दिये जा रहे हैं। शिक्षा के इस गिरते हुए स्तर और नयी पीढ़ी की अयोग्यता से सभी को घबराहट है, और है भी घबराहट की बात। यदि वर्तमान परिस्थिति में *सुधार न हुआ तो वह दिन दूर नहीं, जब भारत में* बुद्धि का दिवाला निकल जायगा और अँग्रेजी तो क्या, शुद्ध हिन्दी लिखने और समझनेवाले भी नहीं मिलेंगे, और जन-शिक्षा के नाम पर मात्र-साक्षरता शेष रह जायगी।

शिक्षा की वर्तमान प्रणाली में सार्थक सुधार और प्रगतिशील परिवर्तन तभी सम्भव हो सकेगा, जब भारत की छियालीस करोड़ जनता के भाग्य-विधाता

ओलम्पियनहाइट से नीचे उतरकर धरती पर पैर रखेंगे, सिनेदहाउस से निकलकर अमराइयों की छावें और झोंपड़ियों के अँधेरे कमरों में चलनेवाली प्राइमरी शिक्षा को देखेंगे।

क्या सचमुच अँग्रेजी पहाड़ है ?

यह सच है कि समस्त उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों, विश्वविद्यालयों के उप कुलपतियों एवं बच्चों के अभिभावकों की चिन्ता का विषय हिन्दी नहीं, अँग्रेजी ही है। अँग्रेजी के कोचिंग क्लासेज चलते हैं, एक्स्ट्रा क्लासेज चलते हैं, स्पेशल क्लासेज चलते हैं फिर भी आजकल अधिकांश छात्र अँग्रेजी में ही असफल होते हैं।

तो क्या अँग्रेजी ऐसा पहाड़ है, जो हमारे बच्चों के टाले नहीं टलता, या हमारे बच्चे इतने अशक्त हैं कि उनसे अँग्रेजी की गाड़ी नहीं खिंचती ? दोनों में से एक बात भी सच नहीं है। न तो अँग्रेजी दुलंघ्य हिमालय है और न हमारे बच्चे ही अशक्त हैं। मैं हिन्दी के हिमायतियों को विश्वास दिलाती हूँ कि अँग्रेजी में हमारे छात्रों की असफलता का वास्तविक कारण है उनको हिन्दी का न आना। जिन्हें हिन्दी भाषा और व्याकरण नहीं आता, उनके मस्तिष्क का क्रमिक विकास नहीं होता और अभिव्यक्ति की क्षमता प्राइमरी स्टेज पर ही मर जाती है। यह सच है कि हमारे बच्चे हिन्दी में उत्तीर्ण हो जाते हैं, लेकिन उनकी यह उत्तीर्णता कम करुणाजनक नहीं होती।

जब पब्लिक स्कूल नहीं थे

अनुभूत तथ्य है कि बालक यदि एक भाषा भली प्रकार सीख ले तो दूसरी भाषा का ज्ञान बहुत शीघ्र हो पाता है। पुरानी बात है, जब पब्लिक स्कूल नहीं थे, माण्टेसरी शिक्षा का भी चलन नहीं था, मनोवैज्ञानिक तौर-तरीकों का भी जोर नहीं था, मैं अपने एक छोटे-से गाँव के प्राइमरी स्कूल में पढ़ती थी। अध्यापकों में विनम्रता की कमी न थी। हमारे कल्लू मास्टर साहब, सकठा मुंशीजी तथा पौढे पण्डितजी साक्षात करुणा की मूर्ति थे। अपने अध्ययन-काल के चार वर्षों में मैंने कभी उनसे किसी के पैर में नया जूता और साबुत कुरता नहीं देखा, परन्तु उन्हें अपने विषय का बहुत अच्छा ज्ञान था। वे अपने कर्तव्यों के प्रति पूर्ण जागरूक थे। विद्यार्थियों की संख्या भी कम न थी। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से ज्ञान-दान दिया और हमने अपने बाल हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा उन्हें भेंट की।

उस समय हमारे पाठ्यक्रम में भाषा, भूगोल और गणित था। अँग्रेजी तथा दूसरे विषयों का स्पर्श भी न था, किन्तु भाषा और गणित की अतिशय रगड़ ने अभिव्यक्ति को इतना परिष्कृत कर दिया था, सूझ-बूझ को कुछ इतनी पैनी बना दिया था कि आगे चलकर ज्यामिति, इतिहास तथा इतर विषयों को समझने में रंचमात्र भी कठिनाई नहीं हुई। आश्चर्य तो तब हुआ, जब छः महीने के परिश्रम के बाद ही अपने उन साथियों को, जो दो वर्ष से नियमित अँग्रेजी पढ़ते आ रहे थे, मैंने पीछे छोड़ दिया। ऐसी प्रगति हमारे सभी साथियों की रही, जिन्हें 'ताजपुर' के उस विद्यालय से निकलने पर अँग्रेजी पढ़ने का अवसर मिला।

यह स्तर ताजपुर विद्यालय का ही नहीं, बल्कि प्रान्त के सभी गाँवों अथवा शहरों में चलनेवाले स्कूलों का था। आज न वे विद्यालय हैं, और न वे अध्यापक। यदि हैं भी कहीं, तो जमाने के प्रवाह में निर्जीव-से बहे जा रहे हैं पाठ्येतर निष्फल कार्यों तथा मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के भार से कराहते हुए।

आशय यह है कि प्राइमरी स्टेज पर यदि बच्चों को केवल एक भाषा समझने की अन्तर्दृष्टि दे दी जाय, उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता का विकास कर दिया जाय, अंकगणित में उनकी बुद्धि खुल जाय या संक्षेप में थ्री आर (रीडिंग, राइटिंग और अरिथमेटिक) की नींवें मजबूत हो जाय तो बालक किसी स्तर पर कभी भी कमजोर नहीं होगा, लेकिन न जाने क्यों यह फार्मूला पुराना पड़ गया।

सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर १९४३,४४ में पाठ्क्रम में केवल तीन विषय रखे गये थे, जिनमें भाषा और गणित पर विशेष जोर दिया जाता था। प्रायः सभी विद्यालयों में दिन के पहले प्रहर (पूर्वान्ह तक) गणित की पढ़ाई चलती थी और दूसरे

प्रहर (अपराह्न में) भाषा और गणित के प्रश्न स्लेट-पेंसिल-द्वारा भी कराये जाते थे। जबानी सवाल भी, जिन्हें तब हमारे अध्यापक गण 'मेंटल' कहते थे, पूछा जाता था। भाषा के अन्तर्गत सुलेख, लेख, इमला, नकल और पढ़े हुए पाठों का सक्षेपीकरण लिखना अनिवार्य था। शाम को छुट्टी से आध घण्टे पूर्व भूगोल की पढाई होती थी बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढग से। दर्जा दो का बालक अपने जिले का भूगोल पढता था, दर्जा तीन में उसे प्रान्त के भूगोल का ज्ञान कराया जाता था, कक्षा चार में आशा यह की जाती थी कि वह सम्पूर्ण भारत का भूगोल जाने।

इन चार वर्षों की अतिशय रगड से–विशेषतया भाषा और गणित–केवल ऊसर बुद्धिवालों के अतिरिक्त शेष सभी का मस्तिष्क लहलहा उठता था। इसीलिए उस शिक्षा प्रणाली ने तमाम दोषों के बावजूद हमें कवि और दार्शनिक, इतिहासकार और राजनीतिज्ञ, गणितज्ञ और वैज्ञानिक दिये। और, इन तमाम कवियों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में कविता और दर्शन का, गणित और विज्ञान का बीज दर्जा १-२ में ही पड़ता था। बीज-वपन का यह कार्य प्राइमरी का अध्यापक करता था। उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में तो केवल खाद पानी की व्यवस्था और निराई-गुडाई ही की जाती थी।

आज प्रश्न यह है कि भाषा को समझने की अन्तर्दृष्टि और गणित को समझने की सूझ-बूझ दे कौन? और दे भी तो कैसे? एक ओर हमारी यह आकांक्षा कि हमारा बच्चा जब प्राइमरी से निकले तो वह गणित, भाषा और भूगोल ही नहीं, बागबानी और फावड़ा चलाने से लेकर कलाकारी तक सारी बातों में निष्णात हो, दूसरी ओर पाठ्येतर कार्यों का–पी० टी० और मार्चिंग का दुर्वह बोझ, टूर्नामेण्ट और प्रतियोगिताओं की चिल्ल-पों और हड़कम्प तथा आधुनिक पीढ़ी के ग्रेजुएट अध्यापक तथा 'विद्या-विनोदिनी' और 'प्रवेशिका' की सनदों से विभूषित ग्रामीण कन्या-विद्यालयों की अध्यापिकाओं के लड़खड़ाते चरण ऊपर से छात्र-छात्राओं की भेड़ियाधसान क्या कम है?

निश्चय ही अंग्रेजी को ऐच्छिक बनाकर या समाप्त करके, क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा देकर या ऐसे ही कुछ हलके-फुल्के कदम उठाकर शिक्षा के स्तर को उठाना असम्भव है। फलत ही इस क्षेत्र में मौलिक परिवर्तन की अनिवार्य आवश्यकता है।

हमारे शिक्षा-स्तर के पतन में अधोलिखित शक्तियाँ सतत रूप से काम कर रही हैं—

- प्राइमरी कक्षाओं का अव्यवस्थित और दोषपूर्ण पाठ्यक्रम,
- पाठ्येतर और पाठ्यक्रम के कार्यों में समय का अनुचित अनुपात,
- अध्यापकों की अयोग्यता एवं कर्तव्य-भावना का अभाव,
- संस्थाओं का व्यापारिक दृष्टिकोण, और
- अभिभावकों में दायित्व-भावना का अभाव।

प्रारम्भ में ही बहुमुखी उपलब्धि की आकांक्षा क्यों?

यदि शिक्षकों का चरित्र आदर्श है, उनमें परस्पर सौहार्द है, स्वस्थ सहयोग की भावना है तो बच्चे के मनुष्योचित गुणों का, स्नेह और सद्भाव का, सहयोग और सहकार का विकास स्वत और स्वाभाविक होगा। विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है बच्चों के मस्तिष्क की प्रच्छन्न शक्तियों के विकास की, और इसके लिए नीवें के पत्थर रखे जाते हैं प्राइमरी स्टेज पर।

परन्तु, यदि प्रारम्भ में ही बच्चे का मस्तिष्क ज्ञान के अति भोजन से आक्रान्त हो गया तो वह रुग्ण हो जायगा। योग्यतम अध्यापक-द्वारा पढाये गये सरलतम विषय को भी वह ग्रहण नहीं कर सकेगा।

आज ठीक यही दशा हमारे बच्चों की है। हमारी बहुमुखी प्राप्ति की आकांक्षा प्रारम्भ में ही बच्चों को अजीर्ण का रोगी बना देती है। इसीलिए हायर सेकेण्डरी के अध्यापक का सारा परिश्रम निष्फल हो जाता है और हमारे तमाम प्रयत्नों के बावजूद हायर सेकेण्डरी स्तर की असफलताएँ बढ़ती जा रही हैं, स्तर गिरता जा रहा है। नितान्त आवश्यकता इस बात की है कि हम प्राइमरी के पाठ्यक्रम की पुनर्व्यवस्था उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए करें, अन्यथा नीवें के पत्थर

कमजोर होने पर सुदृढ़ भवन का निर्माण कठिन ही नहीं, वरन असम्भव है।

आज शिक्षा की प्रत्येक सीढ़ी पर पाठ्येतर कार्यक्रमों की धूम है। यों तो मनुष्य प्रकृतया मनोरंजन-प्रिय है और खेल-कूद, सांस्कृतिक कार्यक्रम, वादविवाद प्रतियोगिताएँ आदि शिक्षा के ही अंग हैं, जो शारीरिक, मानसिक शक्तियों तथा सहयोग भावना का विकास करने के साथ साथ बालक का मनोरंजन भी करते हैं। परन्तु, कहना इतना ही है कि ये पाठ्येतर कार्यक्रम पठन-पाठन के पाठ्क्रम के मूल्य पर न चलें।

प्रति वर्ष चलनेवाली टूर्नामेण्ट और रैलीज, जिनसे कुछ चुने हुए बच्चे ही लाभ उठा पाते हैं, उससे भी अधिक यह वक्त बेवक्त, दो दो या तीन तीन घण्टे की परेड, पठन-पाठन के और मानसिक कार्य के लिए सर्वथा बाधक है। इसमें समय तो नष्ट होता ही है, इसके बाद थकान भी इतनी अधिक होती है कि फिर बालक मानसिक श्रम के सर्वथा अयोग्य हो जाता है।

मेरा आशय यह नहीं कि पाठ्येतर कार्यक्रम समाप्त कर दिये जायें। उनको समाप्त कर देने का अर्थ होगा शिक्षा को अपंग बना देना, पर उनको कब और कितना समय देना होगा, यह तो निर्धारित करना ही होगा।

पाठ्येतर कार्यों के बढ़े हुए भार से पठन-पाठन के कार्य पर जो प्रभाव पड़ा है, उसे कम करने के लिए काम के घण्टे बढ़ाये गये हैं, ग्रीष्मावकाश कम किया गया है, परन्तु विद्यालय का कार्य कार्यालय के कार्य से सर्वथा भिन्न है। यदि अक्तूबर, नवम्बर और दिसम्बर के पठन-पाठन के कार्य की कमी को हम मई और जून में पूरा करना चाहें तो कदापि न होगा। पठन पाठन का अपना एक समय होता है।

हमारे शिक्षक कब जागेंगे?

तीसरी सर्वाधिक भयकर समस्या है हमारे अध्यापकों में ज्ञान की कमी और अध्ययन अध्यापन के प्रति घोर असन्तोष एवं अरुचि। पहले भी अध्यापक का वेतन बहुत कम था, उसकी आर्थिक अवस्था का चित्र आज से कम करुण न था, परन्तु अपनी आर्थिक विपन्नता का प्रभाव, अपने जीवन के अभिशाप की छाया उसने कभी विद्यार्थी पर नहीं पड़ने दी। आज का अध्यापक इस दृष्टि से घोर अपराधी है।

हमारी पीढ़ी को पढ़ानेवाले अध्यापकों के साथ योग्यताओं की लम्बी-चौड़ी सूची भले ही नत्थी न रही हो; परन्तु अपने विषय का उन्हें ज्ञान था, और उनमें ज्ञानार्जन की प्यास थी। आज के शिक्षकों की योग्यता का यह हाल है कि हिन्दी का एम० ए० 'घनानन्द' की कविता पूछने पर 'महादेवीजी' की कविता सुनाता है।

अध्यापक जहाँ अपने वेतन वृद्धि का आन्दोलन करते हैं, उन्हें आज आवश्यक हो रहा है कि वे अपने ज्ञान की वृद्धि का भी आन्दोलन करें। यदि वे ईमानदारी से अपना कर्तव्य-पालन करते हैं और वेतन बढ़ाने की भी माँग करते हैं तो यह सर्वथा न्यायोचित है। जब तक अध्यापक अपने चिन्तन में इस प्रकार का दिशा-परिवर्तन नहीं करते तब तक शिक्षा के स्तर में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं दिखता।

शिक्षा के स्तर की गिरावट और छात्रों की बढ़ती हुई असफलता के दो और महत्वपूर्ण कारण हैं। हायर-सेकेण्डरी के अध्यापकों को 'व्यक्तित्व निर्माण' के लिए प्रत्येक कक्षा में मिल रहे हैं अपरिपक्व और अविकसित मस्तिष्कवाले ६०-७० बालक। इतनी भेड़ों की तो हँकाई भी एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं, फिर ६०-७० बालकों के व्यक्तित्व का निर्माण, उनके मस्तिष्क का विकास सीमित शक्तिवाला अध्यापक सीमित समय के अन्दर कैसे कर सकता है? इसके अतिरिक्त अभिभावकों में तो दायित्व भावना का एक प्रकार से बिलकुल ह्रास ही हो गया है। वे बालक को स्कूल भेजकर और घर पर एक मास्टर लगाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षा के सतत रूप से गिरते हुए स्तर के इन कारणों को यदि दूर न किया गया तो चाहे अरबों स्कूल खुल जायें, जून में भी पाठशालाएँ चालू रहें, क्षेत्रीय भाषा में ही शिक्षा दी जाय, परन्तु शिक्षा-स्तर में कभी भी सुधार सम्भव न होगा। बच्चे एक के बाद दूसरी कक्षाएँ भले ही उत्तीर्ण कर लें, सम्पूर्ण जन-समुदाय दस्तखत करना भले ही सीख जाय, परन्तु भारत रवीन्द्रनाथ टैगोर, सी० वी० रमन, नेहरू, गांधी और विनोबा नहीं उत्पन्न कर सकेगा। ●

शिक्षा में खेल-खिलौनों का स्थान

•

जे० डी० वैश्य

खेल का बालक के जीवन में बडा महत्व है। यह बालक की स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रवृत्ति है। खेल बालक के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना पानी, प्रकाश, और हवा। खेल का बालक को इतना शौक होता है कि वह इसके मुकाबले भोजन और नींद तक भूल जाता है। वह सरदी, गरमी, चोट और बीमारी तक की परवाह नहीं करता। पसीना-पसीना हो जाने पर भी वह खेलना नहीं छोडता।

पाँच साल के विनोद को जब मैं लँगोट कसे घण्टों धूल मिट्टी में खेलते और अखाडे में कुश्ती लडते देखता था, तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रहती थी। उसके माता पिता चिल्लाते थे, डाँटते थे, डपटते थे, रोटी न देने की धमकी देते थे, लेकिन विनोद उनकी एक न सुनता और मौका मिलते ही उनकी आँख बचाकर झट से अखाडे में जा धमकता। जब इस खेल से उनका जी उकताता, तो गाने, लिखने और पढने का खेल चलता।

यही हाल एक साल की मंजु का था। वह पानी और रेत में घण्टों खेलती रहती। खाना पीना सब भूल जाती। स्व० गिजुभाई के बालमन्दिर के बालकों का शान्ति का खेल तो मैं जीवन-पर्यन्त नहीं भूल सकता। सवा सौ बच्चों को चुपचाप बिना जरा-सी आवाज किये यह खेल खेलते देखकर आप-ही-आप मेरे दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया। उन बच्चों की एक-एक क्रिया आँखें खोलनेवाली थी।

खेल में तन्मयता

एक दिन की घटना है कि एक हवाई जहाज घूँ-घूँ करता मँडरा रहा था। काम करते और राह चलते अधिकांश लोगों की नजर उसकी तरफ खिंच गयी, लेकिन बच्चे अपने अपने काम में मस्त थे, उन्होंने आँख उठाकर एक बार भी उसकी तरफ देखने का प्रयत्न नहीं किया। सब अपने-अपने खेल और काम में उसी तरह जुटे रहे। उनकी एकाग्रता, एकनिष्ठता योगियों की समाधि को भी मात करती थी।

और, मजा यह है कि बिना नियंत्रण के बालक यह सब कुछ कर रहे थे। डण्डा लेकर जमादार की तरह उनके पीछे पीछे कोई नहीं फिर रहा था। वे पूर्णतया स्वतंत्र थे। उनपर किसी तरह की पाबन्दी नहीं लगायी गयी थी। इस दृश्य का मेरे हृदय पर बडा गहरा प्रभाव पडा। १९३४ में मैंने पहले-पहल यह दृश्य देखा था, किन्तु आज भी मानो वह ज्यों का-त्यों मेरे मानस-चक्षुओं के आगे घूम रहा है।

बालक की भूख

खेल बालक की आन्तरिक भूख है। इसके द्वारा वह अपने शरीर और मन पर काबू पाना सीखता है। खेल के द्वारा बालक अपने को स्वतंत्र और स्वाधीन बनाता है। खेलते-खेलते वह इतनी उन्नति और प्रगति *कर लेता है कि जैसा सोचता है वैसा ही करने लगता* है। उसकी कथनी और करनी में कोई भेद नहीं रहता। यह विकास की चरम सीमा नहीं तो और क्या है ? खेल के द्वारा बालक केवल शारीरिक और मानसिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक, नैतिक और भावनात्मक विकास भी करता है।

बालक सामाजिक प्राणी है। तीन-चार साल की अवस्था में ही वह सामूहिक खेलों में आनन्द लेने लगता

है। उन्हीं सामूहिक खेलो में बालक अपने साथियों की मदद करना, उनके साथ स्नेह और सहानुभूति दिखाना, उनका अनुकरण और पथ प्रदर्शन करना, उनके दुख में दुखी और सुख में सुखी होना सीख जाता है। इन बातो को सीखने में बालक को बहुत वर्ष नहीं लगते। केवल छ वर्षों में वह इन सब बातो को सीख जाता है—खेल खेल में, बिना उपदेश के और बिना दबाव के।

खेल ही सब कुछ है

खेल सचमुच मानव जीवन की तैयारी है। बालक बचपन मे जैसे खेल खेलता है, भविष्य में वैसा ही बन जाता है।

इसके विपरीत जिस बालक को खेल का मौका नहीं दिया जाता, घर की चहारदीवारी में कैद करके रखा जाता है, वह भावी जीवन म बिलकुल असफल रहता है। उसकी सब शक्तियो पर पानी फिर जाता है। जैसे तैसे वह अपना जीवन बिताता है। उसमें न आत्मविश्वास होता है और न इच्छा शक्ति। प्रत्येक छोटे बड काम से वह जी चुराने लगता है। अलग-अलग रहने लगता है। किसी से बात नहीं करता। बचपन में जिस बालक को गोदी म अधिक रखा जाता है, हिलने डुलने नहीं दिया जाता वह वर्षों तक गूंगा-बहरा और लँगडा लूला सा रहता है। वह तीन चार वर्ष का हो जाने पर भी चल फिर नहीं सकता बोल नहीं सकता। चलने फिरने और बोलने में उसे बडा आलस आता है। प्राय उसका सारा दिन रोने धोने म ही व्यतीत होता है।

यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि बालक की प्रत्येक क्रिया खेल है। बालक का देखना, सुनना, बोलना, हाथ-पैर मारना, करवट बदलना आदि सब क्रियाएँ खेल हैं। बालक हमसे और कुछ नहीं चाहता, केवल अपनी क्रियाओं के लिए सहूलियत और व्यवस्था चाहता है। इतना करके हमें दूर हट जाना चाहिए। बालक को स्वयं आजादी से खेलने देना चाहिए। यह भय दिल से निकाल देना चाहिए कि खेलते-खेलते बालक गिर पडेगा, चोट खा जायेगा। बालक बेवकूफ नहीं होता। वह बडा समझदार होता है। वह फूंक फूंककर, तोल-तोल कर कदम रखता है। उसे चोट खाने की सम्भावना ही नहीं रहती। फिर भी अगर मामूली सी चोट लग जाय तो उसकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। बालक ऐसी चोट का ख्याल ही नहीं करता।

अपनी राय और योजना बालक पर नही लादनी चाहिए, खेलते हुए बालक को रोकना भी नहीं चाहिए, बिना मांगे सहायता भी नहीं देनी चाहिए। हमारे दखल देने से बच्चा घबरा जाता है। उसे बडा क्रोध आता है। उसकी एकाग्रता भग हो जाती है। सोचने की शक्ति और जिम्मेदारी की भावना पैदा होने नहीं पाती। वह असल रूप में हमारे सामने नहीं आता। हम उसके विकास का ठीक ठीक अन्दाज नही लगा सकते। हाँ, अगर बालक की जान का खतरा हो तो हम अवश्य बीच में पडकर उसकी रक्षा करनी चाहिए। भोजन या सोने का समय हो गया हो तो प्रेम से समझाकर खेल बन्द करा देना चाहिए।

काम और खेल में कोई भेद नहीं

खेल बालक में प्रकृति प्रदत्त शक्ति है, प्रेरणा है। यह प्राकृतिक शक्ति बालक को खेलने के लिए विवश करती है, बेचैन करती है, चुपचाप बैठने नहीं देती। यही शक्ति बालक को खेल मे इतना व्यस्त कर देती है कि वह अपना सारा दिलोदिमाग इसी म लगा देता है। सिवाय इस काम के उसे और कुछ सूझता ही नही। परिणाम की वह तनिक भी परवाह नहीं करता। इसलिए खेल को हम वह काम कह सकते हैं जिसमें बालक अपना सारा तन मन लगा देता है और किस्म किस्म के प्रोत्साहन या इनाम की इच्छा नही रखता। दूसरे शब्दों में काम खेल का उच्चतम विकास है। इसलिए बालक के जीवन में खेल और काम जैसी दो अलग अलग चीजें होती ही नहीं। पहले तो यही माना जाता था कि "जब काम करो तो काम करो और खेलो तो खेलो", लेकिन नवीनतम खोजो ने इस सिद्धान्त को बिलकुल गलत साबित कर दिया है। अब तो यह माना जाता है कि 'खेलो तब काम करो और काम करो तब खेलो'। इस प्रकार काम और खेल में कोई भेद नहीं है, नहीं होना चाहिए।

लेकिन, हमें तो विश्वास ही नहीं होता कि खेल और काम एक ही है। यही वजह है कि आज भी हम खेल को अच्छा नहीं समझते। बालक का खेलना हमें बुरी तरह चुभता है। हमारा ख्याल है कि खेलने से पढ़ाई में हर्ज होगा। हमारे गले यह बात उतरती ही नहीं कि खेल-खेल में ही बालक सब कुछ लिख पढ़ सकता है। इसलिए हमारे आज के घर और स्कूल बालक के लिए जेल से भी बदतर बने हुए हैं। स्कूल से बालक इतना डरता है कि हर वक्त छुट्टी का घण्टा बजने की राह देखता रहता है। छुट्टी का घण्टा बजते ही शोर गुल मचाते हुए खुश होकर स्कूल से भागता है, जैसे वर्षों का कैदी जेल से छूटा हो।

जब तक शिक्षा में खेल और काम को अलग-अलग समझा जाता रहेगा तब तक कर्मठ व्यक्तियों का देश में अभाव ही रहेगा। कौन नहीं जानता कि हमारे देश में इतनी बेकारी होने पर भी सच्चे और ईमानदार काम करनेवालों का सर्वथा अभाव है। लोग काम के नाम से जी चुराते हैं। बिना निगरानी और डाँट-फटकार के कोई मामूली काम भी करना भली प्रकार पसन्द नहीं करता। युवकों की दशा तो और भी दयनीय है। वे तो इतने अपाहिज हो गये हैं कि उन्हें कदम-कदम पर नौकर और साइकिल चाहिए। हाथ से कोई काम करना उनके लिए बड़ी भारी मुसीबत है।

यह कहना अनुचित न होगा कि खेल और काम आज दो परस्पर विरोधी चीजें बन गये हैं। जो काम खूब करता है वह खेल से दूर भागता है और जो खेल में खूब दिलचस्पी लेता है, वह काम से नफरत करता है। काम और खेल को अलग अलग समझने का और नतीजा ही ही क्या सकता है? समाज में फैले हुए इस विषैले रोग को दूर करने का एक ही उपाय है, और वह है खेल, काम और शिक्षा को एक ही समझना।

गांधीजी ने बिलकुल ठीक कहा है—"बुनियादी शिक्षा में काम और खेल दो अलग-अलग नहीं हो सकते। बालक के लिए तो सब कुछ खेल-ही-खेल है। इससे भी आगे बढ़ूँ तो कह सकता हूँ कि सारी जिन्दगी एक खेल है। मैं वर्षों से इसी तरह जिन्दा रहा हूँ कि मुझे कभी ऐसा नहीं लगता कि चलो, अब खेलने का वक्त है, खेलने चलें। मेरे लिए तो लेख लिखना भी खेल है। मेरे ख्याल में नयी पीढ़ी के बच्चे खेल-खेल में ही शिक्षा ग्रहण करेंगे।"

काम में खेल की स्पिरिट आते ही जीवन सुखमय हो जायगा। मानव विकृतियों का शिकार न होगा, चरित्र भ्रष्ट न होगा। सब अपना-अपना काम हँसते खेलते करेंगे। कोई किसी का शोषण नहीं करेगा। नौकर और मालिक का भेदभाव खत्म हो जायगा। लेकिन, यह तभी हो सकता है, जब बचपन में बालक को अपनी रुचि के अनुसार काम करने का अवसर दिया जाय। उनकी इच्छाओं और भावनाओं को कुचला न जाय। इतना होने पर ही हमारे देश के बालक भी गुड्डे-गुड़ियों या दूसरे नकली खेलों में अपना समय न गँवाकर उन्नत देशों के बच्चों की तरह अपने जौहर दिखा सकेंगे। अगर हमने इस ओर ध्यान न दिया और बालकों को कैद करके ही रखा तो व अन्दर ही-अन्दर हमारे कट्टर शत्रु बन जायेंगे और नकली खेलों द्वारा अपनी दबी हुई इच्छाओं की तृप्ति करते रहेंगे।

(अपूर्ण)

भोजन गरम कर रहा हूँ

आचार्य क्षितिमोहन को एक बार कहीं देर हो गयी। काफी रात गये घर पहुँचे। फिर क्या था, बरस पड़ीं उनकी पत्नी। क्षिति बाबू कुछ बोले नहीं। उन्होंने बड़े ही शान्त भाव से खाने की थाली पत्नी के माथे पर रख दी।

"यह क्या कर रहे हो ?"—पत्नी ने तैश में आकर पूछा।

"भोजन ठण्डा हो गया था, थोड़ा गरम हो जाय!" क्षितीश बाबू ने बड़ी ही गम्भीरता से कहा। इस बात पर पत्नी बड़े जोर से हँस पड़ीं और क्षिति बाबू भी।

शिक्षा और शासन-तंत्र

•

बच्चन पाठक 'सलिल'

नयी तालीम के फरवरी,'६६ के अंक में सुप्रसिद्ध विचारक श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या शिक्षा को शासन मुक्त होना चाहिए ! उन्होंने प्रश्न का उत्तर भी अपने ढंग से देने की चेष्टा की है। उक्त निबन्ध में ही दो अन्य चिन्तकों सर्व श्री वंशीधरजी एवं काशिनाथजी के भी विचार छपे हैं। ये विचारक इस मत से सहमत हैं कि शिक्षा के ऊपर अगर राजदण्ड की कृपा न हो तो यही श्रेयस्कर होगा।

इस सम्बन्ध में मैंने तीन कालेजों एवं पाँच माध्यमिक-विद्यालयों के प्राचार्यों का साक्षात्कार किया। दो स्कूल-प्रबन्ध समितियों के सचिवों एवं तीन शिक्षाधिकारियों से भी मिला। इस साक्षात्कार का सार यहाँ प्रस्तुत है।

एक कालेज के प्राचार्य ने कहा कि शिक्षा के ऊपर सरकार बे सिर पैर के प्रयोग करती रहती है। परिणामत शिक्षा स्तर में दिनानुदिन ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है। बिहार के कालेजों में नियुक्तियों के लिए विश्वविद्यालय-सेवा आयोग की स्थापना हुई है पर आयोग अपने उद्देश्य में बुरी तरह असफल हो रहा है। गैर सरकारी संस्थाओं में भी सरकार-द्वारा शिक्षकों की नियुक्ति एक ऐसा कदम है, जो शिक्षा को सरकारी तंत्र की परिधि में पूरी तरह घसीट लेता है।

मैंने प्राचार्य महोदय से पूछा कि सरकार अगर शिक्षाविदों-द्वारा योग्य शिक्षकों को नियुक्त करती है तो बुरा क्या है? उन्होंने उत्तर दिया कि सरकारी हस्तक्षेप के कारण शिक्षा में मानवीयता के अंश कम आ पाते हैं और औपचारिकता बढ़ जाती है। लाल फीता शाही के चलते क्या-क्या दिक्कतें हो सकती हैं, इसकी उन्होंने एक लम्बी सूची पेश की। उन्होंने एक उदाहरण दिया। मान लीजिए कि छ मास के लिए आपको एक अस्थायी नियुक्ति करनी है। अगर नगर का एक कालेज नियुक्ति करता है तो विज्ञापन-द्वारा वह दो सप्ताह में उम्मीदवारों का साक्षात्कार कर नियुक्ति कर सकता है, किन्तु आयोग इस काम के लिए कम से कम तीन महीने लेता है।

दो अन्य प्राचार्यों ने कहा कि नियुक्तियाँ तो कालेजों की प्रबन्ध समितियाँ करें, पर शिक्षकों को कार्य मुक्त करने का अधिकार उन्हें न रहे। यह कार्य आयोग करे, तब शिक्षकों की सेवाएँ अधिक सुरक्षित हो सकेंगी। मैंने पूछा कि क्या आप चाहते हैं कि सरकार केवल शिक्षकों के अधिकारों की रक्षा करे और उनकी नियुक्ति आदि से विरत हो जाय? प्राचार्यों का उत्तर स्वीकारात्मक था।

माध्यमिक विद्यालयों के प्राचार्यों से मैं मिला। मैंने कहा—"सुना है कि विश्वविद्यालय आयोग की तरह विद्यालयों के लिए भी कोई आयोग बनने जा रहा है?" पर, मेरी इस चर्चा से उन्हें कोई प्रसन्नता नहीं हुई।

उन्होंने कहा कि आजकल के सरकारी रवैये को देखते हुए इस कदम से लाभ होने की कतई सम्भावना नहीं है। उन्होंने अपनी कठिनाई का जिक्र करते हुए कहा कि सरकार शिक्षकों को जो महँगाई भत्ता देती है वह कभी कभी दस दस महीनों पर मिलता है। अगर सरकार ने स्कूलों को अपने हाथ में ले लिया तो पूरी तनख्वाह ही अनियमित रूप से मिला करेगी। अगर सरकार यह नियम बनाये कि स्कूलों में नियुक्तियाँ तो उसका आयोग करे, पर स्कूलों का प्रबन्ध स्थानीय प्रबन्ध समितियाँ करें, तो भी विशेष लाभ नहीं होगा।

इसका कारण देते हुए उन्होंने कहा कि प्रबन्ध-समितियों के संचालक शिक्षकों की नियुक्ति कर अहम् को तुष्टि का बोध करते हैं। अगर वे यह समझ लें कि उनके हाथ से यह शक्ति छीन ली गयी है, तो वे कभी नये स्कूल न खोलेंगे।

प्रबन्ध-समितियों के संचालक सरकारी नियमों और उपनियमों से प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने कहा कि सरकार का आरोप है कि गैरसरकारी स्कूलों का संचालन ठीक नहीं होता तथा छात्रों का स्तर भी असन्तोष-जनक होता है। लेकिन, सरकार भूल जाती है कि वह अपने पब्लिक स्कूलों में पानी की तरह पैसा बहा रही है, जबकि गैर-सरकारी स्कूल प्राय: फाकाकशी का सामना करते हैं।

एक प्रबन्धक ने उदाहरण देते हुए कहा कि 'नेतरहाट' में सरकार प्रति छात्र (अभिप्राय हाई स्कूल के छात्रों से है) दो हजार रुपये वार्षिक देती है। वहाँ छात्रों का चयन प्रतियोगिता के आधार पर होता है। अत: उस स्कूल की किसी गैरसरकारी स्कूल से तुलना अच्छी नहीं।

गैर सरकारी स्कूलों में मैंने ईसाई मिशनरियों-द्वारा सचालित स्कूलों का अध्ययन किया। ये स्कूल सरकार से एक पैसा भी सहायता नहीं लेते और सरकारी हस्तक्षेप से भी सर्वथा मुक्त हैं। इनके छात्रों का स्तर किसी भी पब्लिक स्कूल के छात्रों से कम नहीं है।

इसी क्रम में मैंने यह भी देखा कि ईसाई मिशनरियों के स्कूलों में अधिकांश शिक्षक पादरी हैं। उन्हें कोई झंझट नहीं। किसी प्रकार की भौतिक महत्वाकांक्षा नहीं। पूजा पाठ के बाद वे दिन भर (और आवश्यकतानुसार रात को भी) अपना समय स्कूल को देते हैं। बच्चों को पढाना, उनके साथ खेलना-कूदना, उनके विभिन्न शौकों—डाक-टिकट-सग्रह, पत्र-मैत्री, भ्रमण एव सास्कृतिक गतिविधि को सुनियोजित दिशा देना, इनका धर्म है। अपना ज्ञान भी ये बढाते रहते हैं। यही कारण है कि फादर केम्पटन (सेण्ट मेरी स्कूल, जमशेदपुर) अमेरिकन होने पर भी हिन्दी विशारद हो जाते हैं और फादर हण्ट (लयोला, जमशेदपुर) प्राचार्य होने के साथ साथ रगमच-निर्देशक भी बन जाते हैं।

एक शिक्षा-पदाधिकारी ने कहा कि मैं सरकारी बहियों की खानापूरी करते-करते तबाह हो रहा हूँ। नियमों और उपनियमों का हमेशा बदला हो जाता है। मैं जिस क्षेत्र में जाता हूँ वहाँ अपने स्वप्नों को साकार करना चाहता हूँ। अभिभावकों और शिक्षकों को समवेत मच पर लाकर उनकी कठिनाइयाँ जानता हूँ। स्थानीय विशेषताओं और आवश्यकताओं को आँकता हूँ। फिर पाँच-सात वर्ष के लिए एक योजना बनाता हूँ; लेकिन इसी बीच मेरा स्थानान्तरण हो जाता है, योजनाएँ खटाई में पड जाती हैं। उन्होंने यह भी कहा कि मैं सोच रहा हूँ कि त्यागपत्र देकर किसी सुदूर देहात में एक प्राइवेट स्कूल खोलकर बैठ जाऊँ।

इन सारे विचार-विमर्शों के बाद मैं जिन निष्कर्षों पर आया वे यों रखे जा सकते हैं—

- शिक्षालयों का सचालन समाज करे। शिक्षण-समाज का प्रशासन विकेन्द्रित हो और सरकारी केन्द्रीकरण से मुक्त हो।
- शिक्षालयों की प्रबन्ध-समितियों का गठन शिक्षकों और अभिभावकों-द्वारा हो। इसके लिए अभिभावकों को सजग और प्रबुद्ध होना चाहिए।
- सरकारी और गैर सरकारी स्कूल या कालेज बनाना एक राष्ट्रीय अपराध है। (यह स्मरणीय है कि बिहार में कालेज-शिक्षकों ने इसका बडा प्रतिवाद किया है; क्योंकि समान कार्य एव योग्यता के बावजूद, जहाँ एक गैर सरकारी कालेज का अध्यापक २००–५००) के वेतन-मान में है, वहीं एक सरकारी कालेज का अध्यापक है ४००–८००) रुपये के वेतन मान में।
- शिक्षक वही बने, जो प्रतिभाशाली और शिक्षक बनने के इच्छुक हों।
- सरकार और समाज शिक्षकों की प्रतिष्ठा का विचार करे। मजदूरों की तरह उनके साथ व्यवहार उचित नहीं है।
- अन्त में धीरेन भाई के शब्दों को दुहराना अप्रासगिक न होगा—"जब तक समाज के मुख्य मनीषी इस तरह लोक-प्रस्थी बनने का सकल्प नहीं करेंगे तब तक शिक्षा अधिनायक तत्र का औजार बनेगी, लोकतंत्र का उपादान नहीं।" ●

की उत्सुकता से बढ़ते हैं; और इन्हीं सब प्रवृत्तियों का परिपाक है भय-वृत्ति का उद्गम।

एकाग्रता की साधना-प्रणाली की तरह सावधान चित्त की संथा (सबक) नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार भय-निवृत्ति का भी कोई पाठ्यक्रम नहीं हुआ करता। लेकिन, भय की भावना किस तरह पैदा होती है और जड़ पकड़कर दृढ़मूल होती है, इस प्रक्रिया की समीक्षा हम कर सकते हैं। भय का कारण मूलतः समझ में आ जाय तो उसका परिहार सरल होगा। छात्र के समीप अगर भौतिक स्वास्थ्य का वातावरण हो, उसको सुरक्षित प्रश्रय का विश्वास हो तो प्रेम की अहेतु चर्या-प्रवृत्ति के सहारे सावधान चित्त की प्राप्ति हो सकेगी। प्रेम में तुलना का कोई स्थान नहीं है। इस तरह कुछ 'बनने' की झंझट जड़ से हटकर अलग हो जाती है।

आदर्श से जकड़ा हुआ मन और जिज्ञासा

सामान्य रूप से छोटे-बड़े सभी को एक असन्तोष की अस्पष्ट भावना महसूस होती है और उसके साथ ही उसकी तृप्ति के पर्याय तुरत निकलते रहते हैं। इस तरह अल्प सन्तुष्ट मन तन्द्रा के अधीन हो जाता है। दुख दर्द के समय पर कुछ होश सँभलता है, लेकिन दुख से छुटकारा पाने का कोई अन्य उपाय भी निकल जाता है। इस असमाधान और उपभोग तृप्ति के चक्रव्यूह में मन हमेशा व्यस्त रहता है। दुख के विश्वास से क्षणभर के लिए होश आना भी इस असमाधान की परिपाटी का ही एक अंग है। असमाधान सही अर्थों में जिज्ञासा का द्वार खोलने का काम करता है, लेकिन पूर्व निर्धारित परम्परा तथा आदर्श से जकड़ा हुआ मन इस जिज्ञासा का अनुसन्धान कभी नहीं कर सकता। किन्तु, यह शोध-खोज की सहज प्रेरणा ही जागरूक चित्त की दीप शिखा है।

असमाधान से हमारा तात्पर्य है चित्त की वह अवस्था, जो वास्तविकता को यथा-तथ्य ग्रहण कर सकती हो, और उस घटना-विशेष के बारे में अधिक सरबोल (स्पष्ट) समीक्षण करती हो—वास्तविकता के विषय में आत्मवंचना न करते हुए गौर करना और उसकी पाबन्दी से छूटकर निकलने की चित्त-विधि।

भोग तृप्ति की जड़ता और बाल-मन

इस असमाधान को मजबूरी से निगल जाना, दबा देना या दूसरे किसी उपाय से दिल बहलाना, इन तरीकों से स्वयं-केन्द्र मन का कर्म-प्रपंच गले पड़ जाता है, और जैसी भी समाज-व्यवस्था हो उसी दायरे में रहकर निर्वाह करना पड़ता है। आम तौर पर सभी लोगों के जीवन में इस प्रकार का असमाधान भरा पड़ा है और उससे निबटने के लिए हम अनेकानेक उपाय और साज-बाज निकालते रहते हैं। लेकिन, असमाधान की इसी लौ से भोग-तृप्ति की जड़ता भी जलकर खत्म हो जाती है।

उपभोग साधनों का सतत संचय करते रहने का अभ्यास, बड़े मकान की जरूरत मालूम पड़ना इत्यादि व्यवधान चित्त-भूमि में मत्सर का बीजारोपण करते हैं। इस ईर्ष्या से असमाधान को प्रोत्साहन मिलता है। मगर, हमारा मतलब इस ईर्ष्या-मत्सर से और तृष्णा-लोभ से नहीं है। किसी भी वासना या सुखानुभूति की लालसा से जिस अतृप्ति या असमाधान की हूक दिल में चुभती रहती है, उसका विश्लेषण हम करना चाहते हैं। असमाधान की यह भावना चित्त की एक अकलंकित आर्त-वृत्ति है और गलत किस्म की शिक्षा से या कल्पित मान्यताओं की साधना में मन छिछला न बन गया हो तो इस निर्लेप व्याकुल चित्त का भान जरूर होगा।

इस असन्तोष का रहस्य जब हमारी समझ में आयेगा तब हमको यह प्रतीति भी होगी कि चित्त की सावधानी और जागरूकता भी इसी असन्तोष की लौ का एक अंग है, जो मन का ओछापन भस्म कर देती है, और स्वयं-केन्द्र व्यवसाय और भोग-तृप्ति के जंजाल से मन को मुक्ति प्रदान कर देती है। ऐसी तीव्र जिज्ञासा, जिसे स्वार्थ और भोग-लिप्सा छू न सकी हो, इस अवधान-पूर्ण जागृति की बीज-प्रवृत्ति है।

छात्र के चित्त की आन्तरिक द्विधा कैसे दूर हो ?

सावधान चित्त का विकास प्रारम्भ से ही शुरू होना चाहिए। आपको इसका स्वतः अनुभव होगा कि नम्रता, सन्तोष और मार्दव (नरमी) के रूप में व्यवहार चरित्र में प्रतीत होनेवाली प्रेम-भावना हो तो भाव-जड़ता का अड़ंगा अपने-आप हट जाता है। इस तरह शैशव-काल से ही

आप इस जागरूक और तरल चित्त का विकास सुलभ कर रहे हैं। यह जागरूकता दिखाई नहीं जा सकती, लेकिन फिर भी जब छात्र के समीप किसी किस्म के दबाव या बल प्रयोग का सम्पूर्ण अभाव हो तो 'करें, न करें' 'कहें, न कहें' इस तरह का आन्तरिक द्विधा चित्त भी नहीं रहेगा। इस प्रकार सावधानी और जागरूकता के विकास की अनुकूल मनोभूमि अवश्य बनायी जा सकती है। फिर जिस विषय पर जब चाहे तब छात्र का चित्त एकाग्र हो सकेगा। लेकिन, यह एकाग्र चित्त का लाभ ज्ञान सचय के लोभ या पराक्रम की आकांक्षा से नहीं प्राप्त हो सकता।

शिक्षा नये समाज का निर्माण कैसे करे ?

इस दृष्टि से जिस पीढ़ी की शिक्षा-दीक्षा हुई हो वह कुलक्रम से प्राप्त संस्कार-धन और विरासत पर निर्भर नहीं रहेगी, न उस समाज पर, जिसमें उसका जन्म हुआ है। इस किस्म की शिक्षा प्राप्त करने से उस पीढ़ी को पैत्रिक दाय के भरोसे रहने की जरूरत ही नहीं मालूम होगी। पारिवारिक विरासत की इस प्रथा से आत्म-निर्भरता में बाधा पड जाती है और बुद्धि का विकास भी सीमित होता है, क्योंकि उससे नाहक एक प्रश्रय का भ्रम दिल में पैदा हो जाता है, और ऐसा अवास्तविक आत्मविश्वास, जिसका कोई ठोस आधार नहीं होता। यह काल्पनिक निश्चिन्तता चित्त की तमोमय अवस्था है, जिससे किसी गुण का विकास नहीं हो सकता। जिस शिक्षा का हम सविवरण वर्णन कर रहे हैं, ऐसी आमूलाग्र नयी पद्धति की शिक्षा, जिस पीढ़ी को मिली हो, वही नये समाज का निर्माण कर सकने में सक्षम होगी। कर्तृत्व और पुरुषार्थ का पोषण अहकार से नहीं, बल्कि ऐसी सचेत बुद्धि से सम्पन्न हुआ होगा, जो कभी भय से अभिभूत नहीं रहती।

शिक्षा की जिम्मेवारी किस पर ?

छात्र की सर्वांगीण प्रगति हमारा निरन्तर अभीष्ट है, न सिर्फ किसी खास अग का, इसलिए सर्वस्पर्शी सावधान चित्त का बडा महत्त्व है। यह समग्र विकास केवल एक बौद्धिक परिकल्पना या प्रमेय (जो प्रमाण का विषय हो सके) नहीं है, यानी मानव-बुद्धि की सर्वात्मकता का कोई बना-बनाया खाका या रेखाचित्र नहीं है। मन की गति जितनी व्यापक होगी उतनी ही उसके कृतित्व की परिमिति। मन की गति तो अपरिमेय है।

शिक्षा किसी एक आदमी से बननेवाला काम नहीं है, बल्कि माता पिता और अध्यापक के मिल-जुलकर करने का है। इसलिए सबको एकसाथ सहकार्य करने का गुण आत्मसात करना चाहिए। प्रत्येक सहकारी को वास्तविकता का यथा तथ्य दर्शन होने से ही एकसाथ मिलकर काम करने की कला अवगत होगी। सत्य का यथा तथ्य दर्शन ही लोगों को साथ जोडता है। कोई राय या मत, मान्यता या किसी सिद्धान्त की तर्क-सिद्ध उपपत्ति (युक्ति या हेतु-द्वारा किसी वस्तु की स्थिति का निश्चय) से यह साथ जुडनेवाला मकसद पूरा नहीं हो सकता। वास्तविकता और उसके विषय में लोगों के अलग-अलग मन्तव्य, धारणा आदि इन दोनों में जमीन-आसमान का फर्क है।

शिक्षा में वैचारिक सहकार कैसे ?

किसी मनोनीत परिकल्पना की बुनियाद पर, आर्थिक या अन्य कारणों की वजह से किसी कार्य-विशेष में अल्प काल के लिए तालमेल और सहकार्य हो सकता है, लेकिन समान निष्ठा का ही आधार हो तो कुछ समय बाद साथ छूट जायेगा। जहाँ वास्तविक परिस्थिति का सहज विश्वास हो, वहाँ तफसील के मत-भेद होने के बावजूद अलग हो जाने की नौबत नहीं आती। तफसील के सवालों पर मतभेद की वजह से साथ छोडकर चले जाना मूर्खता है। हर तफसील के मामले को लेकर सिद्धान्त की समस्या खडी करना मुनासिब नहीं है।

किसी भी आदर्श की सिद्धि के लिए या किसी परिकल्पना को साकार करने के कृत-निश्चय से एक-साथ काम का योग बन सकता है, मगर सहयोग की बुनियाद वास्तविकता पर आधारित न होने से अनुनय, प्रचार, मत-परिवर्तन और श्रद्धा इनकी आवश्यकता पड जाती है, और हम लोगों में से अकसर लोग इसी पद्धति से किसी व्यक्ति या विचार या क्रिया-कलाप के अकुश में रहकर ही कार्य कर रहे हैं। ● (अपूर्ण)

कोई हल है क्या ?

क्रान्ति बाला

एक धार्मिक समारोह की पूर्णाहुति के निमित्त गाँव की लड़कियाँ और बहुएँ गर्बा (लोकनृत्य) के आयोजन में भाग लेने के लिए एकत्र हुईं। गुजरात का गर्बा किसके चित्त को अनायास अपनी ओर नहीं खींच लेता ? तीन चार डाक्टर मित्र जा रहे थे, मैं भी चली गयी।

रुई के गाला-से धुले बादलों के साथ चाँद आँख मिचौनी खेल रहा था और खुले आकाश की छावँ में चल रहा था गर्बा। हम लोग खुले बरामदे में बैठे, और खुले दिल से चर्चा में मशगूल हो उठे।

डाक्टरों की चर्चा का विषय मेरे बहुत निकट का नहीं था, इसलिए मैं एकाग्र होकर हाथ, पैर और स्वर की तालबद्धता को पकड़ने की कोशिश करती रही। तभी एकाएक साथियों ने हिन्दी में बातें शुरू कर दीं और उनकी इच्छा हुई कि मैं भी भाग लूं। चर्चा इस प्रकार है—

पहला—(डाक्टर के साथ साथ शिक्षक और परीक्षक भी) 'मैं लड़कियों को पास तो करता हूँ, पर उन्हें कम्पटीशन में नहीं आने देता।"

दूसरा—"आने योग्य हों तब भी ?"

पहला—हाँ जी, यह मैंने निर्णय किया है कि लड़की को कभी······

तीसरा—"ऐसा क्यों···"

पहला—"ये स्वयं तो कभी डाक्टरी प्रैक्टिस करती नहीं, अन्तिम वर्ष पूरा होते होते १५ में से २–३ ही रह जाती हैं, लेकिन लड़कों का ग्रुप तो बिगड़ जाता है। शुरू से ही लड़कों को नम्बर दें तो ये अन्त तक टिकते तो हैं।"

कारण सार्थक था। तीनों सहमत हो गये और अपने अपने अनुभवों का सार जोड़कर इस बात को शत-प्रतिशत स्वीकारने से पहले उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा। चूँकि मैं लड़कियों का प्रतिनिधित्व करती थी, मेरी राय जानना चाहते थे। मुझे इस विषय का विशेष अनुभव नहीं, पर सामाजिक स्थिति को तो कुछ जानकारी है ही। मैंने कारण जानना चाहा। "लड़कियाँ ५ साल तक पढ़ती नहीं और फिर जो पढ़ती भी हैं वे प्रैक्टिस नहीं करतीं, ऐसा क्यों ? क्या अध्यवसाय का उनमें सार्वत्रिक अभाव है ?"

पहला—"उन्हें अध्यवसाय से क्या मतलब ? वे तो केवल शादी की तैयारी करती हैं।"

'क्या लड़के डाक्टरी-पढ़ी लड़की की माँग करते हैं ? दहेज की तरह डाक्टरी डिग्री की ?"—मैंने पूछा।

दूसरा—"माँग तो करते हैं।"

"तो फिर आगे पढ़ने क्यों नहीं देते ?"

पहला—"उनका स्वयं यह मानना है कि प्रैक्टिस तो करानी नहीं। बस, उस विषय में रुचि लेनेवाली होनी चाहिए, बाकी चलानी तो गृहस्थी ही है। अन्त तक पढ़ने देने की जरूरत क्या ?"

"जब विवाह करना है तो फिर साथी की माँग की ओर ध्यान देना कर्तव्य नहीं हो जाता क्या ? अच्छा, जो लड़कियाँ अन्त तक पढ़ती हैं वह प्रैक्टिस क्यों नहीं

करती ? जो प्रैक्टिस करती हैं उनके साथ पुरुष डाक्टर विवाह करना पसन्द करते हैं या नहीं ?"

तीनों कुछेक क्षण के लिए कभी ऊपर का चाँद, कभी सामने का गर्त्ता देखने लगे। उनमें से एक ने कहा—'लेडी डाक्टर से विवाह करना तो पसन्द नहीं करते, यह आपका कहना ठीक है।"

पहला—'विवाह में फेस फैक्टर्स' भी तो स्थान रखते हैं।"

'फेस फैक्टर्स का प्रैक्टिस से क्या सम्बन्ध, मैं समझ नहीं सकी ?

तीनों एक साथ बोल उठे—"ओह, इसमें समझने का है क्या ? जो लड़कियाँ सुन्दर होती हैं उन्हें लड़के शुरू में ही पसन्द कर लेते हैं। विवाह तय हो जाता है और पढ़ाई बन्द। जो पसन्द नहीं की जातीं वे बेचारी आगे अभ्यास करती चली जाती हैं। चूँकि डाक्टर हो जाती हैं फिर चाहिए तो ऊँची पोस्ट का ही, पर ऐसा मिलना कठिन होता है। साथ ही लेडी डाक्टर के चरित्र पर पुरुष को भरोसा भी नहीं होता।"

"तो इस तरह सारी शिक्षा में 'आउट लुक' के परिवर्तन का प्रश्न आ जाता है। यह तो नियम नहीं बनाया जा सकता कि स्त्रियाँ प्रैक्टिस करें तो अविवाहित रहने का ही निश्चय करें, लड़कों को भी यह धाँधली छोड़नी पड़ेगी। ऐसा न करने से तो समस्या और भी उलझेगी ही, हल क्या निकला ?'

उस दिन की यह सारी चर्चा आज भी प्रश्नचिह्न बनी हुई है। नहीं जानती, यह प्रश्नचिह्न कभी सुलझेगा भी ? शिक्षा शास्त्रियों और समाज शास्त्रियों के पास शिक्षा में चलनेवाले इस मनोव्यापार का कोई हल है क्या ? ●

परछाइयाँ

●

आसफ अली

माँ ने बच्चे को प्यार किया और कहने लगी—"बिलकुल बाप की तसवीर है।"

बाप ने बच्चे का मुँह चूमा और कहा—"सारा चेहरा-मोहरा माँ का है।"

दादी ने कहा—"आँखें दादा की हैं।"

नानी ने कहा—"माथा नाना का है।"

× × ×

बच्चे ने जिद की। बाप ने झुड़ककर कहा—"सारा हठ माँ का सा है।"

बच्चे ने कहना नहीं माना तो माँ ने कहा—"सारी आदतें बाप की-सी हैं।"

मैंने कहा—"साये से पीछा क्यों नहीं छूटता ? आखिर, देखनेवाले मुझे क्यों नहीं देखते ? मैं भी कहीं हूँ या निरी परछाइयाँ ही हैं ?"

सबसे उत्तम समय

"जीवन का सबसे उत्तम समय कौन सा है ?"—जिज्ञासु ने पूछा।
माँ ने कहा—'बचपन।"
सिपाही ने कहा—"यौवन।"
विचारक ने कहा—"बुढ़ापा।"
माली ने कहा—"पकने और टपकने के बीच का समय।"

—कन्हैया लाल मिश्र के 'तारे और फूल' से

ग्राम-निर्माण की भूमिका में

रचनात्मक कार्य : अब तक और आगे—२

•

रामर्मूति

जिन संस्थाओं को 'ग्राम इकाइयाँ' चलाने का काम मिला उन्होंने स्वभावतः ग्राम इकाइयाँ और उनके कार्यकर्ताओं को अपने साँचे में ढाल लिया। अधिकांश संस्थाओं ने ग्राम-सहायकों को कमीशन के खर्च पर अपना कार्यकर्ता माना और उन्हें अपने पुराने काम और तंत्र में हजम कर लिया। कुछ भी हो, रचनात्मक होने के नाते कोई संस्था विनोबा के आन्दोलन का विरोध या खुली उपेक्षा तो कर नहीं सकती थी, इसलिए संस्थाओं ने मनोवैज्ञानिक आड़ ली। उन्होंने नारे नये ले लिये, और निष्ठाएँ पुरानी ही रखीं, भले ही ऐसा करने में वे और उनके बहुत से कार्यकर्ता विच्छिन्न व्यक्तित्व (स्प्लिट पर्सनैलिटी) के शिकार हुए, और आज तक हैं। लेकिन, आत्म रक्षा के साथ साथ परिस्थिति के साथ अपने को अभियोजित करने का दूसरा उपाय क्या था? कुल मिलाकर ग्राम इकाइयाँ संस्थावाद में विलीन हो गयीं।

हमारे युवक ग्राम-सहायक साथी या तो सीधे अपनी संस्था के काम को बढ़ाने में लग गये या अपने इकाई-क्षेत्र में सहकारी समितियाँ संगठित करने और उन्हें संस्था, बोर्ड और कमीशन से तरह-तरह की मदद दिलाने में। कमीशन का पैसा, स्टेट बोर्ड का नेतृत्व, प्रवर्ती संस्था का कण्ट्रोल—त्रिवेणी के इस संगम पर इससे भिन्न दूसरा हो क्या सकता था? कहीं कहीं जहाँ संस्था बनाकर स्थानीय अभिक्रम जगाने की कोशिश हुई, वहाँ का काम कुछ बहुत आगे नहीं बढ़ा। हमने स्वयं देखा कि खादी खुद अँधेरी गली में पहुँच गयी, ग्रामोद्योग टिका नहीं, कोआपरेटिव चली नहीं, और पंचायत आगे आयी नहीं। खादी जितनी भी चली उसमें सूत की खरीद-बिक्री के सिवाय दूसरा कोई रूप प्रकट नहीं हुआ। अब थोड़ी बदलौन होने लगी है लेकिन इस बदलौन का भी गाँव की अर्थनीति में कोई बुनियादी महत्व नहीं है, फिर भी बदलौन अपने में बड़ी चीज है। उससे ध्यान 'कपास से कपड़े' तक के विचार, यानी स्वावलम्बन की ओर जाता है, लेकिन इतना ही काफी नहीं है।

ब्लाक इकाई

ग्राम इकाई की दिशा में अब तक हम जहाँ पहुँचे हैं उससे आगे बढ़कर खादी ग्रामोद्योग के विकास के लिए अब हम ब्लाक-समिति बनाने जा रहे हैं। इस आगे बढ़ने का अर्थ क्या है? क्या छोटी इकाइयों में हमारा काम खत्म हो गया कि अब हम बड़ी इकाइयों को हाथ में लेना चाहते हैं? या, हम यह सोचते हैं कि बड़ा क्षेत्र हमारे काम के लिए अधिक उपयुक्त होगा या हम सोचते हैं कि सरकार ने अपनी योजनाओं की दृष्टि से जो महत्व ब्लाक को दिया है उसको स्वीकार किये बिना हमारा खादी ग्रामोद्योग का काम भी नहीं चलेगा? काम की इकाई छोटी हो या बड़ी, महत्व इस बात का है कि हमारे कार्य, उसके क्रम, लक्ष्य और पद्धति में अन्तर पड़ेगा या नहीं। क्या बड़ी संस्था का ब्लाक स्तरीय संस्थाओं में टुकड़ीकरण कर देने से गुणात्मक परिवर्तन

हो जायगा ? क्या अगाव में हमें अधिक संख्या में निष्ठावान खादी प्रेमी मिलेंगे ? क्या वे व्यापार छोड़कर स्वावलम्बन और मिल बहिष्कार पर ज्यादा ध्यान देंगे ? क्या हमने अपने को आश्वस्त कर लिया है कि ये नयी संस्थाएं खादी को छोड़कर 'लोक-वस्त्र' को नहीं अपनायेंगी ? या, सब मिलाकर कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि कल्याणकारी सरकार के साथ-साथ हम भी लोक-कल्याण के नाम में समाज में राजनीति (पालिटिक्स) और व्यवसाय (बिजिनेस) का ही प्रभाव बढ़ायेंगे, और अन्तिम व्यक्ति की मुक्ति को और दूर हटा देंगे ? ग्राम-स्वराज्य कल्याण के सरकारी या गैर सरकारी सेवा-तंत्र को विस्तृत कर देने में नहीं, बल्कि उसके विपरीत उससे मुक्त होकर जनता द्वारा अपना 'स्व' प्रकट करने में है। हम अब जरा रुककर सोचें कि अब तक हमने जो काम किया है और जिस तरह किया है, उससे चाहे जितने लोगों का चाहे जितना, और जिस तरह का, कल्याण हुआ हो, लेकिन कुल मिलाकर राज्य की ही शक्तियाँ मजबूत हुई हैं, 'स्व' की नहीं, और अगर हमको लगे कि हाँ ऐसा ही हुआ है तो अब साहस करके नये रास्ते पर चलने का निर्णय करना चाहिए।

अब पूर्ण मुक्ति चाहिए

हमारे देश की आज समस्याएँ क्या हैं, और हमारी मुक्ति की दिशाएँ क्या हैं ? समस्याओं से मुक्ति की दिशाएँ स्थिर होती हैं और इन दिशाओं से मुक्ति का कार्यक्रम स्थिर होता है। इन तीनों तत्वों को सामने रखकर सोचे बिना हम जनता के सामने क्या चित्र प्रस्तुत करेंगे ?

हमारी ही नहीं, एशिया और अफ्रीका के उन तमाम देशों के सामने, जो हाल के जमाने में विदेशी शासन से मुक्त हुए हैं, त्रिविध समस्या है—सुरक्षा (डिफेन्स), विकास (डेवलपमेन्ट), और लोकतंत्र (डिमोक्रेसी)। दूसरी सब समस्याएँ इन्हीं तीन 'डी' से जुड़ी हुई हैं। इन समस्याओं के सन्दर्भ में ही हमारा कोई विचार तथा कार्यक्रम मान्य हो सकता है। यह निर्विवाद है कि अब तक इन 'डी' के लिए यानी सुरक्षा के लिए बन्दूक, विकास के लिए पूँजी और लोकतंत्र के लिए दल के जो तरीके रहे हैं वे चलते नहीं दिखाई दे रहे हैं। हमारे ही यहाँ नहीं, कहीं भी नहीं चल रहे हैं। अपने देश का पिछले सत्रह वर्षों का इतिहास पुकार-पुकार कर यही कह रहा है कि नये रास्ते ढूंढो, नये रास्ते ढूंढो। हमारा ग्राम स्वराज्य और राजनीतिक दलों का लोकतांत्रिक समाजवाद दोनों उसी नये रास्ते की तलाश के संकेत चिह्न हैं। ग्राम-स्वराज्य तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद में समान तत्त्व बहुत हैं, और जैसे-जैसे समय बीतेगा यह प्रतीति भी व्यापक हो जायगी—प्रतीति पैदा हो रही है—कि दोनों को समान रूप से तीन विरोधी तत्वों पर विजय पानी है। वे तीन तत्त्व हैं—राज्यवाद (स्टेटिज्म) पूँजीवाद (कैपिटलिज्म) और सैनिकवाद (मिलिटरिज्म)। गांधीजी ने मरते वक्त लोकतांत्रिक विकास के सन्दर्भ में नागरिक शक्ति (सिविल पावर) और सैनिक-शक्ति (मिलिटरी-पावर) में जिस टक्कर की कल्पना की थी वह इसी भूमिका में समझी जा सकती है और इसी सन्दर्भ में राजनीति से भिन्न लोक-शक्ति का विचार भी स्पष्ट होता है। इसलिए हमारे हर कार्य की सार्थकता लोक-शक्ति के ही सन्दर्भ में है, क्योंकि 'लोक' की अपनी शक्ति ही उसकी मुक्ति का साधन हो सकती है। लेकिन, हमने आज तक अपने कार्यों-द्वारा मुक्ति का चित्र (इमेज) जनता के सामने नहीं रखा। हम अपने अन्तर-मन की इस परम्परागत कल्याण मूलक धारा से ऊपर नहीं उठ सके—प्रकट मन चाहे जो कुछ बोलता रहा हो—कि जब देश इतना गरीब है तो बेकारी और गरीबी में राहत पहुँचाना हमारा पहला कर्तव्य है। बेशक हमारे कार्य ही ऐसे हैं कि उनसे तात्कालिक सहायता पहुँचती है, लेकिन जहाँ एक नयी शक्ति का प्रश्न है, समाज परिवर्तन का प्रश्न है, वहाँ राहत और सहायता का प्रश्न स्वभावतः गौण हो जाता है। लोक कल्याणकारी सरकार के लिए यह प्रश्न मुख्य है, लेकिन कोई गैर सरकारी विचार, जो इस नतीजे पर पहुँच चुका है कि नयी बुनियादों का नया समाज बनाना है, और वह नया समाज ही बेकारी, बीमारी, विषमता आदि का स्थायी उपाय है, वह बेकारी निवारण की जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं ले सकता। यह जिम्मेदारी पूरी-पूरी सरकार की है। अगर बेकारी

को दूर करने का श्रेय सरकार का है तो उसे न दूर करने का शाप भी उसे ही भोगना चाहिए ! इस प्रश्न पर जनता और सरकार के बीच खड़ा होने और उसकी गलत नीतियों की आड़ बनने का काम हमारा नहीं है।

हम सोच लें, हम समाज-परिवर्तन की बात क्यों कहते हैं ? अगर सरकार खादी को मान ले, और किसी कौतुक द्वारा गाँव गाँव में खादी बनने लगे तो क्या हम समाज-परिवर्तन की बात करना बन्द कर देंगे ? समाज-परिवर्तन की भूमिका में हमारे लिए मुख्य समस्या गरीबी और बेकारी है, या विषमता ? अगर गरीबी और बेकारी है तो हमें भी सबसे पहले साधनों पर ही ध्यान देना चाहिए, भले ही यह साधन निष्ठा हमें लोक-कल्याणकारी राज्य का अंग बना दे, या साम्यवाद का प्रच्छन्न समर्थक। सर्वोदय की विशिष्टता यही है कि वह साधनों से आगे बढ़कर सम्बन्धों की क्रान्ति करना चाहता है। हमारी मूल मान्यता है कि जब तक विकसित साधनों और विकास-योजनाओं के सम्बन्ध को मानवीय परिस्थिति (ह्यूमन सिचुएशन) नहीं बनेगी तब तक जो विकास होगा वह सत्ता और सम्पत्ति के पेट में चला जायगा और अन्तिम व्यक्ति को उसका उचित भाग नहीं मिलेगा—भयमुक्त - स्वतन्त्र - सहकारी समाज की स्थापना का तो सवाल ही क्या ? लोकतन्त्र और विज्ञान के इस युग में बिना सम्बन्धों की क्रान्ति के न लोकतन्त्र के समान अवसर सबके पास पहुँचेंगे, और न विज्ञान के प्रचुर साधन ही सबको मिलेंगे। उपर्युक्त मानवीय सम्बन्धों के अभाव में नये साधन और नयी सत्ता, दोनों शोषण और दमन के माध्यम बन जाते हैं। हम अपनी आँखों से अपने और दूसरे देशों में, जो विदेशी साम्राज्य-वाद के चंगुल से छूटे हैं, क्या देख रहे हैं ? हम देख यह रहे हैं कि हर देश में स्वराज्य उन्हीं सामन्तवादी और पूँजीवादी तत्त्वों तथा उसी नौकरशाही के हाथों में गया है, जिन्हें साम्राज्यवाद ने अपने जमाने में पाला और जाते वक्त स्वराज्य की विरासत दे गया। ये ही तत्त्व आज हमारी विकास-योजनाएँ चला रहे हैं, हमें लोकतन्त्र और विज्ञान का पाठ पढ़ा रहे हैं, और राष्ट्रीयता के नारे की आड़ में अपने को सुरक्षित रखकर भरपूर विकास का फल चख रहे हैं। ऐसी स्थिति में क्रान्ति का लक्ष्य और क्रान्तिकारी का रोल क्या होगा ? निश्चित ही क्रान्तिकारी धैर्यपूर्वक ऐसे समाज के निर्माण में लगेगा, जिसमें वास्तविक विकास सम्भव होगा।

हमारे लिए विकास का अर्थ सबसे पहले मुक्ति है। मुक्ति किससे ? पूँजीवाद, राज्यवाद और सैनिकवाद से। हम इन तीनों को विनाश का तत्त्व मानते हैं। हम अपने सभी साधनों और अपनी सम्पूर्ण शक्ति को इन त्रिविध मुक्ति के लिए उपयोग करना चाहते हैं। इस मुक्ति से ही विकास के लिए अनुकूल मानवीय परिस्थिति का निर्माण होगा। इसलिए आज हमें लोकमानस को आन्दोलित करनेवाला मुक्ति का चित्र (इमेज) चाहिए, उस चित्र को सर्व सुलभ बनानेवाला कार्यक्रम चाहिए, तथा उस कार्यक्रम को सिद्ध करने की शक्ति पैदा करनेवाला जन-आन्दोलन चाहिए। अगर हमें अपने कार्य की यह भूमिका स्वीकार हो तो हम देखेंगे कि रायपुर-सम्मेलन के 'त्रिविध कार्यक्रम' में चित्र, कार्यक्रम और आन्दोलन की त्रिविध सम्भावनाएँ भरी पड़ी हैं। जिस वक्त गाँव अपने निर्णय से—कानून के दबाव से नहीं—भूमिहीनों के लिए बीघा में कट्ठा देता है, नयी व्यवस्था के लिए ग्रामसभा बनाता है, विकास के लिए गाँव की पूँजी खड़ी करता है, वह राज्यवाद से मुक्ति का शुभारम्भ करता है। उसी तरह ग्रामाभिमुख खादी में कपास से कपड़े तक का जो कार्यक्रम है वह पूँजीवाद की जड़ काटता है, और शान्तिसेना सैनिकवाद से मुक्ति दिलाने का माध्यम बनती है। हम क्रान्ति की आँखों से देखें तो पायेंगे कि ग्रामदान, खादी और शान्तिसेना का त्रिविध कार्यक्रम राज्यवाद, पूँजीवाद और सैनिकवाद से त्रिविध मुक्ति के लिए त्रिविध विद्रोह है। प्रचलित राजनीति की तरह उसमें प्रकट विरोध किसी का नहीं है, लेकिन प्रक्रिया और परिणाम में आज की अनीति मूलक परिस्थिति से सम्पूर्ण विद्रोह है—समग्र रचनात्मक क्रान्ति है। ग्रामदान विरोध-मुक्त विद्रोह है, संघर्ष-मुक्त क्रान्ति है, मालिक, महाजन और मजदूर की त्रिवेणी पर नयी समाज-रचना का संगम है। इसमें लोकतंत्र, विकास, और सुरक्षा, तीनों की सम्मिलित योजना है। ग्रामदान में सर्व की सम्मति है, सर्व की शक्ति है, सर्व का हित है। इस त्रिविध सर्व का नाम 'सर्वोदय' है। ● (अपूर्ण)

एक प्रश्न : एक उत्तर

लेकिन...

"बाबूजी रोटी खाऊँगा...किताब ले लो..."

"बाबूजी रोटी..."

"दूर हट, पाजी कहीं के"—रिक्शावाला डाँटता है और अपनी रफ्तार तेज कर देता है।

लगभग सात आठ साल का वह बालक फिल्मी गीतों की दो-चार किताबें लिये रिक्शे के साथ-साथ दौड लगाता है, लेकिन कुछ ही दूर तक। सूखी हड्डियोंवाली उसकी पतली-पतली टाँगें साथ नहीं देती। नगे शरीर की उभरी पसलियो के अन्दर का कलेजा मुँह तक आ रहा है। उसकी अस्पष्ट आवाज अब भी कानों में पड रही है—"बाबूजी रोटी.. किताब..."

रिक्शा स्टेशन पहुँच गया है। मैं तीसरे दर्जे की टिकट खिडकी पर एक-दूसरे से भिड रही भीड में घुसकर टिकट लाता हूँ। उत्तर-पूर्व-रेलवे की छोटी लाइन की तरह इधर के लोगो के दिलो दिमाग के दायरे भी बहुत छोटे होते हैं, यह शायद हर बडी लाइनवाला यात्री महसूस करता है, लेकिन मैं तो इन्हीं में से एक हूँ, धक्कम-धुक्की की हर कला से वाकिफ।

शादी-ब्याह के दिन, डिब्बे में जितने यात्री उससे अधिक सामान, अन्दर घुसने की कोशिश के बदले गालियो की फुलझडी। पायदान पर खड़ा हूँ। गाडी धीरे-धीरे सरक रही है। प्लेटफार्म पर स्थित मिठाई-पकौड़ी की दुकान के सामने दो-चार मरियल कुत्ते और करीब-करीब प्राणहीन बच्चे जूठी पत्तलो के लिए आपस में झगड रहे हैं, गाडी के पहिये तेजी से घूम रहे हैं ... सब कुछ पीछे छूट रहा है .. लेकिन इतनी दूर पीछे छूटा हुआ चौक का वह दृश्य पुन. सामने क्यों आ रहा है? वह आवाज गाडी की छक ... छक ... से भी अधिक तेज क्यो हो रही है?

रिक्शा भाग रहा है, बालक हाँफ रहा है, भूखी आकृति सडक पर बहती भीड़ में खो रही है...

चौथी पंचवर्षीय योजना में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य हो जायगी। शायद आदेश होगा—"एक भी बच्चा ऐसा नहीं, जो स्कूल न आता हो। श्रीधरजी, आपके क्षेत्र से हम अनिवार्य-प्राथमिक शिक्षा-योजना के अन्तर्गत ऐसी रिपोर्ट की आशा करते हैं।" अपने हाकिमो और नेताओ की यह अपेक्षा मैं कैसे पूरी करूँगा, अपनी जिम्मेदारी कैसे निभाऊँगा? दिनभर भैंस की पीठ पर बैठकर मवेशी चरानेवाले पूरन के लडके से कहूँगा कि मवेशी मत चरा, स्कूल में पढ़ने आ, लेकिन उसके बाप को क्या जवाब दूँगा, जब वह पूछेगा कि स्कूल में पढने जायगा तो खायगा क्या? कैलू की नतिनी से कहूँगा, गोद के बच्चे को दिनभर लिये फिरती हो, इससे तुम्हारा विकास नहीं होगा, स्कूल आया करो। कैलू कहेगा—"इसकी महतारी बच्चा ही सँभालती रहेगी, मजदूरी करने नहीं जायगी तो शाम को घर में चूल्हा कैसे जलेगा?" चौक पर सिने-गीतों की किताब बेचनेवाले और रोटी की हाँक लगानेवाले, कुत्तों के साथ जूठन की छीना झपटी करनेवाले बच्चो के खाली पेट को लोकतांत्रिक समाजवाद का नारा लगानेवाला देश क्या किताब-कापियों से भरेगा?

... ...

खेत की मेडो से होकर घर की ओर जा रहा हूँ। अधपकी गेहूँ की फसल फागुनी हवा के झोको में झूम रही है, कहीं-कहीं कटनी भी शुरू हो रही है।

सुना है, इजराइल में यहूदियो ने रेगिस्तान को हरा भरा चमन बना डाला है। विज्ञान अब कृत्रिम वर्षा करा सकता है। शायद कभी बादलो पर नियंत्रण भी कर ले। सम्भव है, उस युग में अपने देश की हालत

सुधर जाय, लेकिन अभी तो देश के गाँव पुरातन के प्रतीक हैं, जहाँ कोई भी आधुनिक व्यक्ति रहना नहीं चाहता। अणु-परमाणु-युग अपनी जगह, ये गाँव अपनी जगह...; कृत्रिम वर्षा अपनी जगह, ये ढेकुल, मोट अपनी जगह, हो भी क्यों न? विज्ञान, विवेक और खेत की मेड़ के बीच इस देश में 'सौत' का-सा सम्बन्ध जो बन गया है।

प्याज की सिंचाई चल रही है। लगभग १२ साल का यह लड़का मोट थाम रहा है। शायद वह उसका बाप है, जो बैलों को हाँक रहा है।

"दस चक्कर लगाने पर चौथाई बिस्वे की सिंचाई होती है तो पूरे बिस्वे की सिंचाई के लिए कितने चक्कर लगाने होंगे?" अन्दर कुएँ में मोट पानी से भर रही है, कच्चे कुएँ के पास ही बैल खड़े खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं, बालक बाप-द्वारा पूछे गये सवाल का जवाब सोच रहा है। मोट पानी से भरती है, बाप बैलों को हाँकता है—"च. च...च.. जा बेटे..."

लड़का अपने आप में बड़बड़ा रहा है, मोट ऊपर आती है, पानी नाली में दौड़ जाता है। मोट पुनः कुएँ में पैठ रही है। बैलों के साथ लौट कर बाप पूछता है—

"क्यों रे, हिसाब जोड़ लिया?"

"हाँ बापू.. चालीस चक्कर।"

"शाबाश, अब दूसरा सवाल ... ." क्रम चल रहा है।

मैं घर की ओर जा रहा हूँ। मन में उधेड़ बुन-सी चल रही है। किसी ने ठीक ही कहा है—बच्चे स्कूल में नहीं जा सकते तो स्कूल को बच्चों के पास यानी भैंस की पीठ पर जाना होगा, आँगन में जाना होगा। जहाँ जीवन है, उसके आधार हैं, उसके सम्बन्ध हैं, वहाँ स्कूल को जाना होगा। प्रशिक्षण-काल में गांधीजी का विचार पढ़ा था—जीवन-द्वारा जीवन के लिए नित्य नयी तालीम—प्रकृति, समाज, उत्पादन के माध्यम से, स्वावलम्बी, स्वतंत्र, संवेदनशील समग्र व्यक्तित्व का निर्माण करनेवाली बुनियादी तालीम। मानता हूँ कि उत्तर प्रदेश की सभी प्राथमिक शालाएँ बेसिक हैं, लेकिन.... ●

—रामचन्द्र 'राही'

रुपये की थैली

●

रामबली

"क्या आप जानते हैं कि राजाजी की सबसे बड़ी खूबी क्या है?

"हाँ, किसी काम में जल्दबाजी न करना।"

"लेकिन, उनमें यह खूबी आयी कैसे?"

"नहीं मालूम।"

"तो सुनिए। एक बार राजाजी बैलगाड़ी से घर आ रहे थे। पास में रुपया था। रात हो चुकी थी। और रास्ता देहात से होकर था।

"राजाजी रुपये की थैली सिर के नीचे रखे और सो गये। करीब आधी रात के बैलगाड़ी चुंगी के पास पहुँची। सिपाही ने गाड़ी को रोका। राजाजी अचकचाकर उठ बैठे। उन्होंने समझा—किसी डाकू ने गाड़ी रोक दी है। फिर क्या था, उन्होंने न कुछ सोचा, न समझा। पिस्तौल की लिबलिबी खटाक से दबा दी। जोर का धड़ाका हुआ और सिपाही धरती पर लोटने लगा। राजाजी गाड़ी से उतर पड़े। अपनी भूल पर उनका मन तड़प उठा।"

"फिर उन्होंने किया क्या?"

"वे घायल सिपाही को लेकर अस्पताल गये और उसकी उन्होंने दवा करायी। जब वह अच्छा हो गया तो रुपये की थैली उन्होंने उसे ही दी।" ●

नयी तालीम

की

राष्ट्रीय विचार-गोष्ठी

सर्व सेवा संघ की ओर से दिनांक १५, १६, तथा १७ अप्रैल '६५ को दिल्ली में नयी तालीम की एक राष्ट्रीय विचार-गोष्ठी आयोजित की गयी है। इसमें सिर्फ आमंत्रित व्यक्ति ही शरीक होंगे। गोष्ठी में निम्नांकित चार मुद्दों पर मुख्य रूप से चर्चा होगी—

१. अगले कुछ वर्षों में बुनियादी शिक्षा लागू करने का त्वरित कार्यक्रम,
२. शिक्षक प्रशिक्षण की समस्याएँ,
३. उत्तर बुनियादी शिक्षण का सिंहावलोकन, उसके उद्देश्य तथा अभ्यासक्रम पर विचार,
४. शिक्षण-प्रशासन की समस्याएँ एवं बुनियादी शिक्षा के अनुकूल प्रशासनिक पुनर्गठन।

इस गोष्ठी में उपराष्ट्रपति डा० ज़ाकिर हुसैन और केन्द्रीय शिक्षा मंत्री श्री चागला उपस्थित रहेंगे। ●

अनुक्रम

●

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त

चैन कैसे नसीब हो सकता है ?

एक बार दमिश्क मे ऐसा सूखा पडा कि लोग भूखो मरने लगे। पानी नाम की वस्तु अगर कही मिल सकती थी तो वह सिर्फ दुखियो की आँखो में। पत्ते झड जाने के कारण पेड फकीरो की तरह नगे हो गये थे।

ऐसे मे एक मित्र मिलने आया। मैंने उसे देखा तो बडा सदमा पहुँचा। किसी जमाने मे वह नगर का धनीमानी व्यक्ति था लेकिन आज सूखकर अस्थि-पजर रह गया था।

मैंने उससे पूछा—"मेरे नेक दोस्त, तुझपर ऐसी कौन सी मुसीबत आ गयी कि तेरा यह हाल हो गया !

यह सुनते ही उसे क्रोध आ गया और लाल-लाल आँखो से घूरता हुआ बोला—"अरे दीवाने, सब जानते हुए भी पूछता है ? क्या तेरी अक्ल खो गयी है ? क्या तुझे मालूम नही कि मुसीबतें हद से गुजर गयी है ?

मैंने उसे तसल्ली देते हुए कहा— 'लेकिन, तुझे इसमे डर क्यो ? जहर तो वही फैलता है, जहाँ अमृत नही होता। तू तो रोजमर्रा की जरूरतो मे इस तरह सुरक्षित है जैसे तूफान से बतख।'

मेरी यह बात सुनकर बडी सजीदगी से बोला। उसने मेरी ओर देखा। लग रहा था जैसे कोई समझदार आदमी किसी नासमझ की ओर देख रहा हो।

उसने एक सर्द साँस ली, माना मुझपर रहम खा रहा हो और उसने कहा—"मेरे अनजान भाई, अगर किसी के सब दोस्त दरिया में डूब रहे हो और वह अकेला किनारे पर खडा उन्हे देख रहा हो तो कैसे चैन नसीब हो सकता है ?'

— शेख सादी

श्रीकृष्णदत्त भट्ट सर्व-सेवा सघ की ओर से शिव प्रेस प्रह्लादघाट वाराणसी मे मुद्रित तथा प्रकाशित
आवरण मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २७,१०० इस मास छपी प्रतियाँ २७,१००

नयी तालीम
प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार
सर्व सेवा संघ की मासिकी

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४ वी तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते है।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- समालोचना के लिए पुस्तको की दो दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती हैं।
- लगभग १५०० से २००० शब्दो की रचनाएँ प्रकाशित करने मे सहूलियत होती है।
- रचनाओ मे व्यक्त विचारो की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

वार्षिक चन्दा
६ ००

एक प्रति
० ६०

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज-शिक्षकों के लिए

वर्ष : तेरह

•

अंक : दस

बुनियादी शिक्षा

हर आदमी, जिसके बच्चे हैं, चाहता है कि शिक्षा बदले। देश का हर संकट पुकार-पुकारकर यही कहता है कि जब तक शिक्षा नही बदलेगी, देश नही बनेगा। सुरक्षा, आर्थिक विकास, नैतिक उत्थान, देश की एकता, आदि कोई सवाल ऐसा नही है, जिसका सम्बन्ध बुनियादी तौर पर शिक्षा से न हो। अगर इन सवालों को हल करना है तो शिक्षा की बुनियादें बदलनी ही पड़ेंगी। समाज के साथ शिक्षा बदले और खुद समाज को भी बदले—ऐसी दुहरी शक्ति नयी शिक्षा में होनी चाहिए।

सरकार ने मान लिया है कि इस दृष्टि से बुनियादी शिक्षा से बढ़कर दूसरी शिक्षा नही है। शिक्षा के मंत्री तथा दूसरे बड़े अधिकारी बार-बार बुनियादी शिक्षा की बात दुहराते हैं। हर राज्य में बुनियादी स्कूलों की संख्या सैकड़ो-हजारों में बढ़ती चली जा रही है। लगता

है कि कुछ दिनो म गैर बुनियादी स्कूल बिल्कुल रहेगे ही नही। यह अच्छी बात है, लेकिन काम इतने से ही नही बनेगा। शिक्षा 'नाम' से कही अधिक 'गुण' की चीज है। इसलिए जब गुण का सवाल आता है तो पूछना पडता है कि सरकार जिसे बुनियादी शिक्षा कहती है उसका रूप-रग क्या है? बच्चा बुनियादी स्कूल मे जाकर क्या खास चीज सीखेगा, जिसे वह गैर बुनियादी मे जाकर न सीखता, और शिक्षा नयी होगी तो उसके जीवन मे क्या नयापन आयेगा? ये प्रश्न तय होने चाहिएँ, क्योकि दिखायी यह देता है कि बुनियादी शिक्षा का जो अर्थ एक सरकार के लिए है, वह दूसरी सरकार के लिए नही है, और जो अर्थ एक समय मान्य है वह दूसरे समय नही मान्य होता। ऐसी बहुरूपिया शिक्षा बिलकुल बेबुनियाद हो जाती है।

अठारह साल पहले जब गाधीजी ने बुनियादी शिक्षा की बात कही थी तो उन्होने दो बातो पर सबसे अधिक जोर दिया था। एक बात यह थी कि शिक्षा का आधार उत्पादन हो, और दूसरी यह कि सारा ज्ञान उत्पादन-क्रिया, सामाजिक वातावरण तथा प्रकृति के विविध समवाय मे दिया जाय। उत्पादन और समवाय गाधीजी की बुनियादी शिक्षा के दो पैर हैं, लेकिन क्या हजारो मे से किसी एक बुनियादी स्कूल मे भी इस शक्ल-सूरत की शिक्षा का दर्शन होता है?

कहनेवाले कहते हैं कि क्या यह जरूरी है कि गाधीजी की हर बात मान ली जाय? नही, यह हरगिज जरूरी नही है लेकिन अगर एक चीज गलत है तो सही क्या है, यह तो मालूम होना चाहिए। अभी कुछ दिन पहले दिल्ली मे एक आवाज यह सुनने को मिली कि गाधीजी ने शिक्षा मे उत्पादन की बात इसलिए कही थी कि विदेशी राज मे शिक्षा के लिए रुपया नही था लेकिन अब जब देश एक के बाद दूसरी योजना बनाता जा रहा है तो रुपये का सवाल ही नही है। ऐसी हालत मे शिक्षा मे उत्पादन पर जोर देने का अर्थ है बच्चो को मजदूर बनाना। यह ठीक है कि बच्चे तरह-तरह की क्रियाएँ करें, उत्पादन क्रियाएँ भी करें, लेकिन उनसे यथार्थ उत्पादन की अपेक्षा न की जाय, यानी उत्पादन की क्रिया भी केवल खेल के लिए की जाय, और उससे शिक्षा की दृष्टि से जितना लाभ लिया जा सके, लिया जाय। जो ऐसा कहते है वे मानते हैं कि देश शिक्षा म उत्पादन के विचार को स्वीकार करने के लिए तैयार नही है।

अभी कुछ दिन पहले लखनऊ मे पत्रकारो से चर्चा करते हुए शिक्षा-आयोग के लोगो ने कहा कि देश के विकास की दृष्टि से शिक्षा को उत्पादकता के साथ जोडना जरूरी है। अगर यह बात पक्की हो तो इसका सीधा अर्थ यह है कि उत्पादन को शिक्षा का केन्द्र और आधार बनाया जाय। उत्पादन क्रिया को खेलवाड बनाने से उत्पादन तो जायगा ही, बच्चो का चरित्र भी हमेशा के लिए बिगडेगा। सोचने की बात है कि जिस गेहूँ को माँ चक्की मे डालकर आटा निकालती है, उसे बच्चा खेलकर बरबाद करेगा तो उसका चरित्र कैसा होगा ?

जब से शिक्षा-कमीशन बना है शिक्षा की चर्चा कुछ जोरो से चल रही है। शिक्षा मे श्रम, शिक्षा म काम, शिक्षा में उत्पादन, आदि बातें कही जा रही है, लेकिन तर्क की कसौटी पर कसने पर यह नही पता चलता कि इन शब्दो का बच्चे के लिए क्या अर्थ होगा, और नीचे से ऊपर तक की पूरी शिक्षा का क्या स्वरूप होगा। जब तक मूल बातें साफ-साफ तय नही हो जाती, नये, मोहक शब्दो से समाज के सामने कोई प्रेरक चित्र नही आ सकेगा।

इतना तय है कि अगर आगे भी शिक्षा अनुत्पादक ही रह गयी और पढ-लिख लेने के बाद युवक नौकरी की ही तलाश करता रहा तो देश का विकास असम्भव है। और, जिस शिक्षा में उत्पादन को महत्व न दिया गया, और समवाय की पद्धति न अपनायी गयी वह बेसिक कैसे कही जायगी ? ईमानदारी का तकाजा है कि उसे कोई दूसरा नाम दिया जाय।

शिक्षा मे उत्पादन को लाने का सीधा अर्थ है कि शिक्षा मे विज्ञान और यत्र को अधिक-से-अधिक स्थान देना, श्रम को आनन्दमय बनाना, तथा बच्चे के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को विकसित कराना। अभी तक विज्ञान पढाई का अलग विषय है, बुनियादी शिक्षा मे जीवन की हर क्रिया, हर पहलू और हर सम्बन्ध में विज्ञान व्याप्त है, उसे प्रकट करने और बच्चे को उसका अभ्यास कराने म शिक्षा की सार्थकता है। 'बुनियादी' की शर्त है कि शिक्षा सार्थक हो।

•

राममूर्ति

भाषाओं का गौरव

•

विनोबा

संविधान में से कानून का सत्रहवाँ अनुच्छेद हटाया जाय, यह राजाजी की माँग है। मेरा ख्याल है कि डी०एम०के० वगैरह भी इसका समर्थन करते हैं; लेकिन मैं इसे सम्भव नहीं मानता। जो तीन सूत्र मैंने दिये हैं, उनमें से पहला सूत्र है कि जो हिन्दी चाहते हैं उनपर अंग्रेजी न लादी जाय; दूसरा सूत्र है कि जो अंग्रेजी चाहते है उनपर हिन्दी न लादी जाय; ये दोनों सूत्र मिलकर तीसरा सूत्र है अहिंसा, यानी जबरदस्ती न हो, लेकिन अगर सत्रहवाँ स्तम्भ हटाया जाता है तो जबरदस्ती होती है।

मेरा यह निरीक्षण है कि मेरे उपवास का परिणाम जितना दक्षिण पर हुआ, उससे उत्तर भारत पर कम नहीं हुआ। नहीं तो बहुत सम्भव था कि उत्तर भारत में दंगे चलते। मुझे जो खबरें उत्तर प्रदेश से, खास करके दो जगहों से मिली, उनपर से यह ध्यान में आया। वे भी दंगा करने में कमजोर तो नहीं है; लेकिन इस उपवास से वे रुक गये। क्योंकि मैंने एक बीच का रास्ता पेश किया, जिसमें दोनों पक्षों का समाधान हो सके। उसमें एक पक्ष का समाधान नहीं होगा; और दक्षिण भारत का लाभ है, ऐसा भी मैं नहीं मानता।

चाउ एन लाइ भारत आये थे। भारत के लिए वे कुछ सन्देश भी दे गये। वह सब चीनी भाषा में था। उनको अगर आप कहते कि आप अंग्रेजी में बात करें, तो वे कहते कि मैं अंग्रेजी जानता नहीं; और मेरा ख्याल है कि चीनी भाषा को यूनो (यू० एन० ओ०) में मान्यता है। अब भारत की ही तरफ से यूनो में भी अंग्रेजी चले तो हमारी अंग्रेजी हमेशा कमजोर रहेगी। हमारे देश में सरोजिनी नायडू निकली, जिन्होंने अंग्रेजी में कविता लिखी। पण्डित नेहरू निकले, जिनको हिन्दी और उर्दू से भी बहुत अच्छी अंग्रेजी आती थी; लेकिन वैसे लोग इसके आगे नहीं निकलेंगे, जबकि हाई स्कूल-कालेज में सारा वातावरण मातृभाषा का रहेगा।

देश की इज्जत का प्रश्न

जब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था तब हमारे शिक्षक भी मराठी बोलनेवाले थे और मैं भी। लेकिन, पाँच घण्टे में भी मैं मराठी का एक शब्द नहीं बोल सकता था। यहाँ तक कि प्रश्न अंग्रेजी में पूछना पड़ता था; और इतिहास, भूगोल, गणित तथा संस्कृत भी अंग्रेजी में हम सीखते थे। उस वक्त का अंग्रेजी का वातावरण अगर लाना है तो आपने अंग्रेजों को जो 'क्विट इण्डिया' कहा, उसके बदले 'रिटर्न टु इण्डिया' कहिए। कोई अपवाद व्यक्ति अंग्रेजी उत्तम बोलनेवाला निकलेगा नहीं, ऐसा नहीं है; लेकिन उतने से अच्छा 'स्टेट्समैन' राजपुरुष निकलेगा, ऐसा भरोसा नहीं; इसलिए अंग्रेजी ही अपने देश की भाषा रही तो आप विश्व राजनीति में हमेशा द्वितीय स्थान में रहेंगे। सब दृष्टि से सोचने पर भले अंग्रेजी चले, जितनी लम्बी अवधि तक चलना है; लेकिन सत्रहवें अनुच्छेद में अपने देश की इज्जत की रक्षा है। वह हटाने की माँग मैं उचित नहीं मानता।

गोखले और मराठी

हिन्दीवाले यह कबूल करेंगे नहीं, मेरा दिल भी कबूल नहीं करता, और गांधीजी ने जो सिखाया उसके बिलकुल यह उलटा जायगा। श्री गोपालकृष्ण गोखले दक्षिणी अफ्रीका गये थे। किसी एक जगह उनका व्याख्यान होनेवाला था। उनकी मातृभाषा मराठी थी; लेकिन मराठी में

उन्होंने कभी कुछ व्याख्यान नहीं दिया था। वे अंग्रेजी अच्छी जाननेवाले थे; लेकिन गांधीजी ने अफ्रीका में आग्रह करके उनसे मराठी में व्याख्यान दिलवाया और बोले कि मैं तरजुमा करूँगा। गांधीजी की मातृभाषा गुजराती थी। गोखले मराठी में बोले और उसका सारांश गांधीजी ने लोगों को समझा दिया।

यह खूब ध्यान में रखने की बात है कि बहुत से शब्दों के साथ विचार जुड़े हुए रहते हैं। चीनी भाषा के किसी एक शब्द के जो 'कानोटेशन' (भाव) होते हैं वे हमारे किसी एक शब्द के कानोटेशन से मिलते नहीं।

अँग्रेजी शब्दों का खतरा

साइंस के शब्दों की बात अलग है। इसमें हाइड्रोजन के लिए नया शब्द बनाया उद्‌जन, तो कोई फरक नहीं होगा, दोनों एक ही हैं। गणित में फरक नहीं होगा। हमारी भाषा का ४ और अंग्रेजी का ४ एक ही है; लेकिन अगर कोई कहेगा कि 'मन' और 'माइण्ड' एक ही हैं, तो मैं मानता नहीं। धर्म के लिए आप अंग्रेजी में क्या कहेंगे? ड्यूटी, रिलीजन, चैरिटी, राइटमेनस? उनमें फर्क है। इस तरह अगर हम अपने को राजनीति में, समाज-शास्त्र में अंग्रेजी पर निर्भर करें तो हमारे सोचने का ढंग हमेशा भ्रामक होगा। हाँ, श्री अरविन्द घोष की बात अलग है। उनके-जैसी अंग्रेजी का ज्ञान पाने के लिए आपको अपनी मातृभाषा भूलनी होगी तब वैसी अंग्रेजी आयगी। यह तो हम नहीं करेंगे। इसलिए उसमें मैं खतरा मानता हूँ।

समवाय-पद्धति

अंग्रेज और अमेरिकन लोगों से बात करते समय हमेशा हमारी अभिव्यक्ति अशुद्ध रहेगी; और अगर हम गलत शब्द इस्तेमाल करेंगे, तो सारा काम बिगड़ सकता है; इसलिए हमको हमेशा अपने ही चिन्तन पर रहना चाहिए, और चिन्तन कभी शब्द से अलग नहीं रहता।

अंग्रेजी का एक शब्द है 'कोरिलेशन'। मैंने उसके लिए शब्द दिया समवाय। हमारी बेसिक शिक्षा की पद्धति का नाम है समवाय-पद्धति। इसके लिए दिल्ली में कमेटी बैठी थी। डा० जाकिर हुसैन उस कमेटी में थे। अंग्रेजी में चर्चा चलती थी। जब शब्द आया कोरिलेशन, तब मैंने कहा कि मैं कोरिलेशन जानता नहीं। मैं समवाय जानता हूँ और समवाय को अंग्रेजी में क्या कहते हैं मैं जानता नहीं। कोरिलेशन का मराठी, हिन्दी, गुजराती में पर्याय मैं नहीं जानता; लेकिन समवाय जानता हूँ; क्योंकि वह मेरी पद्धति है। यह बाहर से नहीं आयी है।

वे कहने लगे कि समवाय के लिए आप अंग्रेजी शब्द नहीं बता सकते तो उसका अर्थ समझा दीजिए; तो मैंने समवाय-पद्धति के सम्बन्ध में बताया कि जैसे मिट्टी का घड़ा बनता है। अब मिट्टी और घड़ा अलग-अलग है या नहीं? अगर आप कहते हैं कि अलग है, तो मैं कहूँगा कि मेरी मिट्टी मुझे दे दीजिए और अपना घड़ा आप ले लीजिए; 'और दोनों एक हैं' ऐसा आप कहेंगे तो मैं कहूँगा कि वह मिट्टी ले लीजिए और भर लीजिए पानी। वैसे दोनों एक हैं, ऐसा भी नहीं बोल सकते और अलग हैं ऐसा भी नहीं बोल सकते। उसी प्रकार यहाँ ज्ञान और 'कर्म को अलग-अलग भी नहीं कह सकते और एक भी नहीं। यह है समवाय।

अभी कुछ दिन पहले केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री श्री चागला मुझसे मिलने आये। उन्होंने कहा कि आप हिन्दुस्तान की सब भाषाएँ जानते हैं, आप के लिए कोई तकलीफ नहीं। मैंने जवाब में उनको लिख दिया—'जैक आफ आल ट्रेड्स, मास्टर आफ नन।' लेकिन संस्कृत मैं जानता हूँ।'

हम अँग्रेजी नहीं समझ पाते

श्री अरविन्द का एक-एक वाक्य 'लाइफ डिवाइन' में से लीजिए। व वाक्य इतने लम्बे हैं कि उसमें से पार होकर अर्थ-लाभ हो जाय, तो भी मुश्किल है अर्थ लगाना। विवेकानन्द की इंगलिश आसान है। बाइबिल की भाषा भी आसान है; परन्तु 'फिलासफर' की जो इंगलिश होती है, उसको इंगलिश जो समझ लेता है, उसके मैं अपनी ओर से महावीर-चक्र अर्पण करूँगा। वैसे ही रामानुज का संस्कृत-वाक्य पढ़ते-पढ़ते पाँच-पाँच बार साँस लेनी पड़ती है। शंकराचार्य के वाक्य चार-पाँच शब्दों के होते हैं। सबकी अपनी पद्धति होती है। इसलिए हमको समझना चाहिए कि अंग्रेजी में 'तत्त्व ज्ञान' और

'योगन' शब्द पढ़ते है, तो समझने का आभास होता है, समझते नहीं, यह बात गणित और विज्ञान के लिए लागू नहीं होती।

हिन्दी सागर होगी

मुझे भी कई दफे अँग्रेजी शब्द बोलने पड़ते हैं; क्योंकि मेरी मातृभाषा मराठी है। सामनेवाला संस्कृत बिलकुल न समझनेवाला हो, तो मैं अपनी हिन्दी में अँग्रेजी शब्द मिला लेता हूँ; अगर संस्कृत समझनेवाला हो तो संस्कृत शब्द मिला लेता हूँ।

इस प्रकार की होगी हमारी हिन्दी। वह खिचड़ी भाषा होगी। मैंने हिन्दीवालो से कहा कि आप हिन्दी को गंगा-यमुना रखना चाहते हैं या सागर? गंगा रखना चाहते हो तो स्वच्छ पानी चाहिए। तब तो हिन्दी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। अगर आप हिन्दी को राष्ट्र-भाषा करना चाहते हो, तो वह सागर होगी। सागर का पानी खारा होता है।

हृदय व्यापक बनायें

एक बात और सामने आयी है कि उत्तर हिन्दुस्तान पर चार भाषाएँ क्यों लादी जायें? दक्षिण के लोग भी कहते हैं कि यह व्यय की बात है। मैं कहता हूँ, अपना देश बहुत बड़ा है, इतनी सारी भाषाओं को एक रखना चाहिए। यह एक सामूहिक परिवार है, यह हमारे देश का भाग्य है। आपको शिक्षा में और भाषाएँ आयेंगी, जैसा कि आपको इंग्लैण्ड में देखने को मिलेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि उसका उपयोग क्या होगा। उपयोग यह होगा कि दिल की उदारता बढ़ेगी और आगे जाकर कुछ लोग ऐसे निकलेंगे कि वे उन भाषाओं को अच्छी तरह सीखेंगे और फिर उधर का साहित्य इधर आयेगा, इधर का साहित्य उधर जायेगा।

जब तमिलवाले कहते हैं कि हिन्दीवालों पर तमिल क्यों लादते हो, वह बिलकुल अनुपयोगी है, तो मैं कहता हूँ कि फिर रोते क्या हो? उत्तर हिन्दुस्तान के लोग तमिल सीखेंगे; तुम्हारा बिगड़ता क्या है? यह तो अच्छी बात है, और इस तरह जो एक-एक भाषा में आनन्द है वह दूसरी भाषा में नहीं आयेगा तो उसके बिना हृदय व्यापक बनेगा नहीं। क्योंकि मैं जानता हूँ कि तमिल में ऐसी कोई विशेषता है, जो हिन्दुस्तान की सभ्यता को (समृद्ध) बना सकती है।

तमिल भाषा में 'कुरल' की अपनी शान होती है। वह उत्तर भारत में सीखेंगे तो अच्छा होगा। वैसी ही कुछ चीजें कन्नड में हैं। बसवेश्वर ने समाज-सुधारक के तौर पर जो लिखा है वह गद्य में है और ऊँचे दर्जे का गद्य है। आज से एक हजार साल पहले कन्नड भाषा में गद्य में लिखना बड़ी बात है। अगर वह चीज उत्तर-भारत में जाय तो परस्पर प्रेम बढ़ता है, और हृदय विशाल बनता है। उत्तर भारतवालों से मैं कहूँगा कि उन्हें दक्षिण भारत की एक भाषा अवश्य सीखनी चाहिए।

o

एक निवेदन

'नयी तालीम' के मार्च अंक में हमने निवेदन किया था कि जून-जुलाई का अंक संयुक्तांक होगा, इसलिए पाठक और ग्राहक कृपया स्मरण रखें कि वह संयुक्तांक उनके पास जुलाई में पहुँचेगा। —सम्पादक
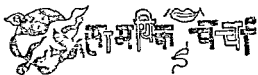
o

राष्ट्रभाषा और बदली हुई परिस्थितियाँ–२

•

नारायण देसाई

[पिछले अंक में लेखक ने बताया है कि संसार के दूसरे देशों में राष्ट्रभाषा की समस्या किस रूप में सामने आयी, वहाँवालों ने उसका हल किस प्रकार निकाला, हमारे संविधान के शब्दों में राष्ट्रभाषा के प्रश्न का क्या हल है और सन् ६५ के गणतन्त्र दिवस के अवसर पर मद्रास में विरोध की चिनगारी किस प्रकार फूट पड़ी। लेखक के आगे के विचार प्रस्तुत हैं। –सम्पादक]

उस दिन की घटनाओं पर 'स्टेट्समैन' (जो कि अपेक्षाकृत तटस्थ अखबार है,) का प्रतिनिधि २८ जनवरी को लिखता है—

"सैगान के बौद्ध भिक्षुओं-द्वारा प्रशस्त किये हुए कठोर मार्ग का अनुसरण करते हुए, डी० एम० के० के दो तरुण कार्यकर्ताओं ने अग्नि-स्नान-द्वारा हिन्दी को थोपने के बारे में अपना प्रतिकार प्रकट किया। इस भीषण घटना से डी० एम० के० के हिन्दी-विरोधी आन्दोलन ने, जो नेताओं की गिरफ्तारी के बाद अब केवल छात्रों के हाथ में रह गया था, एक नया मोड़ ले लिया है। परिस्थिति मद्रास प्रदेश के कई स्थानों में बिगड़ चुकी है। यह आन्दोलन अन्नामलाई युनिवर्सिटी के छात्रों पर गोली-वर्षा के समाचारों से और भी भड़केगा। मद्रास शहर में विरुगम्बक्कम् नामक स्थान पर ३२ वर्षीय एक डी० एम० के० कार्यकर्ता के अग्नि-स्नान के कारण इस प्रकार की मृत्यु की संख्या अब दो हो गयी।

"यह कार्यकर्ता डाकखाने में नौकरी करता था और मरने के पहले उसने 'तमिल अमर रहो' का उद्घोष किया था। आज ऐसी हिंसक घटनाएँ हुईं जैसी यहाँ बहुत कम देखी जाती हैं। छात्रों की पुलिस से टक्कर हुई। अनेक मकानों पर काले झण्डे फहराये गये और सरकारी बस जलायी गयी। ऐसी घटना यहाँ पहले कभी नहीं होती थी।

"इन घटनाओं से चीफ मिनिस्टर तथा कांग्रेस की दुविधा भी प्रकट होती थी। भाषा समस्या के बारे में यहाँ भावनाएँ काफी गहरी पहुँची हुई हैं और यह जाहिर है कि परिस्थिति की स्फोटकता और खतरे को सभी अच्छी तरह जानते हैं। इसके परिणाम उन शासकीय प्रयत्नों में प्रतिध्वनित हुए, जिनमें उन्होंने हिन्दी की ओर जाने के महत्त्व को कम किया।

"मुख्यमंत्री तथा अन्य मन्त्रियों ने पिछले कुछ दिनों में बार-बार यह आश्वासन दिये हैं कि अँग्रेजी का उपयोग अनिश्चित काल तक होता रहेगा। यहाँ तक कि उन्होंने यह नाटकीय धमकी भी दी कि यदि बिना अँग्रेजी अनुवाद के कोई पत्राचार केन्द्रीय सरकार से होगा तो वे उसे बिना पढ़े ही लौटा देंगे, लेकिन यह भी उतना ही स्पष्ट है कि इन दलीलों का कोई परिणाम नहीं हुआ और डी० एम० के० के हाथ बिना किसी

प्रयास के ही मजबूत हो गये। न सिर्फ शोक दिवस मनाने का उसकी अपील को अच्छा जवाब मिला; बल्कि यह जवाब उसे अपने नेताओं की अनुपस्थिति में ही मिल गया।'

हिंसा दावानल की तरह प्रदेश के अन्य स्थानों में फैल गयी। कोयम्बतूर जिले में शायद परिस्थिति सबसे अधिक खराब थी। अनेक स्थानों पर पुलिस ने गोलियाँ चलायीं अनेक लोग मरे और एक स्थान पर दो पुलिस इन्सपेक्टरों को भीड़ द्वारा पीड़ित करने के पश्चात् मार दिया गया। सिर्फ रेलों की ही एक करोड़ रुपये से अधिक का नुकसान हो गया।

१२ फरवरी का ऐतिहासिक संकल्प

इस हिंसा से व्यथित होकर विनोबा ने १२ फरवरी से अनिश्चित काल के लिए अनशन शुरू किया। उस दिन उन्होंने अपने प्रवचन में कहा—

आज सत्रह साल के बाद भी हिन्दुस्तान में अशान्ति और हिंसक मनोवृत्ति जगह जगह दिखती है खास करके तमिलनाड में जो चला है वह केवल नासमझी है और उससे मेरे हृदय को अत्यन्त वेदना हुई। इस आन्दोलन के लिए गलतफहमी के सिवा और कोई कारण नहीं था। हिन्दी लादी नहीं जा रही थी इंगलिश को हटाया नहीं जा रहा था प्रान्तीय भाषाओं के लिए कोई खतरा नहीं था नौकरी में भी किसी प्रकार का दुलक्ष्य उससे होनेवाला नहीं था। पण्डित नेहरू ने वैसा वचन दिया था और आज हमारे प्रधानमन्त्री भी उस वचन पर खड़े हैं इसके आगे अँग्रेजी को हिन्दी की सहायक यानी एसोसिएट लैंगवेज के तौर पर कानून में दाखिल किया है यानी अँग्रेजी को बराबरी की भाषा के तौर पर रखा गया है। हिन्दी के साथ अँग्रेजी भी तब तक चलेगी जब तक उसकी जरूरत है। उसकी जरूरत कब तक है इसका निर्णय हिन्दी भाषी नहीं करेंगे बल्कि अहिन्दी भाषी करेंगे। इससे अधिक आश्वासन उनको और क्या हो सकता है? इसमें किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं है। फिर भी उसको लेकर एक हिंसक आन्दोलन चला। मैं इसके लिए विद्यार्थियों को दोष नहीं देना चाहता। विद्यार्थी जो होते हैं उनके सामने भविष्य का चित्र होता है। अगर उनको अच्छा रास्ता मिला अच्छी धारणा बनायी गयी तो वे उसको पकड़ लेते हैं और अगर गलत धारणा बनायी गयी गलत रास्ता मिला तो उसको भी पकड़ लेते हैं। इसलिए उनको मैं दोष नहीं देता।

मैंने मौन रखा तब से मैंने अपने को ईश्वर के हाथों में सौंपा है। जो कुछ प्रेरणा होती है वह ईश्वर से ही होती है। दक्षिण भारत में हिंसा का जो उभार हुआ उससे मेरे चित्त को इतना वेदना हुई कि वह मुझे खाने नहीं देता इसलिए अन्दर से प्रेरणा हुई कि आज के मंगल दिन की स्मृति में अनशन शुरू करूँ। यह अनशन अमुद्दत रहेगा। जबतक चित्त को शान्ति नहीं मिलती तब तक रहेगा। भगवान की इच्छा होगी तब तक रहेगा। मैंने अपने को उस पर सौंप दिया है मैं कुछ नहीं जानता।

'हिन्दुस्तान के लोग जानते हैं कि सब भाषाओं पर मेरा प्रेम है। जब भी नयी भाषा सीखने का मुझे मौका मिला प्रेम से उसे सीखने की मैंने कोशिश की है। मैंने तमिल भाषा भी सीखी है इसलिए मैं जानता हूँ कि कितना महान आध्यात्मिक साहित्य उसमें पड़ा है। ऐसी दूसरी भाषाएँ भी हैं। मुझे तमिल के लिए और दक्षिण की दूसरी भाषाओं के लिए उतना ही प्रेम है जितना मराठी या हिन्दी के लिए। मराठी यद्यपि मेरी मातृभाषा है फिर भी मराठी को मैं ज्ञानदेव और तुकाराम की भाषा मानता हूँ इसलिए मुझे मराठी के लिए प्रेम है। वैसे ही हिन्दी को मैं मानता हूँ तुलसीदास और कबीर की भाषा जिन्होंने प्रेम का ही सन्देश दिया इसलिए हिन्दी भाषा का प्रचार प्रेम से ही हो सकता है और उसी प्रकार वह हो रहा है ऐसा मैं मानता हूँ।

सारे भारत के लिए अल्टीमेटली (आखिर में) हिन्दी होगी जोड़भाषा लेकिन वह धीरे धीरे होगी। इंगलिश (लिंक लैंगवेज) की तब तक मदद लेनी होगी और वह मदद बिना हिचकिचाहट लेनी चाहिए। इंगलिश के लिए भी मुझे प्रेम है। इतना ही नहीं मैं मानता हूँ कि इंगलिश के साथ साथ योरप की और

भाषा भी सीखनी चाहिए। इंगलिश दुनिया का बहुत परिचय कराती है; लेकिन वह एक खिड़की जैसी है। वह दुनिया को पूरा दिखाती नहीं; इसलिए दूसरी भाषाएँ-जर्मन, फ्रेंच आदि भी सीखनी चाहिए।

'हिन्दी-भाषी लोगों से मैं कहूँगा कि आपको थोड़ा आलस छोड़कर दक्षिण की एकाध भाषा जरूर सीखनी चाहिए। इस तरह आपस में प्रेम बढ़ेगा और प्रेम के द्वारा हिन्दी का प्रचार होगा।''

अपने उपवास के दरमियान विनोबा ने इस प्रश्न के हल के लिए नीचे लिखी त्रिसूत्री सुझायी—

१. किसी भी अवस्था में हिंसात्मक काण्ड नहीं होने चाहिए।

२ हिन्दी किसी पर लादी नहीं जानी चाहिए।

३. उसी प्रकार अँग्रेजी भी नहीं लादी जानी चाहिए।

पक्ष और विपक्ष

अब हम दोनो पक्षो के विचार समझन की दृष्टि से हिन्दी को राजभाषा बनाने के सम्बन्ध मे दोनो ओर से दी जानेवाली दलीलो का सारांश नीचे देते हैं—

एक पक्ष

१. हिन्दी १७ करोड़ से अधिक लोग बोलते हैं।

२. उसे और भी अनेक लोग समझते हैं।

३. हिन्दी और देश की दूसरी किसी भाषा के बीच अधिक साम्य है, बनिस्बत अंग्रेजी और देश की इतर भाषाओं के।

४. हिन्दी जनता की भाषा है। अंग्रेजी को राजभाषा बनाने से विशिष्ट जन और सामान्य जन में खाई पैदा होने की सम्भावना है।

५. हिन्दी में और भाषाओं से सभी उत्तम तत्त्व लेने की शक्यताएँ हैं।

६. हिन्दी का व्याकरण लचीला है। दूसरी भाषाओं के कारण पैदा होनेवाले प्रकार भेदों का उसमें समावेश हो जाता है।

७. हिन्दी में विज्ञान तथा दूसरे विषयों का समावेश करने की शक्ति सिद्ध हो चुकी है। आगे उसका और विकास हो सकता है।

८. भूतकाल में कई गैर हिन्दी भाषी लोगों ने हिन्दी के विकास में सहायता दी है और वे भविष्य में भी दे सकते हैं।

९. भाषान्तर एवं अनुवाद आदि के कारण बढ़नेवाले बोझ का तुरत ही फल मिल जायगा, जब हिन्दी के कारण सामान्य जन की सुविधाएँ बढ़ जायेंगी।

१०. हर हालत में हिन्दी अन्य प्रादेशिक भाषाओं का स्थान न ग्रहण करेगी, न उन्हें क्षति पहुँचायेगी; क्योंकि इन भाषाओं का अपने-अपने प्रदेशों में सम्मानपूर्ण स्थान रहेगा। हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करेगी, न कि प्रादेशिक भाषाओं का।

११. अंग्रेजी या इतर अन्तर्राष्ट्रीय भाषाएँ सीखने की कोई मुमानियत नहीं होगी।

दूसरा पक्ष

१. हिन्दी को राजभाषा बनाने से अहिन्दी-भाषियों की तुलना में हिन्दी भाषियों को (अनायास) लाभ मिलता है।

२. राजभाषा तो हर प्रादेशिक भाषा से समान अन्तर पर रहनी चाहिए।

३. हिन्दी को राजभाषा बनाने से अन्य प्रादेशिक भाषाओं को खतरा है।

४. कुछ अन्य भाषाओं से हिन्दी का व्याकरण कठिन है; क्योंकि उसमें लिंग, वचन के अनुसार क्रिया में विकार होता है।

५. तमिल, बगला तथा अन्य भाषाएँ हिन्दी की तुलना में अधिक सम्पन्न हैं।

६. विज्ञान, कानून आदि विषयों के समावेश की दृष्टि से हिन्दी अयोग्य है।

७. आज अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को दाखिल करने से प्रशासकीय अक्षमता नाहक ही बढ़ जायेगी।

८ उससे प्रशासन का बोझ भी बढ़ेगा।

९ अँग्रेजी विश्वज्ञान के दरवाजे खोल देता है, जब कि हिन्दी के कारण हमारे ज्ञान विज्ञान का क्षितिज सीमित हो जायेगा।

पुरानी गलतियाँ

भूतकाल में कुछ निश्चित गलतियाँ हुई हैं, जिनके कारण आज की कठिनाइयाँ बढ़ गयी हैं। हमारे नम्र मत से पुरानी गलतियाँ इस प्रकार हैं—

१. हिन्दी के प्रचार के लिए सरकार तथा गैर-सरकारी सूत्रों द्वारा पर्याप्त प्रयास नहीं किया गया।

२. यह गलतफहमी कि हिन्दी प्रादेशिक भाषाओं को हटा देगी या उन्हें हानि पहुँचायेगी, निश्चित कार्यक्रमों-द्वारा नहीं दूर की गयी।

३. हिन्दी-विरोधी आन्दोलन ने इस गलतफहमी का पूरा उपयोग किया, और हिन्दी पक्षीय आन्दोलन ने गैर हिन्दी वालों का मानस समझने की कोशिश नहीं की तथा केवल संविधान और कानून की सहायता से राष्ट्र-भाषा को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया। दोनों पक्षों ने कई बार अशोभनीय भाषा का भी प्रयोग किया है।

४. सरकारी सूत्रों से कभी इस पक्ष को तो कभी उस पक्ष को सन्तुष्ट करने के लिए अनेक वचन और आश्वासन निकलते रहे हैं, लेकिन उनपर अमल उतनी गति से नहीं हुआ।

५ विरोध में हिंसा का उपयोग हुआ है, जिससे प्रतिपक्षी के मन में प्रतिहिंसा तो पैदा हुई ही है, बल्कि उसमें विरोध करनेवालों की दलील भी कमजोर पड़ी है।

शान्तिसेना का कार्यक्रम *

भाषा-समस्या के सम्बन्ध में शान्तिसेना का कार्यक्रम त्रिविध होगा—

१. गलतफहमी को दूर करने का कार्यक्रम

अ. शहरों में अध्ययन-मण्डल चलाना,

आ. हिन्दी और अहिन्दी क्षेत्रों में छोटी छोटी सभाएँ सम्मेलन करना, और

इ इस विषय पर लेखों, सम्पादक के नाम पत्र, भित्ति-पत्र आदि तटस्थ जानकारी का प्रसार करना।

२. हिन्दी और अहिन्दी क्षेत्रों में शान्तिसेना को मजबूत करना।

अ. नये शान्तिसैनिक भरती करना,

आ शान्तिकेन्द्र स्थापित करना,

इ शान्तिसेना की रैलियाँ करना, और

ई. किशोर शान्तिदल संगठित करना।

३. परिस्थिति को सुलझाने का प्रयत्न

अ त्रिभाषा सिद्धान्त का प्रसार करना।

आ हिन्दी-क्षेत्र का हर शान्तिसैनिक एक और भाषा सीखे—दक्षिण की कोई भाषा सीख सके तो और अच्छा, तथा दक्षिण के शान्तिसैनिक हिन्दी सीखें।

इ अन्य भाषा भाषी विद्वानों को शान्तिकेन्द्रों में चर्चा के लिए निमन्त्रित करना।

ई अन्य क्षेत्रों के सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन सन्त, कवि, महापुरुषों आदि के दिवस मनाकर करना। भारत की सांस्कृतिक एकता प्रदर्शित करनेवाली नुमाइशें करना।

आज मुख्य प्रश्न भाषा का नहीं, मानवीय एकात्मकता का, भारतीय एकात्मकता का है। सवाल यह नहीं है कि कौन-सी भाषा राज्यभाषा और राष्ट्रभाषा हो; बल्कि सवाल यह है कि क्या हम भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों के निवासी एक दूसरे के साथ रहना चाहते हैं? इन सवालों पर यदि आज ठण्डे दिमाग से नहीं सोचेंगे तो मात्र-भाषावाद हाथ में रह जायगा।

यह समय संयम और धीरज से काम लेने का है। आशा है, अपने कृत्य-द्वारा हम शान्तिसेना के नाम के योग्य बनेंगे तथा भारत की एकात्मता टिकाने में यथायोग्य सहायता देंगे। ●

* इस सन्दर्भ में शान्ति-सेना ने क्या किया, इसका संक्षिप्त उल्लेख नयी तालीम के मार्च अंक में 'शान्ति-समाचार' शीर्षक से पृष्ठ ३१९ पर मिलेगा।

पाठ्यक्रम और चरित्र-निर्माण

धीरेन्द्र मजूमदार

प्रश्न—आज बच्चों को स्कूलों में कैसे शिक्षा दी जाय कि पाठ्यक्रम पूरा करने के साथ-साथ उनका चरित्र-निर्माण भी हो ?

उत्तर—चरित्र-निर्माण पाठ्यक्रम का नहीं, अभ्यास का विषय है। अभ्यास समाज मे ही हो सकता है। इसलिए सामाजिक वातावरण का सन्दर्भ शिक्षा को मिलना चाहिए। समाज मे चलनेवाले सभी प्रकार के कार्य शिक्षा से अनुबन्धित होने चाहिए।

आज शिक्षा मे सुधार की विभिन्न चर्चाएँ जोरो से चलती हैं; पर उनका 'बेसिक अप्रोच' गलत है। स्कूल की चहारदीवारी मे बच्चो को रखकर न तो शिक्षा का समवाय सामाजिक प्रवृत्तियो से कर सकते हैं, न उसमे कोई वास्तविक सुधार ला सकते हैं। इसलिए मेरा निश्चित मत है कि स्कूल के सन्दर्भ मे चरित्र-निर्माण हो ही नही सकता।

पहले शिक्षा का एक नियम था—'स्पेअर दी राड, स्पायल दी चाइल्ड'—'बेंत बिना चेत।' सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण यह नियम बना कि बच्चो को मारा न जाय, उनमे ऐसी वृत्ति पैदा की जाय कि वे किसी प्रकार के दबाव के वश होकर काम न करें; बल्कि अपने विवेक से काम करें। पर, आप के पास तो बच्चा ५–६ वर्ष का होने पर ही पहुँचता है, और वह भी कुछ घण्टो के लिए। जीवन के प्रारम्भ से उसकी माँ उसे धमाधम पीटती रही है। पीटे जाने पर ही कोई काम करने और कुछ मानने की उसकी आदत पड गयी है। अब ऐसा कैसे हो सकता है कि वह ६ घण्टे बिना मार खाये सहज व्यवहार करे और बाकी १८ घण्टे मार खाकर।

असल म समस्या दूसरी जगह है, जहाँ आज के स्कूल कालेजो की पहुँच ही नहीं है। बच्चे स पहले उसके माँ-बाप म सुधार करना होगा। इसीलिए बापू ने समग्र नयी तालीम की बात की थी—जन्म से मृत्यु तक की शिक्षा और पूरे समाज की शिक्षा।

प्रश्न—तो क्या स्कूल की चहारदीवारी में पूरे समाज का आना सम्भव है ?

उत्तर—यदि नही है तो स्कूल को ही गाँव मे जाना होगा; अर्थात् गाँव 'ही' विद्यालय होगा, लेकिन गाँव 'मे' विद्यालय नही होगा।

"शिक्षा के तीन उत्पादन-प्रधान माध्यम होंगे—सामाजिक प्रवृत्तियाँ, सामाजिक वातावरण, और प्राकृतिक वातावरण।" ऐसा बापू ने कहा था; पर हमने क्या किया ? दो-बीघा जमीन, कुछ कुदाल और दो-चार तकलियाँ स्कूल म घुसा दी जाए हो गयी हमारी बेसिक शिक्षा; लेकिन स्कूल मे शिक्षा को नहीं, बल्कि कुदाल म शिक्षा को घुमाना होगा। असल म हमने गाधी की बात का शीर्षासन किया। 'नेचुरल सोशल ऐक्टिविटीज' को छोडकर हमने 'सोशल ऐक्टिविटीज' को स्कूल म 'प्रोजेक्ट' किया। ऐसा तो 'प्रोजेक्ट-मेथेड' पहले भी चलता था, पर वह बेसिक शिक्षा नहीं हुई।

इसीलिए मैंने ग्रामभारती की योजना रखी है। इसमे शिक्षा मे से कृत्रिम साधनो तथा संस्थाओं को हटाने ('एलिमिनेट' करने) का प्रयत्न है।

ग्रामभारती जमाने की मांग है। जरा शिक्षा के इतिहास को देखिए। पुराने समय में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली थी। कुछ विशिष्ट जन—राजा तथा ब्राह्मण ही शिक्षा लेते थे इसलिए गुरुकुल तात्कालिक जन मानस की आकांक्षा पूर्ति में समर्थ थे। प्रजातंत्र के अभ्युदय के साथ शिक्षित होने की आकांक्षा और आवश्यकता बढ़ी इसलिए पब्लिक स्कूलों का प्रचलन हुआ। आज लोकशाही का तकाजा है कि शिक्षा अत्यंत व्यापक बने क्योंकि आज एजुकेशनल फ्रैंचाइज से आगे आकर हम एडल्ट फ्रैंचाइज तक पहुँच गये हैं। इसलिए वर्तमान काल में हर बालिग स्त्री पुरुष को इतना ज्ञान होना चाहिए कि वह सभी दलों के घोषणापत्रों (मनिफेस्टो) को पढ़कर यह समझ सके कि राष्ट्र हित और समाज हित क्या है।

बादशाही जमाने (मोनार्की) में एक युवराज की उत्तम शिक्षा होने से ऐसा समझा जाता था कि वह युवराज अपने राज्यकाल में प्रजा रंजन कर सकेगा। युवराज के गर्भ में आते ही राज्य प्रासाद एवं उपवन के वातावरण को सुरम्य एवं शांत रखा जाता था। अच्छे-अच्छे महात्माओं एवं सन्तों के चित्र लगाये जाते थे ताकि गर्भ में आये हुए बच्चे का वातावरण सुंदर बने।

युवराज के धरती पर आने के बाद से ही राज्य का सबसे महान पण्डित सर्वोत्तम गुरु उसके शिक्षण में लगता था ताकि युवराज सुसंस्कारी और विद्वान बने। आज प्रजातंत्र के युग में प्रत्येक माँ के पेट का प्रत्येक बच्चा चाहे वह लड़की हो या लड़का देश का भावी युवराज है इसलिए हर बच्चे का शिक्षा दीक्षा की ओर और उसी दर्जे का प्रबन्ध होना चाहिए जैसा कि राजशाही के जमाने में राजा के बड़े बेटे का होता था। लेकिन क्या यह सम्भव है कि सभी बच्चों को आधुनिक ढंग की पाठशाला में लाया जा सके? यदि बच्चे सामाजिक कार्य (जीवकोपार्जन के साधना) को छोड़कर पाठशाला नहीं आ सकते हैं तो पाठशाला को ही सामाजिक कार्यक्रमों में लाना होगा।

अब यह है कि गाँव की सामाजिक ऐक्टिविटी ही शिक्षा का माध्यम होगी। इसलिए गाँव के सारे कार्य को सूत्र में नियोजित करना होगा। आज के अव्यवस्थित और मनमाने कार्यक्रम से शिक्षण नहीं निकल सकता। इसीलिए विनोबा जी ग्रामदान की मांग पेश कर रहे हैं क्योंकि खेती गाँव का मुख्य धन्धा है और गांव की भूमि का ग्रामीकरण किये बिना गाँव के कार्यों में कोई व्यवस्था और योजना नहीं आ सकती। यदि ऐसा करने में शिक्षा असमर्थ रही—क्योंकि प्रजातंत्र को सही ढंग से पनपाने का काम शिक्षा का है—तो लोकशाही डेमोक्रेसी नहीं दानवशाही डेमन क्रेसी ही बनेगी।

जरा सोचिए कि सुसंस्कृत और असंस्कृत मानव में फर्क क्या होता है? असंस्कृत मानव में जो विचार आते हैं उन्हें वह तत्काल मूर्तरूप देता है और संस्कृत मानव अपने क्षणिक विकारों का नियंत्रण शिक्षा-संस्कारों-द्वारा करता है। जन जन को सुसंस्कृत बनाना विज्ञान ने अनिवार्य कर दिया है और यह काम विस्तृत शिक्षा ही कर सकती है।

इसलिए विज्ञान और प्रजातंत्र का सीधा चलेंज शिक्षा पर है कि वह पूरे समाज की धारणा शक्ति का आधार बन सकती है या नहीं। अन्यथा सोचने की चीज यह है कि डेमोक्रेसी गुण्डाराज्य न बन जाय और विज्ञान हमें पूर्ण विनाश की ओर न ले जाय। इन दोनों हालतों में निःशस्त्रीकरण हो या पूरे समाज को ही शिक्षा का क्षेत्र और सामाजिक कार्यों को ही शिक्षा का माध्यम बनाना होगा। इसलिए आज के जमाने की सामाजिक गतिशक्ति (सोशल डायनामिक्स) राजनीति नहीं शिक्षा होगी अतएव समाज की धारणा शक्ति भी शिक्षा होगी और समाज परिवर्तन का साधन भी शिक्षा ही होगी।

प्रश्न—इस प्रकार की शिक्षा का प्रारम्भिक अमली रूप देने का क्या कहीं प्रयत्न हुआ है?

उत्तर—हाँ इलाहाबाद जिले के बरनपुर गाँव में हमने एक लघु प्रयोग किया है। हमारे कुछ साथी वहाँ बैठे हैं। ग्रामभारती की पूर्व तैयारी के रूप में लोगों में हम उनकी उन्नति की इच्छा जगा रहे हैं। हमारा प्रयास है कि गाँववाले स्वयं यह समझें कि उनके विकास की जिम्मेदारी उन पर है।

हम अभी श्रेणीवद्ध शिक्षण-योजना नहीं चला सकते। अभी तो एक शैक्षणिक आधार बनाने की कोशिश चल रही है। हमने एक गाँव को 'शिक्षा-क्षेत्र' २० गाँव को 'सेवा-क्षेत्र' और एक ब्लाक को 'सम्पर्क-क्षेत्र' माना है।

ग्रामभारती के लिए सबसे पहला काम तो गुरु ढूँढने का है। बड़े-बड़े शिक्षाशास्त्रियों को इस काम में लाना होगा, तब यह काम चल सकेगा। गाँववालों को ऐसा शिक्षक ढूँढना होगा, जो खेती तथा दूसरे धन्धों में भी प्रवीण हो और साथ ही ज्ञान भी दे सके। गुरु 'गुरु' ही होगा वह 'लघु' नहीं होगा। गाँव के लोग शिक्षक परिवार बसाने के लिए जमीन दें और आवर्तक व्यय क्षेत्र के लोग दें तथा शिक्षक अपने श्रम और जनता के प्रेम से गुजारा करे।

शिक्षक का जीवन-मान सारे त्याग के बावजूद आज के ग्रामीण मध्यम वर्ग से निम्न नहीं हो सकता। उसकी योग्यता ग्रेजुएट से कम नहीं होनी चाहिए। शिशु विहार से लेकर उच्चतम शिक्षा के लिए कम-से-कम चालीस शिक्षकों की आवश्यकता होगी। इसमें हमने माना है कि २५ प्रतिशत बाहरी तथा शेष स्थानीय शिक्षक हों; अर्थात् आठ शिक्षक बाहरी हों। मध्यम वर्ग के परिवार के इस क्षेत्र में दस बीघा जमीन चाहिए, ऐसा गाँव के लोगों ने तय किया है। हमने कहा कि हमारा शिक्षक परिवार ७॥ बीघे जमीन लेकर वही जीवनमान बनाये, जो औसतन ग्रामीण परिवार दस बीघा जमीन से रख सकता है; इसलिए आठ परिवारों के लिए हमने ६० बीघे जमीन ली।

तत्पश्चात् वर्ग निराकरण के लिए— प्रेम का नाटक करने के लिए—हमने प्रेम-क्षेत्र की स्थापना की और उसके लिए जमीन गाँववालों ने दी। इसके अतिरिक्त गाँव के लोगों की शेष जमीन में से ४० बीघे जमीन ऐसी निकाली गयी, जिनमें खेत तो अलग-अलग रहें; पर योजना सामूहिक हो, ताकि सहकार की ट्रेनिंग हो सके। गाँव के सभी लोगों ने आधा घण्टा प्रतिदिन या सप्ताह में ४ घण्टा सामूहिक कार्य करने का सकल्प किया। वह चलता है, कभी थोड़ी गति के साथ और कभी कुछ धीमा।

प्रश्न—क्या आप इस प्रकार सहकारी खेती की योजना कर रहे हैं?

आज सहकारिता (को-आपरेटिव) नहीं, सहलाभ (को प्राफिटियरिंग) चल रहा है। हमने जो खेत प्रेम-क्षेत्र में लिया है उसमें पैदावार से दस प्रतिशत पूँजी निर्माण के लिए सुरक्षित रखा जाता है। साठ प्रतिशत मजदूरों की टोली को उनके श्रम की हाजिरी पर बाँटा जाता है। यही सहकार है। तीस प्रतिशत जमीन मालिकों को उनके खेत के क्षेत्रफल के अनुसार बँटती है। यह हुआ सहलाभ। इस प्रकार को-आपरेशन की प्राइमरी शिक्षा हो रही है।

साथ ही हमने एक दूसरा काम किया है। गाँव में बटाई का रिवाज चलता है, जिसमें बीज और खाद सारा श्रमिक का और पैदावार में आधा मालिक का और आधा श्रमिक का होता है।

हमने यह किया है कि बीज बटाईदार का और खाद मालिक की, क्योंकि दरअसल श्रमिक खाद डालता ही नहीं और बीज तो उसे डालना ही होगा।

प्रश्न आप इन सारे कामों में खेती के साधन कौन से अपनायेंगे?

उत्तर—हमें केवल पैदावार ही नहीं बढ़ानी है। पैदावार ऐसे साधनों से बढ़ानी है, जो लोगों की समझ और पहुँच के अन्दर हों। यदि हमारे साधन लोगों की पहुँच के अन्दर नहीं होंगे तो उन्हें उन औजारों को अपनाने की प्रेरणा नहीं होगी और वे औजार उनकी वर्किंग और बनावट लोगों की समझ में नहीं आयेगी तो उनका तकनीकी ज्ञान नहीं बढ़ेगा और वे ऐसे औजारों का उपयोग करेंगे तो 'टेक्नीशियन' के मुहताज बनेंगे।

हमारा हमेशा 'मार्जिनल अप्रोच' होगा। हम, जहाँ जनता है वहाँ से एक कदम ही आगे रहेंगे, ताकि वह आसानी से हमारे कदमों पर चल सके। जैसे-जैसे जनता का ज्ञान और आर्थिक क्षमता बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे हम अच्छे-से-अच्छे और बड़े-से-बड़े साधनों का उपयोग करेंगे। ●

क्रान्ति और शिक्षा—५

•

जे० कृष्णमूर्ति

शिक्षा के क्षेत्र मे आमूल क्रान्ति और परिवर्तन की नितान्त आवश्यकता है। इस सत्य को अगर हम समझ जाय और समीचीन विचारध्यान और शिक्षण के विषय म जो विश्लेषण हमने किया है उसका आशय स्पष्टता से ग्रहण कर सकें तो हमसब स्वत एकसाथ मिलकर काय करेंगे और मतभेद का सवाल नहीं पैदा हुगा।

जब कोई किसी बात पर अड जाता है और उससे जरा भी इधर-उधर हटने से इनकार कर देता है तो अनमेल की परेशानी खडी हो जाती है। किसी प्रमेय या परिकल्पना का आग्रह लेकर उसके बारे में अपनी राय कायम करके जब कोई डट जाता है तो फिर मतभेद या व्यथ का झगडा खडा हो जाता है और इसी से विरोध उभरता है। ऐसी हालत मे समझाना बुझाना और विचार म परिवतन की कोशिशें करना जरूरी हो जाता है।

लेकिन यदि वास्तविकता का सही भान रहा तो ऐसी नाजुक हालत कभी पैदा ही नहीं होती। स्थिति की वास्तविकता का जब ज्ञान नहीं होता ऐसी हालत म ही सहसा मत-मतान्तर के झगडे उठ खडे होते हैं।

यह नितात आवश्यक है कि हमलोग एकसाथ मिलकर काय करें। क्योंकि हम सबको साथ-साथ काम करके एक नयी रचना करनी है। अगर हमम से एक बनाता जाय और दूसरा उसे गिराता जाय तो यह घर कभी उठेगा ही नहीं। इसलिए हमम से प्रत्येक को स्पष्टता स अनुभव करना है कि हम ऐसी शिक्षा चाहिए जिससे एक नयी पीढी तयार हो। इस पीढ़ी मे जीवन की विभिन्न समस्याओं का समाधान टुकडे-टुकडे मे न ढूँढकर उन्हें समग्र रूप मे सुलझाने की क्षमता होगी।

इस तरह सहयोग-पूवक काम करने के लिए यह भी जरूरी है कि हमलोग बार-बार एक दूसरे स मिलते रहें और यह सावधानी बरतें कि कहीं हम तफसील म तो नहीं डूबते जा रहे है। जिन लोगो के जीवन म इस प्रकार के शिक्षा दशन की जिज्ञासा दृढ़ बन गयी है उनकी खास तौर पर यह जिम्मेदारी है कि वे न केवल अपने जीवन क्रम मे इस प्रतीति का आविष्कार करते रहें, बल्कि साथ ही यह भी ख्याल रखें कि औरों को भी इस यथाथ दृष्टि का लाभ मिले

अध्यापन का व्यवसाय अगर उसे व्यवसाय कहना ही हो तो सम्यक आजीविका का श्रेष्ठतम उपाय है। शिक्षण एक कला है जो किसी असाधारण बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखती। उसमे जरूरत है असीम सहनशक्ति और प्रेम की। सही शिक्षण प्राप्त करने का अर्थ यह होना है कि हम सभी चीजो के प्रति चाहे वह धन हो सम्पत्ति हो समाज हो या प्रकृति हो अपने ठीक सम्बध कायम कर सकें। सबके साथ ठीक सम्बन्ध कायम करने म हमारी सौन्दय भावना का विशेष महत्त्व होता है।

हमें लोगो का सौन्दय भान प्राय स्थूल रूप या रचना से होता है—जैसे मानव की सुन्दर देहाकृति या किसी

मन्दिर की उदात्त सुन्दर रचना। आम तौर पर हम कहते हैं कि यह वृक्ष नदी या मकान सुन्दर है और उनसे तुलना करके समझते हैं कि यह दूसरी चीज बेडौल है।

लेकिन, क्या सौन्दर्य की प्रतीति तुलना के विचार का फल है? सौन्दर्य की अनुभूति क्या आकार में बाँधी जानेवाली संज्ञा है? जब हम कहते हैं कि अमुक चित्र, कविता या चेहरा सुन्दर है तो पूर्व परिचय से या शिक्षण-संस्कार से, जो हमारा पूर्वाग्रह हुआ हो उसके अनुसार हम सोचते रहते हैं; लेकिन तुलना की दृष्टि से क्या सौन्दर्य की साक्षात् अनुभूति लुप्त नहीं हो जाती? क्या रमणीयता ज्ञान-अनुभूति या पुन: प्रत्यय है? या यह चित्त की ऐसी अवस्था है, जिसकी अनुभूति एक अनिर्वचनीय भावावेग है।

हम हमेशा सौन्दर्य का सन्धान करते रहते हैं और कुरूपता से बचकर अलग रहना चाहते हैं। एक को सदैव टालने की और दूसरे के उपभोग से तुष्टि पाने की इस आदत से भाव-जड़ता बढ़ती है। अत: सौन्दर्य का अनिर्वचनीय भावस्पर्श पाने के लिए कुरूपता और सुन्दरता इन दोनों का सूक्ष्म भाव-दर्शन पाना जरूरी है। भावोद्रेक का संस्पर्श न सुन्दर होता है और न कुरूप। जब हमारे सामाजिक संस्कारों-द्वारा हमको उसका भान होता है तब हम उसे संज्ञा देते हैं कि यह शुद्ध भाव है, और यह अशुद्ध है।

इस बौद्धिक प्रपंच के झमेले में भावना का मूल तरल स्रोत लुप्त या विकृत हो जाता है; परन्तु वह भाव-संवेग तीव्रप्रवाही रहेगा, जिसे संज्ञा से सीमित नहीं किया गया हो, जिस पर अच्छे-बुरे की मुहर न लग गयी हो। यह भाव-प्रत्यय की उत्कटता उस ज्ञान-साधना के लिए परम आवश्यक है, जो न खूबसूरत है और न बदसूरत। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि मनोभाव का उद्रेक सतत् बना रहे। इसी संवेग-द्वारा सौन्दर्य का भाव चित्त में प्रथम अंकुरित होता है। इस तीव्रप्रवाही वृत्ति में तरतम का ख्याल ही नहीं रहता; इसलिए इसका प्रतिवाद भी नहीं हुआ करता।

मानव का सम्पूर्ण विकास ही हमारा ध्येय है; इसलिए न हमको केवल मन की ज्ञान-प्रवृत्तियों का पूर्ण ख्याल रखना है, बल्कि अन्तर-मानस की चेतना-प्रेरणाओं का भी। ज्ञात मन की शिक्षा की एकांगी प्रगति पर जोर देकर और अन्तर-मानस की उपेक्षा करने से मानव-जीवन में अन्तर्विरोध, द्वन्द्व-भावना और इसके फलस्वरूप वैकल्य और मनोव्यथा बढ़ जाती है। बाह्य मन की ऊपरी ज्ञान-प्रक्रियाओं से गुप्त मानस की प्रेरणा-प्रवृत्तियाँ कहीं अधिक जानदार और जोशीली हुआ करती हैं।

आम तौर पर अध्यापक वृन्द ऊपरी मन को शिक्षा-संस्कार देने में व्यस्त रहते हैं। वे तरह-तरह की जानकारी ज्ञानोपार्जन के नाम पर रटवाकर, याद कराकर वर्तमान समाज में अपने छात्रों का स्थान बनाने और अच्छा रोजगार पाने की क्षमता उन्हें प्राप्त करा देने के काम में मग्न रहते हैं, जैसे यही अध्यापन का अन्तिम लक्ष्य हो।

लेकिन, इस तरह उनकी शिक्षा या संस्कार छात्र के अन्तर-मानस को छू तक नहीं पाता। उनकी सारी मेहनत और सारा करतब इसी हद तक सीमित रह जाता है कि मन के ऊपर किसी खास विषय की तात्त्विक जानकारी का मुलम्मा या पानी चढ़ा दिया जाय, और परिस्थिति और समय के मुताबिक रहने की चतुराई ला दी जाय।

लेकिन, चूँकि व्यक्ति की सर्वांगीण प्रगति पर हमारा बराबर ध्यान है; इसलिए हमको अन्तर-मानस का भेद जान लेना चाहिए। ऊपरी ज्ञात मन को कितना ही समझाइए-पढ़ाइए, समयानुसार मुलम्मा चढ़ाने की कितनी भी कूवत उसमें क्यों न लाइए; फिर भी गूढ़ मानस की प्रवृत्तियाँ उनसे कहीं अधिक ताकतवर और प्रभावशाली होती हैं। यह अन्तर-मानस कोई गहन रहस्यमय पहेली नहीं है। आखिरकार वह वांशिक स्मृतियों का जखीरा है, धर्म-सम्प्रदाय, अन्ध निष्ठा, गूढ़ विश्वास, प्रतीत चिह्न, किसी वंश या कुल विशेष की परम्परा उसके साहित्य के सन्केत-सन्दर्भ—चाहे पारमार्थिक या लौकिक—जनपद के लोकाचार, किसी संघ या कुल विशेष का सामूहिक प्रभाव, उस संघ विशेष के आदर्श, उसके कुलाचार, उसकी आकांक्षाएँ और निराशाएँ, उसका चालचलन और रीति-नीति की मान्यताएँ, उसके खान-पान आदि की आदतें, वासना-प्रेरणा, आशा-चिन्ता, अव्यक्त व्याकुलता, सुख-सम्वेदना, मानव के प्रश्रय के लिए जो तीव्र लिप्सा

है जिससे श्रद्धा का एवं अदम्य-पोषण होता रहता है, ऐसे दृढ़मूल निष्ठाएँ—और उनके औपाधिक पर्याय भेद।

अज्ञात मानस को इन तमाम विशाल स्मृति-संस्कारों की असाधारण आधार-शक्ति का सहारा मिलता है। इतना ही नहीं, बल्कि यह निकट या सुदूर भविष्य पर अपना गहरा असर भी डालता है। अज्ञात मानस की ये तमाम वृत्तियाँ स्वप्नों के जरिये, या जब कभी बाह्य-मन दैनन्दिन घटनाओं में फँसा न हो, ऐसे समय पाये जाने वाले संकेतों से प्रकट होती रहती हैं। ये निगूढ़ मानस-प्रवृत्तियाँ न तो श्रद्धा का और न किसी भय का ही विषय हैं। ज्ञात मन से उनका परिचय कराने के लिए किन्हीं विशेषज्ञों को खास जरूरत नहीं होती। लेकिन अन्तर-मानस इतना बलवान होता है कि ज्ञातमन उसको अपनी मरजी के मुताबिक जैसा चाहे वैसा चला या झुका नहीं सकता। निगूढ़ मानस के विषय में बाह्य-मन प्रायः बेबस रहता है। इन अज्ञात मन प्रवृत्तियों पर अपनी धाक जमाने की ज्ञातमन चाहे जितनी कोशिशें करे, तत्कालीन समाज की उपेक्षाओं और संस्थाओं की वजह से उस अन्तर-मानस पर अपनी हुकूमत चलाने की उसको अपनी पसन्द के ढाँचे में ढालने की, उसका नियमन करने की तमाम कोशिशें गुप्त निगूढ़ मानस की केवल ऊपरी सतह को खुरचकर रह जाती हैं, और इस तरह बाह्य और आभ्यन्तर मन प्रवृत्तियों के दरमियान विसंगति और द्वन्द्व बना रहता है। फिर इस दरार को भरने के लिए हम यम नियम और अनुशासन के पुल बनाते हैं, अनवानक व्रत और अनुष्ठान से इस विसंगति को मिटाने का अभ्यास प्रयास करते हैं, लेकिन यह सब सब नहीं पाता। कारण यह कि ज्ञात मन तात्कालिक समस्याओं और सवालों से व्यस्त रहता है और निकट वर्तमान का ही उसे विशेष भान रहता है।

अन्तर-मानस सदियों की परम्परा से मँजा हुआ है। किसी सामयिक माँग की वजह से सदियों के संस्कारों का प्रभाव हट नहीं सकता। गूढ़ मानस पर काल प्रवाह की, काल प्रवाह के अथाह गुण की जो छाप रहती है वह मिट नहीं सकती। बाह्यमन अपनी अयतन रीति-नीति और सभ्यता के प्रवाह में व्यस्त रहता है। अपनी तत्कालीन सामयिक प्रतिक्रियाओं के मुताबिक गूढ़ मन को वह मोड़ नहीं सकता। (अपूर्ण)

दिल्ली में नयीतालीम-परिसंवाद

१५, १६, १७ अप्रैल '६९ को दिल्ली में सर्व-सेवा-संघ की तरफ से नयी तालीम का एक परिसंवाद हुआ। इसकी अध्यक्षता श्री ढेबर भाई ने की।

परिसंवाद के प्रारम्भ में सर्व-सेवा-संघ के अध्यक्ष श्री मनमोहन चौधरी ने कहा कि जो सवाल आज देश के सामने हैं उनका समाधान करने की शक्ति नयी तालीम में है।

पहले दिन की चर्चा में सर्व श्री धीरेन्द्र भाई, आर्यनायकम्‌जी अरुणाचलम् जी, डा० वी० के०-आर० वी० राव, आचार्य बद्रीनाथ वर्मा, मनुभाई पचोली राममूर्ति, राधाकृष्णन् और श्री करण भाई ने भाग लिया।

दूसरे दिन की गोष्ठी की अध्यक्षता श्री अरुणाचलम्‌जी ने की। उस दिन काका कालेलकर, अण्णा साहब सहस्रबुद्धे श्रीमती आशादेवी और डा० वी० के० आर० वी० राव ने अपने विचार रखे। तीसरे दिन आचार्य बद्रीनाथ वर्मा सभापति थे। और मुख्य वक्ता थे श्री धीरेन्द्र भाई, मनमोहन चौधरी, राधाकृष्णन्, करणभाई और डा० सय्यद-अमारी।

इस परिसंवाद की चर्चाओं के परिणाम स्वरूप एक रिपोर्ट तैयार की जा रही है, जो शिक्षा-आयोग के पास भेजी जायगी।

देश की परिस्थिति

और

शिक्षा-नीति

○

रुद्रमान

आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ देश होने के कारण हमारे देश की अधिक आबादी गरीब है। गरीब घरों के बच्चे बचपन से ही किसी-न किसी प्रकार के आर्थिक उपार्जन में लग जाने को विवश होते हैं। अत शिक्षा के नाम पर उन्हें साक्षरता भी नही मयस्सर हो पाती।

इसके बाद नम्बर आता है मध्यम वर्ग के मजदूरो, किसानो और रोजगारियों का। इस वर्ग के बच्चे किसी प्रकार माध्यमिक या उच्च माध्यमिक शिक्षा के दायरे तक जा पाते हैं। वहाँ से बाहर आते ही वे पैत्रिक धन्धे, मामूली नौकरियो या रोजगार म लग जाते हैं।

मध्यम वर्ग के ऐसे लोगो के बच्चे, जिनकी आमदनी का जरिया आज पाँच सौ से एक हजार रुपये माहवार के आसपास है, विश्वविद्यालय की शिक्षा का भरपूर लाभ ले पाते हैं।

समाज के जिन थोड़े से लोगो की मासिक आय हजार से ऊपर है वे अपनी सन्तान को भारत मे उच्च शिक्षा दिलाने की अपेक्षा विदेशी विश्वविद्यालयों में भेजना अधिक पसन्द करते हैं। इसी प्रकार अपने देश के जो प्रतिभावान छात्र हैं वे देश की अपेक्षा विदेशो मे रहना और वहाँ की सेवा स्वीकार करके वहाँ का नागरिक बन जाना या जब तक सम्भव हो वही रहना अधिक श्रेयस्कर मानते हैं।

इस समस्या के उत्तर मे यह तर्क पेश किया जाता है कि चूंकि विदेशो म प्रतिभावान छात्रों को यहाँ की तुलना मे वहाँ अधिक आर्थिक सुविधाएँ मिलती हैं; इसलिए वे ऐसा करते हैं।

वस्तुत यह समीचीन उत्तर नही है। विदेशो म आर्थिक सुविधा से कही अधिक आकर्षक तत्त्व है वहाँ का नागरिक जीवन और निर्माण का वातावरण। हमारे देश के नागरिक जीवन म राष्ट्रीय पुरुषार्थ और राष्ट्रीय निर्माण के कार्यक्रमो का सर्वथा अभाव है और इस कारण देश का भारी अहित हो रहा है।

संयोजन की भूल

संयोजन के क्षेत्र म आज दोतरफा भूल चल रही है। एक ओर विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था के नाम पर कई मुद्दो पर पानी की तरह रुपया बहाया जा रहा है। वहीं दूसरी ओर आर्थिक कमी की आड म अभी तक प्राथमिक (प्राइमरी) शिक्षा भी सामान्य जनता के बच्चो के लिए उपलब्ध नही की जा सकी।

एक ओर शिक्षा की बुनियाद की यह दशा है और दूसरी ओर राष्ट्रीय प्रतिभा के संरक्षण, पोषण और सदुपयोग के नाम पर विश्वविद्यालयीन शिक्षा का लगातार विस्तार किया जा रहा है। माध्यमिक शिक्षा की स्थिति त्रिशंकु-जैसी बनी हुई है। न वह राष्ट्रीय शिक्षा की दृष्टि से संगठित हो पायी है, न उच्च शिक्षा की दृष्टि से ही।

कुल मिलाकर इन शैक्षिक नीतियों का ही यह परिणाम है कि जो लोग अपने बच्चों की शिक्षा पर जितना खर्च कर सकते हैं उनके बच्चे उतनी सीमा तक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर पाते हैं। चालू शिक्षण पद्धति का राष्ट्र की जरूरतों से कोई मेल नहीं बैठ पाया है, इसलिए शिक्षा के विस्तार के साथ साथ शिक्षित बेकारों की भी तादाद बढ़ती जा रही है और शिक्षा पर किया गया व्यय एक आर्थिक दुरुपयोग बन गया है।

उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा जब तक छात्र की बौद्धिक प्रतिभा के बदले छात्र के अभिभावक की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करेगी तब तक वह राष्ट्र निर्माण की शक्ति नहीं बन सकती।

चालू शिक्षण-नीति लोकतांत्रिक समाज-व्यवस्था के लिए विद्रूप है। इसी कारण से देश का उत्पादन प्रति व्यक्ति बहुत कम है और तीन-तीन पंचवर्षीय योजनाओं के पूरी होने के बाद प्रायः उन्हीं क्षेत्रों में आशातीत सफलता मिली है जो कल-कारखानों से सम्बन्धित हैं। कृषि तथा अन्य उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन आवश्यकतानुसार बढ़ने के बजाय बहुत मन्द गति से बढ़ रहा है और कभी-कभी घटता भी है।

तीन योजनाएँ पूरी कर लेने के बाद हमारे देश के संयोजन कर्ताओं को यह प्रतीति होने लगी है कि देश के आर्थिक विकास और शिक्षण में अनुबन्ध स्थापित हुए बिना आर्थिक विकास नहीं हो सकेगा। एक ओर उत्पादन बढ़ेगा तो दूसरी ओर विषमता और भ्रष्टाचार बढ़ेगा।

आर्थिक विकास और शिक्षण—सामाजिक विकास के ये दो गति-चक्र हैं। ये दोनों एक दूसरे के पूरक बन सभी समाज का स्वस्थ और सन्तुलित विकास होता है।

आज के युग को संयोजन का युग माना गया है—केवल आर्थिक संयोजन का नहीं, समग्र समाज और जीवन के संयोजन का, जिसे समाजशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने लोकतांत्रिक समाजवाद की संज्ञा दी है।

लोकतांत्रिक समाजवाद के शिक्षा-नीति

लोकतांत्रिक समाजवाद के उद्देश्य को सामने रखकर देश में जो शिक्षा-नीति अपनायी जाय उसके निम्न लिखित मुद्दे होने चाहिए—

१. प्राथमिक और बुनियादी शिक्षा सार्वत्रिक हो, मुफ्त, इसके लिए प्राथमिकता दी जाय ताकि देश के जो करोड़ों लोग अपने श्रम से उत्पादन का काम कर रहे हैं उनकी सन्तान को प्राथमिक शिक्षा का लाभ मिल सके। अधिकांश श्रमजीवियों के बच्चे प्राथमिक स्तर के बाद ही स्कूल की शिक्षा से अलग हो जाते हैं। बचपन में उन्हें जो शिक्षा मिलती है वही उनके भावी जीवन की पूँजी होती है। अतः प्राथमिक शिक्षा क्षेत्रीय उत्पादन से जुड़ी हुई होनी चाहिए।

२. माध्यमिक शिक्षा का गठन इस दृष्टि से किया जाय कि उससे निकलने के बाद छात्र किसी न किसी प्रकार के उत्पादन के काम या व्यवसाय में लग सके। माध्यमिक स्तर की शिक्षण-व्यवस्था ऐसी रखनी होगी कि छात्र को अपने शिक्षण-काल में ही यह आत्म विश्वास हो सके कि वह सीखे हुए धंधे या उद्यमद्वारा अपना जीविकोपार्जन कर सकेगा। इसके लिए परीक्षा और मूल्यांकन की पद्धति को नये ढंग से स्थिर करना होगा ताकि वह छात्र की योग्यता और कुशलता को प्रतिशत अंकों में प्रकट करने के बदले उसे आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने का प्रमाणपत्र दे सके।

३. उच्चतर शिक्षा की सुविधा केवल उन छात्रों के लिए सुरक्षित रहे जो शोध तथा प्रायोगिक कार्यों के लिए प्रतिभा रखते हों। उनकी ऊंची शिक्षा का कुल दायित्व राष्ट्र को वहन करना होगा ताकि आर्थिक कारणों से कोई प्रतिभाशाली छात्र उच्च शिक्षा की सुविधा से वंचित न रहे।

४. योग्य शिक्षकों की उपलब्धि किसी भी शैक्षिक योजना की मूल समस्या होती है क्योंकि एकाएक कुशल शिक्षकों की संख्या बढ़ायी नहीं जा सकती। अच्छा मान-मान देने पर भी अच्छे शिक्षक आवश्यकतानुसार नहीं मिल पाते। आज योग्यता और डिग्री पर्यायवाची बन गये हैं इसलिए ऊंचा वेतन जहाँ हो वहाँ डिग्रीधारी योग्यता की कमी नहीं, लेकिन इससे शिक्षा-योजना का हेतु पूरा नहीं होता।

५ शिक्षा और नव समाज रचना या एक दूसरे से अनुरूप हैं। बात इतनी ही नहीं है, बल्कि ये वस्तुतः एक ही सामाजिक तत्व के दो छोर हैं।

गांधीजी ने शिक्षा और नव समाज रचना के इस पारस्परिक अनुबन्ध का बहुत स्पष्टता से दर्शन किया था। इसलिए नयी तालीम को उन्होंने अपनी सबसे महत्वपूर्ण देन कहा था और इसे अहिंसक नव-समाज रचना (सामाजिक क्रान्ति) की प्रवेशी माना था।

जिस दिन भारत के समाजवादी नेतृत्व ने साध्य और साधन की एकरूपता के महत्व को स्वीकार किया वस्तुतः उसी दिन गांधी की अहिंसक समाज-व्यवस्था और लोकतान्त्रिक समाजवाद के बीच की दीवार टूट गयी—वे एक ही वस्तु के दो पर्यायवाची बन गये।

समाज रचना में संशोधन आवश्यक

समाज में योग्य अध्यापकों की कमी न रहे इसके लिए हम अपनी समाज रचना में ही संशोधन करना होगा। आज समाज के अनेक योग्य शिक्षक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विविध प्रकार के कार्य में लगे हुए हैं। समाज में शिक्षकों की समुचित प्रतिष्ठा और माँग नहीं है इसलिए वे प्रशासन, उद्योग, व्यवसाय तथा अन्यान्य ऐसे क्षेत्रों में पड़े हुए हैं, जहाँ उन्हें आज के शिक्षकों की तुलना में अधिक मान-मर्यादा और सुविधा प्राप्त है।

समाज के होनहार और शिक्षण-वृत्ति के लोग शिक्षण में ही अपना जीवन लगायें इसके लिए देश के नेतावर्ग को पहल करनी होगी। हमारे देश की सर्वोत्तम प्रतिभा आज व्यावसायिक संस्थान, प्रशासन और राजनीतिक क्षेत्र में संलग्न है। समाज के प्रतिभावान छात्रों का इस भाग जाने का प्रवाह क्षेत्रों की ओर है। इस प्रवाह को मोड़ने के लिए दूरगामी प्रयत्न करना होगा।

आज शिक्षक के राष्ट्रपति बनने में जितना सम्मान है क्या उतना ही सम्मान राष्ट्रपति के शिक्षक बन जाने पर भी होगा? यदि नहीं हो सकता तो यह भी तय है कि इस समाज रचना में शिक्षक की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ सकती और भावी पीढ़ी को कुशल शिक्षकों के अभाव में ही चलना होगा। ●

फ्रांस की एक ज्योति लांजादेलवास्तो

●

सतीशकुमार

श्री जयप्रकाश बाबू ने १९५८ की अपनी विदेश यात्रा से लौटकर जो भाषण दिया था उसमें उन्होंने फ्रांस की एक जागती ज्योति के रूप में लांजादेलवास्तो का वर्णन किया था। तभी से लांजा के प्रति मेरे मन में एक विशेष आकर्षण था। मैंने पहली बार उन्हें देखा नियोन के शान्ति-सम्मेलन में। जितने प्रमुख शान्तिवादी कार्यकर्ता नेता और विचारक आये थे पर उन सबमें लांजा (फ्रांस के लोग उन्हें प्यार से लांजा पुकारते हैं) का व्यक्तित्व असाधारण था।

लांजा देलवास्तो!

गांधी ने जिन्हें शांतिदास कहकर पुकारा!
कवि, लेखक, गायक-चित्रकार
फ्रांस के शांति आंदोलन के मुख्य सूत्रधार!
जीवन जिनके लिए मुक्ति-यात्रा है और
मुक्ति जिनके लिए जीवन की प्रेरणा है।

ऊंचा ललाट। दूध-सी दाढ़ी के बीच लम्बा और धवल चेहरा। अंदर धंसी हुई पर बड़ी-बड़ी अत्यंत चमकीली आँखें। वजनदार और बहुत स्पष्ट आवाज। वेषभूषा में बहुत सादगी। कंधे पर लटकता हुआ एक थैला। पैबन्द लगा नीला पायजामा और उस पर नीला कोट। यही हैं लांजा देलवास्तो, बापू के साथ करीब डेढ़ मास रहने के बाद वे गांधीवादी बन गये और बापू ने उनका नाम रखा शान्तिदास। शांतिदास की वाणी, रहन-सहन, विचार और क्रिया में सर्वत्र गुण सर्वोदय की खुशबू मिली।

यद्यपि लिओन के शांति सम्मेलन में हम तीन दिन लांजा के निकट रहे, परन्तु उनके साथ व्यक्तिगत रूप से बातचीत करने का समय नहीं मिल सका। एक दिन लांजा ने कहा—'फ्रांस में आकर आप हमारे आश्रम न चलें, यह कैसे हो सकता है? सम्मेलन के बाद मेरे साथ ही चलिए और तब जमकर बात होगी।'

हमारे लिए यह निमंत्रण एक सौभाग्य था। आखिर प्रस्थान का समय हुआ और ८ सितम्बर को शाम को सम्मेलन समाप्त होते ही लिओन से आश्रम बोल्लेन तक की डेढ़ सौ मील की यात्रा हमने कार से प्रारम्भ की। लगभग तीन घण्टे का यह अत्यन्त शांत समय हमारी बातचीत के लिए बहुत अनुकूल था। पूरा रास्ता रोन नदी के किनारे-किनारे जा रहा था। ५० मील प्रति घण्टे की चाल से कार दौड़ रही थी। काली रात के घूंघट से आधा चन्द्रमा मुझे झाँकता हुआ यों आगे-आगे चल रहा था मानो वह हमारा पायलेट हो। ऊँचे-ऊँचे पेड़ों को छूकर आनेवाली हवा के झोंके एक नयी ताजगी दे रहे थे और हम लांजा को १५ महीने की पदयात्रा का वृत्तान्त सुना रहे थे।

लांजा देलवास्तो ने एक-एक देश के बारे में अलग-अलग कहानी सुनी। बीच-बीच में वे अनेक सवाल पूछ रहे थे। अफगानिस्तान के पहाड़ी, ईरान के रेगिस्तानी और रूस के बर्फानी रास्तों में कोई कष्ट तो नहीं हुआ? —यह सवाल उन्होंने ऐसे पितृ-वात्सल्य से पूछा, मानो वे हम पर प्यार का घड़ा उंडेल देना चाहते हों। फिर सोवियत संघ और वहाँ की कम्युनिस्ट-समाज-व्यवस्था के बारे में उन्होंने बहुत विस्तार से जानकारी पूछी। इस तरह यात्रा की कहानी के बीच भारत की समस्याओं पर भी चर्चा होने लगी।

आंदोलन में तीव्रता कैसे आये?

आप जानते हैं लांजा, कि विनोबा ने १९५७ में समग्र भूमि क्रांति के लक्ष्य तक पहुँच जाने की घोषणा की थी, पर हम उस लक्ष्य तक पहुँचे नहीं, इसलिए आन्दोलन में एक तरह का गत्यवरोध आ गया है। —हमारे इस कथन पर लांजा दो मिनट के लिए चुप हो गये, फिर बोले, कभी-कभी ऐसा लगता है कि सामने की पहाड़ी बहुत निकट है, लेकिन टेढ़े-मेढ़े रास्तों को पार करके पहाड़ी तक पहुँचने में अपेक्षा से ज्यादा समय लग जाता है, इसलिए शिथिलता या गत्यवरोध का कोई कारण नहीं होना चाहिए। सदियों से रूढ़ व्यक्तिगत स्वामित्व

के संस्कारों को जड़मूल से समाप्त करने में समय तो लगेगा ही। इस थोड़े से समय में विनोबा ने और आपलोगों ने जो सफलता पायी है, वह किसी तरह कम नहीं है।"

"आन्दोलन में तीव्रता और गति लाने के लिए हमें क्या करना चाहिए?"—मैंने पूछा।

"मैं यहाँ बैठकर आपलोगों को सलाह देने में समर्थ नहीं हूँ। विनोबा जैसा नेता आपके बीच है; पर मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि बापू ने सत्याग्रह का, जो मंत्र दिया, वह मंत्र निश्चय ही नये प्राणों का संचार करनेवाला हो सकता है।"

"लेकिन जनतांत्रिक शासन में सत्याग्रह का पुराना तरीका कैसे चलेगा?"—मैंने तर्क किया।

"जनतांत्रिक शासन से आपका क्या मतलब है? क्या शासन में भी सही अर्थों में जनतंत्र हो सकता है? आज अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस-जैसे देश जनतंत्र के अगुआ माने जाते हैं; पर क्या हम इन जनतांत्रिक सरकारों के सामने अपनी आवाज न उठायें? इन देशों में शान्ति-आन्दोलन, प्रदर्शन, सविनय कानून-भंग, टैक्स न चुकाना आदि तरीके अपना रहे हैं, वे पूर्णतः उचित हैं और जनतांत्रिक समाज में तो इनकी ज्यादा जरूरत है। हर स्तर पर सत्याग्रह ही अहिंसक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। ब्रिटिश शासन के समय जिस तरह सत्याग्रह का रास्ता अपनाया गया, नेहरू-शासन के समय भी उसी तरह वह उपयोगी होगा। शासन सदा प्रजा को दबाता है। इसलिए प्रजा यदि शासन के दबाव को हटाने के लिए सत्याग्रह का सहारा न ले तो फिर उसके पास अहिंसक उपाय ही क्या है?"

लाजा बात करते-करते मुसकराये और वे बोले—"मैंने इसी वर्ष रोम में ४० दिन का उपवास किया। मैं देखता हूँ कि धर्म के नेता और प्रसारक भी तथाकथित जनतांत्रिक शासकों-द्वारा की जानेवाली युद्ध की तैयारियों के विरुद्ध तथा भयंकर आणविक शस्त्रास्त्रों के खिलाफ आवाज नहीं उठाते। मैं अपने हृदय की तड़प कैसे व्यक्त करूँ, यदि सत्याग्रह का सहारा न लूँ तो?"

भारत के शान्ति-आन्दोलन की जिम्मेदारी

"आपलोग अपनी शासकीय सैनिक तैयारियों के खिलाफ जबरदस्त काम कर रहे हैं। आप जानते हैं कि चीन-संघर्ष की दुर्घटना के बाद हमारे यहाँ भी सैनिक बजट कई गुना बढ़ा लिया गया है। नेहरूजी तटस्थता और शान्ति की नीति के साथ साथ बड़ी मात्रा में अमेरिका-जैसे देशों से सैनिक सहायता ले रहे हैं। इस बारे में आपकी क्या राय है?"—मैंने पूछा।

"क्या हर बात पर कुछ-न-कुछ 'राय' प्रकट करना जरूरी है? कभी-कभी राय न बनाना या प्रकट न करना ज्यादा लाभकर होता है।"—लाजा ने हँसकर कहा।

"शायद मैंने 'राय' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं किया। कृपया यह बताइए कि आपके ख्याल से इस संघर्ष के समय अहिंसा क्या काम कर सकती है?"—मैंने स्पष्ट पूछा।

"अहिंसा तो अपना काम कर ही रही है; पर दुर्भाग्य से वही अकेली अपना काम नहीं कर रही है, हिंसा भी अपना नाच जोरों से दिखा रही है।"

मैंने अपने पहले प्रश्न को और अधिक साफ करते हुए पूछा—"बहुत से शान्तिवादियों का ऐसा मत है कि भारत का शान्ति-आन्दोलन इस संघर्ष के समय असफल हुआ और आज भी भारत को शस्त्र-सन्नद्ध होने से रोकने में वह असफल हो रहा है। क्या आपका भी ऐसा ही मत है?"

"भारतीय शान्ति-आन्दोलन के नेता विनोबा एक परिपूर्ण व्यक्ति हैं। वे वैसे ही हैं, जैसे उन्हें होना चाहिए। यह भी उतना ही सच है कि भारत का शान्ति-आन्दोलन और किसी भी देश से ज्यादा गहरा और सुदृढ़ है। फिर भी हमें भारत के शान्ति-आन्दोलन से जितनी अपेक्षा थी, वह पूरी नहीं हुई। इस आंशिक सफलता का परिणाम हमारे यहाँ के आन्दोलन पर भी हुआ। लोग हमें कहते हैं कि जब गांधी और विनोबा के भारत में भी अहिंसा असफल हो रही है, तो यहाँ वह कैसे चल सकती है? इसलिए भारत के शान्ति-आन्दोलन पर ज्यादा जिम्मेदारी है।"—मैं बड़े ध्यान से देख रहा था कि लाजा आलोचना

करते समय व सावधान थे और वे नम्रता के साथ नपे-तुले शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। उनकी आलोचना में बड़ी शालीनता थी।

आश्रम का वातावरण

यों बातों-ही-बातों में हम उनके आक आश्रम में पहुँच गये। पहाड़ियों की तराई में बसा हुआ यह आक आश्रम लुभावनी हरियाली और पेड़-पौधों से घिरा हुआ है। तारों भरे आकाश के नीचे हम खड़े थे। आश्रम में बिजली के बल्ब नहीं जलते। मोम से जलनेवाले दीपक की टिमटिमाती लौ में आश्रमवासी इधर-उधर आ-जा रहे थे। फ्रांस जैसे देश में बिना बिजली के रहना सचमुच कठोर आदर्शवादिता है। पिछले कई महीनों से हमारी एक भी रात बिना बिजली के नहीं गुजरी होगी पर यहाँ अंधेरा बड़ा शीतल और सुहावना लग रहा था। यदि प्रार्थना के समय ज्यादा प्रकाश चाहिए तो मैदान में घास-फूस जलाकर आग का प्रकाश प्राप्त कर लेते हैं। प्रकृति के निकट जाने की यह प्रक्रिया है। हमारे यहाँ बिजली प्राप्त करने की होड़ है और यहाँ उपनगर बिजली से लोग थककर अंधेरे में प्राकृतिक शान्ति की खोज कर रहे हैं।

दूसरे दिन हमने आश्रम की विभिन्न गतिविधियाँ देखीं। आश्रम की बहन चरखा कातने में और बुनाई में बड़ी निपुण थी। वहाँ का वातावरण शत प्रतिशत भारतीय है। बिना टेबुल-कुरसी के चटाई पर बैठकर भोजन करना सारा काम अपने हाथों करना आदि सब कुछ वैसा ही जैसा हम सर्वोदय-आश्रमों में करते हैं। आश्रमवासियों ने समग्र रूप से सादगी का जीवन अपनाया है और वे अहिंसा की साधना करते हैं। जीवन में पैसे का व्यवहार कम-से-कम करते हैं। स्वाश्रयी अहिंसक समाज रचना की दिशा में यह आश्रम पश्चिमी देशों के लिए एक अलभ्य उदाहरण है।

भले ही इस गरीबी के जीवन को यूरोप के उच्च स्तरीय मानदण्डवाले समाज में असांस्कृतिक और वाहियात कहनेवाले कुछ लोग होंगे पर दुनिया का अधिकांश हिस्सा जिस जीवन में जाता है उसके साथ तादात्म्य जोड़ने के लिए यह एक अनूठा प्रयोग है। इस समय आश्रम में ६० भाई-बहन और बच्चे हैं। सबका सामूहिक भोजनालय है। बड़ी उम्र के भाई-बहन ८ घण्ट शरीर-श्रम करते हैं और बाकी समय में अध्ययन ध्यान प्रार्थना आदि।

इस आश्रम की स्थापना के पीछे गांधीजी के अहिंसक विचार की प्रेरणा काम कर रही है। लांजा देलवास्तो १९३६-३७ में भारत में बापू के पास थे तभी उन्होंने फ्रांस में अहिंसा के क्षेत्र में एक प्रयोग करने का सपना संजोया था। १९४० में वे पेरिस में ही कुछ मित्रों की गोष्ठी बनाकर प्रति सप्ताह कताई-सभाओं का आयोजन करते रहे। फिर उन्होंने १९४८ में ५-७ मित्रों के साथ एक आश्रम शुरू किया। इसी बीच वे फिर १९५४ में भारत आये और विनोबा से मिले। यहाँ से वापस जाने के बाद तुरत बोलेन में यह आश्रम प्रारम्भ किया। इस आक आश्रम के मित्र फ्रांस के अलावा इटली स्विटजरलण्ड बेल्जियम स्पेन दक्षिण अमेरिका देशों में फैले हुए हैं। आश्रम की प्रवृत्ति केवल आश्रम तक ही सीमित नहीं है बल्कि फ्रांस के शान्ति आन्दोलन में आश्रमवासियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आश्रमवासी कई बार सत्याग्रह और प्रदर्शनों के सिलसिले में जेल भी जा चुके हैं।

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

लांजादेलवास्तो का जन्म १९०१ में दक्षिण इटली के एक सम्भ्रान्त राजपरिवार में हुआ। वे कलाकार के रूप में जन्मे और इटली में प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करने के पश्चात फ्रांस आ गये। बचपन से ही कविताओं के प्रति उनकी रुझान थी और बाद में चलकर वे एक प्रख्यात कवि बने। उन्होंने १५-१६ पुस्तकें लिखी हैं जिनमें कुछ बहुत बड़ी-बड़ी हैं। कवि और लेखक के साथ-साथ वे संगीतज्ञ और चित्रकार भी हैं। हमने उनके अनेक चित्र आश्रम में देखे। उनके अनेक महत्त्वपूर्ण चित्र विनोबा भूदान यात्रा और भारतीय किसानों के जीवन से सम्बन्धित हैं।

इस समिति म पाँच सदस्य रह जिनम तीन सदस्य पचायत-क्षेत्र के और दो सदस्य पचायत-क्षेत्र क माता पिताओं म स चुने जाने चाहिए। पचायत जिस स्थान पर हो उस स्थान क विद्यालय क प्रधानाध्यापक को भी शिक्षा-समिति म शामिल किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार पचायत समिति और जिला परिषद-स्तर पर भी शिक्षा समितियो का गठन होना चाहिए। अध्ययन दल न यह सुझाव दिया है कि अध्यापको और शिक्षा शास्त्रियो को शिक्षा समितियो म महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

- अध्ययन दल ने समाज शिक्षा क कार्यक्रम को बहुत ही उपयोगी बताया है और गाँवो के विद्यालयो को समाज शिक्षा के केन्द्रो के रूप मे विकसित करने की सिफारिश की है। प्रौढ़ शिक्षा की कक्षाए अध्यापको द्वारा नियमित रूप से चलायी जानी चाहिए और इसके लिए उनको न्यूनतम दस रुपया प्रति माह पारिश्रमिक अलग से मिलना चाहिए।
- गाँव मे जो महिलाए अध्यापिकाओ के पद पर नियुक्त हो उनको पन्द्रह रुपये प्रति माह विशेष वेतन मिलना चाहिए। इन अध्यापिकाओ को प्रौढ़ महिलाओ की कक्षाए आयोजित करनी चाहिए जिसके लिए दस रुपये प्रति माह अलग से पारिश्रमिक के रूप रो मिलना चाहिए
- उन सब विभागो के जिला-स्तरीय अधिकारियो को जिला-परिषद के निदेशन म काम करना चाहिए जिनका कार्य भार पचायतीराज की सस्थाओ को स्थानान्तरित कर दिया गया है माध्यमिक विद्यालयों को भी उनको स्थानान्तरित करने की सिफारिश की गयी है। अत उप शिक्षा निरीक्षक को जिला परिषद के तत्वावधान म काम करना चाहिए।
- कन्या विद्यालयो क काय को देखन क लिए उपशिक्षा निरीक्षिका को भी जिला परिषद के तत्वावधान म काय करना चाहिए।
- प्रत्येक पचायत समिति को अध्ययन दल की राय म इस प्रकार शिक्षा-कर लगाना चाहिए कि पाँच सौ रुपय स अधिक आय पर न्यूनतम कर एक रुपया और अधिकतम कर दो रुपये, और पाँच सौ स एक हजार आय पर न्यूनतम कर दो रुपये और अधिकतम कर तीन रुपये और एक हजार से ऊपर आय पर न्यूनतम कर तीन रुपये और अधिकतम कर पाँच रुपये तक लगाया जाए।

यदि इन सिफारिशो के अनुसार काय किया गया तो पचायती राज की सस्थाओ के शैक्षणिक कायक्रमो म उपयोगी और महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाना अवश्यम्भावी है।

माध्यमिक विद्यालयो का सचालन जिला परिषदो को सौपना सिद्धान्तत उचित है परन्तु वतमान परिस्थिति को ध्यान म रखते हुए इस काय म शीघ्रता करना उपयोगी न होगा। जब तक प्राथमिक पाठशालाओ म काय करनेवाले अध्यापको की निराशा समाप्त नही होती प्राथमिक शालाओं को साधन-सम्पन्न नही बनाया जाता और गाँवो मे पढे लिखे लोगो की सख्या अधिक नही होती तब तक माध्यमिक विद्यालयों को पचायती राज को सौंपना न्याय सगत न होगा।

अध्यापको को स्थानीय दलगत प्रभावो से मुक्त करना अति आवश्यक है इस दृष्टि से अध्यापको का चुनाव नियुक्तियाँ स्थानान्तरण और पदोन्नति जसे कार्यों को जिला परिषद स्तर पर शिक्षा-समिति और उप शिक्षा निरीक्षक की राय से करना अध्यापको को दलगत प्रभावो से मुक्त रखने मे सर्वाधिक सहायक होगा।

पचायत पचायत समिति और जिला परिषद-स्तर पर शिक्षा-समितियो के निर्माण की सिफारिश अत्यन्त मूल्यवान है और शैक्षणिक निर्णय लेने शिक्षा की समस्याओ पर गहराई से सोच सकने अध्यापको की वतमान दशा म सुधार लाने उनम शैक्षणिक जागृति पैदा करने शिक्षा को समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाने और शिक्षा समाज के आर्थिक सास्कृतिक राजनीतिक और आध्यात्मिक विकास का प्रमुख साधन है इस विचार को घर घर तक फैलाने के लिए यह आवश्यक होगा कि शिक्षा समितियो क सदस्यो की सख्या इतनी हो कि शिक्षा शास्त्री अनुभवी अध्यापक और प्रधानाध्यापक सेवामुक्त

शिक्षा विशारद, प्रशासन और रचनात्मक कार्यों में लगे कार्यकर्ता सम्मिलित किये जा सकें। इनकी संख्या शिक्षा-समितियों में कुल सदस्यों की संख्या की आधी तो होनी ही चाहिए, जिससे शिक्षा-सम्बन्धी निर्णय निष्पक्ष और लोक-कल्याण की दृष्टि से लिये जा सकें।

समाज शिक्षा का कार्यक्रम जिस गति से चलना चाहिए, नहीं चल रहा है, ऐसा अध्ययन-दल ने अनुभव किया है। दल ने समाज शिक्षा के कार्यक्रम को शिक्षा का प्रसार और नागरिकता का प्रशिक्षण, इन दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना है, परन्तु एक अन्य पहलू भी है, जिसके कारण समाज शिक्षा का कार्यक्रम देश की वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त उपयोगी लगता है, और वह है—देश का आर्थिक विकास।

किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ के मानवीय और प्राकृतिक साधनों के सम्पन्न होने पर निर्भर होता है। प्राकृतिक साधन भरपूर हों, परन्तु उसके नागरिक निरक्षर हों तो भी वह देश अपना आर्थिक विकास नहीं कर सकता। अतः किसी भी देश के आर्थिक विकास से उस देश के निवासियों की शिक्षा का अटूट सम्बन्ध रहता है।

इस दृष्टि से भी समाज शिक्षा का कार्यक्रम गाँव गाँव में उत्साह के साथ संचालित किया जाना चाहिए। देश का आर्थिक विकास समाज शिक्षा के साथ जुड़ा हुआ है। अतः समाज शिक्षा के कार्यक्रमों में गाँव के अध्यापक की रुचि जागृत करने और उसको सक्रिय रूप से इस कार्यक्रम में प्रेरित करने के लिए समुचित पारिश्रमिक की व्यवस्था होनी चाहिए।

अध्ययन-दल ने नैतिकता की कमी और निराशा, इन तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इसके लिए अध्यापकों की आर्थिक स्थिति ठीक करने के साथ-ही साथ मन, वचन और कर्म से यह आस्था बार बार प्रकट करनी होगी कि इस देश के भावी समाज का निर्माण-कार्य अध्यापकों के हाथ में है। उनको समाज में सम्मान-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाना होगा। यह कार्य कुछ सीमा तक ग्राम-पंचायतें, पंचायत-समितियाँ जिला-परिषद् शिक्षा परिषदों के निर्णयों के आधार पर कार्य करके कर सकती हैं। ●

—साभार 'जन शिक्षा' से

सम्पादक के नाम चिट्ठी

प्राइमरी पाठशालाओं की समस्याएँ

आजकल लोकतान्त्रिक समाजवाद की गूंज हर कोने में सुनने को मिलती है, लेकिन आये दिन होनेवाले चुनावों से भेद की दीवारें और मोटी होती जा रही हैं, जातिवाद और वर्गवाद की जड़ें और गहराई में उतरती जा रही हैं, इस ओर किसी अगुआ का ध्यान जाना तो दूर, वे अपने स्वार्थ-साधन के लिए इन्हीं को बिना किसी हिचक के अपनाते हैं और जनता को कौमियत की अफीम पिलाने में ही हमारे ये रहबर अपनी कुरसियों को सुरक्षित देखते हैं। सारा तन्त्र ही ढकोसला बनता जा रहा है। फिर शिक्षा के बारे में कहना ही क्या?

बेसिक शिक्षा से देश को बड़ी आशाएँ थीं, लेकिन ऐसे राजकीय तन्त्र में जाकर वह भी खिलौनी बन गयी। स्कूल की दीवारों पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिख गया—बेसिक पाठशाला, लेकिन कहाँ है वह बापू की कल्पना

को वैसिक पाठशाला जिसमें रखकर भारत में स्वतंत्र शिक्षा के नागरिक का शिक्षण मिलता है? दूसरी ओर ग्राम जनता बालक के अधिकार जगाकर हो गयी लेकिन क्या बेसिक शिक्षा प्रयोग का क्षेत्र में उतरी भी? या बिना किसी प्रयोग के ही बेसिक शिक्षा की अनिवार्यता की घोषणा कर दी गयी?

हमारी य बेसिक पाठशालाएँ!

इतने दिनों बाद भी ये बेसिक पाठशालाएँ अपने ही दायरे में बन्द हैं। गाँवों से इनका सम्पर्क नाममात्र को भी नहीं है। वही पाठ्यक्रम वही गिनी चुनी पुस्तकों की रटाई! गाँवों के सब दुख से किसे मतलब! इस तरह की बेसिक पाठशालाएँ और कब तक चलती रहेंगी? निश्चय ही अब — है चहारदीवारी से निकलकर गाँव में जाना होगा और गाँवों के दैनिक जीवन में अपने को आत्मसात करना होगा। गाँव के दैनिक जीवन और शाला के कार्यक्रम में एकरूपता लानी ही होगी।

इसके लिए शिक्षकों की निष्ठा को जगाना होगा। उनकी दैनिक आवश्यकताएं उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं और पैसे का मूल्य क्रमशः घटता जा रहा है। दैनिक जीवन में इस प्रकार की असमानता अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। भूख की मार से छटपटाते हुए शिक्षक समाज को त्याग के घूँट हम कब तक पिलाते रहेंगे? त्याग और सेवा की भावना तो सहज रूप से आती है। इसके लिए हम वातावरण बनाना होगा जिसमें शिक्षक आर्थिक मुक्तता का अनुभव करें तभी हम उनसे उत्सर्ग और कर्मठता की आशा रख सकते हैं

मूल्यांकन की उलटी प्रणाली

इसके अतिरिक्त शिक्षकों के वेतन क्रम की खाई भी कम गहरी नहीं है—प्राइमरी स्कूल का अध्यापक मिडिल स्कूल का अध्यापक हाई स्कूल का अध्यापक और कालेज विश्वविद्यालय का अध्यापक सरकारी स्कूल का अध्यापक गैर सरकारी स्कूल का अध्यापक। हमारे अध्यापक समाज के वेतन क्रम की यह सीढ़ियाँ कम विचित्रता लिए हुए नहीं हैं सबसे नीचे की सीढ़ी सबसे कम और सबसे ऊपर वाली सबसे ऊपर मूल्य रखती है। यही है आज का हमारा मूल्यांकन-पद्धति। लेकिन यह कहाँ तक ठीक है? क्या नीचे की सीढ़ियाँ टूट-फूट होकर बिखर जाय तो आप अपना अभिलषित ऊपरवाली सीढ़ियों तक पहुँच सकेंगे? और सबसे अधिक दबाव भी तो नीचेवाली सीढ़ियों पर ही रहता है? फिर यह मूल्यांकन की उलटी प्रणाली क्यों? आवश्यकता इस बात की है कि सबसे योग्य और अनुभवी अध्यापक निचली कक्षाओं के लिए चुने जाय। मुट्ठी भर दाम में काम पानी न देकर उनसे फल-फूल पाने की आशा कब तक की जा सकेगा?

ऐसा अक्सर सुना जाता है कि शिक्षा-क्षेत्रों में प्रशिक्षित शिक्षक नहीं मिलते लेकिन आज भी रास्ता है अध्यापकों में अधिकांश ऐसे हैं जो अभी बखूबी शिक्षा का काम बखूबी कर सकते हैं किन्तु कौन आवाज दे क्या आवाज दे? आखिर उनकी गुणवत्ता भी तो किसी को हो।

जिसका पैसा उसका जय

प्रायः चुनाव के अवसर पर अधिकारीगण अपने अधिकारों का नाजायज फायदा उठाते हैं। उस समय व भूल जाते हैं कि शिक्षा से किस प्रकार की सहायता म लेने जा रहे रहा हैं या ले रहा हूँ बल्कि अनियमित है गलत है। शिक्षक के अतिरिक्त छोटे छोटे अबोध बच्चों को थोड़े पैसे और पर्चे देकर जय जयकार कराते हैं। लड़कों के लिए भी बड़ी दिलचस्पी का साधन मिल जाता है। जिसका पैसा उसकी जय! अभी व एक पार्टी के नाम पर जिन्दाबाद बोल रहे हैं तो एक घण्टे बाद उन्हें ही उस पार्टी को मुर्दाबाद बोलते पायेंगे। इन नन्हे मुन्नों का इस प्रकार राजनीति में उपयोग कितना घृणित है कहा नहीं जा सकता।

एक शिक्षक के जिम्मे दो तीन कक्षाएं तो आम बात है कभी-कभी चार चार और पाँच-पाँच कक्षाओं की भी नौबत आ जाती है। जरा कल्पना तो कर उस शिक्षक की स्थिति कितनी दयनीय होती होगा! अगर कभी उसे शिक्षण सिद्धान्तों की याद आ जाती होगी तो वह

निश्चय ही रो पड़ता होगा—कभी अपने ऊपर, कभी शिक्षा की इस दुर्व्यवस्था के ऊपर।

इस प्रकार दुर्व्यवस्था का भयंकर परिणाम हमारी शिक्षा-व्यवस्था पर पड़ता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्ग एक मे भरती होनेवाले छात्रो म से कितने छात्र पाचवी कक्षा पास करके निकलते हैं! इतनी बड़ी सख्या मे छात्रो का बीच ही से पढ़ाई छोड़ देने के अन्य कारण भी हैं; किन्तु शिक्षकों-सम्बन्धी कमियाँ अपना प्रमुख स्थान रखती हैं, इससे इनकार नही किया जा सकता।

एक कक्षा और अनेक स्तर के छात्र

एक ही कक्षा मे विभिन्न बौद्धिक स्तर के छात्र—कुछ कुशाग्र बुद्धि के, तो कुछ मन्द बुद्धि के रहते हैं। सामान्य बुद्धिवालो की सख्या औसतन अधिक होती है और उन्ही को केन्द्र मानकर शिक्षण की गाड़ी चलायी जाती है; फिर भी कुशाग्र बुद्धि के बालक शिक्षण के लिए सिर दर्द तो बनते ही हैं। इसके अतिरिक्त बच्चो की रुचियो मे भी विभिन्नता होती है। कोई बच्चा गणित के प्रश्नो को विशेष रुचि से हल करना पसन्द करता है तो कोई गणित के पीरियड मे किसी प्रकार जान बचाकर बाहर घूमने मे ही अपना कल्याण मानता है। किसी को चित्र बनाने मे आनन्द का अनुभव होता है तो कोई इसे बिलकुल बेकार समझता है। इस तरह अनेक प्रकार की रुचियो के बच्चो के कारण कक्षा म अनुशासन कायम रखने म शिक्षको को अनेक-अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है; और अगर एक शिक्षक के जिम्मे कई कक्षाएँ हो तो फिर क्या कहना!

सहायक पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ

वैसे आँख पोछने के लिए प्रतिवर्ष राज्य-सरकार की ओर से सहायक पुस्तकें खरीदी जाती हैं, किन्तु अब भी वे हमारे शिक्षकों की आवश्यकता के किसी कोने की पूर्ति नही कर पाती। आज के वैज्ञानिक युग म प्रतिदिन नये परिवर्तन हो रहे हैं, उनकी जानकारी देनेवाली कितनी पत्रिकाएँ प्राइमरी पाठशालाओं के लिए क्रय की जाती हैं? राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों की गतिविधि जानने के लिए कितने अखबार अध्यापकों को पढने के लिए मिलते हैं? अधिक नही, तो कम-से-कम एक दैनिक पत्र प्रत्येक पाठशाला मे आना ही चाहिए और शैक्षणिक परिवर्तनो की जानकारी के लिए एक-न-एक शिक्षण पत्रिका भी अनिवार्य रूप से मिलनी ही चाहिए।

अपने शब्द ज्ञान को निष्प्राण होने से बचाने के लिए और शकाओ की निवृत्ति के लिए एक शब्दकोश प्रत्येक पाठशाला मे होना चाहिए। यह अभाव शिक्षण के लिए अपूर्व अभिशाप है। जहाँ तक मेरी जानकारी का सम्बन्ध है, शायद ही कोई ऐसी प्राइमरी पाठशाला होगी, जहाँ शब्दकोश हो।

पाठशाला भवन

गाँवो म धरती को चूमने के लिए आकुल छतोवाली जीर्ण शीर्ण बरसो पहले चूने से पुती वैधव्य के शृगार-सी दिखनेवाली इमारतो को देखकर हर समझदार पाठशाला-भवन मान लेगा। इधर कुछ जिला-बोर्डों ने इस दिशा मे विशेष ध्यान जरूर दिया है और नयी बननेवाली इमारतें कुछ कायदे से बनायी जाने लगी हैं। निश्चय ही यह एक शुभ लक्षण है।

लेकिन, अगर शिक्षक जागरूक रहा तो प्राइमरी-पाठशालाओ का शिक्षण बाग-बगीचो मे भी चल सकता है। इसका जीवन्त उदाहरण गुरुदेव का शान्ति-निकेतन है, किन्तु उस शिक्षण को चलानेवालो का दिमाग तो पूर्णतया स्वस्थ होना ही चाहिए। अगर ऐसा सम्भव नही है तो शिक्षण की प्रक्रियाएँ राज प्रासादो म चलायी जायँ या आश्रमो मे, वह शिक्षण न होगी, और कुछ भले ही हो सकती हैं। और, शिक्षकों का चिन्ता उस समय तक स्वस्थ नही होगा, जब तक उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति ठीक न होगी। इसलिए सरकार का, जनता का, हमारा-आपका, सबका कर्तव्य होना है कि हमलोग शिक्षकों को चिन्ता मुक्त करें, तभी हमारा शिक्षण सुधर सकेगा और देश की भावी पीढ़ी का सही निर्माण सम्भव हो सकेगा। ●

—महदेव सिंह
कासिमाबाद, गाजीपुर।

शिक्षा में खेल-खिलौनों का स्थान—२

जे० डी० वैश्य

बालक के जीवन मे खिलौने के महत्व का सवाल बड़ा जटिल है। इस विषय मे विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत है। उनके विचार कुछ भी हो, मैं तो यही मानता हूँ कि खिलौनों मे बालकों को कोई विशेष लाभ नहीं होता। अनुभव से पता चलता है कि खिलौनों मे बालक अधिक दिलचस्पी नहीं लेते। खिलौना मिलने पर पहले-पहल बच्चे को खुशी जरूर होती है। एक दिन या दो-तीन दिन के बाद बालक उस खिलौने को फेंक देता है, या तोड़-फोड़ डालता है और नये खिलौने की माँग करता है। वह प्रतिदिन नया खिलौना चाहता है। जब नया खिलौना नहीं मिलता तो रोता है, हठ करता है, और खाना पीना छोड़ देता है। नया खिलौना लेकर ही वह दम लेता है।

खिलौनों से बालक को आनन्द नहीं आता। खाली खिलौनों से बच्चों को कैसे आनन्द, सन्तोष और तृप्ति मिले? बल्कि ये खिलौने बालक को सनकी बना देते हैं। वह काल्पनिक दुनिया में रहने लगता है और वास्तविक कामों से दूर भागने लगता है। वास्तविक काम करने की वृत्ति जब तृप्त नहीं होती तो वह रिक्त हो जाती है; और असली काम करने में उसे मजा नहीं आता। उसके स्नायु कसरत न होने से अविकसित रह जाते हैं, जिससे बड़ा होने पर वह कोई भी काम ठीक-ठीक नहीं कर सकता। खिलौनों से बालक की जिज्ञासा-वृत्ति शान्त नहीं होती, तोड़-फोड़ की आदत पड़ जाती है।

बालक तो प्रवृत्ति-शील है। उसे काम देना चाहिए। हमारा ख्याल बिलकुल भ्रम-मूलक है कि बालक काम से घबराता है। काम पर तो वह जी-जान से जुट जाता है। रतनवीर, जिसे सब नटखट कहते हैं, अपनी रुचि का काम मिलने पर काम पर पिल पड़ता है। उसका नटखटपन पता नहीं, कहाँ दुम दबाकर भाग जाता है। इसलिए बालक को खिलौनों के चक्कर में न डालकर प्रवृत्तियों में लगाना चाहिए।

खिलौनों का चुनाव

हाँ, दो-ढाई साल तक के बालक को हम खिलौने दे सकते हैं; लेकिन खिलौनों के चुनाव मे बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। बालक के खिलौने सीधे-सादे और मजबूत हों; लेकिन कलात्मक ढंग से बने हुए होने चाहिए। टूटने-फूटनेवाले खिलौने बालक मे तोड़ने-फोड़ने की आदत पैदा करते हैं। बालक को बहुत ज्यादा खिलौने नहीं देने चाहिए। इनका न तो बालक महत्व ही समझते हैं, न इनको साफ-सुथरा रख सकते हैं और न ही इनकी सार-संभाल ही कर सकते हैं। इस प्रकार बालक में अस्वच्छता और अव्यवस्था आ जायगी।

खिलौने भिन्न भिन्न प्रकार के होने चाहिए। मिसाल के तौर पर बालक के वास्ते गेंद खरीदनी हो तो वह विभिन्न रंगों, आकारों, वजनों, पदार्थों की तथा चिकनी, खुरदरी, मोटी, पतली, भारी, हल्की, नर्म और सख्त होनी चाहिए। इन विभिन्न

प्रकार की गेंदों से बालक को रंगों, आकारों तथा, पदार्थों के मोटापन, पतलापन आदि का ज्ञान हो जायगा। इसके अलावा बालक को इनसे गिनती भी सिखायी जा सकती है।

बालक को बन्दूक, तलवार, भाला तथा लड़ाई के अस्त्र-शस्त्र आदि के खिलौने नहीं देने चाहिए। ऐसी पुस्तकें भी न दें, जिनमें लड़ाई की तारीफ की गयी हो। ऐसे खिलौनों और पुस्तकों से बालक में अहिंसा-वृत्ति पैदा होने की सम्भावना रहती है। बालक को बहुत पेचीदा और कलदार खिलौने भी नहीं देने चाहिए। ऐसे खिलौने बालक पसन्द नहीं करता। ऐसे खिलौनों में बालक को कुछ करना-धरना नहीं होता, चुपचाप देखना पड़ता है। इनमें बालक की जिज्ञासा-वृत्ति शान्त नहीं होती, और न सोचने की ही शक्ति बढ़ती है। उलटा नाराज होकर वह उन्हें तोड़-फोड़ डालता है।

बालक को ऐसे खिलौने देने चाहिए, जिन्हें वह अलग करके फिर उसी तरह जोड़ सके। ऐसा करने में बालक की कल्पना-शक्ति बढ़ेगी, उसे सोचना पड़ेगा। अच्छा तो यह हो कि बालक को ऐसी चीजें दी जायें, जिनसे अपने खिलौने वह खुद ही बना सके।

खिलौनों का चुनाव करने में बालक की मानसिक अवस्था, आवश्यकता और रुचि का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। होशियार बालक को मामूली खिलौना दिया गया तो वह उसमें कोई दिलचस्पी नहीं लेगा। छोटी उम्र के बालक को बड़ी उम्र के बालक का खिलौना देने से उसमें लघुता की भावना पैदा हो जायगी; इसलिए योग्यता और विकास के अनुसार खिलौने बदलते रहना चाहिए। दो साल के बालक को झुनझुना देना उसका अपमान करना है। इसके अलावा हमें अपनी रुचि के खिलौने बालक को भूलकर भी नहीं देने चाहिए।

खिलौने रखने के लिए बालक को घर के किसी कोने में बिलकुल अलग स्थान मिलना चाहिए, जहाँ वह इन्हें खूब सजाकर रख सके।

अगर घर में कई बालक हों तो उनके खिलौने अलग-अलग होने चाहिए। जबरदस्ती एक बालक का खिलौना छीनकर दूसरे बालक को नहीं देना चाहिए। अगर बालक अपना खिलौना न दे तो उसे यह कहकर चिढ़ाना नहीं चाहिए कि यह तो बड़ा लालची है, स्वार्थी है, किसी को कभी अपनी चीज नहीं देता। हमारे इस प्रकार के व्यवहार से बालक में द्वेष-भाव पैदा हो जाता है, और वे एक-दूसरे से जलने लगते हैं। आपस में खेलते-खेलते बालक खुद ही धीरे-धीरे एक दूसरे से चीज लेना देना सीख जायेंगे। उपदेश या डाँट-फटकार से पारस्परिक सहयोग की भावना न आज तक पैदा हुई, न आइन्दा कभी पैदा हो सकेगी। घर का प्रेमपूर्ण और सहयोगपूर्ण वातावरण ही इस भावना का विकास कर सकता है। जहाँ लालच, स्वार्थ और संकीर्णता का दौर-दौरा हो, वहाँ बालक से उदारता और सहयोग की आशा रखना दुराशा-मात्र है।

इतना जान लेने के बाद दो ढाई साल तक के बालक के लिए खिलौने का चुनाव करने में कठिनाई नहीं होगी।

दो-तीन माह के शिशु के खिलौने

पहले दो-तीन महीनों में बालक के खिलौनों की आवश्यकता नहीं होती। इस समय तो केवल उसके पालने में रंगीन और सुन्दर बजनेवाले लटकन आदि लगवा देने चाहिए।

घुटनों से चलनेवाले बच्चों के खिलौने

घुटनों से चलने की उम्र के बाद तक बालक चमकीले और रंगीन मोटे मणियों की माला, बटन की लड़ी, तालियों का गुच्छा, लकड़ी के चम्मच, झुनझुने, रबर और लकड़ी के रंगीन सुन्दर खिलौने तथा रबर की गेंद बहुत पसन्द करता है। इस समय बालक हर चीज को मुँह में डालकर चूसने लगता है; इसलिए खिलौनों को धोकर साफ कर देना चाहिए। लोरियाँ भी बालक को खूब सुनानी चाहिए। माँ की मीठी लोरियाँ बालक को बहुत प्रभावित करती हैं।

एक साल के बाद बालक को ढकने और उघाड़ने, खोलने और बन्द करने में बड़ा मजा आता है। ढक्कन लगाना और उघाड़ना बालक की खास प्रवृत्ति है। दियासलाई की खाली डिब्बियों को वह बार-बार खोलता

और बन्द करता है। चढने और फिसलने का भी बालक को बडा शौक होता है।

देढ़ साल के बच्चे के खिलौने

देढ साल का हो जाने पर बालक खूब चलने फिरने लगता है। इस समय वह कुरसी या स्टूल जो कुछ भी सामने आता है, उस ही खिलौना बनाकर देर तक खेलता है। उसे इधर उधर ढकेलता है, कभी चढता है और कभी उतरता है। इस समय गत्ते पर बनी हुई तसवीरो की किताबें भी देनी चाहिए। पन्ने उलटना बालक का बडा प्रिय खेल है। उँगलियो पर काबू पा जाने पर असली चित्रो की किताबें देनी चाहिए और पन्ने उलटना बता देना चाहिए। इससे बालक को बडा लाभ होता है। पन्ने उलटते-उलटते वह चित्रो मे दिलचस्पी लेने लगता है, नयी किताबो की माँग करता है और चित्रो के बारे म पूछता है।

इस समय बालक को लकडी की ईंटे भी देनी चाहिए। ईंटो से बालक तरह-तरह की इमारतें और शक्ले बनाता है और बडा खुश होता है। बालक की तोड-फोड की आदत छुडाने के लिए ईंटें बहुत ही उपयोगी है। तोड फोड बालक उस वक्त करता है, जब उसे कुछ करने को नही मिलता। पानी और मिट्टी बालक के सब से प्रिय खिलौने हैं। इनसे वह घण्टो खेलता रहता है। इनसे खेलने के सुन्दर और और उपयोगी तरीके बता देने चाहिए।

दो वर्ष के बालक के खिलौने

दो वर्ष के बालक के लिए डा० मोण्टेसरी की चार गट्टापटियाँ, मीनारें आदि कितने ही साधन बालक के शारीरिक और मानसिक विकास के लिए बजोड हैं। ये चीजें घर पर भी बनवायी जा सकती हैं और बाहर से भी बनी-बनायी मँगवा सकते हैं।

दो-ढाई साल के बाद बालक का मन खिलौनो से उकता जाता है, वह अब काम चाहता है, प्रवृत्ति चाहता है, असली खेल चाहता है, इसलिए इस समय बालक के लिए असली खेलो का और प्रवृत्तियो का प्रबन्ध होना चाहिए।

●

मदद कीजिएगा ?

o

रमाकान्त

गाधीजी से मिलनेवालों का शायद ही ताँता टूट पाता था। उनसे मिलनेवालों में हर तरह के लोग होते थे।

एक बार उनसे मिलने एक सज्जन आये। उन्हें अपने अँग्रेजी के ज्ञान पर नाज था। बढ़ बढ़कर बात करने की आदत भी उन्हें खूब थी। उन्होंने गांधीजी से खुब जी खोलकर अपनी प्रशसा की।

गाधीजी बड़े ही धैर्य पूर्वक उनकी बातें सुनते रहे। चलते वक्त उस सज्जन ने गाधीजी से कहा—'मेरे लायक कोई सेवा हो तो जरूर कहिएगा।"

उनका मतलब यह था कि गाधीजी 'हरिजन' के लिए एकाध लेख लिखकर देने का आग्रह जरूर करेंगे।

गाधीजी ने कहा—"बड़ी खुशी की बात है कि आपके पास समय है।"

"हाँ हाँ, अवश्य, आप निस्सकोच कहिए।"

"आश्रम में बहुत सा बिना पिसा गेहूँ रखा है, पीसने में मदद कीजिएगा ?"

बेचार उस सज्जन की समझ में नहीं आया कि वे अपने अँग्रेजी के ज्ञान का इसमें किस प्रकार उपयोग करेंगे। ●

शिक्षण-पद्धति कैसी हो ?

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बहुत ही दुख के साथ मेरे मन मे यह विचार जाग्रत हुआ कि शिशुओं को शिक्षा देने के लिए 'स्कूल' नाम के जिस यत्र का निर्माण हुआ है, उसके द्वारा मानव शिशु को शिक्षा कतई पूरी नही हो सकती। सच्ची शिक्षा के लिए आश्रम की जरूरत है जहाँ समग्र जीवन की सजीव पृष्ठ भूमि मौजूद होती है।

गुरु तपोवन में केन्द्रस्थल म विराजते हैं। व यत्र नहीं, मनुष्य होते हैं। उनका मनुजत्व निष्क्रिय नही, सक्रिय होता है, क्याकि व मनुजत्व के लक्ष्य की परिपूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसी तपस्या के गतिशील धाराप्रवाह मे शिष्य के चित्त को गतिशील बनाने की कोशिश उनके लिए अपनी साधना का ही एक अग है। शिष्यो के जीवन को, जो यह प्रेरणा मिलती है उसके मूल मे है गुरु की सगति। नित्य जागरूक मानव चित्त का यह जो सत्सग है यही आश्रम की शिक्षण-पद्धति का सबसे मूल्यवान उपादान है। यह सत्सग अध्यापन की कोई विषय-पद्धति या उपकरण नही होता है। गुरु का मन हर क्षण अपने आविष्कार मे लगा रहता है और इसलिए अपने आपको भी 'वह दूसरो को दे रहा है। जिस प्रकार सच्चे ऐश्वर्य का परिचय त्याग की स्वाभाविकता म है, उसी तरह प्राप्ति का आनन्द दान देने के आनन्द म अपनी यथार्थता प्रमाणित करता है।

आश्रम की शिक्षा

आज के युग मे वस्तुओ के उत्पादन के कार्य को बढाने और उसमे गति देने के लिए ही यत्र के द्वारा व्यापक उत्पादन-व्यवस्था का प्रचलन हुआ है। ऐसी उत्पादित बाजारू वस्तुएं प्राणवान नही होती हैं। अत 'हाइड्रोलिक' चक्का के दबाव से भी उन वस्तुओ को कोई तकलीफ नही होती है। लेकिन, शिक्षण का काम व्यापक उत्पादन की यात्रिक चेष्टा की रसहीन और निर्वैयक्तिक प्रणाली स हो, तो वह मनुष्य के मन को पीडित करेगी ही। हम यह मानकर चलना पडेगा कि आश्रम की शिक्षा उक्त प्रकार के शिक्षण का कारखाना नही होगी। यहाँ हर एक विद्यार्थी के मन को शिक्षक का प्राणमय स्पर्श होना रहेगा। इसी म दोनो पक्षो को आनन्द है।

प्राचीन काल मे सारे देश के गृहस्थ वित्त की जिम्मेदारी स्वीकार करते थे। यथा-समय उचित पात्र को दान देकर वे अपने आपको सार्थक मानते थे। इसी प्रकार ज्ञान के अधिकारी भी ज्ञान वितरण की जिम्मेदारी उठाते थे। उनको मालूम था कि जो उन्हें मिला है उसका दान करने का मौका नही मिलने पर वह अधूरा रह जायेगा। गुरु शिष्य के बीच के इस प्रकार के परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध को ही मैंने विद्यादान के प्रधान जरियों के रूप मे माना है।

आदर्श शिक्षक

एक बात और। गुरु के मन का शिशुभाव अगर सूखकर लकड़ी—जैसा हो गया हो तो वह बच्चो की जिम्मेदारी लेने म असमर्थ है, ऐसा मानना चाहिए। केवल सामीप्य नहीं, विद्यार्थी तथा गुरु के बीच स्वाभाविक सायुज्य व साद्दृश्य रहना चाहिए। अन्यथा लेन-देन म आन्तरिक सम्बन्ध रह नहीं पाता। अगर नदी के साथ आदर्श शिक्षक

को सुरक्षा की जाय, तो कहा जा सकता है कि केवल अगल-बगल से आकर मिल जानेवाली कई एक छुद्र नदियों के संयोग से नदी पूर्ण नहीं होती है। उसके उद्गम के प्रथमारम्भ से उछलनेवाले प्रमत्त वदन झरने का प्रवाह पत्थरों के बीच खोना नहीं चाहिए।

आदतन शिक्षक जब बच्चों की पुकार सुनते हैं, तो उनके अन्दर का आदिम शिशु अपने आप कूदकर बाहर आ जाता है; प्रौढ़ कण्ठ के भीतर से प्राणमय नवीन हास्य उछलकर निकलता है। बच्चे अगर यह महसूस न करें कि शिक्षक उन्हीं लोगों की श्रेणी का ही एक जीव है, शिक्षक यदि उनकी नजरों में एक प्रागैतिहासिक महाकाय प्राणी जैसा प्रतीत हो, तो उसके पंजे की भयानकता देखकर वे निर्भीकता से उसकी ओर हाथ बढ़ा नहीं सकते। अक्सर हमारे देश के गुरु प्रवीणता सिद्ध करने के लिए ही तत्पर होते हैं। यह सस्ते में प्रभुत्व जमाने के प्रलोभन का द्योतक है। बच्चों के आँगन में डण्डेवाले नौकर के बिना अकेले जाने से उनकी इज्जत में कमी आयेगी, इसी डर से व लोग सतर्क रहते हैं; और इसलिए परिपक्व शाखा तथा नवीन शाखा में पुष्प प्रस्फुटित करने की, फल फैलाने की, हृदयगत सहकार की राह अवरुद्ध हो जाती है।

प्राणमयी प्रकृति

एक और गम्भीर विषय मेरे मन में था। बच्चे विश्व प्रकृति के एकदम नजदीक के होते हैं। वे आराम-कुरसी में बैठकर विश्राम करना नहीं चाहते हैं, पेड़ पौधों के बीच घूमने की छुट्टी की अभिलाषा उनमें होती है। विशाल प्रकृति के अन्तर में आदिम प्राण का वेग गुप्त रूप से क्रियाशील है। शिशु के प्राण में वह वेग गति से संचार करता है। जीवन के प्रारम्भिक काल में अभ्यास के द्वारा अभिभूत हो जाने के पहले कृत्रिमता से छुटकारा पाने के लिए वे तरसते हैं। प्रौढ़ों के शासन को टालते हुए वे सहज प्राणलीला की माँग पेश करते हैं।

शहरों की गूँगी, बहरी, मुरदा दीवालों के बाहर बच्चों के शरीर-मन में विश्वप्राण का यह स्पन्दन लगने दें। हमलोगों के आश्रम के बच्चों को इस प्राणमयी प्रकृति का स्पर्श केवल खेल-कूद के माध्यम से नाना प्रकार से मिला है। इतना ही नहीं, मैं शरीर के रास्ते से उन लोगों के मन की प्रकृति में [illegible] गया हूँ।

अत: वातावरण को अपनी कोशिश से सुन्दर, स्वपरिष्कृत तथा स्वास्थ्यमय बनाते हुए, मिलजुलकर रहने की सर्व जिम्मेदारी निभाने की आदत बचपन से सहज ही बननी चाहिए। स्व की शिथिलता औरों के लिए असुविधा, असभ्यता तथा नुकसान का कारण हो सकती है—यह बोध सभ्य जीवनचर्या का आधार है। प्राय हमारे देश के घर-गृहस्थियों में इस बोध का अभाव दिखाई देता है।

शिक्षा की प्रमुख देन

सहकार को सभ्य नीति को क्रमश: सचेतन करना आश्रम की शिक्षा-व्यवस्था की प्रमुख देन है। इस देन को सफल बनाने के लिए शिक्षा के प्रारम्भिक वर्षों में जीवन-साधनों की कमी अत्यावश्यक है। अत्यधिक वस्तुपरायण स्वभाव में चित्तवृत्ति की स्थूलता प्रकट होती है। सौन्दर्य तथा सुव्यवस्था मन की चीज है। उस मन को न केवल आलस्य तथा अनिपुणता से, परन्तु वस्तु-लुब्धता से भी मुक्त करना पड़ेगा। रचना शक्ति का आनन्द उतना ही सत्य होता है, जितना वह जड़ बाहुल्य के बन्धन से मुक्त होता है। विभिन्न जीवन साधनों को यथोचित ढंग से इस्तेमाल करने का अवसर उपयुक्त उम्र तथा स्थिति में बहुतों को मिल सकता है, पर उन व्यवहार्य वस्तुओं को बचपन से ही सुनियंत्रित करने की आत्मशक्ति-मूलक शिक्षा हमारे देश में बहुत उपेक्षित रहती है। मेरी कामना है कि विद्यार्थी की उस उम्र से प्रतिदिन आसपास उपलब्ध कम-से-कम साधनों से सर्जन के आनन्द को सुन्दर ढंग से उद्भावित करने का निरलस प्रयत्न करें तथा इसके माध्यम से सर्व साधारण को सुख, स्वास्थ्य तथा सुविधा प्राप्त कराने के कर्तव्य में उन्हें आनन्द की प्राप्ति हो।

हमारे देश में बच्चों के आत्मकर्तृत्व-बोध को असुविधा-जनक तथा आपत्तिजनक औद्धत्य मानकर सदा दबाने की कोशिश होती है। इसके फलस्वरूप उनके मन से परनिर्भरता की लज्जा चली जाती है व दूसरों के पास माँगने की वृत्ति प्रोत्साहित होती है। भिक्षुकता के क्षेत्र में उन लोगों का अभिमान प्रबल होता है और दूसरों की त्रुटियों को लेकर

संग्रह करने में वे आत्मप्रमाद लाभ करते हैं। आज इस लज्जाजनक दीनता का निदर्शन विद्यार्थियों के चारों तरफ परिदृश्यमान है। इससे छुटकारा मिलना चाहिए। विद्यार्थियों को यह साफ समझना चाहिए कि जहाँ बात-बात में शिकायत गूँज उठती है वहाँ खुद की लज्जा का कारण सचित होता है,

उपकरण की स्वल्पता को लेकर असगत क्षोभ के साथ-साथ असन्तोष प्रकट करने में भी चरित्र की दुर्बलता प्रकाशित होती है। वस्तुओं का कुछ अभाव रहना अच्छा है, स्वल्प में ही चलाने का आदी होना चाहिए। किसी प्रकार का प्रयत्न किये बिना सभी जरूरतों की पूर्ति करके बच्चों के मन को अनावश्यक लाड करने से उनकी क्षति होती है। बच्चे सहज ही इतना कुछ नहीं चाहते, व आत्मतृप्त होते हैं। हम लोग ही प्रौढ़ों की इच्छा को उनके ऊपर लादकर उनको वस्तुओं का नशा लगा देते हैं। शुरू से ही इस बात की शिक्षा देने की जरूरत है कि कितना कम लेकर वे काम चला सकते हैं।

सृष्टि-उद्यम का महत्त्व

बाहर की सहायता जहाँ कम-से-कम होती है, शरीर तथा मन की शक्ति का सम्यक् अभ्यास वहीं सही ढंग से होता है। वहाँ मनुष्य का सृष्टि-उद्यम अपने आप जागरित होता है। जिनका सृष्टि-उद्यम नहीं जगता है प्रकृति उनको कूड़े-कचरे की तरह फेंक देती है। आत्म कर्तव्य का प्रधान लक्षण सर्जन-कर्तृत्व होता है। वही मनुष्य सही माने में ('स्वराट्' सर्व गुण और शक्ति सम्पन्न व्यक्ति) है, जो अपना साम्राज्य स्वय सृष्टि कर लेता है। हमारे देश में स्त्री जाति के हाथों में अति लालित बच्चे उस मनुष्योचित आत्मप्रवर्तना के अभ्यास से शुरू से ही वंचित रह जाते हैं। इसलिए हमलोग दूसरा के कड़े हाथों के दबाव से दूसरा की इच्छा के साँचे के अनुसार रूप ग्रहण करने के लिए कीचड़-जैसे अयत्न लच ले ढंग से तैयार होते हैं। इसीलिए हम लोग दफ्तरों के निम्नतम विभाग में आदर्श कर्मचारी बन जाते हैं।

अन्त में एक बात और। इस विषय को मैं सबसे प्रमुख मानता हूँ, पर शिक्षकों का यह गुण सबसे दुर्लभ भी है। शिक्षक होने की पात्रता केवल उनमें होगी, जो धैर्यशील होते हैं व बच्चों के प्रति जिनके मन में एक सहज स्नेहभाव है। शिक्षकों के अपने चरित्र के सम्बन्ध में एक बड़े खतरे की बात यह है कि जिनके साथ उनका व्यवहार चलता है, वे क्षमता में उनके समकक्ष नहीं होते हैं। थोड़ी-सी बात के लिए उन लोगों के प्रति असहिष्णु होना, उनको अपमानित करना व सजा देना बहुत ही आसान होता है। जिसके बारे में निर्णय करना है वह यदि शक्तिहीन हो तो सहज ही गलत निर्णय करने का डर रहता है। क्षमता का सदुपयोग करने की स्वाभाविक योग्यता जिन लोगों में नहीं रहती वे न केवल बिना किसी रोक-टोक के अक्षम के प्रति अन्याय कर सकते हैं; बल्कि वैसा करने में उनको एक प्रकार का आनन्द भी मिलता है।

बच्चा अबोध तथा दुर्बल होने पर माँ की गोद में इसलिए आता है कि उसकी रक्षा करने का प्रधान उपाय—भरपूर स्नेह भाव-माँ के मन में भरा होता है।

कठोर न्यायदान

इतना होते हुए भी घर घर में इस मिसाल की कमी नहीं मिलती है कि जहाँ स्वभाव में ओत प्रोत असहिष्णुता तथा शक्ति का अहंकार स्नेह को एक बाजू में रखकर बच्चों के प्रति नाजायज जुल्म करता जाता है। बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए इससे जबरदस्त बाधा और कोई नहीं होगी। बच्चों को कठिन या चरम दण्ड देने का दृष्टान्त देखने पर मैं उसके लिए शिक्षक को ही जिम्मेदार ठहराता हूँ।

पाठशालाओं में मूर्खता की दुहाई देकर विद्यार्थियों के ऊपर जो अत्याचार होता है उसका तीन चौथाई स्वय गुरु को ही मिलना चाहिए। मैं जब विद्यालय का काम देखा करता था उस समय शिक्षक की कठोर न्यायदान-पद्धति से लड़कों की रक्षा करना मेरे लिए दुःसाध्य समस्या-जैसा था। अप्रियता कबूल करके भी मुझे इस बात को समझाना पड़ा है कि शिक्षक की आवश्यकता केवल शिक्षा के काम को बल प्रयोग से सहज करने के लिए नहीं होती। आज तक चरम शासन से बहुत विद्यार्थियों की मैंने रक्षा की है, पर ऐसा एक भी प्रसंग मुझे याद नहीं है, जब कि मुझको उसके लिए कभी पश्चात्ताप करना पड़ा है। ●

शिक्षा में दो क्रान्तिकारी व्यक्तित्व

डॉ० रामचन्द्रन्

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गांधीजी कई प्रकार से महान आत्मा थे। उनके व्यक्तित्व में गहनता और वैविध्य था। रवीन्द्रनाथ सिर्फ कवि नहीं थे और न गांधीजी केवल महात्मा। रवीन्द्रनाथ कवि होने के साथ दार्शनिक उपन्यासकार नाटककार शिक्षक समालोचक समाज-सुधारक देशभक्त अन्तर्राष्ट्रीयतावादी और ग्राम-पुनर्निर्माण-कार्यों में क्रान्तिकारी थे। महात्मा जो एक बड़े चिन्तक भी थे और शिक्षक सामाजिक क्रान्तिकारी राष्ट्रीय नेता अध्यात्मवादी मानवतावादी कुशल योद्धा शान्ति-स्थापक और ग्रामपुनरचना के कार्यों में थे वे एक यथार्थदर्शी संत।

दोनों ने जिन्दगी के करीब हर पहलू को स्पर्श किया और जिस किसी विषय को उन्होंने स्पर्श किया उसमें नये प्राण का संचार हुआ और वह मानवता के लिए अर्थपूर्ण बन गया। जिन्दगी के प्रति दोनों की वृत्ति सम्पूर्ण तथा समन्वित थी। उन्होंने जिन्दगी को टुकड़ों में नहीं बल्कि एक पूर्ण और समग्र इकाई के तौर पर देखा। रवि ठाकुर सुन्दरता के उपासक थे और उनकी सौन्दर्य की व्याख्या अन्ततोगत्वा जीवन के सब मूल्यों को अपने अंदर समा लेनेवाली थी। गांधीजी सत्य के उपासक थे और वह सत्य इतना विपुल था कि दैनिक जीवन की हर एक छोटी-मोटी चीज भी उसके अंदर समा गयी थी।

भारत में शैक्षणिक क्रान्ति के लिए अपनी अनोखी देन में रवि ठाकुर और गांधीजी एक दूसरे के बहुत नजदीक आ गये। शायद इस क्षेत्र में वे और विषयों से ज्यादा परस्पर समीप पहुँच गये। इन दोनों के इस ऐक्य का अध्ययन चाहे कितना ही संक्षिप्त क्यों न हो अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होगा।

शिक्षा-जगत में गुरुदेव का प्रवेश भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के एक संकटकाल में हुआ। उसके कुछ समय पहले बंगाल में उच्च शिक्षा में संस्कृत और अंग्रेजी के स्थान के बारे में एक जोरदार विवाद चला था। राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी के पक्ष में विजय हासिल कर ली थी, लेकिन संस्कृत शिक्षा के समर्थक भी हारे नहीं थे अत्यन्त निपुण नेतृत्व में उन्होंने लड़ाई चालू रखी।

जब टगोर मंच पर आ गये तो उन्होंने दिखाया कि इन दोनों के बीच संघर्ष की जरूरत नहीं। वे नये और पुराने के बीच मेल करानेवाले सिद्ध हुए। उन्होंने शिक्षा की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर जोर देनेवाली पुरानी गुरुकुल पद्धति के श्रेष्ठतम मूल्यों का पुनर्स्थापन किया और फिर उन्हें सारे विश्व की आधुनिकतम प्रगतिशील शैक्षणिक सिद्धान्तों के साथ मिला दिया। उनके बनाये शान्ति निकेतन में नये समन्वय पर आधारित नया विद्यालय चला।

ऊपर संस्कृत सिंहासन पर प्रतिष्ठित थी, लेकिन उसके चारों तरफ नये भारत के जीवन से स्पन्दनशील भाषाओं को भी उचित स्थान मिल गया। नयी-नयी भाषाएं सीखने की व्यवस्था थी जिससे भारत और आधुनिक विश्व के साथ सामंजस्य स्थापित हुआ। शान्तिनिकेतन ने शिक्षा का जो उन्नत मार्ग खोल दिया उसमें प्राचीन संस्कृत

शिक्षा और नयी अंग्रेजी-शिक्षा के बीच का संघर्ष बिलकुल मिट गया।

शिक्षा में गुरुदेव की देन अत्यन्त गहरी थी। वह पहले नामी चिन्तक थे, जिन्होंने पुस्तक-केन्द्रित शिक्षा का निराकरण किया। उन्होंने पुस्तकों का त्याग नहीं किया; लेकिन जोरों के साथ बताया कि पाठ्यपुस्तकों पर आधारित शिक्षा बहुत 'दरिद्र' शिक्षा होगी। वे एक सृजनात्मक कर्म-केन्द्रित शिक्षा-पद्धति चाहते थे। शुरुआत इस तरह से की कि उन्होंने शान्तिनिकेतन के विद्यार्थियों को अपनी बहियाँ और पाठ्यपुस्तकें अलग रखकर प्रकृति के बीच चले जाने के लिए कहा। विद्यार्थी देखें, सुनें, समझें, आपस में चर्चा करें, प्रकृति के साथ जियें और उससे सीखें। अपनी उंगलियों की कुशलता से कई सुन्दर और उपयोगी चीजें बनायें। उनका विश्वास था कि काम अपने आप में एक बड़ा शिक्षक हो सकता है, बशर्तेकि वह सृजनात्मक हो तथा बौद्धिक एवं सौन्दर्यशील जीवात्मक विकास के साथ सम्बन्धित हो।

उनका यह निश्चित मत था कि शिक्षा इधर-उधर से चन्द जानकारियाँ इकट्ठा करना नहीं होती है; बल्कि उसे जिन्दगी को बनानेवाली होना चाहिए, जो समग्र मानव व्यक्तित्व के विकास व आत्मसाक्षात्कार की तरफ ले जायगी। उन्होंने बौद्धिक विकास पर जरूर जोर दिया था; लेकिन वह पूर्ण विकास के एक हिस्से के तौर पर ही। साठ साल पहले जब शान्तिनिकेतन का शैक्षणिक प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो वह एक क्रान्तिकारी कार्य ही था। उसके पीछे साहस, विशाल दृष्टि, गहरी समझ, युवा मन, जीवन के मूल्यों का यथार्थ बोध और गम्भीर आध्यात्मिक साधना थी।

शिक्षा में गांधीजी की देन सत्याग्रह के बारे में उनके ही अपने क्रान्तिकारी विचार और व्यवहार की अपरिहार्य जरूरतों से समुत्पन्न हुई। सत्याग्रह वह कला और विज्ञान है, जो सबसे दुर्बल आदमी को स्वतन्त्रता और सत्य की रक्षा में सबसे बलवान बनाकर खड़ा कर देता है। इसलिए सत्याग्रह की शिक्षा को जीवन के लिए, जीवन के द्वारा और जीवन भर की शिक्षा बनना आवश्यक था। उसे ऐसी चीज बननी थी जो मानव-व्यक्तित्व के हर पहलू का पूर्ण विकास करे। हाथ और दिमाग की कुशलताओं का साथ-साथ और सुसमंजस विकास करना था। बौद्धिक और नैतिक प्रगति को समग्र जीवन की समन्वित प्रक्रिया बननी थी। इसलिए टैगोर-जैसे ही गांधीजी ने भी पुस्तक-केन्द्रित शिक्षा पद्धति का निराकरण किया और उसकी जगह एक कर्म-केन्द्रित शिक्षा-व्यवस्था को कायम किया। भारत-जैसे गरीब देश में शैक्षणिक काम को सृजनात्मक और उत्पादक होना है, इसलिए बुनियादी तालीम का प्रादुर्भाव हुआ।

टैगोर और गांधीजी दोनों श्रेष्ठ शिक्षक थे, जो बच्चों से प्रेम करते थे और बच्चों को सिखाने से और भी ज्यादा प्रेम करते थे। दोनों ने अपने विचार और पद्धतियों को काम में लाकर पुरानी शिक्षा पद्धतियों को हिला दिया। शान्तिनिकेतन और सेवाग्राम भारत की शैक्षणिक क्रान्ति के प्रतीक बन गये।

अभी तक किसी ने शिक्षा-शास्त्रियों के नाते टैगोर और गांधीजी के ऐक्य का पूरा अध्ययन नहीं किया है। जो भी इस क्षेत्र में अनुसन्धान करेगा उसे आज हमारे देश के शैक्षणिक पुनर्निर्माण में मूल्यवान सम्पत्ति प्राप्त होगी।

तैयारी के पदयात्रा निकालना प्राय बेकार है। हाँ, गाँव-गाँव मे जाकर केवल सम्पर्क और छोटी गोष्ठियाँ करनी हो तो बात दूसरी है।

पूर्व तैयारी मे जो शिक्षक किसान, पचायत के मुखिया और सरपच, या सामाजिक कार्यकर्ता अनुकूल हो, या कम-से-कम प्रगतिशील विचार के हों, उनका सहयोग प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। जिस गाँव मे पड़ाव हो उसके अधिक-से-अधिक व्यक्तियो को कार्यक्रम की पूर्व सूचना होनी चाहिए, ताकि गाँव और पड़ोस मे स्वागत का वातावरण हो और सभा म अधिक-से-अधिक लोग आयें।

लेकिन पदयात्रा कोई शाश्वत कार्यक्रम नही है। एक क्षेत्र मे एक या दो पदयात्राओं के बाद उसका आकर्षण प्राय खत्म हो जाता है। एक-दो बार पदयात्रा हो जाय, और फॉलोअप के रूप म पदयात्रा के क्षेत्र म दुबारा सम्पर्क हो जाय तो प्रमुख गाँवों म बड़ी-बड़ी सभाएँ करनी चाहिएँ तथा अनुकूल पचायतो के हर गाँव म सघन सम्पर्क करना चाहिए। अगर जिले मे ऐसी स्थिति हो कि अनुकूल शिक्षको व्यापारियो किसानो और राजनीतिक कार्यकर्त्ताओ के अलग-अलग वक्तव्य त्रिविध कार्यक्रम के समर्थन म प्रकाशित किये जा सकें तो बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

लोक शिक्षण-द्वारा विचार की शक्ति

हमारा पूरा कार्यक्रम लोक शिक्षण की एक व्यापक योजना है। हम विचार की शक्ति से लोगो का दिल और दिमाग खोलना चाहते हैं, उन्हें परिस्थिति का भान कराना चाहते हैं, स्वार्थ को सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ जोड़ना चाहते है, और यह बताना चाहते हैं कि नयी समाज रचना म ही हमारी समस्याओं का स्थायी हल है। इसलिए दो बातो पर हमारा ध्यान सबसे पहले जाना चाहिए। एक तो यह कि ग्रामदान को लेकर लोगो के मन मे जो भय होना है उसका निराकरण हो; दूसरी यह कि लोगो को ऐसा लगे कि यह योजना व्यावहारिक है और उनकी शक्ति के अन्दर है।

पदयात्रा म विचार बिखेरने के तुरत बाद उन्ही गाँवो और क्षेत्रो म दुबारा जरूर जाना चाहिए, ताकि पदयात्रा के कारण जो प्रश्न और शकाएँ पैदा हुई हो उनका निराकरण हो जाय। दूसरी बार जाने पर बड़ी सभाएँ करने की कोशिश न हो; बल्कि आपसी चर्चा मे लोगो के दिल तक पहुँचने की कोशिश की जाय। इस बात का ध्यान रखा जाय कि प्रश्न या शका करनेवाले को व्यग्य, उपहास या तिरस्कार से चुप करने का प्रयत्न न हो। दिन-रात किसी तरह जीवित रहने की चेष्टा म लगा हुआ मानव, अनेक सदियो से प्रकृति और मनुष्य की चोटो से त्रस्त और जर्जर हो चुका मानव, छलिया नारो-द्वारा ठगा गया मानव, परिवर्तन की बात मे स्वभावत भयभीत हो उठता है। उसे आश्वस्त करना, और भविष्य के प्रति उसमे आशा और उत्साह का सचार करना हमारा काम है—हमारा ही काम है।

कार्यकर्ताओ को सामूहिक विचार शिक्षण (मॅस-कम्यूनिकेशन) के तरीको और उसके मनोविज्ञान की कुछ जानकारी जरूर होनी चाहिए। विचार शिक्षण म ग्राम-प्रदक्षिणा, पदयात्रा, आपसी चर्चा छोटी गोष्ठी, आमसभा, फिल्म, प्रदर्शनी, नोटिस, पोस्टर, फोल्डर, आदि सबका अपना स्थान है। छपे हुए शब्द का बड़ा जादू होता है। हमे मालूम होना चाहिए कि किस साधन का, किस तरह, किस अवसर पर इस्तेमाल किया जाय, ताकि लोगो मे अनुकूल प्रतिक्रिया हो।

सामान्य शिक्षित लोगो के शिक्षण के लिए फोल्डर बहुत उपयोगी होते हैं। फोल्डरो की एक सम्पूर्ण माला निकालनी चाहिए, जिसके शीर्षक ये हो,—'किसानो का सर्वोदय', 'मजदूरो का सर्वोदय', 'शिक्षको और विद्यार्थियो का सर्वोदय', 'शहरवालो का सर्वोदय', 'आदिवासियो का सर्वोदय', और अन्त मे 'सबका सर्वोदय'। सुन्दर, बड़े अक्षरो म छपे हुए ये फोल्डर लागत मूल्य पर हजारो की सख्या मे बेचे जायें, ताकि अधिक-से-अधिक लोगो म त्रिविध कार्यक्रम चर्चा का विषय बन जाय। अभी ग्रामदान मन्थन का विषय नही बना है।

गाँव की नयी व्यवस्था

ग्रामदान के विचार को प्रस्तुत करते समय अब यह बात विचारणीय मालूम हो रही है कि जोर केवल भूमि

पर से हटाकर पूरी ग्राम व्यवस्था पर दिया जाय। ग्रामदान गाव की नयी व्यवस्था का नाम है, जिसम मालिक, महाजन, मजदूर हर एक का समुचित स्थान है, और उस स्थान की प्राप्ति के लिए हर एक को अपनी जमीन, उपज मजदूरी या मुनाफे का एक अंश अपनी ग्रामसभा को देना है। लगता है कि लोगो के सामने अब हमारा यही अप्रोच होना चाहिए। भूमि के प्रश्न पर अभी हम अभिनव ग्रामदान से आगे जा नहीं सकते। अपने देश म इससे आगे दूसरा कौन जा रहा है ? राजनीतिक नेताओ ने तो 'सीलिंग' के द्वारा निजी स्वामित्व को अभय दान दे दिया है ! स्वराज्य का खट्टा अनुभव, महँगी, सरकार के अधूरे, अनिश्चित कानून, परिवार की बढती हुई चिन्ताएँ आदि कारणो से परिस्थिति अत्यन्त कठिन होती जा रही है। उनके बीच से होकर हमें सर्व के उदय के लिए रास्ता निकालना है।

ग्रामदान क सम्बन्ध म गाँव म अलग-अलग स्थिति के लोगो को क्या शका या कठिनाई महसूस होती है, इसका तथा उसे दूर करने के उपायो का बारीकी स अध्ययन होना चाहिए। नही तो हम देखेंगे कि एक सीमा के बाद ग्रामदान मिलने म कठिनाई होगी और मिले हुए गाँवों को एक धागे म पिरोने (इटीग्रेशन) मे और भी अधिक कठिनाई होगी।

शकाएँ कई तरह की होती है, जिनको यहाँ गिनाना आवश्यक नही है, लेकिन कुछ शकाएँ भय बनकर सामने आती हैं। बडे किसान जो प्राय ऊँची जाति के होते हैं, सोचते हैं कि ग्रामसभा म मजदूरो और गरीबो का बहुमत होगा और वे सगठित होकर काम, मजदूरी, बटाई की दर के बारे म सवाल उठायेंगे और तरह तरह से बदला लेने की कोशिश करेंगे, और जरूरत पडने पर जब वे जमीन बचना चाहेंगे तो ग्रामसभा अनुमति नही देगी। बात यह है कि सदा से हम इस तरह की सामाजिक व्यवस्था म रहते आये है कि उसम खेती का सारा अर्थनीति मजदूर को अनेक प्रकार से बाँधकर प्राप्त किये हुए श्रम पर ह। टिकी हुई है। इस कारण परस्पर अविश्वास और विरोध की भावना का दृढ हो जाना स्वाभाविक है। यह अविश्वास और विरोध गाँव के लोगो के हर विचार और हर काम को प्रभावित (कन्डिशन) करता है। हम सोचें उनको हम कैसे आश्वस्त करेंगे।

गाँव के स्तर पर हम 'साझेदारी' की कोई-न-कोई व्यवस्था धीरे-धीरे विकसित करनी ही होगी, ताकि भूमि, पूँजी और श्रम एक दूसरे के निरन्तर निकट आते जायँ और सहकार की परिधि बढती जाय। प्रचलित सामूहिक या सहकारी खेती आदि से भिन्न 'साझेदारी' का प्रयोग इस आन्दोलन के लिए बुनियादी महत्व रखता है, और उसका सुनियोजित अभ्यास चुने हुए गाँवो म शुरू होना चाहिए। लोगो की शकाओं और भयो की उपेक्षा नही होनी चाहिए, मुख्यत जब हम समाज परिवर्तन की शैक्षणिक प्रक्रिया म विश्वास करते ह।

दो प्रश्न हैं जो ग्रामदान आन्दोलन के विकास और विस्तार के साथ जुडे हुए हैं। पहला प्रश्न यह है कि ग्रामदान का विचार आदिवासी, हरिजन, मजदूर, छोटे बटाईदार तथा ऐसे लोगो को, जो अपनी समस्याओ और मालिको के प्रभाव से परेशान हैं, दूसरो की अपेक्षा ज्यादा तेजी के साथ प्रभावित कर रहा है। हो सकता है कि ऐसे लोगो के गाँव बडी सख्या मे ग्रामदान म शरीक हो। दूसरी ओर सत्ता और सम्पत्ति के भ्रमजाल मे पडे हुए बडे गाँव भय, स्वार्थ और शका के कारण अलग रहें।

ऐसी हालत मे ऐसी स्थिति आ सकती है, जिसम हमारा आन्दोलन केवल गरीबो के साथ जुडा हुआ दिखायी दे। क्या वह स्थिति शुभ होगी ? क्या तब हम समन्वय (इटीग्रेशन) की प्रक्रिया को सघर्ष के ऊपर रख सकेंगे ? यह स्थिति कैसे टाली जाय और हम ज्यादा-से-ज्यादा किसानो, व्यापारियो, महाजनो आदि को भी अपनी ओर खींच सकें, इस प्रश्न पर अभी से सोचना चाहिए। कुछ शिक्षक, कुछ मुखिया, तथा कुछ निम्न मध्यम वर्ग के युवक, जिनकी आयु लगभग ३० और ४० के बीच होती है, लेकिन जो दलो आदि म कोई पद नही रखते, औरो की अपेक्षा भावना से हमसे ज्यादा समीप अनुभव करते है, उन्हे साथ लेना चाहिए। लेकिन कैसे ? क्या किया जाय कि सर्वोदय 'सर्व' का बना रहे ?

●

(अपूर्ण)

सेल्मा (अमेरिका)

गत २१ मार्च से मार्टिन लूथर किंग ने एक महान पदयात्रा का संचालन किया। यह यात्रा ५४ मील लम्बी थी, जिसमें हजारों लोग सेल्मा नगर से माटगुमरी तक पैदल चले। शुरू में तीन हजार लोग थे और आखिर दिन की तादाद २५ हजार पर पहुँच गयी।

इस यात्रा के आरम्भ में ही मार्टिन लूथर किंग ने महात्मा गांधी की याद की और कहा कि हमारी इस यात्रा का शायद उतना महत्त्व होगा जितना भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन में गांधीजी की डांडी-यात्रा का रहा है। हम इस समय गांधीजी की दक्षिणी अफ्रीका की सन् १९१२ की न्यूकैसिल-नगर में डरबनवाली यात्रा की भी याद आती है जिसमें गोरों के रंगभेद की नीति के खिलाफ हजारों भारतीयों ने मिलकर प्रदर्शन किया था। यद्यपि १८६४ की अमेरिका की परिस्थिति १८१२ की दक्षिणी अफ्रीका और १९३० के भारत से भिन्न है, फिर भी लक्ष्य के प्रति एकाग्रता और दृढ़तापूर्वक संकल्प की पूर्ति और हिंसक मान्यताओं के बजाय अहिंसक मूल्यों के प्रति निष्ठा, तीनों में एक-सी है।

यात्रा में आगे-आगे मार्टिन लूथर किंग रहते थे। पहले दिन ७ मील, दूसरे दिन १६ मील, तीसरे दिन घनघोर वारिश में ११ मील और चौथे दिन १६ मील तक चले। पांचवें दिन की यात्रा ४ मील की थी, जो माटगुमरी नामक प्रसिद्ध नगर में समाप्त हुई। इस यात्रा में अमरीका के विभिन्न भागों से लोग शिरकत करने आये थे। ऐटलांटा से एक अन्धा आदमी आया। मिशिगन राज्य के सैगीना नामक नगर से एक लँगड़ा आदमी आया। मीनिया से एक पुलिस पादरी यह कहते हुए आये कि मुझे ईश्वर की तरफ से संकेत मिला है कि मैं इस पावन यात्रा में भाग लूँ। एक नीग्रो छोटी लड़की यह कहकर शरीक हुई कि आजादी और न्याय की खातिर हमें कोई-कसर बाकी नहीं रखनी चाहिए, ताकि हम पर कोई चोट न कर सके।

इस यात्रा की पूर्व तैयारी बहुत अद्भुत थी। पदयात्रियों को खाना पहुँचाने के लिए एक रोटी और मछली कमेटी बनी थी, जो डिब्बाबन्द खाना हर पड़ाव पर जा-जाकर देती थी। रात को ठहरने के लिए बड़े-बड़े डेरे थे। साथ में ५० बड़ी मोटरें चलती थीं, जिनमें पांच तो शौच के लिए थीं। (हमारे देश की तरह अमरीका में लोटा लेकर शौच के लिए निकल जाना असम्भव है और कानून से वर्जित भी है। इसीलिए यह शौच की विशेष व्यवस्था की गयी।) पानी के लिए भी बड़ी-बड़ी टंकियाँ थीं। एक चल अस्पताल भी साथ रहता था और ६ ऐम्बुलेंस की मोटर भी थीं। कोई पदयात्री कहीं कोई कागज या फल आदि का टुकड़ा गिरा दे तो उसको उठाकर रखने के लिए कूड़े की गाड़ियाँ भी थीं। इस तरह इस यात्रा का आयोजन बहुत कुशलता से किया गया था।

आज सारी दुनिया में मार्टिन लूथर किंग की इस यात्रा की चर्चा है। इसने अहिंसा में एक श्रद्धा पैदा कर दी है और विचारवान लोग यह महसूस करने लगे हैं कि गांधी ने जो हिंसा का विकल्प रखा था उसको सक्रिय तौर पर आधुनिक युग में व्यवहार में कैसे ला सकते हैं। नीग्रो बन्धुओं में भी बड़ी जागृति आयी है और वे महसूस करते हैं कि चाहे कुछ देर लग जाय, लेकिन हमारा अधिकार कोई छीन नहीं सकता। मार्टिन लूथर किंग ने कहा कि आगे हम और भी प्रोग्राम उठायेंगे और जरूरत पड़ेगी तो आर्थिक बाइकाट का कार्यक्रम भी हाथ में लेंगे। ●

भाषा का प्रश्न

ले० विनोबा

मूल्य ५० पैसे पृष्ठ ४८,

सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी—१

इन दिनों भारत के सामने भाषा का मसला बहुत गम्भीरता के साथ आया है। विनोबाजी ने अत्यन्त तटस्थ बुद्धि और व्यापक दृष्टिकोण के साथ इस प्रश्न की ओर देश का ध्यान आकृष्ट किया है। भाषा के प्रश्न पर जिस समय तमिलनाड में हिंसात्मक उपद्रव हो रहे थे, उस समय विनोबाजी ने उपवास करके उस हिंसा को रोकने का प्रयत्न किया। कुछ समय के लिए यह प्रश्न दब भी गया हो लेकिन उसकी व्याकुलता और चिन्ता मिटी नहीं है। इसलिए आवश्यक है कि देशवासी इस प्रश्न पर पूरी गम्भीरता से विचार करें। विनोबाजी की प्रस्तुत पुस्तक से भाषा के इस गम्भीर प्रश्न पर विचार करने में बडी मदद मिलती है।

इस पुस्तक में विनोबाजी की सर्व परिचित त्रिसूत्री का भी विवेचन है—

- भाषा की समस्या के समाधान के लिए हिंसा का सहारा कदापि न लिया जाय।
- गैर हिन्दी भाषियों पर हिन्दी न लादी जाय।
- जो अंग्रेजी नहीं जानते उन पर अंग्रेजी न लादी जाय।

इस पुस्तिका में विनोबाजी ने यह भी स्पष्ट किया है कि हिन्दी को नये विचार का वाहन बनना चाहिए तथा हिन्दी का प्रचार प्रेम से किया जाना चाहिए। हम सब जानते हैं कि विनोबाजी ने हिन्दुस्तान भर में पैदल यात्रा के दौरान सभी राज्यों में प्रायः हिन्दी में ही हजारों प्रवचन किये हैं। यदि हिन्दी का माध्यम उनके पास न होता तो सारे भारत की जनता के हृदय तक पहुँचने में दिक्कत आती।

●

अनुक्रम

●

नयी तालीम

संयुक्तांक (जून-जुलाई) की रूपरेखा

विषय—भारतीय शिक्षा का स्वरूप

खण्ड —
- भारतीय शिक्षा-दर्शन ।
- भावी भारतीय नागरिक की अनिवार्य शिक्षा (शिक्षा-पद्धति और अवधि) ।
- माध्यमिक शिक्षा-गठन के मूल तत्त्व ।
- उच्च शिक्षा का सिद्धान्त और लक्ष्य ।
- शिक्षक-प्रशिक्षण-समस्याएँ ।
- शैक्षिक प्रशासन ।
- लोक-शिक्षण ।

संयुक्तांक में इन विषयों से सम्बद्ध कुछ सन्दर्भ-लेख (वर्किंग पेपर्स) भी प्रकाशित होंगे । इनके साथ-साथ सामान्य अंकों के मुख्य स्तम्भों की सामग्री भी यथावत रहेगी ।

लेखकों और विचारकों से निवेदन है कि विशेषांक-सम्बन्धी रचनाएँ मई के अन्त तक भेजने की कृपा करें ।

—सम्पादक

लाइसेंस नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
मई, १९६५ नयी तालीम रजि० स० एल, १७२३

कितना सुख मिल रहा था !

एक था आदमी। वह अकेला रहता था। उसे अपनी जिन्दगी बडी नीरस लगती थी। वह हमेशा खोया-खोया रहता था। खाने-पीने की उसे कमी न थी, फिर भी उसके चेहरे पर हंसी नही आ पाती थी।

एक दिन वह गया बाजार। उसने देखा कि पके-पके मीठे आम बिक रहे हैं। उसने खरीद लिया। वही बैठकर उसने भर पेट आम खाया; लेकिन उसे आनन्द नही मिला। मीठे आम भी उसे फीके लगे।

कुछ दिनो बाद उसकी शादी हो गयी। उसके बाल-बच्चे भी हो गये। एक दिन वह घूमता-फिरता बाजार जा पहुँचा। उसने देखा—मीठे-मीठे आम बिक रहे हैं। उसने खरीद लिया। लेकिन, इस बार वह उन्हे खुद न खा सका। वह आम लेकर घर आया। उसे आते देखकर बच्चे चिल्ला उठे—"बाबूजी, आये ! बाबूजी आये !"

दौडकर बच्चे पास आ गये। आम देखते ही उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। उन्होने सारे आम झपट लिये और बडी मस्ती से एक-एक करके खाने लगे। वह आदमी बच्चो को खुशी-खुशी आम खाते देख रहा था। उसे कितना सुख मिल रहा था, कहा नही जा सकता।

—विनोबा-कथित

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व-सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी मे मुद्रित तथा प्रकाशित
आवरण मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमंदिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २७,१००, इस मास छपी प्रतियाँ २७,१००

नयी तालीम
धीरेन्द्र मजूमदार
सर्व-सेवा-संघ की मासिकी
प्रधान सम्पादक:
विशेषांक
भारतीय शिक्षा-दर्शन
भारतीय शिक्षा का स्वरूप
शिक्षक-प्रशिक्षण
लोक-शिक्षण
शैक्षिक संगठन
जून
जुलाई

निवेदन

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- नयी तालीम प्रति माह १४ वीं तारीख को प्रकाशित होती है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी <u>ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें</u>।
- समालोचना के लिए पुस्तकों की दो दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक होती हैं।
- लगभग १५०० से २००० शब्दों की रचनाएँ प्रकाशित करने में सहूलियत होती है।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी लेखक की होती है।

वार्षिक चन्दा
६ ००

इस प्रति का मूल्य
१ २०

राष्ट्र की शिक्षा उसके सामाजिक लक्ष्य के अनुरूप होनी चाहिए। हमारे राष्ट्र ने लोकतंत्र और समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित किया है।

वह शिक्षा कौन-सी होगी, जो देश के ४६ करोड़ लोगों को स्पर्श करके, जो जहाँ है, उसे वहीं से आगे बढ़ायेगी ?

प्रस्तुत विशेषांक इस महत्वपूर्ण प्रश्न के विवेचन का एक प्रयास है।
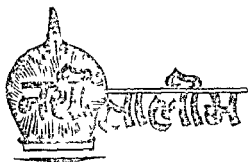
शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज-शिक्षकों के लिए

'शिक्षा भी' या 'शिक्षा ही' ?

वर्ष : तेरह
●
संयुक्तांक

जब से सरकार ने शिक्षा-आयोग बिठाया है देश में शिक्षा की चर्चा कुछ बड़े पैमाने पर चल पड़ी है, और ऐसा लगने लगा है कि हमारी सरकार और हमारा समाज, दोनों शिक्षा का महत्व पहले से अधिक समझने लगे हैं। बहुत पुराने जमाने में जब ग्रीस देश सभ्यता में सिरमौर समझा जाता था तो वहाँ बच्चों को पढ़ना लिखना सिखाने के लिए गुलाम रखे जाते थे। लेकिन, भारत में गुरुओं और ऋषियों-द्वारा दी गयी शिक्षा जीवन से अलग जानेवाली कोरी प्रवृत्ति नहीं थी, बल्कि एक शक्ति थी, जो समाज के जीवन का नियमन और संचालन करती थी, लेकिन अँग्रेजों ने शिक्षा को नौकरी के साथ जोड़ा और उसकी हैसियत बाजारू करदी। और शिक्षा की यही हैसियत आजतक बनी हुई है। अफसोस, स्वतन्त्रता के अठारह वर्ष बाद भी!

आयोग और उसके विद्वान सदस्य देश के हर राज्य में जा रहे हैं, लोगों से—ज्यादातर सरकार के अधिकारियों तथा कालेजों और

विश्वविद्यालयों के बडे लोगो से—मिल रहे हैं, और राष्ट्रीय शिक्षा के बारे मे अपने विचार बना रहे हैं। कहा जा रहा है कि मार्च, १९६६ तक उनकी रिपोर्ट सरकार के पास पहुँच जायगी। जिन्हे इस देश के भविष्य की चिन्ता है वे अधीर होकर रिपोर्ट की राह देख रहे हैं, क्योंकि वे शिक्षा की योजना मे देश के विकास का चित्र देखना चाहते हैं।

हमने लोकतत्र और समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित किया है, इसलिए हम अब लोकतन्त्र और समाजवाद से हटकर शिक्षा ही नही, किसी भी चीज को देखने के लिए तैयार नही हैं। इसलिए सबसे पहले हमे इसी बात की चिन्ता है कि नये भारत की भूमिका मे शिक्षा की हैसियत क्या होगी। क्या इसके आगे भी सरकार के अनेक दूसरे विभागो की तरह शिक्षा एक विभाग ही रहेगी या शिक्षा राष्ट्र के विकास का केन्द्र-विन्दु होगी और उसके अनुबन्ध मे दूसरी सब प्रवृत्तियाँ पिरोयी जायँगी ? दोनो मे बहुत अन्तर है।

अगर समाज का मौजूदा ढाँचा, जो अन्याय और अनीति पर टिका हुआ है, कायम रखना हो, और उसे सरकार की ही शक्ति से किसी तरह ढकेलते चलना हो तो शिक्षा को आज की तरह एकागी, विभागीय प्रवृत्ति के रूप मे चलाना ठीक है, लेकिन अगर अभाव, अन्याय और अज्ञान से मुक्त कोई नया समाज बनाना हो तो सबसे पहले शिक्षा की हैसियत बदलनी होगी, उसे विकास की योजना मे केन्द्रीय स्थान देना होगा, उसे सरकारी विभाग की सीमाओ और सकीर्णताओं से मुक्त करना होगा, तब खेती, उद्योग, स्वास्थ्य और सुव्यवस्था आदि के अधिकाश काम शिक्षा के अनुबन्ध मे चलेंगे, और शिक्षा समाज की मुख्य शक्ति के रूप मे विकसित की जायेगी।

इसका अर्थ क्या है ? देश लोकतत्र चाहता है। यह उसकी घोषणा है। लोकतंत्र का अर्थ है कि 'लोक' की शक्ति 'तत्र' के ऊपर हो, लेकिन देश मे जहाँ देखिए तत्र-ही-तत्र दिखाई देता है, लोक तो जैसे कही है ही नही। लोकतन्त्र का अर्थ है कि सबकी हैसियत समान है, लेकिन दिखाई यह देता है कि देश मे एक-एक आदमी बुरी तरह बनावटी-बडप्पन का शिकार हो रहा है, और अपने को दूसरे से बढकर दिखाने मे ही अपनी शक्ति लगा रहा है। लोकतन्त्र का अर्थ है कि सबकी राय से सब काम हो, लेकिन हो यह रहा है कि विपक्षी, विधर्मी और विजातीय को दुश्मन समझना और उसे हर जा-बेजा तरीके से अलग रखना ही राजनीति का मान्य तरीका हो गया है।

देश समाजवाद चाहता है। यह उसका घोषित सकल्प है। लेकिन, हम देख रहे हैं कि निजी सम्पत्ति का बोलबाला बढता ही चला जा रहा है। पहले सम्पत्ति परम्परा के बल पर खडी थी, लेकिन आज सम्पत्ति का मालिक विज्ञान और विकास के नाम मे देश के

जीवन पर दिनोदिन अधिक हावी होता जा रहा है। इतना ही नहीं, सम्पत्ति सत्ता और सेवा दोनों को दासी बनाती जा रही है, और ऐसा लगता है, जैसे देश के करोड़ों लोग अपने ही घर में पराये हो गये हैं। देश वास्तव में अन्तर्विरोधों में फँस गया है। वह जाना चाहता है किसी ओर, और जा रहा है किसी ओर।

सत्ता और सम्पत्ति का समाज हमने देख लिया। अब हमें सत्ता और सम्पत्ति से अलग हटकर समाज की नयी शक्ति की खोज करनी है, ठीक उसी तरह जैसे वैज्ञानिकों ने बिजली से आगे जाकर अणु की शक्ति की खोज की है, और दूसरी शक्तियों की खोज में लगे हुए हैं। उस नयी शक्ति की खोज कौन करेगा? शिक्षा के सिवाय दूसरा कौन? लेकिन, क्या उस शिक्षा में, जो इमारतों, इम्तहानों और नौकरियों में बँधी हुई है, नयी सामाजिक शक्ति, सत्ता और सम्पत्ति से भिन्न थर्ड फोर्स विकसित करने की शक्ति आ सकती है? कौन कहेगा--'हाँ'?

आज इतना ही काफी नहीं है कि कुछ किताबें बदल दी जायँ, इम्तहान की पद्धति सुधार दी जाय, शिक्षकों का थोड़ा वेतन बढ़ा दिया जाय, या हर जिले में नमूने का एक स्कूल बना दिया जाय, और हर बड़े शहर में विश्वविद्यालय खोल दिये जायँ। सच बात यह है कि शिक्षा को आज देश के चित्त--लोक चित्त का--निर्माण करना है। आज का चित्त खरे-स्वार्थों और खोटे आदर्शों का चित्त है, उसकी जगह नया चित्त बनाना है। चित्त से चरित्र बनता है, और चरित्र से भविष्य।

ऐसी शिक्षा कैसी होगी? निश्चित है कि आज जैसी है वैसी हरगिज नहीं होगी। तो? जिस दिन हम शिक्षा को बीच में और उसके चारों ओर राजनीति, अर्थनीति, समाज-नीति और धर्मनीति को रखेंगे, उसी दिन स्वयं शिक्षा नौकरी से मुक्त हो जायगी, राजनीति सत्ता से मुक्त होगी, अर्थनीति सम्पत्ति से समाजनीति जाति से, और धर्मनीति पाखण्ड और पारलौकिकवाद से। इसका सीधा अर्थ यह है कि हम इन सारे क्षेत्रों में एकसाथ बुनियादी-परिवर्तन की बात सोचनी चाहिए, और समाज के व्यापक लोकशिक्षण के साथ-साथ शिक्षा-संस्थाओं में किताब या कुदाल के द्वारा उस परिवर्तन का सघन अभ्यास होना चाहिए।

लेकिन, दिखाई यह दे रहा है कि शिक्षा-आयोग, शिक्षा के अधिकारी और दूसरे नेता अभी 'शिक्षा भी' की बात सोच रहे हैं, 'शिक्षा ही' की नहीं। हम सुझाना चाहते हैं कि भारत-जैसे देश के लिए, जो साधन और चरित्र दोनों खो चुका है, 'शिक्षा ही' चाहिए, 'शिक्षा भी' नहीं। भारत में शिक्षा का अर्थ है--सबका विकास, सबमें विकास, सबके लिए विकास।

--राममूर्ति
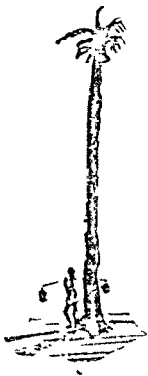
शिक्षण-विचार •

आधुनिक शिक्षाशास्त्र के आधारतत्त्व •

बुनियादी शिक्षा का दर्शन •

क्रान्ति और शिक्षा •

शिक्षण-विचार ———————————— • विनोबा

शिक्षण के विषय में जब-जब मैं सोचता हूँ, तो बहुत दफा मुझे ऐसा लगा है कि हमने नाहक इस विषय को जटिल बना दिया है। अगर हम मूल को पकड़ रखते हैं, तो सवाल हल हो जाता है। शाखाओं की बात सोचते हैं, तो शक्ति का क्षय होता है।

शिक्षण का मुख्य हेतु यही है कि सारी जनता को उद्योगशील और विचारशील बनाया जाय लेकिन इस एक विषय के अनेक पहलू हम बनाते हैं। शहर का शिक्षण, गाँवों का शिक्षण, प्रौढ़ों का शिक्षण बच्चों का शिक्षण और फिर बच्चों में भी शिशु-शिक्षण, बुनियादी शिक्षण, स्त्रियों का शिक्षण, पुरुषों का शिक्षण, औद्योगिक शिक्षण, और इन सबके अलावा साक्षरता प्रचार।

मैंने अपने अनुभव से शिक्षण की, जो व्यवस्था दी है, वह यह है कि विद्यार्थियों को शीघ्र-से-शीघ्र स्वावलम्बी बनाना चाहिए। स्वावलम्बी बनाना—इसका अर्थ एक तो यह है कि अपनी-अपनी आजीविका वे अपने श्रम से चला सकें, क्योंकि इसके बिना व्यक्ति समाज में उपयोगी नहीं बनेगा। ऐसा नहीं हुआ, तो व्यक्ति समाज के लिए भाररूप होगा। परन्तु अभी मेरे मन में यह नहीं है। स्वावलम्बन की दूसरी व्याख्या यह है कि विद्यार्थियों को ज्ञान के विषय में स्वावलम्बी बनाना है। वे स्वयमेव प्रयोग करें। दूसरों के अनुभवों और अपने अनुभव से भी ज्ञान प्राप्त कर सकें, ऐसी शक्ति विद्यार्थी को देना ही शिक्षण का कार्य है।

कहा जाता है कि पुरानी शिक्षण-पद्धति ज्ञान प्रधान है और हम लोगों की नयी-तालीम कर्म-प्रधान है, पर यह विश्लेषण गलत है। पुरानी शिक्षण-पद्धति को ज्ञान प्रधान कहना भूल है और नयी शिक्षण-पद्धति को कर्म-प्रधान कहना भी भूल है। कुछ लोग कहेंगे कि पुरानी शिक्षण-पद्धति पुस्तक-प्रधान थी और नयी तालीम उद्योग-प्रधान है, पर यह व्याख्या भी पूर्ण नहीं है। हमारा लक्ष्य काम के लिए उपयुक्त व्यक्तियों का निर्माण करना ही नहीं है, और न यही लक्ष्य है कि हम ज्ञानयुक्त कारीगर ही तैयार करें, बल्कि हमें मानव का पूर्ण गुण-विकास अपेक्षित है। जो शिक्षक और विद्यार्थी उसमें भाग लेंगेउन दोनों का पूर्ण विकास होना चाहिए। अगर वे केवल 'ज्ञान' या केवल 'कर्म-

कुशलता' या दोनों प्राप्त करें तो भी वह शिक्षण एकांगी होगा। कारण, कर्म-शक्ति और ज्ञान-शक्ति अनेक गुणों में से केवल दो गुण हैं, जबकि शिक्षा से सभी गुणों का विकास अपेक्षित है।

शिक्षण से दो अपेक्षाएँ

शिक्षण में दो बातें देखनी पड़ती हैं। पहली यह कि जो शिक्षण दिया जाता है, वह जनता के खर्च से दिया जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष व्यवहार में उसका उपयोग होना चाहिए। बालक ऐसा शिक्षण पायें कि शिक्षित होने पर समर्थ बनकर दुनिया की सेवा के लिए आगे आ सकें और उन्होंने जितना लिया है उससे दसगुना वे दूसरों को दे सकें।

शिक्षण से दूसरी यह भी अपेक्षा की जाती है कि विद्यार्थी को उसमें समग्र विकास की सामग्री मिले। मन की जितनी भी शक्तियाँ हैं वे सब ऋषि-मुनियों ने हमें समझा दी हैं। 'अनन्त हि मन, अनन्ता विश्वदेवा'— विश्वदेव अनन्त हैं और मन भी अनन्त है। जब हम उसकी एक-एक वृत्ति और शक्ति का विश्लेषण करने लगते हैं तब उसके अनेक गुणों का आभास मिलता है। आत्मा सच्चिदानन्द है। उसके सान्निध्य से मन में अनेक गुणों की छाया प्रतिबिम्बित हो उठती है, अनन्त गुण मन में प्रकाशित हो उठते हैं। हमें अनुभवी पुरुषों ने सिखाया है कि मुख्य शिक्षण वही है, जिससे हम अपने आप को मन और शरीर से भिन्न पहचान सकें। स्वय की यह पहचान ही सर्वोपरि गुण है।

सवाल पद्धति का नहीं, दृष्टि का

जब हम ऊपर-ऊपर से शिक्षण का विचार करते हैं, तो बुनियादी तालीम भी एक पद्धति मानी जाती है। इसमें सिर्फ पद्धति का सवाल नहीं, दृष्टि का भी सवाल है। बुनियाद में झगड़े पैदा क्यों हुए? क्योंकि ज्ञान को कर्म से अलग कर दिया गया—केवल कल्पना-मात्र से। यह मानस-शास्त्र की गलती है, और आर्थिक क्षेत्र में दोनों को अलग किया गया—यह अर्थशास्त्र की गलती है। कर्म और ज्ञान अलग हो ही नहीं सकते। जो अलग करेगा, वह विचार को समझता ही नहीं।

ज्ञान क्रिया से भिन्न नहीं हो सकता। जो ज्ञान क्रिया से भिन्न है, वह ज्ञान नहीं है, और क्रिया भी ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकती। यह दृष्टि का विषय है। इस वास्ते मानस-शास्त्र की गलती होगी, अगर ज्ञान को कर्म से अलग समझेंगे।

ज्ञान होता कैसे है?

लोग पूछते हैं—बुनियादी पद्धति में दो-तीन घण्टे काम करेंगे तो ज्ञान कैसे मिलेगा? और, मुझे भी लगता है कि वे लोग सिर्फ पढ़ते ही रहेंगे, तो उन्हें ज्ञान कैसे मिलेगा? उस व्यक्ति के प्रति बहुत आश्चर्य होता है जो तीन घण्टे में ६०-७० पन्ने पढ़ता है। क्या इतना सारा तीन घण्टे में पढ़ गया? वह तो आँख का व्यायाम हुआ। यह ठीक नहीं है। हम समझते हैं कि पुस्तक पढ़ना, ज्ञान का साक्षात् साधन है, लेकिन मैं समझता हूँ कि पुस्तक यानी हमारे और सृष्टि के बीच परदा है। गाय से जो ज्ञान होता है, वह उसके चित्र से या 'गाय' शब्द से होगा? आमका ज्ञान पुस्तक पढ़ने से नहीं, आम 'खाने' से होता है।

ज्ञान कर्म से अलग नहीं

कोई पुस्तक पढ़ता है। कहता है कि दिखता नहीं। क्यों नहीं दिखता? चश्मा नहीं है, इसलिए नहीं दिखता। तो कोई पूछेगा, देखता कौन है? आँख देखती है या चश्मा देखता है? चश्मा देख नहीं सकता। देखती आँख ही है। इसलिए साधन आँख है, चश्मा मददगार है। आँख करण है और यह चश्मा उपकरण है। ये व्याकरण के शब्द हैं। वाणी करण है और 'माइक' उपकरण है। पाणिनि ने बताया है—'साधकतम करणम्' सबसे श्रेष्ठ साधन करण है। इसलिए ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ साधन नहीं हो सकता, लेकिन शंका आती है कि पुस्तक के बिना ज्ञान होगा कैसे? इस वास्ते कर्म और ज्ञान को अलग कर देते हैं। इस प्रकार, हमने सामाजिक अन्याय किया है कि कुछ लोगों को केवल ज्ञान-प्राप्ति का काम है और कुछ को परिश्रम का। परिणामस्वरूप समाज के दो टुकड़े बन गये हैं, अनेक वर्ग बन गये हैं। इसलिए जहाँ ज्ञान को काम से अलग करते हैं, वहाँ बड़ा भारी सामाजिक अन्याय होता है।

समाज के प्रति अपराध

परिश्रम अलग चीज है और परिश्रम-निष्ठा, परिश्रम के प्रति आदर और प्रेम अलग चीज। संसार में ज्यादातर लोग शारीरिक परिश्रम करनेवाले ही हैं, परन्तु वे अक्सर मजबूर होकर मेहनत करते हैं। बहुत-से लोग मेहनत के कामों से यदि बच सकें तो बचना ही चाहेंगे। कुछ लोग शारीरिक परिश्रम से बचकर अर्थात् उसका भार दूसरों पर लादकर भी प्रतिष्ठित बने बैठे हैं। इसीसे साम्राज्य-वाद, पूँजीवाद, युद्ध, विषमता (छोटे-बड़े का भेद, ऊँच-नीच आदि का भेद) आदि की उत्पत्ति हुई है। इन सबका केवल एक ही इलाज है, और वह यह कि विद्यार्थियों में यह भावना पैदा की जाय कि बिना कुछ शरीर-श्रम किये शरीर को अन्न देना, अपने प्रति और समाज के प्रति अपराध करना है।

केवल प्रौढ़ शिक्षण नहीं

आजकल जिस प्रकार प्रौढ़ों में साक्षरता-प्रचार चलता है, उससे कोई खास लाभ नहीं है। प्रौढ़ों का शिक्षण भी उद्योग के जरिये ही होना चाहिए, जिससे बेकारों को उद्योग मिल सके और उनका बौद्धिक विकास भी हो।

मान लीजिए कि दो हजार की आबादी का गाँव है। ऐसे गाँव में आठ या नौ साल का सम्पूर्ण बुनियादी शिक्षणक्रम चलाया जाय, तो उसमें करीब तीन सौ लड़के होंगे। उनके लिए हम दर्जों के हिसाब से आठ-दस शिक्षक नियुक्त करेंगे तो उनके अलावा और भी दो-तीन शिक्षक ज्यादा देंगे। सब मिलकर बुनियादी शिक्षण चलायेंगे। साथ-साथ प्रौढ़ों को भी वे जीवनोपयोगी ज्ञान-विज्ञान दे सकेंगे। कारण, वे खुद अनेक उद्योगों में प्रवीण होंगे। इसलिए किसान को भी वे व्यावहारिक ज्ञान दे सकेंगे। इसके अलावा बुनियाद की वर्तमान स्थिति का ज्ञान, भूगोल का ज्ञान, आरोग्य-विज्ञान आदि का ज्ञान भी देंगे।

जड़ को पकड़ना चाहिए

अब इतने सारे पहलू बनाकर हम अगर सोचने लगें, तो सोचते ही रहेंगे। ध्यान विभाजित करके, थोड़ा खर्च इस पर, थोड़ा खर्च उस पर, इस तरह किसी भी चीज को पूरा सन्तोष नहीं दे पाते। इसलिए जड़ को पकड़ना चाहिए और कोशिश ऐसी होनी चाहिए कि एक में सब कुछ सध जाय। मेरे ख्याल से वह जड़ बुनियादी शिक्षण है, जिसे विशेषज्ञों ने सात से चौदह साल तक का माना है। यह अवधि और भी बढ़ा सकते हैं। इधर वह छह साल से शुरू कर उधर पन्द्रह साल तक ले जा सकते हैं, यानी पूर्णता लाने के लिए मियाद जितनी बढ़ानी जरूरी हो, बढ़ा सकते हैं। बुनियादी शिक्षण को सर्वांग सुन्दर बनाना चाहिए और वह शिक्षण सारे देश में लाजिमी होना चाहिए। इसमें उद्योग आता है, विचार-विकास आता है और साक्षरता भी आती है। इसमें यह सवाल भी नहीं उठता कि सीखी हुई विद्या टिकी कैसे रहे ? क्योंकि वह एक अनुभवयुक्त ज्ञान होता है, इसलिए उसमें भूलने की तो गुंजाइश ही नहीं। बल्कि, जैसे एक बीज बोने से असंख्य बीज पैदा होते हैं, वैसे उस विद्या की वृद्धि ही होती रहती है। जिस लड़के ने इस तरह विद्या पायी है, वह आगे जाकर अपना ज्ञान शतगुणित करेगा।

पूरी बुनियादी शिक्षा चले

कहा जाता है कि सरकार अभी बुनियादी तालीम पूरा नहीं चला सकती, क्योंकि उसके लिए पर्याप्त पैसे नहीं हैं। मैं कहता हूँ कि 'जितने भी पैसे हैं' इसी में लगाइए। चार ही साल का बुनियादी स्कूल खोलने से कोई खास निष्पत्ति नहीं होती। पूरा बुनियादी स्कूल चलाने से ज्ञान परिपूर्ण होगा और खर्च भी निकल आयगा, लेकिन इसमें कंजूसी की जाती है। बुनियादी शिक्षक को कम देते हैं और उधर प्रौढ़-शिक्षण के लिए अलग शिक्षक रखते हैं। बेहतर यह है कि बुनियादी-शिक्षण के लिए पूरी संख्या में शिक्षक रखे जायँ, जिससे वे ही प्रौढ़-शिक्षण का काम कर सकें।

चित्त-विकास की दीक्षा

बुनियादी तालीम की इस शिक्षण-पद्धति ने विचारों का बहुत कुछ झगड़ा ही मिटा दिया है। कुछ विचारक कहते हैं कि 'ज्ञान' और 'कर्म' में विरोध है। कुछ कहते हैं कि 'विरोध तो नहीं है, पर दोनों में भेद है।' कुछ कहते हैं कि 'भेद तो है, पर दोनों का संयोग होना चाहिए।' पर,

(सचाई यह है कि) इस पद्धति से दोनों एकरूप हो जाते हैं। कर्म से ज्ञान मिलता है, ज्ञान से कर्म सम्पन्न होता है, और ज्ञान तथा कर्म दोनों के मिलने से चित्त का विकास होता है। देखने से तो बच्चा कर्म करते दिखाई देता है, पर भीतर से वह ज्ञान प्राप्त करता रहता है। शिक्षक,उसकी सहायता के लिए निमित्त-मात्र होता है।

सिर्फ खेती से उद्धार नहीं

मेरी दृष्टि से हमारे शिक्षण में बड़ी जरूरत और किसी चीज की है तो विज्ञान की। हिन्दुस्तान कृषि-प्रधान देश भले ही कहलाता हो, फिर भी उसका उद्धार सिर्फ खेती के भरोसे नहीं होगा। योरपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते हैं। हिन्दुस्तान में खेती-प्रधान व्यवसाय होते हुए भी प्रति व्यक्ति सवा एकड़ जमीन है। उसके विपरीत फ्रांस देश में, जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है, प्रति मनुष्य साढ़े तीन एकड़ जमीन है। इसपर से मालूम होगा कि हिन्दुस्तान में अकेली खेती ही होती है, और कुछ नहीं होता। यह हालत बदल देने के लिए हमारे यहाँ के विद्यार्थी, शिक्षक और जनता सभी को उद्योग में निपुण बन जाना चाहिए। उसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

शाखाग्राही पाण्डित्य

बुनियादी तालीम एक समुद्र है। उसमें विचार की सब नदियों का समावेश हो जाता है। उसमें स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है। शहर और देहात का भी भेद नहीं रहता, क्योंकि दोनों को मूल शिक्षण वही चाहिए। आगे चलकर कुछ फर्क हो सकता है, लेकिन विरोधी दिशा तो हरगिज नहीं हो सकती।

यह है शिक्षण की जड़। लेकिन मुझे लगता है कि इस तरह जितनी तीव्रता और दूरदृष्टि से देखना चाहिए, नहीं देखा जा रहा है और बहुत सारा शाखाग्राही पाण्डित्य चल रहा है। उससे समस्याएँ बढ़ ही सकती हैं, हल नहीं की जा सकतीं। —(शिक्षण-विचार से)

•

सन् १८५७ के बाद जब कभी भारत ने स्वराज की बात की, सांस्कृतिक स्वराज और पुनरुत्थान उसकी नजर के सामने था ही। कांग्रेस के नेता और स्वराज के सेनानी सबके सब भारतीय संस्कृति के प्रखर उपासक थे। रवीन्द्रनाथ, श्रीअरविन्द और महात्मा गांधी तक यह सिलसिला चला।

न जाने किस तरह स्वराज के आते ही हम लोग अन्तर्राष्ट्रीय बन गये। नजर में व्यापकता आयी, यह तो अच्छा ही हुआ, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श की आड़ में हम आज के पश्चिम के अनुयायी और भक्त बनने लगे हैं। अपनी संस्कृति का आदर तो क्या, उसका परिचय भी हम खो बैठे हैं।

— काका कालेलकर

• •

आधुनिक शिक्षाशास्त्र के आधारतत्त्व

● बर्ट्रेण्ड रसेल

लोकतन्त्र और शिक्षा के विषय को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इसमें नितान्त एकरूपता पर जोर देना विनाशकारी होगा। कुछ लड़के और लड़कियाँ दूसरों से अधिक चतुर होते हैं और उच्च शिक्षा-द्वारा वे अधिक लाभ उठा सकते हैं। कुछ अध्यापकों को प्रशिक्षण दिया गया है या कुछ में दूसरों की अपेक्षा पढ़ाने की स्वाभाविक योग्यता होती है परन्तु यह असम्भव है कि प्रत्येक विद्यार्थी इन गिने सर्वोत्कृष्ट अध्यापकों-द्वारा ही शिक्षा ग्रहण करे। सभी को उच्चतम शिक्षा सुलभ हो इसमें मुझे सन्देह नहीं है, परन्तु इस बात को मान भी लिया जाय तो ऐसा करना फिलहाल सम्भव नहीं है।

इन परिस्थितियों में लोकतन्त्र के सिद्धान्त को बिना सोचे विचारे लागू किया गया तो उसका परिणाम यह होगा कि उच्च शिक्षा किसी को भी सुलभ न होगी और यदि इस प्रकार का आचरण किया ही गया तो वह वैज्ञानिक उन्नति के लिए घातक ही नहीं होगा उससे शिक्षा का सामान्य स्तर आज से सौ वर्ष बाद काफी नीचे गिर जायेगा। इस समय यांत्रिक समानता लाने के लिए प्रगति का बलिदान नहीं करना चाहिए। शिक्षा-सम्बन्धी लोकतन्त्र की दिशा में अग्रसर होते समय हमें बड़ी सावधानी रखनी होगी ताकि परिवर्तन के इस क्रम में सामाजिक अन्याय से सम्बन्धित जो भी उपयोगी एवं बहुमूल्य तत्त्व हों वे कम-से-कम नष्ट होने पायें।

शिक्षा की सार्वभौमिकता

हम शिक्षा की उस व्यवस्था को सन्तोषजनक नहीं कह सकते जिसको विश्व में सर्वत्र नहीं अपनाया जा सकता। धनी लोगों के बच्चों की देखभाल के लिए माता के अतिरिक्त नर्स, नर्सरी मेड (परिचारिका) और कई नौकर चाकर होते हैं। जितना ध्यान उन बच्चों पर दिया जाता है उतना ध्यान किसी भी सामाजिक व्यवस्था में सभी बच्चों पर नहीं दिया जा सकता। जिन बच्चों का बड़े यत्नपूर्वक लालन-पालन किया जाता है वे आवश्यक रूप से दूसरों पर आश्रित हो जाते हैं। निस्सन्देह इस प्रकार अनावश्यक रूप से पराश्रित रखने से बच्चों का कोई लाभ नहीं हो सकता। कोई भी तटस्थ व्यक्ति थोड़े-से बच्चों को विशेष सुविधा देने का समर्थन नहीं कर सकता जबतक

इसके लिए विशेष कारण न हो। उदाहरण के लिए मन्द बुद्धि अथवा प्रतिभा सम्पन्न बच्चो को विशेष सुविधाएँ दी जा सकती है।

आज के समझदार माता-पिता यदि सम्भव हो तो अपने बच्चों के लिए ऐसी शिक्षा-विधि पसन्द करेंगे, जो सबको सुलभ नही है, और प्रयोग की दृष्टि से यह अच्छा भी है कि माता-पिता को नयी विधियों के परीक्षण का अवसर मिले, परन्तु वे शिक्षा-विधियाँ ऐसी होनी चाहिएँ कि परिणाम अच्छा होने पर उन्हें सर्वव्यापी बनाया जा सके। वे विधियाँ इस प्रकार की नही होनी चाहिएँ कि कुछ सुविधा-सम्पन्न लोग ही उनमे लाभ उठा सकें।

शिक्षा की एक नयी प्रवृत्ति और लोकतंत्र

शिक्षा मे एक और आधुनिक प्रवृति है, जिसका सम्बन्ध प्रजातन्त्र मे है। इस विचारधारा के अनुसार शिक्षा को ज्ञान की वस्तु बनाने की अपेक्षा उपयोगी बनाया जाना चाहिए, परन्तु यह प्रश्न बहुत ही विवादास्पद है। इमी प्रसग म जहाँतक पुरुषो की शिक्षा का सम्बन्ध है, विवाद का विषय यह है कि पुरुषो को क्लासिकल शिक्षा दी जानी चाहिए या एकदम आधुनिक।

दूसरी ओर लड़कियो की शिक्षा के प्रश्न पर विवाद यह है कि उन्हे कुलीन महिला के आदर्श तक पहुँचाया जाय या उनकी शिक्षा इस प्रकार की हो, जिससे वे आत्मनिर्भर बन सकें। परन्तु, स्त्रियो की शिक्षा की समस्या, स्त्री और पुरुष के बीच समानता की इच्छा के कारण कुछ बिगड गयी है। प्रयास यह किया गया है कि जो शिक्षा लड़को को दी जाती है वही लड़कियो को भी दी जाय, चाहे वह उपयोगी हो या न हो।

इन परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के कारण जिस प्रवृत्ति पर मैं अपने विचार व्यक्त कर रहा हूँ, उस प्रसग मे स्त्री-शिक्षा की समस्या कुछ निश्चित नहीं हो पाती। वास्तविक विषय के सम्बन्ध में कोई भ्रम न हो, इसलिए मैं फिलहाल अपने-आपको पुरुष-समाज की शिक्षा तक ही सीमित रखूँगा।

शिक्षा का ध्येय

वास्तविक विषय तो यह है कि क्या शिक्षा मे हमारा ध्येय यह होना चाहिए कि मस्तिष्क को ऐसे ज्ञान से भर दिया जाय, जिसकी सीधी व्यावहारिक उपयोगिता हो? अथवा छात्रों को ऐसा ज्ञान दिया जाना चाहिए, जो स्वय मे अच्छा हो? यह ज्ञान उपयोगी है कि एक फुट में बारह इच होते है और एक गज में तीन फुट, परन्तु इस ज्ञान का कोई आभ्यन्तरिक मूल्य नही है और जहाँ मीटरिक प्रणाली है वहाँ के लोगो के लिए तो यह ज्ञान निरर्थक ही है। दूसरी ओर 'हैमलेट' को समझने से व्यावहारिक जीवन में कोई विशेष लाभ नही होगा, जबतक किसी व्यक्ति के सामने ऐसी असाधारण परिस्थिति न आ गयी हो, जिसमे वह अपने चाचा की हत्या करने को विवश हो जाय। परन्तु, 'हैमलेट' को पढने से एक प्रकार की बौद्धिक सम्पन्नता प्राप्त होती है, जिसका अभाव वास्तव में व्यक्ति के लिए खेद का विषय है। इसके अलावा एक बात यह भी है कि 'हैमलेट' को पढनेवाला व्यक्ति ज्यादा अच्छा आदमी बन सकता है। जो लोग यह कहते है कि शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य उपयोगिता नही है, उनके लिए यह बादवाला ज्ञान अधिक महत्वपूर्ण है।

तीन महत्वपूर्ण विचारणीय विषय

इस प्रकार उपयोगितावादियों और उनके विरोधियो के विवाद में तीन महत्वपूर्ण विचारणीय विषय निहित है। पहला वहस तो कुलीनतावादियों और लोकतत्रवादियों के बीच है। कुलीनतावादियो का विचार है कि विशेष सुविधा-प्राप्त वर्ग की शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए, जिससे वह अपने समय का, जैसा अच्छा लगे, उपयोग कर सके, और उससे निम्न वर्ग के लोगो की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे उनके परिश्रम का लाभ दूसरो को हो। इस विचारधारा के प्रति लोकतत्रवादियो का विरोध बहुत-कुछ भ्रमपूर्ण है। वे यह पसन्द नही करते कि अभिजातवर्ग को उपयोग रहित विषयो की ही शिक्षा दी जाय। साथ ही उनका तर्क यह भी है कि श्रमिक-वर्ग की शिक्षा उपयोगितापूर्ण विषयो तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकतन्त्रवादी परिवार-स्कूलों की प्राचीन ढग की पण्डिताऊ शिक्षा के विरोधी हैं। सब मिलाकर यह दृष्टिकोण व्यावहारिक रूप में उचित है। यद्यपि इसमें सैद्धान्तिक पक्ष में कुछ खामियाँ हो सकती हैं। लोकतन्त्रवादी, समाज को उपयोगी और आलकारिक वर्गों में विभक्त करना नहीं चाहता। अत वह केवल उपयोगी ज्ञान ऐसे वर्गों को कुछ अधिक देगा, जिनको अब तक कोरी आलकारिक शिक्षा दी जाती थी, और केवल आलकारिक ज्ञान उन वर्गों को कुछ अधिक देगा, जिनको पहले केवल उपयोगी शिक्षा दी जाती थी। परन्तु, लोकतन्त्र स्वय इस बात का निश्चय नहीं करता कि इन दो प्रकार की शिक्षाओं का सम्मिश्रण किस अनुपात म होना चाहिए।

दूसरा विचारणीय विषय

दूसरा विवाद उन लोगों के बीच है जो भौतिक-पदार्थों को चरम महत्व देते हैं, और दूसरे वे हैं, जो बौद्धिक आनन्द को ही महत्व देते हैं। ऐसे लोग, जिन बातों में वे पुरानी परम्परा से प्रभावित हैं, उनको छोड़कर यह सोचते हैं कि शिक्षा का मुख्य प्रयोजन तरह-तरह की वस्तुओं के उत्पादन को अधिक-से-अधिक बढ़ाना ही है। वे इसमें चिकित्सा-विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान को भले ही शामिल कर लें, पर उन्हें साहित्य, कला या दर्शन के प्रति जरा भी उत्साह नहीं होगा।

इस बात को जोर देकर कहना कि बौद्धिक ज्ञान का मूल्य और महत्व भौतिक पदार्थों से कहीं अधिक होता है, मेरी समझ म उपयुक्त विचारधारा का सही जवाब नहीं हो सकता। जैसे, मै मानता हूँ कि यह दलील सच है, परन्तु केवल आंशिक रूप से ही। कारण यह है कि यद्यपि भौतिक पदार्थों का अधिक मूल्य नहीं होता, परन्तु उनमें ऐसे दोष हो सकते हैं, जिनके सामने बौद्धिक श्रेष्ठता टिक न सकेगी। जब से मनुष्य म दूर-दर्शिता आयी है तब से भूख और रोग के भय ने अधिकांश मानव-जाति को आक्रान्त कर रखा है। अधिकतर पक्षी भूख से मर जाते हैं, पर जब खाने को बहुत होता है तो व प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि वे भविष्य के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सोचते। इसके विपरीत, जो किसान अकाल में जीवित रह जाते हैं, वे निरन्तर उसके स्मरण और भय से पीड़ित रहते हैं।

मनुष्य बहुत थोड़े-से पारिश्रमिक के लिए घण्टों कठोर परिश्रम करने को तैयार हो जाता है। यही कारण है कि अधिकांश मनुष्यों के जीवन में प्राय सुख नाम की वस्तु होती ही नहीं, क्योंकि सुख के लिए संघर्ष करने में जीवन का भय होता है। औद्योगिक क्रान्ति और उससे उत्पन्न होनेवाले अनेक कारणों के कारण अब इतिहास में पहली बार ऐसे ससार की रचना सम्भव हो गयी है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को सुख के उचित अवसर प्राप्त हो सकते हैं।

अगर हम चाहें तो अब शारीरिक कष्टों का बहुत कम किया जा सकता है। सगठन और विज्ञान की सहायता से ससार की समस्त जनसख्या के लिए भोजन और निवास की व्यवस्था की जा सकती है। मेरे कहने का आशय यह है कि चाहे विलास के साधन सबके लिए प्रस्तुत न किये जा सकें, परन्तु ऐसी व्यवस्था तो की ही जा सकती है, जिससे मनुष्य को बड़ी-बड़ी परेशानियों से कुछ हद तक मुक्ति मिल सके। विज्ञान की सहायता से हम रोगों का सामना कर सकेंगे और जन-स्वास्थ्य में सुधार हो जायगा, जिससे जीर्ण रोगियों की संख्या बहुत कम रह जायेगी। जनसख्या की वृद्धि को भी रोका जा सकेगा, ताकि वह खाद्य-सामग्री के उत्पादन से न बढ़ सके। बड़ी-बड़ी विपत्तियों ने मानव-जाति के अवचेतन मन को अधकारमय बना दिया है, जिससे निर्दयता, दमन और युद्ध का ससार म बोलबाला है। अब इन विपत्तियों को इतना कम किया जा सकता है कि उनका कोई आतंक ही नहीं रह जायगा।

इन सब बातों का मानव-जीवन के लिए इतना अधिक महत्व है कि हम ऐसी शिक्षा का, जिससे ये सारी बातें हो सकें, विरोध करने का साहस नहीं कर सकते। निश्चय ही व्यावहारिक विज्ञान इस प्रकार की शिक्षा का मुख्य अग होगा। इसके साथ ही भौतिक-विज्ञान शरीर क्रिया विज्ञान और मनोविज्ञान के बिना भी उस प्रकार के नये ससार का निर्माण नहीं किया जा सकता। ऐसे ससार की रचना लैटिन और ग्रीक, दाते

और शेक्सपीयर, बाख और मोजार्ट के बिना भी हो सकतो है। उपयोगी शिक्षा के पक्ष में यह एक बड़ा जोरदार तर्क है। मैंने इसका पुरजोर वर्णन किया है, क्योंकि मेरा भी ऐसा ही दृढ़ विश्वास है।

तीसरा विचारणीय विषय

अब विवाद के तीसरे विचारणीय विषय की बारी आती है। क्या यह सत्य है कि केवल उपयोग-रहित ज्ञान आभ्यन्तरिक दृष्टि से मूल्यवान होता है? क्या यह सत्य है कि आभ्यन्तरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ज्ञान व्यर्थ होता है? मैंने अपनी युवावस्था का काफी समय लैटिन और ग्रीक भाषाओं के अध्ययन में लगाया, जो मेरा विचार है कि व्यर्थ ही गया। बाद में मेरे जीवन में जो समस्याएँ आयीं उनके समाधान में मेरा शास्त्रीय अध्ययन किसी काम नहीं आया। जैसा निन्यानबे प्रतिशत लोगों के साथ होता है, मुझमें भी कभी इतनी योग्यता न आ पायी कि आनन्द के लिए प्राचीन श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन कर सकूँ।

मैंने ऐसी बातों का अध्ययन किया—जैसे 'सुपर्लेटिव' का सम्बन्धसूचक क्या होता है, जिसे मैं आज भी नहीं भूल सका हूँ। इस ज्ञान का आभ्यन्तरिक मूल्य भी उतना ही है जितना इस ज्ञान का कि एक गज में तीन फुट होते हैं। यह ज्ञान मेरे लिए इतना ही उपयोगी रहा है, क्योंकि इसी ज्ञान के आधार पर मैं प्रस्तुत उदाहरण दे रहा हूँ। दूसरी ओर, जो कुछ मैंने गणित और विज्ञान के अध्ययन से सीखा वह अत्यन्त उपयोगी ही नहीं, वरन् आभ्यन्तरिक दृष्टि से भी मेरे लिए महत्वपूर्ण रहा है। इन विषयों के अध्ययन से मुझे गम्भीर चिन्तन की सामग्री मिली और छल-प्रपंच भरे इस संसार में सत्य की कसौटी मेरे हाथ आ गयी।

वास्तव में यह बहुत-कुछ मेरी स्वभावगत विशेषता है, किन्तु मेरा विश्वास है कि आधुनिक लोगों में श्रेष्ठ-प्राचीन साहित्य से लाभ उठा सकने की क्षमता और भी कम होगी। हम इस प्रकार के ज्ञान के महत्व को कम नहीं कर रहे हैं, परन्तु यह तो सत्य है कि इस ज्ञान का तुरन्त कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है।

अतएव, मेरे विचार से हमारी यह माँग बहुत सगत होगी कि विशेषज्ञों की शिक्षा को छोड़कर सर्वसाधारण को इन विषयों की शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिए, जिसमें व्याकरण इत्यादि शास्त्रीय पक्ष के अध्ययन में समय और शक्ति अधिक न लगानी पड़े। मनुष्य की ज्ञान-राशि और साथ ही उसकी समस्याओं की जटिलता निरन्तर बढ़ती जा रही है। यदि नयी-नयी बातों के समावेश का अवसर मिले तो प्रत्येक पीढ़ी को अपनी शिक्षाविधि में आवश्यक परिष्कार और सुधार कर लेने चाहिए। हमें समझौतों के द्वारा सन्तुलन अवश्य बनाये रखना चाहिए। शिक्षा में मानवीय तत्व अवश्य रहने चाहिएँ, परन्तु उन मानवीय तत्वों को काफी सरल करना होगा, जिससे उन तत्वों के लिए भी स्थान छोड़ा जा सके, जिनके बिना उस नये संसार की रचना ही नहीं हो सकती, जो विज्ञान के द्वारा सम्भव हो गया है।

शिक्षा और मानवीय तत्त्व

मेरा मन्तव्य यह नहीं है कि शिक्षा में मानवीय तत्वों का महत्व उपयोगी तत्वों की अपेक्षा कम है। यदि कल्पना का पूरा विकास करना हो तो महान साहित्य, संसार का इतिहास, चित्रकला और स्थापत्यकला का कुछ-कुछ ज्ञान होना आवश्यक है। कल्पना-शक्ति के आधार पर ही मनुष्य यह जान पाता है कि भविष्य का संसार कैसा होगा। कल्पना के बिना उन्नति यन्त्र की क्रिया के समान और तुच्छ सी वस्तु रह जायेगी, पर ध्यान देने की बात यह है कि विज्ञान से भी कल्पना-शक्ति बढ़ती है।

जब मैं लड़का था तब अँग्रेजी फ्रेंच और जर्मन-साहित्य के अध्ययन की अपेक्षा इस दिशा में मुझे ज्योतिष और भू विज्ञान के अध्ययन से कहीं अधिक लाभ हुआ, जब कि इन भाषाओं की बहुत-सी प्रमुख रचनाओं का अध्ययन मैंने बाध्य होकर किया था क्योंकि उनमें मेरी जरा भी रुचि न थी। यह बात कुछ व्यक्तिगत-सी है, क्योंकि किसी लड़के या लड़की के उद्दीपन का स्रोत कोई एक विषय होता है, जबकि दूसरे का स्रोत कोई अन्य विषय हो सकता है। मेरा सुझाव है कि विशेषज्ञों के प्रशिक्षण को छोड़कर, जहाँ किसी विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए कठिन पद्धति अनिवार्य होती है, शिक्षण का विषय उपयोगी होना चाहिए। ●

बुनियादी शिक्षा का दर्शन

• धीरेन्द्र मजूमदार

राष्ट्रपति तथा प्रधान मंत्री से लेकर प्राय सभी नेता और शिक्षित व्यक्ति अब यह कहने लगे हैं कि देश की मौजूदा शिक्षा पद्धति पुरानी हो गयी है और मुल्क की आवश्यकता के लिए न वह केवल बेकार है बल्कि हानिकर भी है। इधर कुछ दिनों से नेताओं द्वारा छात्रों को अनुशासनहीनता की निंदा एक साधारण बात हो गयी है। आये दिन अखबारों में किसी-न किसी बड़े आदमी का भाषण पढ़ने में आता है कि छात्रों में अनुशासन की भावना लाने की कोशिश होनी चाहिए।

इस प्रकार शिकायत परेशानी तथा असमाधान के परिणामस्वरूप केन्द्रीय सरकार ने आमूलाग्र चिंतन के लिए एक शिक्षा आयोग का गठन किया है जो देशभर में घूमकर जांच कर और शिक्षा के स्वरूप तथा पद्धति के प्रश्न पर उचित सलाह दे।

अगर आज की शिक्षा-पद्धति दूषित है तो क्या इसके विश्लेषण की आवश्यकता है। अगर छात्र अनुशासनहीन हो गये हैं तो क्या शिक्षा-पद्धति ही एकमात्र कारण है? अगर है तो आज से पचास साल पहले इसी शिक्षा-पद्धति के बावजूद छात्र अनुशासनहीन क्या नहीं थे इत्यादि तमाम प्रश्नों का उत्तर ढूंढना पड़ेगा और उस उत्तर के अनुसार हमें वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल शिक्षा-क्रम चलाना होगा। अगर ऐसा नहीं किया गया और निरन्तर शिक्षा पद्धति तथा छात्रों के चरित्र की निन्दा ही होती रही तो सिवा निराशा का वातावरण फैलने के कोई दूसरा लाभ नहीं होनेवाला है। अत इस विषय पर गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए।

देश के किसी भी कालेज के छात्रों से पूछा जाय कि पढ़ने के बाद आप क्या करेंगे, तो उत्तर मिलेगा कि जो तकदीर में होगा वही करूँगा। इसका मतलब यह हुआ कि आज किसी भी छात्र के भविष्य का संरक्षण नहीं है। शिक्षित युवकों की बेकारी इतनी बढ़ी हुई है कि आज के छात्रों के जीवन में कोई दिलचस्पी नहीं है। अनिश्चित भविष्य के कारण वे बेचैन हैं। बेचैनी में किसका विचार ठीक रहता है? बेचैन लड़का

पिता का भी अनुशासन नहीं मानता, तो बेचैन युवक नेताओं का अनुशासन कैसे माने ? अतः हमें सदुपदेश देना छोड़कर शिक्षित युवक बेकार न रहें, इसके उपाय ढूँढने चाहिए।

वैसे तो सरकार तथा अन्य विचारक शिक्षित व्यक्तियों की बेकारी से काफी चिन्तित हैं और उसके निवारण के लिए छोटी-छोटी समितियों की नियुक्ति होती है लेकिन वे बुनियादी सवाल पर विचार न करके समस्या का तात्कालिक हल ढूँढने की कोशिश करते हैं। पिछले दिनों एक सुझाव आया था कि शिक्षित बेकारों को काम देने के लिए देश में कुछ नये विद्यालय खोले जायें लेकिन अगर एक लाख शिक्षित बेकारों को काम देने के लिए बीस हजार नये स्कूल खोले जायें, तो फिर उन स्कूलों से लाखों नये शिक्षित युवक पैदा होंगे। यह सरल गणित अर्थशास्त्रियों की समझ में आना चाहिए।

इस प्रकार के सुझाव से एक पुरानी कहानी याद आती है। रक्तबीज नामक कोई राक्षस था, जिसे यह वरदान मिला था कि अगर उसे कोई कत्ल करेगा तो उसके खून की जितनी बूँदें गिरेंगी उतने नये राक्षस पैदा होंगे। विद्यालय खोलकर बेकारी की समस्या को हल करने की चेष्टा, वर प्राप्त रक्तबीज को कत्ल कर उससे छुटकारा पाने-जैसी ही है। अतएव इस प्रकार तात्कालिक हल की कोशिश को छोड़कर देश को आज समस्या की जड़ की तरफ बढ़ना चाहिए।

सबसे पहले मुल्क के समाज-शास्त्री, शिक्षा-शास्त्री तथा देश के भविष्य-निर्माताओं को मिलकर शिक्षा के सामाजिक लक्ष्य (समाज-दर्शन) को स्थिर करना होगा क्योंकि कोई भी शिक्षा-पद्धति बिना निश्चित सामाजिक लक्ष्य के बन नहीं सकती। वस्तुतः इसके अभाव में शिक्षा-आयोग भी किस नतीजे पर पहुँच सकेगा ? पहले हमें यह निश्चित करना होगा कि हमें देश में केन्द्र-संचालित समाज रखना है या विकेन्द्रित सहकारी समाज की स्थापना करनी है। हमको यह भी निर्णय करना होगा कि देश की अर्थनीति क्या होगी तथा समाज का ढाँचा कैसा होगा ? क्या आज की व्यवस्था कायम रहेगी या साम्य के आधार पर नयी समाज-व्यवस्था स्थापित होगी ? अगर यह निर्णय होता है कि साम्य के आधार पर समाज को बनाना है तो साम्य का नारा तो अरसे से लग रहा है, सिर्फ नारे से ही समता का समाधान नहीं होगा।

देश के बुद्धिजीवी लोग साम्य का यह अर्थ लगाते हैं कि बुद्धिजीवी तथा श्रमजीवी नाम के दो वर्ग अलग-अलग रहेंगे, क्योंकि उनकी राय में समाज में ऐसी दो अलग-अलग श्रेणियों की आवश्यकता है, लेकिन साथ-साथ वे यह भी मानते हैं कि समाज में साम्य की स्थापना हो और साम्य की स्थापना के लिए श्रेणी-विहीन समाज भी हो। अगर आवश्यकता के कारण बुद्धिजीवी-नामधारी अलग श्रेणी चाहिए, तो किस किस मद के लिए उनकी आवश्यकता है, यह मालूम करना होगा।

वस्तुतः बुद्धिजीवी की मुख्य आवश्यकता व्यवस्था के नाम पर होती है। संसार में जितने बुद्धिजीवी हैं, वे करीब-करीब सभी-के-सभी व्यवस्थापक हैं। वैसे तो साहित्य-निर्माण आविष्कार-कार्य आदि दूसरे कामों के लिए भी बुद्धिजीवी हैं, लेकिन उनकी संख्या नगण्य है और हमेशा अनुपात में उनकी उतनी ही संख्या रहेगी। आवश्यकता व्यवस्थापक तैयार करने की तो रहेगी ही, क्योंकि बुद्धि की आवश्यकता इसी काम के लिए चाहिए, ऐसा माना गया है। ऐसी हालत में इस बात की जाँच करनी होगी कि देश में व्यवस्था के लिए सरकारी तथा गैर सरकारी आवश्यकता कितनी है और हर साल नौकरी के लिए कितने आदमी चाहिए। उसके बाद प्रति शिक्षण-संस्था से प्रति वर्ष कितने छात्र निकलेंगे, उसके हिसाब से देश में कितने स्कूल और कालेज चाहिए, इसका अन्दाज लगाना होगा।

अगर उतने ही स्कूल और कालेज हो जायें और शिक्षा-समाप्ति के बाद छात्रों का भविष्य निश्चित हो जाय, तो और कुछ नतीजा निकले या न निकले, लेकिन छात्रों की बेचैनी दूर हो जायगी और उसके कारण अनुशासनहीनता का भी निराकरण हो जायगा। अतः अगर देश के नेता छात्रों की अनुशासनहीनता को देखकर, और परम्परागत शिक्षा-पद्धति के परिवर्तन की बात मानते हैं, तो वे गलती करते हैं। अनुशासनहीनता तो नौकरी

मिलने की गारण्टी देने मात्र से ही सारी छात्रों की संख्या को मर्यादित करने से हीं दूर हो जायगी।

इससे एक सवाल खड़ा होता है कि अगर छात्रों की संख्या सीमित भी की जाय तो शिक्षा-प्राप्ति की आकांक्षा को कैसे सीमित किया जायगा? वह तो आज देश में विकास के लिए एक अच्छी आकांक्षा है; क्योंकि कोई भी मुल्क शिक्षा और बुद्धि के विकास के बिना तरक्की नहीं कर सकता। अतः शिक्षा की समस्या पर विचार करते समय केवल अनुशासनहीनता की तात्कालिक परिस्थिति के निराकरण की समस्या पर ही नहीं सोचना होगा, बल्कि मौलिक तौर पर भावी समाज-रचना की बुनियाद पर भी विचार करने की आवश्यकता है।

शासन-मुक्त समाज की स्थापना के विचार से चाहे मतभेद हो, लेकिन शोषण-मुक्त समाज चाहिए, इसका विरोध शायद ही दुनिया में हो। फिर सोचना होगा कि शोषण का निराकरण हो कैसे? यह प्राय सभी मानते हैं कि शोषण के निराकरण के उद्देश्य से तथा वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना के लिए संसार भर में समाज-व्यवस्था के लिए आज ऊपर से जो संचालन-प्रथा चल रही है उसके स्थान पर सहकारी प्रथा-द्वारा समाज की व्यवस्था करे। अब प्रश्न यह है कि सहकार किनमें हो? यह स्पष्ट है कि करीब-करीब समान व्यक्तियों में ही सहकार-सम्पन्न हो सकता है। मैंने करीब-करीब शब्द का इस्तेमाल इसलिए किया है कि प्रकृति के स्वाभाविक नियम के कारण सामान्य विषमता तो हमेशा रहेगी ही, लेकिन यह विषमता ऐसी कृत्रिम नहीं होनी चाहिए, जिससे सहकार की सिद्धि ही नहीं हो सके।

विनोबाजी कहते हैं कि हम पाँच अँगुलियों की समानता चाहते हैं। वे कहते हैं कि अगर कोई अँगुली बारह इंच की हो और दूसरी दो इंच की हो तो हाथ की मुट्ठी नहीं बँध सकती। उसी प्रकार अगर समाज में कुछ लोग बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टि से बहुत उच्च स्तर पर रहे और कुछ दूसरे लोग अत्यन्त निम्न-स्तर पर रहें तो समाज की मुट्ठी नहीं बँधेगी यानी सहकार नहीं सधेगा।

अतएव, अगर शोषण-निराकरण के लिए सहकारी-समाज की स्थापना आवश्यक है तो यह भी आवश्यक है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टि से करीब समान स्तर पर हो। इसकी सिद्धि के लिए यह जरूरी है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णरूप से शिक्षित किया जाय। आज जो शिक्षा-पद्धति चल रही है उसके चलते यह सम्भव नहीं है। आज शिक्षा में प्रवेश पाने के लिए प्रत्येक छात्र को उत्पादन की प्रक्रिया से मुक्त कर लेना पड़ता है। अतः सबको शिक्षित बनाना है तो प्रत्येक को इस प्रकार के उत्पादन से निकाल लेना पड़ेगा। अगर ऐसा होता रहा तो देश *का उत्पादन ही बन्द हो जायगा और सृष्टि की समाप्ति* हो जायगी। बहुत-से लोग कहेंगे कि शिक्षा-समाप्ति के बाद प्रौढ़ व्यक्ति उत्पादन का काम करेंगे और युवावस्था तक शिक्षा समाप्त कर लेंगे, लेकिन उत्पादन की प्रक्रिया ऐसी चीज नहीं है, जो बचपन के अभ्यास के बिना प्रौढ़ अवस्था में एकाएक की जा सके। कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि पढ़ाई जैसी है वैसी चले और साथ-साथ उत्पादन का काम भी चले। किसी भी शिक्षक से अगर इसके बारे में पूछा जाय तो वह तुरन्त जवाब देता है कि अगर छात्रों को पूरी तरह उत्पादक बनाने की कोशिश की जाय तो पढ़ाई का समय ही नहीं बचेगा।

अतः अगर सबको पूर्ण शिक्षा देनी जरूरी है और साथ-ही-साथ उत्पादन का कार्य बन्द नहीं करना है तो उत्पादन की प्रक्रिया को शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करना होगा। नहीं तो समय न मिलने की शिकायत हमेशा जारी रहेगी।

सहकारी समाज की दूसरी आवश्यकता यह है कि हर व्यक्ति समाज की सारी समस्याओं पर विचार कर स्वतंत्र राय कायम कर सके और शरीर-श्रम से उत्पादन-द्वारा अपना गुजर करते हुए प्रत्येक व्यक्ति व्यवस्था-कार्य की योग्यता रखे, ताकि हरेक व्यक्ति समाज-व्यवस्था के कार्यक्रम के थोड़े-थोड़े हिस्से की जिम्मेदारी अपने पर लेकर सेवा-कार्य में भाग ले। इसके लिए यह जरूरी है कि लोग बचपन से ही ऐसे कामों में न केवल दिलचस्पी ही लें, बल्कि सक्रिय भाग लेकर उनका वैज्ञानिक अभ्यास करें—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गांधीजी ने सामाजिक वातावरण को भी शिक्षा

का माध्यम माना है, अर्थात जिस तरह उत्पादन की प्रक्रिया को शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करना है उसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था तथा लौकिक कार्यक्रमों को भी शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करना होगा। इस प्रक्रिया से न केवल वैज्ञानिक समाज-व्यवस्था की योग्यता हासिल होगी, बल्कि साथ-साथ सच्ची संस्कृति का निर्माण होगा। आज सांस्कृतिक विकास के काम के लिए, जो कार्यक्रम चलता है वह अवास्तविक होने के कारण उससे असली संस्कृति का निर्माण नहीं हो पाता है, अपितु केवल मनोरंजन ही होता है। फलस्वरूप अच्छे से-अच्छे चित्रकार, गायक, नृत्यकार आदि कलाकार अपने आसपास गन्दगी रखने में, कुरुचिपूर्ण भाषा इस्तेमाल करने में या असभ्य व्यवहार करने में हिचकते नहीं, क्योंकि व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के वास्तविक कार्यक्रम के साथ शिक्षा तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम का किसी प्रकार का समन्वय नहीं है। अतएव शिक्षा की इस दूसरी आवश्यकता पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना जरूरी है।

मनुष्य का तीसरा कार्यक्रम प्रकृति के साधनों की खोज है। आबादी की वृद्धि के कारण अधिक सामग्री की आवश्यकता तथा जीवन-स्तर को ऊपर उठाने की आकांक्षा के कारण मानव निरन्तर प्रकृति के नये साधनों की खोज करता रहता है। इस काम में भी हर मनुष्य को दिलचस्पी तथा योग्यता हासिल करनी चाहिए। इसलिए यह कार्यक्रम भी शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करना होगा।

लेकिन, यह शिक्षा किसको? आज साधारणतः शिक्षा का अर्थ मात्र-बच्चों की शिक्षा समझी जाती है। ऐसे बच्चे शिक्षित होकर जिस समाज के सफल नागरिक बनेंगे वह समाज आज का समाज नहीं होगा क्योंकि आज जो बच्चे शिक्षा के लिए हमारे पास आते हैं वे पूर्ण नागरिक यानी समाज-सेवक बीस साल बाद बनेंगे। इस बीच क्रांति की प्रक्रिया समाज का जड़मूल से परिवर्तन कर देगी। अगर ऐसा है, तो विचार करने की आवश्यकता है कि क्या इस पीढ़ी में जो बच्चे हैं उन्हें इस पीढ़ी की मान्यताओं और नियमों के आधार पर शिक्षित किया जाय? यदि ऐसा करने की कोशिश की जाय तो शिक्षा ही समाज-क्रान्ति के लिए बाधक साबित होगी। आखिर काल-पुरुष बैठा नहीं रहता है। वह निरन्तर गतिमान है। विशेषकर इस वैज्ञानिक युग में तो उसकी गति विद्युत-समान तेज है। गतिहीन-शिक्षा-पद्धति से निकलकर शिक्षित समाज काल-प्रवाह के किस स्तर पर रहेगा?

अतएव, आज की पीढ़ी के बच्चों को ऐसी शिक्षा देनी होगी, जो अगली पीढ़ी के सामाजिक-सन्दर्भ में प्रगतिशील नागरिक के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित करे। यही कारण है कि हमने ऊपर बताया है कि शिक्षा की बुनियाद में निश्चित समाज-दर्शन की आवश्यकता है। अतएव सही शिक्षा के शिक्षक को हमेशा द्रष्टा पुरुष होना पड़ेगा, क्योंकि शिक्षक भावी पीढ़ी का निर्माता है, अर्थात् केवल क्रान्ति-द्रष्टा ही शिक्षक हो सकते हैं और शिक्षा क्रान्ति (समाज परिवर्तन) का वाहन-मात्र ही हो सकती है।

हमने कहा है कि आज का समाज-दर्शन शोषण-मुक्ति तथा वर्गहीनता का दर्शन है, जिसमें आज का न बुद्धिजीवी वर्ग रहेगा, न आज के श्रमजीवी ही रहेंगे। वह अत्यन्त उन्नत वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक पुरुषों का समुदाय होगा जिनका पेशा श्रमजीवी का होगा। इसकी सिद्धि के लिए शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए, जिससे हरेक मनुष्य को शरीर-श्रम से उत्पादन करने में रुचि हो और हरेक शरीर-श्रमिक को सांस्कृतिक तथा बौद्धिक विकास का अवसर हो।

यही कारण है कि गांधीजी ने उत्पादन की प्रक्रिया को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए कहा है। इसके लिए यह आवश्यक है कि बचपन से ही रोटी के लिए श्रम करने का संस्कार बने और शिक्षण के अंदर यह ताकत हो कि रोटी का श्रम ही ज्ञान-विज्ञान के विकास का चश्मा बन सके। अगर रोटी के श्रम के साथ ज्ञान विज्ञान का समन्वय करना है तो श्रम की प्रक्रिया में ही समग्र विकास की दिशा की खोज बहुत गहराई से करने की आवश्यकता है। आज जिन औजारों से काम होता है उन औजारों को चलाने में कला और संस्कृति की आकांक्षा रखनेवाले मनुष्य को दिलचस्पी

नही होगी। इसलिए औजारो म सुधार करन की आवश्यकता है।

यह अवश्य है कि आज दुनिया औजारो म सुधार कर रही है लेकिन उसकी दिशा दूसरी ओर है। वह सुधार श्रम टालन के उद्देश्य से है उसकी दिशा श्रम म दिलचस्पी लान की नही है। आज को क्रान्ति के माध्यम के रूप म अगर शिक्षण को पनपना है तो वैज्ञानिक खोज की दिशा बदलनी होगी। विज्ञान को ऐसी शक्ति का आविष्कार करना होगा जिससे वह मनुष्य को उत्पादन मे मदद न कर उसका हितैषी साथी बनकर उसके हाथो को सहायता दे। औजारो का स्वरूप ऐसा हो कि चित्त को आकर्षक लगें तथा उनकी प्रक्रिया आनन्ददायक हो। दुनिया म एक अहिंसक समाज कायम करना है तो शिक्षाक्रम म यह परिवर्तन करन की आवश्यकता है। इसम दो मख्य बात रहगी—

१ उत्पादन की प्रक्रिया आनन्ददायी और उसके लिए अनुकूल शक्ति तथा यन्त्र का आविष्कार किया जाय और

२ उत्पादन की प्रक्रिया के साथ ज्ञान तथा संस्कृति का समवाय हो।

जब य दो बातें हो जायेंगी तो आज जो बुद्धिजीवी वर्ग व्यवस्था और सेवा के नाम से उत्पादक श्रमिक का शोषण कर रहा है वैसा नही होगा। प्रक्रिया आनन्ददायी होने के कारण आनन्द लेने के लिए सभी उसम शामिल होग। दूसरी ओर आज जो रोटी के लिए मुहताज है और जिनके लिए बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास दूर की बातें ह वे भी अपन पेशे को जारी रखते हुए अपनी आत्मोन्नति का अवसर प्राप्त करेंगे। इस शिक्षाक्रम के नतीजे मे दोनो वर्गों का ही वर्ग-परिवर्तन होगा। दुनिया म न कोई बुद्धिजीवी वर्ग रहेगा और न कोई केवल जडवत उत्पादक श्रमिक ही रहगा। दोनो वर्गों को मिटाकर एक नय मानव की सृष्टि होगी जिसके मस्तिष्क और शरीर का पूर्ण विकास होगा और जो उत्पादन के काम के साथ शिक्षण तथा व्यवस्था का काम भी सुचारु रूप से चला सकेगा।

•

नयी तालीम का काम कम खर्चीला नही बल्कि महँगा होना ही जरूरी है। चीज जितनी अच्छी उतनी वह महँगी—यह आज की विचार सरणी। चीज जितनी अच्छी उतनी वह मुफ्त मिलनी चाहिए—यह मेरी विचार-सरणी। मुझे खुशी है कि भगवान की योजना भी ऐसी ही है। बच्चे का मातृभाषा का शिक्षण घर घर म मा के द्वारा सहज ही हो जाता है। स्टेट को उसके लिए कुछ भी खर्च नही करना पडता। यह तालीम न सिर्फ मुफ्त बल्कि लाजिमी भी कर दी है क्योकि सबके पेट म भूख रखी है। यदि हम अपनी कल्पना म आडम्बर कम रखगे और जो साधन सहज उपलब्ध है उनका उपयोग करेंगे—बहुत बडे मकानो के बजाय छोटे सादे मकानो से काम चलायेंगे—तो तालीम पर आज जो फिजूल खर्च होता है वह नही होगा।

राज्य का कुछ-न-कुछ काय शिक्षण मे तालीम म नही समा जाता। सरकार ने अलग-अलग विभाग किये है जिनम शिक्षण भी एक है। सब विभागवालो को बैठकर सोचना चाहिए अलग-अलग विभागो को उसम हाथ बँटाना चाहिए। खेती-ग्रामोद्योग आदि सभी विभाग अपना अपना योग दें। आयात द्वारा भोजन देना तय करने पर वह खर्च शिक्षण विभाग म जायगा या अन्न विभाग म या स्वास्थ्य विभाग म—यह सोचना ही होगा लेकिन अगर वह बुनियादी शिक्षा की योजना पर पडेगा, तो जुर्म ही होगा।

—विनोबा

क्रान्ति और शिक्षा-६ — जे० कृष्णमूर्ति

मूर्धन्य शिक्षा-शास्त्री श्री जे० कृष्णमूर्ति के 'क्रान्ति और शिक्षा' शीर्षंकित क्रमबद्ध चलनेवाले विचारपूर्ण लेख की यह आखिरी किस्त है। यह लेखमाला जनवरी, सन् ६५ से आरम्भ की गयी थी। पिछले अंकों में छपे लेखों के विचार सूत्र रूप में नीचे दिये जा रहे हैं, ताकि समग्रता का सम्बोध सहजता से किया जा सके।-शिरीष

- आज समस्याएँ उलझ गयी हैं, सवाल जटिल बन गये हैं। उन्हें हल करने के लिए जरूरत है एक नये किस्म की नैतिकता की, और शील की। राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक क्रान्तियाँ भी इनका हल नहीं निकाल सकतीं लेकिन मानव के मन के भीतर-बाहर आमूलचूल बदल करने से इस क्रान्ति की शुरुआत हो सकती है। इसका अभिप्राय सिर्फ विचार तक ही सीमित नहीं है, बल्कि मनुष्य का सर्वांगीण विकास है। और, यह सम्भव है सम्यक् शिक्षण से।
- सीखने का अर्थ है शब्द के पीछे छिपा हुआ वस्तु या तत्त्व जानने की उत्सुकता। किसी काम को भीतरी रुचि से करना, न कि किसी लाभ की आकांक्षा से।
- दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करने के सभी तरीकों का—चाहे वे प्रेम के वेष में हों, या धमकियों के रूप में हों, या फुसलानेवाली सूक्ष्म दलीलों और रिझानेवाले प्रोत्साहनों के छद्म वेश में—समावेश दबाव में होता है। ये सभी प्रकार के दबाव जिज्ञासा का गला घोंट देते हैं।
- तुलना और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से विफलता की भावना दृढ़ होती है, ईर्ष्या और मत्सर का आवेग बढ़ता है।
- महत्त्वाकांक्षा भय की जननी है, चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक। वह हमेशा समाज-विरोधी होती है।

- ज्ञानार्जन के क्षेत्र में विशेषज्ञों के विशेषाधिकार के लिए कोई अवसर नही है। सीखने-सिखाने के इस अनोखे सम्बन्ध में अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही साथ-साथ सीखते हैं; लेकिन उनके लिए विनय, व्यवस्था और औचित्य का ध्यान आवश्यक है।
- अनुशासन-बद्ध चित्त उन्मुक्त विचार के लिए असमर्थ होता है।
- तुलना की दृष्टि से छात्रों मे तरतम देखने-दिखाने की प्रवृत्ति व्यक्तित्व के विकास को रोक देती है—चाहे वह व्यक्ति वैज्ञानिक हो या बागवान। परस्पर तुलना की पद्धति मन को पंगु बना देती है।
- व्यक्ति की सम्पूर्ण उन्नति समाज मे समता की भावना स्थापित करती है। यदि शिक्षा समीचीन हो तो समाज-सुधार की कोई जरूरत नही रहेगी; क्योकि कर्तृत्व पराक्रम के क्षेत्र से प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या-मत्सर की होड़ ही मिट जायगी, ऊँच-नीच का भेद-भाव खत्म हो जायगा।
- बच्चों के समग्र विकास का उत्तरदायित्व प्रधानत- माता-पिताओं का है। और, शिक्षक को चाहिए कि वह घर और विद्यालय दोनो को शिक्षा का परस्पर पूरक बनाये।
- अपने प्रति अविश्वास और आशका बच्चो के मन मे अन्धानुकरण की वृत्ति बढ़ाती है, और ऐसे वातावरण मे भावना के सरल सवेग कुन्द हो जाते हैं। इसके विपरीत प्रश्रय का आश्वासन और प्रतीति उनकी भावनाओं के विकास के सभी द्वार सहज रूप से खोल देती है।
- तीव्र जिज्ञासा ही अपरोक्ष ज्ञान की साधना है। जिस चित्त में अहेतु जिज्ञासा का उद्रेक हो उसको वह ज्ञान सुगम है; और शिक्षा का अर्थ है सहज जिज्ञासा की प्रवृत्ति को पुष्ट करना।
- मनोवेग की तरलता ही प्रेम है। इसमें ईश्वरीय प्रेम और मानवीय प्रेम-जैसा भेद नही किया जा सकता। अतः अध्यापक को इस प्रेम के लक्षणों का भान रहना चाहिए। यह विनय का सार है।
- काम-प्रवृत्ति के विकमन में जबतक भावना, प्रेम आदि का सस्पर्श नही होता, तबतक वह केवल एक शरीर-धर्म बनकर रहती है। केवल चहारदीवारी-द्वारा छात्र-छात्राओं को अलग-अलग रखने से, प्रतिबन्ध के काँटेदार तार से परस्पर कुतूहल और आकर्षण तीव्र हो जाता है। इस प्रेम-प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति छात्रों को अपने हाथो से काम करने के अभ्यास-द्वारा होनी ही चाहिए।
- मन के विकास एव पोषण में एकाग्र चित्त पर जोर न देकर सावधान चित्त के विकास पर जोर देना चाहिए।
- ज्ञान केवल मन के विकास का एक साधन है, साध्य नही।
- अध्यापन का व्यवसाय, अगर उसे व्यवसाय कहना ही है तो सम्यक् आजीविका का श्रेष्ठतम उपाय है।
- हमको न केवल मन की ज्ञान-प्रवृत्तियो का पूर्ण ख्याल रखना है; बल्कि अन्तर-मानस की चेतनाओं और प्रेरणाओ का भी। वाह्य-मन की ऊपरी ज्ञान-प्रक्रियाओं से गुप्त-मानस की प्रेरणा-प्रवृत्तियाँ कहीं अधिक जानदार और जोशीली हुआ करती हैं।

• ज्ञात मन की शिक्षा की एकाकी प्रगति पर जोर देने और अन्तर-मानस की उपेक्षा बरतने से मानव-जीवन में अन्तर-विरोध, द्वन्द्व-भावना और मनोव्यथा बढ जाती है।

• अज्ञात मन प्रवृत्तियो पर अपनी धाक जमाने की ज्ञात मन चाहे जितनी कोशिशें करे, ये तमाम कोशिशें गुप्त-निगूढ मानस की केवल ऊपरी सतह को खुरचकर रह जाती हैं, और इस तरह बाह्य और आभ्यन्तर मन प्रवृत्तियों के दरमियान विसगति और द्वन्द्व बना रहता है।

इस अन्तर-द्वन्द्व की समूल समाप्ति के लिए, बाह्य-मन को अन्तर-मन-सम्बन्धी तथ्य को अच्छी तरह समझते हुए खामोशी से काम लेना होगा। इसका यह मतलब नही होता कि वह अन्तर-मन को मनमानी करने की छूट दे, उसकी अगणित प्रेरणा प्रवृत्तियो को बेलगाम छोड दे।

बाह्य मन और अन्तर-मन में जब परस्पर तनाव नही रहता उस स्थिति में अन्तर-मन वर्तमान की मर्यादाओं का ख्याल रखकर सत्र से रहता है। प्रच्छन्न, अज्ञात और निगूढ मन, जिसका सिर्फ बाहरी हिस्सा शिक्षा-सस्कार प्राप्त किये होता है, वर्तमान की चुनौतियो और मॉगो पर गौर करता है। बाह्य मन चुनौतियो का ठीक से समाधान ढूँढ ले सकता है। लेकिन, चूँकि बाह्य और अन्तर-मन के बीच खीच-तान और द्वन्द्व की स्थिति रहती है, इसलिए बाह्य मन के तात्कालिक अनुभव अन्तर-मन के साथ के तनाव को और बढ़ा देते है।

इस प्रकार के नवीन अनुभवो से वर्तमान और अतीत के बीच की खाई चौडी होती जाती है। बाह्य मन गूढ आन्तरिक प्रवृत्तियो-प्रेरणाओं का मर्म समझे बिना, जब नवीन अनुभव ज्ञान की प्राप्ति में तल्लीन हो जाता है तो सघर्ष और अन्तर-विरोध अधिक तीव्र और जटिल बनते हैं।

जैसाकि अकसर हम मानते है, अनुभव से मन की आन्तरिक समृद्धि नही बढ़ती, न उसकी मुक्ति का मार्ग ही प्रशस्त होता है। जबतक अनुभव से अनुभव प्राप्त करनेवाले का अहभाव पुष्ट होता रहता है तबतक आन्तरिक द्वन्द्व-कलह नही मिटता। अनुभव के आधार से सस्कार-निष्ठ मन और अधिक सस्काराधीन हो जाता है, उसकी अन्दरूनी दुविधा और परेशानी बढ जाती है। सिर्फ उस मन को, जिसे अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों का परिचय है—अनुभव से अपनी गुत्थियो और बन्धनों को सुलझाने की क्षमता मिलती है।

मन के अनेकानेक निगूढ स्तर, उसकी समग्र वृत्तियाँ, उसकी क्षमता और शक्ति—इन सबका जब एक बार यथार्थ-बोध हो जाता है—तो आगे की विस्तार की बातें ज्यादा समझदारी के साथ समझ मे आ जाती हैं।

बाह्य मन के ऊपरी स्तर के सयम-नियमन और ज्ञान-सचय का विशेष महत्त्व नहीं है, विशेष महत्व है अन्तर-मन की यथार्थता के बारे में जागरूक होने का। यह यथार्थ ज्ञान ही सम्पूर्ण मन के अन्तर द्वन्द्व, कलह और सघर्ष का निरसन कर सकता है, और तभी शुद्ध विवेक (प्रज्ञा) के विकास की अनुकूल भूमिका बन सकती है।

मानव-मन के सम्पूर्ण विकास की दृष्टि से केवल बाह्य मन के ऊपरी स्तर की उपयोगी शक्तियों की प्रगति और उन्नति पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अन्तर-मानस को समझना उतना ही जरूरी है।

अन्तर-मन को समझने के प्रयत्न में परिपूर्ण जागरूकता, और जीवन-विकास की सम्भावनाएँ निहित है—इससे अन्तर-विरोध की स्थिति मिटती है और इसके साथ ही सुख-दुख के द्वन्द्व का समूल निरसन भी हो जाता है। अन्तर-मन की अन्त प्रवृत्तिया और गतिविधि का निरन्तर भान रहना चाहिए और उनका समुचित ज्ञान भी, लेकिन यह भी आवश्यक है कि उसे अनावश्यक महत्त्व न दिया जाय, न उसमे तल्लीन रहा जाय।

इस प्रकार जब मन अपनी बाहरी और भीतरी परिस्थितियो और प्रवृत्तियो के प्रति जागरूक हो जाता है तो वह अपनी सीमा के बाहर निकलकर आनन्दानुभूति का साक्षात्कार कर पाता है, जो कालातीत है—जिसका कभी अन्त नही होता। (पूर्ण)

राष्ट्रीय शिक्षा और उसकी कसौटी

● महात्मा गांधी

- अस्सी-पचासी फीसदी लोगों के जीवन की आवश्यकताओं का विचार करने के बजाय मुट्ठीभर मनुष्यों की आवश्यकताओं अथवा राज्य के थोड़े से विभागों की आवश्यकताओं को ही ध्यान में रखकर दी जानेवाली शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा तो हो सकती ही नहीं, बल्कि गलत शिक्षा होने से अविद्या ही है।
- ऐसी शिक्षा ने शिक्षित और अशिक्षित के बीच गहरी खाई खोद दी है और विद्वानों को जनता का अगुआ, पथप्रदर्शक और प्रतिनिधि बनाने के बजाय जनता से विलग हो जानेवाला, जनता के जीवन और भावनाओं को न समझनेवाला, उसमें दिलचस्पी न ले सकनेवाला और उनका पक्ष उपस्थित करने के अयोग्य बना दिया है।
- हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था हिन्दुस्तान के अस्सी से पचासी फीसदी लोगों को किस प्रकार का जीवन बिताना पड़ता है, इस विचार को सामने रखकर होनी चाहिए। हिन्दुस्तान के पचासी फीसदी लोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से खेती से गुजर करते हैं, इसलिए उनकी शिक्षा की योजना उन्हें अच्छे किसान बना देने और खेती के आस-पास चलनेवाले धन्धों की जानकारी करा देने की दृष्टि से होनी चाहिए।
- शिक्षा से निर्वाह का प्रश्न हल होना चाहिए। अतः उद्योग धन्धों की शिक्षा शिक्षण का प्रधान अंग होनी चाहिए।
- उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिससे निर्वाह हो सके, उससे उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ जनता के लिए उपयोगी हों। खेती और वस्त्र उद्योग ये दो भारत के राष्ट्रीय उद्योग हैं। अतः प्रत्येक पाठशाला में इन दोनों धन्धों की प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।

●

- बुनियादी तालीम के दो उपयोगी क्षेत्र
- शिक्षा की राष्ट्रीय रूपरेखा
- उच्च शिक्षा की नयी राहें
- हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप
- प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप
- भारतीय शिक्षा का स्वरूप क्या हो ?
- शिक्षा में नयी मनोवैज्ञानिक दृष्टि

बुनियादी तालीम के दो उपयोगी क्षेत्र

● काका कालेलकर

आज के एक महत्व की नयी ही दृष्टि से बुनियादी अथवा नयी तालीम की चर्चा करना चाहता हूँ।

बुनियादी तालीम बहुत से लोग उसे प्राथमिक तालीम समझते हैं इसलिए मैंने उसे नयी बुनियाद की तालीम कहा था। बुनियादी तालीम के मतीरिया के ऊपर उसका अच्छा असर हुआ। अब उस बात को आज नहीं छेड़ूंगा।

अगर मैं कहूं कि देश के उपेक्षित दो वर्णों की और उनकी तालीम की बात मुझे करनी है तो लोग मानेंगे कि चार वर्ण की सनातन व्यवस्था की चर्चा मेरे मन में है। अगर मैं मानता हूं कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों ने शूद्रों के और अति शूद्रों के अज्ञान और असंगठित हालत से लाभ उठाकर उनकी कुशलता रहित और निरुत्साही महनत मजदूरी का शोषण ही किया है तो उसमें कोई असत्य नहीं है। लेकिन मैं पुरानी वर्ण व्यवस्था की बात यहाँ नहीं करना चाहता।

संख्या की दृष्टि से देश में जिनका प्रचण्ड बहुमत है ऐसे देहाती लोगों की आजीविका को प्रधानता देकर तालीम की जो पद्धति सोची जाती है वह है बुनियादी तालीम। इतना तो गांधीजी ने हम सिखाया और ऐसी जनता के अन्नवस्त्र के उद्योग को प्रधानता देने का और उन्हीं को केन्द्र में रखकर जीवनव्यापी समस्त शिक्षण चलाने का रास्ता उन्होंने दिखाया।

अब इसमें से दो तरह की जनता का हम ख्याल ही नहीं कर रहे हैं इसलिए हमारी नयी तालीम को खतरा होने का डर है यही मुझे आज बताना है।

भौगोलिक दृष्टि से हमारी जनता के तीन वर्ण होते हैं। पहाड़ों के जंगलों में रहकर अपनी आजीविका प्राप्त करनेवाले लोगों को हम आरण्यक प्रजा कहें। उनके जीवन के प्रति हमने कुछ भी सोचा होता उनके जीवन में प्रवेश करके उन्हें अपनाया होता तो चीन के आक्रमण का सवाल ही नहीं खड़ा होता।

दूसरा वर्ण है समुद्रीय लोगों का। जो लोग दरिया के किनारे रहते हैं किश्ती लेकर दरियाई खेती करते हैं समुद्र किनारे माल के लाने-ले जाने का काम करते हैं

शिक्षा का राष्ट्रीय रूपरेखा

• वंशीधर श्रीवास्तव

भारत सरकार ने शिशु-स्तर से स्नातकोत्तर स्तर तक राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप स्थिर करने के लिए जो आयोग नियुक्त किया है, उसमें भारतवर्ष के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री और वैज्ञानिक तथा रूस, अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस और जापान आदि प्रगतिशील-देशों के शिक्षा-विशेषज्ञ शामिल हैं। शिक्षा के प्रत्येक स्तर के प्रत्येक पहलू पर विचार करने के लिए इस आयोग ने बारह मुद्दे चुने हैं और हर एक के लिए अलग-अलग 'टास्क फोर्स' बना दिये हैं। यहाँ केवल, क–विद्यालयीन शिक्षा (पूर्व प्रारम्भिक, माध्यमिक), पर सुझाव दिये जा रहे हैं।

क–राष्ट्रीय शिक्षा

१ आयोग की स्थापना एक राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति (नेशनल सिस्टम आफ एजुकेशन) के निर्माण के लिए हुई है। अंग्रेजी में 'नेशनल' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'राष्ट्रीय' शब्द इस नेशनल शब्द का हिन्दी अनुवाद है। मेरा विचार है, और अनेक मुझसे सहमत होंगे कि सम्भवतः यहाँ नेशनल' शब्द का अभिप्राय मात्र-अखिल भारतीय है, राष्ट्रीय नहीं। आयोग शिक्षा का एक अखिल भारतीय पैटर्न बनाने जा रहा है, और यह आवश्यक नहीं है कि उसमें वे तत्व भी रहें जिन्हें हम राष्ट्रीय' कहते हैं और जो भारतीय संस्कृति के मूल में हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हम जब किसी अखिल भारतीय स्तर का आयोजन करते हैं तो उसे 'नेशनल' कह देते हैं। जैसे, नेशनल हाकी-टूर्नामेण्ट। राष्ट्रीय शब्द का प्रयोग यहाँ इसी अखिल भारतीय अर्थ में हो रहा है उस अर्थ में नहीं, जिस अर्थ में गांधीजी ने बुनियादी तालीम को 'राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति' कहा था। गांधीजी बुनियादी तालीम को 'राष्ट्रीय' इसलिए कहते थे कि उनकी समझ में उस शिक्षा-पद्धति से उन मूल्यों का विघटन रुकता था, जो भारतीय संस्कृति के मूल में हैं और जिनका विघटन उस परम्परागत किताबी शिक्षा से हो रहा था, जिसे अंग्रेजों ने चलाया था, और जो आज भी चल रही है।

२. मेरा सुझाव है कि 'राष्ट्रीयता' की माँग केवल 'अखिल भारतीयता' से पूरी नही होगी। वह तब पूरी होगी, जब शिक्षा की रूपरेखा राष्ट्र की परम्पराओं, सास्कृतिक विशेषताओं, उसकी विशेष परिस्थितियो और आकांक्षाओं को ध्यान मे रखकर बनायी जायगी। इस देश के लाखों-लाख गाँवो मे फैली हज़ारो वर्षों की एक अखण्ड सास्कृतिक परम्परा है। इन गाँवो में आज भी, स्वराज्य-प्राप्ति के अठारह वर्ष बाद भी भयकर गरीबी और साधनहीनता है, और रूढ़ियों और अन्य परम्पराओ के प्रति मोह और दुराग्रह है, परन्तु इन्ही गाँवो में भारत की अस्सी प्रतिशत जनता निवास करती है। अत गाँवो में रहनेवालो की विशाल जनसंख्या, उनकी गरीबी और साधनहीनता से उत्पन्न उनकी समस्याओ और उनकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि को भूलकर आयोग जिस भी शिक्षा-नीति का प्रतिपादन करेगा वह न तो राष्ट्रीय होगी और न देश के लिए हितकर ही।

३ शिक्षा की राष्ट्रीय रूपरेखा निश्चित करते समय राष्ट्र की आकांक्षाओं और आदर्शों का भी ध्यान रखना होगा। हमारी आज की शिक्षा-पद्धति का देश की आकांक्षाओं और आदर्शों से बिलकुल मेल नही है। सच तो यह है कि राष्ट्र के विकास मे सबसे बड़ी रुकावट यह शिक्षा-पद्धति ही है। आज हमें एक ऐसी शिक्षा-पद्धति चाहिए, जो राष्ट्र की आकांक्षाओं और आदर्शों के सही रूप को पहचाने और उसका सस्कार और शृगार करे। शिक्षा-मत्री ने अपने उद्‌घाटन-भाषण में राष्ट्र के उन चार आदर्शों और लक्ष्यो की चर्चा की है, जिन्हें उसने अपने सामने रखा है। वे लक्ष्य हैं—धर्म-निरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता, प्रजातन्त्र, और समाजवाद। राष्ट्रीय शिक्षा का ढांचा ऐसा बनना चाहिए, जिसमे इन चारो लक्ष्यो की भी पूर्ति हो।

धर्म-निरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता

४ स्वराज्य-प्राप्ति के बाद इस देश ने अपने सामने धर्म-निरपेक्षता का लक्ष्य रखा है। अत हमें एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-नीति विकसित करनी है, जिससे इस धर्म-निरपेक्षता के लक्ष्य की प्राप्ति हो। हमारी ही नही, आज विश्व की सबसे बड़ी समस्या यही है कि भिन्न-भिन्न मजहबो को माननेवाली और विभिन्न प्रकार के जीवन-मूल्यों मे विश्वास रखनेवाली जातियाँ एकसाथ मिलकर कैसे रहें। धर्म-निरपेक्षता का वास्तविक अर्थ है सब मजहबो के प्रति उदार दृष्टिकोण रखना। यह धर्म-निरपेक्षता का सत्यात्मक रूप है। हमने 'सेक्यूलरिज्म' का अर्थ धर्म-निरपेक्षता लिया है, जो व्यवहार मे धर्म-उदासीनता रह गया है। यह सेक्यूलरिज्म का निष्क्रिय-पहलू है, जो किसी मे उत्साह का सृजन नही करता।

अर्थ लगाने का एक परिणाम यह हुआ कि हमने स्कूलो में उन सभी प्रार्थनाओ को तो बन्द कर ही दिया है, जिनका सम्बन्ध किसी भी मजहब से है, हमने बच्चों को नैतिकता की शिक्षा देना भी बन्द कर दिया है। इस दृष्टिकोण को अपनाने से सब धर्मों और मजहबों के प्रति उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण की सृष्टि नही हो रही है, बल्कि सभी मजहबो के लिए, और नैतिकता के लिए भी उदासीनता अवश्य बढ़ रही है। इस सम्बन्ध मे गाधीजी का दृष्टिकोण सबसे अधिक स्वस्थ था। उनके आश्रम मे साँझ-सबेरे प्रार्थना-सभाएँ हुआ करती थी और उनमें सभी मजहबों की प्रार्थनाएँ होती थी। सभी उपस्थित लोग समान रूप से उनमे भाग लेते थे, यही है वास्तविक सेक्यूलरिज्म, जो सब धर्मों और मजहबो के प्रति उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण का सृजन करता है। मेरा सुझाव है कि स्कूलो म विभिन्न धर्मों की प्रार्थनाएँ हो, और सभी छात्र समान रूप से उनमें भाग लें और नैतिक शिक्षा भी अवश्य दी जाय।

५ सेक्यूलरिज्म के इस दृष्टिकोण को अपनाने से देश में भावनात्मक एकता की वृद्धि होगी। भावनात्मक-एकता की वृद्धि के लिए यह भी आवश्यक है कि समूचे-राष्ट्र के लिए एक-सा पाठ्यक्रम तैयार हो और एक-सी पाठ्यपुस्तकें लिखी जायें। भारत-सरकार इस कार्य को कर रही है। इस काम में शीघ्रता होनी चाहिए। पाठ्यक्रमो और पाठ्यपुस्तको का अनुवाद क्षेत्रीय-भाषाओ में शीघ्र हो जाना चाहिए। इसके लिए शायद शिक्षा को समवर्ती सूची मे रखना होगा, क्योंकि शिक्षा के राज्य का विषय होने से, जैसा आज है, सम्भवत. इस काम म विलम्ब हो अथवा अड़चनें पड़े।

६ राष्ट्र का एक अनिवार्य लक्ष्य प्रजातन्त्र और समाजवाद भी है। अतः राष्ट्रीय शिक्षा-नीति बनाते हुए इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति का भी ध्यान रखना होगा। प्रजातन्त्र और समाजवाद को कुछ लोग परस्पर विरोधी तत्त्व मानते हैं और कहते हैं कि जब प्रजातन्त्र व्यक्तिगत स्वातंत्र्य पर बल देता है तो समाजवाद में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य को सीमित करने की बात है। इस देश ने दोनों में समन्वय स्थापित करने का संकल्प किया है और अपने सामने प्रजातांत्रिक समाजवाद की स्थापना का लक्ष्य रखा है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शिक्षा द्वारा हमें बालक के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास करना होगा।

सामाजिक व्यक्तित्व का अर्थ होता है अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का—चाहे विचार-स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी हों, चाहे धर्म-स्वातन्त्र्य—सम्प्रदाय और समाज के लिए प्रसन्नतापूर्वक त्याग। इस प्रकार के व्यक्तित्व के विकास के बिना व्यक्ति द्वारा समाज के शोषण का खतरा बना रहता है। अतः आयोग का राष्ट्रीय शिक्षा का एक ऐसा ढाँचा तैयार करना है जिसमें इस प्रकार का व्यक्तित्व सरलता-पूर्वक विकसित हो सके। यदि ऐसा नहीं हुआ तो प्रजातांत्रिक समाजवाद की स्थापना का लक्ष्य पूरा नहीं होगा। सामाजिक व्यक्तित्व तब विकसित होता है जब छात्र को अपनी शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर सामुदायिक काम करने, सामुदायिक जीवन व्यतीत करने और समाज-सेवा के काम करने का अवसर मिले। अतः आयोग को शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर सुसंगठित सामुदायिक जीवन और सामुदायिक कार्य का पाठ्यक्रम विकसित करना चाहिए और इस प्रकार के कार्य को पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग बना देना चाहिए।

७ शिक्षा का राष्ट्रीय पटल बनाते समय आज के युग के विज्ञान और टक्नालाजी की प्रगति और उसके कारण तेजी से बदलती हुई दुनिया और विश्व परिवार के सन्दर्भ में भी सोचना होगा। देश की गरीबी और अज्ञान को दूर करने के लिए विज्ञान और टक्नालाजी का व्यापक प्रसार आवश्यक है परन्तु जैसा श्री पागल ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा है—

शिक्षा के वैज्ञानिक और टक्नालाजिकल पहलुओं पर बल देते हुए भी हमें अपनी महान अतीत को नहीं भूलना चाहिए। हम भले ही दूर और आधुनिक (अप-टु-डेट) बनें परन्तु हमारे पैर दृढ़तापूर्वक अपने देश की धरती पर हों। हमारा यह अतीत क्या है? हमारे देश की यह धरती क्या है? एक शब्द में हम उसे आध्यात्मिकता कहते हैं जिसका अर्थ होता है शरीर के सुख के ऊपर आत्मा के सुख को जो त्याग और प्रेम से उत्पन्न होता है तरजीह देना। यही मानवता है जो मनुष्य को पशु से अलग करती है। गांधीजी ने आध्यात्मिकता के इस मन्त्र को भारत की इस धरती को अहिंसा और अशोषण की सत्ता दी थी और इन्हीं पर आधारित समाज की स्थापना का स्वप्न देखा था और उसके लिए प्रयास भी किया था।

अतः आयोग यदि सचमुच विज्ञान और टक्नालाजी के प्रसार के साथ इस प्रकार का समाज भी चाहता है जो आज विश्व-शान्ति, विश्व-बन्धुत्व और मानवता की रक्षा के लिए आवश्यक है तो उसे यह देखना होगा कि विज्ञान और टक्नालाजी का प्रसार इस प्रकार हो कि वह आध्यात्मिकता के इस मूल्य को कम न करे और आयोग द्वारा प्रस्तुत शिक्षा-नीति ऐसा मनुष्य निर्माण करे जो शरीर के सुख के ऊपर आत्मा के सुख को तरजीह दे सके।

८ अतः आयोग को एक ऐसी शिक्षा-नीति विकसित करनी होगी जिससे टक्नालाजी और भारतीयता में, औद्योगिक शिक्षा और आध्यात्मिक शिक्षा में समन्वय स्थापित किया जा सके। इसके लिए हमें टक्नालाजी का विशेष रूप में ग्रहण करना होगा। हम जानते हैं कि विज्ञान और टक्नालाजी ने औद्योगीकरण को जन्म दिया था। हम औद्योगीकरण की बुराइयों को भी जानते हैं और हमें एक ओर जहाँ उनसे बचना है दूसरी ओर अपनी विशेष परिस्थितियों और आकांक्षाओं के अनुसार उनमें परिवर्तन भी करना है।

९ हम इस समय तक औद्योगीकरण के दो रूपों से परिचित हैं—एक है उसका पूँजीवादी रूप जिसने शोषण और उपनिवेशवाद को जन्म दिया था और जो

आज भी, अपने इस रूप में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शोषण का कारण बना हुआ है, दूसरा है उसका समाजवादी रूप, जिसमें उसका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है और उत्पादन की प्रक्रिया में व्यक्ति स्वतंत्र नहीं रहता। अपने दोनों ही रूपों में औद्योगीकरण केन्द्रीकृत भारी उद्योगों का ही पर्याय रहा है, और दोनों ही रूपों में मनुष्य उत्पादन की प्रक्रिया में अपनी मानव प्रकृति (मानवता) खो देता है।

उत्पादन की प्रक्रिया मानव गुण है और मनुष्य के निर्मित हाथ और दिमाग के समन्वय का परिणाम है। संसार का कोई दूसरा जीव उत्पादन नहीं करता। प्रकृति में जो वस्तु जैसी प्राप्त होती है, उसका वैसे ही उपयोग करता है परन्तु मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति से प्राप्त वस्तुओं में वृद्धि ही नहीं करता, कुछ वस्तुओं को मिलाकर नयी वस्तुएँ भी बना लेता है। यही उत्पादन की प्रक्रिया है जिसे दस्तकारी, शिल्प अथवा उद्योग कहते हैं। यह मानवीय गुण है। इसने मनुष्य का संस्कार किया है और उसे पशु से अलग करके ऊपर उठाया है, मनुष्य बनाया है।

उत्पादन की यह प्रक्रिया जब मानव के व्यक्तित्व का संस्कार नहीं करती तब वह मानवीय गुणों की विघटनकारी शक्ति बन जाती है और मनुष्य उत्पादन की प्रक्रिया का स्वामी न होकर उत्पादन की प्रक्रिया को सुलभ और सुखकर बनानेवाली अपनी ही ईजाद की हुई मशीन का पुर्जा बन जाता है और उसकी मानवता समाप्त हो जाती है। यह स्थिति भयावह है और इसीलिए गांधीजी ने उद्योगों के केन्द्रीकृत रूप का विरोध किया था।

९. अतः मेरा सुझाव है कि अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं और स्थितियों के सन्दर्भ में हमें औद्योगीकरण का विकेन्द्रित रूप ग्रहण करना होगा। विज्ञान और टेक्नालॉजी का प्रयोग अवश्य किया जाय, परन्तु वह सबके हित के लिए हो। वह गांवों में भी जाय और गांवों में जाय तो मनुष्य जिन धन्धों को अपने जीवन-यापन के लिए कर रहा है उनके संचालन को सुखकर और गतिमय बनावे, जिससे उत्पादन बढ़े और मनुष्य का जीवन सम्पन्न हो। परन्तु उसका ऐसा उपयोग कभी न किया जाय कि वह दूसरों के शोषण और मानव-मूल्यों के विघटन का कारण बने। ऐसा तभी होगा, जब उद्योगों का विकेन्द्रीकरण कर दिया जायगा। विकेन्द्रित होकर वे लघु कुटीर-उद्योगों और शक्ति-संचालित ग्रामोद्योगों का रूप ग्रहण कर लेंगे। इसलिए शिक्षा-आयोग को शिक्षा का ऐसा एक ढांचा बनाना है, जिसमें इन कुटीर-उद्योगों और ग्रामोद्योगों के लिए कुशल-अर्द्धकुशल कार्यकर्ता और टेक्नीशियन तैयार हो सकें।

१०. राष्ट्रीय शिक्षा-निर्माण के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण कार्य, जो शिक्षा-आयोग को करना है, वह है एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का विकास, जो शिक्षा को देश के जीवन से जोड़े और जिससे हमारी आवश्यकताएँ पूरी हों। आज देश की शिक्षा भारतीय जीवन-पद्धति से, उस जीवन-पद्धति से, जो अपने उत्पादक श्रम के फलस्वरूप समाज का धारण किये हुए है, बहुत दूर है। उसका सम्बन्ध उस भारतीय जीवन से तो कतई नहीं है, जो भारत के पांच लाख गांवों में बिखरा पड़ा है और जो भारतीय संस्कृति की रीढ़ है। उल्टे इस शिक्षा ने उस जीवन को असम्पन्न बनाया है और बनायी जा रही है। स्वतंत्र होने के बाद भी हमने इस शिक्षा-पद्धति में वृद्धि ही की है। पुराने किस्म के माध्यमिक विद्यालय और विश्वविद्यालय कई गुना बढ़ गये हैं।

११. अतः आयोग शिक्षा का जो भी ढांचा विकसित करे उसमें पहले उसे इस पारम्परिक-अनुत्पादक शिक्षा-पद्धति का परित्याग करना होगा अथवा उसमें आमूल परिवर्तन करना होगा और प्रारम्भिक स्तर से उच्चतम स्तर तक के लिए शिक्षा का ऐसा ढांचा तैयार करना होगा, जो उत्पादक तथा भारतीय जीवन-पद्धति के अनुकूल हो तथा जिससे गरीबी मिटे। श्री चागला ने भी अपने उद्घाटन भाषण में कहा है कि "जब तक उत्पादन-मूलक शिक्षा द्वारा श्रमिकों की उत्पादन-शक्ति नहीं बढ़ेगी तब तक देश की गरीबी नहीं मिटेगी।" हमको इस बात पर अनिवार्य जोर देना है कि जो लड़के-लड़कियाँ स्कूलों में जायें वे अपने हाथों का प्रयोग करना अवश्य सीखें और ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करना सीखें जो देश के लिए उपयोगी हों।

१२. भारतीय राष्ट्रीयता के ये कुछ ऐसे तत्व हैं, जिनको ध्यान में रखकर ही राष्ट्रीय शिक्षा की रूपरेखा

बनायी जा सकती है। २८ वर्ष पहले इन्ही तत्वो को सँजोकर गाधीजी ने बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय-शिक्षा के रूप में प्रस्तुत किया था और आज स्वराज्य-प्राप्ति के १८ वर्ष बाद, जब सरकार ने नये सिरे से एक राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति निर्मित करने की बात सोची है तो बुनियादी शिक्षा की ओर आयोग का ध्यान अवश्य जाना चाहिए। भारतीय संस्कृति के चिरन्तन मूल्य, आधुनिक शिक्षा की वैज्ञानिकता, उत्पादक उद्योगों के माध्यम-द्वारा विद्यार्थी के व्यक्तित्व का संस्कार, सामुदायिक जीवन और कार्य-द्वारा छात्र के सामाजिक-व्यक्तित्व को विकसित करने की व्यवस्था आदि सभी राष्ट्रीय तत्त्व बेसिक शिक्षा-योजना में है। राष्ट्रीय शिक्षा की किसी भी योजना को इन तत्त्वो की अवहेलना नही करनी चाहिए।

१३ डा० ए० ई० मार्गन जो, राधाकृष्णन्-विश्वविद्यालय-आयोग के एक सदस्य थे, लिखते है—

"भारत के लिए यह एक बहुत बड़े सौभाग्य की बात है कि इतिहास के इस महत्वपूर्ण क्षण मे, उसे शिक्षा का एक ऐसा दर्शन और ढाँचा प्राप्त है, जिसका बुनियादी और सार्वभौमिक मूल्य है, और जो नये भारत के सृजन के लिए आदर्श का काम दे सकता है, ऐसे भारत के सृजन के लिए, जो अनेक भारतवासियो का स्वप्न है। गाधीजी की बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रम के किन्ही अशो से हम भले ही सहमत न हो, परन्तु बुनियादी-शिक्षा की पूरी सकल्पना पर विचार करने पर हम देखते है कि उसमे उत्तम शिक्षा-पद्धति के वे सभी बीज मौजूद है, जिससे सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण और सस्कार होता है और जिसकी उत्कृष्टता के विषय मे हमारा ज्ञान समय के साथ अधिक साफ होता जायगा और जो अन्त मे आलोचना और समय की कसौटी पर खरी उतरेगी।"

इसीलिए मेरा सुझाव है कि आयोग बुनियादी-शिक्षा के प्रगतिशील तत्त्वो को राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में शामिल करे।

ख—विद्यालयीन शिक्षा

१४ आज लोकतत्र, समाजवाद और टेक्नालाजी के सन्दर्भ मे सबसे पहले इस प्रश्न को हल करना जरूरी हो गया है कि राष्ट्र के नये नागरिक को कम-से-कम कितनी शिक्षा मिलनी चाहिए, जिसके बल पर वह नागरिकता के बरतते हुए उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सके। मेरा निवेदन है कि आज के युग में माध्यमिक स्तर यानी गाधीजी की योजना के अनुसार उत्तर बुनियादी-स्तर तक की शिक्षा प्रत्येक छात्र को मिलनी ही चाहिए। जीविकोपार्जन के लिए, किसी उद्योग मे कुशलता प्राप्त करने के लिए, तथा स्वतत्र निर्णय करने की क्षमता के लिए, इससे कम की शिक्षा पर्याप्त नही होगी।

शिक्षा की अवधि

१५ प्रत्येक बालक को कम-से-कम तीन साल की पूर्व प्राथमिक, ८ साल की प्राथमिक (एलिमेंट्री) जिसमे कक्षा ६-७ और ८ (५-६ और ७) का पूर्व माध्यमिक (सीनियर बेसिक) अथवा मिडिल स्कूल-स्तर भी शामिल समझा जाय, और ४ साल की माध्यमिक (सेकेण्डरी) शिक्षा दी जाय। इस तरह इस पूरी शिक्षा की अवधि १५ वर्ष की हो, और उसका एक अखण्ड समन्वित पाठ्क्रम बनाया जाय, जिसमे पूर्व प्राथमिक स्तर से माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा एक अखण्ड इकाई बनी रहे।

शिक्षा का माध्यम

१६ शिक्षा का माध्यम एक दूसरा अहम प्रश्न है, बल्कि सबसे अधिक अहम प्रश्न। मेरा विचार है कि पूर्व प्राथमिक और प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रहे। अल्पसंख्यकों को अष्ट वर्षीय-प्राथमिक विद्यालयो की कक्षा ५ तक अपनी-अपनी मातृभाषा मे शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा प्रदान की जाय, परन्तु वे कक्षा ३ से ही बहुसंख्यको की भाषा (क्षेत्रीय भाषा) सीखना प्रारम्भ कर दें और कक्षा ६ मे सबके साथ आ जायँ।

की मात्रा और मद के अनुसार छोटे-छोटे साधनों का भी प्रबन्ध होना चाहिए। मशीन से इन स्कूलों में बच्चों की खेल और अनुकरण-द्वारा आत्म-प्रकाशन के लिए स्वस्थ और उत्साहपूर्ण वातावरण प्रदान करना चाहिए।

२१ हाथ-मुँह धोना, नहाना, कपड़े धोना, बाल सँवारना आदि निजी सफाई के कामों में आत्मनिर्भर बनाने का प्रबन्ध होना चाहिए।

२२. गाँव-गाँव और मुहल्ले-मुहल्ले पूर्व प्राथमिक स्कूल खोले जायँ। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव हैं—

क—बुनियादी स्कूल खोलने का दायित्व पंचायतों और स्थानीय संस्थाओं को सौंपा जाय लेकिन व्यक्तिगत-प्रयासों को हतोत्साहित न किया जाय।

ख—राज्य-सरकार पूर्व बुनियादी का एक शिक्षाक्रम मान्य करे और शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करे।

ग—पूर्व बुनियादी स्तर पर मातृभाषा के अलावा किसी दूसरी भाषा को स्थान न दिया जाय।

घ—सरकार की ओर से साहित्य-निर्माण को प्रोत्साहन मिले तथा साधन तैयार कराने के लिए वर्कशाप खोले जायँ, जो प्रशिक्षण संस्थाओं के साथ जुड़े हों।

प्राथमिक शिक्षा का बुनियादी स्तर

२३ प्राथमिक बुनियादी शिक्षा की कम-से-कम ८ साल की एक इकाई हो और इसमें माध्यमिक शिक्षा को मिला दिया जाय, और अगर विद्यार्थियों को कोई उपयोगी कौशल या हुनर सिखाना है और वैज्ञानिक ढंग से सिखाना है तो बिना किसी अवरोध के कम-से-कम १४-१५ वर्ष की अवस्था तक सिखाना ही चाहिए। जब समाजवादी रूस ने निश्चय किया कि सामान्य शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में विद्यार्थियों को आधुनिक उत्पादन-पद्धतियों की प्रक्रियाओं में भी शिक्षा दी जाय, तो १९५८ ई० में उसे भी कक्षा १ से ११ तक एक अखण्ड पाठ्यक्रम अपनाना पड़ा, जिसमें विद्यार्थियों में उन कौशलों और गुणों का विकास हो सके, जो टेक्नालाजी-मूलक औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक हैं।

भारत भी यदि सामान्य शिक्षा के साथ समाजोपयोगी-उत्पादक-पूरक (वर्क-ओरियेंटेड) शिक्षा का समन्वय चाहता है, जिससे विद्यार्थी प्राथमिक शिक्षा समाप्त करने के बाद कृषि, उद्योग आदि समाजोपयोगी धन्धों में लग सकें, तो उसे भी एक ऐसे ही अखण्ड पाठ्यक्रम की संस्तुति करनी होगी, जिसमें प्राथमिक और आज की हाई स्कूल की शिक्षा का मेल हो।

२४ भौतिक संगठन की दृष्टि से इस देश में बहुत दिनों तक कक्षा १ से कक्षा ४ अथवा ५ तक के स्कूल अलग रहेंगे, परन्तु वे उसी पाठ्यक्रम का अनुसरण करेंगे, जो कक्षा १ से ८ तक के प्राथमिक स्कूलों में चल रहे हैं। ये जूनियर स्कूल अपने पास-पड़ोस के प्रारम्भिक स्कूलों के सीनियर स्तर के पोषक (फीडर) रहेंगे। अतः कम-से-कम कक्षा १ से कक्षा ८ तक की प्रारम्भिक शिक्षा को एक इकाई रखना होगा। यह ढाँचा पूरे देश में समान रहेगा, जिससे देश के एक कोने से दूसरे कोने में स्थानान्तरित होनेवाले विद्यार्थियों को अपनी शिक्षा जारी रखने में कठिनाई न हो।

२५ किसी समाजोपयोगी उत्पादक उद्योग, दस्तकारी अथवा हुनर की शिक्षा इस स्तर की शिक्षा का अभिन्न अंग होगी। इस दस्तकारी अथवा हुनर का चुनाव स्थानीय परिस्थिति को देखकर किया जाय। उत्पादन की प्रक्रियाओं का यह शिक्षण इस स्तर के विद्यार्थी के सामान्य शिक्षण का अनिवार्य अंग होगा।

२६ दस्तकारी अथवा उद्योग, जिसमें यन्त्र-शास्त्र निहित है के अतिरिक्त पाठ्यक्रम में ये विषय हों— भाषा, गणित विज्ञान, कला, सामाजिक अध्ययन, और शरीर-विज्ञान जिनका शिक्षण और अभ्यास उद्योग, समाज और प्रकृति के समवाय में कराया जाय।

२७ विषयों के शिक्षण में यथासम्भव, सह-सम्बन्ध की टेक्नीक का अनुसरण किया जाय। सारा शिक्षण बालक के जीवन और अनुभवों से सम्बन्धित रहे।

२८ इस स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा हो। कक्षा १ से ५ तक मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा रहे। कक्षा ६ से शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा रहे। अंग्रेजी की शिक्षा इस

स्तर पर न दी जाय। प्रत्येक विद्यार्थी मातृभाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा और एक पड़ोसी भाषा सीखे।

२९ भारत-सरकार नमूने के लिए इस स्तर का एक शिक्षाक्रम तैयार करे, जिसे राज्य-सरकारें और व्यक्तिगत संस्थाएं अपनी-अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार उचित संशोधन के साथ लागू करें, लेकिन इस बात का ध्यान रखा जाय कि आधार-भूत तत्त्वों की अवहेलना न हो।

३० आठ वर्ष की अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के बाद अधिकांश छात्र खेती में अथवा दूसरे धन्धों में लग जाते हैं। अत प्राथमिक स्तर के बाद, सामान्य माध्यमिक स्कूलों के अतिरिक्त दो-तीन वर्ष की अवधिवाले ऐसे ट्रेनिंग स्कूलों की स्थापना होनी चाहिए जिनमें इन धन्धों और व्यवसायों की विधिवत् ट्रेनिंग दी जाय। चूंकि खेती भारत का सबसे बड़ा धन्धा है, और उसे प्रोत्साहन भी देना है अत इस प्रकार के कृषि विद्यालय पर्याप्त संख्या में खुलने चाहिए।

३१ प्राथमिक शिक्षा के बाद जो विद्यार्थी अपनी घरेलू परिस्थितियों के कारण घर के धन्धों में लग गये हैं उनके लिए सामान्य माध्यमिक शिक्षा और अपनी पसन्द की व्यावसायिक शिक्षा भी प्राप्त करने का प्रबन्ध होना चाहिए। इस दृष्टि से रात्रि-पाठशालाएं खोली जायें अथवा 'करेसपान्डेंस कोर्स' का प्रबन्ध हो।

माध्यमिक शिक्षा

३२ सर्वथा नयी योजना प्रस्तुत करने के स्थान पर बहुद्देशीय विद्यालय का सुधार और विस्तार करना ज्यादा अच्छा होगा। सुधार करते समय इस बात का ध्यान रखा जाय कि जो पाठ्यक्रम बने वह देश के भिन्न-भिन्न उद्योगों, उत्पादन की विविध पद्धतियों एवं जीवन की विविधताओं और प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करे और उसके लक्ष्यों के विषय में किसी प्रकार का भ्रम न रहे। वह प्राथमिक बुनियादी शिक्षा का मात्रात्मक और गुणात्मक विस्तार एवं बहुद्देशीय माध्यमिक विद्यालयों का सुधरा हुआ रूप हो।

३३ आज की माध्यमिक शिक्षा का राष्ट्र के जीवन से बिल्कुल मेल नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि माध्यमिक स्तर की सामान्य शिक्षा को आधुनिक उत्पादन की मूल प्रक्रियाओं के साथ जोड़ दिया जाय, जिससे बौद्धिक विकास के अतिरिक्त वह विद्यार्थियों में उन कौशलों और गुणों का विकास भी कर सके, जो आज की टेकनालाजी मूलक औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक हो गये हैं। माध्यमिक स्तर पर, जैसा बुनियादी स्तर पर है, इस शिक्षा को संकीर्ण अर्थ में स्पेशलाइजेशन का पर्याय तो नहीं बनना है, परन्तु अति शास्त्रीय भी नहीं बनना है।

३४ अधिकांश विद्यार्थियों को माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद ट्रेनिंग लेकर अथवा बिना किसी ट्रेनिंग के व्यवसायों में लग जाना पड़ता है। अत माध्यमिक शिक्षा को छात्रों की बौद्धिक क्षमताओं को विकसित करने के साथ उन्हें इतनी व्यावसायिक योग्यता दे देनी चाहिए कि वे समाज की उत्पादक-इकाई बन सकें। उनमें उन कौशलों और गुणों का विकास होना चाहिए, जिनके बल पर वे चाहें तो छोटा-मोटा उद्योग कर सकें और चाहें तो उच्च स्तर की व्यावसायिक और औद्योगिक शिक्षा-संस्थाओं अथवा सामान्य विश्व-विद्यालयों में प्रवेश भी पा सकें।

एक बात निश्चित है कि अगर आयोग द्वारा प्रस्तुत माध्यमिक शिक्षा आज की शिक्षा की तरह ही अति सैद्धान्तिक और शास्त्रीय बनी रही, तो व्यावहारिक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा और वह बौद्धिक और शारीरिक परिश्रम के बीच पड़ी हुई खाई को बढ़ाती ही रहेगी और यह हमारे प्रजातन्त्रीय समाजवाद के हित में नहीं होगा। अत सामान्य शिक्षा के नाम पर अति-सैद्धान्तिक शिक्षा का प्रतिपादन न किया जाय और उसे सच्चे अर्थ में व्यवसाय-परक बनाया जाय, जो आज माध्यमिक शिक्षा की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

चूंकि माध्यमिक स्तर के बाद अधिकांश विद्यार्थियों को देश के उत्पादक धन्धों में लगना पड़ता है और लगना चाहिए इसलिए इन उत्पादक धन्धों के लिए जिन कुशल-अर्द्धकुशल कार्यकर्ताओं, श्रमिकों टेक्निशियनों और यांत्रिकों आदि की मांग है, माध्यमिक शिक्षा

उस माँग को पूरा करने की मजबूत सीढ़ी बने। अत आयोग माध्यमिक शिक्षा की सारी प्रणाली इस प्रकार संगठित करे, जिससे उसके द्वारा देश के उद्योगों और सेवाओं के विभिन्न क्षेत्रों के लिए कार्यकर्ता तैयार हो सकें। हमारी प्रचलित माध्यमिक शिक्षा युवकों को समाजोपयोगी उद्योग करने के लिए तैयार नहीं करती। आयोग को इसे बदलना है। इस दृष्टि से माध्यमिक शिक्षा का संगठन निम्न प्रकार से किया जाय—

क—इस समय साधारणत माध्यमिक शिक्षा के दो स्तर हैं—पहला, पूर्व माध्यमिक स्तर कक्षा ६ से ८ तक, और दूसरा उच्च माध्यमिक स्तर कक्षा ९ से १२ तक। प्रथम स्तर, जिसका पाठ्यक्रम बिना किसी अपवाद के ८ वर्ष की अनिवार्य बुनियादी शिक्षा का पाठ्यक्रम ही होगा, प्राथमिक शिक्षा में शामिल समझा जाय।

ख—माध्यमिक शिक्षा का दूसरा स्तर कक्षा ९ से आरम्भ होकर चार वर्ष तक चलेगा। इस स्तर में वही विद्यार्थी प्रवेश ले सकेंगे जो आठ वर्ष की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं।

ग—प्रत्येक दशा में सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा एक इकाई होगी अर्थात् उसमें पाठ्यक्रम की समानता होगी। इस समय उत्तरप्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के दूसरे स्तर पर भी दो इकाइयाँ हैं—कक्षा ९ और १० एक इकाई है और कक्षा ११ और १२ दूसरी इकाई; यह नहीं होना चाहिए।

घ—इस समय माध्यमिक स्तर पर कक्षा ९ से ही डाइवर्सिफिकेशन प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् कक्षा ९ से ही विद्यार्थी कुछ मूल विषयों के अतिरिक्त अनेक वर्गों में से एक वर्ग चुन लेता है।

ङ—यह डाइवर्सिफिकेशन कक्षा ११ से प्रारम्भ किया जाय। कक्षा १० तक सभी विषय पढ़ाये जायें।

च—कक्षा १० के बाद विद्यार्थियों को वर्गों के चुनाव के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों-द्वारा सलाह मिलनी चाहिए। इसी प्रकार कक्षा १२ के बाद उन्हें फिर सलाह मिलनी चाहिए कि वे विश्वविद्यालयों में पढ़ें, व्यावसायिक संस्थाओं में जायें अथवा उद्योगों में लगें। इस प्रकार के निर्देशन का व्यापक प्रबन्ध होना चाहिए। आयोग इसकी योजना प्रस्तुत करे।

उच्च शिक्षा

३५ विश्वविद्यालयीन शिक्षा नीचे की माध्यमिक शिक्षा का विस्तार हो। इसके दो रूप हों—एक व्यावसायिक और प्राविधिक शिक्षा के उच्च पहलू से सम्बन्ध रखनेवाले संस्थान, जो स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर चलें और जहाँ नये प्रयोग और गवेषणा की पूरी सुविधा हो। और दूसरे वे विश्वविद्यालय, जिनका सम्बन्ध शास्त्रीय विषयों की शिक्षा से हो। उन विश्वविद्यालयों में वही विद्यार्थी जायँ, जिनका बौद्धिक स्तर उच्च कोटि का हो। अगर पर्याप्त व्यावसायिक स्कूल खोले गये और शिक्षा के उत्पादक पहलू पर बल दिया गया तो विश्वविद्यालयों की ओर दौड़नेवालों की संख्या कम हो जायगी। १९५८ के सुधार के पहले रूस में माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद ९० फीसदी छात्र विश्वविद्यालयों में जाते थे, अब २५ फीसदी ही जाते हैं।

३६ उच्च शिक्षा सरकार की प्रत्यक्ष जिम्मेदारी न रहे। सरकार उदारता-पूर्वक अनुदान दे, जैसा आज भी कर रही है।

३७ व्यावसायिक और प्राविधिक संस्थान सरकार की जिम्मेदारी की सीमा में रहे।

●

● अनुशासन-बद्ध और जागृत लोकतन्त्र संसार की सुन्दर से सुन्दर वस्तु है। पूर्व ग्रहों से जकड़ा हुआ अज्ञान में फँसा हुआ, और अन्धविश्वासों का शिकार बना हुआ लोकतन्त्र अराजकता और अन्धा धुन्धी के दलदल में फँस जायेगा और खुद ही अपना नाश कर लेगा।

—गांधीजी

उच्च शिक्षा की नयी राहें

• राजगोपालाचारि

हमारे यहाँ कालेजों में तो बाढ़ आती जा रही है। हर साल कालेज खुलते ही भरती के लिए होड़ लग जाती है। उसके लिए मैट्रिक पास विद्यार्थी जाति, समाज वगैरह सब तरह के दावे पेश करते हैं। यदि संख्या के हिसाब से देखा जाय तो कहना होगा कि हमारे विश्वविद्यालय खूब कामयाब हुए हैं, लेकिन उनकी मौजूदा हालत सन्तोषजनक नहीं है। प्रोफेसर, विद्यार्थी, हमारी पार्लियामेण्ट के सदस्य, जनता, पब्लिक-सर्विस कमीशन के सदस्य, सभी इस बात में एकराय हैं कि विश्वविद्यालयों से निकले हुए विद्यार्थी विशेष क्षमता नहीं रखते। संख्या में कमी नहीं पड़ती, फिर भी राज्य का काम पूरा नहीं होता। उनकी योग्यता बहुत ही नाकाफी होती है।

लोकशाही के दावे की सफलता परिपक्व नेतृत्व पर निर्भर रहती है, और वह नेतृत्व हमारे विश्वविद्यालयों से निकले हुए विद्यार्थियों से उद्भूत होना चाहिए। उसके लिए हम किसी और जगह नहीं खोज सकते। एक क्रान्तिकारी नेता या सन्त देश के इतिहास में कभी-कभी असाधारण तौर से भले आता दिखाई दे और उसके लोक-जीवन और चरित्र का नव-निर्माण कर दे, लेकिन उन्नति के मजबूत क्रमिक विकास के लिए, जो रोजमर्रा का काम करने की जरूरत होती है, वह तो नेताओं के अविरल मिलते रहने पर ही निर्भर करता है। वे ही हमारे देश के लोगों की सँभाल और उनका मार्गदर्शन कर सकते हैं। ये लोग असाधारण जगत के नहीं होते। हमें ऐसे एक नहीं, हजारों चरित्रवान व्यक्तियों की जरूरत है, जो देश के हजारों जिलों में जिम्मेदारी की जगहें लेकर काम करें।

यह मानना अतिशयोक्ति-पूर्ण नहीं होगा कि हमें, जो योग्यता चाहिए उसमें और युनिवर्सिटियों से निकले हुए विद्यार्थियों की योग्यता में, जो फर्क है वह तो बड़ी गहरी खाई-सा है। जो भाई-बहन ग्रेजुएट बनकर निकलते हैं, उन्हें सब सीखना पड़ता है और कहीं काम पर लगने के बाद ही उनके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। यह बहुत ही असन्तोषजनक बात है। और, खासकर तब, जबकि हमारी सरकारी नौकरियों का बोझ

और जिम्मेदारी इतनी बढ़ गयी है कि उन्हें अति-व्यापक कल्पनाशील पिछली पीढ़ी का सरकारी नौकर भी नहीं समझ सकता। युनिवर्सिटी से अलग होने के पहले युवक को जो खास चीज मिलनी चाहिए वह है व्यक्तित्व और चरित्र, पुस्तकीय ज्ञान नहीं। अफसोस की बात है कि बौद्धिक और नैतिक गड़बड़ के कारण हमारे कालेजों का वातावरण इतना बिगड़ा हुआ है कि वहाँ व्यक्तित्व निर्माण-जैसी बात की कोशिश नहीं की जा सकती। वहाँ वह मार्गदर्शन नहीं मिलता जो पढ़नेवाले युवक-युवतियों के व्यक्तित्व निर्माण के लिए आवश्यक है। उनमें तर्कशक्ति का अच्छा विकास हो जाता है और उनके दिमाग में बातें भी बहुत-सी ठूँस दी जाती हैं लेकिन बुनियादी चीज का अभाव रहता है।

इसकी सफाई में यह कहा जाता है कि सारी दुनिया में बौद्धिक और नैतिक दोनों दिशाओं में उथल-पुथल हो रही है और उसका युनिवर्सिटियों पर भी प्रभाव पड़ता है लेकिन क्या बाहरी उथल-पुथल को मिटाने की कोशिश न करके उसका प्रतिबिम्ब बन जाना युनिवर्सिटियों के लिए सन्तोष-जनक हो सकता है? उनका काम तो सुधार का होना चाहिए। उन्हें समाज की हूबहू तसवीर नहीं बन जाना चाहिए। उन्हें तो जहाँ नैतिक और बौद्धिक अस्तव्यस्तता हो वहाँ नैतिक मूल्यों और बौद्धिक व्यवस्था को फिर से स्थापित करने के लिए कुछ करना चाहिए।

इस प्रकार युनिवर्सिटियों को चाहिए कि वे देश को नेता शिक्षक और प्रबन्धक दें जिनकी इस विषम युग में राज्य पर आनेवाली जिम्मेदारियों को पूरी करने के लिए जरूरत है। साथ ही उन्हें समाज के सांस्कृतिक जीवन का मार्गदर्शन करना चाहिए। रूढ़िवादिता की जगह विवेक और भावना की जगह विचार को मिलनी चाहिए मनमाने धर्म की जगह आदर्श कायम होना चाहिए। सिद्धान्त की जीत होनी चाहिए अवसरवादिता की नहीं। हम सभी बातें असाधारण तौर से हो जाने की उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। यह तो युनिवर्सिटियों का काम है कि वे ऐसे युवक-युवतियों को तैयार करें जो तेजस्वी हों और कठिन रास्ते में लगातार मार्गदर्शन करने में आनन्द लें और स्वयं पूर्ण बनें।

यह उपेक्षा क्यों?

आज के तरुण अस्तव्यस्तता और उलझे हुए विचारों के शिकार बन गये हैं। ये विचार उन्हें बाजारू-बाजारू साहित्य से मिलते हैं और खुद उनमें भी यह छिपा नहीं है कि उनपर विश्वास नहीं किया जा सकता। हमारी इस पीढ़ी में हिन्दुस्तान ने अपने भाग्य-विकास के सम्बन्ध में जो महान प्रयोग शुरू किया है उसमें हमारे कालेजों और युनिवर्सिटियों की मौजूदा हालत सर्वाधिक निराशाजनक है। इन कालेजों और युनिवर्सिटियों की योजना और उनका निर्माण पिछली पीढ़ी में हुआ था और यदि वे हमारे समय के अनुकूल नहीं हैं तो इसमें उनका दोष नहीं है। जब देश ने आजादी पाने के लिए जो एक क्रान्तिकारी पद्धति शुरू की गयी थी उसमें भी उन्होंने फायदा तो दूर रहा उल्टे नुकसान ही उठाया है।

यदि हमारे सिद्धान्त और संस्कृति जिन्होंने पिछले काल में महान दीवार बनकर हिन्दुस्तान को बचाया है आज जैसे-के-तैसे होते तो युनिवर्सिटियों की अयोग्यता से पैदा होनेवाली बुराई का महत्व प्रमाणतः कम हो जाता। यदि हमारी वेदान्त की संस्कृति सिर्फ पण्डितों के पास नहीं बल्कि सब लोगों के हृदय और अन्तर में होती तो स्कूल और कालेज की पढ़ाई की कमी का कोई महत्व न रहता और न उससे गम्भीर नुकसान होती। दुर्भाग्य से हमारी प्राचीन विरासत बहुत तेजी से घटती जा रही है और मुझे डर है कि अब वह शायद थोड़ी ही बची हो। नहीं तो लोभ और स्वार्थ का जो गरम बाजार आज हम देख रहे हैं जिसने हमारी राष्ट्रीय सरकार के लिए अपने ध्येयों को पाना इतना मुश्किल बना दिया है वह हम नहीं देखते। पिछले पचास सालों में शिक्षा की जो पद्धति अमल में लायी गयी उसने हमारी वेदान्तिक संस्कृति के अनुशासन संयम और नैतिकता की भावना को जड़युक्त उखाड़कर फेंक दिया लेकिन उसकी जगह कोई नयी पौध लाकर नहीं लगायी गयी।

हर प्रकार की शिक्षा से व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए, नहीं तो वह हर मानी में निकम्मी है। दूसरी ओर यदि युनिवर्सिटी के ध्येयों का यह पहलू ध्यान में रखा जाय तो हर विषय का अध्ययन लाभप्रद होगा। चाहे विज्ञान हो, उद्यम की तालीम हो, अर्थ-शास्त्र हो, इतिहास, कानून या घरेलू विज्ञान हो, या और कुछ हो, हर क्षेत्र में युवक-युवतियों को मनुष्यों का अगुवा बनाने के लिए बहुत गुंजाइश रहेगी, बशर्तेकि बौद्धिक विकास के साथ व्यक्तित्व के विकास की ओर भी ध्यान दिया जाय।

नैतिक शिक्षण की कठिनाइयाँ

नैतिक शिक्षण की कठिनाइयाँ मुझसे छिपी नहीं हैं। हमें युनिवर्सिटियों में आनेवाले विद्यार्थियों के लिए ऐसे ऊँचे चरित्र के योग्य व्यक्ति नहीं मिलते, जो बगैर प्रत्यक्ष शिक्षा या लाजमी नियम बनाये अपने जीवन और व्यवहार से ही विद्यार्थियों को प्रेरणा दे सकें। दूसरी दृष्टियों से हमें बहुत ही योग्य शिक्षक मिलते हैं। जिसे गलती से चालू धार्मिक शिक्षण समझ लिया जाता है, उसे स्कूल या कालेज के पाठ्यक्रम में दाखिल करने में बहुधा सबसे ज्यादा अनिच्छा रहती है। इसके परिप्रेक्ष्य में रहनेवाले कारणों और भावों की सत्यता को तो हमें मानना ही पड़ेगा, लेकिन हम उनपर आसानी से काबू नहीं पा सकते। भयानक संकट स्पष्ट रूप में बिलकुल सिर पर लटक रहा है। हम अपनी झिझक के कारण अकर्मण्य होने की सीधी नीति अख्तियार नहीं कर सकते।

लक्ष्य-प्राप्ति की नयी राहें

मैं समझता हूँ कि अपना लक्ष्य पाने के लिए रास्ता है, और जरूर है। विविध धर्मों और दर्शनों का अध्ययन कराने के लिए एक व्यापक योजना बनायी जाय। उन दर्शनों की सीमा के अन्दर पश्चिम की युनिवर्सिटियों में, जिसे मानव-धर्म कहते हैं, यानी यूनान और रोम के तत्त्व-विचार, वह भी शरीक रहे। इन सबसे हमारे युवक-युवतियों के लिए सत्य को ग्रहण करने और हमारे देश के तत्त्वज्ञान और संस्कृति को पचा लेने के लिए अलग से प्रयत्न किये बगैर ही वातावरण तैयार हो जायगा और उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन भी प्राप्त होगा, जो प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकता, वह अप्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता है। हमारे बालकों में ईसाइयों, यहूदियों और मुसलमानों के धार्मिक साहित्य को पढ़ने तथा यूनान और रोम के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए रुचि पैदा की जानी चाहिए। तब किसी को वेदान्त पढ़ने के लिए कहना नहीं पड़ेगा। वे अपने-आप ही उसे पढ़ने लगेंगे, क्योंकि जिसका हिन्दुस्तान में जन्म हुआ है और जिसे अपने देश पर अभिमान है उसके लिए वह साहित्य हमेशा ही तैयार मिलेगा।

अपने बचपन में अपनी पढ़ाई की किताबें छोड़कर जब मैं फालतू किताबें पढ़ता था उस वक्त मैंने पहले बनयन का पिलग्रिम्स प्रोग्रेस और नयी बाइबिल के प्रकरण पढ़े। बाद में मैंने सुकरात, मार्कस आरेलियस और ब्रदर लारेन्स के विचार समझ लिये, फिर मेरा मन उपनिषद्, गीता और महाभारत की ओर बढ़ा, यद्यपि उसके लिए मैंने किसी से प्रेरणा नहीं ली। आत्मशोधन एक ही है और जहाँ कहीं भी शोध होती है और जो भी शोध करता है ईश्वर उसे सफलता देता है। आज मैं जो धार्मिक हूँ—वैसे हूँ तो कच्चा-वेदान्ती—उसका कारण जितना अपने महान पूर्वजों के विचारों का सम्पर्क है, उतना दूसरे देशों की पवित्र पुस्तकों का सम्पर्क भी है। सारे धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों को धो-पोंछकर निकाल देने से नहीं, बल्कि उनकी सर्वव्यापक जानकारी से ही हम सुरक्षित होंगे और अपने-आपको ठीक रूप में गढ़ सकेंगे।

●

● हमारी प्रतिष्ठा की मान्यताएँ जैसी होंगी, देश की आबाल-वृद्ध जनता की तृष्णा तथा आकांक्षा भी वैसी ही होगी। —धीरेन्द्र मजूमदार

हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप

● ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव

किसी भी राष्ट्र के जीवन और विकास में शिक्षा का महत्व आज से ही नहीं बल्कि इतिहास के आदि काल से ही एक स्वीकृत सत्य रहा है। आर्यों ने अपनी बुनियादी संस्कृति तथा ज्ञान की दृढ़ता को प्राप्त करने के लिए द्वार से लेकर अन्तर्कालीन वर्ष के पाठ्यक्रम की व्यवस्था की थी। बुद्ध ने आजीवन विद्यार्थी ही रहना पसन्द करते थे। प्लेटो ने भी अपने स्वर्णिम राज्य की कल्पना के लिए शिक्षा प्रणाली का एक निश्चित स्वरूप निश्चित किया था जो योग्यता के आधार पर चालीस वर्ष तक चल सकता था।

मध्ययुगीन योरप में चर्च शिक्षा का केन्द्र बन गया था और उसने बच्चों को शिक्षित करने एवं ईसाई धर्म के मूल्यों की रक्षा करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया था। सभ्यता की प्रगति के साथ साथ शिक्षा का महत्व और भी बढ़ा और आज विश्व का कोई भी राष्ट्र इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि राष्ट्रीय उन्नति तथा अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए यदि कोई सर्वोत्तम साधन हो सकता है तो वह एकमात्र शिक्षा है। कोई भी राष्ट्र अपने प्राकृतिक साधनों में कितना भी सम्पन्न क्यों न हो किन्तु जब तक उस देश के मानवीय साधनों का समुचित विकास नहीं होता तब तक वह देश कभी भी खुशहाल नहीं हो सकता। इन मानवीय साधनों का विकास उस देश या राष्ट्र की शिक्षा के स्वरूप पर निर्भर होता है।

राष्ट्रीय शिक्षा

किसी भी देश अथवा राष्ट्र की शिक्षा का स्वरूप उस राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा राष्ट्रीय आदर्शों पर आधारित रहता है। राष्ट्रीय शिक्षा राष्ट्र की संस्कृति में भी प्रदर्शित होती है तथा वह एक सुसंगठित शिक्षा व्यवस्था होती है जिसमें सभी नागरिकों को शिक्षा का समान अवसर प्रदान किया जाता है। किन्तु भारतवर्ष में दुर्भाग्यवश १९४७ के पूर्व जो शिक्षा का स्वरूप हमारे सम्मुख था वह घोर अराष्ट्रीय शिक्षा का प्रतीक था। स्वतन्त्रता के बाद शिक्षा की नीतियों में पर्याप्त परिवर्तन लाया गया तथा एक सुसंगठित स्वरूप प्रदान करने के लिए अनेक प्रयास केन्द्रीय तथा प्रान्तीय स्तर पर किये गये, परन्तु अत्यधिक खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारत में शिक्षा को प्राथमिकता के क्रम में पहला-दूसरा की कौन कहे तीसरा स्थान भी प्राप्त नहीं है।

इसके विपरीत ब्रिटेन मे द्वितीय महायुद्ध के दिनो मे भी राष्ट्रीय शिक्षा के पुनर्निर्माण के लिए एक विशाल कार्यक्रम हाथ मे लिया गया तथा सन् १९४८ और सन् १९५१ के वित्तीय कठिनाइयो के वर्षों मे, शिक्षा के बजट मे एक पैसे की भी कमी करने से इनकार कर दिया गया। यह कहना अनुचित न होगा कि हमने शिक्षा को वह प्राथमिकता नही दी, जो ब्रिटेन मे उसे दी गयी। टॉमलिंसन ने कहा था—"शिक्षा-मन्त्रालय खर्च नही करता, वरन् राष्ट्र के भविष्य के लिए पूंजी का विनियोग करता है।"

शिक्षा के उद्देश्य

राष्ट्रीय शिक्षा के स्वरूप के अन्तर्गत शिक्षा का उद्देश्य, पाठ्यक्रम, विधि शासन आदि आते हैं। हमारे देश मे जनतन्त्रीय शिक्षा का स्वरूप—दूसरे शब्दो मे उद्देश्य पाठ्यक्रम, विधि, शासन आदि इस प्रकार के होने चाहिए, जिससे सभी व्यक्तियो को शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर मिल सके तथा वे विश्व की बदलती हुई परिस्थितियो मे जनतन्त्र के एक योग्य नागरिक बन सकें। जहाँतक शिक्षा के उद्देश्यो का सम्बन्ध है, इस बात को सभी स्वीकार करेंगे कि शिक्षा के चार उद्देश्य हैं, जो अलग अलग होते हुए भी आपस मे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं—

१ व्यक्ति के सहज आन्तरिक गुणो तथा शक्तियो का विकास,

२. व्यक्ति को उस ससार का ज्ञान देना, जिसमे वह रहता है,

३ व्यक्ति मे ऐसी योग्यता तथा दक्षता का विकास करना, जो सामाजिक जीवन को कायम रखने और आगे बढाने के लिए आवश्यक है, और

४ व्यक्ति के मूल्यो की खोज की चाह को पूरा करना।

ये सभी उद्देश्य इस प्रकार के हैं कि किसी एक को पूरी तरह प्राप्त करना और शेष को छोड देना सम्भव नही है। इस उद्देश्य के सम्बन्ध मे एक बात और साफ कर देना अत्यधिक अच्छा समझता हूँ—वह यह है कि रोजगार की व्यवस्था करना प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य नही हो सकता। प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य तो बच्चे की शारीरिक और मानसिक क्षमताओ का विकास करना है, उसे एक न्यूनतम आवश्यक मात्रा मे आवश्यक ज्ञान देना और उसमे सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक आदतो को जन्म देना है। जहाँतक माध्यमिक शिक्षा का सम्बन्ध है वह ऐसे युवक-युवतियो को तैयार करे, जो सामाजिक योग्यता के नीचे स्तर के मँजे हुए कारीगर और शिल्पी होने के बजाय नये ज्ञान और नयी प्राविधियो को सीखने की क्षमता उत्पन्न कर दे।

माध्यमिक शिक्षा

परन्तु, भारत-जैसे गरीब देश मे माध्यमिक तथा उससे ऊँची शिक्षा अधिकाश जनता नहीं ग्रहण कर सकती। सविधान मे भी चौदह वर्ष तक की ही अनिवार्य शिक्षा की बात कही गयी है। अत हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि चौदह वर्ष तक लोग अनिवार्य रूप से शिक्षा ग्रहण करेंगे। इस अवस्था तक शिक्षा को कुछ अशो मे पूर्ण बनाना होगा। अत अवर माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य अन्य उद्देश्यो के साथ साथ यह भी होगा कि बालको को अपने जीवन-यापन मे या जीविकार्जन के साधनो को सुलभ करने मे समर्थ बनाये। यद्यपि यह बात कुछ लोगो के विचार से मेल नही खाती और उन लोगो का यह कहना है कि इतने कम समय मे बालक कुछ भी व्यावसायिक कार्य नही सीख सकता।

लेकिन, उन विद्वानो को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भारत-जैसे देश मे प्रारम्भ से ही बालक अपने पिता के कार्यों मे सहयोग देने लगता है। बढई का बालक बारह-तेरह वर्ष की अवस्था मे ही बढईगिरी का काम सुन्दर ढग से करने लगता है। यही बात सुनार, कुम्हार आदि के बालको के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त यदि अन्य छात्रो की, जिनकी रुचि तथा योग्यता आगे बढने की है, उनमे ज्ञान तथा प्राविधियो को सीखने की क्षमता उत्पन्न कराना माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य होगा।

पाठ्यक्रम और क्राफ्ट

उद्देश्यो की सक्षिप्त व्याख्या करने के बाद, एक ऐसे पाठ्यक्रम के ऊपर विचार करना है, जो बालको की रुचि,

योग्यता तथा अवस्था के अनुसार शिक्षा का समान अवसर प्रदान कर सकें। जहाँतक प्राथमिक तथा अवर माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम का सम्बन्ध है, मैं बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को निर्विवाद स्वीकार करता हूँ। हाँ, केवल इतना अवश्य कहूँगा कि अवर माध्यमिक विद्यालयों में, जो विभिन्न प्रकार के शिल्प की शिक्षा की व्यवस्था की गयी है, उसमें आज के युग के अनुसार वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा दी जाय तथा आधुनिकतम मशीनों का भी प्रयोग किया जाय। इससे विद्यार्थियों को विज्ञान की बढ़ती हुई प्रगति का भी बोध होगा तथा वे अपने जीवन में इनके प्रयोग के लिए प्रयास करेंगे। इस दिशा में सरकार का सहयोग अत्यधिक आवश्यक है।

जहाँतक उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम की बात है, माध्यमिक शिक्षा आयोग-द्वारा प्रस्तावित पाठ्यक्रम को कुछ सुधार के साथ स्वीकार करना अवांछनीय न होगा। यह सच है कि माध्यमिक शिक्षा आयोग-द्वारा प्रस्तावित पाठ्यक्रम बालकों की विभिन्न रुचियों और योग्यताओं के आधार पर तैयार किया गया है; परन्तु उसमें एक कमी रह गयी है, वह यह है कि छात्र किसी एक वर्ग में, सम्मिलित विषयों के अतिरिक्त, जिसमें उसकी रुचि है, पढ़ने की कोई व्यवस्था नहीं है। उदाहरणार्थ विज्ञान पढ़नेवाला विद्यार्थी यदि कला-वर्ग के किसी विषय को पढ़ना चाहता है तो वह नहीं पढ़ सकता। अतः कहने का प्रयोजन यह है कि पाठ्यक्रम इतना लोचदार हो कि प्रत्येक विद्यार्थी अपनी रुचि तथा योग्यता के आधार पर विषयों को ले सके। माध्यमिक शिक्षा-संगठन में एक और कमी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, वह यह कि छात्रों की 'हाबीज' के स्वतन्त्र विकास के लिए अवसर प्रदान नहीं करता। इसलिए नये राष्ट्रीय शिक्षा के स्वरूप में उपर्युक्त बातों का भी आयोजन करना होगा।

भाषा-सम्बन्धी समस्याएँ

जहाँतक भाषा का सम्बन्ध है आज अधिकांश शिक्षा विशारद त्रिसूत्र सिद्धान्त को ही अपनाते हैं। मेरी समझ में तो भाषा-सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए यह सुझाव सर्वोत्तम होगा कि मातृभाषा के माध्यम से पढ़ाई की जाय तथा मातृभाषा के साथ राष्ट्र-भाषा का ज्ञान तीसरी कक्षा से अवश्य प्रारम्भ करा देना चाहिए। माध्यमिक स्तर पर क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से पढ़ाया जाय। विश्वविद्यालयों में उच्चतर शिक्षा के माध्यम का प्रश्न है वहाँ विभिन्न विश्वविद्यालयों में एकरूपता बनाये रखने के लिए राष्ट्रभाषा की ही प्रधानता होनी चाहिए।

आज स्वराज्य प्राप्त हुए १८ वर्ष हो रहे हैं और कोई ऐसा ठोस कारण दृष्टिगत नहीं होता कि राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त और किसी विदेशी भाषा को स्थान दिया जाय। राष्ट्रभाषा की उपेक्षा करने का आशय यह है कि हम अपने देश के प्रति वफादार नहीं हैं अथवा कुछ [illegible] व्यक्तियों के लिए हम अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी का अपमान करते हैं। जहाँतक लोक-सेवा-आयोग की परीक्षाओं का सम्बन्ध है उसमें हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों में प्रश्नोत्तर करने के लिए संक्रमण काल में अनुमति मिलनी चाहिए।

बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि अंग्रेजी-जैसी भाषा को लोग सरलतापूर्वक सीख सकते हैं, किन्तु हिन्दी-जैसी सरल राष्ट्रभाषा को सीखने में उन्हें कठिनाई पड़ती है। रही बात अच्छी पुस्तकों के सम्बन्ध में, तो इसके लिए यह कहा जा सकता है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है, अर्थात् जब हमें हिन्दी में सभी बातें जाननी होंगी, तब स्वतः ही लोग अंग्रेजी की पुस्तकों का अधिकाधिक अनुवाद करने लगेंगे।

शिक्षण-विधियाँ

शिक्षा के स्वरूप निर्धारण में पाठ्यक्रम के बाद शिक्षण विधियों की चर्चा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है। अध्यापन विधियों का जहाँतक प्रश्न है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अतीत में समाज की आवश्यकताओं पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। शिक्षा आमतौर पर सैद्धान्तिक तथा बौद्धिक किस्म की होती है और अकसर भारतीय जीवन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है। शान्ति निकेतन में टैगोर के विद्यालय की स्थापना से इस स्थिति में सुधार के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हुए। बुनियादी-शिक्षा-योजना के निर्माता ने भी शिक्षण-

विधियों के क्षेत्र में पर्याप्त परिवर्तन लाने का प्रयास किया है।

कहने का प्रयोजन यह है कि शिक्षण विधि इस प्रकार की हो कि सामाजिक कार्यों तथा स्कूल में दी गयी शिक्षा में कोई अन्तर न हो। इससे बालकों को अपने जीवन में प्रवेश के बाद समायोजन की समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ेगा। आज जो नवीनतम शिक्षा विधियों का प्रचलन है, उन्हें स्वेच्छा से स्वीकार करने का प्रयास करना चाहिए। सरकार तथा विद्यालय-प्रधान को इस कार्य में सहायता प्रदान करनी चाहिए।

शैक्षिक प्रशासन

शिक्षा प्रशासन के सम्बन्ध में लोचदार राष्ट्रीयकरण ही भारतीय परिस्थितियों के लिए लाभदायक होगा। आज शिक्षा के क्षेत्र में, जो सर्वाधिक गड़बड़ी दिखलाई पड़ती है वह व्यक्तिगत संस्थाओं की स्वार्थपूर्ण नीति का ही परिणाम है। प्रबन्ध-समितियाँ अध्यापकों का शोषण करती हैं तथा अध्यापक बालकों का।

इस सम्बन्ध में यह सुझाव अनुपयुक्त न होगा कि राज्य विद्यालयों का आर्थिक प्रबन्ध अपने ऊपर ले तथा शासन-सम्बन्धी अधिकार प्रबन्ध-समितियों पर कुछ नियन्त्रण के साथ छोड़ दे। शिक्षा के विकेन्द्रीकरण की जो नीति सरकार ने अपनायी है वह ठीक तो है, परन्तु उसमें सुधार की भी आवश्यकता है। पाठ्यक्रम निर्धारण का भी स्वतन्त्रता के साथ विकेन्द्रीकरण कर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में मैं इतना अवश्य कहूँगा कि पाठ्यक्रम चयन सम्बन्धी सुझावों को आवश्यकतानुसार समय-समय पर सरकार इनको दिया करे।

आजकल तो पंचायत समितियों के हाथ में प्राथमिक विद्यालयों के भवन सम्बन्धी ही अधिकार दिये गये हैं। अच्छा तो यह होगा कि एक जिले में इन पंचायत समितियों की एक बड़ी समिति हो, जो राज्य-सरकार के उचित सुझावों के आधार पर प्रारम्भिक शिक्षा सम्बन्धी नीतियों तथा पाठ्यक्रम आदि का निर्धारण करे। शिक्षा-प्रशासन का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि राज्य सभी व्यक्तियों को शिक्षा का समान अवसर प्रदान करे।

एक राष्ट्रीय अपव्यय

जहाँतक शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने की बात है, उसमें सरकार का सहयोग नितान्त आवश्यक है। सरकार को खुले हृदय से योग्य छात्रों को छात्रवृत्ति तथा अन्य आवश्यक शिक्षा-सम्बन्धी सामग्री देनी चाहिए। प्रायः देखने में यह आता है कि एक गाँव के हाईस्कूल में विज्ञान लेकर अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण होनेवाला छात्र आगे की कक्षाओं में विज्ञान नहीं ले पाता; क्योंकि उस वर्ग का प्रबन्ध उस विद्यालय में नहीं होता। अतः मजबूरन उसे कला के विषय लेने पड़ते हैं और वह असफल रहता है। यह एक प्रकार का राष्ट्रीय अपव्यय भी है। इस प्रकार की असंख्य समस्याएँ देखने को मिल सकती हैं।

समान अवसर का आशय

इस दिशा में सरकार का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह ऐसे विद्यार्थियों को आगे की कक्षा में पढ़ाने का पूरा-पूरा भार वहन करे, तभी शिक्षा के समान अवसर-वाली बात चरितार्थ हो पायगी। शिक्षा के समान अवसर का आशय यह भी नहीं है कि सभी व्यक्तियों को विश्व-विद्यालय तक या उच्चतम शिक्षा प्रदान की जाय; बल्कि वास्तविक आशय तो यह है कि व्यक्ति की रुचि तथा योग्यता विद्यमान है तो उसे अवश्य वह शिक्षा मिलनी चाहिए।

सारांश यह है कि शिक्षा का समान अवसर प्रदान करने के लिए सरकार को समान सुविधाएँ भी देनी चाहिए। इसके लिए कम-से-कम माध्यमिक शिक्षा तक निःशुल्क शिक्षा तथा योग्य विद्यार्थियों को उनकी रुचि के अनुसार पढ़ने की सुविधा दी जाय। यदि पास में वह सुविधा उपलब्ध न हो, तो छात्रवृत्ति के द्वारा तथा सहायता के अन्य तरीकों से उन्हें पहुँचानी चाहिए; जिससे गरीब, किन्तु योग्य छात्रों को उच्चतम स्तर तक अपनी शिक्षा जारी रखने की सुविधा मिल सके।

ब्रिटेन में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में ८० प्रतिशत से अधिक छात्र राज्य से सहायता प्राप्त कर शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत भारत में २५ प्रतिशत छात्रों का

भी ऐसी सहायता नहीं मिलती। हमारा देश ब्रिटेन आदि देशों से कहीं गरीब है। अत ऐसी सहायता की जरूरत भी अधिक है। यदि हम शीघ्र ही उस हद तक आगे नहीं बढ़ सकते, जिस हद तक ब्रिटेन बढ़ गया है, तो भी छात्र वृत्तियाँ बढ़ाने का कार्यक्रम अवश्य शुरू कर देना चाहिए, ताकि योग्यता के आधार पर ही उच्च शिक्षा सम्भव हो सके। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों तथा माध्यमिक स्तर के लिए विद्यार्थियों को पढ़ते हुए धन कमाने की भी सुविधा प्रदान करनी चाहिए, जैसाकि अमेरिका तथा ब्रिटेन-जैसे उन्नतिशील देशों में है।

शिक्षकों की स्थिति

राष्ट्रीय शिक्षा के स्वरूप के अन्तर्गत शिक्षकों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आज समाज में शिक्षकों की जो स्थिति है वह किसी से छिपी नहीं है। यह कहना अनुचित न होगा कि शिक्षा के क्षेत्र में अधिकांश व्यक्ति अन्य क्षेत्रों से 'रिजेक्टेड, डिजेक्टेड', नेगलेक्टेड' या फ्रस्ट्रेटेड' ही आते हैं। अच्छे तथा योग्य व्यक्ति अधिकांशतया दूसरी नौकरियों में चले जाते हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि अध्यापकों का वेतन कम है तथा अन्य राजकीय सुविधाएं प्राप्त नहीं है। अत अध्यापन व्यवसाय को आकर्षक बनाने के लिए वेतन आदि में वृद्धि करनी चाहिए।

आज के अध्यापक, जिन्हें हम सामाजिक अभियन्ता कह सकते हैं, उनके प्रति उपेक्षा का भाव रखना पूरे राष्ट्र को पतन में गर्त में डालना है। इंजीनियर तो केवल ईंट-गारे तथा पत्थरों से भवन का निर्माण करता है, परन्तु अध्यापक तो पूरे समाज का निर्माण करता है; इसलिए राष्ट्र हित का तकाजा यह है कि इस समस्या का शीघ्र ही दृढ़ता से समाधान किया जाय। आदर्शवाद नि सन्देह अध्यापक-जीवन का एक महत्वपूर्ण तत्व है, किन्तु यह आशा करना कि अध्यापक जीवन की सब अच्छी वस्तुएं दूसरों के लिए छोड़कर, स्वयं अकेले आदर्शवाद से निर्वाह कर लेगा—उसके साथ ज्यादती करना है।

अध्यापक-प्रशिक्षण

जहाँतक अध्यापकों के प्रशिक्षण का प्रश्न है—वह सभी माध्यमिक स्तर के अध्यापकों के लिए अनिवार्य है। माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों को पढ़ाने के लिए हायर-सेकेण्डरी स्कूल पास करने के बाद चार साल का प्रशिक्षण दिया जाय, जिसमें बी० ए०, बी एस सी तथा बी ए आदि की डिग्री के साथ प्रशिक्षण की भी डिग्री दी जाय, जैसा कि आजकल चार क्षेत्रीय शिक्षा-महाविद्यालयों में किया जा रहा है। इस प्रकार का प्रशिक्षण सभी लोगों के लिए सुलभ हो। इस बात का प्रयत्न सरकार के लिए अवाछनीय न होगा।

●

लगभग हर शिक्षा का एक राजनीतिक उद्देश्य होता है। उसका लक्ष्य होता है दूसरे वर्गों के मुकाबले किसी एक जातीय, धार्मिक अथवा सामाजिक वर्ग को मजबूत करना। मुख्यत इसी लक्ष्य के आधार पर यह निर्धारित किया जाता है कि कौन-से विषय पढ़ाये जायँ, कौन-सा ज्ञान दिया जाय और कौन-सा ज्ञान रोक लिया जाय, और इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर यह भी तय किया जाता है कि छात्रों से किन वृत्तियों को ग्रहण करने की आशा की जाय।

—बर्ट्रेंड रसेल

भारतीय शिक्षा का स्वरूप क्या हो ?

• श्री तारकेश्वर प्रसाद सिन्हा

भारतवर्ष ने राजनीतिक स्वतन्त्रता सन् १९४७ ई० में प्राप्त की, और तब से यह अपनी आर्थिक और सामाजिक रचनाओं की ओर उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। यह बात बिलकुल तय हो चुकी है कि सामाजिक रचना देश के सभी लोगों की सुख-सुविधा की दृष्टि से करनी है। व्यक्ति की सुख-सुविधाएं उसके आर्थिक उन्नयन पर निर्भर करती हैं; किन्तु देश के आर्थिक विकास की बात समुदाय की दृष्टि से सोचनी होगी; क्योंकि कतिपय व्यक्तियों के पास यदि अधिक शक्ति व सम्पत्ति रहेगी तो उसमें आसुरी प्रवृत्तियों का विकास होगा। अतः देश की आर्थिक स्थिति सभी लोगों की दृष्टि से विकसित होनी चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब देश के प्रत्येक व्यक्ति में आर्थिक स्वावलम्बन की भावना पैदा होगी।

शिक्षा का भार किस पर ?

इस प्रकार की भावना केवल स्वावलम्बी शिक्षा के द्वारा ही पैदा हो सकती है। अतः यह तय करना होगा कि भारतीय शिक्षा का स्वरूप क्या हो ? यों तो शिक्षारूपी महल की तीन ही सीढ़ियाँ हुआ करती हैं किन्तु मेरी समझ में चार सीढ़ियाँ होनी चाहिए, (१) पूर्व प्राथमिक (२) प्राथमिक (३) माध्यमिक और (४) उच्च शिक्षा या विश्वविद्यालय की शिक्षा। प्रथम और अन्तिम सीढ़ियों के बारे में अभी विशेष चिन्ता करने की जरूरत नहीं। हालांकि जिस मनुष्य का बचपन नहीं सुधरता है उसका जीवन नहीं सुधर पाता है, अतः पूर्व प्राथमिक की शिक्षा सम्पूर्ण शिक्षा की नींव है; क्योंकि इसी समय बच्चों में अच्छी-अच्छी आदतें पड़ती हैं।

अभी देश के समग्र शिक्षा की द्वितीय एवं तृतीय श्रेणियाँ विशेष महत्व रखती हैं। सरकार ने देश के सभी बच्चे-बच्चियों के लिए प्राथमिक शिक्षा को ही अनिवार्य शिक्षा मान लिया है। सचमुच ८ वर्षों की प्राथमिक शिक्षा ही देश के अधिकांश बच्चे-बच्चियों के लिए अनिवार्य हो सकती है। शिक्षा में प्राथमिक शिक्षा को प्रथम चरण मानना ठीक होगा, क्योंकि भारतवर्ष-जैसे कृषि प्रधान देश में ८-९ वर्ष के बच्चे और बच्चियाँ भी परिवार के

आर्थिक उत्पादन के कार्य मे सहायक बन जाते हैं । गरीब किसान के बच्चे खेती-बारी, मवेशी आदि के पालन-पोषण मे अपने अभिभावक को सहायता देते हैं–

मेरा ऐसा निजी अनुभव है कि हमारे यहाँ खेती की क्रियाएँ जब चलती है तो देहात के स्कूलों म बच्चे और बच्चियो की उपस्थिति बहुत कम हो जाती है । यही कारण है कि हमारे यहाँ अनिवार्य शिक्षा कारगर नहीं हो रही है हालांकि शिक्षा विभाग के शिक्षक और निरीक्षक बच्चे और बच्चियों की उपस्थिति के लिए सिर तोड परिश्रम करते हैं ।

हमारी शिक्षा की कमियाँ

भारतीय शिक्षा मे दो बडी कमियाँ हैं–प्रथम छात्रा की अनुपस्थिति, द्वितीय छात्रो की सख्या म छीजन । मेरा अनुभव यह भी बताता है कि विद्यालयो म शिक्षा का आधार उत्पादक क्रियाए है, । उनम लडक और लडकियाँ अधिक उपस्थित रहती है तथा उनकी छीजन भी अपक्षा कुछ कम होती है । अत प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप उत्पादक कार्यो के आधार पर ही निर्मित होना चाहिए, क्योकि देश के किसानो के अधिकाश बच्चे और बच्चियाँ १४ वष तक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर अपन गाँव म ऐसे उत्पादक कार्यो मे लग जाते हैं, जिनकी व्यवस्था गाँवो मे होती है–जैसे, खेती क काम, बढईगिरी और लोहारी का काम, मधुमक्खीपालन, तेलधानी, खाँडसारी इत्यादि ।

उद्योगो की विशिष्ट शिक्षा

मेरा सुझाव है कि प्राथमिक शिक्षा पान के बाद देश क सभी बच्चे और बच्चियो को एक वष तक विभिन्न प्रकार क उद्योगो का विशिष्ट ज्ञान कराना चाहिए–जैसे, जो बच्चे खेती के काम म लगना चाह उनको खेती की विशष शिक्षा मिलनी चाहिए। बच्चियो को रसोई बनाना, सिलाई करना, अचार-चटनी बनाना, रोगियो की सवा-शुश्रूषा आदि का ज्ञान मिलना चाहिए । जब प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप ऐसा रखा जायगा तब पढे लिखे लोग समाज के उत्पादक अग बनेंगे । आजकल तो शब्दो द्वारा ज्ञान प्राप्त कराया जाता है, जिससे नरनारी अपन परिवार, गाँव और देश का बोझ बन गये हैं । देश क समक्ष आज सबसे बडी समस्या शिक्षित वर्ग की बेरोजगारी की है । जैसे-जैसे लोग पढते हैं वैसे वैसे अपने जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे अपने को असमर्थ पाते हैं । कहने का मतलब यह है कि मिडिल पास बी० ए० पास व्यक्ति से अपने को कम असहाय मानता है । इसलिए जरूरी है कि देश के ७० प्रतिशत से ७५ प्रतिशत बच्चे-बच्चियों को प्राथमिक शिक्षा पाने के बाद एक वर्ष विशिष्ट शिक्षा दी जाय, ताकि व अपने गावो मे चलनवाले उद्योग-धन्धो म लग जायें ।

उच्च शिक्षा और क्रियाशीलन

उच्च या उच्चतर माध्यमिक विद्यालयो की शिक्षा का स्वरूप प्राथमिक शिक्षा के अनुरूप ही रहना चाहिए। उच्चतर माध्यमिक शिक्षा कम-से-कम चार वर्षो की होनी चाहिए । ९ व वर्ग म बच्चे और बच्चियाँ अपनी रूचि के अनुसार विद्यालयो म विभिन्न प्रकार से चलनेवाले क्रियाशीलन तथा विषयों मे से एक या दो चुन लें । जो लडके क्रियाशीलन चुनते हैं उनको तत्सबन्धित इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, साहित्य आदि का विशिष्ट ज्ञान कराना चाहिए । उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की शिक्षा की दूसरी चरम सीमा होगी ।

इस प्रकार की शिक्षा पाकर १०-१५ प्रतिशत छात्र एक वर्ष की विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर राष्ट्रीय उद्योग धन्धो मे लग जायेंगे । जिस प्रकार प्राथमिक शिक्षा परिवार और गाँव के क्रियाशीलन तथा अन्य प्रकार की बौद्धिक ज्ञान की आवश्यकताओ के अनुकूल रखी जायेगी उसी प्रकार उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की शिक्षा इलाके तथा राष्ट्रव्यापी उत्पादन के क्रियाशीलन तथा बौद्धिक ज्ञान की आवश्यकताओ को पूरा करनेवाली होगी । केवल ५ से १० प्रतिशत मधावी छात्र विशिष्ट उत्पादन के काम तथा बौद्धिक ज्ञान विज्ञान की बातो की जानकारी के लिए फैक्टरी, खदान आदि कारखानो म ज्ञान प्राप्त करेंगे ।

तात्पर्य यह कि भारतीय शिक्षा की स्वरूप रचना आरम्भ से ही ऐसी रखनी चाहिए, जिसम पढे लिखे लोग देश के उत्पादक कार्यो से मुहँ न मोडें तथा देश पर बोझ बनकर न बैठने पायें । ●

अवगत कराना लाजिमी हो। इस सम्बन्ध में जिले या प्रान्त के मुख्य शिक्षाधिकारी अथवा शिक्षा मंत्री को अधिकार होना चाहिए कि वे किसी क्षेत्र विशेष में इस प्रकार के विशेष शिक्षा क्षेत्र स्वीकार कर सकें।

शिक्षा विभाग अपनी कुछ शर्तें रख सके, ऐसी भी व्यवस्था हो और साथ ही कोई भी विशेष तहसील या जिला अपने ढंग से स्वतंत्र शिक्षा-नीति अख्तियार करने में स्वतंत्र भी रह सके। इस प्रकार का लचीला शिक्षा विधान' होना चाहिए।

प्राथमिक स्कूलों की चौमुखी रूप रेखा

१—छोटे गाँव के प्राइमरी स्कूल —आज अधिकांश गाँवों में एक शिक्षक के स्कूल हैं। मेरी राय में ऐसे गाँव, जहाँ केवल एक शिक्षक हो केवल तीसरी कक्षा तक की पढ़ाई होनी चाहिए और उस गाँव के उन बालकों को, जो आगे चौथी या ५ वीं में पढ़ना चाहें उन्हें पास के ही किसी बड़े गाँव में भेजा जाना चाहिए। लेकिन किसी भी हालत में एक शिक्षक को ५ कक्षाएँ नहीं दी जायँ। अगर कोई गाँव इतना छोटा हो या वहाँ इतने कम छात्र हों कि वहाँ शिक्षा विभाग के लिए दो शिक्षक रखना कठिन हो और उस गाँव के लोग यदि आग्रह करें कि उनके यहाँ कक्षा ५ तक की पढ़ाई चलनी चाहिए तो उन्हें दूसरे शिक्षक की आधी तनख्वाह खुद वहन करनी चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था लागू होनी चाहिए। फिर पंचायत-समिति को उस गाँव पर या सामान्यतः पूरी तहसील में शिक्षा-कर लगा कर यह प्रबन्ध करना चाहिए कि हर ५ वीं तक के स्कूल में कम-से-कम दो शिक्षक हों। एक शिक्षक को ५ कक्षाएँ देना गैर कानूनी माना जाय।

२—बड़े गाँव के प्राइमरी स्कूल —शिक्षा के सन्दर्भ में, यहाँ बड़े गाँव से मेरा मतलब ऐसा गाँव है जहाँ एक प्राइमरी स्कूल चल सकता हो अर्थात् जहाँ छात्रों की संख्या कम-से-कम ५० और शिक्षकों की संख्या कम से-कम २ हो अथवा जहाँ छात्रों की संख्या १०० के आसपास और शिक्षकों की संख्या ५ हो।

प्राथमिक शिक्षा के ऐसे ही एक सामान्य स्कूल को ध्यान में रखकर निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१—अ प्राइमरी स्कूल में कृषि और बागवानी के कार्य एवं शिक्षण का समुचित प्रबन्ध हो। इसका अर्थ होगा स्कूल के पास कम-से-कम एक एकड़ जमीन हो और सिंचाई की सुविधा तथा कृषि सरंजाम की व्यवस्था हो।

ब इसके लिए आवश्यक है कि स्कूल के शिक्षक कृषि बागवानी के काम में प्रशिक्षित हों, और स्कूल में इस काम के लिए औसतन प्रतिदिन एक घंटा समय दिया जाय।

२—अ ऐसे प्राइमरी स्कूलों में कृषि-बागवानी के अलावा कोई भी एक या अधिक उद्योग भी रखे जायँ। जैसे—कताई-बुनाई अथवा मिट्टी का काम आदि।

ब अतएव शिक्षकों का किसी भी एक उद्योग में प्रशिक्षण आवश्यक माना जाय और स्कूल में उद्योग के लिए समय दिया जाय।

नोट —छोटे गाँव के प्राइमरी स्कूल में जहाँ एक शिक्षक हो और तीसरी कक्षा की पढ़ाई का प्रबन्ध हो वहाँ कम-से-कम बागवानी और तकली-कताई की व्यवस्था अवश्य रखी जाय। बड़े गाँव के प्राइमरी स्कूल में कृषि काम भी चले और छात्रों के पास कातने के लिए चरखा और धुनने के लिए साधन हों। आसन निवार और टावल आदि बुनने का सम्बन्धित प्रबन्ध रखा जाय या स्कूल में जो भी अन्य उद्योग हों उनके लिए हर प्रकार के आवश्यक सामान स्थान और अन्य सुविधाओं की व्यवस्था रखी जाय।

३ अ विषय शिक्षण के लिए पाठ्यसामग्री पाठ्यपुस्तकें आदि गाँव और तहसील के जीवन से सम्बन्धित हों और इसी आधार पर तैयार करायी जायँ।

ब यदि गाँव के जीवन और तहसील के जीवन के आधार पर पाठ्यपुस्तकें तैयार करने का कार्य तहसील के शिक्षकों की एक समिति को सौंप दिया जाय और यह काम (कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा के स्तर तक) प्रान्तीय स्तर पर नहीं

किया जाय जैसा कि आज होता है। और तहसील या ज्यादा-से-ज्यादा जिला-स्तर पर किया जाय—तो इससे स्वाभाविक रूप से ही इंटिग्रेटेड सिलेबस तैयार हो जायगा और यही वास्तविक कोरिलेशन होगा।

४–अ प्राथमिक शिक्षा का सिलेबस जिला स्तर पर तैयार कराया जाय।

ब प्राथमिक शिक्षा के लिए पाठ्यपुस्तकें तहसील स्तर पर तैयार करायी जायें।

५– मेरा सुझाव यह है कि शिक्षा के माध्यम का त्रिभुज इस प्रकार रखा जाय कि–

अ शिक्षा के माध्यम का आधार सामाजिक परिवेश हो न कि उद्योग। इससे कोरिलेशन की समस्या का सही समाधान होगा।

ब सामान्य विज्ञान की शिक्षा को कृषि ग्रामोद्योग और प्राकृतिक परिवेश से सम्बन्धित किया जाय।

स सामाजिक ज्ञान की शिक्षा को पहले गाँव फिर तहसील फिर जिला और उसके बाद प्रान्त से सम्बद्ध किया जाय।

द भारत के महान पुरुषों और वीर पुरुषों की कहानियाँ और जीवनियाँ भी साथ में रखी जायें–और कक्षा ४–५ में देश प्रेम की भावना का पाठ दिया जाय।

कस्बे के प्राइमरी स्कूल

यह सही है कि शिक्षा का स्वरूप सर्वत्र सामान्य हो परन्तु फिर भी हमें यह तथ्य स्वीकारना चाहिए कि एक गाँव और कस्बे के जीवन में अन्तर होता है। एक कस्बे में किसानों के अलावा अन्य वर्ग भी होते हैं और वे हैं–व्यवसायी नौकरीपेशा लोग और शिल्पक-वर्ग आदि। उनके बालकों के लिए ठीक उसी प्रकार की शिक्षा उपयुक्त और आवश्यक अथवा उचित नहीं होगी जैसी सामान्यतः कृषक-वर्ग के बालकों के लिए होगी।

अतएव मेरी धारणा यह है कि कस्बों की प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप गाँवों से भिन्न होगा या यह भी हो सकता है कि एक ही कस्बे में दो प्रकार के प्राइमरी स्कूल हों। एक गाँव-जैसे और दूसरे कुछ भिन्न प्रकार के। उस भिन्न प्रकार के प्राइमरी स्कूल की रूपरेखा इस प्रकार की हो सकती है।

१–ऐसे स्कूल में ग्रामोद्योग का पहला और कृषि को दूसरा महत्व दिया जाय या कृषि के स्थान पर केवल बागबानी हो।

२–ग्रामोद्योग ऐसे स्कूल में अधिक रखे जाय और वहाँ चित्रकला संगीत आदि की शिक्षा का प्रबन्ध भी किया जाय।

३–यह भी हो सकता है कि ऐसे स्कूल में विज्ञान की शिक्षा की विशेष व्यवस्था हो। वहाँ एक छोटी लेबोरेटरी हो और विज्ञान के विशेष शिक्षक भी हों आदि।

शिक्षा नीति के सम्बन्ध में

यदि उपयुक्त विधि से प्राइमरी स्कूलों का वर्गीकरण कर दिया जाय तो क्या इसका मतलब यह होगा कि बालकों को शिक्षा के एक समान अवसर नहीं मिल पायेंगे? —इस एतराज या प्रश्न के प्रति मेरा उत्तर यह है—

सरकार के शिक्षा विभाग के लिए उपयुक्त शिक्षा नीति पर चलना ही सम्भव और व्यावहारिक है। यदि पंचायत अथवा पंचायत-समिति चाहे तो उसे स्कूलों का रूप-स्वरूप अपनी इच्छानुसार बदलने की स्वतंत्रता रहनी चाहिए लेकिन यह परिवर्तन उक्त संस्थाएँ अपनी ओर से अतिरिक्त खर्च वहन करके करें। इससे एक लाभ यह भी होगा कि उन्हें शिक्षा के सम्बन्ध में चिन्तन करने और अपनी जिम्मेदारी पूरी करने की चेतना प्राप्त होगी और वे शिक्षा का स्वरूप निर्धारित करने में पहल कर सकेंगी आदि।

दूसरी मुख्य बात यह है कि आम तौर से कृषि बागवानी अथवा ग्रामोद्योग की शिक्षा सही ढंग से दी जा सके इसके लिए (प्रान्त अथवा जिला-स्तर पर) सभी प्रकार के साधन-सरंजाम की उपयुक्त व्यवस्था करने की जिम्मेदारी शिक्षा विभाग की मानी जाय।

सारांश

पहली बात—बुनियादी तालीम का नया ढाँचा क्या होगा, इसका विवरण मैंने ऊपर दिया है। उसका सारांश यह है कि अब हमें कोरिलेशन का कन्सेप्ट बदल देना चाहिए। मेरी सम्मति में उसका नया कन्सेप्ट यह है कि कोई पाठ नहीं बल्कि सारा पाठ्यक्रम ही सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश से सम्बन्धित हो। यही स्वयमेव समवाय की नयी दृष्टि है।

दूसरी बात—इस प्रकार के शिक्षा-क्रम में से जितना स्वावलम्बन और जितनी आर्थिक आत्मनिर्भरता स्वयमेव प्राप्त हो वही सन्तोषजनक अथवा पर्याप्त मानी जाय न कि स्वावलम्बन के लक्ष्यांक बनाये जायें और उनकी गणना की जाय, अन्यथा इस प्रकार की तालीम 'केवल जिम्नास्टिक' या खेल मात्र रहेगी। अवश्य ही प्रत्येक स्कूल की अपनी कार्यक्षमता पर यह निर्भर होगा कि वहाँ कितना उत्पादन होता है।' परन्तु फिर कृषि ग्रामोद्योग को पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान देना इसलिए आवश्यक है कि इससे देहाती बालकों को देहात के वास्तविक जीवन में समरस होने की आदत, अभ्यास और संस्कार प्राप्त होंगे।

तीसरी बात—हर प्रान्त में स्कूलों के ३ या ४ प्रकार मान लेना और मानकर चलना एक यथार्थवादी रुख अपनाना होगा। और अब बुनियादी तालीम को तो कम-से-कम आदर्शवादी कम, और यथार्थवादी अधिक होना चाहिए।

•

अगर हम जनता को इस तरह शिक्षा देने का प्रबन्ध कर उसमें सफल हो सकें कि देश के बहुतेरे काम-काज वह कानून और अधिकारियों की राह देखे बिना स्वेच्छा से सावधान रहकर करती हो तो उस स्थिति में देश में ऐसे स्वयंसेवकों के मंडल होंगे जिनके जीवन का मुख्य कार्य ही होगा जनता की सेवा करना, और उसके लिए अपना बलिदान कर देना। ये ऐसे दल न होंगे जो केवल लड़ाई लड़ना ही जानते हों बल्कि प्रजा को तालीम देनेवाले और उसकी व्यवस्था, व्यवहार और सुख-सुविधा को सँभाल रखनेवाले दल होंगे। देश पर कोई विपद आने पर पहला वार वे अपने ऊपर लेंगे।

—गांधीजी

•

शिक्षा में नयी मनोवैज्ञानिक दृष्टि

• रामनयन सिंह

स्पष्ट है कि शिक्षा एक साधन है, साध्य नहीं। आखिर शिक्षा-द्वारा हम क्या पाना चाहते हैं? बालक के विकास को शिक्षा द्वारा एक निश्चित दिशा दी जाती है। यह दिशा जीवन और समाज की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करती है। इसके परिवर्तन के साथ शिक्षा का उद्देश्य भी बदलता जाता है।

आज भारतीय जीवन और समाज का लक्ष्य अँग्रेज-कालीन भारत से बदल गया है। आज के भारतीय जीवन की आधारशिला लोकतांत्रिक समाजवाद है। इस देश को पढ़े-लिखे बाबुओं, दूसरों की दृष्टि से देखनेवालों, दूसरे के चिन्तन पर जीनेवालों और मशीन की तरह दूसरों से बल या संकेत पर चलनेवालों की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है जागरूक, मौलिक, आरम्भिक, सर्जक और परिश्रमी व्यक्तियों की। व्यक्तित्व में इन गुणों का समावेश करने के लिए शिक्षा का प्रारूप ऐसा होना चाहिए, जिससे बालक के मस्तिष्क, हृदय, हाथ और स्वास्थ्य का संगठित विकास हो सके। यदि शिक्षा के द्वारा बालक में चिन्तनशीलता, परिष्कृत संवेग, प्रतिकृति और मनोवृत्तियाँ, दक्ष और परिश्रमी हाथ तथा स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन नहीं बन सका तो शिक्षा बेकार है।

इस प्रकार शिक्षा में हम बालकों के शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और क्रियात्मक विकास को निश्चित दिशा में मोड़ना है। इस प्रक्रिया को सफल बनाने के लिए हमें विद्यार्थी, शिक्षक, शिक्षण-विधि, शिक्षण-वस्तु और शिक्षण-पर्यावरण पर ध्यान देना होगा। यहाँ मनोवैज्ञानिक तथ्यों की उपयोगिता है। वैज्ञानिक विधियों से मनोवैज्ञानिकों ने जिन तथ्यों की छानबीन की है और कर रहे हैं सफल शिक्षण के लिए उन्हें ही आधार बनाना होगा।

कोर्स नहीं, बालक को पढ़ाना है

स्वभाव से बालक न तो अच्छा होता है न बुरा, न नैतिक होता है और न अनैतिक। जन्मजात अच्छा और बुरा होने के विचार अब पुराने पड़ गये हैं। मनोवैज्ञानिक तथ्यों को समझाने की यह पुरानी परिकल्पना अब छोड़ी जा चुकी है। हर

बात में हर व्यक्ति की प्रारम्भिक समानतावाली बात भी कोरी कल्पना ही मालूम पड़ती है। बालक इस संसार में शून्य के रूप में नहीं आता। वह इच्छाओं तथा सहज क्रियाओं से युक्त सीखने की क्षमता तथा सम्भावनाएँ कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ और शारीरिक स्वरूप लेकर आता है। हिन्दू मनोविज्ञान के अनुसार तो पूर्व जन्म से ही किसी-न किसी अंश में व्यक्तिगत भेद पाया जाता है। बाद में पर्यावरण की विभिन्नता से व्यक्तिगत भेद स्पष्ट रूप में सामने आता है। यह बात बिलकुल निराधार है कि हर व्यक्ति हर काम कर सकता है। व्यक्तिगत भेद एक स्थापित मनोवैज्ञानिक-तथ्य है—चाहे वह जन्मजात हो, पर्यावरण-द्वारा उत्पन्न हुआ हो या दोनों प्रकार के तत्त्वों-द्वारा निर्मित हुआ हो।

शिक्षा के स्वरूप के निर्धारण में इस तथ्य को आधार बनाना चाहिए। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थियों के मनोवैज्ञानिक निरीक्षण परीक्षण और निर्देशन पर पर्याप्त बल देने की आवश्यकता है। आज हम लोग बालक को नहीं पढ़ाते, बल्कि कोर्स पढ़ाते हैं। चाहे उसका तालमेल बालक के योग्यता-स्तर रुचि और अभिरुचि से भले ही न बैठता हो। तीव्र गति से बढ़नेवाले और मन्द गति से चलनेवाले छात्रों को कक्षा में एकसाथ ले चलना कितना कठिन होता है यह हर अध्यापक जानता है। बहुधा दोनों कक्षा में उपेक्षित रह जाते हैं। पर्याप्त मनोवैज्ञानिक निर्देशन के अभाव में बालक अनुपयुक्त विषयों का चयन करते हैं और उनमें ऐसा उलझ जाते हैं कि उनका समय और धन बरबाद होता रहता है। कितने ही छात्र पर्याप्त योग्यता रहते हुए भी विविध अन्य कारणों से उपयुक्त सफलता नहीं प्राप्त कर पाते। यदि समय रहते उन्हें सहायता पहुँचायी जाती तो उनका कितना उपकार होता!

बालक के विकास में बचपन का बहुत ही महत्त्व है। कुछ मनोविश्लेषकों ने तो यहाँ तक कहा है कि चार-पाँच वर्ष की अवस्था तक ही बालक का व्यक्तित्व आकार धारण कर लेता है और बाद में उसमें प्रभावशाली परिवर्तन नहीं किया जा सकता। चाहे इसमें अतिशयोक्ति भले ही हो (हर प्रवर्तक आवश्यकता से अधिक बल अपनी बात पर देता है और फ्रायड ने भी यही किया), लेकिन बचपन के महत्त्व की बात तो स्थापित हो चुकी है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि प्रारम्भिक शिक्षा पर अधिक बल देने की आवश्यकता है। खेद है कि आज हमारे यहाँ प्रारम्भिक शिक्षा की दशा बहुत ही दयनीय है। जिस स्तर पर बालक के प्रति सबसे अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है उसी स्तर आज न्यूनतम ध्यान दिया जाता है। एक अध्यापक और पचास-साठ या सत्तर-अस्सी तक लड़के! इतना ही नहीं, एक अध्यापक और ऐसी ही दो-दो कक्षाएँ! संख्या के प्रसार की धुन में शिक्षा का गुणात्मक पक्ष कितना उपेक्षित रह गया है!

अभिशप्त शिक्षक वर्ग

शिक्षा की प्रक्रिया में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व अध्यापक है। गुरु को साक्षात् परब्रह्म कहा गया है, लेकिन दुनिया का यह भी एक दुखद सत्य है कि रूस को छोड़कर प्रायः हर देश में अध्यापक का वेतन अपेक्षाकृत अन्य पेशों के कम होता है। भारत की बात तो पूछनी ही नहीं। यहाँ के लोग तो देवताओं पर दो-चार अक्षत छिड़ककर और पूड़ी का एक टुकड़ा चढ़ाकर शेष भाग अपने हड़प जाने के आदी हैं।

अध्यापक भी तो देवता ही है। वह तो देने का हकदार है, पाने का नहीं। अध्यापक को भी सन्तोष था, जब इस देश में व्यक्ति की गुरुता मापी जाती थी त्याग दान, ज्ञान और सादे किन्तु उच्च मानवीय जीवन के पैमाने से। आज समय बदल गया। अब तो आर्थिक मानदण्ड का प्रयोग होता है। बेचारा निरीह अध्यापक अब किस दान पर सन्तोष करे? बिना जूते या पैर लिये और जूता भी हो तो फटा पुराना दौड़ता है वह दर-दर की ठोकरें खाता है वह ट्यूशन की खोज में। इस पेशे में आने के पहले वह सब दरवाजे खटखटा लेता है। न खुलने पर लाचार होकर यहाँ आता है। प्रारम्भ में इस पेशे को 'वेटिंग रूम' समझता है। किसी गाड़ी में जगह न मिलने पर लाचार होकर वेटिंग रूम में बिस्तर खोल देता है। आज के इस तिरस्कृत, कुण्ठित, निराशा के

पुलिन्दे से समाज माँगता है अच्छे नागरिक, कुशल विचारक। लोग अध्यापक से आशा करते हैं कि अपनी कुण्ठाओं और अभिशापों की छाया वह विद्यार्थी पर न पड़ने दे। कितनी अस्वाभाविक है उनकी यह माँग !

जो इस पेशे में इसलिए नहीं आया कि अध्ययन-अध्यापन में उसकी रुचि है, ज्ञानगंगा में डुबकी लगाना है, बल्कि इसलिए आया कि उसे दूसरा कोई काम नहीं मिला, घर सँभालने के लिए गाँव के नजदीक के स्कूल में अध्यापक बन गया। ऐसे व्यक्ति से उच्च शिक्षा-स्तर की आशा करना व्यर्थ नहीं तो और क्या है ? व्यक्ति द्वारा किये गये कार्य पर उसकी मनोदशा का असर पड़ता है, यह नहीं भूलना चाहिए। अध्यापक पेशे को ऐसा आकर्षक बनाने की आवश्यकता है कि योग्य व्यक्ति इधर खिंच आयें। कुछ विशिष्ट शील-गुण-वाले व्यक्ति ही सफल अध्यापक होते हैं। अध्यापक के चुनाव में केवल उसकी सनद देखना ही पर्याप्त नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व के परीक्षण की भी आवश्यकता है।

लक्ष्यच्युत शिक्षण-विधि

लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उचित मार्ग की आवश्यकता होती है। आज जिस ढंग से कक्षा में पढ़ाई होती है उससे प्रजातांत्रिक जीवन-शैली के लिए आवश्यक गुण नहीं उत्पन्न हो पाते। अध्यापक कक्षा में महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर लिखा देता है। गणित के प्रश्नों के हल को श्यामपट्ट पर लिख देता है। बालक उसे उतार लेता है। अध्यापक पर कोर्स का भूत सवार रहता है। उसे अपने मस्तिष्क से कोर्स को बाहर करने की जल्दी पड़ी रहती है। ऐसी स्थिति में बालक को सोचने का अभ्यास देने, प्रयोग करने, स्वयं तथ्यों को एकत्र करने, वस्तुओं को नजदीक से देखने-समझने और निर्णय लेने के लिए अवसर देना अध्यापक के लिए आसान नहीं होता।

फलस्वरूप बालक पराश्रयी बनता है। स्वयं तथ्यों को एकत्र करने और प्रश्नों का उत्तर देने के बजाय वह प्रश्नोत्तरी या डाइजेस्ट ढूँढ़ता है, अध्यापक से गेस क्वेश्चन पूछता है। आज की शिक्षण विधि का बहुत कुछ दोष वर्तमान परीक्षा-विधि है। प्रायः विद्यार्थी वर्ष के अधिकांश समय निष्क्रिय रहते हैं। परीक्षा समीप आते ही उनकी सक्रियता बढ़ती है। दस-बारह प्रश्न तैयार करके आसानी से परीक्षा की नदी पार कर जाते हैं। अधिकांश समय जब वे खाली रहते हैं, अनुशासन की समस्याएँ उठाते रहते हैं। शिक्षण और परीक्षण विधि ऐसी होनी चाहिए कि बालक को अनवरत परिश्रम करना पड़े और उन्हें स्वयं तथ्य इकट्ठा करने, तर्क करने, सोचने और निर्णय लेने का अवसर प्राप्त हो सके।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि किसी लक्ष्य को सफलतापूर्वक हासिल करने का कार्य सरल और अधिक उपयोगी होता है। यदि उस लक्ष्य-पथ में कई उपलक्ष्य बना लिए जायें, ताकि कोई-न-कोई उपलक्ष्य तत्काल सामने हो तो इस प्रकार लक्ष्य समीप रहने पर क्रियाशीलता बढ़ती है। दूर रहने पर शिथिलता आ जाती है। जुलाई में विद्यार्थी सोचता है कि अभी कक्षा के अतिरिक्त पढ़ने की क्या आवश्यकता है, परीक्षा तो मार्च-अप्रैल में होगी। फलस्वरूप वह शिथिल हो जाता है। कहीं फरवरी से वह घनघोर पढ़ाई और रटाई शुरू करता है। यदि इस दूरस्थ लक्ष्य को कई उपलक्ष्यों में बाँट दिया जाता तो बालक में शिथिलता न आती, उसे अनवरत परिश्रम करना पड़ता। इन उपलक्ष्यों की सफलता-असफलता का ज्ञान उसके आत्मोत्थान में सहायक होता और अनुशासन की भी समस्या स्वतः लुप्त हो जाती।

पाठशालाओं में जो ज्ञान दिया जाता है उसके मुख्य दो लक्ष्य होते हैं। एक तो ज्ञान-द्वारा योग्यता बढ़ती है और दूसरे वह मन के विकास के साधन के रूप में आता है। प्रारम्भिक कक्षाओं में पढ़ाने की विधि ऐसी होनी चाहिए कि ज्ञान-द्वारा मन का विकास हो सके। इसीलिए इन कक्षाओं में ज्ञान का उतना महत्व नहीं, जितना ज्ञान देने के ढंग का है। बड़ी कक्षाओं में जब छात्र परिपक्व हो गये रहते हैं, विधि का उतना महत्व नहीं, जितना ज्ञान का है।

ज्ञान को व्यक्ति के विकास का साधन बनाना है अत पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए कि बालक के मस्तिष्क हृदय हाथ और स्वास्थ्य का सन्तुलित विकास हो। बालक के विकास के इन चारों पहलुओं के विकास स्तर को मूल्यांकन का विषय बनाया जाय। कहीं-कहीं स्वास्थ्य-परीक्षण की व्यवस्था तो है लेकिन मूल्यांकन का विषय न होने से उसके बारे में बालकों का उपेक्षाभाव रहता है। कहीं-कहीं धर्म की कक्षाएँ चलती हैं लेकिन उचित मूल्यांकन के अभाव के कारण बालक उसे फालतू ही समझते हैं। भावना प्रशिक्षण के लिए पाठ्यवस्तुओं को इस प्रकार काटने और सँवारने की आवश्यकता है कि उनके द्वारा निश्चित वांछनीय मूल्यों पर बल पड़े।

शिक्षण प्रक्रिया में पर्यावरण बहुत अधिक प्रभावशाली होता है। पर्यावरण के उत्तेजक ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क को प्रभावित करते रहते हैं। मस्तिष्क पर पड़ा यह प्रभाव संचित होता रहता है और उसकी स्थायी छाप पड़ जाती है। इसी ही छाप से मन का स्वरूप बनता है। अत मन के स्वरूप को नियन्त्रित करने के लिए उन उत्तेजक समूहों को नियन्त्रित करना होगा जिनसे बालक पलता है, पढ़ता है और बढ़ता है।

गन्दे घरों में पले बालक गन्दा रहने में किसी प्रकार की लज्जा अथवा हिचक का अनुभव नहीं करते। उनके गन्दे कपड़े उनको बुरे नहीं लगते। सफाई के महत्व को जानते हुए भी वे साफ नहीं रह पाते। जहाँ के अध्यापक ही सफाई का प्रबन्ध नहीं देते आपस में दलबन्दी करते हैं वहाँ के बालकों पर भी वैसी ही छाप पड़ती है। अत स्कूल में पर्यावरण के तत्वों—अध्यापकों का रहन-सहन आपसी मेलभाव सामान्य अनुशासन का वातावरण स्वच्छ और सजा हुआ स्कूल भवन समृद्ध पुस्तकालय पाठ्येतर कार्यक्रम छात्रावासीय जीवन आदि—को समुचित रूप से नियन्त्रित करने की आवश्यकता है।

•

शिक्षा का उद्देश्य निष्प्राण तथ्यों की जानकारी नहीं बल्कि ऐसी क्रियाशीलता है जिसकी दिशा उस नयी दुनिया की ओर हो जो हम अपने प्रयास से बनानी है। जिन लोगों को इस भावना के अनुसार शिक्षा दी जायगी वे जीवन, आशा और उल्लास से परिपूर्ण होंगे और उनके मन में उस भविष्य के प्रति आस्था होगी जिसका सृजन मनुष्य अपने प्रयास से कर सकता है।

—बरट्रेंड रसेल

•

लोकतांत्रिक समाजवाद में शिक्षा का स्वरूप

हमारे राष्ट्र ने लोकतंत्र और समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित किया है। इस घोषणा के बाद यह आवश्यक है कि हमारी पूरी शक्ति घोषित लक्ष्य की प्राप्ति में लगे, और हमारी राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति और शिक्षानीति, सब उसी सांचे में ढाली जाय। लोकतंत्र और समाजवाद के द्वारा आज की स्थिति में जिस सम्पूर्ण परिवर्तन की अपेक्षा है उसके लिए समग्र प्रयत्न अनिवार्य है। हम समाजवादी व्यवस्था लोकतान्त्रिक और शान्तिपूर्ण ढंग से लाना चाहते हैं, इसलिए शिक्षा के सिवाय हमारे लिए कोई दूसरी सामाजिक गति शक्ति (सोशल डाइनेमिक्स) नहीं रह जाती।

हम मानते हैं कि विचार-परिवर्तन के सन्दर्भ में शिक्षा को सामाजिक शक्ति (सोशल फोर्स) के रूप में प्रकट होना चाहिए। जो शिक्षा समाज के समग्र विकास के साथ जुड़ना चाहती है वह सीमित या एकांगी होकर नहीं चल सकती, उसे राष्ट्रव्यापी होना ही पड़ेगा, और उसे बाल शिक्षण और लोक शिक्षण (ग्रेडेड एजूकेशन और सोशल एजूकेशन), दोनों को समान महत्त्व देना पड़ेगा।

आज हमारे देश के सामने रक्षा, विकास और लोकतन्त्र के रूप में, जो तीन मूल समस्याएँ हैं—हमारे ही नहीं एशिया और अफ्रीका के नव स्वतन्त्र लगभग सभी देशों के सामने हैं—उनके समाधान के लिए मात्र राज्य की शक्ति पर्याप्त नहीं सिद्ध हो रही है (भले ही राज्य कितना भी कल्याणकारी हो)। दिनादिन यह प्रतीति बढ़ रही है कि देश को मूलगामी नव जागरण की आवश्यकता है। लेकिन नव जागरण तब होगा जब जनता की सोयी हुई शक्ति का अक्षयस्रोत फूटेगा। निश्चित ही उस स्रोत की कुंजी शिक्षा के सिवाय किसी दूसरे हाथ में नहीं है। इसलिए हम मानते हैं कि हमारे देश में राष्ट्रीय शिक्षा को सही अर्थ में लोकशक्ति को प्रथम स्थान देनेवाली लोकक्रान्ति का पार्ट अदा करना है। इस भूमिका में देश को जिस नयी तालीम की आवश्यकता है हमने उसके तीन स्वरूप माने हैं—

(१) समाज-परिवर्तन की शक्ति — नयी तालीम
(२) निर्माण की प्रक्रिया — नयी तालीम
(३) शिक्षा की पद्धति — नयी तालीम

स्पष्ट है कि शिक्षा के इसी विराट स्वरूप को सामने रखकर भारत सरकार ने शिक्षा आयोग गठित किया है—जिसे देश के लिए एक सम्पूर्ण राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप स्थिर करने का भार सौंपा गया है। विज्ञान और टेक्नालोजी की तेजी से बदलती हुई दुनिया, विश्व-परिवार का संदर्भ, इस देश के लाखों गाँवों में फैली हुई हजारों वर्षों की अखण्ड सांस्कृतिक परम्परा, भाषा, धर्म, जाति और सम्प्रदाय आदि के कारण पैदा हुई इसकी विविधता, भयंकर गरीबी, विशाल जनसंख्या, असाध्य साधनहीनता, श्रम के प्रति दृढ़ सामन्तवादी संस्कार, कठोर अनुन्नत समाज-रचना, किन्तु शान्तिपूर्ण और समतामूलक विकास की व्यापक नयी आकांक्षा और जमाने की माँग आदि ऐसे तत्त्व हैं, जिन्हें सामने रखकर ही राष्ट्रीय शिक्षा की रूपरेखा बनायी जा सकती है।

राष्ट्रीयता की माँग केवल अखिल भारतीयता से पूरी नहीं होगी। वह पूरी तब होगी जब राष्ट्रीय शिक्षा राष्ट्र की परम्परा और उसकी परिस्थिति का पूरा ध्यान रखकर बनायी जायगी। अधिकारियों-द्वारा अब तक की हुई घोषणाओं से प्रकट है कि आयोग देश की परिस्थिति और अपने काम की गुरुता के प्रति पूर्णतः जागरूक है।

नयी तालीम : नये जीवन-मूल्य

हमारी आज की शिक्षा-पद्धति देश की परिस्थिति, उसकी आवश्यकता और आकांक्षा से बिलकुल बेमेल है। यह भी सर्वमान्य है कि प्रचलित शिक्षा-पद्धति देश के विकास में सबसे बड़ी रुकावट है, क्योंकि इसमें न राष्ट्र की प्रतिभा प्रस्फुटित हो पा रही है और न राष्ट्र के जीवन में नये मूल्य और नयी प्रेरणाएँ ही आ पा रही हैं। अब हम ऐसी शिक्षा चाहिए जो राष्ट्र के सही स्वरूप को पहचाने, उसे सँवारे और आगे बढ़ाये।

आज से २७ वर्ष पहले गांधीजी ने इसी भूमिका में बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में प्रस्तुत किया था। बुनियादी शिक्षा प्रचलित और माध्यमिक शिक्षा का विकल्प थी। इतना ही नहीं, बुनियादी शिक्षा गांधीजी के अठारह रचनात्मक कार्यक्रमों में एक थी। बुनियादी शाला को प्रमुख कार्य शिक्षा से अलग उसका हर रचनात्मक कार्य नयी तालीम का माध्यम था और वह कहते थे कि रचनात्मक कार्य को सफल नहीं करेंगी नयी तालीम के समग्र में विलीन होती हैं। उनके लिए नयी तालीम सोशल इंजिनीयरिंग की अविभाज्य योजना थी, सम्पूर्ण सामाजिक आरोहण के लिए समग्र कार्यक्रम का पर्याय थी। उसमें एकांगिता थी ही नहीं।

गांधीजी की योजना में दुहरा समन्वय था। एक ओर उन्होंने जीवन की हर क्रिया और प्रक्रिया को हर योजना और कार्यक्रम को तालीम का माध्यम माना और दूसरी ओर उन्होंने व्यक्ति और समाज के हित में कोई विरोध नहीं देखा। उनके लिए एक की सिद्धि (फुलफिलमेन्ट) में दूसरे की सिद्धि थी। १९३८ में प्रस्तुत बुनियादी शिक्षा की योजना इसी समाज-दर्शन को चरितार्थ करने की दिशा में प्रारम्भिक प्रयत्न था।

१९३८ से लेकर आज तक बुनियादी शिक्षा का इतिहास तीव्र उतारों और चढ़ावों का इतिहास है। अनेक गैरसरकारी संस्थाओं ने अपनी शालाएँ चलाकर इस पद्धति के प्रयोग किये। सरकारी तौर पर भी कई राज्यों में काम हुआ। बुनियादी शिक्षा के जीवन-दर्शन को स्वीकार न करते हुए भी और अत्यन्त कठोर एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में जो सीमित प्रयोग हुए, उनसे विद्यार्थी के समग्र विकास की दृष्टि से बुनियादी पद्धति की श्रेष्ठता प्रमाणित हुई।

हम अंग्रेजी जमाने को छोड़ दें, अगर स्वराज्य के पिछले अठारह वर्षों में भी शिक्षा को वह महत्त्व मिलता जो उसे मिलना चाहिए था, देश के नेतृत्व को सही प्रतीति हुई होती, उसने समाज को प्रेरित किया होता और सरकार ने अपनी पूरी शक्ति से तत्परता दिखायी होती तो आज देश का चित्र सम्भवतः भिन्न होता। गांधीजी से हमें जीवन की दिशा (क्वालिटी आव लाइफ) मूल्य और प्रयोग-बुद्धि के रूप में जो विरासत मिली थी, वह राष्ट्र के विकास के लिए विलक्षण पूँजी था।

अभावों की गोद में बुनियादी शिक्षा

सरकार में इस शिक्षा के मूल्यों तथा उसकी उत्पादन और समवाय-केन्द्रित पद्धति में निष्ठा का अभाव, सगठन का अभाव, साधनों का अभाव, प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव, तत्पर प्रशासन का अभाव, एक से आठ तक अखण्ड और समन्वित अभ्यासक्रम की मान्यता का अभाव, बुनियादी से निकले हुए विद्यार्थियो के लिए रोजगार या ऊँचे विद्यालयों मे स्थान का अभाव—इन तथा इसी तरह के दूसरे अभावों से ग्रस्त बुनियादी शिक्षा आज मित्रों की प्रभावहीन सहानुभूति का विषय और आलोचकों के दम्भ-पूर्ण उपहास का शिकार हो रही है। क्या हुआ, क्या नही हुआ, हम इस तर्क-वितर्क में नहीं पडना चाहते।

लेकिन, आज जब कमीशन ने नये सिरे से राष्ट्रीय शिक्षा की तलाश शुरू की है, तो हमे विश्वास है कि उसकी निगाह बुनियादी शिक्षा पर सबसे पहले पड़ेगी। इस योजना मे जीवन के शाश्वत मूल्य, आधुनिक शिक्षा के वैज्ञानिक आधार, तथा राष्ट्रीय जीवन की नयी बुनियादें, सब तत्वरूप मे मौजूद हैं। उत्पादक श्रम, सामुदायिक जीवन तथा सतत् बदलती हुई सामाजिक परिस्थिति के प्रति स्वयं स्फूर्त जागरूकता के त्रिविध आधारों पर गुथी हुई शिक्षा-पद्धति की स्पष्ट रूपरेखा बुनियादी शिक्षा के पास है; जरूरत है केवल रग भरने की और उसे निष्ठा के साथ अमल म लाने की। क्या उत्पादन, क्या विज्ञान और टेक्नालोजी का विकास, क्या भावनात्मक एकता, और क्या समता और लोकतात्रिक सहकारी व्यवस्था, राष्ट्रीय जीवन के इन तमाम क्षेत्रो में जो गतिरोध पैदा हो गया है, उसके निराकरण की शक्ति इस शिक्षा-योजना में है।

राष्ट्रीय शिक्षा की बुनियादी मान्यताएँ

शिक्षा का क्षेत्र विशाल है। हम स्वयं समाज-परिवर्तन की सम्पूर्ण प्रक्रिया को शैक्षणिक रूप देने के प्रयोग में लगे हुए हैं। कमीशन ने भी अपने विचार के लिए बारह मुद्दे चुने हैं और हर एक के लिए अलग-अलग टास्क फोर्स बना दिये हैं, लेकिन हम हर मुद्दे पर सुझाव देना आवश्यक नहीं समझते। हम अपने को पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक और माध्यमिक, शैक्षिक प्रशासन, शिक्षक प्रशिक्षण और लोकशिक्षण (समाज शिक्षण); इन पाँच ही मुख्य मुद्दों तक सीमित रखना चाहते हैं। हमारा मानना है कि अगर राष्ट्रीय शिक्षा की कुछ बुनियादी मान्यताएँ स्वीकृत हो जाती हैं तो बाकी चीजें उनसे जुड़कर आसानी से हल हो जायँगी।

लोकतंत्र और समाजवाद के सन्दर्भ में इस प्रश्न को हल करना सबसे पहले जरूरी हो गया है कि नये नागरिक को कम-से-कम कितनी शिक्षा मिलनी चाहिए, जिसके बल पर नागरिकता के बढते हुए उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकेगा। हम मानते हैं कि आज के युग म माध्यमिक (गांधीजी की योजना के अनुसार उत्तर बुनियादी) तक की शिक्षा हरएक को मिलनी ही चाहिए। स्वावलम्बी कमाई के लिए हुनर सीखने तथा स्वतंत्र निर्णय करने की क्षमता के लिए इससे कम की शिक्षा पर्याप्त नहीं होगी।

गांधीजी ने गर्भ से मृत्यु तक की तालीम की कल्पना की थी—वैज्ञानिक युग म इससे कम की बात क्या सोची जाय?—लेकिन, हम अभी १४ साल की क्रमिक शिक्षा का सुझाव रखना चाहते हैं—३ साल का पूर्व प्राथमिक, ८ साल का प्राथमिक, ३ साल का माध्यमिक (गांधीजी की परिभाषा म पूर्व-बुनियादी, बुनियादी और उत्तर-बुनियादी)।

यों तो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक शिक्षा एक है—इकाइयाँ चाहे उसकी अनेक हों—लेकिन, माध्यमिक तक की शिक्षा को एक योजना मे क्रमबद्ध करने के बाद उच्च शिक्षा को उसके साथ पिरोना अच्छा होगा।

पूर्व-बुनियादी

अभी तक पूर्व-प्राथमिक शिक्षा पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए, नहीं दिया गया है, और जहाँ-कहीं कुछ बालमन्दिर खुले भी हैं उनमें बच्चों के मनबहलाव की दृष्टि अधिक, शिक्षा की दृष्टि कम रही है। पूर्व प्राथमिक को हमे प्राथमिक की पूर्व-तैयारी के रूप म देखना चाहिए। इसलिए अब 'नर्सरी' 'किण्डरगार्टन' तथा 'माण्टसरी' से आगे जाकर ३ से ६ वर्ष तक के बच्चों के सुव्यवस्थित शिक्षण की बात सोचनी चाहिए, और शिक्षा केवल बच्चे का नहीं, बल्कि उसके माध्यम से उसके माता-पिता का भी।

बाल मंदिर का अर्थ होना चाहिए कि आँगन हमारी नयी शाला है जिसमें दो विद्यार्थी हैं एक ओर बालक दूसरी ओर उसके पालक। विद्यार्थी छोटा हो या बड़ा जब तक उसके विद्यालय और उसके घर के वातावरण का अन्तर क्रमश घटेगा नहीं तब तक शायद जीवन म नवीनता या आरोहण का शुभारम्भ नहीं होगा। इसलिए वही शिक्षा नव-जागरण का वाहन बन सकती है जो बालक के साथ-साथ उसके परिवार और समाज को प्रभावित और परिवर्तित करती जाय पूर्व बुनियादी बालक की पारिवारिक और विद्यालय की शक्षिक परिस्थिति के बीच की कड़ी है।

जसे प्राथमिक या बुनियादी म मूल उद्योग हैं उसी तरह पूर्व-बुनियादी म भी हो सकते हैं जैसे सफाई भोजन दस्तकारी बागवानी। इसके दो पहलू हैं

१—हाथ मुँह धोना नहाना कपडे धोना बाल सवारना आदि निजी सफाई के कामो म बच्चे को आत्म निर्भर बनाना।

२—जब बडे लोग घर म सफाई का काम करते हो पानी भरते हो रसोई बनाते हो बरतन माजते हो या कपडे धोते हो तो इन कामो म उनकी मदद करना।

इन कामो मे वे आसानी और आनन्द के साथ सम्मिलित हो सक इसके लिए उन्ह उनकी माप और कद के अनुसार छोटे छोटे साधनो की व्यवस्था करनी होगी। अनुभव बताता है कि बच्चो को इस प्रकार के काम मे लगने की न केवल आतरिक रुचि होती है बल्कि इस उम्र मे ऐसे काम उनके मन के भीतर की गहरी भूख को शान्त करनेवाले होते हैं। बच्चा अपने प्रतिदिन के काम मे धीरे धीरे आत्म निर्भर बनना चाहता है। खाने-पीने म नहाने धोने म कपडे पहनने-उतारने मे बाल सवारने मे वह परेशानी या उकताहट का अनुभव नहीं करता। वह इन कामों को करना चाहता है और करके खुश होता है।

इसी तरह जब हम बाल-मन्दिर मे बच्चे को छोटी छोटी चक्कियाँ छोटी मथनियाँ छोटे सूप आदि देते हैं तो उसका आनन्द कई गुना बढ़ जाता है। बच्चा अपने घर म इन साधनो को देखता तो है लेकिन उनकी साध पूरी नहीं होती। क्योंकि ऐसे साधन बच्चे की शारीरिक क्षमता के लिहाज से बहुत बड़े होते हैं और दूसरे जीवन संघर्ष म चूर माता पिता बच्चों की इस भूख को बुझाने की ओर ध्यान भी नहीं देते।

बालमन्दिर की शिक्षिका की सबसे बड़ी सफलता इसमे है कि वह बच्चे के माध्यम से परिवार म जाकर बहू (बच्चे की माँ) बेटी (बच्चे की बहन) और बाप को इस बात का भान करा दे कि वे सब बच्चे की जिसके लिए उन सबके मन म प्रेम है शिक्षा म साझीदार हैं। इस बात का भान होते ही उनकी अपनी शिक्षण शुरू हो जायगी और परिवार म होनेवाली हर क्रिया पर तालीम का रंग चढ़ने लगेगा।

अब समय आ गया है कि आन्दोलन के स्तर पर गाँव गाँव और मुहल्ले मुहल्ले म प्रामाणिक बालमन्दिर खोले जाय और प्राथमिक की तरह पूर्व प्राथमिक का भी काम हाथ मे लिया जाय। इस सम्बन्ध मे नीचे लिखे सुझाव हैं—

१—सामान्यत बालमन्दिर खोलने का दायित्व पचायतो और स्थानीय संस्थाओं को सौंपा जाय लेकिन उत्साही व्यक्ति बहिष्कृत न माने जाय।

२ राज्य सरकार पूर्व बुनियादी का एक शिक्षाक्रम मान्य करे और शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करे। स्पष्ट है कि पूर्व-बुनियादी म मातृभाषा के अलावा किसी दूसरी भाषा के लिए स्थान नहीं हो सकता।

३ सरकार की ओर से साहित्य निर्माण को प्रोत्साहन मिले तथा साधन तयार कराने की दृष्टि से वर्कशाप खोले जाय जो किसी अच्छे बालमन्दिर के साथ जुडे हो

प्राथमिक शिक्षा

८ पूर्व प्राथमिक के बाद प्राथमिक। जो बच्चा पूर्व प्राथमिक के तीन वर्ष घर और शाला मे खेल के रूप म उद्योग और काम काज के वातावरण मे पल चुका है परिवार के बाहर पड़ोस और गाँव के सामाजिक सम्बन्धो को जान और पहचान चुका

है, तथा नये-नये रूपों और रंगों में प्रकट होनेवाली प्रकृति को कुतूहलभरी आँखों से देख चुका है, और अपनी शिक्षिका से तरह-तरह के प्रश्न पूछ चुका है, वह प्राथमिक शिक्षा में तैयारी के साथ प्रवेश करेगा।

अब धीरे-धीरे उसके हाथ में कोई परिचित उद्योग देकर उसकी उँगलियों में हुनर भरने का काम शुरू किया जा सकता है, आँख से देखी, कान से सुनी चीजों और हाथ से किये हुए कामों के बारे में सुव्यवस्थित जानकारी दी जा सकती है तथा यह अभ्यास कराया जा सकता है कि वह एक समाज में रहता है, जिसमें रहने के लिए सभ्य जीवन के कुछ ढंग, सम्बन्ध, मूल्य और कर्त्तव्य निभाने पड़ते हैं। इसीलिए बुनियादी शिक्षा ने बच्चे के अभ्यास को तीन तत्त्वों के साथ जोड़ा है—उत्पादक क्रिया, सामाजिक वातावरण और प्रकृति।

अब तक बुनियादी शिक्षा की, जो शालाएं चलायी गयी हैं उनमें उत्पादक क्रिया में उत्पादन की उपेक्षा की गयी, और त्रिविध समवाय का अभ्यास का आधार बनाने का तत्परतापूर्वक सही प्रयत्न नहीं किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि बुनियादी शिक्षा का शरीर निष्प्राण रह गया। पिछली भूलों से बचने का हर सम्भव उपाय होना चाहिए।

बुनियादी शिक्षा के मूल तत्त्व

पिछले वर्षों में बुनियादी शिक्षा की कल्पना और योजना के बारे में बहुत-सी बातें कही गयी हैं, और बहुत हेर-फेर करके उसके स्थानीय स्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं। यों तो समय के साथ हर विचार में विकास होना अनिवार्य है, लेकिन किसी प्रचलित लेबुल की आड़ लेकर, और मूल तत्त्वों को छोड़कर आगे बढ़ने का प्रयत्न अपने प्रयोग और देश दोनों के साथ अन्याय है। हम मानते हैं कि बुनियादी शिक्षा के निम्नलिखित मूलभूत तत्त्व हैं, जिनकी इस नाम से चलनेवाली किसी शिक्षा-योजना में उपेक्षा नहीं होनी चाहिए—

१—शिक्षा ऐसी हो, जिससे देश का गरीब-से गरीब बच्चा अपने परिवार की कमाई को क्षति पहुँचाये बिना प्राप्त कर सके, यानी पढ़ाई के लिए उसे माता-पिता के साथ मिलकर की जानेवाली अपनी कमाई न छोड़नी पड़े, बल्कि शिक्षा के साथ-साथ वह आर्थिक दृष्टि से भी अधिकाधिक सक्षम होता जाय।

२—शिक्षा का आधार कोई समाजोपयोगी उत्पादक उद्योग हो। उद्योग का चुनाव स्थानीय परिस्थिति में इस दृष्टि से किया जाय कि उसके माध्यम से विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास किया जा सके। उद्योग से अधिक महत्त्व उसके द्वारा होनेवाले शिक्षण का है।

३—स्वावलम्बन को उत्पादन की कसौटी मानकर उद्योग का शिक्षण हो, ताकि शिक्षण अवधि में कमाई निरन्तर बढ़ती रहे और शिक्षण की अवधि समाप्त होते-होते विद्यार्थी में इतनी क्षमता हो जाय कि वह उस उद्योग को अपनी स्वतंत्र जीविका का आधार बना सके।

४—शिक्षा क्षेत्रीय भाषा के द्वारा हो। अँग्रेजी ९ वें दर्जे के पहले न शुरू की जाय, और तब भी ऐच्छिक रहे।

५—हर विद्यार्थी क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा और एक कोई पड़ोसी भाषा भी सीखे।

६—बुनियादी उद्योग (जिसमें यन्त्र-शास्त्र निहित है) के अलावा पाठ्यक्रम में ये मूल विषय हों, जिनका शिक्षण और अभ्यास मूल उद्योग, समाज और प्रकृति के समवाय में कराया जाय—

क्षेत्रीय भाषा
गणित
विज्ञान
समाज ज्ञान

क्रमिक (ग्रेडेड) इतिहास ९ वें दर्जे से ही शुरू किया जाय।

७—बुनियादी विद्यालय में चलनेवाली शिक्षा क्रमशः विद्यार्थियों के परिवारों तक फैले।

इन तत्त्वों के आधार पर बनायी हुई शिक्षा-योजना के सम्बन्ध में हमारे ये व्यावहारिक सुझाव हैं—

१–पूर्व-बुनियादी से लेकर अन्तिम कक्षा तक बुनियादी शिक्षा की पूर्ण इकाई १४ साल का मानी जाय। आबादी को ध्यान में रखते हुए मुख्य विद्यालय के इद गिद छोटी कक्षाओं के पोषक विद्यालय भी हो सकते हैं लेकिन उनमें पाठ्यक्रम की समानता होनी चाहिए ताकि विद्यार्थी को एक से दूसरे विद्यालय म जाने म कठिनाई न हो।

२–भारत सरकार नमूने के लिए एक अखिल भारतीय शिक्षाक्रम तयार करे जिसे राज्य सरकारें तथा दूसरी संस्थाएँ अपनी परिस्थिति और आवश्यकता को ध्यान म रखते हुए उचित संशोधन के साथ लागू कर, लेकिन इस बात का ध्यान रखा जाय कि मूल तत्वों की उपेक्षा न हो।

३ लिखित परीक्षा प्रणाली के स्थान पर मूल्यांकन और समीक्षा की पद्धति का अनुसरण किया जाय।

४–चौदह वर्ष की अनिवार्य बुनियादी शिक्षा के बाद अधिकांश छात्र खेती अथवा दूसरे धंधो मे लग जायेंगे। शिक्षण अवधि मे प्राप्त किया हुआ अभ्यास बना रहे और नया ज्ञान और अनुभव मिलता रहे इस दृष्टि से रात्रि-शालाएं या सीमित अवधि म अभ्यास केन्द्र चलाये जाने चाहिएँ।

५–विकास की दृष्टि से जगह-जगह कृषि विद्यालयो तथा टेक्नीशियनो आपरेटरो इलेक्ट्रिक फिटरो ड्राइवरो आदि के लिए व्यावसायिक स्कूलो की स्थापना करनी होगी। साथ ही यह बात ध्यान म रखनी होगी कि समय पाकर हर फाम और कारखाना शिक्षा का केन्द्र बन जाय।

६–बुनियादी विद्यालय के छात्रो को वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ साथ नये ज्ञान विज्ञान के सुलभ यन्त्रो और उपकरणो का प्रत्यक्ष अनुभव मिल सके इसलिए प्रत्येक विद्यालय मे साज-सामान की एक लघु प्रयोगशाला रखनी होगी। यह प्रयोगशाला ग्रामीण क्षत्रो म कृषि मूलक और शहरो मे उद्योगमूलक होगी।

७–यह सरकार की जिम्मेदारी होगी कि वह देश क सभी बुनियादी विद्यालयो का वर्गीकरण करके एक निश्चित अवधि मे उन्हें भवन उत्पादन के साधन धातु पूंजी प्रयोगशाला, पुस्तकालय आदि से सम्पन्न कर द।

बुनियादी शिक्षा के कारण जैस-जस विद्यालय म तथा उनम लगे हुए क्षत्रों म उत्पादन बढेगा और विकास के नाम म होनेवाले कई सरकारी खच घटेंगे शिक्षा म अधिक पूँजी लगाना सरकार के लिए कठिन नहीं होगा।

८–राष्ट्र की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए अन्तिम तीन वर्षों म कृषि अभियन्त्रण, शिक्षण प्रशिक्षण विद्युत टैकनालोजी या कला-सह विज्ञान आदि अभ्यासक्रमों की विविधता (डाइवर्सिफिकेशन) की गुंजाइश रखी जा सकती है, लेकिन एक कोस से दूसरे मे जाने की सुविधा रहनी चाहिए, ताकि हर विद्यार्थी को विकास का समान अवसर मिले।

९–स्पेशलाइजेशन और विविधता की दृष्टि से शिक्षा की योजना भी क्षेत्रीय आधार पर ही बननी चाहिए ताकि शिक्षा स्थानीय जनता क विकास के साथ जुड सके।

ऊँची शिक्षा (विश्वविद्यालयीन शिक्षा)

१०–बुनियादी के बाद ऊंची शिक्षा का स्थान आता है, लेकिन उसका वृत्त सीमित है। हमारा सुझाव है कि–

१–ऊंची शिक्षा नीचे की उद्योगपरक शिक्षा और उसके विविध अभ्यासक्रमो के विस्तार के लिए हो।

२ खेती उद्योग या व्यवसाय का बडा केन्द्र अपने क्षत्र की ऊंची शिक्षा का भी केन्द्र बन।

३–ऊंची शिक्षा सरकार की प्रत्यक्ष जिम्मेदारी न मानी जाय बल्कि विश्वविद्यालय निजी अभिक्रम और साहस मे क्षत्र माने जाय। विश्वविद्यालयो का काम मुख्यत शोध और प्रयोग का हो जिनका सीधा सम्बन्ध जन जीवन की आवश्यकताओं और समस्याओं से हो।

४–आवश्यकतानुसार सरकार भी अपने संस्थान कायम कर सकती है।

५ विश्वविद्यालयो की शिक्षा का सम्बन्ध आज की तरह सरकारी नौकरियो से न रखा जाय। ऐसा होने पर ही ज्ञान विज्ञान के केन्द्र के रूप मे विश्वविद्यालयो का सही स्वरूप निखर आयेगा। ●

[सर्व-सेवा संघ के तत्वावधान में वाराणसी में हुए परिसंवाद के प्रतिवेदन से]

- शिक्षक प्रशिक्षण के सम्बन्ध में कुछ सुझाव
- शिक्षक प्रशिक्षण के आवश्यक पहलू
- बुनियादी शालाओं के शिक्षक
- शिक्षक प्रशिक्षण का प्रश्न

शिक्षक-प्रशिक्षण के सम्बन्ध में कुछ सुझाव

● द्वारिका सिंह

अपने देश में इन तीन पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में प्राथमिक विद्यालयों की संख्यिकी वृद्धि बहुत हुई है। इन विद्यालयों के खुलने के साथ साथ शिक्षक प्रशिक्षण-विद्यालय भी काफी संख्या में खुले हैं, लेकिन यह अनुभव किया जाने लगा है कि प्राथमिक शिक्षा में काफी गिरावट आ गयी है और वह गिरावट दिनों दिन बढ़ रही है। यह बिलकुल सत्य है कि प्रशिक्षण विद्यालयों में जिस प्रकार के शिक्षक तैयार होंगे उसी प्रकार के प्राथमिक विद्यालय भी बनेंगे और प्राथमिक विद्यालयों में जिस प्रकार के छात्र छात्राएँ तैयार होंगी उसी प्रकार के देश के भावी नागरिक होंगे, अर्थात् यदि प्राथमिक शिक्षा के स्तर को ऊँचा करना है और उसमें गिरावट को रोकना है तो अपने देश के शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

हमलोगों ने अपना लक्ष्य इस प्रकार रखा था कि हमारे नये शिक्षक अपने विद्यालयों द्वारा नये समाज के निर्माण के लिए नये नागरिक तैयार करेंगे साथ ही इन नये नागरिकों की तैयारी के साथ साथ मौजूदा समाज का विकास कर नये समाज की ओर उन्हें मोड़ने का प्रयत्न करेंगे, पर वस्तुस्थिति यह है कि नव समाज निर्माण के उद्देश्य की प्राप्ति तो दूर रही साधारण शिक्षा का स्तर भी ऊँचा नहीं किया जा सका। इसलिए शिक्षा आयोग को शिक्षण प्रशिक्षण-सम्बन्धी निम्नलिखित प्रमुख समस्याओं की ओर अपना ध्यान ले जाना चाहिए और इन समस्याओं के समाधान के लिए कोई ठोस रास्ता निकालना चाहिए।

प्रशिक्षण विद्यालयों की दयनीय भौतिक स्थिति

अधिकांश शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय और महाविद्यालय जमीन, भवन, आवासीय भवन, पेय जल, स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रबन्ध प्रकाश, सिंचाई के साधन, हातेबन्दी, उद्योग के लिए चालू पूँजी, उद्योग के लिए वर्कशाप विज्ञान के लिए प्रयोगशाला तथा सुसज्जित पुस्तकालय और वाचनालय के बिना जैसे-तैसे काम कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में 'टीचर एजुकेशन' के सुधार की बात नहीं हो सकती है। इसलिए यह विचारणीय प्रश्न है कि शासन को इन विद्यालयों को सुसज्जित करने के लिए अपनी एक सीमा रेखा ठीक करनी चाहिए, जिसके भीतर एक क्रम बनाकर इन विद्यालयों को सुसज्जित किया जाय।

● प्रशिक्षार्थियों को प्रति माह कम से कम ३० रुपये की छात्रवृत्ति मिलनी चाहिए। ऐसा नहीं होने से अच्छे छात्र प्रवेश पाना नहीं चाहते।

● प्रवेश में निष्ठावान, उद्योग में अभिरुचि रखनेवाले चरित्रवान प्रशिक्षार्थियों को लेना चाहिए।

● प्रवेश में उद्योग, विज्ञान, कला, संगीत, खेल-कूद इत्यादि योग्यता रखनेवाले छात्रों को प्रश्रय देना चाहिए।

● प्रशिक्षण की अवधि किसी प्रकार से दो साल से कम नहीं होनी चाहिए। यदि विवशता के कारण नन मैट्रिकुलेट प्रशिक्षार्थियों को लेना हो, तो अवधि तीन साल की करनी चाहिए। दो साल शिक्षण के लिए और एक साल प्रशिक्षण के लिए।

निरीक्षण और परीक्षण का अभाव

यह आशा की जाती है कि देश के सारे प्रशिक्षण-विद्यालय और महाविद्यालय बुनियादी ढंग से कार्य करें और सम्भवत ऐसे सभी विद्यालयों और महाविद्यालयों ने यह स्वीकार कर लिया है कि वे बुनियादी प्रशिक्षण केन्द्र–जैसा काम कर रहे हैं; पर ऐसा हो नहीं रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रशिक्षण विद्यालयों के निरीक्षक पदाधिकारियों को बुनियादी शिक्षा का अनुभव नहीं है और अधिकांश को इस काम के प्रति निष्ठा भी नहीं है। इसलिए जब तक निष्ठावान निरीक्षक पदाधिकारियों की व्यवस्था नहीं होगी और बुनियादी ढंग पर मूल्यांकन और समीक्षा की व्यवस्था नहीं होगी तब तक ट्रेनिंग स्कूल के कामों में सुधार सम्भव नहीं है।

आवटन, अनुदान, चालू पूंजी

यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि प्रशिक्षण-विद्यालयों को समय पर न अनुदान मिलता है और न आवटन और न उत्पादन की व्यवस्था के लिए चालू पूंजी ही। इसके अभाव में प्रशिक्षण विद्यालय ठीक से संचालित नहीं हो पाते। कमीशन को इस बात पर विचार करना है कि प्रशिक्षण विद्यालय और महाविद्यालय किस प्रकार समय पर आवटन या अनुदान पा सकें और उद्योग के लिए चालू पूंजी किस तरह वे प्राप्त कर सकें।

प्रशिक्षण-विद्यालय तथा उनके प्रशिक्षार्थी

जब ट्रेनिंग स्कूलों से प्रशिक्षार्थी निकलकर क्षेत्र में जाते हैं तो वे वहाँ न ट्रेनिंग स्कूल की दिनचर्या निभाते हैं और न ट्रेनिंग स्कूल में बतायी गयी शिक्षण-विधियों का अनुसरण करते हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं–

ट्रेनिंग स्कूल का अपना कोई सेवा-क्षेत्र नहीं है। इसलिए सेवा-क्षेत्र के शिक्षकों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, और ऐसा नहीं होने से प्राथमिक शिक्षक क्या करते हैं, उन्हें जानकारी नहीं हो पाती है और निरीक्षक पदाधिकारियों से कोई मार्गदर्शन नहीं मिल पाता। इसलिए सारा प्रशिक्षण एक तरह से बेकार हो जाता है। इसके सम्बन्ध में कमीशन का ध्यान दो बातों पर जाना चाहिए।

* हर ट्रेनिंग स्कूल से संलग्न उसका एक सेवा-क्षेत्र होना चाहिए। जहाँ बतायी हुई शिक्षण-विधियों का अभ्यास अपने सेवा-क्षेत्र के प्राथमिक विद्यालयों में कराया जाय और क्षेत्र की उठी हुई समस्याओं का संग्रह किया जाय तथा उनका समाधान निकाला जाय।

● निरीक्षक पदाधिकारियों का पुन नवीनीकरण किया जाय और उनके जिम्मे कुछ माडेल स्कूल दिये जायँ जहाँ वे नवीनतम शिक्षा-विधियों का प्रयोग करें।

उपयुक्त साहित्य का अभाव

ऊपर बताया गया है कि प्रशिक्षण विद्यालयों के पास न तो विकसित लाइब्रेरी है और न वाचनालय। जो है भी वह बिलकुल अपर्याप्त। शिक्षक और प्रशिक्षार्थी दोनों उपयुक्त साहित्य नहीं पाते, जिसके अभाव में विचार गोष्ठियाँ, चिन्तन गोष्ठियाँ और प्रसार-सेवा-कार्य योजना इत्यादि कामों में किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती है। अभ्यासपाठ के लिए बाल-साहित्य का तो बिलकुल अभाव है। शिक्षकों के लिए हस्त-पुस्तक, शिक्षण विधियों का सहायक सामग्रियाँ नहीं हैं। इसलिए कमीशन को ऐसा सुझाव रखना चाहिए कि उपयुक्त साहित्य-निर्माण का काम कैसे हो, जिसकी सहायता के बिना प्रशिक्षण विद्यालय की योजना ठीक से कार्यान्वित नहीं हो सकती है।

प्राथमिक शिक्षा-स्तर पर शोध का काम

अपने देश में करोड़ो करोड़ बच्चे, लाखों-लाख शिक्षक और लाखों-लाख अभिभावक प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्ध रखते हैं। प्राथमिक शिक्षा के सचालन में सैकड़ो समस्याएँ आ खड़ी होती हैं। इन समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन भी नही हो पाया है, जिसका फल यह है कि कोई वैज्ञानिक प्रयोग भी नही हो पा रहा है। इसलिए कमीशन को यह सोचना चाहिए कि प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर शोध और अध्ययन की क्या व्यवस्था की जाय।

प्राथमिक शिक्षा और बुनियादी शिक्षा

भारत सरकार ने और राज्य सरकारो ने बुनियादी शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा का पैटर्न स्वीकार किया है। यहाँ तक कि सभी ट्रेनिंग स्कूल और कालेज बुनियादी ट्रेनिंग-स्कूल और कालेज माने जाने लगे हैं। लेकिन अभ्यास मे ऐसा पाया जाता है कि अपनी संस्थाओं के साथ बुनियादी शब्द लगाने मे भी उन्हें झेंप होती है। बुनियादी शिक्षा की बुनियाद पर आचरण करना तो दूर ऐसे कार्यकर्ता गादी तैयार करते हैं, स्वावलम्बन का लेक्चर देते हैं, पर मिल के कपड़े पहनकर मिल का समर्थन करते हैं। व्याख्यान में सामुदायिक जीवन-यापन के तत्वों को बताते हैं, लेकिन आचरण मे व्यक्तिगत जीवन को प्रश्रय देते हैं। समवाय के तत्त्वो का वर्ग मे विवेचन करते हैं; लेकिन रूढ़िग्रस्त पद्धतियो का अनुसरण करते हैं। सिद्धान्त में नव समाज निर्माण का दर्शन प्रतिपादित करते हैं; पर व्यवहार में समाज में विशृंखलता उत्पन्न करते हैं। इस विषय पर कमीशन का ध्यान जाना चाहिए।

आज प्रश्न यह नही है कि बुनियादी शिक्षा गलत है या सही; प्रश्न यह है कि बुनियादी शिक्षा काम मे कैसे आये। यदि कमीशन की कल्पना का नया समाज बनाना है तो उस नव समाज निर्माण के लिए, नव राष्ट्र-शिक्षा योजना की कार्यान्विति के लिए कार्यकर्ताओं को तैयार करने की बात सोचनी होगी। ये प्रमुख कार्यकर्ता हैं शिक्षक और निरीक्षक। इनका सही प्रशिक्षण कैसे हो, यह समस्या महत्त्वपूर्ण है जिसके सम्बन्ध मे ऊपर थोड़े मे उल्लेख किया गया है।

●

स्वावलम्बन का अर्थ श्रम-विभाजन का विरोध नही है और न दूसरे देशो के साथ औद्योगिक सम्बन्ध का अभाव है। समाज मे रहने वाले लोग सम्पूर्णरूप से स्वावलम्बी हो सकें, अर्थात् अपनी प्रत्येक आवश्यकता अपने ही श्रम से पूरी कर लें, यह शक्य नही। ऐसा प्रयत्न मिथ्या अहंकार और मिथ्या प्रयास का रूप ले सकता है। सारे जगत् के साथ प्रेम और अहिंसा-द्वारा एक रूप होने का आदर्श रखनेवाला स्वयं पर्याप्त होने का झूठा मोह नही रक्खेगा। तथापि मनुष्य अपनी जितनी जरूरतें और जितने काम खुद आसानी से पूरी कर ले या निपटा ले सकता है और जिनके लिए प्राकृतिक अनुकूलताएँ भी हो उनमे स्वावलम्बी रहना दोष नही बल्कि उचित है। मिसाल के तौर पर मनुष्य को अपने कपड़े धोबी से ही धुलाने चाहिए, पाखाना भंगी से ही साफ कराना चाहिए, हजामत के लिए नाई को ही बुलवाना चाहिए, या खाना बासे मे जाकर ही खाना चाहिए, यह फर्ज नही कहा जा सकता।

—गांधीजी

●

शिक्षक-प्रशिक्षण के आवश्यक पहलू

वंशीधर श्रीवास्तव

शिक्षा पद्धति कोई भी हो, उसकी सफलता शिक्षक पर निर्भर करती है। इसीलिए शिक्षण प्रशिक्षण का प्रश्न अत्यधिक महत्व का है। शिक्षक-प्रशिक्षण के दो पहलू हैं—अप्रशिक्षित शिक्षकों का सेवारत प्रशिक्षण (इन-सर्विस ट्रेनिंग) और शिक्षकों के लिए सेवा-पूर्व प्रशिक्षण (प्री-सर्विस-ट्रेनिंग)। दोनो कार्यक्रमों के सम्बन्ध में मेरे सुझाव निम्नांकित हैं—

क—प्रशिक्षण-संस्थाएं भूमि, भवन और उपकरण आदि से सुसज्जित हों। इन संस्थाओं में योग्य अध्यापकों की नियुक्तियाँ हों, विशेषतः उद्योग और विज्ञान के लिए। प्रशिक्षण-संस्थाएँ अनिवार्य रूप से आवासिक संस्थाएँ हों।

ख—प्रशिक्षण विद्यालयों के पाठ्यक्रम में शिक्षण-अभ्यास (प्रैक्टिस टीचिंग) और शिक्षण विधि (टीचिंग मेथड्स) पर बल दिया जाय। विस्तार पूर्वक शिक्षा का इतिहास अथवा शिक्षा-मनोविज्ञान पढ़ाने पर बल न दिया जाय।

ग—प्रशिक्षण के दो ही स्तर हों—एक, अण्डर ग्रेजुएट और दूसरा पोस्ट ग्रेजुएट। जहाँ भी दो से अधिक स्तर हों, वहाँ शीघ्र दो ही स्तरों में प्रशिक्षण व्यवस्था की जाय।

घ—पूर्व सेवा प्रशिक्षण (प्री सर्विस ट्रेनिंग) की अवधि दो वर्ष से कम न हो, क्योंकि अब पाठ्यक्रम में प्रशिक्षण विषयों और शिक्षण अभ्यास के अतिरिक्त उद्योग शिक्षा, सामुदायिक जीवन-यापन और समाज सेवा के विषय बढ़ गये हैं। स्नातकोत्तर प्रशिक्षण की अवधि एक वर्ष की हो सकती है। अण्डर ग्रेजुएट स्तर पर अगर दीक्षार्थी की योग्यता हाईस्कूल की न हो तो एक वर्ष का विषय-पाठ्यक्रम और रखा जाय तथा उसके लिए प्रशिक्षण की अवधि तीन वर्ष की कर दी जाय।

च—पूर्व-सेवा प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षणार्थियों का चुनाव करते समय शैक्षिक योग्यता ही पर्याप्त न समझी जाय। चुनाव के लिए प्रशिक्षण संस्थाओं में एक सप्ताह के चुनाव शिविर आयोजित किये जायँ, जहाँ सामुदायिक जीवन व्यतीत करने और हाथ से काम करने की क्षमता, सांस्कृतिक कार्यक्रम में रुचि, लिखित परीक्षा और साक्षात्कार के आधार पर योग्य प्रशिक्षणार्थियों का चुनाव किया जाय। चुनाव का दायित्व प्रशिक्षण

बुनियादी शालाओं के शिक्षक

• शमसुद्दीन

वास्तव में बुनियादी शिक्षा तबतक पूरी तरह से सफल नहीं हो सकती जबतक बुनियादी शालाओं में बुनियादी प्रशिक्षण प्राप्त अच्छे शिक्षक न हों। दुर्भाग्य का विषय है कि बुनियादी शिक्षा में प्रशिक्षित शिक्षक आज बुनियादी शिक्षा के दर्शन में सच्चा विश्वास नहीं रखते और यही कारण है कि वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति, जोश और उत्साह के साथ बुनियादी शालाओं में काम नहीं कर पाते। वास्तव में उन्हें अपनी सारी शक्ति, समय और बुद्धि का प्रयोग बुनियादी शिक्षा के प्रचार और प्रसार में लगाना चाहिए। उन्हें इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि बुनियादी शिक्षा की योजना शालाओं में उचित रीति से कार्यान्वित हो। यही नहीं उन्हें तो चाहिए कि वे अपने आसपास के गाँवों में भी इस शिक्षा योजना का प्रचार करें और उसे लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न करें। यथार्थ में बुनियादी शिक्षा की नयी योजना के कर्णधार शिक्षक ही हैं। अतः उनका उसपर गहरा विश्वास होना नितान्त आवश्यक है। उनके हार्दिक जोश और सक्रिय सहयोग पर ही शिक्षा की सफलता निर्भर है।

शिक्षकों की दोमुखी योग्यता

इस प्रकार बुनियादी शाला के शिक्षकों में दो तरह की योग्यता का होना अत्यन्त आवश्यक है। एक तो शैक्षणिक और दूसरा उद्योग-सम्बन्धी। जहाँतक पहली योग्यता का प्रश्न है बुनियादी शाला का प्रत्येक शिक्षक बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय में प्रशिक्षण प्राप्त हो अथवा इसी प्रकार की अन्य किसी संस्था से प्रशिक्षण लिया हुआ हो। इसी प्रकार जिन उद्योगों की शिक्षा बुनियादी शालाओं में दी जाती है उन उद्योगों का भी विशेष प्रशिक्षण उन शिक्षकों को प्राप्त होना चाहिए। उद्योगों में विशेष योग्यता प्राप्त शिक्षक ही बुनियादी शालाओं में रखे जायँ। इसका परिणाम यह होगा कि बुनियादी शालाओं में जो उद्योग के कच्चे माल का व्यर्थ व्यय होता है—जैसे, कताई-बुनाई में रुई और सूत आदि उसे रोका जा सकेगा। साथ ही ऐसे शिक्षकों के पास अध्ययन करते हुए छात्र भी उद्योगों में विशेष रुचि और योग्यता का विकास कर सकेंगे।

सामुदायिक जीवन का अभ्यास

बुनियादीशाला के शिक्षकों में सामुदायिक जीवन के प्रति आस्था का होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि यही हमारे जनतंत्रीय जीवन की आधारशिला है। बालकों को शालेय जीवन समाप्त करने के बाद समाज में रहकर भावी जीवन व्यतीत करना है। साथ ही यदि वे सचमुच सफल सामाजिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो उनमें एकता, सहयोग, प्रेम, सहानुभूति, त्याग तथा भाईचारे के गुणों का विकास होना आवश्यक है। इन्हीं के द्वारा वे सामाजिक समन्वय करना सीखेंगे और समाज के अच्छे सदस्य बनने में समर्थ हो सकेंगे। सामाजिकता की यह शिक्षा छात्रों को देने के लिए आवश्यक है कि शिक्षक स्वयं इसका उदाहरण प्रस्तुत करें। उपर्युक्त गुणों का परिचय अपने रोज के व्यावहारिक जीवन में दें तथा अपने चरित्र को ऊँचा रखें तभी वे छात्रों का नेतृत्व करने में सफल होंगे।

बुनियादी शाला का प्रत्येक शिक्षक अध्यापन-कला तथा शिक्षण की आधुनिकतम प्रणालियों से परिचित हो। उसका भाषा पर अच्छा अधिकार हो तथा वह अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता हो। बुनियादी शिक्षा के दर्शन में उसका गहन विश्वास हो। उसे बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम का पूरा-पूरा ज्ञान हो ताकि वह दूसरों के आगे इसका समर्थन कर सके तथा जहाँ आवश्यक हो उसमें सुधार के सुझाव भी पेश कर सके।

समन्वय की तकनीक

बुनियादी शालाओं में विभिन्न विषयों का ज्ञान समन्वय के आधार पर दिया जाता है। यहाँ विषय अलग अलग तथा स्वतंत्र रूप से नहीं पढ़ाये जाते, वरन् उनमें आपस में स्वाभाविक सम्बन्ध जोड़ते हुए समन्वित रूप से पढ़ाये जाते हैं। इसके लिए शिक्षकों को बुद्धि और परिश्रम से काम लेना पड़ता है। उन्हें आवश्यकतानुसार कहीं भी अपनी पूर्व योजना में परिवर्तन करके छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है। इसके लिए शिक्षकों में बौद्धिक निपुणता की बहुत आवश्यकता होती है। बुनियादी शिक्षा जीवन को उसके पूर्ण रूप में देखती है न कि अलग-अलग रूपों में।

अतः बुनियादी शिक्षा के इस रूप को छात्रों के जीवन में ढालने के लिए शिक्षक को भी पूरी तैयारी और कुशलता से कार्य करना पड़ता है।

प्रत्याभिस्मरण पाठ्यक्रम की आवश्यकता

प्रशिक्षित शिक्षकों को भी यदि प्रशिक्षण प्राप्त किये कई वर्ष हो गये हैं तो उनके लिए प्रत्याभिस्मरण पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) की व्यवस्था होनी चाहिए, जहाँ शिक्षा में बदलती हुई विचारधारा तथा शिक्षा की आधुनिक नवीनतम प्रणालियों से उन्हें परिचित कराया जा सके। राष्ट्र और समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उनके उद्देश्य और आदर्शों में परिवर्तन होते रहते हैं तथा इनका प्रभाव समाज के अन्तर्गत काम करने-वाली शैक्षणिक संस्थाओं पर भी पड़ता है। इस प्रकार शालाओं के उद्देश्यों और आदर्शों के अनुकूल तथा छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा की प्रणालियों व विचारधाराओं में परिवर्तन करना पड़ता है तथा शिक्षकों को इनके अनुसार अपने विचारों में हेर-फेर करना जरूरी हो जाता है। यदि पुराने शिक्षक इस परिवर्तन के अनुसार अपने आपको नहीं बदलेंगे तो उनके विचारों से आधुनिक शिक्षा की विचार-धारा का मेल नहीं बैठेगा और वे छात्रों की भलाई करने के बजाय उनका नुकसान ही करेंगे।

शिक्षा ऐसे महत्व का विषय है, जिसकी अवहेलना कोई भी राष्ट्र अधिक समय तक नहीं कर सकता। विशेष कर प्रजातन्त्रीय देश के लिए तो हर नागरिक को एक विशेष स्तर तक की शिक्षा लेना अनिवार्य है। साथ ही हम अपने शैक्षणिक उद्देश्यों में तबतक सफल नहीं हो सकते जबतक हम सही ढंग के शिक्षक उपलब्ध न हों। वास्तव में यही शिक्षक छात्रों के भावी सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के निर्माता हैं। ये छात्रों के हृदय और मस्तिष्क पर वह अमिट प्रभाव डालते हैं जो फिर कभी दूर नहीं होता। एच जी वेल्स न मके पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री ने ठीक ही कहा है कि किसी भी शाला में शिक्षक का काम केवल पाठ्यक्रम के विषयों का ज्ञान देना ही नहीं है वरन् इससे भी कठिन और महत्व का कार्य यह है कि वे शालाओं में ऐसा मानसिक वातावरण तैयार करें जिसमें प्रजातन्त्र के गुण अपनी जड़ें जमाकर उत्तरोत्तर विकास कर सकें। ●

शिक्षक-प्रशिक्षण का प्रश्न

कोई भी पद्धति हो, शिक्षक शिक्षा का प्राण है, और शिक्षक प्रशिक्षण का प्रश्न अत्यधिक महत्त्व का है। अगर शिक्षा के व्यापक स्वरूप के अनुसार, और उसके विस्तार के अनुपात में प्रशिक्षित शिक्षकों को तैयार नहीं किया गया तो शिक्षा-कुशिक्षा बनेगी, और यह कहना पड़ेगा कि कुशिक्षा से अशिक्षा ही अच्छा।

बुनियादी शिक्षक को उद्योग में कुशल और सक्षम होना जरूरी है। उसके लिए समवाय-पद्धति से ज्ञान देने का अभ्यास भी आवश्यक होगा।

शिक्षक की योग्यता, चुनाव-पद्धति, प्रशिक्षण की अवधि, पाठ्यक्रम और सेवाकालीन प्रशिक्षण के सम्बन्ध में कुछ अधिक न कहकर हम इतना ही कह रहे हैं कि अगर उद्योग की पहले से प्रामाणिक जानकारी न हो तो प्रशिक्षण की अवधि २ से ३ वर्ष तक की रखना जरूरी हो जायगा।

कुछ अन्य सुझाव ये हैं–

१ देश भर का शिक्षक प्रशिक्षण बुनियादी शिक्षा की दृष्टि से चलना चाहिए। अभी प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों का प्रशिक्षण माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों की दृष्टि से चलता है।

२ राज्य-स्तर पर कम से कम एक ऐसा प्रशिक्षण महाविद्यालय सगठित किया जाय, जहाँ बुनियादी शिक्षा के अनुभवी अध्यापक शिक्षक के रूप में काम करें। इस विद्यालय में बेसिक ट्रेनिंग कालेजों के व्याख्याताओं और प्राचार्यों का नवीनीकरण हो।

३ प्रत्येक प्रशिक्षण विद्यालय या महाविद्यालय अपने साथ लगभग ६ गाँवों या मुहल्लों का अपना सेवा क्षेत्र बनाये और उसके विकास की जिम्मेदारी ले। इस कार्य में क्षेत्र की अन्य शैक्षिक सस्थाएँ भी शामिल हों।

७ हर प्रशिक्षण विद्यालय अपने प्रशिक्षार्थियों की सख्या के अनुसार सुसज्जित शिक्षण-विद्यालयों से अपना सम्बन्ध रखे।

(सर्व सेवा सघ के तत्वावधान में वाराणसी में हुए परिसंवाद के प्रतिवेदन से)

लोक-शिक्षण की पहली सीढ़ी •

शिक्षा और गाँवों का विकास •

ग्रामीण पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा •

नयी तालीम-द्वारा लोक-शिक्षण •

लोक-शिक्षण की पहली सीढ़ी

• राममूर्ति

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि हम जिस दुनिया में रह रहे हैं वह क्रान्तिकारी तत्वों और सम्भावनाओं से भरी हुई है। यह दूसरी बात है कि सीधे-सीधे हम क्रान्ति में न पड़ें, लेकिन उससे बिलकुल बचे रहें, यह सम्भव नहीं है। इसलिए सवाल यही है कि किस तरह सम्मान के साथ, और खुशी के साथ हम क्रान्ति की चुनौती स्वीकार करें और अपना पार्ट अदा करें। अगर हम इनसान हैं, और अपनी जिम्मेदारी कुछ भी महसूस करते हैं तो हमारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है।

समाज में रहने के नाते हमारा जीवन दूसरे लोगों के साथ, प्रकृति के साथ, और समाज में होनेवाली विविध क्रियाओं और प्रक्रियाओं के साथ जुड़ा हुआ है—इस तरह जुड़ा हुआ है कि उनसे अलग होकर हम कुछ रह भी जायँगे, यह कहना कठिन है। अगर हम गौर से देखें तो सामाजिक जीवन के निम्नलिखित क्षेत्रों में हमें क्रान्ति की उथल-पुथल स्पष्ट दिखाई देगी।

१—समता

यों तो विषमता सभ्यता के साथ चली आ रही है लेकिन अब मनुष्य उसे बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। किसी समय कुछ लोगों का औरों के ऊपर होना, धनी होना, अधिकार रखना समाज के विकास के लिए जरूरी था, लेकिन आज बिलकुल जरूरी नहीं है। समता का प्रश्न आसान नहीं है, जबतक किसी भी प्रकार का भेद-भाव रहेगा तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि समता पूरी हो गयी। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों के लिए तो समता की क्रान्ति अभी शुरू ही हुई है, इसलिए विषमता की सारी सामन्तवादी और पूँजीवादी शक्तियाँ संगठित होकर प्रकट हो रही हैं। दुर्भाग्य यह है कि शिक्षा-संस्थाओं में जहाँ समता का वातावरण होना चाहिए, विशेषाधिकारों का ही बोलबाला है। हर तरह के विशेषाधिकार—जातिगत, आर्थिक और बौद्धिक।

२–युद्ध

युद्ध हमेशा बुरा था, लेकिन आज तो युद्ध विश्वव्यापी होकर विश्वसंहार का कारण बन सकता है। हजारों वर्षों से हमने यही सीखा है कि जिसके हाथ में डंडा है उसके पक्ष में न्याय है और उसी साँचे में हमारा स्वभाव और चरित्र ढल गया है लेकिन आज जब हम यह सुनते हैं कि अब जबरदस्त का ढंग नहीं चलेगा तो हम समझ नहीं पाते कि हम क्या करें। इसलिए क्रान्ति की माँग है कि हम अनीति और अन्याय के प्रतिकार का कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ें जिसमें हिंसा और युद्ध का प्रयोग न हो। परिस्थिति ऐसी बन गयी है कि शान्ति को जीवन का सहज पद्धति बना लेने के सिवाय दूसरा उपाय नहीं है। अगर शान्ति नहीं होगी तो युद्ध अनिवार्य है।

३–अर्थनीति

आज तक मनुष्य ने पेट के लिए श्रम किया है, और अपने श्रम से जो कुछ कमा सका है उसी से उसने अपने लिए सुख-सुविधा के साधन इकट्ठा किये हैं। काम से ही मनुष्य सार्थक बना है। अब 'आटोमेशन' के युग में मनुष्य मेहनत और कमाई से भिन्न महत्त्व विकसित कर रहा है। भविष्य के युवक के जीवन में आर्थिक लाभ से अलग कोई दूसरी ही प्रेरणा होगी। योरप और अमेरिका में ही नहीं भारत-जैसे गरीब देश में भी यह दिखाई दे रहा है कि आर्थिक प्रेरणा से न स्वयं व्यक्ति का विकास हो सकता है, न समाज का।

४–विज्ञान

विज्ञान और टेक्नालाजी के कौतुकों का कोई ठिकाना नहीं है, लेकिन क्या हर कौतुक अपने में शुभ है यह एक गम्भीर प्रश्न है। विज्ञान और टेक्नालोजी के मेल के परिणाम सब अच्छे ही नहीं हुए हैं। विज्ञान और मशीन का विवाह हुआ तो मनुष्य बहिष्कृत हो गया, प्रकृति से उसका सम्बन्ध विकृत हो गया, और उसने समझ लिया है कि प्रकृति में जो कुछ है उसके भोग के लिए है। अब तक के विकास से सिद्ध होता है कि वैज्ञानिक विकास अपने आप में वरदान नहीं है, बल्कि यह जरूरी हो गया है कि विज्ञान के नाम से सामने आनेवाली चीजों और बातों पर कन्ट्रोल किया जाय और समझा जाय कि इनमें से किस चीज का व्यक्ति पर, परिवार पर, समाज, राष्ट्र और दुनिया पर क्या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ऐसी उन्नति जो आदमी को आदमी से अलग करे जो आदमी को बाजार की वस्तु बना दे, जो प्रकृति से मनुष्य के सम्बन्ध बिगाड़ दे उसकी अच्छी तरह छानबीन करने की जरूरत है। आजतक हम जिसे विज्ञान मानते आये हैं क्या उतना ही, और वही, विज्ञान है? यह एक क्रान्तिकारी प्रश्न है।

५–राष्ट्रों की प्रभुसत्ता

अब ऐसा युग नहीं रहा कि माना जाय कि हमारा देश जो कुछ करता है, ठीक ही करता है। कोई देश विश्व परिवार से अलग नहीं रह सकता, इसलिए उस बड़े परिवार के सन्दर्भ में ही कोई देश अपने हित की योजना बना सकता है। अब दिन अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का विश्व-परिवार की एकता का आ गया है। यह निश्चित माँग क्रान्ति का है।

६–मानव-स्वभाव

आज तक हम यही मानते आये हैं कि मनुष्य स्वार्थी और कई दृष्टियों से पशु-जैसा है। वह अपना स्वभाव लेकर पैदा होता है जिस पर दूसरों का कम या गहरा असर होता है और जिसके मन में चारों तरफ के वातावरण से तरह-तरह के भाव और संवेग उठते रहते हैं। इसके विपरीत अब हम मानव-स्वभाव को अपनी समस्याओं का कारण न मानकर यह मानने लगे हैं कि हमने चारों ओर जिस सामाजिक और भावनात्मक वातावरण का निर्माण कर रखा है उसी से हमारा 'स्वभाव' भी बहुत कुछ बनता है। हमारे मन में अपना जो मूल्य और गौरव है वही मुख्य रूप से हमारी प्रेरणाओं का स्रोत है। मनुष्य के चित्त की रचना ऐसी नहीं है कि आसानी से समझ में आ जाय या दो चार पिटे पिटाये शब्दों में बतायी जा सके। उसके व्यक्तित्व का सतत विकास होता रहता है जिसकी कोई सीमा नहीं है। वह स्थिर नहीं है इसलिए उसे नापकर यह नहीं बताया जा सकता कि वह यही है, यह नहीं है।

७–जीवन के मूल्य

अब हम यह नहीं मानते कि धर्म या राजनीति की ओर से जो बात कह दी जाय वह सत्य ही है और उससे हम मुक्ति, शिक्षा या शान्ति पा सकते हैं। सचमुच जिस सत्य जिस पद्धति और जिन जीवन मूल्यों से जनता का साधन होता है उनकी तलाश अपने लिए हम पुनः करते हैं।

८–पृथक्त्व—

अन्त में आज के युग की यह एक अनिवार्य समस्या है कि मनुष्य मनुष्य से इतना अलग क्यों होता जा रहा है। अपनी आँखों से हम बड़ा से बड़ा संकट देखते हैं, मृत्यु देखते हैं, विनाश देखते हैं, लेकिन हमारे ऊपर उसका कोई असर ही नहीं होता। ऐसा क्यों?

हमारे चिन्तन और जीवन के ये आठ क्षेत्र हैं जिनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। क्या हम उस आवश्यकता को महसूस कर रहे हैं और उसकी पूर्ति में कुछ करने को तैयार हैं?

दो उलझनें

मनुष्य दो उलझनों में पड़ा हुआ है—एक अपनी मनोवैज्ञानिक, दूसरी सामाजिक। शिक्षा दोनों उलझनों को सुलझाने में कहाँ तक सहायक हो सकती है? क्या मनुष्य में मुक्त होने की क्षमता है? मनोविज्ञान, दर्शन और मानव-वंश शास्त्र का क्या कहना है?

हम इतना अच्छी तरह जानते हैं कि मनुष्य न पूरा अच्छा है न बुरा। उसके चित्त की रचना में परस्पर विरोधी तत्त्व हैं जिनमें से कभी कोई, कभी कोई प्रकट होता रहता है। प्रेम और घृणा एक ही सिक्के के दो बाजू हैं।

हम यह भी जानते हैं कि अच्छाई और बुराई के दो स्तर हैं, एक जिसे समाज अच्छा या बुरा समझता है, दूसरा जिसे हम अपने मन में अच्छा या बुरा मानते हैं। कभी समाज की धारणा और हमारी भावना में मेल रहता है और कभी विरोध। उदाहरण के लिए मेरा हृदय कहता है कि हत्या कभी नहीं करनी है लेकिन समाज कहता है कि नहीं, राष्ट्र की सत्ता के लिए हत्या अनिवार्य है। मेरा हृदय कहता है कि दुनिया में जितना भोजन है उसमें सबका हिस्सा है, लेकिन हम विश्वविद्यालय के पण्डितों ने पढ़ाया है कि जो भूखे हैं वे आलसी हैं, इसलिए उनको हम आहार नहीं है। फिर, मैं जानता हूँ कि मनुष्य आपस में भाई हैं, प्यार करना चाहिए, और सभी मनुष्य आपस में भाई भाई हैं, लेकिन हमारे धर्म में सिखाया है कि जो हमारे अपने धर्म का है वह स्वभावतः दूसरे धर्मवाले से बड़ा है।

हम क्यों करें कि कौन हमारा है किसके लिए अच्छा है और कौन हमारा है किसके लिए बुरा है? हमारे मन और हमारी भावनाएँ बराबर बदलती रहती हैं, इसलिए ज्यादा से ज्यादा हमारी मनःशान्ति हो सकती है कि हम दार्शनिक और सामाजिक स्तर पर हमारी शिक्षा स्थिर हो, हममें स्थायित्व आये।

मनोविज्ञान ने क्या बताया ?

मनोविज्ञान ने हमें यह भी बताया है कि हम एक साथ दो दुनिया में रहते हैं—एक चेतन, दूसरी अचेतन। कभी-कभी दोनों में मेल नहीं बैठता। चेतन मन की इच्छाएँ और प्रतीतियाँ कुछ होती हैं और अचेतन मन के भय और आशाएँ कुछ। एक ओर मनुष्य ज्ञान की तलाश करता है, दूसरी ओर अज्ञान में धकेलता भी है। वह बहुत कुछ होना चाहता है, लेकिन बीती हुई अवस्थाएँ और आनेवाली अनिश्चितताएँ रास्ता रोककर खड़ी हो जाती हैं। विकास आसान नहीं है, कठिन है, कठोर है।

लोक शिक्षण की पहली सीढ़ी

इस भूमिका में हमें यह तय करना चाहिए कि शिक्षण का क्या स्वरूप हो। स्पष्ट है कि केवल स्कूल शिक्षण से काम नहीं चलेगा। जब क्रान्ति की व्यापकता की माँग है कि जीवन की धारणाएँ बदली जायँ और समाज की सभी पारम्परिक संस्थाएँ बदली जायँ ताकि मनुष्य और मनुष्य के बीच नया और स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित हो सके तो समाज में मन्थन पैदा करनेवाला जन आन्दोलन चाहिए जो समाज के चिन्तन को नयी भूमिका, नयी दिशा और नया स्तर दे सके। बाहर समाज में नयी हवा बहेगी तो स्कूलों और कालेजों की भी नींद टूटेगी। इस आन्दोलन का स्रोत प्रचलित राजनीति और व्यवसाय से अलग हटकर लोक-जीवन में होगा। लोक तन्त्र का मुँह न जोहकर अपनी मुक्ति के लिए स्वयं रास्ता ढूँढेंगे। लोक इस जिम्मेदारी को समझे यह लोक शिक्षण की पहली सीढ़ी है।

●

शिक्षा और गाँवों का विकास

● वी० के० आर० वी० राव

एक बात जो योजना-आयोग का सदस्य बनने के पहले से ही मेरे मस्तिष्क में आती रही है और आयोग की सदस्यता के पिछले बीस महीनों में जिसकी एक निश्चित रूपरेखा उभर आयी है वह है आर्थिक विकास में मानवीय तत्त्वों का समावेश। अन्य साधनों की उपलब्धियों की तुलना में मानवीय साधन अनन्त हैं। साक्षरता, शिक्षा, कारीगरी, स्वास्थ्य, पौष्टिक आहार आदि निस्सन्देह मानवीय तत्त्व की क्षमता की वृद्धि में सहायक हैं, लेकिन मनुष्य मस्तिष्क तथा पदार्थों का संयोग मात्र नहीं है। उसकी एक आत्मा भी है, आप चाहें तो उसे अन्तर भावना कह लें। फिर मानवीय मूल्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसके पास एक नये और सुन्दर संसार के सपने हैं। उन सपनों में, जो शक्ति निहित है वह लाखों कीलोवाट बिजली या हजारों टन अग्नि मशीनों से अधिक है। इसी शक्ति को हमारे ऋषि मुनियों ने आत्मा की शक्ति कहा है।

अब यदि इस शक्ति को हम अपने काम में ला सकें और विकास के कार्यक्रमों में लगा सकें तो विकास की सारी प्रक्रिया का एक आश्चर्यजनक रूप हमारे सामने आयेगा। अगर कट्टर आर्थिक भाषा का प्रयोग करूँ तो कार्य और बचत-सम्बन्धी दुरुपयोगिता और वास्तविक लागत में इतनी कमी आ जायगी कि हम सहसा इन आँकड़ों पर विश्वास नहीं कर पायेंगे। दूसरे शब्दों में प्राकृतिक और पूँजीगत साधनों के वर्तमान सीमित भण्डार से हम जो कुछ कर पाते हैं उसकी तुलना में सामान का उत्पादन, सेवाओं तथा व्यक्तिगत और सामूहिक कल्याण-कार्यों में आश्चर्यजनक प्रगति होगी।

मानवीय तत्त्वों का उपयोग कैसे ?

लेकिन, प्रश्न तो यह है कि इस अदृश्य शक्ति को जिसके द्वारा विकास-कार्यों में इतने परिवर्तन की बातें मैं कर रहा हूँ, काम में कैसे लाया जाय। मेरा सुझाव है कि पहले हम यह मान लेना होगा कि विकास की प्रक्रिया अनिवार्यतः एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है और जिस प्रकार हम किसी भवन, कारखाना या बाँध का निर्माण कर सकते हैं, उसी प्रकार इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का निर्माण भी सम्भव है। 'टानरो' ने 'धर्म और पूँजी का

उत्थान' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि किस प्रकार प्रोटेस्टण्ट मतावलम्बियों के कारण पश्चिमी देश आर्थिक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति कर सके।

हम सभी जानते हैं कि योरोपीय देशों में जागीरदारी की प्रथा सम्बन्धित प्रभावों की समाप्ति पर मनुष्यों में अपने प्रति सम्मान की भावना पुनः जागृत हुई और इसी भावना ने उस उद्देश्य शक्ति को जन्म दिया, जिसके कारण व्यक्ति के प्रयत्नों से आर्थिक, सामाजिक और वैज्ञानिक विकास सम्भव हो सका।

हम यह भी जानते हैं कि आरम्भ में एक पूँजीपति को चाहे दुत्कार ही मिली हो, लेकिन अपने काम को अपने से ऊँचा स्थान देने और अपने व्यापारिक संस्थान की वृद्धि में अपने को खपा डालने में उसके आर्थिक विकास की प्रगतिशील शक्ति निहित थी और हाल के वर्षों में हमने यह भी देखा है कि बड़े साहसिक हितों के लिए सत्ताधारी दलों ने जिस निष्ठा की भावना से कार्य किया है, उसके कारण सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देश एक पीढ़ी में ही विकसित और बुनियादी तौर पर प्रगतिशील राष्ट्र बन गये हैं। इस प्रकार के हर मामले में सफलता का रहस्य यही है कि ऊँचे आदर्शों और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों ने अपने व्यक्तिगत हित की परवाह न की। व्यक्ति की आकांक्षाएँ संस्था की आकांक्षा में समाहित हो गयी। व्यक्ति की योग्यता सारे समाज की सामूहिक योग्यता का एक अंग बन गयी।

जन-शक्ति और विकास योजनाएँ

आज इस बात को समझने की आवश्यकता है कि वर्ग विशेष को बढ़ावा देना जन-समूह को हतोत्साहित करना है। आज वर्ग विशेष और जन समूह को प्रोत्साहनों की ऐसी शृंखला से जोड़े रखना है जिससे आर्थिक विकास की गति तेज करने में उन्हें समुचित भूमिका निभाने की प्रेरणा मिल सके। आवश्यकता इस बात को समझने की है कि भारत जैसे देश में जनसाधारण ही श्रम और शक्ति का स्रोत है, जिसका सहयोग और समर्थन प्राप्त किये बिना बड़े पैमाने पर चलायी जानेवाली कोई योजना सफल नहीं हो सकती। मुझे तो यही प्रतीत होता है कि देश में आर्थिक विकास की योजनाओं का दायित्व विशेष वर्गों पर है और जनसाधारण को योजनाएँ बनाने और उन्हें चलाने का दायित्व वहन करनेवालों में शामिल नहीं किया गया। इन योजनाओं और जनसाधारण का आपसी सम्बन्ध बस इतना भर है कि योजना की सिद्धि में देश की समृद्धि है और सारे देश की समृद्धि में जनसाधारण को भी नियत भाग मिल जायगा।

इस तरह की योजनाएँ छोटे देशों में चलायी जा सकती हैं, क्योंकि वे कम जनसंख्यावाले देश हैं। लेकिन, भारत की जनसंख्या से तुलना की जा सकनेवाली जनसंख्या केवल तीन अन्य देशों में है। उनमें से एक देश ने बहुत आरम्भ से ही पूँजीवाद का मार्ग चुना और उसने सफलता भी पायी, लेकिन इस सफलता का रहस्य लम्बी अवधि तथा प्राकृतिक साधनों का बाहुल्य है। दो देशों में जहाँ साम्यवादी पद्धति अपनायी गयी, आर्थिक विकास का कार्यक्रम अत्यन्त सोचनीय अवस्था में आरम्भ किया गया। एक देश को सफलता मिल चुकी है और दूसरे के बारे में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। पूँजीवादी देश में लोकतन्त्री शासन और व्यापार की स्वतन्त्रता के कारण अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हो सकी। कम्युनिस्ट देशों में तानाशाही और अनुशासित जनसमूह के सहारे अर्थव्यवस्था का निर्माण किया जा रहा है, लेकिन हमारे देश की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। हमारे लोकतन्त्रीय गणराज्य में अर्थव्यवस्था का निर्माण सरकारी और गैर सरकारी दोनों क्षेत्रों के सहयोग से हो रहा है।

हमारी समस्याएँ और विकास-कार्य

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हमारे लिए यदि सर्वाधिक महत्व का आवश्यक कार्य है तो यह है कि देश के विशाल जनसमूह के प्रत्येक व्यक्ति को राजनीतिक स्तर पर बराबरी का दर्जा दिया गया है और फलस्वरूप उसमें आत्मसम्मान तथा सामाजिक समानता प्राप्त करने की इच्छा पनप रही है। लेकिन जबतक समाज की रीतियाँ और सम्बद्ध संस्थाएँ उसे इस इच्छा-पूर्ति का अवसर नहीं देती, इस सामूहिक शक्ति के विस्फोट की पूरी आशंका है, और यदि ऐसा हुआ तो हमारे सारे विकास-कार्यक्रम धरे रह जायेंगे।

संसार के किसी भी देश में इतने भूमिहीन खेतिहर नहीं हैं जितने भारत में हैं। भूमि उसी को, जो उसमें खेती करता है, यह सिद्धान्त जापान जैसे पूंजीवादी देश में भी लागू किया गया है, जब कि वहाँ जमीन की कमी है। लेकिन भारत-जैसे विशाल देश में इस सिद्धान्त का अस्तित्व केवल भूमि सुधार-सम्बन्धी नीति के आधाररूप में कागजों के बण्डलों तक है। वैसे हम सहकारी खेती का नारा भी बुलन्द करते रहे हैं—आत्मनिर्भरता, भूमि का क्षेत्रफल और खेत के साधन बढ़ाने के उद्देश्य से, भूमि और खेतिहर का निकट सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से। लेकिन यह नारा-मात्र नारा रह गया है और इस दिशा में अब तक आरम्भिक काम भी नहीं हो पाया है। यह तो निश्चित है कि सहकारी खेती से पैदावार बढ़ाने का और मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ेगा, इसलिए यदि हम अपार विकास कार्यक्रम में जनसमूह के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं तो सहकारी खेती लिए प्रयत्न बढ़ाए जाने चाहिए।

साक्षरता के ये आंकड़े।

फिर हम ग्राम्य क्षेत्रों में साक्षरता के आंकड़ों पर दृष्टि डालें। सबसे हाल के आंकड़े बताते हैं कि ७१ प्रतिशत मर्द और ९१ प्रतिशत औरतें को अक्षर ज्ञान तक नहीं है। फिर उनका सांस्कृतिक और सामाजिक विकास कैसे सम्भव है, जिसके फलस्वरूप आर्थिक विकास के लिए उनकी छिपी प्रतिभा प्रकट हो पाये। इस दिशा में हम बहुत कुछ करना है, क्योंकि केवल साक्षरता भी उद्देश्य पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं है।

वास्तविकता यही है कि आज धनी और निर्धन वर्ग, शहर और देहात तथा समृद्ध और पिछड़े देशों के बीच की खाई और भी चौड़ी होती जा रही है, जो हमारी प्रगति में बाधक है। राष्ट्रीय और भावात्मक एकता की कड़ियाँ कमजोर होती जा रही हैं, और वर्ग-विभाजन इतना सबल होता जा रहा है कि निकट भविष्य में ही समाजवादी व्यवस्थावाले समाज के निर्माण का हमारा स्वप्न चूर-चूर हो जायगा। इसके विपरीत यदि हम एक बार लोगों में आत्मसम्मान, सामाजिक समानता, आत्म-निर्भरता आदि मानवोचित गुणों का विकास कर सकें तो हमारा स्वप्न अवश्य पूरा होगा और तभी प्रत्येक व्यक्ति विकास-कार्यों के प्रति अपने दायित्व का अनुभव करेगा, जिनके पूरे होने पर उसमें गर्व की भावना आयगी और देश के प्रति उसकी भक्ति और भावना बढ़ेगी।

हमारा हाल का इतिहास बताता है कि राष्ट्रीय संकट की घड़ी में हम समस्त भेद-भावों को भूलकर एक हो गये हैं जो देश के स्वाधीनता-संग्राम या भारत पर चीनी आक्रमण के समय स्पष्ट था। इस समय हमारा देश मान्यताओं के क्षेत्र में संकट-काल से गुजर रहा है। आइए, हम मिलकर, एक होकर समाज से जात पाँत के भेदभाव, अन्ध विश्वास आदि कुप्रथाओं को दूर कर और हर व्यक्ति को सम्मान और बराबरी का दर्जा दिलायें। हमारा विश्वास है कि देश में आदर्शों के स्रोत सूख नहीं गये हैं। हमारी पीढ़ी के लोगों में कुछ दुर्बलें हुए हैं, लेकिन यह पीढ़ी अब समाप्त हो चली है। मुझे विश्वास है कि नये भारत के निर्माण के लिए नयी पीढ़ी के लोग जाग जायेंगे और इस कार्य को वहीं से जायेंगे जहाँ स्वामी विवेकानन्द और गांधीजी ने इसे छोड़ दिया था।

o

आज सम्पत्ति देहात से शहरों में होकर विदेश चली जाती है। इस प्रवाह को बदल देने की जरूरत है, जिससे देहाती सम्पत्ति देहात में ही रहे और देहात स्वावलम्बी बनें, इतना ही नहीं, बल्कि शहरवालों की आवश्यकता का अधिकांश माल भी वहीं प्रस्तुत करें।

गांधीजी

ग्रामीण पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा

• गणेश ल. चन्दावरकर

जब हम ग्रामीण भारत अथवा ग्रामीण पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा की आवश्यकता के बारे में चर्चा करते हैं तब हमें याद रखना चाहिए कि ग्रामीण भारत में ५,५८,००० गाँव हैं तथा देश की कम-से कम ८० प्रतिशत जनता उनमें रहती है। इसलिए, यह कम आश्चर्यजनक बात नहीं है कि जब देश में शिक्षा में सुधार लाने और उसके स्तर को उठाने की दृष्टि से शिक्षा की वर्तमान प्रणाली में अध्ययनार्थ कोई समिति या आयोग सरकार-द्वारा नियुक्त किया जाता है तब वह गाँवों में रहनेवाली भारत की चार पंचमांश जनता की शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की ओर बहुत कम ध्यान देता है। भारत सरकार के प्रस्ताव, जिसके द्वारा १९६४ में शिक्षा आयोग की स्थापना की गयी, में अति प्रभावोत्पादक भाषा में कहा गया है कि शिक्षा "सामाजिक रूपान्तरण एवं आर्थिक उन्नति का सबसे शक्तिशाली उपकरण है" और उसमें शिक्षा के विकास पर ज्यादा जोर देने की आवश्यकता समझी गयी है क्योंकि उसकी मान्यता है कि 'शिक्षा विशेषकर विज्ञान तथा तकनालाजी में," सबसे शक्तिशाली उपकरण है।

तथापि, अगर हम देश की ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में विचार करें तो हमें शिक्षा को न सिर्फ विज्ञान और तकनालाजी के माध्यम से सामाजिक रूपान्तरण करने के सबसे शक्तिशाली उपकरण बल्कि उन रूढ़िगत रीतियों, जो कि अज्ञानता से उत्पन्न हुई हैं को हटाने तथा लोगों की तन-मन से स्वस्थ नागरिक व सामाजिक भावना पैदा करने के उपकरण के रूप में महत्त्व देना पड़ेगा। साधारण होते हुए भी ये शिक्षा के महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं और अगर हम फिर इस तथ्य को ध्यान में रखें कि इस प्रकार की शिक्षा भारत की करीब ८० प्रतिशत जनता के लिए आवश्यक है तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि देश में शिक्षा-सुधार की किसी भी योजना में इन उद्देश्यों को प्राथमिकता मिलनी ही चाहिए।

ग्रामीण पुनर्निर्माण की शिक्षा

जहाँ तक गाँवों का सम्बन्ध है अशिक्षा का उन्मूलन मूल आवश्यकताओं में एक है। आज भी अपना नाम लिख और पढ़ सकनेवालों की संख्या देश की कुल जनसंख्या के

३० प्रतिशत से अधिक नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि देश की सम्पूर्ण जनसंख्या को शिक्षित होने में अभी कई वर्ष और लगेंगे। परन्तु ग्रामीण पुनर्निर्माण-कार्य उस समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता। इसलिए यह आवश्यक है और सम्भव है कि हरेक आदमी के लिख और पढ़ सकने में समर्थ होने से पूर्व ही लोगों को ऐसी शिक्षा दी जाय जो ग्रामीण पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक है। चाहे एक व्यक्ति पढ़ या लिख न सके, पर वह देख, सुन और महसूस कर सकता है, वह सुन कर तथा देखकर समझ सकता और अपने भावों को बोलकर व्यक्त कर सकता है। इसलिए मौखिक अभिव्यक्ति और आँखों की सहायता से जल्दी शिक्षा देना सम्भव है।

सांस्कृतिक स्तर उठाने की आवश्यकता

एक औसत भारतीय गाँव और उसकी वर्तमान स्थिति का सर्वेक्षण करनेवाले आज भी वही निराशाजनक बातें कहते हैं कि भारतीय गाँवों में गरीबी है, खाने को पौष्टिक खाना नहीं है, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता का स्तर बहुत नीचा है, अज्ञानता और अशिक्षा बड़े पैमाने पर फैली हुई है और पुराने रिवाजों आदि से अभी भी जनता बुरी तरह चिपकी हुई है। गाँव में रहनेवालों के आर्थिक-स्तर को उठाने के लिए देश के कृषि-उत्पादन को काफी मात्रा में बढ़ाना और खेती के तरीकों में सुधार लाना आवश्यक है। यह सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता हो सकती है परन्तु यही एकमात्र आवश्यकता नहीं है। भौतिक उन्नति के साथ-साथ, कुछ हद तक सांस्कृतिक स्तर को उठाने की भी आवश्यकता है जिसके बिना भौतिक उन्नति से कोई स्थायी खुशी प्राप्त नहीं की जा सकती।

सामुदायिक विकास की योजनाओं के लिए जिन्होंने कार्य किया है और जो कार्य कर रहे हैं उन्होंने महसूस किया है कि ग्रामीणों के मानसिक परिवर्तन के बिना उनके जीवन-स्तर में सुधार लाने के लिए किये गये प्रयत्न व्यर्थ जायेंगे। वे हमें बताते हैं कि जब उन्हें ग्रामीणों के साम्य विचारों और प्रचलनों का मुकाबला करना पड़ता है तब किस प्रकार उत्तम स्वास्थ्य व स्वच्छता तथा सौहार्दपूर्ण सामाजिक व्यवहार रखने की उनकी प्रार्थना का उनके रहन-सहन व व्यवहार पर नगण्य प्रभाव पड़ता है। ग्रामीण जनता सामुदायिक विकास के कार्यकर्ताओं की बातों को ध्यानपूर्वक सुनती है और जो विचार प्रस्तुत किये जाते हैं उनका स्वागत भी करती है। वह उन विचारों को व्यवहार में लाने की इच्छा भी प्रकट करती है, पर जैसे ही प्रस्तावों को कार्यरूप में परिणत किया जाता है, समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। गुटबन्दी इनमें से एक है और उसी के समान भयंकर दूसरी समस्या है जातिभेद। पुराने विचार भी बहुत बड़े बाधक हैं।

सामुदायिक विकास परियोजना के कार्यान्वय के प्रतिवेदन के अनुसार, ग्रामस्तरीय कार्यकर्ताओं को 'लोगों का पूरा सहयोग मिला।" उन्होंने खाद जमा करने और कूड़े को फेंकने के लिए गाँव के बाहर गड्ढे बनाने के प्रस्ताव को स्वीकार किया। उन्होंने इस कार्य के लिए गाँव की सीमा पर गड्ढे खोदने में उत्सुकता से हाथ भी बँटाया। गाँव की ग्राम-परिषदों ने प्रस्ताव पास कर न सिर्फ ग्रामीणों के लिए गड्ढों का उपयोग करना आवश्यक बना दिया, बल्कि नियम का उल्लंघन करने पर दण्ड का भागी भी बनाया। इतना सब होने पर भी परियोजना विफल हुई।

ग्रामीणों की कठिनाई

घर और पशुशाला की सफाई औरतें करती हैं। वे कूड़े और गोबर को आँगन के कोने या घर के समीप खाली जगह में रख सकती हैं, पर उन्हें इस बोझ को घर से उठाकर गाँव के बाहर की खाद के गड्ढों तक ले जाने के लिए राजी नहीं किया जा सका। मर्दों ने यह काम करना स्वीकार नहीं किया क्योंकि यह काम औरतों-द्वारा ही किये जाने की परम्परा है। ग्रामीणों ने स्वीकार किया कि गोबर ईंधन से अधिक खाद के रूप में कीमती है, फिर भी उन्होंने उसे जलाना जारी रखा क्योंकि उन्हें जलाने के लिए गोबर के बदले और कुछ नहीं मिला। उन्होंने शिक्षा-कार्यक्रमों, जिनमें प्रौढ़ शिक्षा भी शामिल था, का स्वागत किया, क्योंकि वे शिक्षा की कीमत आम तौर पर समझते व जानते थे, परन्तु उन्हें कार्यरूप में परिणत करने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ थीं। गाँव के प्रौढ़ों को स्कूली बच्चों की तरह शिक्षा ग्रहण करना अजीब और कुछ-कुछ लज्जाजनक भी लगा। स्कूल जाने-योग्य उम्र के बच्चे-बच्चियों के लिए काफी उपयोगी थे, इसलिए स्कूल

मे उनकी उपस्थिति अक्सर असन्तोष जनक होती थी। जब ग्रामीणों को स्वच्छता और सफाई की आदतों की उपयोगिता और आवश्यकता के बारे में बताया जाता है, वे उसे सहज ही स्वीकार कर लेते हैं, पर उनके लिए अपनी पुरानी आदतों, चाहे वे अस्वच्छ और अस्वास्थ्यकर ही हों, को छुड़ाना उतना ही कठिन लगता है।

यहाँ कुछ उदाहरण दिये गये हैं जो कि एक सामुदायिक विकास परियोजना के ब्यौरे से लिये गये हैं। उनसे उन परिस्थितियों का पता चलता है जो आज भी अधिकांश गाँवों में विद्यमान हैं। इन परिस्थितियों में स्कूल खोलने और प्रौढ़ शिक्षण वर्गों के चलान से ही अपेक्षित परिणाम की प्राप्ति नहीं की जा सकती, अर्थात् शिक्षा और सभ्यता का प्रसार नहीं किया जा सकता।

सामुदायिक विकास मन्त्रालय का नवीनतम प्रतिवेदन यह खुशखबरी देता है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम में पहली बार विस्तार सेवाओं का समन्वित स्वरूप तथा विकास का न्यूनतम ढांचा स्थापित किया है। हमें बताया गया है कि यह स्थिति, आज से पाँच या दस वर्ष पहले की स्थिति से बहुत भिन्न है। सामुदायिक विकास मन्त्रालय के इस दावे से, उत्साहजनक होते हुए भी यह ठीक-ठीक पता लग सकता है और नहीं भी कि लोगों से वास्तव में कितना सहयोग मिला है या ग्रामीणों के मन, मस्तिष्क और सामाजिक व्यवहार में नागरिकता की भावना भरने के सन्दर्भ में विस्तार सेवाओं के समन्वित स्वरूप और विकास के न्यूनतम ढाँचे का क्या परिणाम हुआ है जो कि गाँवों की सभी शैक्षणिक गतिविधियों और योजनाओं का उद्देश्य होना चाहिए।

मौखिक शिक्षा का स्वरूप

इस प्रकार की शैक्षणिक गतिविधियों को विश्वविद्यालयीन शिक्षा विज्ञान और तकनीक की शिक्षा या उस शिक्षा से अलग समझा जाना चाहिए जो कि साक्षरता प्रसार की दृष्टि से दी जाती है। मौखिक शिक्षा ही ऐसी है जिसके लिए लिखाई और पढ़ाई की जरूरत नहीं है। स्वच्छता और स्वास्थ्य, सन्तुलित भोजन, नियमित काम और आराम, बीमारियों से निरोध और अच्छे स्वास्थ्य को बनाये रखने, स्वस्थ मनोरंजन की आवश्यकता, बुरी और अनियमित आदतों के त्याग, भाईचारे और सहयोग की भावना तथा ऐसे ही अन्य विषयों पर छोटी तथा आसान वार्ताएँ किताबों से ज्यादा प्रभावशाली होंगी।

इन वार्ताओं के अतिरिक्त ग्रामीणों के लिए विशेष रूप से आकाशवाणी के कार्यक्रमों की व्यवस्था की जा सकती है। तस्वीरों, पोस्टरों और फिल्मों का प्रदर्शन किया जा सकता है। गायन एवं नाटक तथा धार्मिक कार्यक्रमों जैसे भजन, प्रवचन, हरिकथाओं और हरिकीर्तनों के कार्यक्रम रखे जा सकते हैं और उत्सव समारोह तथा सन्तों व अन्य महापुरुषों और महिलाओं की जयन्तियों का आयोजन इस तरह किया जा सकता है कि उनसे कुछ सीखने को मिले।

अनुशासन का शैक्षणिक मूल्य

ऐसा कहा जा सकता है कि इस प्रकार का कार्यक्रम बहुत से गाँवों में शुरू किया गया जहाँ कि सामुदायिक विकास केन्द्र हैं और वे ज्यादा प्रभावशाली नहीं पाये गये या उनका सुपरिणाम नहीं निकला। हो सकता है यह सच हो और अगर यह सच है तो इसका कारण अधिकांश मामलों में इन कार्यक्रमों के एक महत्वपूर्ण पहलू की ओर आवश्यक ध्यान न देना है कि किस प्रकार उन्हें आयोजित, सचालित व प्रस्तुत किया जाता है। लोग इस प्रकार के कार्यक्रमों में गहरी दिलचस्पी दिखलाते हैं और वे नाटक, भजन इत्यादि के कार्यक्रमों में खुशी से भाग लेते हैं, यद्यपि वे जिस प्रकार भाग लेते हैं उसमें सुधार की गुंजाइश हो सकती है, उनके कार्यक्रमों में हिस्सा लेने के तरीके में महत्वपूर्ण शैक्षणिक तत्व निहित हैं।

आमतौर पर भारतीयों और विशेषकर ग्रामीणों में सभी प्रकार के उत्सवों आदि में भाग लेने व शोर गुल मचाने की आदत होती है। अगर किसी शैक्षणिक कार्यक्रम को इस तरह के अशान्तिपूर्ण और अव्यवस्थित तरीके से किया जाय तथा संयोजक समय की पाबन्दी पर जोर न दे तो उसका शैक्षणिक मूल्य समाप्त हो जाता है। अगर ग्रामीणों को शान्त रहने और समय का पाबन्द बनने की शिक्षा दी जाय तो उसका शैक्षणिक मूल्य अन्य बातों से कहीं ज्यादा होगा। कितने संयोजक ऐसे हैं जो ऐसे कार्यक्रमों को शान्तिपूर्ण वातावरण में निश्चित समय पर

आरम्भ करने तथा निश्चित समय पर समाप्त करने पर जोर देते हैं ? इस पहलू की शिक्षा-सम्बन्धी क्षमताओं के बारे में जितना भी कहा जाय, कम है।

पिछली शताब्दी में भारत के सुधार-आन्दोलन के नेताओं में अग्रणी महादेव गोविन्द रानडे ने एक बार कहा था—"एक सच्चे समाज-सुधारक को नये सिरे से कार्य करना नहीं होता। एक दृष्टि से अधूरे कार्य को पूरा करना ही उसका काम होता है। हम अपने अतीत से नाता नहीं तोड़ना चाहते क्योंकि इस परम्परा पर हम गर्व कर सकते हैं।" सामुदायिक विकास क्षेत्र का कोई भी कार्यकर्ता या अन्य सामाजिक कार्यकर्ता इस गम्भीर कथन की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसमें सुधार या पुनर्निर्माण के किसी भी कार्यक्रम में परम्परा का महत्वपूर्ण स्थान निश्चित हो जाता है।

परम्परा की उपयोगिता

परम्परा के प्रति वफादारी एवं लगाव तो होगा ही, उसे दूर नहीं किया जा सकता। किसी भी शिक्षक या समाज-सुधारक को ग्रामीणों को पूर्णतया अपरिचित रास्ते से ले जाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। बहुत सी परम्पराएँ, जो लोगों के मस्तिष्क में घर कर के बैठी हुई हैं, अपने आप में बुरी नहीं हैं। शिक्षकों का काम है कि वे ग्रामीणों के मन में एक परम्परा के प्रति बैठे हुए अन्ध विश्वास को दूर कर उन्हें उस परम्परा के असीम महत्व से अवगत करायें। हिन्दुओं में खाना खाने के समय एक विशेष प्रकार का वस्त्र धारण करने का रिवाज है जिसे मराठी में 'सोवले' कहते हैं। इस रिवाज में कुछ भी गलत या भ्रमपूर्ण नहीं है। इस रिवाज का मूल उद्देश्य है सफाई। पर दुर्भाग्य से सोवले धारण करनेवालों ने इस मूल उद्देश्य को भुला दिया है और वे इस वस्त्र को बिना धोये कई दिनों तक पहनते रहते हैं। इसलिए शिक्षक का काम है कि वे किसी परम्परा की उपयोगिता और स्थायी महत्व के बारे में ध्यान रखें, और यह देखें कि किस प्रकार उसकी उपयोगिता व मूल्य का अन्त होता है।

परम्परा पालन की सीमा

उसे यह भी याद रखना है कि परम्परा के प्रति वफादारी की भी सीमा है। उदाहरणार्थ, राजाराम मोहन राय, श्री रानडे और महात्मा गांधी-जैसे समाज-सुधारक भी जो जीवन के चले आ रहे तौर-तरीकों को जारी रखने के पक्ष में थे, सतीप्रथा, बालविवाह, पर्दाप्रथा, जातिभेद अथवा छूआछूत-जैसे हानिकारक रिवाजों के विरुद्ध आन्दोलन चलाने में नहीं हिचके।

ग्रामीण पुनर्निर्माण-कार्य में संलग्न कार्यकर्ताओं, विशेषकर उनको जो शिक्षा प्रसार में सम्बन्धित हैं, को सावधान रहना है और हानिकारक एवं स्वस्थ्य परम्पराओं में भेद कर सकने योग्य होना है। हम उन परम्पराओं का त्याग नहीं कर सकते जो हमारे भारतीय समाज के पारिवारिक जीवन की आधार हैं। आज भी गाँवों में लड़कियों की शिक्षा को महत्व नहीं दिया जाता। बहुत-सी गाँव की दुलहन पति के घर बिना किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त किये ही जाती हैं। कई गाँवों में स्त्रियों के लिए प्रौढ़-शिक्षण वर्ग हैं, परन्तु नयी-नयी बहू का बहुधा घर से बाहर निकलना अच्छा नहीं समझा जाता और इसी कारण वह वर्गों में जा नहीं पाती। जैसे-जैसे उसकी उम्र बढ़ती है वैसे वैसे उसे ज्यादा स्वातन्त्र्य प्राप्त होता जाता है, पर तब तक वह दो तीन बच्चों की माँ बन चुकी होती है और वृद्धा सास-द्वारा उसके कन्धों पर डाली गयी जिम्मेदारियाँ उसकी शिक्षा की राह में रोड़ा अटका देती हैं। इसलिए सिर्फ प्रौढ़ शिक्षण वर्गों का संगठन करना और उनका संचालन करना भर ही महत्वपूर्ण नहीं है। ऐसे अन्धविश्वासों और रिवाजों को हटाना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, जिनकी बुनियाद गलत है और जो लोगों को सुविधाओं का फायदा उठाने से वंचित करते हैं।

ग्राम-शिक्षक की योग्यता

प्रशासन की पंचायती राज प्रणाली के अन्तर्गत, जो कई राज्यों में शुरू की गयी है, उसमें सेवा प्रदाता को बड़े अच्छे ढंग से योजित किया गया है, जिसमें समाज-कल्याण और शैक्षणिक विकास की योजनाएँ भी सम्मिलित हैं। ऐसा ज्ञात हुआ है कि इस दिशा में उपयोगी कार्य किया जा रहा है जिससे भारी फायदा हुआ है। परन्तु इस बात में शंका होती है कि शिक्षा प्रसार से सम्बन्धित कार्यशालियाँ योग्य तथा जानकार व्यक्तियों के हाथों में सौंपी गयी हैं या नहीं।

नगरों और कस्बों के स्कूलों में अपने कार्य में दक्ष हुए प्रशिक्षित शिक्षकों को गाँवों में भेजना भर काफी नहीं है। अन्य शब्दों में, एक ग्रामीण शिक्षक के लिए एक योग्य शिक्षक होने के साथ-साथ ग्राम कल्याण कार्य में प्रशिक्षित होना भी आवश्यक है। सिर्फ कुछ कागजी कार्य जैसे सर्वेक्षण की रिपोर्ट तैयार करना आदि में प्रशिक्षित होने से ही काम नहीं चलेगा बल्कि उसका ग्रामीणों के शिक्षा मार्ग में आनेवाली वास्तविक कठिनाइयों से तथा उसके स्वयं के सामने आनेवाली कठिनाइयों से अवगत होना आवश्यक है। परन्तु पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षक रखना भर काफी नहीं है।

यह आम शिकायत है कि सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत नियुक्त किये गये बहुत से कार्यकर्ता समीपवर्ती कस्बों में रहते हैं और सिर्फ अपने काम के समय में ही गाँवों में आते हैं। ग्रामीण समाज के लिए तो काम का कोई निश्चित समय नहीं हो सकता। इसलिए कार्यकर्ता को चौबीस घंटे काम करने के लिए तैयार रहना चाहिए। वह जो कहता है या करता है वह नहीं बल्कि ग्रामीणों के सम्पर्क में आने पर उन पर उसकी जो छाप पड़ती है वही उसकी वास्तविक उपलब्धि है। और ऐसा सम्पर्क तभी हो सकता है जब वह गाँव में ग्रामीणों के बीच रहे। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के प्रसार कार्य के लिए हमें ऐसे शिक्षक चाहिए जो इस कार्य के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित हों और हमें यह जानना चाहिए कि साधारण प्राथमिक प्रशिक्षण कालेजों में दिया गया प्रशिक्षण ग्रामीण शिक्षक के लिए उपयुक्त नहीं है।

शिक्षा प्रणाली का दोष

हमारे शहरों, कस्बों और गाँवों के स्कूलों में एक-जैसी पढ़ाई के सम्बन्ध में जो कड़ाई बरती जाती है वह हमारी शिक्षा प्रणाली का बहुत बड़ा दोष है।

यह ठीक है कि गाँवों में रहनेवाले बच्चों को उन सुविधाओं से वंचित नहीं किया जा सकता जो कि शहरी बच्चों को प्राप्य हैं। परन्तु अगर हम उन लोगों की आवश्यकता पर विचार करें जिन्हें गाँवों में रहना है और काम करना है तो हमें यह मानना ही पड़ेगा कि गाँव के बच्चों को उन सभी विश्वविद्यालयीन विषयों को पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है जो शहर के बच्चों को पढ़ाये जाते हैं। अध्ययन का एक विशेष पाठ्यक्रम जिसमें ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित बातों का ज्ञान दिया जाता हो, ज्यादा उपयोगी रहेगा।

बुनियादी शिक्षा की बाधाएँ

ऐसा माना जाता है कि महात्मा गांधी की प्रेरणा से जाकिर हुसैन समिति-द्वारा बनायी गई बुनियादी शिक्षा की योजना आज सभी प्राथमिक विद्यालयों में चलायी जा रही है। इस योजना में कई ऐसी बातें हैं जिनसे गाँव के स्कूलों में दी जानेवाली शिक्षा को ज्यादा व्यावहारिक और उपयोगी बनाया जा सकता है। परन्तु दुर्भाग्यवश इसे कार्यान्वित करने में बहुत सी बाधाएँ न होतीं तो यह बहुत ही अच्छी योजना साबित होती।

सन् १९३७ में जब यह योजना मूलतः बनायी गयी थी तब किसी दस्तकारी को सीखना ही शिक्षा का मूल उद्देश्य माना गया था और बहुत से स्कूलों और कालेजों में कताई और बुनाई बहुत प्रचलित थी। ऐसी दस्तकारियों का चुनाव किया जाता था जो उत्पादक होने के साथ साथ आय का साधन भी हों ताकि स्कूल दस्तकारियों से होनेवाली आय से अपना आवर्ती खर्च चला सकें। दस्तकारी के माध्यम से शिक्षा में शारीरिक श्रम का महत्व समझाना तथा अपरोक्ष नहीं तो परोक्ष रूप से स्कूल से बाहर की जिन्दगी से सम्पर्क स्थापित करना शामिल है। निस्सन्देह यह बहुत ही अच्छा शैक्षणिक आदर्श है। उसी के समान प्रशंसनीय है दस्तकारी के माध्यम से स्कूल को आत्मनिर्भर बनाना।

वर्धा योजना में बुनियादी शिक्षा की जो योजना दी गयी थी वह भारत के अधिकांश राज्यों द्वारा स्वीकृत की गयी थी और पुराना बम्बई राज्य ने ही सम्भवतः सबसे पहले १९३८ में इस योजना को अपनाया था। इस योजना को हमारे प्राथमिक स्कूलों में प्रारम्भ हुए पच्चीस वर्षों से भी ज्यादा हो गये हैं परन्तु अधिकांश स्कूलों में किसी नयी योजना या विचार को सफलता-पूर्वक कार्यान्वित करने के लिए जिस कल्पना, सावधानी और भावना की आवश्यकता होती है उसके बिना ही उसे किसी न किसी तरह चलाया गया। सभी विषयों

को दस्तकारी से ही आरम्भ करने के सिद्धान्त पर इतना जोर दिया गया कि यह बुनियादी शिक्षा के समर्थकों और शिक्षकों के लिए सनक बन गया, और आलोचकों के लिए मजाक का विषय। आत्मनिर्भरता की बात व्यावहारिक नहीं पायी गयी, परन्तु इसकी असफलता के स्पष्ट हो जाने पर भी इसके नेताओं ने इसका पल्ला नहीं छोड़ा।

विफलता का कारण

इस योजना की विफलता के लिए इसमें अन्तर्निहित गुणों और आदर्शों को दोषी नहीं ठहराना चाहिए। जिन लोगों को इसे कार्यरूप में परिणत करने का काम सौंपा गया था, उनमें दूरदर्शिता, उत्साह एवं इस कार्य के प्रति विश्वास का अभाव ही इसकी विफलता का सबसे बड़ा कारण हो सकता है। यह भी हो सकता है कि अग्रणी नेतागण बुनियादी शिक्षा के शिक्षकों के रूप में प्रशिक्षित किये गये अध्यापकों में उत्साह भरने में विफल रहे हों। हमारे लिए इस योजना पर, जो महात्मा गांधी-द्वारा प्रतिपादित की गयी थी तथा उन सिद्धान्तों पर जो कि डा० जाकिर हुसैन और वर्धा-समिति के उनके सहयोगियों-द्वारा योजना बनाते समय ध्यान में रखे गये थे, दुबारा नजर डालना उपयोगी रहेगा।

वर्धा योजना : समस्या का हल

सार रूप में वर्धा योजना जीवन शिक्षण है। दस्तकारी को सभी विषयों के शिक्षण का प्रारम्भिक बिन्दु बनाये और आत्म निर्भरता के तत्व पर फालतू जोर दिये बगैर इसकी सभी अच्छी बातों को, जैसे दस्तकारी का प्रशिक्षण, शारीरिक मेहनत की प्रतिष्ठा तथा जीवन केन्द्रित शिक्षा ग्रामीण पुनर्निर्माण के लिए अपनाया जा सकता है।

जहाँ तक मन और मस्तिष्क के कार्य का सम्बन्ध है शिक्षा का उद्देश्य है स्वय ही अपने लिए सोचने, निश्चय करने तथा चुनाव करने की क्षमता शिक्षार्थी को प्राप्त कराना। एक व्यक्ति के आचार व्यवहार में शिक्षा से सामाजिक और नागरिक व्यवहार की भावना आती है तथा उससे उसे वे सब गुण और योग्यताएँ प्राप्त होती हैं जो समाज के सफल और उपयोगी सदस्य बनने के लिए आवश्यक हैं। शिक्षा की कोई भी प्रणाली, भले ही वह कितनी भी योजित हो परन्तु जो इन बातों को पूरा नहीं कर सकती, त्याज्य है।

विश्वविद्यालयीन शिक्षा, वैज्ञानिक शिक्षा या तकनीकी पढ़ाई जो शहरों और नगरों के लिए उपयोगी पायी गयी है, गाँव के लोगों में सामाजिक तथा नागरिक व्यवहार की भावना नहीं भर सकती, इसलिए हमें कोई दूसरा उपाय खोजना पड़ेगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस समस्या का हल वर्धा योजना में पाया जा सकता है जिसे ग्रामीण पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा के अच्छे प्रारम्भिक बिन्दु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

●

देश के करोड़ों अपढ़ ग्रामवासियों के लिए महत्व का प्रश्न यह है कि उनके गाँव का मुखिया या पटवारी उनके पास हुकूमत या रोब दिखाने, धौंस जमाने और घूस माँगने आता है या उनका मित्र, सलाहकार और सकट का साथी बनकर रहता है, वह अपने आपको लोगों को चाहे जैसे हाँकने के लिए नियुक्त छोटा या बड़ा अफसर समझता है या जनता का सेवक मानता है। इसके सिवा जनता के लिए महत्व का प्रश्न यह है कि उसके सिर पर कर का बोझ भारी है या हल्का, यह कर उससे किस प्रकार, किस रूप में और किस वक्त वसूल किया जाता है और इन करों का उपयोग किन कामों में होता है।

—गांधीजी

●

नयी तालीम-द्वारा लोक-शिक्षण

• श्री बनारसी प्रसाद

यह प्रकृति विशाल शिक्षाशाला है। मनुष्य जन्म से मरण तक उससे नित्य नवीन शिक्षा ग्रहण करता रहता है समाज उद्योग एवं ज्ञान विज्ञान के विविध स्वरूप नित्य नवीन रूप से इस शिक्षाशाला से प्राप्त होते रहते हैं या यों कहा जाय कि शिक्षा का क्षेत्र असीम है और उसकी प्राप्ति का रूप बदलनेवाला होता है, लेकिन उसका स्वरूप शाश्वत है। उसमे अक्षय ज्ञान का भंडार भरा हुआ है। उस ज्ञान भण्डार से हम मानव आपस मे लेन-देन कर व्यक्ति समाज और राष्ट्र के नव निर्माण के लिए सहायक होते हैं। इस प्रकार प्रकृति समाज और उद्योग हमारे लिए तालीम का साधन बनकर आता है। क्योंकि दुनिया की हर चीज मे भगवान का विश्वरूप समाया हुआ है शिक्षा उस रूप और स्वरूप का दर्शन कराती है। इसीसे उसमे नित्य नवीन और उसके व्यापक और भव्य स्वरूप का रूप निखर पड़ता है। दुनिया के हर कामो मे जो ज्ञान और शिक्षा का विशाल समुद्र भरा पड़ा है उसमे से कीमती मोती रत्न निकाल कर हम अपने व्यक्ति समाज और राष्ट्र का महान उपकार करने मे सहायक बन सकते हैं। शिक्षा और शिक्षक का यही मकसद है और होना चाहिए। इस प्रकार जीवन का विकास शिक्षा के विकास के रूप मे प्रकट होना चाहिए।

शिक्षा दर्पण-स्वरूप है

मानव का जो भी काम होता है उसमें शिक्षा का स्वरूप स्पष्ट झलकता है। शिक्षा नीतिधर्म सदाचार आदि दुनिया के हर काम मे सामाजिकता और अपने को दूसरो के साथ जोड़ने और दूसरो को अपने मे देखने का भाव प्रकट होता है। इस प्रकार हमारा काम अनेकता मे एकता प्रतिबिम्बित करता है। अतएव हमारी शिक्षा हमें सामूहिकता को अपने म देखने का दर्पण-स्वरूप है।

अगर स त्र मे इसे व्यक्त किया जाय तो हमे ऐसा लगता है कि शिक्षा साधन है और चारित्र्य साध्य चारित्र्य का विकास ही मानवता का विकास हो सकता है। विश्ववन्द्य महात्मागांधी जी ने कहा था कि—'हिन्दुस्तान की शिक्षा सस्थाओं मे जो प्रणाली अख्तियार की गयी है उसे मैं शिक्षा नहीं कहता—वह मनुष्य की बुद्धि के सर्वोत्तम अंग को विकसित

करनेवाली शिक्षा नहीं है बल्कि बुद्धि का विनाश है। बुद्धि का सच्चा व्यवस्थित विकास तो शुरू से ही गाँव की दस्तकारियों द्वारा बुद्धि को शिक्षण देने की प्रणाली से होगा और बौद्धिक शक्ति और अप्रत्यक्ष रीति से आध्यात्मिक शक्ति का भी उसमें संचार होगा।

आज तो हमारे राष्ट्र के रीढ़ किसान और मजदूर भी अपने बच्चों को वर्तमान शिक्षा दिलाकर श्रम से बचाने की आशा रखते हैं। वे यह महसूस करते हैं कि वर्तमान शिक्षा के अभाव के कारण ही वे असभ्य और मूर्ख गिने जाते हैं।

इस प्रकार हम सभी लोग आँख-कान मूँदकर अज्ञात दिशा की ओर दौड़ते जा रहे हैं तथा वर्तमान के मोह में फँस गये हैं। इस महामोह रूपी अन्धकार से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को निकाले बिना हम अपने को पंगु बना लेंगे और इससे हमारी मानवता अवरुद्ध हो जायेगी।

सांस्कृतिक विकास करना। इस प्रकार जब हम सोचते हैं तो विनोबा जी की कल्पना का गाँव विश्वविद्यालय के रूप में चलाने से उपरोक्त शिक्षा के सही मकसद की ओर हम बढ़ सकते हैं और समाज और राष्ट्र को सबल और कम-से-कम आवश्यकताओं के लिए स्वयं पूर्ण बना सकते हैं।

जब हमारा गाँव ही विश्वविद्यालय हो जायेगा तो वहाँ तरह-तरह के जीवनोपयोगी उद्योग पनपेंगे और एक दूसरे के परस्परावलम्बन से विकसित होंगे। गाँवों में पारिवारिक भावना जागृत होगी यानें सामाजिक वातावरण तैयार होगा और ग्राम-स्वराज्य कायम होगा। नयी तालीम के शिक्षक समवाय-पद्धति से पूर्व बुनियादी, बुनियादी, उत्तर बुनियादी, बालशिक्षा प्रौढ़शिक्षा आदि की व्यवस्था कर बौद्धिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विकास के कार्यक्रम को हाथ में लें।

वापू का सपना

बनानेवाली शिक्षा समाज और राष्ट्र के विकास में बाधक स्वरूप है। आज समाज में शोषक और शोषित वर्ग कायम है, और वर्तमान शिक्षा प्रणाली उसका पोषण करती है। पर मानवता के विकास शासन और शोषण से व्यक्ति और समाज को छुड़ाने, व्यक्ति और समाज में प्रेम और करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित करने के लिए ऐसी बुनियादी शिक्षा की बड़ी जरूरत है जो स्वावलम्बन का पाठ देते हुए व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को सबल सुदृढ़ बना सके और विषमता की खाई पाट सके। ऐसी शिक्षा नयी तालीम ही हो सकती है, क्योंकि वह नित्य अनुभव के आधार पर बदलती रहती है।

मैंने नयी तालीम के विषय में जो विचार व्यक्त किया है, वह शिक्षकों के आचार-विचार, उनकी सेवावृत्ति और क्रान्तिकारी कदम के द्वारा पूरा होगा। पर आज की मान्यता बदले बिना यह कैसे सम्भव होगा?

हमारी कल्पना थी कि नयी तालीम से देश की स्वतंत्रता की भावना विकसित होगी, छात्र उद्योगशील और स्वावलम्बी बनेंगे तथा बुनियादी शाला का प्रभाव पास के समाज पर पड़ेगा। समाज पर पड़े प्रभाव के द्वारा ही शिक्षा की सफलता आंकी जायगी। पर हम उसमें कितना कृतार्थ हो सके यह तो नजरों के सामने है। अब हमें कोई ऐसा रास्ता पकड़ने के लिए कृत सकल्प होना पड़ेगा जो हमारे मकसद और राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सहायक सिद्ध हो और लोकतंत्र का ठोस आधार बन सके।

लोकतंत्र का ठोस आधार

उपरोक्त विचार के कार्यान्वियन के लिए हमें सरकारी तंत्र के बदले लोकतंत्र के सन्दर्भ में इसके सरक्षण और व्यापक प्रचार और प्रसार का साधन ठोस आधार पर ढूँढना पड़ेगा, जिससे उसका प्रकाश और चमत्कार देश के सामने प्रकट हो सके। ऐसा ठोस आधार आज पूज्य विनोबाजी ने विविध कार्य के रूप में हमारे सामने रखा है। उसी से हमारी वर्तमान परिस्थिति तथा ठोस लोकतंत्र का आधार सम्भव है। इस प्रकार अभिनव ग्रामदान, ग्रामाभिमुख खादी एवं शान्तिसेना का कार्यक्रम समता, स्वावलम्बन और रक्षण के कार्यक्रम के रूप में प्रकट होगा। तभी सारी कमजोरियाँ दूर होंगी और गाँव की शिक्षा का भार सरकार के भरोसे न छोड़कर हम गाँव के द्वारा गाँव के लिए शिक्षण शुरू करेंगे।

यह शिक्षा हमारी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होगी और गाँव में ज्ञान-विज्ञान द्वारा सहज रूप से गाँव के सभी लोगों को शिक्षित किया जायेगा। इस प्रकार की शिक्षा सस्ती, सर्वसुलभ और स्वावलम्बी होगी। इससे गाँव में एक नया जीवन, नयी ज्योति और नवचेतना का उदय होगा। गाँव का परिवार बनेगा तथा सभी परस्परावलम्बी होंगे और एक दूसरे के लिए हर प्रकार से कष्ट उठाकर भी मदद करने के लिए तत्पर रहेंगे।

अब तक हमने जो चर्चाएँ ऊपर की हैं, उस आदर्श स्थिति की प्राप्ति के लिए समाज-सेवियों, शिक्षा प्रेमियों का सहयोग सेवा भाव से लेना होगा और सेवा का माध्यम बुनियादी नयी तालीम को बनाना होगा। इस प्रकार की सेवा का वातावरण तैयार करना होगा जो गाँव को एक परिवार की इकाई में बदलकर पड़ोसी धर्म को निबाहते हुए विश्व परिवार की दिशा में बढ़ने के लिए बल दे तथा सबों को अपना पुरुषार्थ प्रकट करने के सुअवसर दे। ऐसा होने पर ही नयी तालीम के रूप और स्वरूप की जगमगाहट से हम समता, स्वतंत्रता और सुरक्षा के मामले में मानवता का नया पाठ देश के समक्ष रख सकेंगे। इससे हमारे कामों की बुनियाद ठोस होगी।

•

देश के लिए आवश्यक धान्य का संग्रह सदा रहे, स्वराज्य की आर्थिक नीति इस तरह बनायी जानी चाहिए।

—गांधीजी

•

शिक्षा :
सामाजिक आरोहण की प्रक्रिया

हम राष्ट्रीय शिक्षा को संस्थागत शिक्षा तक ही सीमित नहीं रखते, बल्कि शिक्षा के लिए दो और विशाल क्षेत्र देखते हैं—एक समाज-परिवर्तन, दूसरा निर्माणकार्य। हमने ग्रामदान, खादी और शान्तिसेना के त्रिविध कार्यक्रम द्वारा जिस सर्वोदय क्रान्ति को देश के सामने प्रस्तुत किया है, उसकी मुख्य प्रक्रिया विचार-परिवर्तन की है, यानी शैक्षणिक है। हमारी श्रद्धा है कि दलनिष्ठ क्रान्ति से भिन्न जो क्रान्ति लोक-निष्ठ होगी, जिसमें मूल्यों के परिवर्तन की प्रेरणा होगी, वह आरोहण की इस प्रक्रिया से सम्भव होगी। और शिक्षा इसीलिए तो शिक्षा है कि उसमें आरोहण का तत्त्व है—व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों—नहीं तो वह कोरी पढ़ाई-लिखाई है।

पहला ठोस कदम

देश में होनेवाले ग्रामदानों से यह सिद्ध है कि गाँव की जनता सरकार के कानून की राह देखे बिना विचार से प्रेरित होकर अपने सामूहिक निर्णय से व्यक्तिगत स्वामित्व को विसर्जित करती है, गाँव के पोषण के लिए उद्योगीकरण की योजना बनाती है, पूँजी इकट्ठा करती है और शान्ति-सुव्यवस्था के लिए शान्तिसेना का संगठन करती है। ग्रामदान के कारण गाँव में ग्रामसभा निर्मित हो जाती है, जो गाँव के शिक्षण, पोषण और रक्षण की जिम्मेदारी लेने को तैयार होती है, लेकिन उसे भी लोकतन्त्र और समाजवाद का शिक्षण चाहिए। लोकतान्त्रिक समाजवाद का यह प्रत्यक्ष पहला ठोस कदम है, परिवर्तन की शैक्षणिक प्रक्रिया की कौतुकपूर्ण सफलता का प्रमाण है।

ग्रामदान नवसमाज का वह क्रान्तिकारी चित्र (इमेज) है, जो इस प्रक्रिया से प्राप्त किया जा सकता है। ग्रामदान के द्वारा लोक-चेतना संगठित होकर लोकशक्ति का रूप ले सकती है और जिस लोकक्रान्ति का हम स्वप्न देखते हैं, वह सहज ही हमारे हाथ आ सकती है।

हमारे देश में शिक्षा और विकास के नाम में चलनेवाली संस्थाओं और कार्यक्रमों का जाल बिछा हुआ है, लेकिन सबने मिलकर जनता के सामने इतना क्या रखा? आरोहण की प्रक्रिया चलाने की योजना क्या बनायी? अब शिक्षा और विकास को यह काम उठाना चाहिए। सर्वोदय के गैरसरकारी प्रयत्न ने पहल कर दी है।

परिवार और विद्यालय का जीवन-दर्शन

हमारी माँग है कि क्रान्ति की इस अभिनव प्रक्रिया का प्रयोग व्यापक पैमाने पर किया जाय। हर बुनियादी विद्यालय और सामुदायिक विकास का कार्यालय इसका प्रयोग-केन्द्र बने। सम्भवतः इसी भूमिका में गांधीजी ने कहा था कि विद्यालय की बुनियादी शिक्षा विद्यार्थियों के माता पिता तक पहुँचनी चाहिए। जब तक विद्यालय और परिवार दोनों शिक्षा के समान जीवन-दर्शन को स्वीकार नहीं करते, और उसके अभ्यास में सचेष्ट नहीं होते तब तक यह नहीं माना जा सकता कि राष्ट्रीय शिक्षा की बुनियाद पड़ रही है। राष्ट्रीय शिक्षा की परिणति राष्ट्र के समग्र आरोहण में होनी ही चाहिए।

निर्माण और शिक्षा का एक ही प्रोजेक्ट

अरबों रुपय के खर्च से आज देश के कोने कोने में निर्माण के अनेक काम हो रहे हैं। क्या यह नहीं हो सकता कि निर्माण का हर प्रोजेक्ट उस प्रोजेक्ट में लगे हुए लोगों के लिए, शिक्षा का भी प्रोजेक्ट हो जाय? एक ओर उन्हें उनके काम की उन्नत तकनीक सुधरे यंत्रों का प्रयोग तथा श्रम के संयोजन के उन्नत ढंग आदि सिखाये जायँ, ताकि श्रमिक और कारीगर की कमाई बढ़े और उसके व्यक्तित्व का विकास हो? राष्ट्र-व्यापी पैमाने पर ठेठ श्रमिक (मैनुअल लेबरर) को कारीगर (स्किल्ड लेबरर) बनाने का दूसरा क्या उपाय है? दूसरी ओर शाम को पष्टे-दो-पष्टे के वर्ग भी चलाये जा सकते हैं, और मनोरंजन को भी शिक्षण का माध्यम बनाया जा सकता है।

जीविका के माध्यम से लोक शिक्षण

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक हमारे देश में कमाई की हर क्रिया को—खेती दस्तकारी या अन्य किसी उद्योग को—शिक्षा का माध्यम बनाने की योजना नहीं होगी तब तक नव-जागरण का लक्ष्य रखनेवाली राष्ट्रीय शिक्षा का दर्शन नहीं होगा। साक्षरता के नाम में हम प्रौढ़ों के साथ बहुत सिर मार चुके, अब जीविका के माध्यम से लोक शिक्षण का प्रयोग होना चाहिए। इससे विकास की आकांक्षा बढ़ेगी, सामूहिक पुरुषार्थ बढ़ेगा, वैज्ञानिक दृष्टि बढ़ेगी उत्पादन बढ़ेगा और सामाजिक उत्तरदायित्व बढ़ेगा तथा जीवन के हर पहलू पर नयी शिक्षा का प्रभाव फैलेगा। दिमाग में विकास की किरण पहुँचेगी तो साक्षर होने की भूख अपने आप पैदा होगी और तब साक्षरता का रास्ता खुलेगा। साक्षरता शिक्षा के बाद ही आयगी।

[सर्व सेवा संघ द्वारा आयोजित वाराणसी के परिसंवाद के प्रतिवेदन से]

●

●

राष्ट्रीयकरण अथवा केन्द्रीकरण व्यवस्था और प्रशासन के ढांचे को मजबूत बना देते हैं; परन्तु वे अप्रजातान्त्रिक और असमाजवादी प्रवृत्तियो को भी जन्म देते हैं। अत: व्यवस्था का ताना-बाना कुछ इस प्रकार बुनना होगा कि उसमे समुदाय का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त हो।

- शैक्षिक प्रशासन
- शैक्षिक संगठन

शैक्षिक प्रशासन ——————— • वंशीधर

शिक्षा पद्धति की सफलता और असफलता बहुत कुछ व्यवस्था और संगठन पर निर्भर करती है। शिक्षा पद्धति उत्तम भी हो तो दूषित व्यवस्था उसे असफल बना देती है। अतः आज का एक अहम् काम है शैक्षिक संगठन और प्रशासन का एक मजबूत ढाँचा बनाना। इस ढाँचे की मजबूती या कमजोरी पर ही शिक्षा-पद्धति की सफलता असफलता निर्भर करेगी।

- इस प्रशासन और व्यवस्था का ढाँचा जैसा भी बने प्रजातंत्रीय समाजवादी राष्ट्र में उसे उन्हीं उसूलों पर निर्भर करना चाहिए जो राष्ट्रीय संगठन और प्रशासन के मूल में हैं। अतः ढाँचा बनाते समय उन प्रवृत्तियों से बचना होगा जो अप्रजातांत्रिक और असमाजवादी हैं। राष्ट्रीयकरण अथवा केन्द्रीकरण व्यवस्था और प्रशासन के ढाँचे को मजबूत बना देते हैं परन्तु वे अप्रजातांत्रिक और असमाजवादी प्रवृत्तियों को भी जन्म देते हैं। अतः उस व्यवस्था का ताना-बाना कुछ इस प्रकार बुनना होगा कि उसमें समुदाय का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त हो। इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव नीचे दिये जा रहे हैं—

क शिक्षा के विभिन्न स्तर पर प्रशासकीय सलाह देने के लिए समुदाय के प्रतिनिधियों शिक्षकों के प्रतिनिधियों और शिक्षा विशेषज्ञों की सलाहकार समितियाँ बनायी जाय और इन समितियों की राय से शैक्षिक प्रशासन चलाया जाय।

ख—पूर्व प्राथमिक शिक्षा का भार गाँवों में ग्राम पंचायतों और नगरों में व्यक्तिगत संस्थाओं पर ही रहे। ये अपनी अलग शिक्षा-समितियाँ बना लें।

ग—प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था का काम जिला शिक्षा समिति को सौंपा जाय। इस समिति में पंचायतों क्षेत्रीय समितियों और शिक्षा संस्थाओं के प्रतिनिधि और शासन-द्वारा मनोनीत शिक्षाविद् रहें। शिक्षकों की नियुक्ति स्थानान्तरण वेतन वितरण आदि के काम उसी समिति के अधीन रहें। माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था और प्रशासन के लिए माध्यमिक शिक्षा परिषदों के अतिरिक्त समुदाय का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त किया जाय।

४–पंचायतें, क्षेत्र विकास समितियाँ और जिला-परिषदें, विद्यालय के भवन, जमीन, साज-सज्जा, दोपहर का भोजन आदि के प्रबन्ध में अपना सहयोग दें।

- प्रशासन और निरीक्षक-व्यवस्था को अलग-अलग कर दिया जाय। निरीक्षक अथवा अधीक्षक का कार्य निरीक्षण और पथ-प्रदर्शन का रहे। वह प्रशासन के मामले में न पड़े। प्रशासन और निरीक्षण के सम्यक् संचालन के लिए निम्नांकित विभाग स्थापित किये जायें—

  १–पूर्व प्राथमिक शिक्षा-व्यवस्था-विभाग,

  २–अष्ठ वर्षीय प्रारम्भिक शिक्षा-व्यवस्था विभाग,

  ३–माध्यमिक (उत्तर बुनियादी) शिक्षा व्यवस्था विभाग,

  ४–प्रशिक्षण-संस्थाओं के लिए विभाग

  ५–सायं अथवा रात्रि पाठशालाओं के लिए विभाग,

  ६–नियुक्ति और स्थानान्तरण विभाग, तथा

  ७–योजना और चित्र विभाग।

- पाठ्य-पुस्तकों और सहायक पुस्तकों की समीक्षा और स्वीकृति के लिए राज्य-स्तर पर व्यावहारिक अनुभव-वाले शिक्षाविदों की एक समिति बनायी जाय।

- शिक्षा राष्ट्रीय एकता में तभी सहायक हो सकती है जब केन्द्रीय सरकार और राज्य-सरकार के प्रशासन-सम्बन्धी कामों में तालमेल हो। इस प्रकार के तालमेल के लिए शिक्षा को समवर्ती सूची में रखा जाय और अखिल भारतीय शिक्षा-सेवा का आयोजन किया जाय। इससे राष्ट्रीय एकता में वृद्धि होगी।

- विद्यालयों का संगठन और प्रशासन प्रजातन्त्रीय आधार पर किया जाय। प्रजातन्त्रीय ढंग से रहने से ही प्रजातन्त्र की अच्छी शिक्षा मिलती है। इस दृष्टि से स्कूलों में सहकारी सामुदायिक जीवन का ढाँचा बनाया जाय और स्कूल के सामुदायिक जीवन का निम्न प्रकार से संगठन किया जाय कि—

  १–समूचा स्कूल उनमें भाग ले सके,

  २–सहकारी समितियाँ, सहकारी भण्डार, सहकारी बैंक आदि स्थापित किये किया जायें।

  ३–बालकों की स्वशासन समिति अथवा बच्चों की सरकार बनायी जाय। स्कूल का सारा प्रशासन इस सभा (पार्लियामेंट) के द्वारा ही हो। सभा के निर्णयों का प्रधानाध्यापक और अध्यापक आदर करें।

- निरीक्षक अथवा अधीक्षक-वर्ग प्रशासन की महत्वपूर्ण इकाई है। स्कूलों की शिक्षा के गुणात्मक स्तर को कायम रखना और विभिन्न स्कूलों के कामों का समन्वय स्थापित करना उन्हीं का उत्तरदायित्व है। अध्यापकों के पथ प्रदर्शन के अतिरिक्त, उनकी प्रशासनीय समस्याओं को सुलझाना भी उन्हीं का काम है। अतः उनके कार्य के विषय में निम्न सुझाव हैं—

  १–एक निरीक्षक को ४० से अधिक स्कूल न दिये जायें।

  २–उद्योग, कला, संगीत, शरीर विज्ञान आदि विषयों के लिए विशेष निरीक्षक (अधीक्षक) भी हों।

  ३–निरीक्षक साल में एक स्कूल का कम-से-कम दो बार निरीक्षण करें और स्कूल में कम-से-कम तीन दिन रहें। निरीक्षण के अन्त में अध्यापक-वर्ग की बैठक अवश्य हो जिसमें सुधार के लिए दिये गये सुझावों का स्पष्टीकरण किया जाय।

  ४–निरीक्षकों (अधीक्षकों) का चुनाव उन्हीं अध्यापकों (प्रधानाध्यापकों) में से किया जाय, जिन्हें कम-से-कम ५ वर्ष के पढ़ाने का अनुभव हो।

- प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में प्रयोग आनेवाले औजारों और श्रव्य-दृश्य उपकरणों की पूर्ति के लिए कुछ केन्द्रीय कारखाने चलाये जायें, जिनपर शिक्षा-विभाग का नियंत्रण रहे। इस कार्य के लिए एक अलग विभाग ही बना दिया जाय। आज के उद्योग-मूलक शिक्षा के सन्दर्भ में इस प्रकार के विभाग का बहुत अधिक महत्व है।

शैक्षिक संगठन

सिद्धान्त की दृष्टि से शासन-मुक्त शिक्षा में हमारी श्रद्धा है। शिक्षा राजनीति और व्यवसाय से स्वतंत्र शक्ति है, और इस स्वतन्त्रता को कायम रखते हुए ही वह सामाजिक शक्ति बन सकती है। इस दिशा में क्या कदम उठाये जा सकते हैं, उसके सुझाव के रूप में कुछ बातें कही जा सकती हैं, जो ये हैं--

क. उच्च शिक्षा यथा सम्भव गैरसरकारी शिक्षा प्रेमियों के हाथ में छोड़ी जाय।

ख. विशिष्ट औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के लिए राज्य-स्तर पर एक शैक्षिक बोर्ड (स्टेट्युअरी बाडी) का गठन हो, जिसमें प्राविधिक विशेषज्ञ, शिक्षाशास्त्री और शैक्षिक पदाधिकारियों का प्रतिनिधित्व रहे। ये औद्योगिक तथा व्यावसायिक विद्यालय आत्म-निर्भरता के आधार पर गठित किये जायँ। विद्यार्थियों की फीस भी रखी जा सकती है, जिसकी पूर्ति वे अपने काम की कमाई से करें और अपने लिए अतिरिक्त कमाई भी करें।

ग. आज हमारे देश की जो परिस्थिति है उसमें यह आवश्यक है कि केन्द्रीय सरकार पहल करे। वह शिक्षा की नीतियों और मूल्यों का निर्धारण करे, तथा उन नीतियों और मूल्यों के अनुसार राज्यों को क्या करना है, इसका स्पष्ट निर्देश दे। केन्द्र यह भी तय करे कि शैक्षिक संयोजन में वह राज्यों को किस हद तक वित्तीय सहायता देगा, और तब यह बताये कि उससे प्राप्त रकम का उपयोग राज्य-सरकारें किन उद्देश्यों के लिए और किन शर्तों के साथ करें। केन्द्र की ओर से समय-समय पर राज्य की प्रगति का मूल्यांकन और समीक्षा हो।

घ. केन्द्र के नमूने के शिक्षाक्रम के आधार पर प्रत्येक राज्य-सरकार अपना शिक्षाक्रम बनाये; लेकिन उसे छूट रहे कि वह शिक्षाक्रम में मूलभूत परिवर्तन न करते हुए अपनी विशेष परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार हेर-फेर कर सके।

च. बुनियादी शिक्षा का भार जिला-परिषदों की ओर से एक जिला-शिक्षा-समिति (डिस्ट्रिक्ट एजुकेशनल कौंसिल) को सौंपा जाय, जिसमें पंचायतों, क्षेत्रीय समितियों, शिक्षा-संस्थाओं, तथा शिक्षाविदों का प्रतिनिधित्व हो। शिक्षकों का चयन, प्रशिक्षण, नियुक्ति, वेतन, ट्रान्सफर, शिक्षाक्रम की कार्यान्विति, और मूल्यांकन आदि इस समिति के अधीन रहें।

छ. पूर्व-बुनियादी शिक्षा पंचायतों और शिक्षा-प्रेमियों का क्षेत्र मानी जाय।

ज. पंचायतें, क्षेत्र-विकास-समितियाँ और जिला-परिषदें मुख्यतः विद्यालय के भवन, जमीन की उपलब्धि, हातेबन्दी, साज-सज्जा, पुस्तकालय, पेय जल, दोपहर के भोजन आदि के प्रबन्ध में अपना सहयोग दें। छात्रों का नामांकन, हाजिरी, शिक्षकों की उपस्थिति, नियमितता आदि में पंचायतें योगदान दें।

झ. शिक्षा के खर्च की व्यवस्था जिले में ही हो। सरकार अपनी सहायता जिला-परिषद् को दे।

ट. पंचायत-स्तर पर जो शैक्षिक व्यवस्था हो। उसमें संस्थाएँ हाथ बटायें। ग्राम-पंचायत या ग्राम-सभा, ग्राम सहयोग समिति, तथा बुनियादी विद्यालय इन तीनों की समन्वय समिति ग्रामविकास की योजना तैयार करे। इस प्रक्रिया में बुनियादी विद्यालय सक्रिय भाग लेकर ग्रामविकास का एक अनौपचारिक प्रसार-केन्द्र बन जायगा। ●

(सर्व-सेवा-संघ द्वारा आयोजित वाराणसी के परिसंवाद के प्रतिवेदन से।)

नयी तालीम और वर्तमान परिस्थिति •

नयी तालीम का नया सन्दर्भ •

अप्रैल, ६५ के दूसरे सप्ताह में नयी दिल्ली मे सर्व-सेवा-सघ की ओर से नयी तालीम एव कार्यकर्ताओं की एक अखिल भारतीय विचार-गोष्ठी का आयोजन किया गया था। उस विचार-गोष्ठी में कई सन्दर्भ लेख (वर्किंग पेपर्स) प्रस्तुत किये गये थे। इस विशेषाक मे उनमें से कई सन्दर्भ लेखो का यथा स्थान उपयोग किया गया है।

विचार-गोष्ठी ने शिक्षा-आयोग के लिए जो प्रतिवेदन तैयार किया वह तथा कुछ सन्दर्भ लेख अग्रेजी मे प्रस्तुत हुए थे। उनका हिन्दी भाषान्तर हम 'नयी तालीम' के आगामी अको मे प्रकाशित करेंगे। —सम्पादक
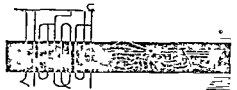
नयी तालीम और वर्तमान परिस्थिति

०मार्जरी साइक्स

भारत की शिक्षा-सम्बन्धी नीति और शैक्षिक कार्यक्रम में हमारी दृष्टि से बुनियादी शिक्षा का क्या स्थान होना चाहिए यह इस विचार गोष्ठी के सामने मुख्य विचारणीय मुद्दा है।

विचार गोष्ठी के निमंत्रण पत्र के तीसरे अनुच्छेद में जिस विषय का समावेश किया गया है उस पर ठीक सन्दर्भ में विचार हो सके इसके लिए आवश्यक है कि सामान्य परिस्थिति को स्पष्टता से समझ लिया जाय। इसके लिए—

१. मैं समस्या को जिस रूप में देखती हूँ उसे उस रूप में रख रही हूँ,
२. शिक्षा की प्रचलित प्रणाली में सुधार के सुझाव पेश करती हूँ, और
३. नयी तालीम अपने अच्छे रूप में चल सके इसके लिए शैक्षिक नीति में जिन परिवर्तनों की आवश्यकता मैं मानती हूँ उनका उल्लेख करती हूँ।

बुनियादी समस्या

दुनिया के सभी भागों में बार बार यह तथ्य प्रदर्शित हो चुका है कि किसी समुदाय (ग्रुप) की शिक्षा-प्रणाली उस समुदाय की संस्कृति का ही एक अभिन्न और अविच्छिन्न अंग होती है जो उस समुदाय के सामाजिक दृष्टिकोण और सामाजिक मूल्यों से अपना स्वरूप पाती है। अतः समाज के प्रचलित दृष्टिकोण और मूल्यों में कोई दूरगामी परिवर्तन आये बिना उसकी विद्यालयीन शिक्षा प्रणाली में कोई मूलगामी परिवर्तन आने की सम्भावना नहीं होती।

शिक्षा के क्षेत्र में नयी तालीम एक क्रान्तिकारी समाज-परिवर्तन की घोषणा है। गांधीजी ने इसे एक प्रशान्त सामाजिक क्रान्ति की बर्छी कहा था। लेकिन बर्छी में नोक की आवश्यकता होती है। जब तक नयी तालीम विद्यालय के पीछे किसी क्रान्तिकारी सामाजिक समुदाय का बल न हो तबतक उसे अपने को खड़ा रखने का कोई मजबूत आधार नहीं मिलता।

भारत का वर्तमान समाज मोटे तौर पर पहले से चलते आनेवाले पारम्परिक मूल्यों को स्वीकार करता है। मेरी राय है कि हम इस वस्तुस्थिति को समझें और "सरकार बुनियादी शिक्षा लागू करे" ऐसा उस पर दबाव डालना बन्द करें, क्योंकि इस परिस्थिति में हमारा प्रयास असफल होगा और क्षमेनाक भी।

शिक्षा की प्रचलित प्रणाली का सुधार

बुनियादी शिक्षा के नाम पर आज देश में जिन शैक्षिक रीति नीतियों का प्रतिपादन किया जा रहा है वे वस्तुतः अच्छी प्रणाली और शिक्षण-विधि से सम्बन्ध रखती हैं और किसी भी अच्छे कहे जानेवाले विद्यालय के लिए अनिवार्य हैं। काम करने की क्षमता और कारीगरी की योग्यता का विकास, बागवानी तथा अन्य बाहरी काम समवाय-पद्धति, सामुदायिकता एवं सहकारिता का विकास, आत्मनिर्भरता, सेवा की भावना और मनपसन्द चीजों को इकट्ठा करने का शौक (हॉबीज) आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें स्पष्ट शब्दों में "बुनियादी" कहा जा सकता है। ये प्रवृत्तियाँ समाज के अच्छे कहे जानेवाले मामूली स्कूलों में अपनायी जाती रही हैं और अपनायी जाती हैं।

अच्छी शिक्षा के ये आवश्यक गुण भारतीय विद्यालयों में और अधिक व्यापक रूप में फैलने चाहिए। भारत की प्रचलित शिक्षा पद्धति में इन सुधारों को दाखिल करने की बड़ी सख्त जरूरत है। ये ऐसे सुधार हैं जो आज के प्रचलित समाज में भी लागू किये जा सकते हैं, और होने चाहिए। इन सुधारों का प्राथमिक शिक्षा माध्यमिक शिक्षा और शिक्षक प्रशिक्षण में समावेश होना चाहिए। इन सुधारों को कार्यान्वित करने में हमसे जो कुछ हो सके सहायता देनी चाहिए। लेकिन इसके साथ साथ हमारे सामने यह स्पष्ट रहना चाहिए कि यह सुधार का काम है, क्रान्ति का नहीं। यह अच्छी शिक्षा की पद्धति तो होगी, लेकिन नयी तालीम नहीं। अब मैं शैक्षिक प्रशासन-सम्बन्धी अपने सुझाव रखती हूँ।

शैक्षिक नीतियों का पुनर्नवीनीकरण

आजादी के बाद से भारत की शैक्षिक नीति का रुख प्रत्येक स्तर पर एकरूपता (यूनिफर्मिटी) लाने और केन्द्रीकरण को बढ़ाने की ओर रहा है। पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकें और परीक्षाएँ, सबमें इस रुख की झलक दिखाई देती है। प्रधानाध्यापक और शिक्षक नियमों और कानूनों में कसे जा रहे हैं। स्वयंप्रेरणा से कार्य करने, प्रयोग करने, और छात्रों की रुचि और अनुभव के अनुरूप में ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को सुलभ बनाने की सृजनशील समस्या को हल करने की कतई सम्भावना नहीं रह गयी है।

भारत को आज ऐसे स्वतन्त्र-बुद्धिवाले नागरिकों की सबसे बड़ी आवश्यकता है जो स्वयं सोच विचार करके अपना कार्य सम्पन्न कर सकें। हमारे विद्यालय ऐसे नागरिक कैसे तैयार करेंगे जब कि उनके अध्यापक एक जाड-बन्द पद्धति के गुलाम बने हुए हैं, जिन्हें अपने क्षेत्र में मुक्त कार्य करने की न तो स्वतन्त्रता है, न उत्तरदायित्व ?

मैं मानती हूँ कि इस शैक्षिक नीति में उलट-फेर होना ही चाहिए और सरकार को जानबूझकर शिक्षा में विविधता और पहल लेने की वृत्ति को प्रोत्साहित करना चाहिए। शिक्षा के पेशे में जो लोग लगे हैं उनकी प्रतिष्ठा बढ़ानी होगी और यह उद्देश्य तभी पूरा होगा जब शिक्षक को उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रतापूर्वक अपना काम करने का अधिकार मिलेगा। ऐसा अधिकार मिलने पर ही सही किस्म के लोग इस पेशे में आयेंगे। सिर्फ आर्थिक सुविधाएँ ऐसे लोगों को नहीं आकर्षित करेंगी।

इस प्रकार के नीति-परिवर्तन के निम्नलिखित नतीजे होंगे— (१) सभी प्रकार के निर्धारित पाठ्यक्रमों और पाठ्य पुस्तकों की समाप्ति करके स्थानीय शिक्षण संस्थाओं और विद्यालय के अध्यापकों पर शिक्षण की पूरी जिम्मेदारी डालना।

(२) परीक्षा पद्धति में अत्यन्त दूरगामी सुधार करना जिसके अनुसार अमुक कक्षा की "अन्तिम परीक्षा" तथा अमुक कोर्स की परीक्षा के बदले प्रवेश और योग्यता की एक नयी परीक्षा प्रणाली शुरू करानी होगी जो ऊँची शिक्षा देनेवाली प्रत्येक शिक्षा संस्था अपनी विशेषता के अनुसार चलायेगी। ऊँची शिक्षा की प्रवेश परीक्षा में शरीक होने की सुविधा हरेक व्यक्ति को प्राप्त रहेगी। यदि वह उसके योग्य रहा तो उसे आगे अध्ययन करने का

सुअवसर मिलेगा चाहे उसने जहाँ भी और जैसे भी शिक्षा पायी हो।

भारत के शैक्षिक प्रशासकों में से अधिकांश को ये सुझाव घनघोर क्रान्तिकारी और अराजकतावादी दीख पड़ेंगे। लेकिन बात ऐसी है नहीं। इस सम्बन्ध में जिन सुझावों की चर्चा की गयी है वे उन कई देशों में सफलता-पूर्वक अमल में लाये जा रहे हैं जिनके शैक्षिक स्तर के हम गहरे प्रशंसक हैं।

नयी तालीम का स्थान

मैंने ऊपर शैक्षिक नीति के जिस रद्दोबदल की रूपरेखा दी है उसके अन्तर्गत ग्रामदानी गाँव या आश्रम समुदाय को सर्वोदय के क्रान्तिकारी सामाजिक मूल्यों के अनुसार अपना शैक्षिक-ढाँचा बनाने का वास्तविक सुअवसर प्राप्त होगा।

योग्यता के बनावटी प्रमाण पत्रों और एकरूपता को दर्शानेवाली पद्धतियों के प्रभाव से मुक्त हो जाने पर विद्यालय को अपनी क्षेत्रीय परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार शिक्षण देने की पूरी स्वतन्त्रता मिल जायेगी। उसमें निकले हुए जो विद्यार्थी, शिक्षक, डाक्टर या इंजीनियरिंग की ऊँची शिक्षा पाना चाहेंगे वे अपनी निजी योग्यता के आधार पर उच्च शिक्षा की संस्थाओं में प्रवेश पाने के लिए स्वतन्त्र होंगे। उच्च शिक्षा की संस्थाएँ प्रवेशार्थियों का चुनाव निजी योग्यता के आधार पर ही करेंगी। इसलिए वे किसी को भी स्वीकार या अस्वीकार कर सकेंगी।

मैं कहना चाहती हूँ कि इस प्रकार के परस्पर सम्बद्ध (इन्टीग्रेटेड) तरीकों के अपनाने से भारत की शिक्षा-सम्बन्धी उलझनों और नयी तालीम की विशेष समस्याओं को हल करने का स्थायी और वास्तविक समाधान प्राप्त होगा और इसके परिणाम-स्वरूप हमारी प्रचलित शिक्षा प्रणाली में जो विषैला प्रभाव घुस गया है वह दूर हो सकेगा।

आजादी के प्रति बढ़ता हुआ भय इस ओर बढ़ने के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा है। नयी तालीम के हम कार्यकर्ता गण अपने नेताओं और साथी-अध्यापकों को इस दिशा में सोचने और सयोजन करने को प्रेरित करने में अपनी भरपूर शक्ति लगायें। इसमें उनका जितना हित होगा उतना ही हमारा भी।

(मूल अंग्रेजी से)

नयी तालीम
का
नया सन्दर्भ

● मनमोहन चौधरी

नयी तालीम पर हम गाँवो के सन्दर्भ मे सोचते आये हैं। गाँवो मे इस देश के पचासी प्रतिशत लोग रहते हैं और उनकी अवहेलना भी की गयी है। अब हमे सारे समाज (गाँव और शहर दोनो) के सन्दर्भ मे नयी तालीम पर सोचना होगा और उसका स्वरूप-निर्णय करना होगा। गाँवों के हित की दृष्टि से भी यह आवश्यक हो जाता है।

गाँवो के हित के लिए आज सिर्फ गाँवो के स्तर पर सोचना और काम करना पर्याप्त नही है। सिर्फ नयी तालीम ही नही, सर्वोदय आन्दोलन मे मोटे तौर पर सोचने की दिशा यह रही है कि गाँवो के बाहर की दुनिया गाँव पर हमला करनेवाली है; उसके सन्तुलन को तोडनेवाली है; इसलिए उसे दूर ढकेलना है, गाँवो को उससे बचाना है, और कुछ हद तक उसको स्वीकार करना है तो मजबूरी से, एक जरूरी बुराई के तौर पर।

शिक्षा और गाँव की विधायक प्रवृत्तियाँ

पर, गाँवो की तरक्की के लिए उसके ऊपर के स्तर के उद्योग-धन्धो, व्यापार, यातायात के साधन, राजनैतिक सगठन आदि का सही विकास भी विधायक दृष्टि से जरूरी है। मिसाल के तौर पर यह आवश्यक है कि देश मे बिजली का उत्पादन जल्द-से जल्द बढे और अधिक-से-अधिक गाँवो म वह पहुँचायी जाय। उसके आधार पर गाँवो म छोटे और मध्यम प्रकार के उद्योग खडे हो। इन उद्योगो के लिए आवश्यक यत्र और साधन मुहय्या करने के लिए पर्याप्त इजीनियरिंग उद्योग खडे हो। फिर इस सिलसिले मे फौलाद, सीमेण्ट, हेवी केमिकल्स आदि कच्चे मालो का सवाल आता है और उससे सम्बन्धित वितरण और मारकेटिंग का भी।

मेरा मतलब यह नही कि नयी तालीम-आन्दोलन आर्थिक योजना बनाने की फिक्र मे पडे। यह तो समग्र सर्वोदय आन्दोलन को सोचना है, और इन दिनो इस दिशा मे कुछ चिन्तन चला भी है। नयी तालीम के मच से शिक्षण के बारे मे हमे इस सन्दर्भ म सोचना है कि किस प्रकार की तालीम राष्ट्र की सारी विधायक प्रवृत्तियो को आगे बढानेवाला, शक्तिशाली, गतिशील और स्पष्ट दृष्टिवाला नेतृत्व हर स्तर पर पैदा करेगी।

तो है, अपने विद्यार्थियों में नेतृत्व के गुण पैदा करने में वह कुछ हद तक सफल तो हुई है; पर ग्रामीण समाज के सन्दर्भ में। इस अनुभव का उपयोग अग्रामीण क्षेत्र में भी करना होगा तथा इस दिशा में अधिक प्रयोग भी करना होगा। नयी-तालीम के बारे में जो बद्ध धारणाएँ बनी हुई हैं उनको बदलने के लिए उसकी इस महत्वपूर्ण पहलू को सामने लाना होगा। इस नेतृत्व-विकास का सम्बन्ध व्यक्तित्व विकास से है।

एक साम्यमूलक तथा लोकतांत्रिक समाज में नेतृत्व लोगों पर धाक जमाने की सामर्थ्य पर या हुक्म निकालने के अधिकार पर आधारित नहीं होता, वह तो सृजनात्मक सूझ, पराक्रम की सामर्थ्य और दूसरों को समझने की तथा उनसे मैत्री साधने की सामर्थ्य पर आधार रखता है; इसलिए विनोबाजी ने इसे सेवकत्व कहा है और लोकतांत्रिक सामूहिक नेतृत्व को गण-सेवकत्व। इस दिशा में पिछले वर्षों में दुनियाँ में काफी चिन्तन और प्रयोग हुए हैं। नयी तालीम को इन सबसे वाकिफ होना है, सम्पर्क रखना है, और आगे बढना है।

नेतृत्व की दो किस्में

नेतृत्व याने विधायक अभिक्रम। यह दो तरह का होगा। एक तो सीमित स्वरूप का होगा जो समाज में कुछ हद तक मान्य हुए विचारों और योजनाओं के आधार पर काम करेगा। दूसरे प्रकार का नेतृत्व मान्यताओं को बदलने को क्रान्तिकारी काम करेगा। हम ये दोनों प्रकार के नेतृत्व पैदा करना है। समाज में जो सर्वसामान्य नयी तालीम चलेगी उसमें प्रथम प्रकार का, समाज की प्रवृत्तियों को चलानेवाला नेतृत्व पैदा करने की अपेक्षा रखी जायेगी। सर्वोदय आन्दोलन की ओर से, जो विशेष प्रयोगात्मक विद्यालय चलाये जा रहे हैं, या चलाये जायेंगे उनमें दूसरे प्रकार का क्रान्तिकारी नेतृत्व पैदा करने का प्रयत्न होना चाहिए।

दूसरी दिशा, जिसमें नयी तालीम को आगे बढना है उसकी कुछ सूचना पहले आ चुकी है हमें तकनीकी की विकास के बारे में अधिक क्रियाशील बनना होगा। तकनीकी विकास के प्रति अपनी दृष्टि सशंक रही है। इसकी बुनियाद में यह सराहनीय नियत रही कि अन्त्योदय तथा आर्थिक समानता की दृष्टि से तकनीक का लाभ सबको बराबर मिलना चाहिए, सबसे पिछड़े हुए को मिलना चाहिए; इसलिए तक्नीक के अमुक स्तर से आगे बढने की अनिच्छा रही है। पर, यह वस्तुस्थिति ध्यान में रखनी होगी कि तक्नी की विकास की शुरु आत टुकड़ों में ही हो सकेगी; फिर वह फैलेगी। उसमें पूँजी का सवाल, कुशलता सवाल, सगठन का सवाल आता है। इस परिस्थिति में साम्य का रास्ता यही हो सकता है कि विकसित तक्नीक का लाभ मिले उनकी बढी हुई आमदनी का एक हिस्सा दूसरों के विकास के लिए उपलब्ध हो।

हम अपने गाँवों में एक तकनीकी क्रान्ति लानी है और बुनियादी शाला को इसका केन्द्र बिन्दु बनाना है। ग्रामोद्योग सिर्फ खादी और दर्जन भर परम्परागत धन्धों तक सीमित नहीं रहना चाहिए। पंजाब के गाँवों में छोटे-छोटे इंजीनियरिंग उद्योगों का विकास बडी तेजी के साथ हो रहा है। ये सारे ग्रामोद्योग के दायरे में आयेंगे या नहीं? नयी तालीम इनका लाभ लेगी और उनको अपनी मदद देगी कि नहीं? देशभर में इस प्रक्रिया को फैलाना और उसके सामाजिक सन्दर्भ की व्यवस्थित करना है या नहीं?

अपने देश में शहर के स्तर पर जो बडे, तथा मझले पैमाने के उद्योग धन्धों का फैलाव हो रहा है उनके लिए आवश्यक जो लाखों तज्ञ, टेकनिशियन आदि चाहिए वे नयी तालीम के जरिये अधिक अच्छी योग्यता के पैदा हो सकते हैं या नहीं? यह पहलू पर विचार करना होगा और उसे देश के सामने भी रखना होगा।

हम नयी तालीमवालों को दो तरह से काम करना है। अपने विचारों को हमें समाज तथा सरकार के सामने रखकर जहाँ तक हो सके स्वीकार करवाना है और दूसरी तरफ उसने अपने ढग से कुछ काम ... है, प्रयोग करते रहना है।

●

पुस्तक-परिचय

गांधीजी ने शिक्षा के सम्बन्ध में एक विशिष्ट और समग्र दृष्टिकोण भारत के सामने रखा था। अन्य अनेक विचारकों ने भी भारत की नयी शिक्षा-पद्धति पर अनुसन्धान तथा विश्लेपण किया है। सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन की ओर से शिक्षा-सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन काफी ध्यान देकर किया गया है। यह साहित्य प्रत्येक शिक्षाप्रेमी, शिक्षाशास्त्री, शिक्षक तथा अभिभावक के लिए बहुत उपयोगी है।

१—शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति

पृष्ठ १३५, मूल्य १ ०० रुपया

गांधीजी ने शिक्षा के बारे में जो विचार रखे हैं वे सब इस पुस्तक में सार रूप में आ जाते हैं। शिक्षा-मंत्रियों से, राष्ट्रीय शिक्षकों से, पाठशालाएँ चलानेवालों से, शिक्षक बनने की इच्छा रखनेवालों से तथा शिक्षा की प्राचीन मान्यताओं में पड़े हुए लोगों से गांधीजी ने जो बातें कही हैं, उन्हें जानने के लिए इस पुस्तक का अपूर्व महत्त्व है। इस पुस्तक के छः संस्करण हो चुके हैं।

२—बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा

पृष्ठ १९३, मूल्य १ ५० रुपया

१९३७ में वर्धा में, जो शिक्षा सम्मेलन हुआ था वह अपने ढंग का एक ऐतिहासिक आयोजन था। उस सम्मेलन का विवरण जानने के लिए यह पुस्तक पढ़ना आवश्यक है। उसी सम्मेलन में जाकिर हुसेन साहब की अध्यक्षता में एक समिति बनायी गयी थी। उस समिति को बुनियादी शिक्षा की एक योजना तैयार करने का काम सौंपा गया था। उस समिति की रिपोर्ट इस पुस्तक में दी गयी है।

३—प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य

पृष्ठ ९५, मूल्य १ ००

शिक्षाशास्त्र की अध्ययनशील लेखिका शान्ताबाई नाइलकर और एक लम्बे अरसे से भारत में रहकर रचनात्मक तथा शैक्षणिक कामों में लगी हुई अंग्रेज बहन मार्जरी साइक्स ने मिलकर प्रौढ़ शिक्षा का दर्शन और कार्यक्रम तैयार किया है। यह पुस्तक प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में नये अध्याय का सूत्रपात करनेवाली है।

४—आठ सालों का सम्पूर्ण शिक्षाक्रम

पृष्ठ १४०, मूल्य, १ ५० रुपया

इस पुस्तक के पहले खण्ड में बुनियादी तालीम की सामान्य रूपरेखा दी गयी है और दूसरे खण्ड में बुनियादी तालीम का विस्तृत शिक्षाक्रम दिया गया है। इस तरह वैचारिक और व्यावहारिक दोनों पहलुओं को एक साथ इस पुस्तक-द्वारा प्रस्तुत कर दिया गया है।

५—शिक्षण-विचार

पृष्ठ ३६८, मूल्य २ ५० रुपये

इस पुस्तक में विनोबा के शिक्षण सम्बन्धी विचारों का संग्रह किया गया है। इस पुस्तक की कुल ७५००० प्रतियाँ अब तक खप चुकी हैं। शिक्षा साहित्य में इस पुस्तक का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

६—हमारा राष्ट्रीय शिक्षण

पृष्ठ ३४०, मूल्य २ ५० रुपये

बंगाल के प्राणवान समाजसेवी और रचनात्मक आन्दोलन के नेता श्री चारुचन्द्र भण्डारी एक शिक्षाशास्त्री के रूप में भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने ही आज के हमारे राष्ट्रीय शिक्षण पर अपने चुनौतीपूर्ण

विचार इस पुस्तक में दिये हैं। अद्यतन सामग्री से परिपूर्ण, सर्वांगीण अध्ययन और समग्र दर्शन से ओतप्रोत इस पुस्तक को पढ़ने से शिक्षा के सम्बन्ध में नयी-दृष्टि प्राप्त होती है।

७—बच्चों की कला और शिक्षा

पृष्ठ २०४, मूल्य ८ रुपये

श्री देवीप्रसाद नयी तालीम के अध्यापक और अपने आप में एक कलाकार हैं। यह पुस्तक उनके दीर्घकालीन क्रियात्मक अनुभव का नवनीत है। अनेक रंगीन और सादे चित्रों से भरी-पूरी इस पुस्तक में छोटे छोटे बच्चों की कला-कृतियाँ हृदय को मोह लेती हैं और इस बात को सिद्ध कर देती हैं कि "कलाकार कोई विशेष प्रकार का मनुष्य नहीं होता, बल्कि हर मनुष्य एक विशेष प्रकार का कलाकार होता है।" बच्चों की कलात्मक और मनोवैज्ञानिक रुचियों का परिचय देनेवाली इस सजिल्द पुस्तक की प्रस्तावना डा० जाकिर हुसैन ने लिखी है, और नन्दलाल बसु ने आशीर्वाद दिया है।

८—समग्र नयी तालीम

पृष्ठ १६८, मूल्य, १ ५० रुपये

नयी तालीम भारतीय शिक्षण विचार की एक नयी देन है। आचार्य धीरेन्द्र मजूमदार शिक्षण विचार की इस धारा के एक विशेषज्ञ और अनुभवी चिन्तक हैं। उन्होंने नयी तालीम को सर्वोदयमुख क्रान्ति का वाहन बनाया है। इस पुस्तक के प्रारम्भ में उन्होंने अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया का निरूपण किया है और आखिर में कुछ व्यावहारिक कार्यक्रम भी सुझाये हैं।

९—बुनियादी शिक्षा क्या और कैसे ?

पृष्ठ १६८, मूल्य १ २५ रुपये

इस पुस्तक के लेखक श्री दयालचन्द्र सोनी भारत की एक प्रतिष्ठित शिक्षण संस्था, विद्या भवन, उदयपुर में लगभग १५ वर्ष तक रह चुके हैं। उनके शिक्षा सम्बन्धी अनुभवों तथा उनके लिए बुनियादी शिक्षा के जो अर्थ हैं उनको लेखक ने इस पुस्तक में बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है।

१०—पूर्व बुनियादी

पृष्ठ ९६, मूल्य ५० पैसे

शान्ताबाई नारूलकर ने छोटे बच्चों की तालीम के बारे में इस पुस्तक में बहुत ही उद्बोधक विचार प्रस्तुत किये हैं। बालक, पालक और समाज के बारे में उनके विचार चिन्तन करने योग्य हैं। गांधीजी ने तालीम की जो व्यापक दृष्टि सामने रखी उसको मद्देनजर रखते हुए शान्ताबहन ने यह पुस्तक लिखा है। इसका महत्व शिक्षकों और पालकों के लिए विशेष रूप से है।

११—सुन्दरपुर की पाठशाला का पहला घण्टा

पृष्ठ ४०, मूल्य ७५ पैसे

गुजरात के सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री तथा अनुभवी शिक्षक जुगतराम दवे ने सुन्दरपुर की एक काल्पनिक पाठशाला के नाम से एक आदर्श पाठशाला का स्वरूप इस पुस्तक में बाँधा है। उन्होंने बेड़छी के अपने विद्यालय में इस तरह के अनेक प्रयोग किये हैं। उन प्रयोगों के अनुभवों को बहुत आसान और रोचक भाषा में इस पुस्तक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

१२—बालवाड़ी

पृष्ठ ३२८, मूल्य ३ ००

इस पुस्तक के लेखक श्री जुगतराम दवे ही हैं। बाल शिक्षण के अनेक पहलुओं का बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से इस पुस्तक में विश्लेषण किया गया है। यह पुस्तक एक प्रकार से पूर्व बुनियादी की सम्पूर्ण शिक्षण पद्धति का विवेचन करती है। इस पुस्तक के भावों को युवक कलाकार श्री हकूभाई शाह ने अपनी अनोखी शैली में रेखांकित किया है। पुस्तक हिन्दी में अपने ढंग की बेजोड़ है। बाल शिक्षण में काम करनेवाले भाई तथा बहनों के लिए तो यह ज्ञान गीता है।

अगर आप शिक्षक हैं तो अपने विद्यार्थियों के लिए, अगर आप माता पिता हैं तो सन्तानों के लिए, अगर आप पुस्तक विक्रेता हैं तो अपने शिक्षा प्रेमी ग्राहकों के लिए और अगर आप पाठक हैं तो अपने लिए इन पुस्तकों को मँगाना न भूलिए।

अनुक्रम

सर्व-सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस प्रह्लादघाट वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

नये प्रकाशन

१. बिना पैसे दुनिया का पैदल सफर

दो भारतीय युवकों की दिल्ली से मास्को और वाशिंगटन तक की आठ हजार मील की शान्ति-पदयात्रा की साहसिक कथा।

लेखक—सतीशकुमार—मूल्य

२. सत्याग्रह विचार और युद्ध-नीति

आज अणुयुग में जीनेवाले मानव के सामने एक ही विकल्प है अहिंसा या सर्वनाश। यदि हम अहिंसा के मार्ग पर चलेंगे तो बुराइयों के प्रतिकार का मार्ग क्या होगा? इस महत्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन करनेवाली एक संग्रहणीय पुस्तक।

लेखक—काका साहब कालेलकर—मूल्य ३ ००

३. भाषा का प्रश्न

भारत के सामने भाषा एक समस्या बनकर खड़ी है। इस अत्यन्त सामयिक समस्या का गंभीर और संतुलित प्रतिपादन करनेवाली एक समयोपयोगी पुस्तक।

लेखक—विनोबा—मूल्य ० ५०

सर्व-सेवा-पाकेट बुक्स

सर्व सेवा-संघ-प्रकाशन पाकेट बुक्स के प्रकाशन की एक नयी योजना लेकर सामने आ रहा है। पहली किस्त में ६ पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं; जो १५ अगस्त के अवसर पर पाठकों को भेंट की जायेंगी। पहली किस्त में टाल्स्टाय, विनोबा, कुमारी निर्मला, आचार्य राममूर्ति तथा विश्व-पदयात्री सतीशकुमार की पुस्तकें प्रस्तुत की जा रही हैं। प्रत्येक पुस्तक की कीमत एक रुपया होगी।

सर्व सेवा संघ प्रकाशन • राजघाट, वाराणसी १

लाइसेंस नं० ४६
पहले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
नयी तालीम रजि० सं० एल, १७२३

मुक्ति की घोषणा

विनोबा ने 'ग्रामदान तूफान' की घोषणा की है। हजारों की संख्या में गाँव ग्रामदान की घोषणा करें, यही इस तूफान का आह्वान है। ग्रामदान यानी गाँव के हर बालिग को लेकर ग्रामसभा बने, उसे हर परिवार अपनी भूमि का स्वामित्व सौंपे, किसान, मजदूर, व्यापारी, नौकरी करनेवाला, हर एक अपनी कमाई का एक अंश दे और इस तरह गाँव की अपनी पूँजी खड़ी हो; जिसमें ग्रामोद्योग से शुरू करके गाँव के उद्योगीकरण का शुभारम्भ हो, अन्त में गाँव की शान्तिसेना गाँव की शान्ति, सुव्यवस्था और विकास की जिम्मेदारी ले। हजारों गाँवों में यह घोषणा हो तो सरकार गाँव के निर्णय पर कानून की मुहर लगायेगी। लेकिन घोषणा के लिए सरकार के कानून की प्रतीक्षा नहीं, सेठ की थैली की मुहताजी नहीं, सिपाही की बन्दूक की गुलामी नहीं। ग्रामदान का अर्थ है गाँव-द्वारा अपने निर्णय से अपनी मुक्ति का एलान: विरोध किसी का नहीं, लेकिन पूंजीवाद, राज्यवाद, शस्त्रवाद के त्रिविध दमन और शोषण से सम्पूर्ण अस्वीकृति यानी क्रियायक विद्रोह।

सर्व का निर्णय, सर्व की शक्ति, सर्व का हित यह सर्वोदय की त्रयी है। विचार की शक्ति से इस त्रयी को सिद्ध करना है। करोड़ों के भीतर छिपी हुई विचार की शक्ति को जगाना इस तूफान का लक्ष्य है। जिस क्रान्ति का आधार विचार की शक्ति है उसमें पहला क्रान्तिकारी शिक्षक है, और उस क्रान्ति की व्यूहरचना व्यापक लोक-शिक्षण की प्रक्रिया है।

श्रीकृष्णदत्त भट्ट सर्व-सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
आवरण-मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २७,१००, इस मास छपी प्रतियाँ २७,१००